कृष्णदास आयुर्वेद सीरीज २४

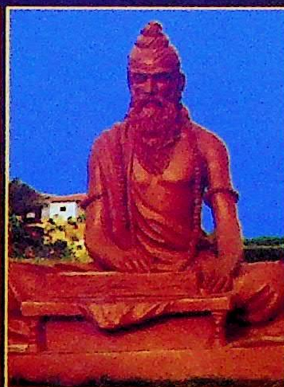
आयुर्वेद के मूल सिद्धान्त एवं उनकी उपादेयता

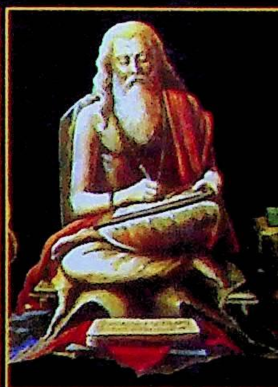
लेखक
डॉ. लक्ष्मीधर द्विवेदी

भूमिका लेखक
आचार्य प्रियव्रत शर्मा



(द्वितीय भाग)



चौखम्बा कृष्णदास अकादमी, वाराणसी

3701

कृष्णदास आयुर्वेद सीरीज

२४

आयुर्वेद के मूल सिद्धान्त एवं उनकी उपादेयता

[द्वितीय भाग]

लेखक

डॉ० लक्ष्मीधर द्विवेदी

ए. बी. एम. एस., डी. ए. वाई. एम., पी-एच.डी. (मौलिक सिद्धान्त)

आचार्य (न्याय वैशेषिक)

भूतपूर्व विभागाध्यक्ष-आयुर्वेद संहिता, चिकित्सा विज्ञान संस्थान

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी



चौखम्बा कृष्णदास अकादमी, वाराणसी

प्रकाशक : चौखम्बा कृष्णदास अकादमी, वाराणसी
मुद्रक : चौखम्बा प्रेस, वाराणसी
संस्करण : चतुर्थ, वि०सं० २०६९, सन् २०१२
मूल्य : रू० ३७०.००

ISBN : 978-81-218-0044-7 [द्वितीय भाग]
978-81-218-0045-5 [सम्पूर्ण]

पुस्तक प्रकाशक एवं वितरक
पोस्ट बॉक्स नं० ११२८, के. ३७/११८, गोपाल मन्दिर लेन
गोलघर (मैदागिन) के पास
वाराणसी - २२१००१ (भारत)
फोन : २३३५०२० (आफिस), २३३४०३२ (आवास)
e-mail : cssoffice@satyam.net.in

अपरं च प्राप्तिस्थानम्

चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस

के. ३७/९९, गोपाल मन्दिर लेन
गोलघर (मैदागिन) के पास
पोस्ट बॉक्स नं० १००८, वाराणसी-२२१००१ (भारत)
फोन : (आफिस) २३३३४५८, आवास : २३३५०२०, २३३४०३२

KRISHNADAS AYURVEDA SERIES

24

****

ĀYURVEDA KE MŪLA SIDDHĀNTA EVAM UNAKĪ UPĀDEYATĀ

[Vol. II]

By

Dr. Lakshmidhar Dwivedi

A.B.M.S., D.A.Y.M., Ph. D. (Maulika Siddhānta)
Ācārya (Nyāya Vaiśeṣik)
Ex. Head of the Department, Āyurveda Saṁhitā,
Institute of Medical Science
Banaras Hindu University, Varanasi.



CHOWKHAMBA KRISHNADAS ACADEMY, VARANASI

Publisher : Chowkhamba Krishnadas Academy, Varanasi,
Printer : Chowkhamba Press, Varanasi.

ISBN : 81-218-0044-7 [Vol. II]
ISBN : 81-218-0045-5 [Complete]

Oriental Publishers & Distributors,
P.Box. No. 1118, K.37/118, Gopal Mandir Lane
Near Golghar (Maidagin)
Varanasi-221001 (India)
Phone : 2335020 (O), 2334032 (R)
e-mail : cssoffice@satyam.net.in

Also can be had from :
Chowkhamba Sanskrit Series Office
K.37/99, Gopal Mandir Lane
Near Golghar (Maidagin)
P. Box. No. 1008, Varanasi-221001, (India)
Phone : Office : 2333458, **Res. :** 2334032 & 2335020

प्राक्कथन

सुधी पाठकों की सेवा में "आयुर्वेद के मूल सिद्धान्त एवं उनकी उपादेयता" इस कृति के द्वितीय भाग को प्रस्तुत करते हुए हमें आज अत्यंत आत्मतोष की अनुभूति हो रही है। हृदयान्तराल के उत्स से निसर्गतः तरंगायित भाव लहरियों से मूर्तरुप हुए वर्ण्य विषयों को हमने आप्तोपदेश के आलोक में चयनित कर आयुर्वेद के शाश्वत एवं सुदृढ़ आधार पर ग्रथित तथा आधुनिक विज्ञानालोक से परिष्कृत कर प्रस्तुत रचना को उपस्थित करने का प्रयास किया है।

यद्यपि प्रस्तुत कृति के द्वितीय भाग को मूर्तरुप देने में अधिक विलंब हुआ जिसका मुख्य कारण लेखक की विभागीय सेवा कार्यों में तथा पारिवारिक उत्तरदायित्वों में व्यस्तता थी। तथापि पुस्तक की पांडुलिपि की रचना ५-६वर्ष पूर्व ही प्रारंभ हो गयी थी। सम्पूर्ण पांडुलिपि की रचना 3 वर्ष पूर्व ही हो गयी थी। मुद्रण कार्य में भी २-३ वर्ष लग गया। अन्ततः प्रस्तुत कृति के द्वितीय भाग के मूर्तरुप में प्रस्तुतीकरण में विलंब के लिए हम सुधी पाठकों से क्षमाप्रार्थी हैं।

प्रस्तुत पुस्तक में आयुर्वेद के मूल सिद्धान्तों का जिनके आश्रयभूत होकर ही आयुर्वेद का समग्र साहित्य उपबृंहित होते हुए एवं दिनानुदिन विकसित होकर मानव समाज के लिए शाश्वत काल से सुख एवं आरोग्य का साधन बना हुआ है उनका समावेश क्रमबद्ध रुप में करते हुए तदनुसार उनकी उपादेयताओं तथा व्यावहारिक महत्त्वों का भी यथासंभव प्रतिपादन किया गया है। पुस्तक में कतिपय ऐसे तथ्यों का भी सिद्धांत के रुप में समावेश किया गया है जिनको साधारण तथा आयुर्वेदानुयायियों की दृष्टि में सिद्धांत के रुप में प्रतिष्ठित करने की विचार परम्परा नहीं रही है। किन्तु हमने ऐसे तथ्यों को भी सिद्धान्त के रुप में विवेचित करने का प्रयास किया है। क्योंकि विशद विचार करने पर हमारी दृष्टि में उनकी व्यावहारिक उपादेयता स्पष्ट ज्ञात होती है। अतः हमने सिद्धांत के रुप में महत्त्व रखने वाले तथ्यों को भी अपनी विचार सरणि में अंतर्भूत करके उनकी उपादेयताओं को भी विवेचित करने का प्रयास किया है।

सिद्धांतों के प्रतिपादन एवं उनकी उपादेयताओं के विवेचन में व्यक्ति विशेष के दृष्टिकोण का अत्यंत महत्त्व है। दूसरे शब्दों में कहा जाए तो सिद्धांतों का प्रतिपादन एवं उनकी उपादेयता दृष्टिकोण सापेक्ष होती है। जिस व्यक्ति का जैसा दृष्टिकोण विषय विशेष के प्रति होगा तदनुसार विषय विशेष का अवबोध भी होगा। प्रस्तुत प्रसंग में दृष्टिकोण भेद से विषयावबोध की भिन्नता का निदर्शन अंधगजन्याय से दिया जा सकता है। इसी प्रकार विषय

विशेष के अंग विशेष के विषय में दृष्टिकोण तथा उसके समग्रता के विषय में दृष्टिकोण इन दोनों पहलुओं से भी विषयावबोध तथा प्रतिपादन में भिन्नता होती है। पाठकों से मेरा नम्र निवेदन है कि प्रस्तुत कृति के विवरणों को उपर्युक्त परिप्रेक्ष्य के आलोक में ही देखेंगे तो उन्हें विषयों के प्रस्तुतीकरण तथा विवेचन का समुचित एवं समीचीन औचित्य ज्ञात हो सकेगा।

आयुर्वेद संहिताओं में प्राप्त बहुत से ऐसे तथ्य हैं जो सामान्यतया सिद्धान्त के रुप में नहीं जाने जाते अथवा उन पर बहुधा लोगों का ध्यान नहीं जाता। किन्तु यदि उन तथ्यों पर ध्यानपूर्वक मनोयोग से विचार किया जाय तो वे निश्चय ही सिद्धान्त के रुप में ग्राह्य हो जायेंगे और उनकी उपादेयता भी स्पष्ट रुप से ज्ञात हो सकेगी। हम स्वयं ही इस संदर्भ में पाठकों के समक्ष निदर्शनार्थ एरक दृष्टांत प्रस्तुत करना चाहेंगे जिससे कि व्यक्ति विशेष के दृष्टिकोण का किसी विषय विशेष के अवबोध में क्या महत्त्व तथा उपादेयता है उसका सहज ही बोध हो जाएगा। स्नातकावधि अध्ययनकाल में चरक संहिता के प्रारम्भ में आये हुए षड्पदार्थ परिगणन का आयुर्वेद की दृष्टि से क्या महत्व तथा उपादेयता है इसका समुचित ज्ञान नहीं था। किन्तु जब स्नातकोत्तर अध्ययन काल में पुनःपुनः चरक संहिता का अध्ययन एवं मनन करने लगा तथा तद्‌गत तथ्यों पर विशेष मनोयोग से विचार किया तो यह तथ्य भलीभांति ज्ञात हो गया कि चरक संहितोक्त उक्त विवरण कितना सोद्देश्य तथा महत्त्वपूर्ण है। षड्पदार्थ सिद्धान्त तथा इसकी उपादेयता का विशद विवेचन पुस्तक के प्रथम भाग में प्रस्तुत किया गया है। आयुर्वेद के आचार्यो ने कुशलता से आयुर्वेद के विषय क्षेत्र में प्रवेश करने के पूर्व ही षड्पदार्थ का परिगषान एवं प्रतिपादन कर यह संकेत दिया है कि आयुर्वेद के समुचित ज्ञान के लिए तथा तदनुसार तद्‌गत तथ्यों को व्यावहारिक उपादेयता के निमित्त षडपदार्थ का ज्ञान अनिवार्य एवं अपेक्षित है। जिस प्रकार आज के आधुनिक चिकित्सा विज्ञान के विद्यार्थी के लिए जीव विज्ञान, भौतिक विज्ञान, व रसायन विज्ञान का माध्यमिक स्तर का ज्ञान अनिवार्य है उसी प्रकार आयुर्वेद के समुचित ज्ञान के लिए भी षडपदार्थवाद अर्थात काणादशास्त्र अथवा वैशेषिक दर्शन का समुचित ज्ञान अनिवार्य है। यों भी यह लोकोक्ति संस्कृत वाड्मय में बहुप्रचारित है कि—काणादं पाणिनीयं च सर्वशास्त्रोपकारकम् अथार्त् महर्षि कणाद के वैशेषिक दर्शन का पदार्थ शास्त्र तथा महर्षि पाणिनी का व्याकरण(शब्दशास्त्र) सभी शास्त्रों के ज्ञान में सहायक हैं।

आयुर्वेद के बहुसंख्यक लोग षड्पदार्थवाद की उपयोगिता को आयुर्वेद के चिकित्सा उपक्रम में महत्त्व नहीं देते जबकि आयुर्वेद के मूल उपदेष्टाओं ने इसकी महती उपयोगिता का दिग्दर्शन चरक संहिता के प्रारंभ में ही सूत्र रुप में इसे संकेतित किया है। ऐसे ही आयुर्वेद के अनेक तथ्यों का आयुर्वेद से जुड़े लोगों में सामान्यतः प्रचार प्रसार नहीं है, इसी कारण आयुर्वेद के अमृतमय ज्ञान का मानव समाज को समुचित लाभ नहीं मिल पा रहा है।

इसी प्रकार चरक संहिता के सूत्र स्थान प्रथम अध्याय में बात, पित्त तथा कफ के ७-

७ गुणों का उल्लेख प्राप्त होता है। बहुत दिनों तक मैं इस पर विचार करता रहा कि आचार्य ने प्रत्येक दोषों के ७-७ गुणों का ही उल्लेख क्यों किया है? न सात गुणों से कम और न अधिक, इस विवरण में कुछ न कुछ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तथ्य अवश्य ही निहित होगा। इसी विचार को केंद्रित करते हुए हमने निरंतर ही चरक संहिता के स्वध्याय का क्रम जारी रखा तो हमें कितने ही स्थानों में रूक्षजवात, स्नेहज श्लेष्मा, शैत्यज वात आदि पदों का पाठ मिला। हमने पुनः पुनः इसी दिशा में चिन्तन तथा अध्ययन करना जारी रखा तो च०चि० १५वें अध्याय में हमें उक्त जिज्ञासा का समाधान मिल गया जिसमें आचार्य ने सप्तधातुओं पर दोषों के विविध गुणों का किस प्रकार प्रभाव पड़ता है इसका स्पष्ट उल्लेख किया है। तदनन्तर हमने दोषों के ७-७ गुणों का प्रभाव सप्तधातुओं पर पड़ता है ऐसा निष्कर्ष निकाला। इसी कारण आचार्य ने दोषों के ७-७गुणों का उल्लेख किया है। हमने भी इस तथ्य को त्रिदोष सप्तविध गुणवाद इस शीर्षक से पुस्तक के प्रथम भाग में सिद्धान्त के रुप में विवेचित किया है तथा इसकी उपादेयता का प्रतिपादन भी किया है। यद्यपि त्रिदोष के ७-७गुणों को सभी आयुर्वेदविद् जानते हैं तथा चिकित्साकर्म में तदनुसार उपचार का उपक्रम करते हैं। किन्तु त्रिदोष के ७-७गुण विभिन्न धातुओं पर अपना प्रभाव डालते हैं यह तथ्य शास्त्र में वर्णित होने पर भी लोगों का ध्यान इस तथ्य की ओर नहीं जाता कि त्रिदोष किस प्रकार अपना प्रभाव धातुओं को विषम अथवा सम करने में कैसे और क्यों करते हैं। इसी प्रकार शास्त्रगत अनेक तथ्यों को हमने सिद्धान्त के रुप में प्रतिपादित किया है जो कि सामान्यतया आयुर्वेद के अधिकतर लोगों की दृष्टि में उपेक्षित एवं पृष्ठभूमि में ही पड़े रहे हैं।

प्रस्तुत रचना में कतिपय ऐसे विषयों का भी प्रतिपादन किया गया है जो कि आधुनिकता के परिप्रेक्ष्य में अप्रासंगिक से जान पड़ते हैं। इस संबंध में मेरा पाठकों से निवेदन है कि ऐसे विषयों का उल्लेख शास्त्र में मिलता है जो कि भले ही वाच्यार्थ रुप में अप्रासंगिक जान पड़ते हैं, किन्तु फलितार्थ रुप में उनकी प्रासंगिकता आज भी है और भविष्य में भी बनी रहेगी। इस संदर्भ में मैं एक उदाहरण प्रस्तुत करके उक्त तथ्य को स्पष्ट करना अपेक्षित समझता हूं। स्वस्थवृत्त प्रसंग में अवलम्बनार्थ, आत्मरक्षार्थ व भय निवारणार्थ दंड धारण का निर्देश प्राप्त होता है। यद्यपि वाच्यार्थ रुप में संप्रति यह निर्देश अप्रासंगिक जान पड़ता है किन्तु निर्देश के फलितार्थ अर्थात् आत्मरक्षार्थ व निर्भयता के लिए यदि समुचित साधन का उपयोग किया जाय जिससे व्यक्ति को आत्मविश्वास व आत्मशक्ति बढ़े तो इस परिणाममूलक तथ्य की प्रासंगिकता पर आँच नहीं आती और पुराकालीन आचार्यों का निर्देश सार्थक व समीचीन लगता है। यदि पाठक उन विषयों का मूल्यांकन उपर्युक्त परिप्रेक्ष्य में करेंगे तो विषय विवेचन का स्वारस्य तथा सार्थकता का अनुभव कर सकेंगे।

आयुर्वेद के तत्त्व चिन्तक उपदेष्टाओं ने आयुर्वेद का उपदेश अत्यन्त संक्षिप्त तथा संश्लिष्ट रूप में किया है जो कि सोद्देश्य तथा नितान्त समीचीन है। संक्षिप्त अथवा सूत्र रूप में

आयुर्वेद के विवेचन का यह महत्त्व है कि सूत्रात्मक उपदेश तत् शास्त्रानुयायियों में सुदीर्घ काल तक अपने मूलरूप में अक्षुण्ण बना रहता है तथा उसमें किसी प्रकार का दूषण तथा अन्य तथ्यों का प्रक्षेपण नहीं हो पाता। इसके साथ ही सूत्रात्मक ज्ञान में तद्विद्यों द्वारा उसे व्याख्यायित कर विस्तृत व विशदीकृत होने की संभावना बनी रहती है। अत: मूल रूप में सूत्रात्मक ज्ञान की महत्ता व उपादेयता सुदीर्घ काल तक बनी रहती है। संश्लिष्ट रूप में ज्ञान की सार्थकता भी आयुर्वेद के मूल उपदेशों को अपने अविकल रूप में सुदीर्घ काल तक बने रहने की है। आयुर्वेद के मूल स्वरूप व सार्थकता को समझने में इसका सूत्रात्मक व संश्लिष्ट रूप एक बहुत बड़ा अवरोध है। यद्यपि संहिता ग्रन्थों का आद्योपान्त मनोयोग पूर्वक स्वाध्याय किया जाय तो बहुत अंशों में इस अवरोध का निराकरण हो जाता है। क्योंकि ग्रन्थकार अपने ग्रन्थ में कहीं न-कहीं प्रसंग वश सूत्रात्मक व संश्लिष्ट कथन को अवश्य ही व्याख्यायित व विशदीकृत किये हैं। विषय को स्पष्ट करने की दृष्टि से एक उदाहरण प्रस्तुत करना अपेक्षित है। चरक संहिता सूत्र स्थान प्रथम अध्याय में आयुर्वेद की परिभाषा—**हिताहितं सुखं दु:खमायुस्तस्य हिताहितम्। मानं च तच्च यत्रोक्तमायुर्वेद: स उच्यते॥** च० सू०१/४१ प्रस्तुत श्लोक में की गई है। यहाँ सुखायु, दु:खायु, हितायु, अहितायु एवं आयु का मान इस सभी तथ्यों को सूत्र तथा संश्लिष्ट रूप में प्रस्तुत किया गया है। किन्तु उपर्युक्त तथ्यों का व्याख्यान तथा विशद विवेचन आचार्य ने सूत्र स्थान के ३० वें अध्याय में निम्नोद्धृत वचन से किया है जिससे कि प्रस्तुत तथ्यों को अत्यन्त सरलता से समझा जा सकता है।

तत्रायुरुक्तं स्वलक्षणतो यथावदिहैव पूर्वध्याये च। तत्र शरीरमानसाभ्यामनभिद्रुतस्य विशेषेण यौवनवत: समर्थानुगत बल वीर्य यश: पौरुष पराक्रमस्य ज्ञान विज्ञानेन्द्रियेन्द्रियार्थ बल समुदये वर्तमानस्य परमर्द्धिरुचिर विविधोपभोगस्य समृद्ध सर्वारम्भस्य यथेष्ट विचारिण: सुखमायुरुच्यते। असुखमतो विपर्ययेण हितैषिण: पुनर्भूतानां परस्वादुपरतस्य सत्यवादिन: शर्मपरस्य परीक्ष्यकारिणोऽप्रमत्तस्य त्रिवर्ग परस्परेणानुपहतमुपसेवमानस्य पूजार्ह सं पूजकस्य ज्ञान विज्ञानोपशम शीलस्य वृद्धोपसेविन: सुनियत रागरोषेर्ष्या मदमान वेगस्य सततं विविध प्रदान परस्य तपोज्ञान प्रशम नित्यस्याध्यात्मविदस्तत्परस्य लोकमिमं चामुं चावेक्षमाणस्य स्मृति मतिमतो हितमायुरुच्यते: अहितमतो विपर्ययेण। प्रमाणमायुषस्त्वर्थेन्द्रिय मनोबुद्धि चेष्टादीनां विकृति लक्षणै रूप लक्ष्यतेअनिमित्तै:, अयमस्मात् क्षणान्मुहूर्ताद्दिवसात्त्रिपञ्च सप्तदश द्वादशा-हात् पक्षान्मासात् षण्मासात् संवत्सराद्वा स्वभावमापत्स्यत इति: तत्र स्वभाव: प्रवृत्ते रूपरमो मरणमनित्यता निरोध इत्येकोअर्थ: इत्यायुष: प्रयाणम्। अतो विपरीतमप्रमाणमरिष्टाधिकारे देह प्रकृति लक्षणमधिकृत्य चोपदिष्टमायुष: प्रमाणमायुर्वेदे। च०सू० ३०/२४-२५

अर्थात् विभिन्न प्रकार की आयु (सुखायु, दु:खायु, हितायु तथा अहितायु) का **यथावत् लक्षण यहाँ कहा गया है तथा प्रथम अध्याय में भी आयु (जीवन) का लक्षण- शरीरेन्द्रिय सत्त्वात्म सयोंगो धारि जीवितम्। शरीरइन्द्रिय मन तथा आत्मा का संयोग ही आयु**

(जीवन) है इस वचन से कहा गया है। यहाँ पर सुखायु, दुःखायु, हितायु तथा अहितायु इन सभी का विशद विवेचन किया गया है। जो व्यक्ति शारीरिक एवं मानसिक दोषों से पीड़ित न हो विशेषकर युवावस्ता वाला हो, जो कि बल, वीर्य, यश, पौरुष और पराक्रम में समर्थ हो, जो कि ज्ञान, विज्ञान एवं सभी इन्द्रियों के विषयों को ग्रहण करने में समर्थ हो, जो कि श्रेष्ठ सम्पत्ति एवं विविध उपभोग साधनों के उपयोग में समर्थ हो, जिसके द्वारा प्रारम्भ किये गये सभी कार्य उचित व सफलता वाले हों, जो कि हितकर विचारों का चिन्तन करते हों ऐसे व्यक्ति के आयु (जीवन) को सुखायु कहा जाता है। इसके विपरीत दुःखायु होता है। हितायु को विवेचित करते हुये आचार्य ने कहा है कि - जो व्यक्ति सभी प्राणियों की हित की आकांक्षा करने वाला हो, जो कि दूसरे व्यक्ति के स्वत्त्व (धनसंपत्ति एवं उसके स्वातन्त्र्य) से विरत (दूर रहे) हो, सत्यवादी हो, कल्याणकारी हो, किसी भी काम्र को करने के पूर्व उसके सम्बन्ध में समुचित समीक्षा करे, जिसकी बुद्धि विकार रहित हो, जो कि धर्म, अर्थ एवं काम इस त्रिवर्ग को परस्पर अविरोध भाव से पालन करे, पूज्य एवं आदरणीय लोगों को श्रद्धा एवं सम्मान दे, जिसका व्यवहार ज्ञान, विज्ञान और शान्ति के अनुरूप हो जो कि वृद्धों की सेवा तथा सम्मान करे, जिसका राग, क्रोध, ईर्ष्या, अभिमान, अपने को श्रेष्ठ मानना आदि का वेग सुनियन्त्रित हो, जो कि सर्वदा अन्य लोगों के अभाव की वस्तुओं को देने वाला हो, जो कि तप, ज्ञान तथा शान्ति में नित्य लगा रहे, जो कि अध्यात्मतत्त्व को जानने वाला हो, जो कि इस लोक तथा परलोक के सम्बन्ध में नित्य चिन्तन शील रहे और जो कि स्मृति वाला तथा बुद्धिमान हो ऐसे व्यक्ति की आयु (जीवन) को हितायु कहा जाता है। इसके विपरीत अहितायु कहा जाता है। आयु का प्रमाण इन्द्रियों के अपने-अपने विषयों के ग्रहण करने की विकृतियों, मन, बुद्धि तथा चेष्टाओं की विकृतियों से ज्ञात होता है जो कि अकारण ही उत्पन्न हो जाते हैं। यह व्यक्ति इस क्षण, इस मूहूर्त, इस दिन, तीन दिन, पाँच दिन, सात दिन, दस दिन, बारह दिन एक पक्ष, एक मास, छह मास अथवा एक वर्ष की अवधि में मृत्यु को प्राप्त होगा। यही आयु का प्रमाण है जो कि आयुर्वेद के माध्यम से ज्ञात होता है। इससे विपरीत आयु का अप्रमाण होता है जिसे कि अरिष्टाधिकार में कहा गया है। आयुर्वेद में आयु का प्रमाण देह और प्रकृति के लक्षण को दृष्टिगत करके निर्दिष्ट किया गया है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि केवल ५ शब्दों (सुखायु, दुःखायु, हितायु अहितायु तथा आयु का प्रमाण) इनकी कितनी विशद व्याख्या आचार्य के द्वारा प्रस्तुत की गई है। उपर्युक्त उदाहरण को प्रस्तुत करने में मेरा यही अभिप्राय रहा है कि पाठक जान सकें कि पुराकालीन आयुर्वेद के आचार्यों का ज्ञान तथा उसको प्रस्तुत करने की कुशलता कैसी थी जो कि मनोयोग पूर्वक स्वाध्याय करने से पाठकों के लिए सहजही बोधगम्य हो सकता है। आयुर्वेद के सूत्रात्मक व संश्लिष्ट ज्ञान को प्रस्तुत कृति में उपर्युक्त तथ्यों के परिप्रेक्ष्य में विवेचित करने का प्रयास किया गया है।

प्रस्तुत पुस्तक के विषय वस्तु के सम्बन्ध में यह तथ्य भी उपस्थित करना अपेक्षित है कि बहुत से आयुर्वेदीय तथ्यों का स्पष्टीकरण आधुनिक विज्ञान के आलोक में ही हो पाता है। आधुनिक विज्ञान प्राच्य पुराकालीन ज्ञान को जानने के लिये एक ज्योति पुंज के समान है जिसके आलोक में आयुर्वेद के रहस्यमय तथ्य आलोकित होकर स्पष्ट एवं सहज ही बोधगम्य हो जाते हैं। आंधुनिक विज्ञाम प्राच्य एवं पाश्चात्य ज्ञान को मिलाने वाला एक सेतु के समान है जिसके माध्यम से पुराकालीन एवं अर्वाचीन ज्ञान में समन्वय स्थापित हो सकता हैं। हमनें अनेक आयुर्वेदीय तथ्यों को आधुनिक विज्ञान के परिप्रेक्ष्य में समझने का प्रयास किया है तथा तदनुसार तथ्यों को विवेचित करने का प्रयास किया है। प्रस्तुत प्रसंग में कतिपय उदाहरण विषयावबोध के लिए प्रस्तुत करना अपेक्षित है। च० शा० चतुर्थ अध्याय में आचार्य चरक ने उल्लेख किया है कि शुक्र व शोणित के बीज, बीजभाग तथा बीज भागावयव में विकृतियों के कारण उन–उन विशेष अवयवों की उत्पत्ति करने वाले भावों में विकृति से संतति में भी उन–उन विशेष अंगों या अवयवों में विकृति हो जाती है। यदि इस प्रसंग में आधुनिक विज्ञान का सहयोग लिया जाय तो प्रस्तुत तथ्य बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है। बीज से शुक्राणु तथा स्त्री बीजाणु (Ovum) लिया जा सकता है। बीजभाग से शुक्राणु गत तथा स्त्रीजीवाणु से क्रोमोसोम (Chromosome) ग्रहण किया ज़ा सकता है एवं बीज भागावयव से अत्यन्त आधुनिक विचारजीन्स का ग्रहण किया जा सकता है। इस प्रकार आधुनिक विज्ञान के आलोक में आचार्य चरक द्वारा उंल्लिखित बीज, बीजभाग तथा बीजभागावयव जैसे सूक्ष्म–सूक्ष्मतरतथा सूक्ष्म तम रहस्यात्मक शुक्राणु तथा स्त्री बीजाणु गत भावों पर से अज्ञान की यवनिका दूर हो जाती है और आचार्य द्वारा उल्लिखित वचन पर दृढ़विश्वास हो जाता है।

इसी प्रकार च० शा० ७वें अध्याय में आचार्य चरक ने परमाणु मेद से शरीर के अवयवों की संख्या अपरिसंख्येय (असंख्य) बतलाया है जैसा कि निम्नांकित उद्धरण से स्पष्ट होता है—शरीरावयवास्तु परमाणु मेदेनापरिसंख्येया भवन्ति, अतिबहुत्वादति सौक्ष्म्या-दतीन्द्रियत्वाच्च च०शा० ७/१७ इस प्रसंग में परमाणु शब्द से यदि आधुनिक विज्ञान के अनुसार cell या कोशा का अर्थ ग्रहण किया जाय तो आचार्योक्त तथ्य का सहज ही अवबोध हो जाता है। सुतरां आचार्य चरक ने परमाणु भेद से शरीरावयव की अपरिसंख्येयता में तीन हेतु दिये हैं वे भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण एवं आधुनिक विज्ञान की दृष्टि से अत्यन्त समीचीन हैं। प्रथम हेतु अतिबहुत्व अर्थात् शरीरगत परमाणु अत्यधिक होते हैं। द्वितीय हेतु अतिसूक्ष्मत्व—ये बहुत ही सूक्ष्म होते हैं। तृतीय हेतु अतीन्द्रियत्व—ये इन्द्रियों द्वारा अर्थात् चसुरीन्द्रिय द्वारा अग्राह्य हैं। आँख से दृष्टिगोचर नहीं हो सकते। इस प्रकार हम देखते हैं कि आयुर्वेद के प्राचीन आचार्यों ने किस कुशलता से अत्यन्त सूक्ष्मतम तत्त्वों का भी चिन्तन मनन किया तथा तदनुसार उन रहस्यात्मक तथ्यों का प्रतिपादन अपने ग्रन्थों में उपनिबद्ध किया है।

शास्त्रान्तर ज्ञान से आयुर्वेदीय ज्ञान को संस्कारित व परिपुष्ट करने का निर्देश

पुराकालीन आयुर्वेद के आचार्यों ने भी किया है, जैसा कि आचार्य सुस्रुत के निम्नोंद्धृत वचन से स्पष्ट होता है।

एक शास्त्रमधीयानो व विद्यात् शास्त्र निश्चयम्।
तस्माद्बहुश्रुतं शास्त्रं विजानीयात् चिकित्सकः ॥ सु०सू०४/७

उपर्युक्त वचन से स्पष्ट होता है अन्य शास्त्रों के ज्ञान से आयुर्वेद ज्ञान को संस्कारित व पुष्ट करना अत्यन्त अपेक्षित है। इसी प्रकार आचार्य चरक ने भी आचार्य परीक्षा के सन्दर्भ में ''अनुपस्कृतविद्यम्'' ऐसा कहकर आयुर्वेद के आचार्यों के लिये शास्त्रान्तर ज्ञान से अपने ज्ञान को संस्कारित व पुष्ट करने का निर्देश किया हैं। आचार्य चक्रपाणि ने 'अनुपस्कृत विद्यम्' को व्याख्यायित करते हुयें स्पष्ट किया है कि—अनुपस्कृतविद्यमिति शास्त्रान्तर ज्ञानेन नास्त्येवोपस्कृता विद्यायस्य स तथा यः आयुव्रेदज्ञः सञ्शास्त्रान्तरेणापि संस्कृतो भवति, स तु नितरामुपादेयः'' च०वि०८/४ अर्थात् शास्त्रान्तर ज्ञान से जिसकी विद्या विकृत न हो उसे अनुपस्कृत विद्य कहा जाता है, जो आयुर्वेदज्ञ होते हुये शास्त्रान्तर के ज्ञान से भी (Modified) संस्कृत होता है वह अत्यन्त उपादेय (उपयोगी है। इन सभी शास्त्र वचनों के सम्बत को प्राप्त करके हमने भी आयुर्वेद के रहस्यों को आधुनिक विज्ञान के परिप्रेक्ष्य में प्रतिपादित करने का प्रयास किया है।

ग्रन्थगत विषय कोई नवीन तथ्यों का प्रकाशन नहीं है प्रत्युत् आयुर्वेद के प्राचीन आचार्यों के ही अभिमत का अभिनव रूप में प्रस्तुतीकरण है। हमने शास्त्रगत विषयों का ही प्राच्य तथा पाश्चात्य दोनों ही दृष्टिकोण से चिन्तन व मनन करके तथा अपने सुदीर्घकाल के स्वाध्याय एवं अनुभव के आलोक में समन्वयात्मक विवेचन करने का प्रयास किया है। ग्रन्थ में जो भी विषय विवेचित किया गया है सभी शास्त्रानुकूल एवं आयुर्वेद के मौलिक तथ्यों पर आश्रित हैं। कोई भी तथ्य ऐसा नहीं है जिसकी पुष्टि शास्त्रगत उद्धरणों से नहीं किया गया हो। कुछ तथ्यों की प्रामाणिकता वेद व पुराण साहित्य से प्राप्त उद्धरणों से प्रतिपादित की गई है जिनका स्पष्ट विवरण आयुर्वेद संहिताओं में नहीं मिलता। किन्तु जैसा कि सभी विज्ञजनों को विदित है कि—आयुवेद एक ''सर्वपारिषद्शास्त्र'' है तथा प्राचीन काल में जीवन के सभी पहलुओं से जुड़े होने के कारण इसका इतना अधिक प्रचार प्रसार था कि संस्कृत वाङ्मय के प्रायः सभी विधाओं में इसके विषयों का न्यूनाधिक समावेश पाया जाता है। अतः जहाँ तथ्यों की प्रामाणिकता आयुर्वेद के मूल संहिताओं से नहीं प्राप्त हुई उसे वैदिक तथा पुराण साहित्य से भी प्रामाणिक बनाने का प्रयास किया गया है।

प्रस्तुत कृति की रचना में मेरे अन्यतम प्रिय शिष्य डा० वृजकुमार द्विवेदी का अमूल्य योगदान है। विभागीय सेवा कार्यो (अध्यापन, शोध निर्देशन एवं पारिवारिक उत्तरदायित्वों की व्यस्तता के कारण पुस्तक के द्वितीय भाग का लेखन कार्य बहुत दिनों तक रुका रहा। संयोगवश डा० वृजकुमार द्विवेदी जो कि राजकीय आयुर्वेद महाविद्यालय, बरेली में

अध्यापक हैं वे मेरे पास मेरे ही निर्देशन में लिखे गये अपने शोध प्रबन्ध को पुस्तक के रूप में विस्तृत रूप से मूर्तरूप देना चाहते थे आये और उस पुस्तक को संपादित करने का निवेदन किये। मैंने उनके निवेदन को सहर्ष स्वीकार किया तथा उनके द्वारा लिखित आयुर्वेदीय भूत विद्या विवेचन' पुस्तक को सम्पादित किया। पुन: उनकी दूसरी पुस्तक 'पदार्थ विज्ञान' को भी सम्पादित किया। ये दोनों पुस्तकें प्रकाशित भी हो गई हैं। उपर्युक्त पुस्तकों के प्रकाशनावधि में ही मैंने डा० बी० के० द्विवेदी से पुस्तक के द्वितीय भाग की रचना के सम्बन्ध में कहा तो वे इसे मूर्तरूप देने के लिये तत्पर हो गये। मैंने उन्हें पुस्तक का प्रथम भाग तथा पुस्तक के द्वितीय भाग में लिखे जाने वाले शीर्षकों की सूची दिया एवं उन्हें पुस्तक के स्वरूप के सम्बन्ध में भी समुचित निर्देश दिया।

डा० द्विवेदी ने मेरे द्वारा दिये गये निर्देश का पालन करते हुये तथा पुस्तक के प्रथम भाग की विचार सरणि का अनुसरण करते हुये पुस्तक के लेखन कार्य को पूरा किया। मैंने पुस्तक की सम्पूर्ण पाण्डुलिपि को पढ़ा तथा जहाँ कहीं संशोधन परिमार्जन की आवश्यकता हुई उसे संशोधित परिष्कृत किया। तत्पश्चात् प्रस्तुत कृति वर्तमान स्वरूप में प्रकाशित हो गई। डा० द्विवेदी ने जिस तत्परता एवं कुशलता से प्रस्तुत रचना के प्रणयन में सहयोग किया है एतदर्थ मैं उन्हें किन शब्दों में प्रशंसित तथा साधुवाद प्रदान करूँ यह अत्यन्त दु:शक्य है। हाँ मैं इस महनीय कार्य के निमित्त उनका निदर्शन आचार्य विजय रक्षित द्वारा रचित माधव निदान की मधुकोष टीका को पूर्ण करने वाले उनके शिष्य आचार्य श्रीकण्ठदन्त से अवश्य कर सकता हूँ।

प्रस्तुत पुस्तक में शीर्षकों के पूर्वापर मुद्रण क्रम में कुछ त्रुटि हो गई है। स्नेहन स्वेदन अध्याय जो कि पुस्तक के प्रथम तथा द्वितीय अध्याय में मुद्रित होना चाहिये था वह अन्त के अध्यायों में मुद्रित हुआ। यह त्रुटि मुद्रणालय में हो गई। स्नेह स्वेदन अध्याय की पाण्डुलिपि असावधानी से कहीं पड़ी रह गई और बाद में मुद्रित होने वाले अध्यायों का मुद्रण प्रारम्भ हो गया। जब कुछ अध्यायों का मुद्रण हो चुका तो उपर्युक्त अध्यायों की पाण्डुलिपि पर ध्यान गया। जब एक बार अध्यायों के मुद्रण का क्रम भंग हो गया तो स्नेहन स्वेदन अध्याय का मुद्रण अन्त में ही करवाना पड़ा। इस त्रुटि के लिये हम पाठकों से क्षमा प्रार्थी हैं। इसके अतिरिक्त प्रस्तुत कृति के पूर्व पीठिका शीर्षक में विवेच्य शीर्षकों की सूची के सम्बन्ध में लिखा गया है कि—हम आयुर्वेद के सभी सिद्धान्तों को सूची बद्ध रूप में प्रस्तुत करना चाहेंगे किन्तु सिद्धान्तों की सूची नहीं दी जा सकी। सूचीगत अध्यायों का विवरण ही प्रारम्भ कर दिया गया। यद्यपि विवेच्य शीर्षकों की सूची नहीं होने से पुस्तक के स्वरूप में कोई अन्तर नहीं पड़ता तथापि पूर्वपीठिका में इसको प्रस्तुत करने की प्रतिज्ञा की गई और उसे प्रस्तुत नहीं किया गया यह तो प्रतिज्ञाभंग दोष है, इस दोष के लिये भी हम पाठकों से क्षमा प्रदान करने का निवेदन करते हैं। पाठकों से निवेदन है कि विवेच्य सिद्धान्तों की सूची पुस्तक के प्रथम भाग में प्रस्तुत की गई है उससे अपनी जिज्ञासा कर समाधान करें।

जैसा कि प्राक्कथन के प्रारम्भ में ही हम इङ्गित कर चुके हैं इस कृति को सुधी पाठकों के समक्ष उपस्थित करते हुये मुझे परम आत्मतोष की अनुभूति हो रही है उसी स्वात्मतुष्टि के ही मानदण्ड से हमें यह भी प्रतीति हो रही है कि अधिकतर सुधी पाठकों को प्रस्तुत रचना से कुछ न कुछ आत्मतोष प्राप्त हो सकेगा। क्योंकि इस तथ्य की प्रतीति हमें इस चिरन्तन सत्य से हो रही है कि अन्तर्मन से उत्थित भाव आत्मगत होते हैं और सभी व्यक्तियों की आत्मा निसर्गत: एक सी ही सत्-चित् एवं आनन्दात्मक होती है। अत: यह स्वयं सिद्ध तथ्य है कि यदि इस रचना से हमें आत्मतोष हो रहा है तो विज्ञजनों को भी इससे कुछ न कुछ आत्मतोष होगा ही। यदि सुधी पाठकों को अथवा आयुर्वेद में आगत नवीन विद्यार्थियों को इस रचना से अल्वीयसी परिमाण से भी लाभ मिलेगा तो मैं इस रचना के निर्माण एवं तज़नित श्रम को सार्थक तथा अपने को कृतकृत्य समझूँगा। यद्यपि हमने यथा संभव प्रयास करके प्रस्तुत कृति को इस रूप में प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है तथापि मुझे यह संकोच हो रहा है कि इसमें कुछ त्रुटियाँ एवं अशुद्धियाँ आ गई होंगी। उन त्रुटियों व अशुद्धियों के लिये मैं विज्ञजनों से क्षमा प्रार्थी हूँ तथा उनसे निवेदन करता हूँ कि वे मुझे निस्संकोच उन त्रुटियों तथा अशुद्धियों के विषय में संकेतित करेंगे जिससे कि उनका बाद के संस्करण में सुधार किया जा सके।

अन्त में मैं अपने सभी गुरुजनों को जिनसे मुझे आयुर्वेद का यथासंभव समीचन ज्ञान प्राप्त हुआ तथा जिनके दिग्दर्शन से आयुर्वेद के तथ्यों को समझने व प्रतिपादित करने की प्रेरणा मिली उन सभी के चरणों में सश्रद्ध प्रणति अर्पित करते हुये उनके प्रति अपनी चिरकृतज्ञता का ज्ञापन करता हूँ। यों तो ऐसे गुरुजनों की संख्या बहुत अधिक है क्योंकि आचार्य चरक ने अपने प्रसिद्ध वचन से उद्घोषित किया है कि--''कृत्स्नो हि लोको बुद्धिमतामाचार्य:'' अर्थात् बुद्धिमान लोगों के लिये सम्पूर्ण विश्व ही गुरु है। ऐसी स्थिति में किन-किन गुरुओं से हमें विशेष ज्ञान व प्रेरणा मिली उनमें प्रमुख स्व० आचार्य दामोदर शर्मा जी गौड़, स्व० आचार्य पं० यदुनन्दन जी उपाध्याय, आचार्य प्रियव्रत शर्माजी, आचार्य पं० रमानाथजी द्विवेदी, आचार्य पं० हरिश्चन्द्र शुक्लजी एवं स्व० आचार्य लक्ष्मीशंकर विश्वनाथ गुरु हैं। इन सभी गुरुओं के चरणों में मेरी सश्रद्ध शत्-शत् प्रणति अर्पित है। जिन पुराकालीन आचार्यों के ग्रन्थों से मुझे जो कुछ भी ज्ञान प्राप्त हुआ है उनके प्रति भी मेरी सश्रद्ध प्रणति अर्पित है। परोक्ष अथवा प्रत्यक्ष रूप से जिन विद्वानों के ज्ञानमय वचनों से मुझे ज्ञान प्राप्त हुआ है उनके प्रति भी मै हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करता हूँ।

मैं अपने स्व० पिता पं० विद्याधर जी दूबे, (ए०एम०एस० काशी हिन्दू विश्वविद्यालय) के चरणों में सश्रद्ध प्रणति अर्पित करते हुए प्रस्तुत पुस्तक को उनकी ही पुण्य स्मृति में समर्पित करता हूँ जिनके प्रेरणादायक उपदेशों ने मुझे बाल्यावस्था से ही आयुर्वेदाध्ययन के प्रति रुचि जगा दिया था और जिनके देहावसान के पश्चात् भी मैंने आयुर्वेदाध्ययन की अपनी रुचि को किञ्चिन मात्र भी न्यून नहीं होने दिया और उन्हीं के निर्देश

रूपी ज्योतिपुंज के सहारे अनेकानेक कठिनाइयों के होते हुये भी अपने आयुर्वेदीय अध्ययन की स्नातक उपाधि को प्राप्त कर सका तथा बाद में भी आयुर्वेद की स्नातकोत्तर उपाधि प्राप्त कर आयुर्वेद में शोध कार्य, अध्यापन कार्य तथा लेखन कार्य सम्पन्न कर सका।

अन्त में मैं प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रकाशक व कृष्णदास एकेडमी के निदेशक तथा इसके व्यवस्थापकों का अत्यन्त आभारी हूँ तथा उनके प्रति अपनी हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ कि उनके सतत् प्रेरणा सत्प्रयासों से यह कृति वर्तमान रूप में पाठकों के समक्ष प्रस्तुत हो सकी।

वासन्तिक नवरात्र
७ अप्रैल २०००

विनयावनत

लक्ष्मीधर द्विवेदी

पूर्व विभागाध्यक्ष, आयुर्वेद संहिता
चिकित्सा विज्ञान संस्थान काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

विषय-सूची



आयुर्वेद के मूल सिद्धान्त एवं उनकी उपादेयता

(द्वितीय भाग)

आयुर्वेद के मूल सिद्धान्त एवं उनकी उपादेयता

पूर्वपीठिका

भूमिका—ज्ञान-विज्ञान की प्रत्येक शाखा में कुछ-न-कुछ ऐसे आधारभूत तथ्य होते हैं जिनके आश्रय पर वह शास्त्र-विशेष विकसित एवं उपबृंहित होता हुआ अपने समग्र रूप में मूर्त्तमान होकर अपनी अस्मिता के अस्तित्व को बनाये रखता है। शास्त्र-विशेष का परिचय, लक्षण, उद्देश्य एवं उसकी उपादेयता का बोध भी जनसाधारण को तद्-गत आधारभूत तथ्यों से ही हो पाता है। उपर्युक्त तथ्य को निम्नोक्त उदाहरण से भलीभाँति समझा जा सकता है। जैसे किसी भी भवन-निर्माण के पूर्व मूलाधार (नींव) की आवश्यकता अपरिहार्य होती है तथा उसी मूलाधार के अनुरूप भवन की रूपरेखा एकरूपता लिए होती है उसी प्रकार किसी भी शास्त्र के कुछ मूलभूत सिद्धान्त होते हैं जिनके आधार पर ही उस शास्त्र का अस्तित्व बना रहता है तथा उस शास्त्र का जैसा भी विकास या उपबृंहण होता है वह उसके मूल सिद्धान्तों के अनुरूप ही होता है।

उपर्युक्त प्रसंग में यह तथ्य भी ध्यान देने योग्य है कि जैसे भवन-निर्माण में प्रयुक्त मूलाधार जैसा होगा वैसा ही निर्मित भवन का स्थायित्व होगा। अर्थात् मूलाधार निम्नकोटि का हुआ तो भवन का स्थायित्व भी निम्नकोटि का ही होगा। किसी शास्त्र के सम्बन्ध में भी यही तथ्य पूर्ण रूप से चरितार्थ होता है। जिस शास्त्र के मूलभूत सिद्धान्त देश, काल एवं प्रकृति के अपरिहार्य नियमों की निकषशिला (कसौटी) पर अच्छी प्रकार से जाँच-परख कर स्थिर किये गये हैं, वह शास्त्र-विशेष निश्चय ही अपने सुदृढ़ सिद्धान्तों के बल पर चिरकाल तक अपने स्वरूप व उपादेयता को बनाये रखता है।

उपर्युक्त पूर्वपीठिका के परिप्रेक्ष्य में यदि हम अपने वर्ण्य विषय पर विचार करें तो यह स्पष्ट होता है कि आयुर्वेद, जो कि मानव के समग्र जीवन का एक सर्वाङ्गीण दर्शन एवं विज्ञान है वह भी अनेकों मूलभूत सिद्धान्तों के आश्रयभूत होकर प्राचीन काल से अद्यावधि-पर्यन्त अक्षुण्ण रूप से मानव-समाज के आरोग्य की रक्षा करता हुआ तथा अद्यतन चिकित्सा विज्ञान की नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभाजनित आविष्कारों की चुनौतियों का मौन भाव से सामना करता हुआ आज भी देश-काल-जाति-निरपेक्ष भाव से मानव-मात्र के लिए उपादेय बना हुआ है।

वस्तुतः यदि निष्पक्ष रूप से विचार किया जाय तो यह एक निर्विवाद तथ्य है कि आयुर्वेद ही विश्व में एकमात्र जीवन का विज्ञान है जो कि ईसा-पूर्व १५०० वर्ष

पहले ही अपने सर्वाङ्गीण स्वरूप में विकसित हो चुका था—इस तथ्य को आधुनिक इतिहासविद् भी स्वीकार करते हैं। आखिरकार आयुर्वेद में वह कौन-सी विशेषता है कि विश्व के अन्य समुन्नत चिकित्सा-विज्ञान; यथा ग्रीक, रोमन तथा मिस्रदेशीय प्रणालियाँ इतिहास की कुक्षि में समा गयीं, वहीं यह आज भी अत्यन्त प्राचीन काल से ही दुरतिक्रम काल के विकराल आघातों को सहता हुआ विश्व-क्षितिज में अपने जाज्वल्यमान प्रकाश को बिखेर रहा है। अनवरत अभिनव अनुसन्धान का दम्भ करने वाला पाश्चात्य चिकित्सा-विज्ञान भी प्रकृति के महान् रहस्य की गुत्थियों को सुलझाने में प्रकारान्तर से आयुर्वेद का ही अनुसरण कर रहा है। उदाहरणस्वरूप कुछेक तथ्यों का इस सन्दर्भ में उल्लेख किया जा सकता है। यथा—कुछ दशाब्दि पूर्व पाश्चात्य चिकित्सा-विज्ञान स्वास्थ्यरक्षा तथा रोगोपचार के क्रम में मन तथा शरीर के अविच्छिन्न सम्बन्ध की महत्ता को नहीं स्वीकार करता था, किन्तु सम्प्रति इसमें मनोदैहिक चिकित्सा (Psychosomatic therapy) नामक स्वतन्त्र शाखा का समावेश हो चुका है। आयुर्वेद के प्राचीन ऋषियों ने इस तथ्य को हजारों वर्ष पहले ही जान लिया था और—

'सत्त्वमात्माशरीरं च त्रयमेतत् त्रिदण्डवत्।
लोकस्तिष्ठति संयोगात्तत्र सर्वं प्रतिष्ठितम् ॥' (च० सू० १।४६)

इस आप्त वाक्य से प्रतिपादित किया था जिसका तात्पर्य है कि—मन, आत्मा और शरीर ये तीन ही जीवन के मूल हैं और इन्हीं के संयोग पर समग्र प्राणी-जगत् आश्रित है तथा इन्हीं में सभी कुछ विद्यमान है। अभी भी पाश्चात्य चिकित्सा-विज्ञान आत्मतत्त्व को नहीं स्वीकारता किन्तु कुछ काल के पश्चात् उसे आत्मतत्त्व को भी स्वीकार करना पड़ेगा तभी वह एक समग्र चिकित्सा-प्रणाली के रूप में विकसित हो पायेगा।

इसी प्रकार पाश्चात्य चिकित्सा-विज्ञान आयुर्वेदाभिमत आमदोष-जनित रोगों को नहीं जानता था किन्तु अब प्रकारान्तर से इस तथ्य को भी 'Autogenus Diseases' के रूप में स्वीकार करने लगा तथा इसका एक स्वतन्त्र शाखा के रूप में विकास कर रहा है।

आयुर्वेद के पुरुष-विचय सिद्धान्त को भी पाश्चात्य जगत् अब प्रकारान्तर से 'पर्यावरण और पारिस्थितिकी' (Ecology and environment) के रूप में प्राणी-जगत् के स्वास्थ्य के लिए एक महत्त्वपूर्ण तथ्य स्वीकार करने लगा है। इन दिनों इस तथ्य पर अत्यधिक ध्यान देते हुए सभी विकसित एवं विकासशील देश इसे एक स्वतन्त्र विभाग के रूप में विकसित करके तदनुरूप इसके अनुपालन की यथासम्भव व्यवस्था कर रहे हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि आयुर्वेद द्वारा प्रतिपादित एवं प्रचारित अनेक तथ्य

अभिनव पाश्चात्य विज्ञानवादियों को भी आकर्षित कर रहे हैं तथा उन्हें प्रकारान्तर से अपने विज्ञान-सम्मत ज्ञान में समाविष्ट करने के लिए बाध्य कर रहे हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थ का कार्यक्षेत्र तथा अभिधेय (Scope and objective) किसी भी विषय का याथातथ्य विवेचन करने के पूर्व उस विषय का कार्यक्षेत्र एवं उसके वर्ण्य विषय पर विचार करना अपेक्षित है जिससे कि लेखक को अपने विषय का कार्यक्षेत्र एवं उसके वर्ण्य विषय की सीमाओं का बोध बना रहे तथा वह अपने विवेचनीय विषयों पर ही केन्द्रित रहे। सुतरां वर्ण्य विषय के सर्वाङ्गपूर्ण प्रतिपादन एवं प्रस्तुतीकरण के लिए उक्त तथ्य को सर्वदा ही लक्ष्य में रखना चाहिए। पाठकों के लिए भी विषय के कार्यक्षेत्र तथा वर्ण्य विषय का ज्ञान अपेक्षित है। क्योंकि विषय के कार्यक्षेत्र तथा वर्ण्य विषय से अपरिचित होने पर विषय का अपेक्षित बोध नहीं हो पाता, फलस्वरूप ग्रन्थ-अध्ययन का उद्देश्य ही निष्प्रयोजन हो जाता है।

जहाँ तक प्रस्तुत विषय के कार्यक्षेत्र का सम्बन्ध है वह इसके नामकरण से ही भलीभाँति ज्ञात होता है कि इस ग्रन्थ की सीमा आयुर्वेद में सन्निहित सभी आधारभूत सिद्धान्तों तक मर्यादित है। इसके साथ ही उन सभी सिद्धान्तों की आयुर्वेद में क्या उपयोगिता है, इसका विवेचन भी इसके कार्यक्षेत्र में अन्तर्भूत होता है।

प्रस्तुत ग्रन्थ का अभिधेय

वस्तुतः प्रस्तुत विषय के कार्यक्षेत्र एवं इसके अभिधेय में मूलतः कोई भेद नहीं है। तथापि आलोच्य विषय के प्रतिपादन-सौकर्य के निमित्त एवं पाठकों के सहज विषयावबोधार्थ मैंने इसका पृथक् उल्लेख करना तथा उसपर समीचीन विचार प्रकट करना उचित समझा। जैसा कि इसके कार्यक्षेत्र के सम्बन्ध में पहले कहा जा चुका है उससे मेरा अभिप्राय यह रहा है कि कार्यक्षेत्र का एक सीमा तक विहंगावलोकन। जबकि अभिधेय (वर्ण्य विषय) से मेरा तात्पर्य है—कार्यक्षेत्र के अन्तर्गत सन्निहित विषयों का पृथक्-पृथक् अवलोकन। इस प्रकार यदि हम इस तथ्य को दूसरे शब्दों में कहना चाहें तो कार्यक्षेत्र से आशय है—प्रस्तुत समग्र विषयों पर सामान्य दृष्टिपात (Genralised view) तथा अभिधेय का तात्पर्य है प्रत्येक विषय पर विशेष दृष्टिपात (Distinctive view)।

यदि हम उक्त तथ्यों के परिप्रेक्ष्य में अभिधेय पर विचार करें तो यह सहज ही ज्ञात होगा कि विषय के कार्यक्षेत्र एवं अभिधेय में केवल दृष्टिकोण का भेद है। मूलतः दोनों एक ही हैं।

अब हम अपने मूल प्रसंग पर अर्थात् ग्रन्थ के अभिधेय (वर्ण्य विषय) पर विचार करेंगे। इस प्रसंग में यह उल्लेखनीय है कि हमें ग्रन्थ के नाम से ही ज्ञात होता है कि

इसमें आयुर्वेद शास्त्र में प्राप्त सभी सिद्धान्त, जिसमें कुछ मूलभूत सिद्धान्त हैं; यथा पंचभूत सिद्धान्त, त्रिदोष सिद्धान्त, षट्पदार्थवाद सिद्धान्त, रस-गुण-वीर्य-विपाकवाद सिद्धान्त आदि तथा कुछ प्रसंगगत आधिकरणिक सिद्धान्त हैं; यथा सामान्य-विशेषवाद सिद्धान्त, पंचपंचक सिद्धान्त, प्रमाणचतुष्टयवाद, स्वभावोपरमवाद, षड्धातुवाद सिद्धान्त आदि। इसके अतिरिक्त कुछ ऐसे भी सिद्धान्त हैं जो कि मूलतः अन्य दर्शनों के हैं किन्तु उनकी उपादेयता होने से आयुर्वेद में समाविष्ट कर लिये गये हैं, यथा सत्कार्यवाद, आरम्भवाद, विवर्तवाद, राशिपुरुषवाद तथा एकधातुवाद आदि।

उपर्युक्त सिद्धान्त जो कि निदर्शन-मात्र के लिए उल्लिखित किये गये हैं, इसके अतिरिक्त भी बहुत-से ऐसे सिद्धान्त हैं जिनका आयुर्वेद में उल्लेख प्राप्त होता है, वे सभी इस ग्रन्थ के प्रतिपाद्य विषय हैं। साथ ही उन सभी सिद्धान्तों की आयुर्वेद में क्या उपादेयताएँ हैं, यह भी इस ग्रन्थ का अभिधेयगत विषय है।

ग्रन्थ-लेखन-प्रयोजन

कोई भी कार्य किसी उद्देश्य को लक्ष्य करके ही किया जाता है। निष्प्रयोजन कार्य के प्रति किसी की अभिरुचि नहीं होती और यदि कोई प्रयोजनहीन कार्य निष्पादित भी कर लिया जाय तो समाज में उसकी न अपेक्षा होती है, न उपादेयता। अतः किसी कार्यसम्पादन के पूर्व कर्ता उस कार्य के प्रयोजन को लक्ष्य करके ही कार्य में प्रवृत्त होता है तथा उसे सम्पादित कर अपने कार्य की सार्थकता तथा समाज में उसकी उपादेयता को चरितार्थ करता है।

किसी ग्रन्थ के प्रयोजनाभिधान की आवश्यकता सार्थक होती है। प्रयोजनाभिधान के बिना ग्रन्थ के पाठकों की ग्रन्थ में प्रवृत्ति नहीं होती और जब तक ग्रन्थ में प्रवृत्ति नहीं होती तब तक ग्रन्थोक्त तथ्यों के यथार्थ स्वरूप का बोध नहीं होता और जब तक ग्रन्थोक्त तथ्यों के यथार्थ स्वरूप का बोध नहीं होता तब तक ग्रन्थ के प्रयोजन का अभीष्ट सिद्ध नहीं होता। इस प्रकार ग्रन्थ-निर्माण की सम्पूर्ण प्रक्रिया ही निष्फल हो जाती है। अतः प्रयोजनाभिधान की अनिवार्यता स्पष्ट ही परिलक्षित होती है। इसी तथ्य को दृष्टिगत रखते हुए प्रयोजनाभिधान की अवतारणा प्रस्तुत प्रसंग में अपेक्षित है।

प्रस्तुत ग्रन्थ का प्रयोजन आयुर्वेद के मूल सिद्धान्तों को साम्प्रतिक परिप्रेक्ष्य में स्पष्ट रूप से व्याख्यायित करना है एवं तदनुसार उन सिद्धान्तों की आयुर्वेद में क्या उपादेयता है इसका यथार्थ एवं युक्तिसंगत प्रतिपादन प्रस्तुत करना है। इस प्रसंग में यह तथ्य विचारणीय है कि आयुर्वेद के पुराकालीन मनीषियों ने जो भी मूलभूत सिद्धान्त प्रतिपादित किये हैं तथा जिसपर आयुर्वेद वाङ्मय का सम्पूर्ण कलेवर आश्रित है वह आज अपने ही आविर्भाव स्थल में इतना उपेक्षित क्यों हो गया है। भारतीय संस्कृति से

जुड़ा हुआ, भारतीय देशकाल-जनमानसानुकूल सर्वभूत हितैषी आयुर्वेद आज अपनी ही धरती पर उपेक्षित तथा तिरस्कृत हो रहा है। आयुर्वेद की उपेक्षा एवं तिरस्कार से स्वयं आयुर्वेद का कोई अहित नहीं होने वाला है और न इसके शाश्वत स्वरूप की ही हानि होती है; किन्तु भारत की ८० प्रतिशत जनता, जो कि अपनी निर्धनता के कारण आधुनिक चिकित्सा-प्रणाली की व्ययसाध्य निदान-पद्धति एवं रोगोपचार में असमर्थ है आयुर्वेद के आश्रय बिना अवश्य ही उत्पीड़ित एवं असहाय हो गई है। आयुर्वेद के प्रति आखिर यह उपेक्षा और तिरस्कारभाव क्यों? यदि इस प्रश्न पर विचार किया जाय तो इसके अनेक कारण हैं। हम यहाँ पर सभी कारणों का उल्लेख नहीं करेंगे; क्योंकि वह विषयान्तर भी होगा तथा उसका निराकरण भी आज की परिस्थिति में असंभव-सा है। अतः हम प्रसंगानुसार एक ही कारण का उल्लेख करेंगे, जो कि ग्रन्थ-प्रयोजन के सन्दर्भ में अपेक्षित है तथा जिसका निराकरण भी सहज ही संभव है।

ग्रन्थ-प्रयोजन के सन्दर्भ में यह कारण इसलिए प्रतिपाद्य है कि पाठकों को यह तथ्य ज्ञात हो सके कि अन्ततः आयुर्वेदानुरागियों का आधुनिक परिप्रेक्ष्य में अधिक-से अधिक क्या प्रयास हो सकता है जिससे आयुर्वेद की प्रतिष्ठा कम-से-कम इसके अध्ययन-अध्यापन में लगे लोगों तथा आयुर्वेदाश्रित व्यवसाय प्रतिष्ठान से जुड़े व्यक्तियों में विश्वासपूर्वक प्रतिष्ठापित हो।

किन्तु विडम्बना यह है कि आयुर्वेद से जुड़े अधिकतर लोगों को स्वयं ही आयुर्वेद के शाश्वतिक मूल्यों पर भरोसा नहीं है, फलस्वरूप अन्य चिकित्सा-प्रणालियों की अपेक्षा दिनानुदिन इसकी प्रतिष्ठा एवं विश्वसनीयता ह्रास की ही ओर बढ़ती जा रही है। इस स्थिति का मुख्य कारण यह है कि आयुर्वेद से जुड़े अधिकतर लोग इसके मूल सिद्धान्तों पर ध्यान नहीं देते अथवा यदि कदाचित् ध्यान देते भी हैं तो उनकी उपादेयता के सम्बध में भरोसा नहीं करते और समझते हैं कि ये सिद्धान्त तो अनेक सहस्त्रों वर्ष पूर्व ऋषियों द्वारा केवल कल्पना के आधार पर स्थापित किये गये हैं जिनका आज के सतत अभिनवशील वैज्ञानिक अनुसंधान की तुलना में केवल ऐतिहासिक महत्त्व ही हो सकता है न कि इसकी व्यावहारिक उपादेयता।

परन्तु वे तथाकथित अद्यतन विज्ञानवादी इस तथ्य को भूल जाते हैं कि आखिर वे भी जिस विज्ञान पर विश्वास करते हैं तथा तदनुरूप उसकी उपादेयता मानकर उसे व्यवहार में लाते हैं, वे सभी विज्ञानसम्मत तथ्य भी तो अनेकों वैज्ञानिकों के अनेकविध अनुसंधानों पर ही आधारित हैं जो कि सभी विज्ञानानुयायियों के प्रत्यक्ष ज्ञान की सीमा से परे हैं। फिर भी विश्वासपूर्वक उन सभी वैज्ञानिक तथ्यों का अनुसरण करते हैं तो इसका कारण क्या है? यदि इस तथ्य पर विचार करें तो यह ज्ञात होता है कि इसका कारण है उन वैज्ञानिक तथ्यों के प्रति बद्धमूल विश्वास, सभी विज्ञानवादियों की यह दृढ़ आस्था होती है कि जो भी तथ्य वैज्ञानिकों ने प्रतिपादित किये हैं वे सभी य हैं

तथा उनमें सन्देह करने की गुंजाइश ही नहीं । इस प्रकार की दृढ़ आस्था को ही भारतीय प्राचीन मनीषियों ने "आप्तत्व" की संज्ञा दिया है जैसा कि आचार्य चरक के निम्न उद्धरण से स्पष्ट होता है । यथा—"रजस्तमोभ्यां निर्भुक्तास्तपो ज्ञानबलेन ये । येषां त्रिकालममलं ज्ञानमव्याहतं सदा । आप्ताशिष्टाः विबुद्धास्ते तेषां वाक्यमसंशयम् ॥ सत्यं, वक्ष्यन्ति ते कस्मादसत्यं नीरजस्तमः ।"––च० सू० १/१८/१९ । उपर्युक्त उद्धरण का तात्पर्य है कि जो अपने तप एवं ज्ञानबल से रजोगुण एवं तमोगुण से मुक्त हो गये हैं तथा जिनका निर्मल ज्ञान भूत, भविष्य एवं वर्तमान तीनों के प्रति सदा अबाधित रहता है वे सभी आप्त, शिष्ट और विबुद्ध होते हैं तथा वे जो भी कहते हैं सत्य ही कहते हैं । रज एवं तम से मुक्त होने के कारण वे असत्य कैसे कहेंगे ।

उपर्युक्त तथ्य के आलोक में विचार करें तो यह स्पष्ट हो जाता है कि आधुनिक विज्ञानवादी अद्यतन विज्ञान के तथ्यों के प्रति तो आप्तत्व का भाव रखते हैं किन्तु जिन मनीषियों ने यथोक्त "आप्तत्व" की मौलिक अवधारणा प्रस्तुत किया तथा जो वास्तविक आप्तत्व के मानदंड थे, उन्हीं के वाक्यों के प्रति अनास्था और उपेक्षा की स्थिति ! आखिर यह विरोधाभास क्यों ? इसका मूल कारण है—आयुर्वेद के प्रति अनाप्तत्व भाव और आयुर्वेद के प्रति अनाप्तत्व का कारण है—इसके मूल सिद्धान्तों की उपेक्षा । आयुर्वेद के मूल सिद्धान्तों की उपेक्षा का कारण है—तन्निहित उपादेयता के प्रति अविश्वास ।

आयुर्वेद के मूल सिद्धान्तों की उपादेयता के प्रति अविश्वास का कारण है—मूल सिद्धान्तों तथा उनकी उपादेयताओं से अपरिचय । इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि आज के अद्यतन वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य में आयुर्वेद के मूल सिद्धान्तों के महत्त्व से अपरिचय तथा उनकी उपादेयता का अज्ञान ही आयुर्वेद से जुड़े अधिकतर लोगों में आयुर्वेद के प्रति अनास्था और उपेक्षा का प्रमुख कारण है ।

इस प्रसंग में यह कहा जा सकता है कि स्वातन्त्र्योत्तर काल में तो भारतवर्ष में दिनानुदिन आयुर्वेद का पठन-पाठन तथा तदाश्रित संस्थाओं की बहुत ही अभिवृद्धि हुई है तथा हो रही है । ऐसी प्रत्यक्षमूलक स्थिति में भी आयुर्वेद के प्रति आयुर्वेद से ही जुड़े लोगों की अनास्था तथा उपेक्षा का आक्षेप निराधार तथा नैराश्यवादी विचार का द्योतक है । इस सम्बन्ध में मेरा नम्र निवेदन है कि आयुर्वेद के प्रचार एवं प्रसार की अभिवृद्धि-प्रतीति आभास-मात्र है वस्तुतः यह विश्वासमूलक नहीं है । अतः आयुर्वेद का यह विकास गुणात्मक नहीं प्रत्युत परिमाणात्मक ही है जिसके प्रति निर्भरता क्रमशः कम ही होती जा रही है । इस स्थिति को इस तथ्य से भी जाना जा सकता है कि राष्ट्रिय स्वास्थ्यरक्षा कार्यक्रम में जहाँ आधुनिक चिकित्सा-प्रणाली (Modern Medicine) पर देश की व्यय होने वाली धनराशि का ९७% खर्च किया जाता है वहाँ आयुर्वेद-प्रणाली पर केवल २% धनराशि व्यय होता है । इस विषम स्थिति से सहज ही जाना जा सकता

है कि आयुर्वेद के प्रति राष्ट्र की कितनी आदर-भावना है। आयुर्वेद के प्रति इस उपेक्षा भाव का आधुनिक परिप्रेक्ष्य में यदि कुछ भी निराकरण किया जा सकता है तो वह आयुर्वेद में आस्था तथा विश्वास रखने वाले आयुर्वेदज्ञों द्वारा ही। और इस कार्य का सम्पादन आयुर्वेद के मूल सिद्धान्तों की महत्ता एवं उपादेयता का सरल एवं स्पष्ट रूप में प्रतिपादन करके किया जा सकता है जिससे कि कम-से-कम आयुर्वेद के विद्यार्थियों में इसके प्रति आस्था और विश्वास सुदृढ़ हो। क्योंकि किसी भी विषय का यथार्थ ज्ञान के बिना उसके प्रति विश्वास नहीं होता और बिना विश्वास के उसमें अभिरुचि नहीं होती तथा बिना अभिरुचि के दृढ़ आस्था भी नहीं होती, जैसा कि भारतीय जनमानस के महाकवि तुलसी के निम्नोक्त उद्धरण से स्पष्ट होता है। यथा—

'जाने बिनु न होई परतीति। बिनु परतीति होइ न प्रीति॥ प्रीति बिना नहीं भगति दृढ़ाई।'—रामचरितमानस, उत्तरकाण्ड। आयुर्वेद के मूल सिद्धान्तों की महत्ता एवं उसकी उपादेयता का यथार्थ परिचय हो, इसी प्रयोजन को ध्यान में रखकर इस ग्रंथ का लेखन प्रारम्भ किया गया है जिससे कि आयुर्वेद के प्रति अधिक-से-अधिक लोगों का विश्वास व आस्था बढ़े।

आयुर्वेद का संक्षिप्त परिचय

प्रस्तुत ग्रन्थ के अभिधेय 'आयुर्वेद के मूल सिद्धान्त एवं उपादेयता' इस मूल विषय पर विस्तृत विवेचन के पूर्व हम आयुर्वेद पर ही संक्षिप्त विचार करेंगे। क्योंकि जैसी कि एक सामान्य अवधारणा है कि आयुर्वेद भी अन्य चिकित्सा-प्रणालियों की भाँति एक चिकित्सा-प्रणाली मात्र है। इस प्रकार की अवधारणा आयुर्वेद की व्यापकता के प्रति एक महान् भूल होगी। इसीलिए इस सन्दर्भ में आयुर्वेद के यथार्थ ज्ञान के लिए संक्षिप्त परिचय अपेक्षित है। विशेषकर इसके मूल सिद्धान्तों के परिप्रेक्ष्य में तो इस तथ्य की उचित जानकारी की और भी अनिवार्यता होती है; क्योंकि जैसे आयुर्वेद का क्षेत्र व्यापक है तदनुसार उसके सिद्धान्त भी व्यापक एवं अनेकविध हैं। आयुर्वेद की व्यापकता का यथार्थ ज्ञान होने पर ही इसके मूल सिद्धान्तों की व्यापकता और विशिष्टता का सहज बोध होता है तथा उनकी विश्वसनीयता भी बढ़ती है।

आयुर्वेद शब्द का सामान्य अर्थ है 'आयुषो वेदः आयुर्वेदः' अर्थात् आयु का वेद। इस प्रकार आयुर्वेद आयु+वेद इन दो शब्दों से बना यौगिक शब्द है। आयु का सामान्यतः सीमित अर्थ लिया जाता है वय या उम्र, किन्तु यह अर्थ भ्रामक है। आयुर्वेद की दृष्टि में आयु शब्द से जीवन का ग्रहण किया जाता है। जैसाकि आचार्य चरक के निम्नोक्त उद्धरण से स्पष्ट होता है। यथा—शरीरेन्द्रियसत्त्वात्मसंयोगोधारि जीवितम्। नित्यगश्चानुबन्धश्च पर्यायैरायुरुच्यते।'—च० सू० १।४२। उपर्युक्त उद्धरण का तात्पर्य है कि—शरीर, इन्द्रिय, मन और आत्मा का संयोग ही जीवन या आयु

है। धारि (धारयति शरीरं पूतितां गन्तुं न ददाति इति धारि—चक्रपाणि) अर्थात् जो शरीर का धारण करे। नित्य ही शरीर के असंख्य कोशाओं के शीर्यमाण (नष्ट होते हुये भी) इसे कोथक्रिया (सड़ने) से बचाये तथा इसे दुर्गन्धित न होने दे; अतः धारि है। जीवितम् (जीवयति प्राणान् धारयति इति जीवितम्—चक्रपाणि) अर्थात् जो प्राणों को धारण करे अतः जीवितम् है। नित्यग (नित्यं शरीरस्य क्षणिकत्वेन गच्छति इति नित्यगः—चक्रपाणि) अर्थात् शरीर नित्य ही काल के एक-एक क्षण से संयुक्त होता हुआ चलता रहता है, अतः नित्यग है। अनुबन्ध (अनुबध्नाति आयुः अपरापरशरीरादिसंयोगरूपतया इति अनुबन्धः—चक्रपाणि) अर्थात् पूर्वापर आयु (जीवन) को शरीरादि (शरीर, इन्द्रिय, मन एवं आत्मा) संयोग रूप से एक के पश्चात् दूसरे से बाँधता है; अतः अनुबन्ध है। धारि, जीवित, नित्यग तथा अनुबन्ध—इन सभी पर्यायों का आयु शब्द से ग्रहण होता है।

आयु शब्द के निरुक्तिपरक अर्थ पर विचार करें तो यह आ उपसर्ग तथा 'युजिर् योगे' धातु से व्युत्पन्न होता है। 'आसमन्तात् चेतनया युनक्ति इति आयुः' अर्थात् प्रारम्भ से अन्त तक चेतना से जोड़ने वाला। युज् धातु संयमन अर्थ में भी प्रयुक्त होता है, इस अर्थ में आयु की निरुक्ति होगी—'आसमन्तात् योजयति इति आयुः' अर्थात् प्रारम्भ से अन्त तक जो चेतना धातु को संयमित करे वह आयु है। 'युज् समाधौ' अर्थात् युज् धातु समाधि अर्थ में भी प्रयुक्त होता है। इस अर्थ में आयु शब्द की निरुक्ति होगी—'आसमन्तात् चेतनां युज्यते समाधीयते अनेन इति आयुः' अर्थात् प्रारम्भ से अन्त तक जो चेतना धातु को समाधि (आत्मज्ञान) लाभ कराये वह आयु है। उपर्युक्त तीनों अर्थों में प्रयुक्त युज् धातु के साथ आ उपसर्ग जुड़ने से जो आयु शब्द बनता है यदि इसका व्यापक अर्थ लिया जाय तो इसका अर्थ होगा—प्रारम्भ से अन्त तक जो शरीर को चेतना धातु से जोड़े रहे, संयमित करे तथा समाधि में लगाये वह आयु है।

उपर्युक्त तथ्यों के आलोक में देखने से स्पष्ट होता है कि आयु शब्द का कितना व्यापक अर्थ होता है। आयु शब्द से शरीर, इन्द्रिय, मन एवं आत्मा—इन सभी का समष्टिभूत अर्थ अभिप्रेत होता है। अतः आयु का विचार करते समय व्यक्ति के शरीर, इन्द्रिय, मन और आत्मा—इन सभी का विचार अभीष्ट होता है और आयुर्वेद में इन सभी का विचार आयु पद से वाच्य है। आयुर्वेद का यही वैशिष्ट्य है कि जीवन-प्रक्रिया में इससे सम्बन्धित सभी मूल तत्त्वों का समावेश है। विश्व की किसी भी चिकित्सा-प्रणाली में जीवन के इन मूल तत्त्वों पर समष्टि रूप में विचार नहीं किया गया। इसीलिए आयुर्वेद केवल एक चिकित्सा-प्रणाली ही नहीं अपितु जीवन का समग्र दर्शन एवं विज्ञान है। इसका निदर्शन हमें उपर्युक्त तथ्य से मिलता है कि केवल दो अक्षरों वाला आयु शब्द अपने में कितने व्यापक अर्थ को समेटे हुए है। इसी

प्रकार यदि हम आयुर्वेद के दूसरे शब्द वेद पर विचार करें तो ज्ञात होता है यह भी अपने में व्यापक अर्थ को समेटे हुए है। उदाहरणार्थ इस प्रसंग में उसका उल्लेख अप्रासंगिक नहीं होगा। वेद शब्द विद् धातु से व्युत्पन्न है। विद् धातु चेतना, आख्यान (विस्तृत विवरण) तथा निवास अर्थ में होता है। इन अर्थों में आयुर्वेद का निरुक्तिपरक अर्थ होगा—'आयुर्वेदयति अनेन इति आयुर्वेदः' अर्थात् आयु का जो विस्तृत ज्ञान कराये वह आयुर्वेद है। (२) 'विद् ज्ञाने' इस अर्थ में निरुक्तिपरक अर्थ होगा—'आयुर्वेदयति इति आयुर्वेदः' अर्थात् आयु को जो जाने वह आयुर्वेद है। (३) 'विद् सत्तायाम्' इस अर्थ में आयुर्वेद का निरुक्तिपरक अर्थ होगा—'आयुर्विद्यते यस्मिन् इति आयुर्वेदः' अर्थात् जिसमें आयु की सत्ता या अस्तित्व हो वह आयुर्वेद है। (४) 'विद् विचारणे' इस अर्थ में निरुक्तिपरक अर्थ होगा—'आयुर्विन्ते यस्मिन् इति आयुर्वेदः' अर्थात् जिसमें आयु का विचार किया जाय वह आयुर्वेद है। (५) 'विद्लृ लाभे' इस अर्थ में आयुर्वेद का निरुक्तिपरक अर्थ होगा—'आयुर्विन्दति अनेक इति आयुर्वेदः' अर्थात् जिससे आयु का लाभ या प्राप्ति हो वह आयुर्वेद है।

इस प्रकार आयुर्वेद का समष्टिपरक अर्थ—आयु का ज्ञान हो, जो आयु का ज्ञान कराये, जिसमें आयु की सत्ता हो तथा आयु का विचार हो और जिससे आयु की प्राप्ति हो वह आयुर्वेद है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्राचीन आयुर्वेद-मनीषियों ने कितनी कुशलता से जीवन से सम्बन्धित समग्र अनिवार्य तथ्यों को समेटते हुए इस शास्त्र की एक सर्वाङ्गीण एवं सार्वभौमिक संज्ञा 'आयुर्वेद' अभिहित किया है। इस सन्दर्भ में यह नहीं कहा जा सकता कि भिन्न-भिन्न अर्थों में प्रयुक्त एक ही धातु के सभी अर्थों को एक ही शब्द में संश्लिष्ट करने का कोई औचित्य नहीं जान पड़ता। इस सम्बन्ध में आचार्य चरक के निम्न वचन को उद्धृत करना प्रासंगिक समझता हूँ जिसमें कि आयुर्वेद की व्यापक परिभाषा एक ही श्लोक में वर्णित की गई है जो कि भिन्न-भिन्न अर्थों वाले एक ही धातु के प्रायः समग्र अर्थों को समाविष्ट किये हुए है। यथा—

हिताहितं सुखं दुःखं आयुस्तस्य हिताहितम्।
मानं च तच्च यत्रोक्तमायुर्वेदः स उच्यते॥ (च० सू० १।४१)

अर्थात् जिसमें उपादेय सुख, आयु और हित आयु एवं हेय दुःख आयु तथा अहित आयु का विचार हो तथा आयु के उचित मान (Life Span) का विचार हो वह आयुर्वेद है। आचार्य चरक के उपर्युक्त उद्धरण से हमें स्पष्ट होता है कि एक ही धातु के भिन्न-भिन्न अर्थों वाले सभी अभिप्राय समष्टि रूप से प्राचीन आयुर्वेदज्ञों को आयुर्वेद शब्द से अभिप्रेत था।

आयुर्वेद के अष्टाङ्ग

पूर्वोक्त व्यापक अर्थ वाले आयुर्वेद शास्त्र के सर्वाङ्गीण ज्ञान तथा तदनुसार व्यवहार के लिए इसे निम्नोक्त आठ शाखाओं में विभक्त किया गया है—

(१) **कायचिकित्सा**—'कायस्य चिकित्सा' काय अर्थात् शरीर की चिकित्सा कायचिकित्सा कहा जाता है। काय शब्द 'चिञ् चयने' धातु से व्युत्पन्न होता है जिसका निरुक्तिपरक अर्थ होगा—'चीयते अन्नादिभिः' अर्थात् जो अन्नपानादि से पोषित होता है वह काय है। काय शब्द से अग्नि का भी बोध होता है। शरीरान्तर्गत अग्नि ही आहार द्रव्यों का पाचन कर सर्वाङ्ग शरीर को पोषित करती है तथा शरीर को प्रकृतिस्थ भाव में रखती है एवं अग्नि के कार्य में दोष आने पर ही शरीरगत निज रोगों का (स्वतःशरीर-दुष्ट धातुओं से उत्पन्न) प्रादुर्भाव होता है। अतः अग्नि की चिकित्सा—यह अर्थ भी कायचिकित्सा से ग्रहण किया जाता है। कायचिकित्सा के अन्तर्गत सर्वाङ्गसंश्रित शरीरगत ज्वर, रक्तपित्त, शोथ, उन्माद, अपस्मार, प्रमेह, अतिसार आदि व्याधियों का उपचार किया जाता है।

(२) **शल्य**—'शल् हिंसायाम्' धातु से शल्य शब्द बनता है जिसका निरुक्तिपरक अर्थ होता है—'पीडाकारकं शल्यमपनेतुं कृतं यत् शास्त्रम् तत् शल्यम्' अर्थात् शरीर में पीडाकारक जो भी विविध तृण, पाषाण, लोह, अस्थि, बाल, नख, पूय, आस्राव (शरीरनिर्गत दुष्ट धातुद्रव), दुष्टव्रण तथा दुष्ट गर्भ आदि के बाहर निकालने तथा शरीरगत रोगों के निदान एवं उपचार में व्यवहृत यन्त्र, शस्त्र, क्षार तथा अग्नि के उपयोग में जो शास्त्र प्रवृत्त हो वह शल्य है।

(३) **शालाक्य**—'शलाकायाः कर्म शालाक्यम्' अर्थात् जिसमें शलाका के द्वारा रोग-निदान एवं उपचार हो वह शालाक्य कहा जाता है और जिसमें शलाका की प्रधानता हो वह शालाक्य तन्त्र है। ऊर्ध्वजत्रुगत (गले के ऊपर) कान, नाक, मुख, नासिकागत रोगों के उपचार के लिए इनमें शलाका यन्त्र की उपयोगिता होने से आयुर्वेद की इस शाखा-विशेष को शालाक्यतन्त्र कहते हैं।

(४) **भूतविद्या**—'भूतानि देवासुर-गन्धर्व-यक्ष-राक्षस-पितृ-नाग-पिशाचाः अष्टौ तानि वेत्ति अनया इति भूतविद्या' अर्थात् देव, असुर, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, पितर, नाग एवं पिशाच—इन आठों को भूत कहते हैं। इन सभी को जिस विद्या या ज्ञान से जाना जाय वह भूतविद्या है। इन सभी उपर्युक्त भूतों के आवेश से प्रभावित चित्त वाले मनुष्यों के लिए शान्तिकर्म एवं सम्बन्धित ग्रहों के निमित्त बलिकर्म आदि से ग्रहों के शमन के लिए प्रवृत्त शास्त्र को भूतविद्या कहते हैं।

(५) **कौमारभृत्य**—आयुर्वेद की कौमारभृत्य शाखा को पारिभाषित करते हुए आचार्य सुश्रुत कहते हैं—'कौमारभृत्यं नाम कुमारभरण-धात्रीक्षीरदोषसंशोधनार्थदुष्ट-

स्तन्यग्रहसमुत्थानां च व्याधीनामुपशमनार्थम् ।'—सु० सू० १।१-५। अर्थात् कुमारों (शिशुओं) के पोषणार्थ एवं स्तनन्धय धात्री (दूध पिलाने वाली धात्री) के क्षीर-दोष के संशोधनार्थ, दूषित क्षीर एवं विभिन्न बालग्रहों से उत्पन्न बालकों की व्याधियों के उपचार में प्रवृत्त होने से आयुर्वेद की इस शाखा को कौमारभृत्य कहा जाता है।

(६) **अगदतन्त्र**—'न गदः अगदः अगदाय तन्त्रम् अगदतन्त्रम्' इस निरुक्तिपरक अगदतन्त्र का अभिप्राय है कि—जो गद न हो वह अगद है, अगद के लिए प्रवृत्त शास्त्र को अगदतन्त्र कहते हैं। आचार्य सुश्रुत ने अगदतन्त्र की निम्नोक्त परिभाषा की है—

'अगदतन्त्रं नाम सर्पकीटलूतादष्टविषव्यञ्जनार्थं विविधविषसंयोगोपशमनार्थं च।' सु० सू० १।७-६।

अर्थात् सर्प, कीट, मर्कट आदि के काटने से उत्पन्न विष के निदानार्थ एवं विविध विषों के संयोग से उत्पन्न लक्षणों के उपचारार्थ प्रवृत्त शास्त्र को अगदतन्त्र कहते हैं।

(७) **रसायन तन्त्र**—रसायन तन्त्र को पारिभाषित करते हुए आचार्य सुश्रुत कहते हैं कि—'रसायनतन्त्रं नाम वयःस्थापनमायुर्मेधाबलकरं रोगापहरणसमर्थं च।' सु० सू० १।७-७।

उपर्युक्त उद्धरण का आशय यह है कि वय को यथायोग्य प्रकृतिस्थ भाव में रखने के लिए आयु (जीवन), मेधा (ज्ञान धारण योग्यता) तथा बल के लिए एवं रोगों को दूर करने के निमित्त प्रवृत्त शास्त्र को रसायन तन्त्र कहते हैं।

(८) **वाजीकरण तन्त्र**—'अवाजी वाजीव अत्यर्थमैथुने शक्तः क्रियते येन तद्वाजी-करणम्'—चक्रपाणि। अर्थात् अवाजी (अल्प शुक्र तथा बल वाला) को अश्व की तरह मैथुन कर्म में सामर्थ्य जिससे प्राप्त हो वह वाजीकरण कहा जाता है। वाजीकरण में प्रवृत्त शास्त्र को वाजीकरण तन्त्र कहते हैं। आचार्य सुश्रुत ने वाजीकरणतन्त्र की परिभाषा करते हुए कहा है कि—'वाजीकरणतन्त्रं नाम अल्पदुष्टं क्षीणं विशुष्करेत-सामाप्यायनप्रसादोपचयजननिमित्तं प्रहर्षजननार्थं च।'—सु० सू० १।७-८। अर्थात् अल्प शुक्र वाले, दूषित शुक्र वाले, क्षीण शुक्र वाले तथा विशुष्क रेतस (अत्यन्त क्षीण शुक्र) के लिए क्रमशः वृद्धि, शुद्धिकरण, पुष्टिकरण तथा शुक्रजनन के निमित्त एवं स्वल्प शुक्रवाले पुरुष के शुक्रवृद्धि स्राव के निमित्त प्रवृत्त शास्त्र को वाजीकरण तन्त्र कहते हैं।

इस प्रकार मानव के समग्र जीवन के स्वास्थ्य तथा रोगोपचार के निमित्त आयु-र्वेद को आठ अंगों में विभाजित कर तदनुसार सभी अंगों का विस्तृत उपदेश कर प्राचीन आयुर्वेदज्ञ-मनीषियों ने मानव को स्वस्थ एवं सुखी जीवन प्रदान किया है। आयुर्वेद के इस संक्षिप्त परिचय के पश्चात् हम इसके मूल सिद्धान्तों का विवेचन करेंगे।

आयुर्वेद के मूल सिद्धान्त

'मूल सिद्धान्त' इस संज्ञा से जैसा कि स्पष्ट होता है कि जिस प्रकार मूल के आधार पर ही सम्पूर्ण वृक्ष का कलेवर आश्रित रहता है उसी प्रकार समग्र आयुर्वेद-वाङ्मय भी इसके मूल सिद्धान्तों पर ही आश्रित है। सिद्धान्त ही मूल है जिसका, वही मूल सिद्धान्त है। सिद्धान्त को पारिभाषित करते हुए आचार्य चरक ने कहा है कि—'सिद्धान्तो नाम स यः परीक्षकैर्बहुविधं परीक्ष्य हेतुभिश्च साधयित्वा स्थाप्यते निर्णयः।'—च० वि० ८।३७। अर्थात् जिस तथ्य को अनेक परीक्षकों के द्वारा अनेक विध परीक्षा करके उसका तर्कसंगत निर्णय स्थापित किया जाता है वह सिद्धान्त है। उपर्युक्त सिद्धान्त के लक्षण से यह सहज ही ज्ञात होता है कि प्राचीन आयुर्वेदज्ञों ने किसी भी सिद्धान्त की स्थापना यों ही केवल अपनी कल्पनाशक्ति पर ही नहीं किया है प्रत्युत किसी तथ्य की अनेक परीक्षकों द्वारा अनेक प्रकार की परीक्षा करके तद-नुसार उसके व्यवहार-पक्ष की अनेकविध जाँच-परख की कसौटी पर निरीक्षण करके तर्कसंगत निष्कर्ष को निष्पादित किया है। यदि आज की वैज्ञानिक पद्धति से परीक्षण की प्रक्रिया से स्थापित किसी तथ्य से प्राचीनों के सिद्धान्त की तुलना करें तो प्राचीनों द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त ही सार्वकालिक, सार्वभौमिक तथा शाश्वतिक सिद्ध होते हैं। क्योंकि वैज्ञानिक परीक्षणों से प्रतिपादित सिद्धान्त तर्कसंगत कारण-कार्यहेतु से घटित नहीं होते, जबकि प्राचीनों के सिद्धान्त अनेकविध परीक्षणों के पश्चात् तर्कसंगत कारण-कार्य-हेतु से भी घटित करके ही प्रतिपादित किये गये हैं। अतः प्राचीनों के सिद्धान्त में बदलाव या त्रुटि की कोई गुंजाइश नहीं होती। उपर्युक्त तथ्य के आलोक में विचार करने से यह सहज ही स्पष्ट होता है कि अद्यतन वैज्ञानिकों का आयुर्वेद के सिद्धान्तों के प्रति अवैज्ञानिकता का आक्षेप निराधार ही सिद्ध होता है। यद्यपि इस तथ्य से इन्कार नहीं किया जा सकता कि प्राचीनकाल में आज की तरह सर्वसुविधा-सम्पन्न प्रयोगशालाएँ नहीं थीं और न आज की तरह सूक्ष्मातिसूक्ष्म वस्तुओं के अवलोकनसमर्थ उपकरण। तथापि प्राचीनों ने प्रकृति की विशाल प्रयोगशाला में अपने विविध युक्तिकौशल तथा गहन चिन्तन से जो भी सिद्धान्त स्थापित किये वे आज भी सार्थक तथा उपादेय हैं।

सिद्धान्तों का वर्गीकरण

आचार्य चरक ने सिद्धान्तों का निम्नोक्त चार भेद किया है—१. सर्वतन्त्र सिद्धान्त, २. प्रतितन्त्र सिद्धान्त, ३. अधिकरण सिद्धांत और ४. अभ्युपगम सिद्धान्त।

(१) सर्वतन्त्र सिद्धान्त—सर्वतन्त्र सिद्धान्त को पारिभाषित करते हुए आचार्य चरक ने कहा है कि—'तत्र सर्वतन्त्रसिद्धान्तो नाम तस्मिन् तस्मिन् सर्वस्मिन् तन्त्रे तत्तद् प्रसिद्धम्।'—च० वि० ८/३७। अर्थात् जो सिद्धान्त एक शास्त्र में प्रसिद्ध होते

हुए भी सभी शास्त्रों में प्रसिद्ध तथा व्यवहृत हो वह सर्वतन्त्र सिद्धान्त है। उदाहरणार्थ–रोग के कारण हैं, रोग हैं, साध्य रोगों के उपचार के उपाय हैं इत्यादि। कोई भी चिकित्सा-प्रणाली उपर्युक्त तथ्यों को नकार नहीं सकती कि रोग के कारण नहीं हैं, रोग नहीं है तथा साध्य रोगों का उपचार नहीं है। इस प्रकार हम देखते हैं कि सर्वतन्त्र सिद्धान्त जैसा कि इसके नाम से द्योतित होता है सभी शास्त्रों में समान रूप से ग्राह्य हैं अतः इन्हें सर्वतन्त्र सिद्धान्त कहते हैं।

(२) प्रतितन्त्र सिद्धान्त—प्रतितन्त्र सिद्धान्त उन्हें कहते हैं कि जो किसी एक ही शास्त्र में प्रसिद्ध तथा व्यवहार्य है अर्थात् इन सिद्धान्तों की उपयोगिता किसी शास्त्र-विशेष में ही लागू होती है। उदाहरणार्थ--आयुर्वेद में ६ रस प्रसिद्ध एवं ग्राह्य हैं किन्तु किसी अन्य शास्त्र में ८ रस प्रसिद्ध हैं। आयुर्वेद में पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ प्रसिद्ध तथा ग्राह्य हैं; अन्य शास्त्र में ६ इन्द्रियाँ प्रसिद्ध हैं इत्यादि।

(३) अधिकरण सिद्धांत—आचार्य चरक ने निम्नोक्त प्रकार से अधिकरण सिद्धांत को पारिभाषित किया है। यथा—'अधिकरणसिद्धान्तो नाम स यस्मिन्नधिकरणे प्रस्तूयमाने सिद्धान्यन्यान्यप्यधिकरणानि भवन्ति। यथा–न मुक्तः कर्मानुबन्धिकं कुरुते, निस्पृहत्वात्। इति प्रस्तुते सिद्धाः कर्मफलमोक्षपुरुषप्रेत्यभावा भवन्ति।'—च० वि० ८/३७।

उपर्युक्त उद्धरण से स्पष्ट है कि अधिकरण सिद्धान्त वे हैं जो कि तथ्य-शृङ्खला के किसी तथ्य-विशेष के ग्रहण से ही सम्पूर्ण तथ्य-शृङ्खला को सहज ही उद्घाटित अथवा प्रकट कर देते हैं अर्थात् अधिकरण-विशेष के एक तथ्य को ग्रहण करने से उसकी शृङ्खला के सम्पूर्ण तथ्य स्वयमेव गृहीत हो जाते हैं। यथा–मुक्त पुरुष निस्पृह होने से फलासक्ति से प्रेरित होकर कोई ऐसा कार्य नहीं करते जो कि उन्हें कर्मफल-परम्परा से बाँधता हो। यहाँ पर 'न मुक्तः' अर्थात् मुक्त पुरुष कर्मफल परम्परा वाले कार्य नहीं करते, ऐसा कहने से सहज ही आसक्तियुक्त कर्म का कर्मफल होता है, कर्मफल को भोगना पड़ता है, कर्मफल के क्षीण होने पर पुरुष को मोक्ष प्राप्त होता है तथा कर्मफल के शेष रहने पर पुनर्भव (पुनर्जन्म) होता है आदि तथ्यों का ग्रहण हो जाता है। अतः इस प्रकार के सिद्धान्त को अधिकरण सिद्धान्त कहते हैं।

(४) अभ्युपगम सिद्धांत—अभ्युपगम सिद्धान्त को पारिभाषित करते हुए आचार्य चरक कहते हैं कि—'अभ्युपगमसिद्धान्तो नाम स यमर्थमसिद्धमपरीक्षितमनुपदिष्टमहेतुकं वा वादकालेऽभ्युपगच्छन्ति भिषजः, तद्यथा—द्रव्यं प्रधानमिति कृत्वा वक्ष्यामः; गुणाः प्रधानमिति कृत्वा वक्ष्यामः, वीर्यप्रधानमिति कृत्वा वक्ष्यामः, इत्येवमादि।' च० वि०—८/३७। अभ्युपगम सिद्धान्त वह है जो किसी वस्तु के प्रस्तुत करने के समय यद्यपि असिद्ध, अपरिक्षित, अनुपदिष्ट (आप्तों के द्वारा कथित नहीं है) तथा अहेतुक (बिना उचित तर्क का) हो, फिर भी उसकी प्रधानता का उल्लेख किया जाय। यथा—द्रव्य की प्रधानता है ऐसा कहेंगे, गुणों की प्रधानता होती है यह कहेंगे, वीर्य

की प्रधानता होती है ऐसा कहेंगे इत्यादि। इस प्रकार अभ्युपगम सिद्धान्त से यह आशय स्पष्ट होता है कि किसी वस्तु के वर्णन-काल में उसी वस्तु की सारी विशेषताओं का उल्लेख करके प्रस्तुत वस्तु की प्रधानता स्थापित की जाय जिससे कि वक्ता तथा श्रोता का ध्यान उसी वस्तु पर केन्द्रित रहे जिससे कि उसकी महत्ता का प्रतिपादन हो। यद्यपि अभ्युपगम सिद्धान्त, सिद्धान्त के लक्षणों से घटित नहीं होता, अतः इसे सिद्धान्त नहीं कहा जा सकता तथापि किसी वस्तु-विशेष की प्रधानता बुद्धि-कौशल या तार्किकता से प्रतिपादित की जाती है, अतः इस दृष्टि से इसे सिद्धान्त जानना चाहिये।

आयुर्वेद में चारों सिद्धान्तों का समावेश है और इन्हीं सिद्धान्तों के आश्रयभूत होने के कारण इसका स्वरूप अत्यन्त प्राचीनकाल से अद्यावधि-पर्यन्त अक्षुण्ण है तथा भविष्य में भी ऐसा ही बना रहेगा। आयुर्वेद-वाङ्मय का सम्पूर्ण कलेवर इन सिद्धान्तों से ऐसे निविड भाव से जुटा हुआ है कि यदि इसके किसी भी तथ्य पर विचार किया जाय तो वह सहज ही अविच्छिन्न रूप से इसके धुरीभूत सिद्धान्तों पर केन्द्रित हो जाता है। दूसरे शब्दों में कहा जाय तो आयुर्वेद का कोई भी कथ्य अविकल रूप से इसके सिद्धान्त के बिना प्रतिपादित ही नहीं किया जा सकता है।

आयुर्वेद एवं सिद्धान्त की उपर्युक्त संक्षिप्त परिचयात्मक पीठिका के पश्चात् हम अब इस ग्रन्थ के मूल वर्ण्य विषय का विवेचन करेंगे जिसे लक्ष्य कर इसका प्रस्तुतीकरण आरम्भ किया गया है।

'आयुर्वेद के मूल सिद्धान्त एवं उपादेयता' प्रस्तुत विषय के विवेचन के पूर्व हम आयुर्वेद के सभी सिद्धान्तों को सूचीबद्ध रूप में प्रस्तुत करना चाहेंगे जिससे कि क्रमशः उन सभी का लक्ष्यगत विवेचन किया जा सके, सुतरां कोई भी महत्त्वपूर्ण एवं उपादेय सिद्धांत विचार-प्रक्रिया से छूट न सके। आयुर्वेद के कुछ सिद्धान्त अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और व्यापक हैं जो कि इसके समग्र क्षेत्र को व्याप्त किये हैं। उदाहरणार्थ—पंचभूत सिद्धान्त, त्रिदोष सिद्धान्त, दोष-धातुमल-विज्ञानसिद्धान्त, रस गुण-वीर्य-विपाक सिद्धान्त, सामान्य-विशेष सिद्धान्त आदि। कुछ सिद्धान्त ऐसे हैं जो कि आयुर्वेद के सीमित क्षेत्र में ही लागू होते हैं तथा कुछ ऐसे हैं जो कि प्रसंगवश उल्लिखित किये गये हैं तथा अन्य शास्त्र के आचार्यों के द्वारा प्रश्न के रूप में उठाये गये हैं और उनके समाधान के निमित्त आयुर्वेदज्ञों ने कुछ महत्त्वपूर्ण तथ्यों का उल्लेख किया है जो कि आयुर्वेद के लिए महत्त्वपूर्ण अवदान है।

अध्याय–1
स्वभावोपरमवाद

स्वभावोपरमवाद चरकसंहिता में पूर्वपक्ष के रूप में वर्णित विशिष्ट अवधारणा है। चरकसंहिता के अतिरिक्त अन्य ग्रन्थों में इस वाद का विशेष उल्लेख प्राप्त नहीं होता। स्वभावोपरम का अर्थ 'स्वभावतः विनाश' होता है। उपरम विनाश को कहा जाता है, अतः स्वभावोपरम से 'स्वभावतः विनाश' अर्थगृहीत होता है। चरकसंहिता की जल्पकल्पतरु टीका में आचार्य गंगाधर ने स्वभावोपरम का अर्थ—'स्वभावोपरमः स्वभावस्य स्वस्य धर्मस्य रूपस्य चोपरमो नाशो भवति' लिखा है। 'स्व' अर्थात् अपने धर्म का या रूप का विनाश अपने आप होता है, अर्थात् इस विनाश का कोई कारण नहीं होता। इसको स्पष्ट करते हुए चक्रपाणिदत्त ने कहा है कि—'स्वभावात् विनाश-कारणनिरपेक्षात् उपरमो विनाशः स्वभावोपरमः' अर्थात् बिना किसी कारण के विनाश को 'स्वभावोपरमवाद' कहा जाता है। प्रस्तुत शीर्षक में दूसरा पद 'वाद' है। 'वाद' को परिभाषित करते हुए चरकसंहिता में कहा गया है—'तत्र वादो नाम स यत् परेण सह शास्त्रपूर्वकं विगृह्य कथयति'। दूसरे के साथ शास्त्र के अनुसार अपने-अपने पक्ष को कहते हुए जो विगृह्य-सम्भाषा में वार्तालाप किया जाता है, उसे 'वाद' कहते हैं। वार्तालाप के अतिरिक्त प्रस्तुत तथ्य को ध्यान में रखकर अपने-अपने पक्ष को रखने के लिए ग्रन्थ-लेखनादि साधन भी अपनाये जाते हैं, जिससे अधिकतम विद्वान् उस पक्ष से परिचित हो जायँ। विगृह्य संभाषा का तात्पर्य विपक्षी के पक्ष का खण्डन करना होता है। यह वाद दो प्रकार का होता है—जल्प और वितण्डा। जब विभिन्न प्रमाणों द्वारा अपने पक्ष की पुष्टि तथा दूसरे पक्ष का खण्डन किया जाता है तो उसे 'जल्पवाद' कहा जाता है। जब अपने पक्ष के सम्बन्ध में कुछ न कहकर दूसरे पक्ष के दोषों को ही उद्घाटित किया जाता है तो उसे 'वितण्डा' कहा जाता है–'स च द्विविधः, संग्रहेण जल्पः वितण्डा च। तत्र पक्षाश्रितयोर्वचनं जल्पः, जल्पविपर्ययो वितण्डा। यथा–एकस्य पक्षः पुनर्भवोऽस्तीति, नास्तीत्यपरस्य तौ च स्वपक्षहेतुभिः स्वस्वपक्षं स्थापयतः, परपक्षमुद्भावयतः, एष जल्पः। जल्पविपर्ययो वितण्डा। वितण्डा नाम परपक्षे दोष-वचनमात्रमेव।'—च० सू० ८।२८। प्रस्तुत संदर्भ 'स्वभावोपरम' को आचार्य ने विभिन्न युक्तियों व प्रमाणों के द्वारा स्थापित किया है तथा 'सकारण विनाश' को मानने वालों का खण्डन किया है, अतः यहाँ आचार्य ने जल्पवाद का उपयोग किया है। यह संदर्भ आयुर्वेद के चरकसंहिता में विशेष रूप से स्थापित किया गया है। उपर्युक्त तथ्यों के आधार पर 'स्वभावोपरम' के साथ 'वाद' मिलाकर शीर्षक 'स्वभावोपरम-वाद' रखा गया है।

स्वभावोपरम के सम्बन्ध में चरकसंहिता में कहा गया है कि—

'जायन्ते हेतुवैषम्याद्विषमा देहधातवः ।
हेतुसाम्यात् समास्तेषां स्वभावोपरमः सदा ।।' (च० सू० १६।२७)

अर्थात् जिन कारणों से धातुओं की उत्पत्ति या पुष्टि होती है, यदि उन कारणों में विषमता आ जाती है अर्थात् कारण असामान्यावस्था को प्राप्त होते हैं तो शारीरिक धातुएँ भी विषम हो जाती हैं। यदि धातु पुष्टिकर या धात्वोत्पादक कारण (घटकादि) सम रहते हैं, तो उनसे उत्पन्न होने वाली धातुयें भी साम्यावस्था में रहती हैं; पर इन धातुओं का विनाश स्वभावतः होता है अर्थात् उनके विनाश में कोई कारण नहीं होता। इस तरह यहाँ आचार्य ने पूर्वपक्ष के रूप में एक सिद्धान्त की स्थापना की है। वह सिद्धान्त यह है कि—किसी भी भाव (धातुओं) की उत्पत्ति कारणविशेष (आहार रस आदि के द्वारा) से होती है, उनकी स्थिति (साम्यावस्था में बने रहना) भी सकारण होती है (उत्पादक घटक सम रहकर इनकी पुष्टि करते रहते हैं); पर इनके विनाश में कोई कारण नहीं होता, वह स्वभावतः नष्ट होता रहता हैं। कतिपय विद्वान् इस तथ्य को बौद्ध मत से सम्बन्धित करने के पक्ष में हैं तथा इसे क्षणिक विज्ञानवाद या क्षणभंगुरवाद मानते हैं, पर प्रस्तुत तथ्य चरकसंहिता की विशिष्ट देन है जिसे बौद्धमत कहना उचित नहीं है। क्योंकि आचार्य अग्निवेश का काल असंदिग्ध रूप से बुद्ध से पूर्व है। किन्तु इस तथ्य को भी निराकृत नहीं किया जा सकता कि बीजरूप में क्षणभङ्गिवाद का प्रचार लोक में प्रचलित था; अतः आचार्य पुनर्वसु आत्रेय ने इसका पूर्वपक्ष के रूप में विवरण देकर चिकित्सा की उपादेयता का प्रतिपादन किया है। प्रस्तुत प्रकरण में उत्पत्ति तो सकारण स्वीकृत है, पर नाश स्वभावतः होता है, इस तथ्य को स्थापित किया गया है। आचार्य चक्रपाणिदत्त ने प्रस्तुत संदर्भ की व्याख्या में इसको स्पष्ट कर दिया है कि—'तेषामिति विषमाणां धातूनां समानां च, सदेत्यविलम्बेन, तेनोत्पन्न एव विनश्यतीत्यर्थः। प्रवृत्तिहेतुरुत्पत्तिहेतुर्भावानामस्ति, विनाशे हेतुर्भावानां कारणं नास्ति, यस्मात्सर्वे एव भावाः प्रदीपार्चिवदुत्पत्तौ कारणापेक्षिणः, विनाशे तु द्वितीयक्षणाविद्यमानत्वलक्षणे सहजसिद्धे न हेत्वन्तरमपेक्षन्ते।' यहाँ चक्रपाणिदत्त ने भी स्पष्ट किया है कि उत्पत्ति सकारण है, पर विनाश स्वभावतः होता है। यहाँ उन्होंने एक क्षण (काल) में उत्पत्ति, दूसरे क्षण (काल) में विद्यमानता तथा तीसरे क्षण (काल) में स्वभावतः विनाश को स्पष्ट किया है। जल्पकल्पतरु टीकाकार आचार्य गङ्गाधर ने क्षणभंगि अथवा क्षणिक-विज्ञानवाद आदि को भी उद्धृत तथा स्पष्ट करते हुए स्वभावोपरम पर अपना विस्तृत विचार प्रस्तुत किया है। उन्होंने व्याख्या में प्रचलित मत-मतान्तरों (क्षणभंगिवादादि) को विवेचित करते हुए प्रस्तुत मत में अपनी भी मान्यता स्थिर किया है। मूल व्याख्या इस प्रकार है—'देहधातवो देहस्य धारका

ये भावास्ते, हेतुवैषम्यात्तेषामुत्पत्तौ स्थितौ च हेतूनां वैषम्याद्वृद्धिहान्यन्यतरस्माद्विषमा जायन्ते, तथा देहधातूनां ये हेतवस्तेषां साम्याद्वृद्धिह्रासव्यतिरेकावस्थायामवस्थानात्ते देहधातवः साम्याज्जायन्ते, तयोर्देहधातुसाम्यवैषम्ययोः सदैवाविरतं स्वभावोपरमः, स्वभावस्य स्वस्य धर्मस्य रूपस्य चोपरमो नाशो भवति। तत्र भावानां स्वस्वधर्माणां स्वस्वरूपाणां च सदैवाविरतप्रवृत्तौ हेतुरस्ति, सदैवाविरतनिरोधे विनाशे कारणं नास्तीत्यकरणं प्रतिक्षणं भङ्गः स्यादिति। तत्र केचिन्महर्षयो भावानां स्वभावोपरमेऽविरतनिरोधे हेतोरवर्तनं हेतुर्नास्तीति यदैव हेतोरभावस्तमेव भावानां सदा स्वभावोपरमे हेतुं मन्यन्ते।'

सुश्रुतादि अन्य ग्रन्थों में भी अप्रत्यक्ष रूप से स्वभावोपरम को स्वीकार किया गया है। दन्तपतनादि को अकारण मानकर इसे स्वाभाविक प्रक्रिया कहा गया है। शरीर में एक काल में धातुओं की उत्पत्ति (Formation) होती है, कुछ काल तक वे शरीर में विद्यमान रहती हैं तथा नियत कालोपरान्त उनका विनाश हो जाता है। तत्तद् धातुओं की उत्पत्ति (Formation) तो सकारण होती है अर्थात् विभिन्न उत्पादक भावों के (Different factors) द्वारा उनकी उत्पत्ति होती है, पर उनका विनाश क्यों होता है? तो इसका उत्तर एक ही होता है—कि विनाश स्वभावतः होता है। क्योंकि प्रत्येक उत्पन्न वस्तु का कुछ काल के पश्चात् (एक नियत काल तक अवस्थिति के पश्चात्) स्वभावतः विनाश हो जाता है। इस विनाश-प्रक्रिया में कोई कारण अपेक्षित नहीं होता। किसी भाव की उत्पत्ति को आचार्य ने सकारण माना है। चरकसंहिता के तिस्रैषणीयाध्याय में पुनर्जन्म सिद्धान्त के संदर्भ में भी कतिपय आचार्यों का यह मत उद्धृत किया गया है, जो 'पुरुषोत्पत्ति' को भी स्वभावतः मानकर इसे कारण-निरपेक्ष कहते हैं—'······स्वभावं परनिर्माणं यदृच्छां चापरे जनाः।'—च० सू० ११।६। इस प्रकार कतिपय विद्वानों द्वारा 'जन्म' को कारण-निरपेक्ष अर्थात् स्वभाव से ही उत्पन्न माना गया है, पर आचार्य चरक ने इस मत का खण्डन कर भाव की उत्पत्ति को सकारण माना है; क्योंकि बिना कारण के किसी कार्य की उत्पत्ति नहीं होती। अतः आचार्य ने खण्डन करते हुए कहा है कि—

'विद्यात् स्वाभाविकं षण्णां धातूनां यत् स्वलक्षणम्।
संयोगे च वियोगे च तेषां कर्मैव कारणम्॥'

(च० सू० ११।१२)

अर्थात् षड्धातुओं (पंचमहाभूत एवं आत्मा) के लक्षण स्वभावतः होते हैं, पर इनका संयोग और वियोग सकारण है; क्योंकि कर्म द्वारा संयोग व वियोग होता है, अतः उत्पत्ति सकारण होती है, स्वभावतः नहीं। इस प्रकार आचार्य ने स्वभावतः उत्पत्ति का खण्डन किया है तथा विनाश को स्वाभाविक माना है।

परपक्षखण्डन—कतिपय विद्वानों की मान्यता रही है कि—विनाश सकारण है।

'केचित्तत्रापि मन्यन्ते हेतुं हेतोरवर्तनम् ।' (च० सू० १६।२८)

अर्थात् कुछ लोग हेतु का न होना अर्थात् विनाश में कारण-निरपेक्षता को ही कारण मानकर 'स्वभावोपरम' का विरोध प्रकट करते रहे हैं। आचार्य चक्रपाणिदत्त ने दीपक का उदाहरण देकर इसको स्पष्ट किया है कि - दीपक के जलने में तो वर्ति, स्नेह आदि कारण है, पर इसके बुझने में कोई कारण नहीं है, यह प्रक्रिया स्वभावतः होती है। पर जो आचार्य कारणाभाव को ही विनाश का कारण मानते हैं, उनकी उक्ति ग्राह्य नहीं है; क्योंकि अभाव को कारण नहीं माना जा सकता। यदि इस उक्ति द्वारा अभाव को कारणरूप में स्वीकार किया जाता है, तो न समाप्त होने वाली प्रश्नोत्तर स्थिति उपस्थित हो जायेगी। इसलिए आचार्य ने स्वपक्ष में कहा है—

स्वपक्षस्थापना—

'प्रवृत्तिहेतुर्भावानां न निरोधेऽस्ति कारणम्'। (च० सू० १६।२८)

अर्थात् प्रत्येक उत्पन्न होने वाली वस्तुओं की उत्पत्ति (प्रवृत्ति) में कारण होता है, पर उसके निरोध (विनाश) में कोई कारण नहीं होता।

चरकसंहिता में प्रस्तुत संदर्भ प्रश्नोत्तर रूप में प्रस्तुत किया गया है। जब आचार्य आत्रेय (चरकसंहिता के उपदेष्टा) ने स्वपक्ष को उद्घाटित किया तो उनके शिष्य अग्निवेश (चरकसंहिता के मूल तन्त्रकर्त्ता) ने प्रश्न किया। उनका प्रश्न था कि—

१. 'स्वभावोपरमे कर्मचिकित्साप्राभृतस्य किम् ।' अर्थात् जब विनाश स्वभावतः होता है तो चिकित्सा प्रभृति विचारों का क्या प्रयोजन है ?

२. 'भेषजैर्विषमान् धातून् कान् समीकुरुते भिषक् ।' अर्थात् जब विनाश स्वभावतः होता है तो फिर चिकित्सक औषधियों से किन विषम धातुओं को सम करता है ?

३. 'का वा चिकित्सा भगवन्'—अर्थात् चिकित्सा क्या है ?

४. 'किमर्थं वा प्रयुज्यते'—चिकित्सा का प्रयोग किस प्रयोजन के लिये किया जाता है ?

इस प्रकार ग्रन्थ में चार महत्त्वपूर्ण प्रश्न किये गये हैं तथा इनके जो उत्तर प्रस्तुत किये गये हैं, वे प्रस्तुत सिद्धान्त 'स्वभावोपरम' को और भी स्पष्ट कर देते हैं। जैसे—

प्रश्न १ व प्रश्न २ का उत्तर—प्रश्न १. चिकित्सक के विषय, प्रश्न २. धातु साम्य सम्बन्धित प्रश्नों के समाधान में स्वपक्ष स्वभावोपरम की पुष्टि में आचार्य ने समझाते हुए कहा है कि—

न नाशकारणाभावाद्भावानां नाशकारणम् ।
ज्ञायते नित्यगस्येव कालस्यात्ययकारणम् ॥

शीघ्रगत्वाद्यथा भूतस्तथा भावो विपद्यते ।
निरोधे कारणं तस्य नास्ति नैवान्यथाक्रिया ॥
(च० सू० १६।३२-३३)

अर्थात् जिस प्रकार नित्यग काल के विनाश का कोई कारण नहीं होता, उसी प्रकार भावपदार्थों के नाश में विनाश का कोई कारण नहीं होता । काल क्षणशः विनष्ट होता जाता है, जैसे सन् १९९६ वर्ष के प्रत्येक दिन का नाश हो गया । यह नष्ट हुआ समय पुनः नहीं आने वाला । अब यदि प्रश्न किया जाय कि सन् १९९६ वर्ष के किसी विशेष दिन के नाश का कारण क्या है ? तो इस प्रश्न का उत्तर यही होगा कि उस दिन विशेष का नाश स्वभाववश हुआ । काल के क्षणशः विभाग के नष्ट होने की प्रक्रिया स्वाभाविक होती है । इसमें कोई कारण नहीं होता। इसी प्रकार भावपदार्थों के विनाश की प्रक्रिया भी स्वभावतः ही होती है । जिस प्रकार नित्यग काल अर्थात् निरन्तर गतिशील होने वाले काल के नाश का कारण ज्ञात नहीं होता अर्थात् इस प्रकार का विनाश अकारण है, उसी प्रकार भावपदार्थों के विनाश का कारण भी ज्ञात नहीं होता । 'शीघ्रगत्वाद्यथा भूतस्तथा भावो विपद्यते'— अर्थात् भावपदार्थ जिस प्रकार उत्पन्न होता है, उसी प्रकार शीघ्र परिणामी होने से नष्ट भी हो जाता है । अर्थात् जितने भावपदार्थों की उत्पत्ति होती है, उनका नाश होना सर्वविदित है । अतः 'निरोधे कारणं तस्य नास्ति नैवान्यथाक्रिया'—अर्थात् भाव-पदार्थों के नाश में कोई कारण नहीं है और न ही उसमें कोई परिवर्तन किया जा सकता है । स्वाभाविक विनाश अवश्यंभावी है, उसे किसी संस्कार के द्वारा रोका नहीं जा सकता । आचार्य गंगाधर ने इसको स्पष्ट करते हुए कहा है कि –'यथा नित्यगस्य कालस्य सदाऽत्ययोऽनवरतमतीतत्वं ज्ञायते तस्यात्ययस्य कारणं न ज्ञायते शीघ्रगत्वात्, यथा कालस्वभावो हि चक्रवद्भ्रमणात्मकत्वाच्छीघ्रगस्तथा भावानां स्वभावोऽपि शीघ्रगः नाशकारणाभावो न नाशकारणं, तर्हि कथं भावानां स्वभावोपरमः स्यादित्यत आह—शीघ्रेत्यादि । यो भावो यदा यथाभूतो वर्तते यथात्वेनोत्तरावस्था-मारभ्य पूर्वावस्थातो विपद्यते तत्र पूर्वावस्थाया निरोधे कारणं नास्ति न च तन्निरोधे-ऽन्यथाक्रिया पूर्वभावादन्यथा क्रियोत्तरास्ववस्थास्वस्ति' । नित्यग काल निमेष, मुहूर्त, दिन, पक्ष, वर्षादि व्यतीत होते जाते हैं, पर यह कैसे व्यतीत हो जाता है इसका ज्ञान नहीं हो पाता; क्योंकि काल शीघ्रगामी होता है । इसी कारण प्रत्येक नष्ट होने वाला क्षण भूतकाल होता जाता है, पर उसका आभास नहीं हो पाता । इसी प्रकार धातुओं की उत्पत्ति-विनाशादि की प्रक्रिया निरन्तर चलती रहती है, पर यह प्रक्रिया परिलक्षित नहीं हो पाती । धातुओं के स्वाभाविक विनाश-प्रक्रिया में किसी प्रकार का संस्कार भी नहीं किया जा सकता । धातुओं की विषमता के संदर्भ में आचार्य गंगाधर कविराज ने अपना विचार इस प्रकार प्रकट किया है—'यथा

हेतुवैषम्याद्धातवो वातादयो विषमा भवन्ति, विषमा एवोत्तरावस्थां तत्पूर्वावस्थिक-विषमरूपेणैवारभ्य पूर्वावस्थविषमस्वभावनाशमुपयान्ति, न तु विषमस्वभावनाशं प्राप्योत्तरावस्थां साम्यस्वभावेनारभन्ते, तस्मात्प्रवृत्तौ खलु भावानां हेतुरस्ति न निरोधे ।' अर्थात् जब कारणों में (उत्पादक कारणों में) विषमता हो जाती है तो वातादि दोषों में भी वैषम्य हो जाता है । जब कारणों की विषमता दूर हो जाती है तो धातुवैषम्य भी दूर हो जाता है । जैसे—जब किसी व्यक्ति में कारण की विषमता से वातवृद्धि हो गई है तो उसे मधुर, अम्लादि रस का सेवन कराया जाता है तथा कहा जाता है कि यह रस वातशामक है । वास्तव में मधुरादि रस कफवर्द्धक हैं अर्थात् कफ की उत्पत्ति के कारण हैं, न कि वातशामक । जब शरीर में कफ की वृद्धि हो जाती है तो विपरीत गुण वाले वात का शमन स्वभावत: हो जाता है, अत: कहा जाता है कि अमुक द्रव्य वातशामक है । यहाँ मधुरादि रस कफोत्पत्ति का कारण है । जब शरीर में कफ के कारण गुरुता, स्निग्धता की उत्पत्ति होती है तो स्वभावत: लघुता व रूक्षता का नाश हो जाता है । आचार्य चक्रपाणिदत्त ने निम्न रूप में प्रस्तुत संदर्भ में अपना विचार प्रकट किया है—'यद्यपि धातुवैषम्यं विनश्वरं, तथाऽपि विनश्यदपि तद्धातुवैषम्यं स्वकार्यं विषममेव धातुमारभते, एवं सोऽप्यपरं विषममिति न धातुवैषम्य-सन्ताननिवृत्तिः धातुसाम्यजनकहेतुं विना, यदा तु धातुसाम्यहेतुरूपयुक्तो, तदा तेन सहितं वैषम्यसन्ततिरहितमपि कारणं सममेव धातुसन्तानमारभते ।' (चक्र०)

प्रश्न ३ का उत्तर—अग्निवेश का तीसरा प्रश्न है कि जब रोगों का नाश स्वभावत: होता है तो फिर चिकित्सा क्या है ? इसके समाधान में उत्तर दिया गया है कि—

'याभिः क्रियाभिर्जायन्ते शरीरे धातवः समाः ।
सा चिकित्सा विकाराणां कर्मतद्भिषजां स्मृतम् ।।'

(च० सू० १६।३४)

अर्थात् जिन क्रियायों के द्वारा शरीरस्थ धातुओं को सम किया जाता है, उसे चिकित्सा कहा जाता है । वैद्यों का कर्त्तव्य धातुओं को सम करना ही है । अर्थात् आयुर्वेदीय चिकित्सा में रोगनाशन प्रक्रिया न करके क्षीण वृद्ध-धातुओं को सम किया जाता है । रोगोत्पत्ति धातु की विषमता से होती है । जब धातुएँ साम्यावस्था में हो जाती हैं तो उत्पन्न व्याधियों का स्वभावतः उपशमन हो जाता है; अतः आयुर्वेद में रोगनाशक प्रक्रिया को चिकित्सा नहीं कहा गया है बल्कि 'याभिः क्रियाभिर्जायन्ते शरीरे धातवः समाः' अर्थात् जिन क्रियायों के द्वारा शरीरस्थ धातुओं को सम किया जाता है 'सा चिकित्सा' उसे चिकित्सा कहा जाता है ।

प्रश्न ४ का उत्तर—अग्निवेश द्वारा अंतिम प्रश्न किया गया है कि चिकित्सा का प्रयोजन ही क्या है ? यदि रोगों का नाश या उत्पन्न भावों का नाश स्वभावतः

होता है। इस प्रश्न के उत्तर में आचार्य ने कहा है कि—शरीरस्थ धातुयें वैषम्य को प्राप्त न हो पायें इसका उपाय करना अर्थात् किस प्रकार धातुओं की विषमता न हो पाये एवं समभाव को प्राप्त धातुओं का साम्यभाव शरीर में बना रहे–इन दो प्रयोजनों के लिए चिकित्सा की जाती है। अर्थात् आयुर्वेदीय चिकित्सा का प्रयोजन धातुओं को सम रखना ही है तथा सम धातुओं का अनुबन्ध शरीर से बना रहे। इस तरह धातुएँ जब सम होती हैं तो स्वास्थ्य-रक्षण व विकार-प्रशमन—दोनों उद्देश्यों की पूर्त्ति स्वभावतः हो जाती है।

'कथं शरीरे धातूनां वैषम्यं न भवेदिति।
समानां चानुबन्धः स्यादित्यर्थं क्रियते क्रिया॥'
(च० सू० १६।३५)

यदि धातुओं के विषम होने वाले कारणों का त्याग कर दिया जाता है तथा धातुओं के सम रखने वाले कारणों का सेवन किया जाता है तो विषम धातुओं की परम्परा नष्ट हो जाती है। वैद्य इसी उद्देश्य की पूर्त्ति के लिए सतत रूप से प्रयत्नशील रहता है कि धातुएँ साम्यावस्था में बनी रहें। इसीलिए वैद्य को देह-सुख व आयु-प्रदाता कहा गया है। इतना ही नहीं, वैद्य के लिए यहाँ तक कहा गया है कि वह इस लोक में धर्म, अर्थ व काम का प्रदाता होता है तथा मृत्यु उपरान्त स्वर्ग या मोक्ष-प्रदाता होता है—

'त्यागाद्विषमहेतूनां समानां चोपसेवनात्।
विषमा नानुबध्नन्ति जायन्ते धातवः समाः॥
समैस्तु हेतुभिर्यस्माद् धातून् संजनयेत् समान्।
चिकित्साप्राभृतस्तस्माद्दाता देहसुखायुषाम्॥
धर्मस्यार्थस्य कामस्य नृलोकस्योभयस्य च।
दाता संपद्यते वैद्यो दानाद्देहसुखायुषाम्॥'
(च० सू० १६।३६-३८)

स्वभावोपरमवाद की उपादेयता

स्वभावोपरमवाद की अवतारणा के साथ ही आयुर्वेद में कतिपय प्रश्न उत्थित हो जाते हैं। चरकसंहिता के तन्त्रकार आचार्य अग्निवेश के द्वारा पूछे गये प्रश्नों के आलोक में विचार करने से आयुर्वेद व चिकित्सा की उपादेयता पर ही प्रश्नचिह्न लग जाता है। पर महर्षि आत्रेय ने स्वभावोपरमवाद (क्षणभङ्गिभाव) के आलोक में भी चिकित्सा की महत्ता को प्रतिपादित किया है। जैसा कि आचार्य चक्रपाणिदत्त के निम्नोक्त उद्धरण से स्पष्ट होता है—

'सम्प्रति यदेतत् सिद्धौ वक्ष्यमाणं रोगाणां साधनं तदनुषंगेण च सर्वभेषजानां

क्षणभङ्गिभावे पक्षेऽपि रोगशमकत्वं प्रतिपादयितुं प्रकरणमारभते'—च० सू० १६।२७ पर आयुर्वेददीपिका टीका अर्थात् प्रस्तुत स्वभावोपरमवाद प्रसंग की प्रस्तावना करते हुये आचार्य पुनर्वसु आत्रेय ने स्वास्थ्य-लाभ की सफलता में कहे जाने वाले स्वास्थ्य-साधन भेषज आदि के क्षणभङ्गिभाव के विचार करने के पक्ष में भी भेषज का रोग-शमकत्व होता है—इसी उद्देश्य को लक्ष्य करके इस प्रसंग की अवतारणा प्रारम्भ करते हैं।

उपर्युक्त उद्धरण से स्पष्ट होता है कि आचार्य अग्निवेश के काल में भी क्षण-भङ्गिवाद का प्रचार समाज में प्रचलित रहा होगा; इसीलिये आचार्य पुनर्वसु आत्रेय ने स्वभावोपरमवाद प्रसंग को पूर्वपक्ष के रूप में प्रस्तुत करके तथा चिकित्सा की सार्थकता क्षणभङ्गिभाव के होने पर भी होती है—इस तथ्य को प्रतिपादित किया है। फलितार्थ यह हुआ कि रोगों के स्वभावोपरम (स्वभावतः विनाश) होने पर भी चिकित्सा की सार्थकता एवं प्रयोजनीयता निष्फल नहीं होती।

१. आयुर्वेद का एकसूत्री लक्षण व स्वभावोपरमवाद—आयुर्वेद के दो प्रयोजन कहे गये हैं—स्वस्थ व्यक्तियों की स्वास्थ्य-रक्षा तथा रोगियों के विकारों की चिकित्सा। अब यहाँ एक स्वाभाविक प्रश्न किया जा सकता है कि आयुर्वेद का प्रयोजन विकारों की चिकित्सा है तो स्वभावोपरमवाद की उपादेयता क्या है ? अब यदि आयुर्वेद के एकसूत्री लक्ष्य की ओर ध्यान दिया जाय तो प्रस्तुत विषय स्पष्ट हो जाता है। चरकसंहिता के सूत्र अ० १ में कहा गया है कि—'कार्यं धातुसाम्य-मिहोच्यते। धातुसाम्यक्रियाचोक्ता तन्त्रस्यास्य प्रयोजनम्'—च० सू० १।५३। अर्थात् आयुर्वेद शास्त्र का एक ही प्रयोजन है—धातुओं को सम रखा जाय। अर्थात् आयुर्वेद शास्त्र का मूलतः एकसूत्री प्रयोजन धातुसाम्य प्रक्रिया है। इस धातुसाम्य के द्वारा स्वास्थ्य-रक्षण व विकार-प्रशमन दोनों उद्देश्यों की पूर्ति हो जाती है, क्योंकि—'विकारो धातुवैषम्यं साम्यं प्रकृतिरुच्यते।'—च० सू० ९।४। अर्थात् धातुओं की विषमता ही रोग है तथा धातुसाम्य आरोग्य है। जब धातुओं को समभाव में किया जाता है तो विषमता से उत्पन्न व्याधियों का 'स्वभावोपरम' अर्थात् स्वभावतः नाश हो जाता है।

२. चिकित्सा शब्द की व्युत्पत्ति 'कित् रोगापनयने' धातु से हुई है। कित् का अर्थ होता है, ऐसे उपायों का प्रयोग करना जो रोग व रोग के कारण का नाश करे—शब्दस्तोममहानिधि, अमर सिंह ने अमरकोष में चिकित्सा को 'रुक् प्रतिक्रिया' कहा है। इस प्रकार यहाँ शंका होती है कि चिकित्सा शब्द तो स्वयं रोगनाशक प्रक्रिया हेतु व्यवहृत है, तो यह कैसे कहा जा सकता है कि रोगनाश प्रक्रिया स्वभावतः होती है। इसका समाधान यह है कि आयुर्वेद 'कित् रोगापनयने' के अनुसार इस तरह का उपाय करता है कि रोग का नाश स्वभावतः हो जाता है। आयुर्वेद में यह

मान्यता दी गई है कि कोई भी ऐसा विकार नहीं है जो धातुओं की विषमता से सम्बन्धित न हो, चाहे वह आगन्तुज व्याधि ही क्यों न हो। आगन्तुज व्याधियों में भी बाद में दोषों का अनुबन्ध हो जाता है। आयुर्वेद वास्तव में रोगनाशन प्रक्रिया को न अपनाकर प्रकृतिस्थापन (धातुसाम्य) प्रक्रिया अपनाता है। जब शरीर में प्रकृतिस्थापन हो जाता है, तो रोगों का 'स्वभावोपरम' अर्थात् स्वभावतः नाश हो जाता है। अब इसको समझने के लिए एक उदाहरण लिया जाय। यदि कोई जीवाणु शरीर में वृद्धि कर रहा है, तो उसका नाश दो तरह से हो सकता है। प्रथम विधि यह है कि उसे जीवाणुनाशक औषधियों द्वारा नष्ट कर दिया जाय अथवा जीवाणु-रोधक औषधियों के द्वारा उसकी वृद्धि रोक दी जाय। जैसे—आधुनिक चिकित्सा में Antibioties or Bacteriostaties के प्रयोग द्वारा किया जाता है; पर आयुर्वेद ने इस विधि को स्वीकार नहीं किया है; बल्कि दूसरी विधि का उपयोग किया है, जिसमें जीवाणु का स्वभावतः नाश हो जाता है। वह कैसे? इसका समाधान यह है कि धातुसाम्य द्वारा जीवाणु का नाश स्वभावतः हो जाता है। जैसे—प्लेग रोग के जीवाणु ५५° फा० तापक्रम तथा अधिक आर्द्रतायुक्त स्थिति में वृद्धि प्राप्त करते हैं। जब तापक्रम ८५° फा० से अधिक हो जाय व आर्द्रता (क्लेद) कम हो जाय तो इनका नाश हो जाता है। अब यदि प्रश्न किया जाय कि उच्च तापक्रम पर अमुक जीवाणु का नाश क्यों हुआ? तो उत्तर होगा कि इसका स्वभाव ही है नष्ट हो जाना। अब कहा जा सकता है कि उसके नाश का कारण उच्च तापक्रम है तो इसका उत्तर है कि नहीं, तापक्रम तो सामान्य किया गया है। यदि शरीर व आंतरिक भाग में अग्निक्षय हो जाय तो ये जीवाणु वृद्धि प्राप्त करते हैं। आयुर्वेद में धातुसाम्य हेतु अग्नि बढ़ाकर (सामान्यावस्था में) कर दी जाती है, जहाँ इनका नाश स्वभावतः हो जाता है। इस प्रकार आयुर्वेदीय चिकित्सा का वैशिष्ट्य व उद्देश्य यही है कि किसी प्रकार शरीरस्थ धातुओं (क्रियात्मक व रचनात्मक धातुओं—विशेषकर धातु-साम्य से क्रियात्मक धातुयें वात, पित्त, कफ का ग्रहण होता है) को साम्य भाव में रखा जाय। जब धातुयें समभाव में होती हैं तो उत्पन्न व्याधियों का नाश स्वभावतः हो जाता है।

४. आयुर्वेद में जरा-मृत्यु आदि को स्वभाव बल प्रवृत रोग अथवा स्वभावतः उत्पन्न व्याधि कहा गया है। अर्थात् शरीर या शरीरस्थ धातुओं का विनाश कालवश स्वभावतः होता है; अतः उसमें किसी प्रकार का संस्कार (परिवर्तन) नहीं किया जा सकता। जैसा कि आचार्य चरक के निम्नोक्त वचन से स्पष्ट होता है—

'कालस्य परिणामेन जरामृत्युनिमित्तजाः।
रोगाः स्वाभाविका दृष्टाः स्वभावो निष्प्रतिक्रियः॥'

(च० शा० १।१५)

अर्थात् काल के परिणाम (प्रभाव) से जरा (वृद्धावस्था), मृत्यु के कारण उत्पन्न होने वाली व्याधियाँ स्वाभाविक होती हैं जो कि निष्प्रतिक्रिय होती हैं अर्थात् इनको रोकना या प्रतिकार करना संभव नहीं होता।

चूँकि काल का प्रभाव सभी वस्तुओं पर अवश्यम्भावी होता है; अतः रोगों पर भी इसका प्रभाव सहज रूप से पड़ता ही है। इसीलिये आचार्य ने रोगों का विनाश स्वभावतः माना है; किन्तु रोगों के द्वारा उत्पन्न धातु-विषमता का नाश धातु-विषमता-रूप में ही होगा, जिससे कि धातु-विषमता की सन्तान-परम्परा (नैरन्तर्य) सदा बनी रहेगी और रोग का विनाश स्वभावतः होते हुये भी वास्तव में रोगनिवृत्ति नहीं होगी। इसीलिये धातु-विषमता की सन्तान-परम्परा के नाश के लिये चिकित्सा या धातुसाम्य आवश्यक है—ऐसी आचार्य की सम्मति है।

अध्याय-२

सामान्यजनानात्मजविकार

नानात्मज-विकार

आयुर्वेद में सभी विकारों में वात, पित्त, कफ—इन तीन दोषों को कारणरूप में स्वीकार किया गया है। क्योंकि आयुर्वेद का सिद्धान्त है कि—'विकारो धातुवैषम्यं धातुसाम्यमरोग्यता' अर्थात् धातुओं (दोषों) की समता आरोग्य प्रदान करती है तथा इनकी विषमता ही विभिन्न विकारों का कारण होती है। ये दोष प्रकृतिभूत रूप में (अकुपितावस्था या साम्यावस्था) शरीर में उपचय, बल, वर्ण, प्रसन्नता आदि शुभ कार्यों का सम्पादन करते हैं तथा जब ये विकृतावस्था (कुपितावस्था या क्षीणावस्था) में होते हैं तो विभिन्न विकारों को उत्पन्न करते हैं। इस तथ्य की पुष्टि निम्न उद्धरण से होती है। यथा—'सर्वशरीरचरास्तु वातपित्तश्लेष्माणः सर्वस्मिञ्छरीरे कुपिताकुपिताः शुभाशुभानि कुर्वन्ति-प्रकृतिभूताः शुभान्युपचयबलवर्णप्रसादादीनि, अशुभानि पुनर्विकृतिमापन्ना विकारसंज्ञकानि।'—च० सू० २०।९। इनके द्वारा उत्पन्न विकारों को दो वर्गों में वर्गीकृत किया गया है—(१) सामान्यज (२) नानात्मज। सामान्यज विकारों का उल्लेख बाद में किया जायेगा। प्रस्तुत विषयवस्तु नानात्मज विकार का होने के कारण यहाँ उसी का वर्णन किया जा रहा है। आचार्य चक्रपाणिदत्त ने नानात्मज विकार को स्पष्ट करते हुए कहा है—'नानात्मजा इति ये वातादिभिर्दोषान्तरासंपृक्तैर्जन्यन्ते'—नानात्मज विकार उसे कहा जाता है जो बिना किसी अन्य दोष से मिले केवल वात, पित्त या कफ के द्वारा स्वतंत्र रूप से उत्पन्न होते हैं, अर्थात् विकारोत्पत्ति में अन्य किसी दोष का संमिश्रण नहीं होता या विकारोत्पत्ति में दूसरे दोष का सम्बन्ध नहीं होता। वात दोष के नानात्मज विकार ८०, पित्त के नानात्मज विकार ४० तथा कफ के नानात्मज विकार २० होते हैं। 'तद्यथा अशीतिर्वातविकाराः, चत्वारिंशत्पित्तविकाराः, विंशतिः श्लेष्मविकाराः'—च० सू० २०।१०। आचार्य चक्रपाणिदत्त ने स्पष्ट किया है कि उल्लिखित ८० वातविकार प्रमुख या प्रधान हैं, अतः इन्हें संख्याओं में सीमित किया गया है, अन्यथा वात-विकार असंख्य होते हैं—'तत्र येऽभिहितास्ते प्रधानभूताः प्रायोभावित्वेन, अनुक्तास्तु वातविकाराणामपरिसंख्येयत्वेन ग्राह्याः'—च० सू० २०।१० पर चक्रपाणिदत्त टीका। इन अस्सी वात-विकारों का उल्लेख वात द्वारा उत्पन्न अंग, प्रत्यंगादि के अनुसार किया गया है। आचार्य दृढ़बल ने भी चरकसंहिता के चिकित्सा अ० २८ में इन विकारों को प्रधान विकार कहा है—

'संख्यामप्यतिवृत्तानां तज्जानां हि प्रधानतः।
अशीतिर्नखभेदाद्याः रोगाः सूत्रे निर्दशिताः ।।'

(च० चि० २८।१३)

ये ८० वात-विकार निम्न हैं—(चरकसंहिता सूत्र अ० २०।११ के आधार पर)

१. नखभेदश्च–नखों का फटना या टूटकर गिरना (नखभंगुरता–चक्र०)। २. विपादिका च—पैरों में विपादिका या विवाई फटना। ३. पादशूलं च—पैरों में शूल होना। ४. पादभ्रंशश्च—जहाँ आवश्यकतानुसार पैर रखा जाय वहाँ न पड़कर अन्यत्र पैर का पड़ना (पादस्यारोपविषयदेशादन्यत्र पतनम्—चक्र०)। ५. पादसुप्तता च—पैरों की निष्क्रियता या पैरों में संज्ञा का अभाव हो जाना अर्थात् स्पर्शज्ञान का अभाव (सुप्तिः पादयोर्निष्क्रियत्वं स्पर्शाज्ञता वा—चक्र०)। ६. गुल्फग्रहश्च—गुल्फ प्रदेश में जकड़ाहट होना। ७. वातखुड्डता च—गुल्फ प्रदेश में वाताधिक्य यानि शूल होना या जंघा व पैर की संधियों में वेदना होना (खुड्डवातता गुल्फवातता, किंवा संधिगतवातता—चक्र०)। ८. पिण्डिकोद्वेष्टनं च—पैर की (जंघा की) पिण्डलियों में ऐंठन या मरोड़ने जैसी वेदना का अनुभव होना। ९. गृध्रसी च—गृध्रसी शूल होना। १०. जानुभेदश्च–घुटनों में फटने जैसी वेदना होना। ११. जानुविश्लेषश्च—जानु (घुटनों) की संधियों का शिथिल हो जाना अर्थात् शिथिलता (ढीलापन) के कारण संधियों में इच्छानुसार प्रसारणादि क्रियायों का न हो पाना; क्योंकि सु० क० २ में विश्लेष की टीका करते हुए आचार्य डल्हण ने विश्लेष से संधियों में प्रसारणादि क्रियाओं का अभाव ग्रहण किया है—'विश्लेषः संधीनां प्रसारणादावप्रवृत्तिः'—डल्हण। १२. उरुस्तम्भः—उरु प्रदेश या उरु में जकड़ाहट होना; क्योंकि उरुस्तम्भ की टीका में चक्रपाणिदत्त ने 'उरुस्तम्भन मात्र' का ग्रहण करने का निर्देश किया है—'उरुस्तम्भेन च उरुस्तम्भनमात्रवातजन्यत्वेन गृह्यते'—चक्र०। १३. उरुसादश्च—उरु का अवसादित होना यानि शिथिलता का अनुभव होना या क्रियायों का क्षीण हो जाना। १४. पांगुल्यं च—पंगुता=लंगड़ापन। १५. गुदभ्रंशश्च—काँच निकलना। १६. गुदार्तिश्च—गुदा प्रदेश में वेदनानुभव। १७. वृषणाक्षेपश्च—वृषणों (अण्डकोषों) का ऊपर की ओर चढ़ जाना। १८. शेफःस्तम्भश्च—शिश्न का स्तम्भित हो जाना या जकड़ जाना। १९. वङ्क्षणानाहश्च—वंक्षणप्रदेश (जांघ के मूल प्रदेश) में बन्धन जैसी वेदना का अनुभव होना या जकड़ाहट जैसा अनुभव होना। २०. श्रोणिभेदश्च—श्रोणिप्रदेश या श्रोणि में टूटने जैसी वेदना होना। २१. विड्भेदश्च—मल का खण्ड-खण्ड रूप में आना या पतला होना। २२. उदावर्तश्च—अपान वायु व मलों का विपरीत दिशा में गमन करना। २३. खञ्जत्वं च—खंजता, एक पैर का लंगड़ापन। २४. कुब्जत्वं—कुबड़ापन। २५. वामनत्वं च—बौना होना। २६. त्रिकग्रहश्च—त्रिक प्रदेश या त्रिक (कमर) में जकड़ाहट का हो जाना।

२७. पृष्ठग्रहश्च—पृष्ठप्रदेश (पीठ) का जकड़ जाना। २७. पार्श्वावमर्दश्च—पार्श्वों में वेदना होना। २८. उदरावेष्टश्च—उदर में ऐंठन का अनुभव होना। २९. हृन्मोहश्च—हृदय-मूढ़ता या मूर्च्छा होना या अन्धकार हो जाना। ३०. हृद्द्रवश्च—हृदय में द्रवता अर्थात् द्रुतगति से स्फुरित होना (हृद्द्रव: द्रुति: स्फुरणं—यो० ना० से०। हृद्द्रव इति हृदयस्य द्रुति: स्फुरणं—गं०)। ३१. वक्ष उद्धर्षश्च—वक्ष प्रदेश में घीसने के समान पीड़ा होना। ३२. वक्ष उपरोधश्च—वक्ष:स्थल की या वक्ष:स्थल स्थित हृदयादि अङ्गों के गतियों में अवरोध अर्थात् रुकने जैसा अनुभव होना। ३३. वक्षस्तोदश्च—वक्ष प्रदेश में सूई चुभोने जैसी पीड़ा होना। ३४. बाहुशोषश्च—बाहुओं का पतला होना। ३५. ग्रीवास्तम्भश्च—ग्रीवा का जकड़ जाना। ३६. मन्यास्तम्भश्च—मन्या में जकड़ाहट। ३७. कण्ठोध्वंसश्च—कण्ठोध्वंस। ३८. हनुभेदश्च—हनु में प्रसारण यानि फैलाने जैसी वेदना होना। ३९. ओष्ठभेदश्च—ओठों का फटना। ४०. अक्षिभेदश्च—इसका पाठ अष्टांगसंग्रह के आधार पर तालुभेद किया जाता है। ४१. दन्तभेदश्च—दंतभेद। ४२. दन्तशैथिल्यं च—दाँतों का ढीला पड़ जाना अर्थात् दाँतों का हिलना। ४३. मूकत्वं च—गूंगापन। ४४. वाक्सङ्गश्च—बोली बन्द हो जाना या वाणी की अप्रवृत्ति। ४५. कषायास्यता—मुख में कषायपन का अनुभव होना। ४६. मुखशोषश्च—मुख का शोषण या मुख का सूखना। ४७. अरसज्ञता च—रस के सम्यक् ज्ञान का अभाव होना। ४८. घ्राणनाशश्च—गन्धज्ञान का नाश हो जाना अर्थात् गन्धज्ञान न होना। ४९. कर्णशूलं च—कर्णशूल। ५०. अशब्दश्रवणं—शब्द न होते हुए भी शब्दों का सुनाई देना। ५१. उच्चै:श्रुतिश्च—ऊँचा सुनना। ५२. बाधिर्यं च—बधिरता होना। ५३. वर्त्मस्तम्भश्च—पलकों का जकड़ जाना। ५४. वर्त्मसंकोचश्च—वर्त्म (पलकों) का संकुचित हो जाना। ५५. तिमिरं च—तिमिर होना। ५६. अक्षिशूलं च—आँखों में शूल होना। ५७. अक्षिव्युदासश्च—नेत्रों की स्थान से च्युति या नेत्रों का टेढ़ा हो जाना। ५८. भ्रूव्युदासश्च—भौंहों का टेढ़ा हो जाना। ५९. शङ्खभेदश्च—शङ्खप्रदेश में फटने जैसी पीड़ा का अनुभव होना। ६०. ललाटभेदश्च—ललाट में फटने जैसी पीड़ा होना। ६१. शिरोरुक् च—शिरोवेदना। ६२. केशभूमिस्फुटनं—बालों के मूल जहाँ रहते हैं, उन स्थानों का स्फुटित होना, फटना। ६३. अर्दितं च—मुख का टेढ़ा होना। ६४. एकाङ्गरोगश्च—किसी एक अङ्ग का घात होना। ६५. सर्वाङ्गरोगश्च—पूरे शरीर का घात हो जाना। ६६. पक्षवधश्च—पक्षवधता (कतिपय पुस्तकों में इसका पाठ नहीं है)। ६६. आक्षेपकश्च—अङ्गों का बार-बार फड़कना। ६७. दण्डकश्च—शरीर का दण्डवत् यानि डंडे के समान जकड़कर सीधा हो जाना। ६८. तमश्च—आँखों के सामने अंधेरा छा जाना। ६९. भ्रमश्च—चक्कर आना। ७०. वेपथुश्च—शरीर में कम्पन होना। ७१. जृम्भा च—जम्हाई आना। ७२. हिक्का च—हिक्का होना। ७३. विषादश्च—विषाद

होना। ७४. अतिप्रलापश्च—अतिशय प्रलाप करना। ७५. रौक्ष्यं च—शरीर का रूक्ष हो जाना। ७६. पारुष्यं च—शरीर में परुषता। ७७. श्यावारुणावभासता च—शरीर का काला हो जाना। ७८. शरीर का लाल हो जाना। ७९. अस्वप्नश्च—निद्रा नहीं आना, निद्रा का नष्ट हो जाना। ८०. अनवस्थितचित्तत्वं च—चित्त का स्थिर न रहना।

इस प्रकार चरकसंहिता में वर्णित ८० वात-विकार वाग्भट में भी प्राप्त होता है। यहाँ पुनः आचार्य ने कहा है कि—'इत्यशीतिर्वातविकारा, वातविकाराणामपरिसंख्येयानामाविष्कृततमा व्याख्याताः।' अर्थात् असंख्य वातविकारों में ये ८० वात-विकार व्यक्त रूप से लक्षित होते हैं। इस प्रकार यहाँ प्रधान लक्षणों के आधार पर ८० संख्या निर्धारित है। इन ८० वात-विकारों पर विचार करने से पूर्व शार्ङ्गधर द्वारा वर्णित वात-विकारों का भी यहाँ उल्लेख करना आवश्यक है, क्योंकि शार्ङ्गधर ने ८० वात-विकारों में कतिपय अन्य विकारों (चरकोक्त विकारों के अतिरिक्त) का भी उल्लेख किया है। ये विकार निम्न हैं[1]—

---

१. अशीतिर्वातजा रोगाः कथ्यन्ते मुनिभाषिताः।
आक्षेपको हनुस्तम्भ उरुस्तम्भः शिरोग्रहः॥
बाह्यायामोऽन्तरायामः पार्श्वशूलं कटिग्रहः।
दण्डापतानकः खल्ली जिह्वास्तम्भमथार्दितम्॥
पक्षाघातः क्रोष्टुशीर्षो मन्यास्तम्भश्च पङ्गुता।
कलायखञ्जता तूनी प्रतितूनी च खञ्जता॥
पादहर्षो गृध्रसी च विश्वाची चावबाहुकः।
अपतानो व्रणायामो वातकण्टोऽपतन्त्रकः॥
अङ्गभेदोऽङ्गशोषश्च मिन्मिनत्वं च विक्लता।
प्रत्यष्ठीलाऽष्ठीलिका च वामनत्वं च कुब्जता॥
अङ्गपीड़ाऽङ्गशूलं च संकोचस्तम्भरूक्षताः।
अङ्गभङ्गोऽङ्गविभ्रंशो विड्ग्रहो बद्धविट्कता॥
मूकत्वमतिजृम्भा स्यादत्युद्गारोऽन्त्रकूजनम्।
वातप्रवृत्तिः स्फुरणं सिराणां पूरणं तथा॥
कम्पः कार्श्यं श्यावता च प्रलापः क्षिप्रमूत्रता।
निद्रानाशः स्वेदनाशो दुर्बलत्वं बलक्षयः॥
अतिप्रवृत्तिः शुक्रस्य कार्श्यं नाशश्च रेतसः।
अनवस्थितचित्तत्वं काठिन्यं विरसास्यता॥
कषायवक्त्रताध्मानं प्रत्याध्मानं च शीतता।
रोमहर्षश्च भीरुत्वं तोदः कण्डू रसाज्ञता॥
शब्दाज्ञता प्रसुप्तिश्च गन्धाज्ञत्वं दृशः क्षयः।' (शा० पू० ७।१०५-११५)

१. आक्षेपक । २. हनुस्तम्भ—हनु का जकड़ जाना । ३. उरुस्तम्भ । ४. शिरोग्रह (शिरोग्रह में वायु द्वारा शिर में कृष्णता, रूक्षता और तीव्र वेदना उत्पन्न हो जाती है, जो कि असाध्य होता है)। ५. बाह्यायाम (समस्त शरीर बाहर की ओर मुड़ जाना या बाहर की ओर जकड़ जाना)। ६. अन्तरायाम–शरीर का अन्दर की ओर मुड़ जाना । ७. पार्श्वशूल–पार्श्वों में वेदना होना । ८. कटिग्रह–कटिप्रदेश में जकड़ाहट हो जाना जिससे मुड़ने में कठिनाई होना । ९. दण्डापतानक । १०. खल्ली–उरु मूल से पैर तक मर्दनवत् पीड़ा होना । ११. जिह्वास्तम्भ–जिह्वा का जकड़ जाना अर्थात् जिह्वा-गति का अभाव हो जाना । १२. अर्दित । १३. पक्षाघात । १४. क्रोष्टुशीर्ष–घुटने में शूल के साथ ऐसा शोथ जिससे घुटना शृगाल शिर जैसा दिखाई पड़े । १५. मन्यास्तम्भ । १६. पंगुता । १७. कलायखञ्जता–लड़खड़ा कर चलना । १८. तूनी—पक्वाशय तथा मूत्राशय से तीव्र वेदना जो नीचे की ओर जाती है, उसे तूनी कहा जाता है । १९. प्रतितूनी—गुदा व शिश्न के मध्य से उत्पन्न तीव्र वेदना जो उपर की ओर (पक्वाशय व मूत्राशय की ओर) जाती है, उसे प्रतितूनी कहा जाता है । २०. खञ्जता । २१, पादहर्ष । २३. गृध्रसी । २३. विश्वाची—बाहुओं के पृष्ठ भाग में उपर से नीचे की ओर तीव्र वेदना व चेष्टाशून्यता । २४. अवबाहुक—बाहुओं का शोष । २५. अपतानक—गर्भिणी में होने वाला रोग । २६. व्रणायाम—व्रण की अवस्था में या अभिघातावस्था में होने वाला आक्षेप । २७. वातकण्टक—गुल्फ में होने वाली तीव्र वेदना । २८. अपतन्त्रक । २९. अङ्गभेद—किसी अङ्ग-विशेष में फटने जैसी पीड़ा का अनुभव । ३०. अङ्गशोष—अङ्ग-विशेष का सूख जाना । ३१. मिन्मिनत्व—अनुनासिक उच्चारण अर्थात् शब्दोच्चारण नासिका की सहायता से करना । ३२. विक्लता—बोलते हुए लड़खड़ाना । ३३. प्रत्यष्ठीला—वेदनायुक्त ग्रन्थि-वृद्धि; जिससे वात, मल, मूत्र निष्क्रमण में अवरोध होता है। ३४. अष्ठीला। ३५. वामनत्व। ३६. कुब्जत्व । ३७. अङ्गपीड़ा । ३८. अङ्गशूल । ३९. संकोच–अङ्ग-विशेष का संकुचित होना । ४०. स्तम्भ । ४१. अङ्गरूक्षता । ४२. अङ्गभङ्ग—अङ्गों में टूटने जैसी वेदना का अनुभव होना । ४३. अङ्गभ्रंश—अङ्ग-विशेष में शिथिलता या ढीलापन । ४४. विड्ग्रह—मलावरोध । ४५. बद्धविट्कता — मल का शुष्क होकर कठोर हो जाना । ४६. मूकता । ४७. जृम्भा । ४८. उद्गार । ४९. अन्त्रकूजन (आन्त्रों में गुड़गुड़ाहट होना)। ५०. वातप्रवृत्ति—अधोवायु का अधिक प्रवृत्त होना । ५१. स्फुरण । ५२. सिरापूरणं–सिराओं का अत्यधिक रूप में स्थूल हो जाना । ५३. कम्पन । ५४. कृशता । ५५. श्यावता—शरीर का श्याम वर्ण का हो जाना । ५६. प्रलाप । ५७. क्षिप्रमूत्रता—बार-बार पेशाब करना । ५८. निद्रानाश । ५९.स्वेदनाश । ६०. दुर्बलता । ६१. बलक्षय । ६२. शुक्र की अतिप्रवृत्ति । ६३. कृशता । ६४. शुक्र का नाश अर्थात् अशुक्रता । ६५. अनवस्थितचित्तत्वं—चित्त का किसी एक विषय या स्थान पर स्थिर न रहना । ६६.

अङ्गों का कठोर हो जाना। ६७. विरसास्यता---मुख में किसी रस का सम्यक् रूपेण ज्ञानानुभव का अभाव होना। ६८. आध्मान---पक्वाशय में दूषित वायु के संचित होने के कारण उदरोत्सेध का होना। ६९. प्रत्याध्मान---आमाशय में दूषित वायु के संचय से उत्सेध का होना। ७०. शीतवात---शीतवात में शरीर ठंडा हो जाता है; ज्वर, रोमांच, अक्षिवेदना व शिरोवेदनादि लक्षण होते हैं ('हिमवन्ति हि गात्राणि रोमाञ्चज्वरितानि च। शिरोऽक्षिवेदनालस्यं शीतवातस्य लक्षणम्।'--रसरत्नसमुच्चय।) ७१. रोमाञ्च। ७२. भीरुत्व---डरपोक या भययुक्त हो जाना। ७३. तोद---शरीर में सूई चुभोने जैसी पीड़ा होना। ७४. कण्डू। ७५. रसाज्ञता---रसों का ज्ञान न होना। ७६. शब्दाज्ञता---शब्दों का ठीक से सुनाई नहीं पड़ना। ७७. प्रसुप्ति---त्वचा द्वारा स्पर्श-ज्ञान का नहीं होना। ७८. गन्धाज्ञता---गन्ध का ज्ञान न हो पाना। ७९. दृक्क्षयः---दृष्टि का ह्रास होना। ८०. कषायवक्त्रता---मुख में कषायपन का होना।

इस प्रकार ८० प्रधान वात-विकारों का नामोल्लेख किया गया है। आचार्य चरक ने ८० वात-विकारों का अङ्ग-विशेष के अनुसार उल्लेख किया है। चूंकि वात का स्थान शरीर के अधोभाग में माना गया है, अतः इसके विकारों की गणना शरीर के सबसे नीचे के भाग पाद व पाद के नख से प्रारम्भ कर क्रमशः ऊपर के अङ्गों में इसके (वात के) द्वारा उत्पन्न विकारों का उल्लेख करते हुए शिर तक के विकारों का वर्णन किया गया है। इसके अतिरिक्त कतिपय एकाङ्ग व सर्वाङ्गगत वातविकारों का उल्लेख करते हुए मनोविकारों का भी उल्लेख किया गया है। जैसे---

१. निम्न शाखागत वातविकार---नखभेद से लेकर पाङ्गुल्य तक निम्नशाखा में वात के चौदह (१४) विकारों का नामोल्लेख किया गया है। फिर इसके बाद--

२. धड़गत वातविकार (मध्यकायगत)---इसके अन्तर्गत निम्न शाखा के मूल मूत्राशय, मलाशय, त्रिकादि से प्रारम्भ करते हुए जत्रु के अधोभाग तक के विकारों का नीचे से ऊपर की ओर क्रमशः उल्लेख किया गया है। इसमें 'गुदभ्रंश' से 'वक्षस्तोदश्च' तक उन्नीस (१९) विकारों का नामोल्लेख किया गया है।

३. ऊर्ध्वशाखागत में मात्र एक विकार बाहुशोष का उल्लेख प्राप्त होता है।

४. ऊर्ध्वजत्रुगत वातविकार---वक्षस्तोद के बाद क्रमशः नीचे से उपर की ऊर्ध्वजत्रुगत विकारों का उल्लेख किया गया है। ग्रीवास्तम्भ से लेकर अर्दित तक ऊर्ध्वजत्रुगत विकारों का नामोल्लेख है, जिसकी संख्या उन्तीस (२९) है।

५. पैर से शिर तक क्रमशः नीचे से ऊपर की ओर वात द्वारा उत्पन्न विकारों का उल्लेख करने के बाद आचार्य ने एकाङ्ग व सर्वाङ्गगत वातविकारों का उल्लेख किया है।

एकाङ्गरोग नाम से एक अङ्ग में होने वाले अन्य रोग का समावेश न कर

एकाङ्ग रोग मात्र एक ही माना है। सर्वाङ्गरोग का नामोल्लेख भी स्वतंत्र रूप से किया हैं।

६. इसके बाद सर्वाङ्गसंश्रित वात द्वारा उत्पन्न बारह विकारों (आक्षेपक, दण्डक, रूक्षता, कृष्णतादि) का उल्लेख किया है।

७. वात द्वारा उत्पन्न प्रमुख तीन मनोविकारों—विषाद, प्रलाप व अनवस्थित-चित्त का उल्लेख किया गया है। इस प्रकार—

अधः शाखागत	—१४
ऊर्ध्व " "	—०१
मध्यकायगत	—१९
ऊर्ध्वजत्रुगत	—२९
एकाङ्ग	—०१
सर्वाङ्ग	—०१
सर्वाङ्गसंश्रित	—१२
मनोविकार	—०३
कुलयोग	—८०

इस अध्ययन का उद्देश्य मात्र यह संकेत देना है कि ये अस्सी विकार तो उदाहरण-मात्र हैं। वात-विकार असंख्य हो सकते हैं। वायु अङ्ग-विशेष, शरीर के घटक-विशेष के अनुसार अनेक विकार उत्पन्न सकता है। उदाहरणार्थ आचार्य चरक ने ऊर्ध्वशाखा के मात्र बाहुशोष का उल्लेख किया है, जबकि आचार्य शार्ङ्गधर ने विश्वाची का भी उल्लेख किया है। इसके अतिरिक्त आचार्य शार्ङ्गधर ने अन्य अनेक वातविकारों; जैसे—तूनी, प्रतितूनी, अष्ठीला, प्रत्यष्ठीला, अपतानक, व्रणायाम, शीत-वात, क्रोष्टूशीर्ष, बाह्यायाम, अन्तरायाम आदि विकारों का उल्लेख किया है। अतः वात अपने विकृत कर्मों के आधार पर अनेक विकारों को उत्पन्न कर सकता है। अतः उपर्युक्त नानात्मज विकार तो उदाहरण मात्र है। मूलतः वात द्वारा विकारोत्पत्ति उसके विकृत कर्मों द्वारा होता है तथा ये विकार शरीर-घटक, अङ्ग-विशेष, स्थान-विशेष, वेदना-विशेष के अनुसार अनेक होते हैं। अतः इस प्रसंग में वात के विकृत कर्मों का उल्लेख अपेक्षित है, जिसका उल्लेख निम्न पंक्तियों में है।

वात के विकृत कर्म (विकारोत्पत्ति प्रक्रिया)—वात दोष के निम्न विकृत कर्म हैं अर्थात् निम्न प्रक्रियायों द्वारा वात दोष विकारोत्पत्ति करता है।[1]

१. एवंविधत्वाच्च वायोः कर्मणः स्वलक्षणमिदमस्य भवति तं तं शरीरावयवमाविशतः; तद्यथा—स्रंसभ्रंशव्याससङ्गभेदसादहर्षतर्षवर्तमर्दकम्पचालतोदव्यथा-चेष्टादीनि; तथा खरपरुषविशदसुषिरारुणवर्णकषायविरसमुखत्वशोषशूलसुप्तिसंकोचनस्तम्भखञ्जतादीनि च वायोः कर्माणि तैरन्वितं वातविकारमेवाध्यवस्येत्।

(च० सू० २०।१२)

१. स्रंस—विकृत वायु का स्रंस कर्म होता है। स्रंस का अर्थ 'स्रंसः किंचिदवस्थानचलनं'—चक्र०, अर्थात् अपने स्थान से अङ्ग-विशेष का थोड़ा हट जाना या खिसक जाना होता है। वायु किसी भी अङ्ग को या रचनात्मक घटक अस्थिपेशी, स्नायु आदि को अपने स्थान से थोड़ा हटा देता है, जिससे उस अङ्ग की स्थानच्युति हो जाती है। यह विकृति विशेषकर संधियों में होती है, इसके अतिरिक्त कतिपय अङ्ग-विशेष में भी यह विकृति दृष्टिगत होती है।

२. भ्रंश—यह भी वायु का विकृत कर्म है। चक्रपाणिदत्त ने भ्रंश का अर्थ 'भ्रंशः दूरगतिः' किया है। इसमें विकृत वायु द्वारा अङ्ग-विशेष को अपने स्थान से दूर हटा दिया जाता है। यदि कोई अङ्ग-विशेष स्वस्थान से दूर हट जाता है, तो वहाँ वात-विकृति स्पष्ट होती है। जैसे—गुदभ्रंश, योनिभ्रंश आदि। इसमें गुद आदि विकृत वायु द्वारा बाहर कर दिया जाता है, जिसे गुदभ्रंश कहते हैं तथा स्वस्थान के बाहर आ जाने के कारण लौकिक भाषा में इसे 'कांच निकलना' कहा जाता है। यह आवश्यक नहीं है कि भ्रंशता में अङ्ग-विशेष बाहर ही निकल जाय, वल्कि आन्तरिक अङ्ग-विशेष स्वस्थान से हटकर दूरस्थ भी हो सकते हैं।

३. व्यास—'व्यासो विस्तरणं' चक्र० अर्थात् जब विकृत वायु द्वारा अवयव या अङ्ग-विशेष में विस्तार कर दिया जाता है यानि फैला दिया जाता है तो उसे व्यास कहा जाता है। अरुणदत्त ने—'व्यसनं व्यासो विक्षेपणमङ्गप्रत्यङ्गादेर्यथाऽऽक्षेपकादिषु' अर्थ किया है अर्थात् अङ्ग-प्रत्यङ्गों का इधर-उधर विक्षेपण करना अर्थात् फेंकना या पटकना व्यास कहा जाता है। हेमाद्रि ने 'व्यासः अङ्गसंकोचत्वम्' अर्थात् 'अङ्गों या अवयवों में संकोचन प्रक्रिया का अभाव होना' व्यास कहा है। इस प्रकार व्यास विस्तरण, विक्षेपण असंकुचन—इन तीन अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। चक्रपाणिदत्त व हेमाद्रि ने कुछ मिलता-जुलता अर्थ लगाया है, पर इनमें कुछ भिन्नता भी है। विस्तार का अर्थ फैलाना है। यह प्रक्रिया प्रायशः अन्दर से सुषिरावयवों में (खोखली नलिकाओं, खोखले अंग-प्रत्यंग, छिद्रयुक्त अंग-प्रत्यंग में) विशेष रूप से सम्पादित हो सकती है। यह प्रक्रिया अणुस्तर पर भी हो सकती है तथा अङ्गस्तर पर भी सम्भव है। अन्न-नलिका, श्वासनलिका, रक्तनलिका, मूत्रनलिका, शरीरस्थ सभी प्रकार के स्रोतों, छिद्रों आदि में जो फैलाव होता है या अन्दर अवकाशयुक्त अङ्ग-विशेष जैसे हृदयादि में जो विस्तार या फैलाव (Dilatation) होता है, वह विकृत वायु का द्योतक है। यह छिद्रयुक्त अङ्गों में, छिद्रों में विस्तार कर अङ्ग-भङ्गुरता उत्पन्न कर सकता है। हेमाद्रि ने जो 'असङ्कोचत्वम्' कहा है, इसके अनुसार अवयवविशेष में संकोचन शक्ति का अभाव हो जाता है। यह प्रक्रिया उन्हीं अङ्गों या अवयवों में संभव है, जिनमें सङ्कोच व प्रसार-क्रिया होती है। इनके अनुसार अवयव-विशेष में प्रसारण प्रक्रिया तो हो सकती है, पर सङ्कोचन क्रिया नहीं हो सकती। यदि दूसरे अर्थ में

देखा जाय तो यह भी हो सकता है कि—प्रसरण क्रियोपरान्त विकृत वायु द्वारा सङ्कोचन क्रिया न होने से वह अवयव विस्तृत (प्रसरणावस्था) अवस्था में ही रहता है, जो कि चक्रपाणि के विस्तरण अर्थ को स्पष्ट करता है। अरुणदत्त ने आक्षेपक रोग के उदाहरण के साथ विक्षेपण का 'अङ्ग-प्रत्यङ्गों को फेंकना या पटकना' अर्थ ग्रहण किया है। पर यह अर्थ व्यास हेतु प्रचलित नहीं है। चक्रपाणिकृत 'विस्तरम्' अर्थ को ही व्यास का तात्पर्य स्वीकार करना युक्तिसंगत प्रतीत होता है।

४. संग—संग का तात्पर्य रोकना होता है। प्रायशः आयुर्वेद में संग से मल-मूत्रों का रुक जाना या मलमूत्रों को रोक देने के कारण बाहर की ओर प्रवृत्ति का नहीं होना या वारुणी आदि का बन्द हो जाना आदि अर्थ ग्रहण किया जाता है। अरुणदत्त ने संग से यही अर्थ ग्रहण किया है—'सङ्गो मूत्रपुरीषादेः स्वाशयेभ्योऽनिःसारो वाक्सङ्गादि ॥' सङ्ग के प्रस्तुत अर्थ का ग्रहण दो प्रकार से किया जा सकता है—प्रथम प्रकार में यह कहा जा सकता है कि—मूत्र-मलादि का निष्क्रमण यानि उनकी प्रवृत्ति वायु द्वारा ही होती है, यदि वायु विकृत हो जाता है तो वह अपनी क्रिया का सम्यक् रूपेण सम्पादन नहीं कर पाता, जिससे मलमूत्रादि स्वस्थान में ही रुक जाते हैं, उनकी निष्क्रमण प्रवृत्ति नहीं हो पाती। उसी प्रकार वाक्प्रवृत्ति भी वात के द्वारा ही सम्पन्न होती है, विकृतावस्था में वायु अपनी क्रिया नहीं कर पाता। दूसरे प्रकार में सङ्ग को अवरोध के रूप में ग्रहण किया जा सकता है। जब वायु विकृतावस्था को प्राप्त होती है तो वह मल, मूत्रादि के मार्ग को अपने दबाव के द्वारा अवरोधित कर देती है। वायु के द्वारा किये गये अवरोध के कारण मल-मूत्रादि रुक जाते हैं। आचार्य अरुणदत्त ने स्थूल क्रियावरोध द्वारा सङ्ग को स्पष्ट किया है, अतः मात्र मल-मूत्र या वाक्प्रवृत्ति का रुक जाना ही सङ्ग नहीं है, बल्कि सूक्ष्म अवयव से लेकर स्थूलतम अङ्गविशेष तक में विकृत वायु द्वारा जो मार्गावरोध किया जाता है, उसे सङ्ग कहा जा सकता है; क्योंकि सङ्ग स्रोतोदुष्टि का एक लक्षण माना गया है। स्रोत के पर्याय चरकसंहिता में सिरा, धमनी, रसायनी, नाडी, पंथ, मार्ग, शरीर के छिद्र, शरीर के मूल भाग में बंद व अंतभाग खुला या दोनों भाग खुले, आशय, निकेत, धात्वावकाश आदि कहे गये हैं—'स्रोतांसि सिरा, धमन्यः, रसायन्यः, रसवाहिन्यः, नाड्यः, पन्थानः, मार्गाः, शरीरच्छिद्राणि, संवृतासंवृतानि, स्थानानि, आशयाः निकेताश्चेति शरीरधात्ववकाशानां लक्ष्यालक्ष्याणां नामानि भवन्ति'—च० वि० ५।९। इस प्रकार उपर्युक्त सिरा, धमनी आदि में भी यदि मार्ग अवरोधित होता है, तो वह सङ्ग है। यदि जल से भरे ग्लास को पोस्टकार्ड से ढँक कर पलट दिया जाता है तथा फिर ढक्कन हटाया भी जाता है, तो द्रव गिरता नहीं है, क्योंकि वायु के समान दबाव के कारण द्रव रुका रहता है। आयुर्वेद की भाषा में यही सङ्ग है। वायु जब विकृत हो जाता है तो सूक्ष्म या स्थूल किसी भी मार्ग का पूर्ण अवरोध कर देता है, जिसे

सङ्ग कहा जाता है। यह प्रक्रिया स्वमार्ग से वहन होने वाले किसी भी धातु, मल, पोषकतत्त्व आदि के साथ हो सकती है। किसी भी प्रकार का मार्गावरोध सङ्ग है।

५. **भेद**—फटने जैसी पीड़ा या चीरने जैसी पीड़ा को भेद कहा जाता है। यदि वायु किसी अवयवविशेष या अङ्गविशेष में विकृत होता है, तो गतिशील वायु चारो ओर या दोनों तरफ गति हेतु मार्गान्वेषण करता है जिसके कारण उस विशिष्ट स्थान पर जहाँ से वायु अपने निकलने का मार्ग बनाता है वहाँ तनाव-वृद्धि के कारण फटने जैसी वेदना का अनुभव होने लगता है। विशेषकर उन स्थानों पर यह विकृति होती है, जहाँ वायु वृद्ध है पर ऊर्ध्व, अधः, तिर्यक् गतियाँ एक साथ मिलकर अपनी निष्क्रमणशीलता में प्रवृत्त होती हैं पर उन्हें निकलने का मार्ग नहीं मिल पाता है।

६. **साद**—साद का सामान्य अर्थ शरीर में व्याप्त अवसाद ग्रहण किया जाता है। अरुणदत्त ने साद को स्पष्ट करते हुए कहा है कि—'सदनं सादः अङ्गानां क्रियास्वसामर्थ्यम्' अर्थात् अङ्गविशेष जब अपनी क्रिया को सम्यक् रूपेण सम्पन्न करने में असमर्थ हो जाते हैं, तो उसे साद कहा जाता है। विकृत वायु द्वारा अङ्गों को प्रभावित कर उनके क्रियाकर्तृत्व सामर्थ्य को क्षीण कर दिया जाता है।

७. **हर्ष**—हर्ष का सामान्य अर्थ रोमाञ्च लिया जाता है। हर्ष अवस्था विशेष है। हर्ष उत्तेजनात्मक अवस्था है। इसकी गणना मनोविकार में की गई है। इस अवस्था में शरीर की अनुक्रियायें बढ़ जाती है। अङ्ग-प्रत्यङ्गादि उत्तेजित हो जाते हैं।

८. **तर्ष**—'तर्ष' अधिक प्यास लगने को कहते हैं तथा इसे अधुना जल की आवश्यकता कहा जा सकता है। वायु रूक्ष होता है। रूक्षता से शोषण प्रक्रिया होती है, परिणामतः आर्द्रतायुक्त अङ्गों में शुष्कता व्याप्त होने से तर्ष की उत्पत्ति होती है।

९. **कम्प**—शरीर में कम्पन होना वातविकृति का द्योतक है। यह दो रूपों में उत्पन्न होता है। प्रथम रूप में जब शरीर में शीत गुण की वृद्धि होती है, तो प्रकुपित वायु चल गुण के कारण अत्यधिक चलायमान या गतियुक्त होकर कम्पन उत्पन्न करता है। दूसरे रूप में यदि अचानक किसी कारणवश वातवृद्धि या उत्तेजना होती है तो गतिशील वायु अतिशय गतियुक्त होकर शरीर में कम्पन उत्पन्न करता है। जैसे—भय से वातवृद्धि होती है। यदि अचानक प्राणभय होता है, तो गतिशील वायु प्रकुपित होकर अति गतियुक्त होती है, परिणामतः कम्पनोत्पत्ति होती है। उत्तेजनावस्था में क्रियावृद्धि के कारण चल गुण से वातवृद्धि होकर कम्पनोत्पत्ति होती है। जैसे—क्रोधावस्था में। वास्तव में क्रोध से पित्त की वृद्धि होती है, जिसके तीक्ष्णादि गुणों से पित्त उत्तेजित होता है तथा शारीरिक क्रियाओं की गतिवृद्धि होती है, परिणामतः विकृति को प्राप्त वायु कम्पन की उत्पत्ति करता है।

१०. **वर्त्त**—वर्त्त का अर्थ वर्तुल या वृत्ताकार होना मानि पिण्ड या गोला बनाना

है। अरुणदत्त ने—'वर्तनं वर्तः, पुरीषादीनां पिण्डीकरणं' कहा है। इसका अर्थ हुआ कि पुरीष आदि को गोलाकार या पिण्डरूप में बना देना वर्त्त कहा जाता है। विकृत वायु किसी भी अवयव, मलादि को पिण्डरूप कर देता है। यहाँ आचार्य अ० द० ने भी 'पुरीषादि' कहा है अर्थात् पुरीष आदि। इसका तात्पर्य यह है कि पुरीष के अतिरिक्त अन्य घटकों या अवयवों को भी यह पिण्ड स्वरूप दे सकता है। यह प्रक्रिया वायु के रूक्ष गुण के कारण होती है। चरकसंहिता, गुल्म-निदान में इसको आचार्य चरक ने स्पष्ट किया है—'सः प्रकुपितो वायुर्महास्रोतोऽनुप्रविश्य रौक्ष्यात् कठिनीभूतमाप्लुत्य पिण्डितोऽवस्थानं करोति हृदि वस्तौ पार्श्वे .... पिण्डितश्चावतिष्ठते, स पिण्डितत्वाद् 'गुल्म' इत्यभिधीयते।' यहाँ वात के रूक्षता से पिण्डीकरण प्रक्रिया को स्पष्ट कर दिया गया है तथा पिण्डाकृति प्राप्त होने से ही इस रोग को गुल्म कहा गया है। पिण्डित को चक्रपाणिदत्त ने निम्न शब्दों में स्पष्ट किया है—'पिण्डित इति कुण्डलीभूतः। पिण्डितश्चेति द्वितीयपिण्डितशब्देन मांसाद्युत्तुण्डनेन गुल्मप्रदेशस्यापि पिण्डितत्वमुच्यते; पूर्वेण पिण्डितशब्देन तु वायोः पिण्डितत्वमिति न पौनरुक्त्यम्। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि, यह विकृत कर्म–वर्त्त–पुरीष के अतिरिक्त अन्य घटकों को पिण्डित कर रोगोत्पत्ति करता है। इसीलिए गुल्म के लिए कहा गया है—

'गुल्मिनामनिलशान्तिरुपायैः सर्वशो विधिवदाचरितव्या।
मारुते ह्यवजितेऽन्यमुदीर्णं दोषमल्पमपि कर्म निहन्यात्॥'

(च० नि० ३।१७)

अर्थात् पिण्डाकृति प्रदाता वायु का ही गुल्म रोग में शान्तिपूर्ण विधि के अनुसार उपचार करना चाहिए; क्योंकि वात की शांति होने से अन्य दोष अल्प-कर्म से ही शांत हो जाते हैं। इसी प्रकार वायु गुल्म रोग में पिण्ड के अतिरिक्त गोलाकृति भी प्रदान करता है। जैसे—विकृत (प्रकुपित) वायु शुक्र, मूत्र, पित्त या कफ को सुखाकर कदम्ब के पुष्प के आकार की अश्मरी उत्पन्न कर देती है।

११. चाल—वात अपने इस विकृत कर्म से शरीर में चंचलता या स्पन्दन उत्पन्न करता है।

१२. तोद—तोद का अर्थ सुई चुभाने जैसी पीड़ा का अनुभव होना है। वात में सूक्ष्म गुण होता है। जब वायु सूक्ष्म गुण के साथ ऊर्ध्व, अधः या तिर्यक् गति करता है, तब वायु अपने सूक्ष्म गुण के साथ अवयवविशेष पर दबाव डालता है, जिसके कारण सूक्ष्मातिसूक्ष्म प्रदेश में वेदनानुभूति होती है। वेदना का स्थान इतना सूक्ष्म होता है कि सूई चुभोने जैसा अनुभव होता है, क्योंकि सूचिकाग्र परिमाण भी वायु का गतिक्षेत्र होता है।

१३. व्यथा—व्यथा का अर्थ अंगों को दबाने जैसा पीड़ानुभव का होना है।

१४. चेष्टा—चेष्टा वात का प्राकृत कर्म भी है; पर विकृतावस्था में इस क्रिया

में वृद्धि हो जाती है। परिणामतः शारीरिक अङ्गों व मन में चञ्चलता व्याप्त हो जाती है। चेष्टाधिक्य में कई रूपों में विकार उत्पन्न हो सकते हैं।

१५. विकृत वात द्वारा शरीर में या अङ्गविशेष में या अवयवविशेष में खरता, विशदता, परुषता, सच्छिद्रता हो सकती है। त्वचा, नख आदि का वर्ण श्याव या अरुण हो जाता है। मुख का स्वाद कषायपनयुक्त या फीका हो जाता हैं।

१६. शोष—शोष से शरीर या अङ्गों का सुखना अर्थ लगाया जाता है। जब शरीर या अङ्गविशेष में विकृत वायु के रूक्ष गुण के कारण शोषण प्रक्रिया होती है तो उस अङ्गविशेष के या शरीर के स्नेह अंश व 'अप्' घटक के शोषित होने के कारण वह अङ्ग शुष्क हो जाता है। शोष सम्पूर्ण शरीर का भी हो सकता है तथा किसी एक अङ्गविशेष का भी हो सकता है। सम्पूर्ण धातुओं का शोषण हो सकता है या किसी एक विशेष धातु का भी।

इसके अतिरिक्त नानात्मज विकार में उल्लिखित शूल, सुप्ति, संकोच, स्तम्भादि खञ्जता ये सभी वायु के विकृत कर्म हैं।

वायु जब कुपित होता है तो अङ्गविशेष में आश्रित होकर उन अङ्गों में विभिन्न प्रकार के विकारों को उत्पन्न करता है। वात के नानात्मज विकारों के वर्णन में यह देखा जाता है कि चरकसंहिता में अधिष्ठान-विशेष के अनुसार ही क्रमानुसार विकारों का उल्लेख किया गया है। अधिष्ठान-विशेष या अङ्ग-विशेष के अनुसार वायु द्वारा उत्पन्न विकारों का विस्तृत वर्णन चरकसंहिता के चिकित्सा स्थान, अ० २८ में वर्णित है। उदाहरणार्थ कतिपय मूलश्लोक यहाँ उद्धृत किये जा रहे हैं ताकि वात के नानात्मज विकारों की असंख्यता व स्वरूप को अच्छी तरह समझा जा सके—

'हेतुस्थानविशेषाच्च भवेद्रोगविशेषकृत्।
तत्रकोष्ठाश्रिते दुष्टे निग्रहो मूत्रवर्चसो ॥
ब्रध्नहृद्रोगगुल्मार्शः पार्श्वशूलं च मारुते।
सर्वाङ्गकुपिते वाते गात्रस्फुरणभञ्जने ॥
वेदनाभिः परीतश्च स्फुटन्तीवास्यसन्धयः।
ग्रहोविण्मूत्रवातानां शूलाध्मानाश्मशर्कराः ॥
जङ्घोरुत्रिकपात्पृष्ठरोगशोषौ गुदस्थिते।
हृन्नाभिपार्श्वोदररुक्तृष्णोद्गारविसूचिकाः ॥
कासः कण्ठास्यशोषश्च श्वासश्चामाशयस्थिते।
पक्वाशयस्थोऽन्त्रकूजं शूलाटोपौ करोति च ॥
कृच्छ्रमूत्रपुरीषत्वमानाहं त्रिकवेदनाम्।
श्रोतादिष्विन्द्रियवधं कुर्याद् दुष्टसमीरणः ॥

त्वग्रूक्षा स्फुटिता सुप्ता कृशाकृष्णा च तुद्यते ।
आतन्यते सरागा च पर्वरुक् त्वक्स्थितेऽनिले ॥
क्षिप्रं मुञ्चति वध्नाति शुक्रं गर्भमथापि वा ।
विकृतिं जनयेच्चापि शुक्रस्थः कुपितोऽनिलः ॥
शरीरं मन्दरुक्शोफं शुष्यति स्पन्दते तथा ।
सुप्तास्तन्व्यो महत्यो वा सिरा वाते सिरागते ॥
वातपूर्णदृतिस्पर्शः शोथः सन्धिगतेऽनिले ।
प्रसारणाकुञ्चनयोः प्रवृत्तिश्च सवेदना ॥'

(च० चि० २८ । २४-३७)

अर्थात् स्थानविशेष के कारण वायु विभिन्न विकारों को उत्पन्न करने वाली होती है। जैसे—कोष्ठाश्रित वायु मलमूत्र निग्रह, व्रघ्न, हृदय रोग, गुल्म, अर्श व पार्श्वशूल उत्पन्न करती है। सर्वाङ्ग-संश्रित वायु से गात्र-स्फुरण, भञ्जन (टूट जाना) एवं सन्धियों में स्फुटन सदृश वेदना होने लगती है। गुहाश्रित विकृत वायु द्वारा मल, मूत्र, अपान वायु का अवरोध, उदरशूल, आध्मान, मूत्राशयगत अश्मरी, शर्करा, जङ्घा, ऊरु, त्रिक, पैर, पृष्ठ आदि में वेदना होती है तथा ये अङ्ग शुष्क हो जाते हैं। आमाशयगत विकृत वायु के द्वारा हृदयशूल, पार्श्वशूल, उदरशूल, नाभिशूल, तृषाधिक्य, उद्गार, विसूचिका, कास, कण्ठ, मुख की शुष्कता तथा श्वास रोग की उत्पत्ति होती है। पक्वाशय में विकृत वायु द्वारा उत्पन्न विकार आन्त्रकूजन, उदरशूल, आटोप, मूत्रकृच्छ्रता, मल का कठिनाई से निकलना, आनाह व त्रिकशूल है। इन्द्रियों में यदि वायु विकृत हो जाती है तो इन्द्रियों के प्राकृत कर्म का नाश कर देती है। त्वचागत विकृत वायु द्वारा त्वक्रूक्षता, त्वक्स्फोट, त्वक्सुप्ति, त्वचा में पतलापन, तथा त्वचा का वर्ण कृष्ण हो जाता है। त्वचा में सूई चूभोने जैसी वेदना, तनाव व लालिमा की उत्पत्ति होती है। शरीर के पर्वों में वेदना होती है। जब विकृत वायु रक्ताश्रित होती है तो शरीर में तीव्र वेदना, सन्ताप, विवर्णता, कृशता, अरूचि, अरुंषिका तथा अन्न का विष्टम्भ हो जाता है। विकृत वायु जब मांस व मेदाश्रित होती है तो भारीपन, तोद, दण्डे या मुष्टिका प्रहार जैसी वेदना, अतिशय थकावट की उत्पत्ति होती है। अस्थि व मज्जागत विकृत वायु से अस्थिभेद, पर्वभेद, सन्धिशूल, मांसक्षय, बलक्षय, अनिद्रा तथा लगातार वेदनानुभव होता है। शुक्रगत विकृत वायु शुक्र की शीघ्र प्रवृति (शीघ्रपतनादि) या शुक्रावरोध, गर्भस्राव, शुक्र व गर्भ में अनेक प्रकार की विकृतियाँ उत्पन्न करता है। स्नायुगत विकृत वायु द्वारा बाह्यायाम, अन्तरायाम, खल्लि, कुब्जता, सर्वाङ्गवात, एकाङ्गवात आदि विकारों की उत्पत्ति होती है। सिरागत विकृत वायु द्वारा शरीर में मंद वेदना, शोफ, शरीर की शुष्कता, शरीर का स्पन्दन, सिरासुप्ति अर्थात् सिराओं का शून्य हो जाना, सिराओं में पतलापन आदि विकार

उत्पन्न हो जाते हैं। जब विकृत वायु सन्धि का आश्रय ग्रहण करती है या सन्धिगत वायु विकृति को प्राप्त करती है तो वातद्रुति, सन्धिशोथ, सन्धि के संकुचन व प्रसारण काल में वेदनानुभूति या सन्धियों का सम्यक्रूपेण प्रसारणाकुञ्चन क्रिया का न हो पाना आदि विकारों की उत्पत्ति हो जाती है।

वात विकार के कारण (प्रकुपित वायु के कारण)—

नानात्मज विकार एकदोषज होते हैं अर्थात् मात्र दोषविशेष के प्रकोप के फलस्वरूप उत्पन्न होते हैं। अतः आचार्यों ने प्रत्येक दोष के प्रकोपक कारणों का भी उल्लेख किया है, जो निम्न हैं—

१. वात विकार के आहारजन्य कारण—रूक्ष, लघु, कटु, कषाय, तिक्त, खर, दारुण, विशद, शीत वीर्य वाले द्रव्यों का अतिसेवन, शुष्क शाक, शुष्क मांस, वरक, उद्दालक, कोदो, सांवां, नीवार, मूंग, मसूर, अरहर, हरेणु, मटर, लोबिया—इनका अधिक उपयोग करना। इसके अतिरिक्त अनशन (उपवास करना), परिमित (सीमित) भोजन, विषम भोजन, अध्यशन आदि कारण वातप्रकोपक होते हैं।

२. वातविकार के विहारजन्य कारण—अपने से बलवान् के साथ नियुद्ध (द्वन्द्व-युद्ध) करना, अतिव्यायाम, अतिमैथुन, अति अध्ययन, अतिधावन, चोट लगना, अङ्गों का दब जाना, ऊँची व लम्बी कूद, तैरना, रात्रि-जागरण, बोझ उठाना, अत्यधिक यात्रा करना, अतिपरिश्रम, मर्माघात, ऊँचे स्थान से गिर जाना, बिछौना, आसन (कुर्सी आदि) का टेढ़ा-मेढ़ा होना, हाथ-पैर का यथोचित स्थान पर न पड़ना, अधारणीय वेगों का धारण करना आदि।

३. वातविकार के मानसिक कारण—भय, चिन्ता, शोक, उद्वेग तथा क्रोधादि मनोवेग वातप्रकोपक होते हैं[1]।

---

१. वातप्रकोपणानि खलु रूक्षलघुशीतदारुणखरविशदशुषिरकराणि शरीराणाम्।
(च० सू० १२।७)

रूक्षलघुशीतवमनविरेचनास्थापनशिरोविरेचनातियोगव्यायामवेगसंधारणानशनाभिघातव्यवायोद्वेगशोकशोणितातिषेकजागरणविषमशरीरन्यासेभ्योऽतिसेवितेभ्यो वायुः प्रकोपमापद्यते। (च० नि० १।१९)

रूक्षशीताल्पलघ्वन्न व्यवायातिप्रजागरैः।
विषमादुपचाराच्च दोषासृक्स्रवणादति ॥
लङ्घनप्लवनात्यध्व व्यायामातिविचेष्टितैः।
धातूनां संक्षयाच्चिन्ता शोकरोगातिकर्षणात् ॥
दुःखशय्यासनात् क्रोधाद् दिवास्वप्नात् भयादपि।
वेगसंधारणादामादभिघातादभोजनात् ॥

४. असम्यक् चिकित्सा--असम्यक् वमन, असम्यक् विरेचन, असम्यक् आस्थापन, बस्ति, असम्यक् शिरोविरेचन, असम्यक् रक्तमोक्षण आदि से वात प्रकुपित होता है।

इसके अतिरिक्त आधुनिक काल में अत्यधिक स्लाइस (ब्रेड) का सेवन, तैयार रोटियाँ (Different Breads), गाढ़ी दाल, फास्टफूड (Fast food), अल्प आहार (डाइटिंग Dicting) कटु रस प्रधान चाट आदि का प्रयोग, अधिक साइकिल चलाना, अत्यधिक यात्रा, गर्मियों में लगातार वातानुकूलित स्थान पर रहना, स्वेद वेगावरोध (कूलर, ए० सी० के लगातार प्रयोग से), विषम काल भोजन (उचित समय पर प्रतिदिन भोजन न करना), रात्रि-जागरण, लगातार ध्यानस्थ होकर दूरदर्शन (टेलीविजन) देखना, नास्तिकता, दैनिक कार्य का तनाव, अत्यधिक महत्त्वाकांक्षा, अतिसंचय प्रवृत्ति, आतंक, भय आदि कारणों से वायु प्रकुपित होती है। आजकल सर्वाधिक वातप्रकोप, गत्यात्मक प्रवृत्ति, गत्यात्मक महत्त्वाकांक्षा, चिन्ता, आतंक, अपने को असुरक्षित समझना, गृहकलह, आरामतलब जीवन जैसे--स्पंज-निर्मित विस्तर का प्रयोग, आरामकुर्सी का प्रयोग आदि प्रबल वातप्रकोपक हैं। विभिन्न प्रकार के मादक द्रव्यों का प्रयोग, धूम्रपान आदि से भी वायु प्रकुपित होती है।

वात दोष की चिकित्सा—नानात्मज विकार एकदोषज होते हैं; अतः दोषानुसार प्रत्येक दोष के लिए विशिष्ट चिकित्सा का उल्लेख प्राप्त होता है। दोषों के नानात्मज विकार प्रकरण में ही तत्तद्दोषों की चिकित्सा भी बतलाई गई है। वात दोष की निम्न चिकित्सा आयुर्वेदीय ग्रन्थों में निर्देशित है।[1]

मर्माघाताद् गजोष्ट्राश्व शीघ्रयानापतंसनात्।
देहे स्रोतांसि रिक्तानि पूरयित्वाऽनिलो बली ॥
करोति विविधान् व्याधीन् सर्वाङ्गैकाङ्गसंश्रयान् ॥
(च० चि० २८।१५-१९)

तत्र बलवद्विग्रहातिव्यायामव्यवायाध्ययनप्रपतनप्रधावनप्रपीडनाभिघातप्लवनलङ्घनप्रतरणरात्रिजागरणभारहरणगजतुरगरथपदातिचर्याकटुकषायतिक्तरूक्षलघुशीतवीर्यशुष्कशाकबल्लूरवरकोद्दालकोरदूषश्यामाकनीवारमुद्गमसूराढकीहरेणुकलायनिष्पावानशनविषमाशनाध्यशनवातमूत्रपुरीषशुक्रच्छर्दिक्षवथूद्गारबाष्पवेगविघातादिभिर्वायुः प्रकोपमापद्यते।
(सु० सू० २१।१९)

१. तं मधुराम्ललवणस्निग्धोष्णैरुपक्रमैरुपक्रमेत, स्नेहस्वेदास्थापनानुवासननस्तःकर्मभोजनाभ्यङ्गोत्सादनपरिषेकादिभिर्वातहरैर्मात्रां कालं च प्रमाणीकृत्य।
(च० सू० २०।१३)

तस्यावजयनं स्नेहस्वेदौ विधियुक्तौ, मृदूनि च संशोधनानि स्नेहोष्णमधुराम्ललवणयुक्तानि, तद्वदभ्यवहार्याणि, अभ्यङ्गोपनाहनोद्वेष्टनोन्मर्दनपरिषेकावगाहनसं..हनाव-

१. मधुर, अम्ल, लवण रसों द्वारा निर्मित व स्निग्ध, उष्ण वीर्य से युक्त स्नेहों द्वारा स्नेहन ।

२. उपर्युक्त मधुरादि द्रव्यों की सहायता से स्वेदन । ३. अनुवासन बस्ति । ४. आस्थापन बस्ति । ५. नस्यकर्म । ६. भोजन । ७. अभ्यंग । ८. उत्सादन । ९. परिषेक । १०. उपनाह । ११. बंध । १२. उद्वेष्टन । १३. उन्मर्दन । १४. अवगाह । १५. संवाहन । १६. अवपीडन । १७. वित्रासन । १८ विस्मापन । १९. विस्मारण । २०. सुरा-प्रयोग । २१. आसवप्रयोग । २२. दीपनीय, पाचनीय, विरेचक व वातहर द्रव्यों द्वारा सौ बार या हजार बार सिद्ध किये गये स्नेहों का प्रयोग ।

वातनाशक विशिष्ट द्रव्य—वातनाशक विशिष्ट द्रव्य तैल को कहा गया है । तैल से तिल तैल का ग्रहण होता है । तैल के सम्बन्ध में कहा गया है कि—तैल में स्निग्धता, उष्णता और गुरुता होने के कारण निरन्तर यानि लगातार सेवन करने से वायु का नाश होता है, क्योंकि वायु में रूक्ष, शीत व लघु गुण पाया जाता है; तैल में वातविरुद्ध गुण पाये जाते हैं, अतः निरन्तर अभ्यास करने से अधिकता को प्राप्त तैलीय गुण वायु के गुणों पर विजय प्राप्त करते हुए वात का शमन करते हैं[1]।

वातदोष की विशिष्ट चिकित्सा—वात दोष की प्रधान चिकित्सा या विशिष्ट चिकित्सा आस्थापन बस्ति व अनुवासन बस्ति को कहा गया है । अनुवासन अथवा आस्थापन बस्ति सर्वप्रथम पक्वाशयगत वायु का समूल नाश कर देती है[2], क्योंकि वात दोष का स्थान पक्वाशय कहा गया है, अतः वायु का मूल पक्वाशय में ही रहता है । जब पक्वाशयस्थ वायु का (वायु के मूल स्थान में आश्रित वायु का) नाश कर दिया जाता है, तो शाखा के समान अङ्ग-प्रत्यङ्गों में आश्रित वायु का स्वयमेव नाश हो जाता है । जिस प्रकार किसी वृक्ष के मूल को काट दिया जाता है तो उसके तने,

---

पीड़नवित्रासनविस्मापनविस्मारणानि, सुरासवविधानं स्नेहाश्चानेकयोनयो दीपनीय-पाचनीयवातहरविरेचनीयोपहितास्तथा शतपाकाः सहस्रपाकाः सर्वशश्च प्रयोगार्थाः, बस्तयः बस्तिनियमः सुखशीलता चेति । (च० वि० ६।१६)

१. तत्र तैलं स्नेहौष्ण्यगौरवोपपन्नत्वाद्वातं जयति सततमभ्यस्यमानं, वातो हि रौक्ष्यशैत्यलाघवोपपन्नो विरुद्धगुणो भवति, विरुद्धगुणसन्निपाते हि भूयसाऽल्पमवजीयते, तस्मात्तैलं वातं जयति सततमभ्यस्यमानम् । (च० वि० १।११)

२. तत्रास्थापनानुवासनं तु खलु सर्वत्रोपक्रमेभ्यो वाते प्रधानतमं मन्यन्ते भिषजः तद्ध्यादित एव पक्वाशयमनुप्रविश्य केवलं वैकारिकं वातमूलं छिनत्ति, तत्रावजितेऽपि वाते शरीरान्तर्गता वातविकाराः प्रशान्तिमापद्यन्ते यथा वनस्पतेर्मूले छिन्ने स्कन्ध-शाखाप्ररोहकुसुमफलपलाशादीनां नियतो विनाशस्तद्वत् । (च० सू० २०।१३)

वायोर्विषहते वेगं नान्या बस्तेर्ऋते क्रिया ।
पवनाविद्धतोयस्य वेला वेगमिवोदधेः ॥ (सु० चि० ३५।३०)

डालियाँ, पत्र, पुष्प, फलादि का विनाश निश्चितरूपेण हो जाता है। उसी प्रकार वायु के मूल, पक्वाशयस्थ वायु पर विजय प्राप्त करने से शाखाश्रित वायु स्वयमेव नष्ट हो जाता है। चरकसंहिता के सिद्धि स्थान, अ० १ में आचार्य दृढ़बल ने इसको और भी स्पष्ट करते हुए कहा है कि—

'शाखागता: कोष्ठगताश्च रोगा मर्मोर्ध्वसर्वावयवाङ्गजाश्च।
ये सन्ति तेषां न हि कश्चिदन्यो वायो: परं जन्मनि हेतुरस्ति ॥
विण्मूत्रपित्तादिमलाशयानां विक्षेपसङ्घातकर: स यस्मात्।
तस्यातिवृद्धस्य शमाय नान्यद् बस्ति विना भेषजमस्ति किञ्चित् ॥
तस्माच्चिकित्सार्धमिति ब्रुवन्ति सर्वां चिकित्सामपि बस्तिमेके।'

(च० सि० १।३८-४०)

पित्त दोष के नानात्मज विकार

पित्तदोष के चालीस (४०) नानात्मज विकारों का उल्लेख आयुर्वेदीय ग्रन्थों में प्राप्त होता है; जो निम्नवत् है[1]--

१. ओष—सम्पूर्ण शरीर में दाहानुभव जिससे बेचैनी का अनुभव हो या शरीर में इस तरह से दाह या ताप का अनुभव होना, जिस प्रकार से अग्नि के बगल में बैठने पर ताप या दाह का अनुभव होता है—'ओष: पार्श्वस्थितेन वह्निनेव पीडा'—गंगाधर। इसमें जलन के साथ स्वेदागम भी होता है।

२. प्लोष --शरीर के किसी एक अङ्ग में इस तरह के जलन का अनुभव होना जैसे उस अङ्ग को अग्नि से जला दिया गया हो। इसमें जलन अल्प व स्वेदरहित होती है—'प्लोष: किञ्चिद्दहनमिव' (गं०)।

३. दहन—सम्पूर्ण शरीर में जलन का अनुभव। 'दाह: सर्वाङ्गदहनमिव।' (गं०)

४. दवथु—चरकसंहिता हिन्दी टीका (डॉ० का० ना० शास्त्री व प्रो० चतुर्वेदी) ने दवथु का अर्थ इन्द्रियों का जलन लगाया है। आचार्य चक्र० दत्त ने 'दवथु: धक-

---

१. पित्तविकारांश्चत्वारिंशतमत ऊर्ध्वमनुव्याख्यास्याम: (तद्यथा) ओषश्च प्लोषश्च, दाहश्च, दवथुश्च, धूमकश्च, विदाहश्च, अन्तर्दाहश्च, अंसदाहश्च उष्माधिक्यं च, अतिस्वेदश्च, अङ्गगन्धश्च, अङ्गावदरणं च, शोणितक्लेदश्च, मांसक्लेदश्च, त्वग्दाहश्च, (मांसदाहश्च) त्वगवदरणं च, चर्मदलनं च, रक्तकोठश्च, रक्तविस्फोटश्च, रक्तपित्तं च, रक्तमण्डलानि च, हरितत्वं च, हारिद्रत्वं च, नीलिका च, कक्षा (क्ष्या) च, कामला च, तिक्तास्यता च, लोहितगन्धास्यता च, पूतिमुखता च, तृष्णाधिक्यं च, अतृप्तिश्च, आस्यविपाकश्च गलपाकश्च, अक्षिपाकश्च, गुदपाकश्च, मेढ्रपाकश्च, जीवादानं च, तम:-प्रवेशश्च, हरितहारिद्रनेत्रमूत्रवर्चस्त्वं च, इति चत्वारिंशत्पित्तविकाराणामपरिसंख्येयानामाविष्कृततमा व्याख्याता:। (च० सू० २०।१४)

धक्किकेति लोके ख्याता' से हृदय धड़कने को दवथु कहा है। पुनः निदानस्थान में गुल्म प्रकरण में उपर्युक्त आचार्यद्वय ने दवथु से चक्रपाणि-सम्मत हृदय की धड़कन-वृद्धि अर्थ प्रयुक्त किया है।

५. धूमोद्गार--मुख से धूँआ निकलने जैसा अनुभव होना। ६. अम्लक—वक्ष-प्रदेश में जलन का अनुभव होना तथा पीड़ा के साथ अम्लोद्गार होना। ७. विदाह—हाथ, पैर, अंसादि प्रदेश में जलन का अनुभव होना या अन्न सेवन करने पर पित्ताधिक्य से अन्न का अम्ल होकर दाह उत्पन्न करना। ८. अन्तर्दाह—आन्तरिक अङ्ग-प्रत्यङ्गों में जलन या शरीर में अन्दर-ही-अन्दर जलन का अनुभव होना। ९. अंस-दाह—अंस प्रदेश में जलन का अनुभव होना। १०. उष्माधिक्य—शरीर में उष्मा (ताप) की वृद्धि। ११. अतिस्वेदश्च—अतिशय मात्रा में स्वेद निकलना। १२. अङ्गगन्धश्च--शरीराङ्गों का दुर्गन्धित हो जाना। १३. अङ्गावदारणं—अङ्गों का फटना या फटने की तरह अनुभव होना। १४. शोणितक्लेदश्च—रक्त का क्लेदयुक्त होना अर्थात् रुधिर में द्रवांश की अधिकता या रक्त का पतला होना, कृष्णवर्णीय व दुर्गन्धयुक्त हो जाना। १५. मांसक्लेद---मांस में द्रवांश की अधिकता जिससे मांस का मृदु, शिथिल व कार्य में अक्षम होना या मांस का सड़ना। १६. त्वग्दाह या मांस दाह। १७. त्वगवदरणं---त्वचा का फटना। इसमें त्वचा इस तरह फटती है, जिस प्रकार चीरे लगाये जाते हैं--'त्वगवदरणं बाह्यत्वङ्मात्रविदीर्णता' (ग०)। १८. चर्मा-वदरणं, चर्मदलन--मूलसंहिता में चर्मदलन पाठ है, जिसका तात्पर्य हाथ-पैर की हथेली व तलुओं में वेदना, खाज, ओष, प्लोष होता है, पर कुछ लोग इसका पाठ चर्मावदरणं करते हैं, जिसका अर्थ आचार्य गंगाधर ने छह त्वचाओं की विदीर्णता लगाया है—'चर्मावदरणं षण्णां त्वचां विदीर्णता।' १९. रक्तकोठ--शरीर पर शोथ-युक्त रक्तवर्ण के चकत्ते निकलना या त्वचा पर लाल फुन्सियाँ निकलना। २०. रक्त-विस्फोट--शरीर पर रक्तवर्ण के विस्फोट यानि फफोले निकलना। २१. रक्तपित्त। २२. रक्तमण्डल—रक्तवर्ण के गोलाकार चकत्ते निकलना। २३. हरितत्व--त्वचा, नख, मूत्रादि का हरे वर्ण का हो जाना। २४. हरिद्रत्व—त्वचा, नेत्र, मुख, नख, मूत्रादि का हल्दी के रंग का हो जाना। २५. नीलिका—मुख, नेत्र, नखादि का नील वर्ण का होना अथवा मुख पर या शरीर पर नीले रंग के दाग हो जाना। २६. कक्षा (क्ष्या)—कक्षा। २७. कामला। २८. तिक्तास्यता—मुख में तिक्त रस का अनुभव होते रहना। २९. लोहितगन्धास्यता—मुख से रक्त के सदृश गंध निकलने की अनुभूति। ३०. पूतिमुखता—मुख का दुर्गन्धित होना या मुख से सड़न जैसी गन्ध निकलना। ३१. तृषाधिक्य। ३२. अतृप्ति—भोजन करने के बाद भी भोजन से तृप्त न होना। ३३. आस्यविपाक—मुख का पाक हो जाना। ३४. गलपाक--गले का पाक हो जाना। ३५. अक्षिपाक—नेत्रों में पाक का हो जाना। ३६. गुदपाक। ३७. मेढ्रपाक।

३८. जीवादान—शरीर से विभिन्न छिद्रों के द्वारा (गुद, नासा, मुख, योनि आदि) से शुद्ध रक्त का निकलना—'जीवादानं विरेचनव्यापद्विशेष उक्तो यो जीवरक्तनिर्गमः ।' गंगा० । ३९. तमःप्रवेश—अपने आप को अन्धकार में प्रवेश करते हुए अनुभव करना या आँखों के सामने अंधेरा छा जाना । ४०. नेत्र—मल, मूत्रादि का हरे रंग का या हरिद्रा के वर्ण का हो जाना ।

आचार्य शार्ङ्गधर ने भी पित्तविकारों की संख्या ४० ही कहा है । शार्ङ्गधरोक्त पित्तजन्य ४० विकारों में चरकोक्त विकारों का उल्लेख प्राप्त होता है, पर उसमें कतिपय चरकोक्त विकारों का उल्लेख न कर उसके स्थान पर अन्य पित्तजन्य विकारों का समावेश किया गया है । जैसे[1]—१. मतिभ्रम । २. निष्प्रभता । ३. कण्ठशोष । ४. मुख-शोष । ५. अल्पशुक्रता । ६. क्लम (बिना परिश्रम ही थकावट का अनुभव होना) । ७. अरति (बेचैनी) । ८. पीतावलोकन—पदार्थों का पीले रंग का दिखाई देना । ९. शीतेच्छा—शीत वस्तुओं का सेवन करने की इच्छा होना । १०. तेजोद्वेष—चमकने वाली वस्तुओं से द्वेष होना । ११. अल्पनिद्रा । १२. कोप—क्रोध करना । १३. गात्र-साद—अङ्गों का अवसादित होना । १४. निःसहत्वं—सहनशक्ति का अभाव होना ।

आचार्य चरक ने पित्त के ४० विकारों का उल्लेख करते हुए कहा है कि—'इति चत्वारिंशत्पित्तविकाराः पित्तविकाराणामपरिसंख्येयानामाविष्कृततमा व्याख्याताः ।' अर्थात् यह ४० पित्त-विकारों की गणना प्रसिद्ध पित्त-विकारों की है, अन्यथा पैत्तिक विकारों की संख्या असंख्य है । कतिपय ऐसे भी पैत्तिक विकार हैं, जिनका उल्लेख इन ४० विकारों में नहीं किया गया है, अतः पित्त के रूप, कर्म, लक्षणादि के अनुसार उनका निर्णय करना चाहिए—'सर्वेष्वपि खल्वेतेषु पित्तविकारेषूक्तेष्वन्येषु चानुक्तेषु पित्तस्येदमात्मरूपमपरिणामि कर्मणश्च, स्वलक्षणं, यदुपलभ्यं तदवयवं वा विमुक्तसंदेहाः पित्तविकारमेवाध्यवस्यन्ति कुशलाः'—च० सू० २०।१५ । अन्य पित्तजविकारों का निर्धारण पित्त के विकृत कर्मों व स्वलक्षणजन्य कर्मों के आधार पर करना चाहिए । पित्त के जो गुण होते हैं, जैसे—उष्ण, तीक्ष्ण, सर, द्रव, किंचित् स्नेह आदि; इन गुणों

---

१. धूमोद्गारो विदाहः स्यादुष्णाङ्गत्वं मतिभ्रमः । कान्तिहानिः कण्ठशोषो मुख-शोषोऽल्पशुक्रता ।। तिक्तास्यताम्लवक्त्रत्वं स्वेदस्रावोऽङ्गपाकता । क्लमो हरितवर्णत्व-मतृप्तिः पीतगात्रता ।। रक्तस्रावोऽङ्गदरणं लोहगन्धास्यता तथा । दौर्गन्ध्यं पीतमूत्रत्व-मरतिः पीतविट्कता ।। पीतावलोकनं पीतनेत्रता पीतदन्तता । शीतेच्छा पीतनखता तेजोद्वेषोऽल्पनिद्रता ।। कोपश्च गात्रसादश्च भिन्नविट्कत्वमन्धता । उष्णोच्छ्वासत्व-मुष्णत्वं मूत्रस्य च मलस्य च ।। 'तमसो दर्शनं पीतमण्डलानां च दर्शनम् । निःसहत्वं च पित्तस्य चत्वारिंशद्रुजः स्मृताः ।।

(शा० पू० ७।११६-१२१)

की यदि वृद्धि होती है, तो पित्तजन्य विकार होते हैं। यदि शरीर में उष्णता, तीक्ष्णता, सरता (गमनशीलता), द्रवतादि बढ़ते हैं, तो उसे पित्तज विकार निर्धारित करना चाहिए। इसी प्रकार यदि शरीर या शरीराङ्गों में वर्णपरिवर्तन विशिष्ट रूप में होता है (पित्त का वर्ण श्वेत व अरुण वर्ण को छोड़कर अन्य किसी वर्ण को प्राप्त करना) या कटु व अम्ल रस वाला होने के कारण यदि कटु या अम्लता की प्रतीति होती है या विस्रगंधादि की उत्पत्ति होती है, तो पित्तज विकार समझना चाहिए।[१] पित्त के निम्न विकृत कर्म हैं। यदि ये क्रियायें शरीर में या अङ्ग-विशेष या अवयव-विशेष में होती हैं, तो उसे पित्तज विकार कहा जायेगा।

१. दाह—शरीर, अंग-विशेष या अवयव-विशेष में जलन का अनुभव या जलन होना। २. उष्णता—शरीर में या अंग-विशेष या अवयव-विशेष या अधिष्ठान-विशेष में ताप की वृद्धि। ३. पाक—शरीर में कहीं भी पाक-प्रक्रिया (पूयोत्पादन प्रक्रिया) का होना। ४. स्वेदाधिक्य। ५. क्लेद—मलों में आर्द्रता या शुष्क अवयवों का या अन्य अवयवों का आर्द्र होना या धात्वादि के पाकोपरान्त द्रवांश बढ़ाकर समीपवर्त्ती या अन्य अवयवों में आर्द्रताधिक्य करना। ६. कोथ—शरीर, अंग-विशेष या अवयव-विशेष में सड़न उत्पन्न करना। ७. कण्डू। ८. स्राव—विभिन्न प्रकार के स्रावों की उत्पत्ति व स्रवण होना। ९. लालिमा—किसी अंग-विशेष, अवयव-विशेष या अधिष्ठान-विशेष में लालिमा। १०. मूर्च्छा। ११. मदोत्पत्ति या मदावस्था।

वात कलाकलीयाध्याय में पुनः पित्त के विकृत कर्मों में अन्न का अविपाक, अदर्शन, तापक्रम ठीक न रहना, शरीर की वर्ण-विकृति, भय, हर्ष, मोहादि का उल्लेख है। यहाँ पित्त के क्षयजन्य लक्षणों का उल्लेख विशिष्ट रूप में किया गया है, अतः इनकी गणना पैत्तिक विकार में न कर विरुद्ध-गुणभूयिष्ठ दोषों के वृद्धिजन्य विकारों में किया गया है।

---

१. तद्यथा—औष्ण्यं तैक्ष्ण्यं द्रवत्वमनतिस्नेहो वर्णश्च शुक्लारुणवर्णौ गन्धश्च विस्रो रसौ च कटुकाम्लौ सरत्वं च पित्तस्यात्मरूपाणि, एवंविधत्वाच्च पित्तस्य कर्मणः स्वलक्षणमिदमस्य भवति तं तं शरीरावयवमाविशतः तद्यथा दाहौष्ण्यपाकस्वेदक्लेद-कोथकण्डूस्रावरागायथास्वं च गन्धरसाभिनिर्वर्तनं पित्तस्य कर्माणि, तैरन्वितं पित्त-विकारमेवाध्यवस्येत्। (च० सू० २०।१५)

स्वेदः क्लेदः स्रुतिः कोथः सदनं मूर्च्छनं मदः।
कटुकाम्लौ रसौ वर्णः पाण्डुरारुणवर्जितः॥
.........पित्तस्य दाहरागोष्मपाकिताः ।
(अ० हृ० सू० १२।५२)

२. अग्निरेव शरीरे पित्तान्तर्गतकुपिताकुपितः शुभाशुभानि करोति तद्यथा पक्ति-मपक्तिं दर्शनमदर्शनं मात्रामात्रत्वमूष्मणः प्रकृतिविकृतवर्णौ शौर्यं, भयं, क्रोधं, हर्षं, मोहं, प्रसादं...द्वन्द्वानीति। (च० सू० १२।११)

पित्त-विकार या पित्त-प्रकोप के कारण—पित्त के गुणों के सदृश आहार-विहारादि का सेवन करना पित्त-विकार के कारण हैं।[1]

आहारजन्य पित्तप्रकोपक कारण—कटु, अम्ल, लवण रस वाले आहार, तीक्ष्ण, उष्ण, लघु गुणयुक्त आहार, विदाही व क्षार का प्रयोग, तिल तैल, खल्ली, कुलथी, सरसों, अलसी, हरितक शाक. दही, छाछ, कूर्चिका, मस्तु, सौवीरक, मदिरापान, कट्वर, गोह, मछली, भेड़, बकरी का मांस, शूकर, भैंस, गोमांस, आलू, शुष्क शाकादि के साथ या यवक, उद्दालक, कोदो आदि अन्न का सेवन, सेम, उड़द आदि या दही, दही का पानी, कांजी आदि के साथ सेवन करता है, तो पित्त-विकृति होती है। इसके अतिरिक्त मूली, लशुन, करञ्ज, शिग्रू, कढ़ी, यूष, गन्धतृण, काली तुलसी, बनतुलसी, गण्डीर, पुदीना, क्षवक, मडुआ आदि का सेवन विभिन्न रूपों में अत्यधिक करना, सुरा, सौवीर, तुषोदक आदि, बड़ी बेर, खट्टी बेर का सेवन भोजनोपरान्त करना। गर्मी से पीड़ित होने पर बार-बार दूध पीना, सरसों तेल में सिद्ध कपोत मांस-सेवन आदि पित्त को प्रकुपित करते हैं।

विहारजन्य पित्तप्रकोपक कारण—तीक्ष्ण धूप का सेवन करना, अग्नि के ताप का अधिक सेवन करना, श्रम, मैथुनासक्त होना, भ्रमण करना आदि।

मानसिक कारण—क्रोध करना, शोक करना, भय आदि। हालांकि भय व शोक वायु की वृद्धि करते हैं, पर अप्रत्यक्ष रूप से भय व शोक से पित्त भी कुपित होता है, अतः आचार्य सुश्रुत ने पित्त-प्रकोपक कारणों में भय व शोक का भी उल्लेख किया है।[1]

---

१. क्रोधशोकभयायासोपवासविदग्धमैथुनोपगमनकट्वम्ललवणतीक्ष्णोष्णलघुविदाहितिलतैलपिण्याककुलत्थसर्षपातसीहरितकशाकगोधामत्स्याजाविकमांसदधितक्रकूर्चिकामस्तुसौवीरकसुराविकाराम्लफलकट्वरप्रभृतिभिः पित्तं प्रकोपमापद्यते।
(सु० सू० २१।२१)

उष्णाम्ललवणक्षारकटुकाजीर्णभोजनेभ्योऽतिसेवितेभ्यस्तथा तीक्ष्णातपाग्निसंतापश्रमक्रोधविषमाहारेभ्यश्च पित्तं प्रकोपमापद्यते। (च० नि० १।२२)

यदा जन्तुर्यवकोद्दालककोरदूषप्रायाण्यन्नानि भुङ्क्ते, भृशोष्णतीक्ष्णमपि चान्यदन्नजातं निष्पावमाषकुलत्थसूपक्षारोपसंहितं, दधिदधिमण्डोदश्वित्कट्वराम्लकाञ्जिकोपसेकं वा, वाराहमाहिषाविकमात्स्यगव्यपिशितं पिण्याकपिण्डालुशुष्कशाकोपहितं, मूलकसर्षपलशुनकरञ्जशिग्रुमधुशिग्रुभूस्तृणसुमुखसुरसकुठेरकगण्डीरकालमालकपर्णासक्षवकफणिजअकोपदंशं, सुरासौवीरतुषोदकमैरेयमेदकमधूलकशुक्तकुवलवदराम्लप्रायानुपानं वा, पिष्टान्नोत्तरभूयिष्ठम्। उष्णाभितप्तो वाऽतिमात्रमतिवेलं वाऽऽयं पयः पिबति पयसा समश्नाति रौहिणीकं काणकपोतं वा सर्षपतैलक्षारसिद्धं, कुलत्थपिण्याकजाम्बवलकुचपक्वैः शौक्तिकैर्वा सह क्षीरं पिबत्युष्णाभितप्तः तस्यैवमाचरतः पित्तं प्रकोपमापद्यते। (च० नि० २।४)

पित्तज विकारों की चिकित्सा

पित्त दोष के विपरीत गुण वाले द्रव्यों के प्रयोग से पित्त दोष का शमन होता है। '......विपरीतगुणैः पित्तं द्रव्यैराशु प्रशाम्यति।' (च० सू० १।६०)

पित्तज विकारों की सामान्य चिकित्सा—मधुर, तिक्त, कषाय रस वाले शीत वीर्ययुक्त द्रव्यों के प्रयोग से पित्त का शमन होता है। स्नेह, विरेचन, प्रदेह, परिषेक, अभ्यंग, अवगाह आदि का मात्रा तथा कालानुसार प्रयोग करने पर विकृत पित्त को सामान्यावस्था में लाते हैं।[1] १. इसके अतिरिक्त घृतपान, घृत से स्नेहन, २. विरेचन ३. मृदु, मधुर, सुगन्धित, शीतल व हृदय के लिए हितकारी गन्धों का सेवन, ४. मुक्तामणि आदि शीतल मणियों की माला का धारण, ५. बार-बार चन्दन, प्रियंगु, कालीयक, मृणाल का लेप लगाना चाहिए। ६. शीतल वायु का सेवन करना। ७. जल में उत्पन्न होने वाले पुष्पों द्वारा (जैसे—नीलकमल, कुमुद, रक्तकमल, सुगन्धित कमल, छोटी कमल (पद्म आदि) सुवासित किये गये जल से बार-बार शरीर धोना चाहिए या उस जल में कपड़ा भिगोकर शरीर पोंछना चाहिए। ८. कर्णप्रिय गीत या वाद्य सुनना चाहिए। ९. उन्नतिदायक व कल्याणकारक वचनों का सुनना। १०. मित्रों के साथ सम्पर्क रखना अर्थात् उनके साथ रहना। ११. शीतद्रव्यों से युक्त वस्त्र व हार पहनी हुई स्त्री के साथ संयोग करना। १२. चन्द्रमा की किरणों व खुले रूप से प्राप्त पूर्वी हवा का सेवन करना। १३. पर्वत की गुफा, पुलिन, शीतल घर, शीतवस्त्र, शीतल पंखों की हवा का सेवन। १४. सुखदायक शीत व सुगन्धित वायुयुक्त बगीचे में निवास। १५. विभिन्न पुष्पों से (उत्पल, पद्म, नलिन, सौगन्धिक, पुण्डरीक, गुलाब आदि) युक्त गुलदस्ता पित्तशामक होता है।[2]

---

१. तं मधुरतिक्तकषायशीतैरुपक्रमैरुपक्रमेत स्नेहविरेकप्रदेहपरिषेकाभ्यङ्गादिभिः पित्तहरैर्मात्राकालं च प्रमाणीकृत्य। (च० सू० २०।१६)

२. तस्य (प्रकुपितस्य पित्तस्य) अवजयनं—सर्पिष्पानं, सर्पिषा च स्नेहनम्, अधश्च दोषहरणं, मधुरतिक्तकषायशीतानां चौषधाभ्यवहार्याणामुपयोगः, मृदुमधुरसुरभिशीतहृद्यानां गन्धानां चोपसेवा, मुक्तामणिहारावलीनां च परमशिशिरवारिसंस्थितानां धारणमुरसा, क्षणे क्षणेऽग्र्यचन्दनप्रियङ्गुकालीयमृणालशीतवातवारिभिरुत्पलकुमुदकोकनदसौगन्धिपद्मानुगतैश्च वारिभिरभिप्रोक्षणं, श्रुतिसुखमृदुमधुरमनोऽनुगतानां च गीतवादित्राणां श्रवणं, श्रवणं चाभ्युदयानां, सुहृद्भिः संयोगः संयोगश्चेष्टाभिः स्त्रीभिः शीतोपहितांशुकस्रग्धारिणीभिः निशाकरांशुशीतलप्रवातहर्म्यवासः शैलान्तरपुलिनशिशिरसदनवसनव्यजनपवनसेवनं, रम्याणां चोपवनानां सुखशिशिरसुरभिमारुतोपहितानामुपसेवनं, सेवनं च पद्मोत्पलनलिनकुमुदसौगन्धिकपुण्डरीकशतपत्रहस्तानां सौम्यानां च सर्वभावानामिति। (च० वि० ६।१७)

पित्तज विकारों की विशिष्ट चिकित्सा—'विरेचनं पित्तहराणां श्रेष्ठम् ।' पित्तज विकारों की श्रेष्ठ व विशिष्ट चिकित्सा विरेचन को कहा गया है। विरेचन प्रथमतः आमाशय में जाकर विकारोत्पादक, विकृत मूलभूत पित्त का नाश करता है। आमाशयस्थ पित्त के नाश होने से शाखादि में संश्रित पित्त का स्वयमेव नाश हो जाता है। जिस प्रकार अग्नि से तप्त गृह में अग्नि को बुझा देने से गृह स्वयमेव शांत हो जाता है, उसी प्रकार आमाशयस्थ पित्त के शांत होने से अन्य स्थलों में प्रसृत पित्त का शमन हो जाता है।[1]

पित्तशामक विशिष्ट द्रव्य[2]—पित्तशामक विशिष्ट द्रव्य घृत कहा गया है। यह दाहादि का नाश करता है। शुक्र व ओज को बढ़ाता है।

कफ के नानात्मज विकार

कफ के २० विकारों का उल्लेख आयुर्वेद के शास्त्रों में प्राप्त होता है।[3]

१. **तृप्तिश्च**—तृप्ति अर्थात् सदैव तृप्ति का अनुभव; जिससे भूख-प्यास आदि का विशेष अनुभव नहीं होता। जब शारीरिक आवश्यकताएँ अभिप्रेरित करती हैं, तो भूख-प्यास की अनुभूति होती है, पर तृप्तावस्था में धातुओं में तृप्ति का अनुभव होने के कारण धातुओं द्वारा आवश्यकतानुभव नहीं किया जाता। परिणामतः व्यक्ति को भोजनादि की इच्छा ही नहीं होती, वह सदैव अपने को परिपूर्ण उदर वाला अनुभव करता है।

२. **तन्द्रा**—तन्द्रा एक अवस्था-विशेष है। इसे एक तरह की सुस्ती कहा जा सकता है। जब इन्द्रियाँ अपने विषयों को ग्रहण करने में सम्यक् रूपेण सक्षम नहीं हो

---

१. विरेचनं तु सर्वोपक्रमेभ्यः पित्ते प्रधानतमं मन्यन्ते भिषजः, तद्ध्यादित एवामाशयमनुप्रविश्य केवलं वैकारिकं पित्तमूलमपकर्षति, तत्रावजिते पित्तेऽपि शरीरान्तर्गताः पित्तविकाराः प्रशान्तिमापद्यन्ते, यथाऽग्नौ व्यपोढे केवलमग्निगृहं शीतीभवति तद्वत्। (च० सू० २०।१६)

२. सर्पिः खल्वेवमेव पित्तं जयति, माधुर्याच्छैत्यान्मन्दत्वाच्च, पित्तं ह्यमधुरमुष्णं तीक्ष्णं च। (च० वि० १।१५)। घृतं पितानिलहरं रसशुक्रौजसां हितम्। निर्वापणं मृदुकरं स्वरवर्णप्रसादनम्। (च० सू० १३।१४)। दीप्त्योजः स्मृतिमेधाग्निबुद्धीन्द्रियबलार्थिनः। पिबेयुः सर्पिरार्ताश्च दाहशस्त्रविषाग्निभिः। (च० सू० १३।४३)

३. श्लेष्मविकारांश्च विंशतिमत ऊर्ध्वं व्याख्यास्यामः, तद्यथा—तृप्तिश्च, तन्द्रा च निद्राधिक्यं च स्तैमित्यं च, गुरुगात्रता च, आलस्यं च, मुखमाधुर्यं च, मुखस्रावश्च, श्लेष्मोद्गिरणं च, मलस्याधिक्यं च, बलासकश्च, अपक्तिश्च हृदयोपलेपश्च, कण्ठोपलेपश्च, धमनीप्रतिचयश्च, गलगण्डश्च, अतिस्थौल्यं च, मन्दाग्निता च, उदर्दश्च, श्वेतावभासता च, श्वेतमूत्रनेत्रवर्चस्त्वं च इतिविंशतिः श्लेष्मविकाराः। (च० सू० २०।१७)

पातीं, शरीर व इन्द्रियों में भारीपन का अनुभव होता है, जृम्भा आदि आती है तथा नींद आने जैसी स्थिति उत्पन्न होती है—ऐसी अवस्था को तन्द्रा कहा जाता है— 'इन्द्रियार्थेष्वसंप्राप्तिर्गौरवं जृम्भणं क्लमः। निद्रार्तस्येव यस्येहा तस्य तन्द्रां विनिर्दिशेत् ।'

(सु० शा० ४।४९)

३. निद्राधिक्य । ४. स्तैमित्य—जड़ता—इन्द्रियों के कार्यों में असमर्थता । ५. आलस्य । ६. मुखमाधुर्य—मुख का स्वाद मीठा हो जाता है । ७. गुरुगात्रता—शरीर में भारीपन होना । ८. मुखस्राव—मुख से द्रवांश का स्रवित होना । ९. श्लेष्मोद्गिरणं—अर्थात् कफ का निकलना । १०. मलों की अधिक प्रवृत्ति । ११. बलासक—आचार्य चक्रपाणिदत्त ने बलासक का अर्थ बल का क्षय या मन्द-ज्वर या शोथादि द्वारा अंगों का स्थूल होना किया है—'बलासको बलक्षयः''' किंवा श्लेष्मोद्रेकान्मन्दज्वरत्वं स्थूलाङ्गता बलासकः ।' १२. अपाचन । १३. हृदयोपलेप—हृदय पर कफ का उपलेप होना, कफवृद्धि में हृदय व आश्रित वाहिनियों में कफ के स्तर का छा जाना । १४. कण्ठोपलेप—कण्ठ में कफ का उपलेप होना यानि व्याप्त होना । १५. धमनीप्रतिचय—धमनियों का कफ से भरा होना या कफ का बार-बार उपलेप होने से धमनियों का मोटा हो जाना । आचार्य चक्रपाणिदत्त ने 'धमनीप्रतिचयो धमन्युपलेपः' कहा है । यदि आचार्य चरक का तात्पर्य इससे मात्र उपलेप होता तो 'धमन्युलेपः' उल्लिखित करते, जैसा कि चक्रपाणि ने कण्ठोपलेप कहा है । यहाँ धमनीप्रतिचय से यह अर्थ ग्रहण किया जा सकता है कि बार-बार धमनियों में कफ का उपलेप होने से धमनी के आकार में परिवर्तन होकर ये मोटी हो जाती हैं, तब इसे धमनीप्रतिचय कहा जाता है । १६. गलगण्ड । १७. स्थौल्य । १८. मन्दाग्नि । १९. उदर्द । २०. श्वेतावभासता—शरीर, त्वक्, नेत्र, नखादि का श्वेतवर्ण का हो जाना ।

आचार्य शार्ङ्गधर ने भी कफ के २० विकारों का उल्लेख किया है । चरकोक्त कुछ विकारों के स्थान पर अन्य विकारों का उल्लेख किया गया है । जैसे[1]—१. शैत्य—शरीर का शीतल होना या शीतानुभव २. उष्णेच्छा ३. तिक्तकामिता ४. शुक्र की बहुलता ५. बहुमूत्रता ६. आलस्य ७. मन्दबुद्धिता ८. अचैतन्य आदि ।

१. कफस्य विंशति प्रोक्ता रोगास्तन्द्रातिनिद्रता ।
गौरवं मुखमाधुर्यं मुखलेपः प्रसेकता ॥
श्वेतावलोकनं श्वेतविट्कत्वं श्वेतमूत्रता ।
श्वेताङ्गवर्णता शैत्यमुष्णेच्छा तिक्तकामिता ।
मलाधिक्यं च शुक्रस्य बाहुल्यं बहुमूत्रता ।
आलस्यं मन्दबुद्धित्वं तृप्तिर्घर्घरवाक्यता ॥
अचैतन्यं च गदिता विंशतिः श्लेष्मजा गदाः ॥

(शा० पू० ७।१२२-१२३)

चरकसंहिता में कफ के २० विकारों का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि—'इति विंशतिः श्लेष्मविकाराः श्लेष्मविकाराणामपरिसंख्येयानामाविष्कृततमा व्याख्याता भवन्ति।'—च० सू० २०।१७। अर्थात् उपर्युक्त २० कफ के विकार हैं, पर कफज विकार असंख्य होते हैं। आचार्यों ने कफ के विकृत कर्मों का उल्लेख किया है, जिसके आधार पर कफज विकारों का अनुमान किया जाता है। जो निम्न हैं[1]—

१. स्नेह—शरीर, शरीराङ्ग या शरीरावयव का स्निग्ध होना २. शैत्य-शीतता। ३. शुक्लता। ४. गौरव—भारीपन होना या भारीपन का अनुभव होना। ५. माधुर्य—मुख में मधुरता की प्रतीति व शरीर, शरीरावयव में मधुरता व्याप्त हो जाना या मधुर भावों की वृद्धि। ६. स्थैर्य—स्थिरता, किन्हीं गतियुक्त भावों का स्थिर हो जाना। ७. पैच्छिल्य—पिच्छिलता, शरीरावयवों का पिच्छिल हो जाना। ८. मृदुता—शरीर, शरीराङ्गों या शरीरावयवों का मृदु हो जाना। इस प्रकार कफ के अपने उपर्युक्त गुणों में वृद्धि होने पर शरीर, शरीराङ्गों या शरीरावयवों में विभिन्न विकार उत्पन्न होते हैं। इन गुणों के अतिरिक्त कफ के अन्य विकृत कर्मों का भी उल्लेख किया गया है; यथा—१. श्वैत्य—श्वेतता, शरीर या अङ्गों का श्वेत हो जाना २. शैत्य—शीतता। ३. कण्डू। ४. स्तैमित्य। ५. गौरव। ६. स्नेह। ७. सुप्ति—अङ्गों का शून्य हो जाना या शून्यता व्याप्त हो जाना। ८. क्लेद—शरीर, शरीराङ्गों या शरीरावयवों को आर्द्रतायुक्त करना। ९. शोफ—विभिन्न प्रकार के शोथ की उत्पत्ति करना। १०. मल का अनुलिप्त होना। ११. बन्धन—स्रोतों का बंध या गत्यवरोध या अन्य उपलेपादि के कारण अवरोध। १२. माधुर्य। १३. चिरकारित्व—चिरकालिता, रोगादि को चिरकाल तक बनाये रखना या क्षिप्र गतियों को चिरकालिक बना देना आदि।

इस प्रकार जिन कफज विकारों का उल्लेख नहीं किया गया है, उनका अनुमान उपर्युक्त गुणों व विकृत कर्मों के आधार पर किया जाता है, क्योंकि उपर्युक्त लक्षण कफ के द्वारा ही उत्पन्न होते हैं, अन्य दोष से नहीं। अतः ये लक्षण जहाँ होते हैं, उसे कफज विकार समझना चाहिए—'सर्वेष्वपि खल्वेतेषु श्लेष्मविकारेषूक्तेष्वन्येषु चानुक्तेषु

---

१. तद्यथा—स्नेहशैत्यशौक्ल्यगौरवमाधुर्यस्थैर्यपैच्छिल्यमात्सन्यानि श्लेष्मणः आत्मरूपाणि एवंविधत्वाच्च श्लेष्मणः कर्मणः स्वलक्षणमिदमस्य भवति तं तं शरीरावयवमाविशतः, तद्यथा—श्वैत्यशैत्यकण्डूस्थैर्यगौरवस्नेहसुप्तिक्लेदोपदेहबन्धमाधुर्यचिरकारित्वानि श्लेष्मणः कर्माणि, तैरन्वितं श्लेष्मविकारमेवाध्यवस्येत्॥ (च० सू० २०।१८)

श्लेष्मणः स्नेहकाठिन्यः कण्डूशीतगौरवम्।
बन्धोपलेपस्तैमित्य शोफापक्त्यतिनिद्रताः॥
वर्णश्वेतो रसौ स्वादुलवणौ चिरकारिता।
(अ० हृ० सू० १८।५३-५४)

श्लेष्मण इदमात्मरूपमपरिणामि कर्मणश्च स्वलक्षणं, तदवयवं वा विमुक्तसन्देहाः श्लेष्मविकारमेवाध्यवस्यन्ति कुशलाः ।।' (च० सू० २०।१८)

कफज विकारों के कारण (कफ के प्रकोपक कारण)

कफज विकारों के आहारजन्य कारण[1]—अधिक स्निग्ध, गुरु, मधुर, पिच्छिल, शीतल आहार का सेवन करना, अम्ल व लवण रस वाले द्रव्यों का अधिक सेवन करना, अभिष्यन्दी पदार्थों का सेवन करना (ऐसे पदार्थों का सेवन करना जो दोष धातुमलों के स्रोतों को अत्यधिक क्लेदित करते हों अथवा स्रोतोरोध उत्पन्न करते हों), हायनक, जौ, नैषध, इत्कट, उड़द, लोबिया, गेहूँ, तिल, पिष्टान्न से बने पदार्थों का सेवन करना, दही, दूध, कृशरा (विशेषकर तिल, चावल, उड़द आदि गुरु द्रव्यों द्वारा बनी हुई) खीर, गन्ने का रस तथा उससे बने हुए अन्य पदार्थों का सेवन करना, जलप्रधान आनूपदेश के जन्तुओं का तथा जलचर जन्तुओं के मांस का सेवन करना, इन जन्तुओं के वसा का सेवन करना, कमलनाल, कसेरू, सिंघाड़ा, ताड़, नारियल आदि मधुर फलों का सेवन, घिया, कद्दू आदि का सेवन, समशन (हितकर व अहितकर दोनों प्रकार के पदार्थों का एक साथ सेवन), अध्यशन (पूर्व में लिया गया आहार जीर्ण न हुआ हो तभी अगला आहार ग्रहण कर लेना) आदि कफ को कुपित या विकृत करते हैं।

कफजन्य मानसिक कारण—हर्ष, अतिप्रसन्नता, आलस्य।

कफज विकार के विहारजन्य कारण—दिवास्वप्न (दिन में सोना), परिश्रम न करना, व्यायाम नहीं करना, अतिनिद्रा-सेवन आदि।

कफज विकारों की चिकित्सा

सामान्य चिकित्सा—कफ के विरुद्ध गुण वाले आहार का सेवन, परिश्रम, व्यायाम

---

१. स्निग्धगुरुमधुरपिच्छिलशीताम्ललवणदिवास्वप्नहर्षाव्यायामेभ्योऽतिसेवितेभ्यः श्लेष्माप्रकोपमापद्यते ।। (च० नि० १।२५)

दिवास्वप्नाव्यायामालस्यमधुराम्ललवणशीतस्निग्धगुरुपिच्छिलाभिष्यन्दिहायनकनैषधेत्कटमाषगोधूमतिलपिष्टविकृतिदधिदुग्धकृशरापायसेक्षुविकारानूपौदकमांसवसाबिसमृणालकसेरुकशृंगाटकमधुरवल्लीफलसमशनाध्यशनप्रभृतीभिः श्लेष्मा प्रकोपमापद्यते ।। (सु० सू० २१।१३)

—तत्रेमे त्रयो निदानादिविशेषाः श्लेष्मनिमित्तानां········हायनकयवकचीनकोद्दालकनैषधेत्कटमुकुन्दमहाव्रीहिप्रमोदकसुगन्धकानां नवानामतिवेलमतिप्रमाणेन चोपयोगः······ग्राम्यानूपौदकानां च मांसानां, शाकतिलपललपिष्टान्नपायसकृशराविलेपीक्षुविकाराणां, क्षीरनवमद्यमन्दकदधिद्रवमधुरतरुणप्रायाणां चोपयोगः मृजाव्यायामवर्जनं, स्वप्नशयनासनप्रसङ्गश्च। (च० नि० ४।५)

करना आदि विहार का पालन व कफनाशक औषध-प्रयोग कफ के शान्तिकारक होते हैं।[1] इसके लिए—१. कटु, तिक्त, कषाय रस वाले आहार का सेवन करना चाहिए। २. तीक्ष्ण, उष्ण, रुक्ष गुण वाले द्रव्यों का सेवन करना चाहिए। ३. स्वेदन, वमन, शिरोविरेचन आदि संशोधन कर्म कराना चाहिए। ४. व्यायाम, जैसे–दौड़ना, तैरना, परिसरण अर्थात् घूमना-फिरना आदि क्रियायें करनी चाहिए। ५. उपवास करना चाहिए। ६. मैथुनकर्म करना चाहिए। ७. कुश्ती लड़ना, शरीर का मर्दन कराना आदि करना चाहिए। ८. उबटन, स्नान आदि का प्रयोग करना चाहिए। ९. बहुत दिनों की रखी हुई पुरानी मदिरा का पान करना चाहिए। १०. धूम्रपान। ११. गुरु भोजन का परित्याग। १२. गर्म वस्त्र-धारण व गर्म स्थान पर निवास करना चाहिए। १३. आरामदायक वस्तुओं का त्याग करना चाहिए।[2]

विशिष्ट चिकित्सा—'वमनं श्लेष्महराणां श्रेष्ठम्।' वमन को कफज विकारों की विशिष्ट व श्रेष्ठ चिकित्सा कहा गया है। क्योंकि सभी कफशामक चिकित्साओं में वमन प्रधान चिकित्सा है। यह प्रथमतः आमाशय में जाकर वक्ष प्रदेश में स्थित मलीभूत कफ को ऊर्ध्व यानि ऊपर की ओर विक्षेपित कर देता है। वक्ष प्रदेश को कफ का मूल स्थान माना गया है, जब कफ अपने मूल स्थान में शांत हो जाता है तो अन्यत्र अंग-प्रत्यङ्ग या शाखाओं में स्थित कफ स्वयमेव शांत हो जाता है। जिस प्रकार किसी खेत का बांध टूटने से जल-निष्क्रमण के कारण पौधे सूख जाते हैं, उसी प्रकार मूल स्थान में कफ के शांत होने पर उसके विकार स्वयं शांत हो जाते हैं।[3]

नानात्मजविकार सिद्धान्त व उसकी उपादेयता

आयुर्वेद का सिद्धान्त है कि—'सर्वं एव निजा विकारा नान्यत्र वातपित्तकफेभ्यो

---

१. गुरुशीतमृदुस्निग्धमधुरस्थिरपिच्छिलाः ।
श्लेष्मणः प्रशमं यान्ति विपरीतगुणैर्गुणाः ॥ (च० सू० १।६१)

२. तं (श्लेष्मविकारं) कटुकतीक्ष्णोष्णतिक्तकषायरुक्षैरुपक्रमैरुपक्रमेत् स्वेदवमनशिरोविरेचनव्यायामादिभि; श्लेष्महरैर्मात्रां कालं च प्रमाणीकृत्य। (च० सू० २०।१९)
तस्य (प्रकुपितश्लेष्मणः) अवजयनं–विधियुक्तानि तीक्ष्णोष्णानि संशोधनानि, रुक्षप्रायाणि कटुतिक्तकषायोपहितानि, तथैव धावनलङ्घनप्लवनपरिसरणजागरणनियुद्धव्यवायोन्मर्दनस्नानोत्सादनानि विशेषतस्तीक्ष्णानां दीर्घकालस्थितानां च मद्यानामुपयोगः सधूमपान सर्वशश्चोपवासः तथोष्णवासः सुखप्रतिषेधश्च सुखार्थमेवेति ॥
(च० वि० ६।१८)

३. वमने तु सर्वोपक्रमेभ्यः श्लेष्मणि प्रधानतमं मन्यन्ते भिषजः तद्ध्यादित एवामाशयमनुप्रविश्योरोगतं केवलं वैकारिकं श्लेष्ममूलमूर्ध्वमुत्क्षिपति। तत्रावजिते श्लेष्मण्यपि शरीरान्तर्गताः श्लेष्मविकाराः प्रशान्तिमापद्यन्ते, यथा भिन्ने केदारसेतौ शालियवषष्टिकादीन्यनभिष्यन्द्यमानान्यम्भसा प्रशोषमापद्यन्ते। (च० सू० २०।१९)

निर्वर्तन्ते'। अर्थात् सभी निज विकार वात, पित्त व कफ के ही कारण होते हैं। जिस प्रकार पक्षी सारे दिन आकाश में उड़ते हुए अपनी छाया का अतिक्रमण नहीं कर सकता; उसी प्रकार कोई भी विकार वात, पित्त व कफ के बिना नहीं हो सकता। वात, पित्त, कफ के स्थान, स्वरूप व कारण-भेदों के आधार पर ही रोग-निर्देश किया जाता है—'वातपित्तश्लेष्मणां पुनः स्थान-संस्थान-प्रकृति-विशेषानभिसमीक्ष्य तदात्मकानपि च सर्वविकारास्तानेवोपदिशन्ति बुद्धिमन्तः'—च० सू० १९।५। आगन्तुज व्याधियों का भी वात, पित्त, कफ अनुगमन करते हैं—च० सू० १९।७। आचार्य सुश्रुत ने भी इस तथ्य को प्रकाशित करते हुए कहा है कि—'सर्वेषां च व्याधीनां वात-पित्त-श्लेष्माण एव मूलं, तल्लिङ्गत्वाद्दृष्टफलत्वादागमाच्च'—सु० सू० २४।८। अर्थात् सभी रोगों के मूलकारण वात, पित्त व कफ ही हैं; क्योंकि (१) 'तल्लिंगत्वात्' अर्थात् सभी व्याधियों में इन्हीं तीन दोषों के रूक्षता, उष्णता, गौरव आदि लक्षण प्राप्त होते हैं। (२) 'दृष्टफलत्वात्'—अर्थात् परिणाम देखने से यानि वात, पित्त, कफ-शामक औषधियों के प्रयोग से व्याधियाँ शांत हो जाती है तथा (३) 'आगमाच्च'—आयुर्वेद के शास्त्रों में सभी व्याधियों के कारणरूप में इनका उल्लेख होने से।[१] इस प्रकार हम पाते हैं कि लक्षणाधार, दृष्टफलाधार व आगमाधार—इन तीनों हेतुओं से इस तथ्य की पुष्टि होती है कि वात, पित्त, कफ ही व्याधियों के मूल कारण है, पर व्याधियाँ असंख्य होती हैं, अतः यह संभव नहीं है कि व्याधियों का नामतः निर्देश प्राप्त हो या वैद्य सभी व्याधियों को नामतः जानता हो; जैसा कि आचार्य चरक के निम्नोक्त उद्धरण से स्पष्ट होता है—

'विकारनामाकुशलो न जिह्णीयात् कदाचन।
न हि सर्वविकाराणां नामतोऽस्ति ध्रुवास्थितिः॥' (च० सू० १९।४४)

इस सन्दर्भ में यह प्रश्न उठ सकता है कि जब वैद्य को विकारों का ज्ञान ही नहीं रहेगा तब चिकित्सा का आधार क्या होगा। इसका समाधान करते हुए आचार्य कहते हैं—

'स एव कुपितो दोषः समुत्थानविशेषतः।
स्थानान्तरगतश्चैव जनयन्त्यामयान् बहून्॥
तस्माद्विकारप्रकृतीरधिष्ठान्तराणि च।
समुत्थानविशेषांश्च बुद्ध्वा कर्म समाचरेत्॥' (च० सू० १९।४६-४७)

अर्थात् एक ही कुपित दोष उत्पत्ति-कारण की भिन्नता, स्थानसंश्रिता से अनेक व्याधियों को उत्पन्न करता है। इसलिए रोगों के उपचार-क्रम में रोग के मूल कारण, अधिष्ठान-भेद तथा उत्पत्ति-कारण के आधार पर चिकित्सा व्यवस्था करनी चाहिए। इस प्रकार—

---

१. विस्तृत विवरण हेतु पुस्तक के प्रथम भाग के पृष्ठ १०१-१०३ का अवलोकन करें।

१. नानात्मज विकारों में, एक ही कुपित दोष के अधिष्ठान व स्थानानुसार अनेक विकारों का उल्लेख किया गया है। जिन व्याधियों का नामतः ज्ञान नहीं है तथा यदि तीनों दोषों के नानात्मज विकार ज्ञात हैं तो उस व्याधि-विशेष की चिकित्सा व्यवस्था नानात्मज विकारों के आधार पर की जा सकती है। जैसे—किसी अङ्ग में शूल है, उस अङ्ग का अवयव-विशेष विस्तृत हो गया है, जिससे भेदनवत् पीड़ा है; यदि इस रोग का नामतः ज्ञान नहीं है या निर्देश शास्त्र में नहीं है, फिर भी उस व्याधि की वातशामक चिकित्सा द्वारा व्यवस्था की जा सकती है, क्योंकि शूल-भेद, व्यास—ये सब वात के नानात्मज विकार हैं। इसी प्रकार यदि शरीर में भारीपन है, शीतानुभव होता है, अङ्गों में जकड़ाहट है और वैद्य को इस रोग का नामतः ज्ञान नहीं है, तो भी इस रोग की चिकित्सा कफशामक औषधियों से की जा सकती है, क्योंकि गौरव, शैत्य, स्तम्भादि कफ के नानात्मज विकार होते हैं।

२. नानात्मज व्याधियाँ असंख्य कही गई हैं, पर आचार्यों के द्वारा वात, पित्त, कफ के नानात्मज व्याधियों की संख्या क्रमशः ८०, ४०, २० कही गई है। इसका तात्पर्य यह है कि वात, पित्त, कफ के नानात्मज विकारों का संख्यात्मक अनुपात ४:२:१ का है, अर्थात् वातज व्याधियों की संख्या सर्वाधिक ८०; पित्तज व्याधियों की संख्या इसकी आधी ४० तथा कफज व्याधियों की पित्तज से आधी संख्या २० है। यहाँ यदि आचार्य द्वारा निर्दिष्ट व्याधि संख्या के अनुपात ४:२:१ पर विचार किया जाता है तो एक महत्त्वपूर्ण तथ्य उद्घाटित होता है। वह तथ्य यह है कि, वात दोष में व्यापकता, चल, आशु आदि गुण होने तथा गतिपरक होने से व्याधियों की उत्पत्ति भी उससे सर्वाधिक होती है। पित्त तीक्ष्ण व सर गुण वाला है, अतः इससे उत्पन्न व्याधियों की संख्या चल गुण वाले वायु से आधी है पर स्थिर गुण वाले कफज व्याधियों से दुगुनी है। कफ स्थिर, मृदु तथा मंद होता है अतः कुपितावस्था में भी वह अन्य दोषों के समान बहुत लक्षण उत्पन्न नहीं कर पाता, अतः कफज विकारों की संख्या वात, दोष की विकार संख्या से चौथाई तथा पित्तज विकारों से आधी होती है। उपर्युक्त विवेचन से इस तथ्य को स्वीकार किया जा सकता है कि—समान बल में कुपित वात दोष व्यापक, सूक्ष्म एवं चल गुण के कारण अधिक लक्षण उत्पन्न करता है। समान बल से कुपित पित्त तीक्ष्ण सर गुण के कारण वात से कम लक्षण उत्पन्न करता है तथा समान बल से कुपित कफ स्थिर मंद गुण के कारण सबसे कम लक्षण उत्पन्न करता है। अतः यदि किसी व्याधि में पित्त के अधिक लक्षण व कफ के कम लक्षण ही मिलते हैं तो इससे यह नहीं समझा जाना चाहिए कि पित्त वृद्धतर व कफ वृद्ध है, बल्कि दोष समान बल से कुपित है; क्योंकि नानात्मज विकारों की संख्याओं से ऐसा संकेत प्राप्त होता है। इसी प्रकार समान रूप से कुपित वातकफज व्याधियों में वात के अधिक लक्षण प्राप्त होंगे, जबकि कफ का अपेक्षाकृत कम ही लक्षण दृष्टिगोचर हो सकता है।

३. आवस्थिक चिकित्सा के आधाररूप में नानात्मज विकार—कतिपय व्याधियों में आवस्थिक चिकित्सा (लाक्षणिक चिकित्सा) का निर्देश प्राप्त होता है। आवस्थिक चिकित्सा का निर्देश शास्त्र-सम्मत है तथा 'आवस्थिक चिकित्सा' पद का प्रयोग चरकसंहिता में राजयक्ष्मा चिकित्सा में किया गया है—

'सर्वस्त्रिदोषजो यक्ष्मा दोषाणां तु बलाबलम्।
परीक्ष्यावस्थिकं वैद्यः शोषिणं समुपाचरेत् ॥'

(च० चि० ८।६३)

अर्थात् सभी प्रकार के राजयक्ष्मा त्रिदोषज ही होते हैं। अतः 'दोषाणां तु बलाबलम्' यानि दोषों के बलाबल का विचार कर 'वैद्यः' 'आवस्थिकं शोषिणं समुपाचरेत्' अर्थात् वैद्य शोषियों की आवस्थिक चिकित्सा करे। इस आवस्थिक चिकित्सा का आधार दोषों के बलाबल का विचार करना है तथा इस बलाबल का विचार दोषों के नानात्मज विकार के आधार पर ही किया जा सकता है। नानात्मज विकारों की गणना कर उनके बलाबल का विचार लक्षणों की संख्या के अनुपात के आधार पर करना चाहिए।

४. नये व्याधियों की चिकित्सा का आधार नानात्मज विकार—आधुनिक काल में कतिपय नई व्याधियाँ प्रकाश में आ गई हैं, जिनका सर्वांगीण वर्णन आयुर्वेद में नहीं है या है भी तो नामतः नहीं है; जैसे हृदय-रोग। आयुर्वेद में हृदय-रोगों का वर्णन अन्य प्रमुख व्याधियों के सदृश नहीं है, पर आधुनिक काल में हृदय रोग 'महागद' का रूप धारण कर चुका है। अब इस व्याधि को महागद में लाकर चिकित्सा निर्देश करने का आधार नानात्मज विकार ही होंगे। यदि किसी को धमनी प्रतिचय के साथ मेदस्विता एवं हृद्द्रवादि लक्षण है, तो नानात्मज विकारों तथा तज्जन्य लक्षणों के आधार पर ही इसकी चिकित्सा-व्यवस्था की जा सकती है। इसी प्रकार उच्च रक्तचाप आदि व्याधियों का वर्णन भी प्राप्त नहीं होता, अतः इसकी चिकित्सा भी नानात्मज विकारों तथा तज्जन्य लक्षणों के आधार पर ही होगी।

५. आयुर्वेदीय प्राथमिक चिकित्सा व नानात्मज विकार—आयुर्वेद के चिकित्सक जो प्रधानतः आयुर्वेदीय चिकित्सक के रूप में कार्यरत हैं, उनके द्वारा दी जाने वाली चिकित्सा का आधार लक्षण-समुच्चय होता है तथा प्राथमिक स्तर पर अस्थायी निदान नानात्मज विकारों के आधार पर किया जाता है कि अमुक लक्षण वात के हैं, अमुक लक्षण पित्त के हैं। अतः प्राथमिक स्तर पर चिकित्सा में नानात्मज विकारवाद अत्यन्त उपादेय है।

६. बहिरंगगत रोगियों में नानात्मज विकारों की उपादेयता—लघु या गुरु व्याधियों से पीड़ित आतुर प्रथमतः बहिरंग रोगी के रूप में ही आते हैं। इनमें गम्भीर रोगों से ग्रसित आतुरों को अंतरंग विभाग में रखकर दोष इत्यादि की परीक्षा की

जाती है, पर लघुरूप से व्याधितों की चिकित्सा व्यवस्था कम से कम समय में देनी होती है। इस स्थिति में आवस्थिक चिकित्सा हेतु तीनों दोषों के नानात्मज विकार के आधार पर अस्थायी निदान कर चिकित्सा की जाती है तथा यह निर्णय लिया जाता है कि अमुक रोगी में किस दोष की चिकित्सा करनी है या किन-किन दोषों का बल किस अनुपात में है। इन तथ्यों का सम्यक् ज्ञान नानात्मज विकार के आधार पर किया जा सकता है।

सामान्यज विकार

'सामान्यजा इति वातादिभिः प्रत्येकं मिलितैश्च ये जायन्ते' अर्थात् सामान्यज विकार दो या तीनों दोषों के संयुक्त रूप से कुपित होने से उत्पन्न होते हैं या अभिघातादिजन्य आगन्तुक कारणों से भी सामान्यज व्याधियाँ उत्पन्न होती हैं। चरकोपस्कार टीकाकार आचार्य यो० ना० सेन ने सामान्यज रोग की टीका करते हुए कहा है कि—

'त एवमेते क्रमशो द्विशो वा दोषाः प्रदुष्टा युगपत् त्रयो वा।
कुर्वन्ति रोगान् विविधाञ्छरीरे सामान्यजास्ते ह्युदरादयः स्युः॥'

अर्थात् ये वात, पित्त एवं कफ क्रमशः दो या तीनों दोष परस्पर मिलकर अनेक प्रकार की व्याधियों को शरीर में उत्पन्न करते हैं; जिसके कारण उदर आदि सामान्यज रोग उत्पन्न हो जाते हैं।

अध्याय-३

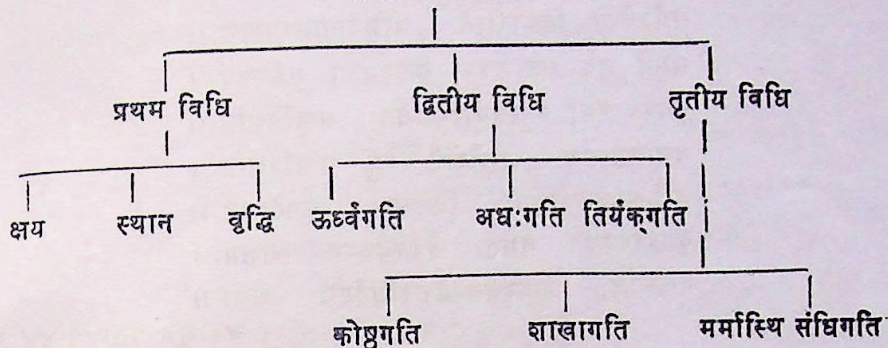
दोषत्रिविधगति

दोष से यहाँ शरीरस्थ त्रिदोष (वात, पित्त, कफ) का ग्रहण करना चाहिए। यद्यपि रज व तम को भी दोष (मानस दोष) कहा गया है, पर त्रिविध गति के संदर्भ में दोष का ग्रहण वात, पित्त, कफ के अर्थ में ही किया गया है। त्रिदोष (वात, पित्त, कफ) को त्रिधातु भी कहा जाता है। जहाँ धातु का प्रयोग धातु-वैषम्य या धातु-साम्य प्रकरण में आता है, वहाँ धातु का अर्थ त्रिधातु ही ग्रहण किया जाता है। शरीरस्थ रस, रक्तादि सप्त भावों को भी धातु कहते हैं, जिसके लिए प्रचलित धातु संज्ञा रूढ़ि हो गई है, अर्थात् सामान्य रूप से धातु संज्ञा से रस-रक्तादि सप्तधातु एवं दोष से वातादि त्रिधातु का बोध होता है। जब ये दोनों ही (त्रिदोष, सप्तधातु) धातु हैं, तो फिर धातुओं की संख्या दस होनी चाहिए। उपर्युक्त तथ्य को विवेचित करने का उद्देश्य यह है कि यहाँ इस तथ्य को स्पष्ट कर दिया जाय कि त्रिधातु (वात, पित्त, कफ) शरीर को क्रियात्मक रूप से धारण करते हैं तथा रस, रक्तादि सप्तधातुएँ रचनात्मक रूप से शरीर का धारण करती हैं, जिसका विस्तृत विवेचन पुस्तक के प्रथम भाग में किया गया है, अतः यहाँ पुनः इसका विवेचन करना आवश्यक नहीं है। ये वात, पित्त, कफ रचनात्मक धातुओं (सप्तधातु) को दूषित करते हैं, अतः इन्हें 'दोष' की संज्ञा दी गई है, जिससे इनकी प्रचलित संज्ञा त्रिदोष हो गई है। इन दोषों की तीन प्रकार की तीन-तीन गतियाँ बतलाई गई है, जिसे दोषों की त्रिविध गति कहा जाता है। ये गतियाँ निम्न हैं—

'क्षयः स्थानं च वृद्धिश्च दोषाणां त्रिविधा गतिः।
ऊर्ध्वं चाधश्च तिर्यक् च विज्ञेया त्रिविधाऽपरा॥
त्रिविधा चापरा कोष्ठशाखामर्मास्थिसंधिषु।
इत्युक्ता विधिभेदेन दोषाणां त्रिविधाः गतिः॥'

(च० सू० १७।११२-११३)

अर्थात् दोषों की गतियाँ तीन प्रकार की होती हैं। प्रथम प्रकार में क्षय, स्थान व वृद्धि—ये तीन गतियाँ होती हैं। दूसरे प्रकार की गति भी ऊर्ध्व (ऊपर की ओर), अधः (नीचे की ओर) तथा तिर्यक् भेद से तीन होती है। इसके तीसरे प्रकार में भी दोषों की कोष्ठ गति, शाखा गति व मर्मास्थि संधिगत गति—तीन गतियाँ होती हैं।



दोषों की गति से 'गमनादि गति' अर्थ ग्रहण किया जाता है तथा दूसरा अर्थ 'गमनम् अवस्थाप्राप्तिश्च' अर्थात् अवस्था-प्राप्ति लगाया जाता है। गतिशील दोष तो 'वात' ही होता है, पर पित्त, कफ भी चयित होकर जब प्रसरादि करते हैं, तो वह भी गति ही होती है, अतः दोषों की विभिन्न अवस्थाओं को भी गति से सम्बोधित किया जाता है। इसके अतिरिक्त दोषों का कोष्ठ से शाखादि में भी गमन होता है या उनका प्रसर ऊर्ध्व-अधः आदि प्रदेशों में होता है।

१. दोषों की क्षय, वृद्धि, स्थानादि गति—यहाँ आचार्य ने दोषों की तीन गतियाँ—क्षय, वृद्धि व स्थान कहा है। यह प्रथम प्रकार की गति है, क्योंकि दोषों के समान गुण वाले आहार-विहार से प्रथमतः दोषों का संचय होता है जिससे शरीरस्थ दोष वृद्धि को प्राप्त कर प्रकुपित होते हैं तथा उनका प्रसार व स्थान-संश्रय होता है। दोषों के विपरीत गुण वाले आहार-विहारादि से दोषों का क्षय होता है। अतः आचार्य ने दोषों की गति में प्रथमतः क्षय, वृद्धि आदि का ही उल्लेख किया है। स्थान से यहाँ दोषों की सामान्यावस्था (Normal condition) का ग्रहण किया जाता है। प्रत्येक दोषों के अपने-अपने स्थान नियत हैं। जब दोष सामान्य रहते हैं तो स्वस्थान पर अपनी क्रिया करते हैं। जब वृद्धि को प्राप्त होते हैं, तभी स्वस्थान का त्याग करते हैं, इसीलिए दोषों की गति में स्थान का उल्लेख किया गया है। जब तक दोष स्वस्थान पर रहते हैं, तब तक व्याधियों की उत्पत्ति नहीं होती। 'स्थान' दोष के प्राकृतावस्था का द्योतक है। जैसे—कफ ऊर्ध्व आमाशय व आमाशय के ऊपर वक्षादि प्रदेश में रहता है, पित्त अधो आमाशय व पच्यमानाशय में व वायु पक्वाशय में रहता है। दोषों के व उसके प्रकारों के स्थान (नियत स्थान) का विवेचन प्रथम भाग में किया जा चुका है, अतः उसका अवलोकन पुस्तक के प्रथम भाग में किया जा सकता है।

दोषों की वृद्धि व क्षय गति—दोषों की वृद्धि व क्षय का तरतम भेद से बासठ (६२) विकल्प संहिता ग्रन्थों में प्रस्तुत किया गया है जैसा कि निम्न उद्धरण से स्पष्ट होता है।

'द्व्युल्वणैकोल्वणैः षट् स्युर्हीनमध्याधिकैश्च षट् ।
समैश्चैको विकारास्ते सन्निपातास्त्रयोदश ।।
संसर्गे नव षट् तेभ्यः एकवृद्धचा समैस्त्रयः ।
पृथक् त्रयः स्युस्तैर्वृद्धैर्व्याधयः पञ्चविंशति ।।
यथावृद्धैस्तथा क्षीणैर्दोषै स्युः पञ्चविंशतिः ।
वृद्धिक्षयकृतश्चान्यो विकल्प उपदेक्ष्यते ।।
वृद्धिरेकस्य समता चैकस्यैकस्य संक्षयः ।
द्वन्द्ववृद्धिः क्षयश्चैकस्यैकवृद्धिर्द्वयोः क्षयः ।।'

(च० सू० १७।४१-४४)

अर्थात्—दो दोषों की प्रधानता से— ३ (तीन)
एक दोष की प्रधानता से— ३ (तीन)
हीन मध्य और एक दोष की अधिकता से— ६ (छः)
एक भेद तीनों दोषों के समान रूप से बढ़ने से— १ (एक)

इस प्रकार सन्निपात—१३ (तेरह)

दो दोषों के मिलने पर ९ (नौ)
अलग-अलग बढ़े दोष ३ (तीन)

इस प्रकार सन्निपात व द्वंदज भेद १३ + १२ = २५
उपर्युक्त वृद्धि की तरह ही क्षयावस्था से भेद = २५

इस प्रकार वृद्धि व क्षय की तरतमावस्था में—५० भेद

एक दोष की वृद्धि एक दोष का क्षय व एक दोष के सम की अवस्थाओं से ६ भेद
दो दोषों की वृद्धि व एक दोष के क्षय से— ३ भेद
एक दोष की वृद्धि तथा दो दोषों के क्षय से— ३ भेद

इस प्रकार वृद्धि क्षय का कुल विकल्प— ६२ भेद

उपर्युक्त अवस्थायें निम्न रूप से वृद्धि व क्षय को प्राप्त होती है ।

सन्निपात (वृद्धिजन्य) १३ (तेरह) तथा क्षयजन्य १३ (तेरह) कुल २६

वृद्ध	वृद्धतर	क्षीण	क्षीणतर
१. कफ	वातपित्त	१. वात	पित्तकफ
२. वात	कफ पित्त	२. पित्त	वात कफ
३. पित्त	वात कफ	३. कफ	वात पित्त
४. वात पित्त	कफ	४. वात पित्त	कफ
५. कफ पित्त	वात	५. वात कफ	पित्त
६. कफ वात	पित्त	६. पित्त कफ	वात

वृद्ध	वृद्धतर	वृद्धतम	क्षीण	क्षीणतर	क्षीणतम
७. वात	पित्त	कफ	७. वात	पित्त	कफ
८. वात	कफ	पित्त	८. वात	कफ	पित्त
९. पित्त	वात	कफ	९. पित्त	कफ	वात
१०. पित्त	कफ	वात	१०. पित्त	वात	कफ
११. कफ	पित्त	वात	११. कफ	वात	पित्त
१२. कफ	वात	पित्त	१२. कफ	पित्त	वात

समान रूप से वृद्ध — समान रूप से क्षीण

१३. वात-पित्त-कफ — १३. वात-पित्त-कफ इस प्रकार–२६

द्वन्द्वज गति या द्वन्द्वज अवस्थायें

वृद्ध	वृद्धतर	क्षीण	क्षीणतर
१. वात	पित्त	१. वात	पित्त
२. वात	कफ	२. वात	कफ
३. पित्त	वात	३. पित्त	वात
४. पित्त	कफ	४. पित्त	कफ
५. कफ	वात	५. कफ	वात
६. कफ	पित्त	६. कफ	पित्त

समान रूप से वृद्ध — समान रूप से क्षीण

७. वात-कफ ८. वात-पित्त — ७. वात-कफ ८. वात-पित्त

९. कफ-पित्त — ९. कफ-पित्त

एक-एक दोष की वृद्धि — एक-एक दोष का क्षय

१०. वृद्ध वात ११. वृद्ध पित्त — १०. क्षीण वात ११. क्षीण पित्त

१२. वृद्ध कफ — १२. क्षीण कफ

त्रिदोष की युगपत् वृद्धि व क्षय

वृद्ध	सम	क्षीण	वृद्ध	क्षीण
१. वात	पित्त	कफ	१. वात	पित्त-कफ
२. वात	कफ	पित्त	२. पित्त	वात-कफ
३. पित्त	वात	कफ	३. कफ	वात-पित्त
४. पित्त	कफ	वात	४. वात-पित्त	कफ
५. कफ	वात	पित्त	५. वात-कफ	पित्त
६. कफ	पित्त	वात	६. पित्त-कफ	वात

इस प्रकार युगपत् वृद्धिक्षय (६+६)=१२

सन्निपातज अवस्थायें (वृद्ध-क्षीणजन्य)	१३+१३=२६
द्वन्द्वज व एक दोषज	१२+१२=२४
त्रिदोष की युगपत् वृद्धि-क्षय	६+६=१२
	कुल दोष विकल्प=६२ (बासठ)

इस प्रकार तरतम भेद से दोषों की उपर्युक्त बासठ अवस्थाओं का उल्लेख किया गया है। दोषों के स्थान-गति का विस्तृत वर्णन प्रथम भाग में किया जा चुका है। वृद्धि व क्षयप्राप्त दोषों के लक्षणों के सम्बन्ध में कहा गया है कि—

'दोषाः प्रवृद्धाः स्वं लिङ्गं दर्शयन्ति यथाबलम् ।
क्षीणाः जहति लिङ्गं स्वं समाः स्वं कर्म कुर्वते ।।'

(च० सू० १७।६२)

वृद्धि-प्राप्त दोष अपने बल के अनुसार अपने लक्षण उत्पन्न करते हैं, अर्थात् जिस अंश या तर-तम भेद से जितनी वृद्धि प्राप्त करते हैं (चय आदि के आधार पर यदि कारण का सेवन अल्प किया गया है, तो अल्प बलयुक्त वृद्धि होगी तथा दोषों के समान अधिक गुणों वाले आहार-विहारादि का सेवन किया जाता है तो अधिक बलयुक्त दोष-वृद्धि होगी), उसी अनुपात में दोष अपने लक्षण उत्पन्न करते हैं तथा क्षीण दोष द्वारा शरीर में दोष लक्षणों में क्षीणता हो जाती है। जैसे यदि कफ का क्षय है तो शरीर में कफ के लक्षण—गुरुता, स्निग्धता आदि की कमी हो जाती है। उसी प्रकार यदि वात दोष की वृद्धि होती है तो शरीर में खरता, रूक्षता आदि लक्षण उत्पन्न, हो जाते हैं। इस प्रकार दोष-वृद्धि व क्षय की अवस्था में दोषों के स्वलक्षण ही अधिक या कम प्रकट होते हैं। इन दोषों में वृद्धि या क्षय तरतम भेद से दोषों के स्वगुणों के आधार पर प्रकट होता है। जैसे यदि वात दोष के रूक्ष आदि एक गुण की वृद्धि होती है तो वह वृद्ध कहा जाता है, यदि दो या तीन गुणों की वृद्धि होती है तो वृद्धतर कहा जाता है, पर यदि वात के सम्पूर्ण या एक दो को छोड़कर सभी गुणों में वृद्धि होती है तब उसे वृद्धतम कहा जाता है। यह वृद्धि कारणानुसार होती है। जैसे—सीधु, ईख, चौलाई, कलाय—ये चारों वातवर्द्धक हैं। पर इनमें सीधु रूक्षता उत्पन्न कर सकता है, ईख रौक्ष्य व शैत्य (रूक्ष व शीत होने के कारण) उत्पन्न करता है, चौलाई रौक्ष्य, शैत्य व लाघव उत्पन्न कर सकती है (रूक्ष, शीत व लघु गुण द्वारा) तथा कलाय वात के सभी गुणों की वृद्धि कर वायु को वृद्धतम अवस्था में पहुँचा देता है। इसी प्रकार अन्य दोष भी विपरीत व समान गुण वाले भिन्न-भिन्न आहार-विहारादि के द्वारा क्षय व वृद्धि को प्राप्त करते हैं। आचार्य सुश्रुत ने इस तथ्य को और भी स्पष्ट किया है—

'सर्वैर्भावैस्त्रिभिर्वाऽपि द्वाभ्यामेकेन वा पुनः ।
संसर्गे कुपितः क्रुद्धं दोषं दोषोऽनुधावति ।।' (सु० सू० २१)

दोष संसर्गावस्था में अपने सभी लक्षणों, तीन लक्षणों, दो लक्षणों अथवा एक लक्षण से कुपित होकर अपने प्रकोप-लक्षण को प्रकट करता है। इस तरह दोष अपने वृद्धि व क्षय को अपने बल के अनुसार स्वलक्षण रूप में प्रकट करते हैं, पर दोषों की वृद्धि, स्थान व क्षय जब तीनों अवस्थायें एक साथ होती है या एक दोष वृद्ध दो दोष क्षीण या दो दोष वृद्ध एक दोष क्षीण होता है तो कुछ विशिष्ट लक्षणों का भी प्रादुर्भाव होता है। जैसे—एक दोष वृद्ध, एक दोष क्षीण व एक दोष स्थान गति को प्राप्त करता है तो स्थानगत दोष के लक्षण भी अन्य दोषों द्वारा प्राप्त गति के आधार पर लक्षण रूप में प्रकट होते हैं। अतः चरकसंहिता में इन अवस्थाओं को प्राप्त दोषों के लक्षणों का उल्लेख निम्न प्रकार से किया गया है। जैसे---वृद्ध वात, स्थानगत पित्त, क्षीण कफ होता है तो वातवृद्धिजन्य लक्षण उत्पन्न होने चाहिए तथा स्थानगत पित्त होने से कुपित पित्त के लक्षण नहीं होने चाहिए; पर ऐसा नहीं होता। इस स्थिति में शरीर में बढ़ा हुआ वात दोष पित्त को स्वस्थान पर नहीं रहने देता, बल्कि पित्त को उसके स्थान से खींच कर शरीर के अन्य स्थान पर गति कराता है। वायु पित्त को जहाँ-जहाँ ले जाती है, उन स्थानों पर अस्थाई रूप से भेद (फटने जैसी पीड़ा) तथा दाहानुभूति होने लगती है तथा शरीर में थकावट व दुर्बलता का अनुभव होने लगता है—

'प्रकृतिस्थं यदा पित्तं मारुतः श्लेष्मणः क्षये।
स्थानादादाय गात्रेषु यत्र यत्र विसर्पति॥
तदा भेदश्च दाहश्च तत्र तत्रानवस्थितः।
गात्रदेशे भवत्यस्य श्रमो दौर्बल्यमेव च॥'

(च० सू० १७।४५-४६)

प्रवृद्ध वायु प्रकृतिस्थ (स्थानगत) पित्त को उसके स्थान (आशय) से खींचकर शरीर में विसर्पण कराती है। इस प्रकार वृद्ध वायु द्वारा अन्य दोष को खींचकर विसर्पण कराने को 'आशयापकर्ष' की संज्ञा दी गई है। आशयापकर्ष का अर्थ होता है, आशय यानि स्वस्थान से खींच लेना या खींचकर बाहर निकाल देना। इसी प्रकार से —

'प्रकृतिस्थं कफं वायुः क्षीणे पित्ते यदा बली।
कर्षेत् कुर्यात्तदा शूलं सशैत्यस्तम्भगौरवम्॥
यदाऽनिलं प्रकृतिगं पित्तं कफपरिक्षये।
संरुणद्धि तदादाहः शूलं चास्योपजायते॥
श्लेष्माणं हि समं पित्तं यदा वातपरिक्षये।
संनिरुन्ध्यात्तदा कुर्याद् सतन्द्रागौरवं ज्वरम्॥

प्रवृद्धो हि यदा श्लेष्मा पित्ते क्षीणे समीरणम् ।
रुन्ध्यात्तदा प्रकुर्वीत शीतकं गौरवं रुजम् ।।
समीरणे परिक्षीणे कफः पित्तं समुत्वगम् ।
कुर्वीत संनिरुन्धानो मृद्वग्नित्वं शिरोग्रहम् ।।
निद्रां तन्द्रां प्रलापं च हृद्रोगं गात्रगौरवम् ।
नखादीनां च पीतत्वं ष्ठीवनं कफपित्तयोः ।।'

(च० सू० १७।४७-५२)

अर्थात् जब कफ सम, पित्त क्षीण व वायु वृद्ध होता है तो वायु समभाव यानि स्वस्थानगत कफ को उसके आशय से अपकर्षण कर अन्य स्थानों में ले जाती है । वायु कफ को जहाँ ले जाती है, उस स्थान पर वेदना, शीतलता, शरीर के उस स्थान पर या शरीर में जकड़ाहट तथा अङ्गों में या शरीर में भारीपन का अनुभव होता है । इसी प्रकार वायु सम, कफ क्षीण व पित्त की वृद्धि होती है तो वृद्ध पित्त द्वारा स्रोतों का अवरोध हो जाता है । स्रोतावरोध होने के कारण वायु का भी मार्ग अवरुद्ध हो जाता है । जिसके परिणामस्वरूप जिस स्थान पर वायु रुक जाती है, उस स्थान में दाह व शूल की उत्पत्ति हो जाती है । जब कफ सम, वात क्षीण और पित्त वृद्धि होती है तो सामान्यावस्था में स्थानगत स्थित कफ का मार्ग वृद्ध पित्त के द्वारा अवरुद्ध हो जाता है, ऐसी स्थिति में कफजन्य लक्षण तन्द्रा व शरीर में भारीपन तथा पित्तजन्य ज्वर की उत्पत्ति होती है । जब वायु सम, पित्त क्षीण व कफ वृद्धि होती है तो कफ के द्वारा वायु का मार्ग अवरुद्ध कर दिया जाता है । कफ द्वारा स्रोतावरोध या मार्गावरोध के कारण जिस स्थान में वायु रुकती है, वहाँ पर शीतलता, गुरुता तथा वेदना की उपत्ति होती है । जब वायु क्षीण, पित्त सम तथा कफ की वृद्धि होती है तब कफ द्वारा स्वस्थानगत पित्त का मार्ग अवरुद्ध कर दिया जाता है, जिसके परिणाम-स्वरूप अग्निमन्दता, शिरःशूल, निद्राधिक्य, तन्द्रा, असम्बद्ध प्रलाप, हृदय रोग, शरीर में भारीपन उत्पन्न होता है । इसके अतिरिक्त नख, नेत्र, मल, मूत्र आदि में पीलापन हो जाता है तथा पित्त को कफ के साथ संपृक्त हो जाने के कारण रोगी बार-बार पित्तमिश्रित कफ का ष्ठीवन करता है ।

२. इसी प्रकार जब दो दोषों की एक साथ वृद्धि होती है तथा एक दोष क्षीणा-वस्था में रहता है, तो इन अवस्थाओं में उत्पन्न लक्षणों का भी आचार्य ने उल्लेख किया है—

'हीनवातस्य तु श्लेष्मा पित्तेन सहितश्चरन् ।
करोत्यरोचकापाको सदनं गौरवं तथा ।।
हृल्लासमास्यस्रवणं दूयनं पाण्डुतां मदम् ।
विरेकस्य च वैषम्यं वैषम्यमनलस्य च ।।

हीनपित्तस्य तु श्लेष्मा मारुतेनोपसंहितः ।
स्तम्भं शैत्यं च तोदं च जनयत्यनवस्थितम् ।।
गौरवं मृदुतामग्नेर्भक्ताश्रद्धां प्रवेपनम् ।
नखादीनां च शुक्लत्वं गात्रपारुष्यमेव च ।।
मारुतस्तु कफेहीने पित्तं च कुपितं द्वयम् ।
करोति यानि लिङ्गानि श्रृणु तानि समासतः ।।
भ्रममुद्वेष्टनं तोदं दाहं स्फुटनवेपने ।
अङ्गमर्दं परीशोषं दूयनं धूपनं तथा ।।
(च० सू० १७।५३-५८)

अर्थात् जब कफ व पित्त वृद्ध हो जाते हैं तथा वायु क्षीण हो जाती है, तब दोनों वृद्ध दोष—कफ व पित्त एक साथ गति करते हैं। पित्त के साथ गति प्राप्त कफ अरुचि (भोजनादि में रुचि नहीं होना), अजीर्णता, शरीर में अवसाद, शरीर में भारीपन आदि उत्पन्न करता है। रोगी हृल्लास (वमन करने जैसी अनुभूति) का अनुभव करता है तथा उसके मुख से लालास्राव होने लगता है। इसके साथ पित्तवृद्धिजन्य लक्षण पाण्डुता, मुखादि प्रदेश में दाहानुभव, मद, अग्नि की विषमता तथा मल-निष्क्रमण की विषमता आदि विकार उत्पन्न होते हैं। इसी प्रकार जब वात व कफ वृद्ध व पित्त में क्षीणता होती है तब वृद्धिप्राप्त वात व कफ द्वारा शरीर में स्तम्भता (शरीर में जकड़ाहट), शीतलता, तोद (सूई चुभाने जैसी पीड़ा का अनुभव) आदि अस्थायी रूप से उत्पन्न होता है। इसके अतिरिक्त कफ-वातजन्य मिश्रित लक्षण, जैसे—गुरुता (शरीर में भारीपन) मन्दाग्नि; भोजन में अरुचि, सम्पूर्ण शरीर में कम्पन आदि लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं। नख, नेत्र, त्वचा, मल व मूत्र का वर्ण परिवर्तित होकर ये शुक्लवर्णीय हो जाते हैं। शरीर में रूक्षता व्याप्त हो जाती है। जब वातपित्त में वृद्धि व कफ का क्षय हो जाता है, तब पित्त व वात सम्पूर्ण शरीर में संचरण करते हैं, जिसके परिणामस्वरूप भ्रम, उद्वेष्टन; तोद, दाह, स्फुटन आदि लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं। रोगी का शरीर काँपने लगता है व पूरे शरीर में वेदना होने लगती है। मुख, कण्ठ, गला में शुष्कता व्याप्त हो जाती है। आतुर मुख में दाह व मुख से धूम निकलने जैसा अनुभव करने लगता है।

३. उपर्युक्त गतियों के विपरीत जब एक दोष बढ़ा हुआ तथा दो दोष एक साथ क्षीण होते हैं, तब निम्न लक्षण उत्पन्न होते हैं।

वातपित्तक्षये श्लेष्मा स्रोतांस्यपिदधद्भृशम् ।
चेष्टाप्रणाशं मूर्च्छां च वाक्सङ्गं च करोति हि ।।
वातश्लेष्मक्षये पित्तं देहौजः स्रंसयच्चरेत् ।
ग्लानिमिन्द्रियदौर्बल्यं तृष्णां मूर्च्छां क्रियाक्षयम् ।।

पित्तश्लेष्मक्षये वायुर्मर्माण्यति निपीडयन् ।
प्रणाशयति संज्ञां च वेपयत्यथवा नरम् ॥

(च० सू० १७।५९-६१)

अर्थात् जब वात-पित्त क्षीण व कफ वृद्ध हो जाता है, तब शरीर में बढ़ा हुआ कफ शरीरगत सभी मार्गों को बन्द कर मार्गावरोध कर देता है। मार्गावरोध हो जाने के कारण शरीरगत चेष्टाओं का नाश हो जाता है, रोगी चेष्टानाश के साथ ही मूर्च्छायुक्त हो जाता है और उसकी वाणी अवरुद्ध हो जाती है।

जब वात-कफ क्षीण व पित्त वृद्ध हो जाता है, तब पित्त सम्पूर्ण शरीर में संचरण करते हुए प्रथमतः ओज का नाश करता है। ओज का नाश होने से ग्लानि का अनुभव होने लगता है। प्यास अधिक लगने लगती है, इन्द्रियाँ दुर्बल हो जाती हैं। इन लक्षणों के साथ-साथ शारीरिक क्रियाओं का ह्रास होने लगता है तथा रोगी मूर्च्छा को प्राप्त करता है। इसी प्रकार जब पित्त-कफ क्षीण व वायु की वृद्धि हो जाती है, तब वृद्धि को प्राप्त वायु मर्मस्थानों को पीड़ित करती हुई रोगी को मूर्च्छित कर देती है। ज्ञान का नाश हो जाता है तथा व्यक्ति के शरीर में कम्पन होने लगता है।

दोषों की दूसरी गति—दोषों की दूसरे प्रकार की गति ऊर्ध्व, अधः तथा तिर्यक् कही गई है। वृद्धि को प्राप्त दोष जब प्रसरादि करते हैं, तो उनकी गति अपने नियत स्थान से ऊपर की ओर या ऊपरी प्रदेशों में होती है—इसे ही ऊर्ध्व गति कहा जाता है। यदि यह गति नीचे की ओर यानि अधःप्रदेश की ओर होती है, तो उसे अधःगति कहा जाता है तथा जब दोष ऊपर या नीचे की ओर गमन या प्रसरादि न कर तिरछे या पार्श्वादि ऊर्ध्व एवं अधोशाखा की तरफ गति करते हैं, तो उसे उस दोष की तिर्यक् गति कहा जाता है। जैसे—रक्तपित्त रोग में। जब शरीर में पित्त दोष की वृद्धि होती है, तो वह पित्त रक्त का कतिपय अंशों में समानधर्मी होने के कारण रक्त को दूषित कर देता है, जिससे इसकी अधिकाधिक वृद्धि होकर गति प्राप्त कर लेता है। जब इसकी गति ऊर्ध्वप्रदेशगत मुख, नासा मार्गों से होती है, तो इसे ऊर्ध्वग रक्तपित्त कहा जाता है तथा जब अधोप्रदेशगत मल व मूत्र मार्गों द्वारा इसकी प्रवृत्ति होती है तो अधोग रक्तपित्त कहा जाता है। अत्यधिक कुपितावस्था में इसकी गति दोनों मार्गों द्वारा होती है। '……मार्गौ पुनरस्य द्वौ-ऊर्ध्वं चाधश्च।……ऊर्ध्वं प्रतिपद्यमानं मूत्रपुरीषमार्गाभ्यां प्रच्यवते…तौ मार्गौ प्रतिपद्यमानं…'—च० नि० २।८। इसके अतिरिक्त जब रक्तपित्त की तिर्यक् गति होती है, तो शरीर के सम्पूर्ण छिद्रों व रोमकूपों के मार्ग से निकलने लगता है, जिसे मृत्युकारक होने के कारण आन्तिकी गति भी कहा जाता है—

'यदा तु सर्वच्छिद्रेभ्यो रोमकूपेभ्य एव च ।
वर्तते तामसङ्ख्येयां गतिं तस्याहुरान्तिकीम् ॥' (च० चि० ४।१७)

दोषों की कोष्ठादि की गति—दोषों की तीसरे प्रकार की गति कोष्ठ शाखा व मर्मास्थिसंधि कहा गया है। कोष्ठ को आचार्य चरक ने महास्रोत कहा है—'कोष्ठः पुनरुच्यते महास्रोतः शरीरमध्यं महानिम्नमामपक्वाशयश्च पर्यायशब्दैस्तन्त्रे'—च० सू० ११।४८। इसे आभ्यन्तर रोगमार्ग कहा जाता है। इसके अन्तर्गत शरीर का मध्य-भाग आमाशय, पक्वाशयादि का ग्रहण होता है। आचार्य सुश्रुत ने कोष्ठ से आमाशय अग्न्याशय, पक्वाशय, रक्ताशय, हृदय, उण्डुक व फुफ्फुस का ग्रहण किया —

स्थानान्यामाग्निपक्वानां मूत्रस्य रुधिरस्य च ।
हृदुण्डुकः फुफ्फुसश्च कोष्ठ इत्यभिधियते ॥
(सु० शा० २।१८)

शाखा से यहाँ रक्तादि धातुओं का ग्रहण होता है—'तत्र शाखा रक्तादयो धात-वस्त्वक् च स बाह्यरोग मार्गः।' अर्थात् रक्तादि धातुओं व त्वचा को शाखा कहा जाता है, इसे वाह्य रोग मार्ग भी कहा जाता है। अस्थि संधि मर्मादि के साथ स्नायुकण्डरादि का भी ग्रहण किया जाता है। दोषों की प्रस्तुत गति का विस्तृत वर्णन पुस्तक के प्रथम भाग में 'त्रिरोगमार्ग वाद' के अन्तर्गत किया जा चुका है तथा इन तथ्यों के प्रत्येक पहलुओं पर विस्तृत व्याख्यान प्रस्तुत किया जा चुका है अतः पाठक विस्तृत जानकारी के लिए प्रथम भाग के 'त्रिरोगमार्गवाद' का अवलोकन करें।

दोषद्विविधगति

दोषों की उपर्युक्त विवेचन में तीन गतियों का वर्णन किया गया है। आचार्य अग्निवेश ने इन गतियों के अतिरिक्त दोषों की दो गतियों का भी उल्लेख किया है। ये गतियाँ प्राकृती गति एवं वैकृती गति है।

'……गतिश्च द्विविधा दृष्टा प्राकृती वैकृती च या'—च० सू० १७।११५।

दोष जब स्वस्थान में रहकर अपने विहित कर्मों का सम्पादन करते हैं तो इस तरह की गति को प्राकृती गति कहा जाता है। यह गति स्वस्थ व्यक्तियों में होती है, क्योंकि प्राकृतावस्था (Normal condition) में रहकर दोष अपने प्राकृत कर्मों (Normal fuuctions) को करते हैं तथा वैकृती गति दोषप्रकोपजन्य असामान्य गति (Abnormal) होती है। वैकृती गति व्यक्ति के रुग्णावस्था या असामान्या-वस्था (Abnormal condition) का द्योतक है। चरकसंहिता में दोषों की प्राकृती एवं वैकृती गति का वर्णन निम्न रूप में प्राप्त होता है—

दोष	प्राकृतीगति	वैकृतीगति
१. वात	(a) वात जब प्राकृती गति करता है तभी शरीर की सभी प्रकार के चेष्टाओं का सम्यक् रूपेण सम्पादन होता है । (b) वात की प्राकृती गति को ही प्राणियों का प्राण कहा गया है ।[१] अर्थात् प्राण का संचार वात के प्राकृती गति से ही होता है ।	(a) जब वायु की वैकृती गति होती है तो वातजन्य अनेक व्याधियाँ उत्पन्न होती हैं । (b) वात की वैकृती गति से व्यक्तिविशेष की मृत्यु भी हो जाती है ।[१]
२. पित्त	(a) पित्त की प्राकृती गति से ही आहार का पाचन होता है । (b) अग्निस्वरूप पित्त का कार्य प्राकृतीगति द्वारा ही संभव होता है ।[२]	पित्त की वैकृती गति से अनेक प्रकार की पित्तजन्य व्याधियाँ उत्पन्न होती हैं ।[२]
३. कफ	(a) कफ की प्राकृती गति को ही बल (व्याधिक्षमतादि) कहा जाता है। (b) प्राकृतावस्थागत वा प्राकृती गति प्राप्त कफ को ही ओज (व्याधि क्षमता के प्रति उत्तरदायी घटक) कहा जाता है ।[३]	(a) कफ की वैकृती गति में मल स्वरूप कफ का निष्क्रमण होता है । (b) कफ की वैकृती गति को पाप कहा जाता है ।[३]

वात, पित्त, कफ की प्राकृतावस्था व प्राकृत कर्मों का वर्णन पुस्तक के प्रथम भाग में किया जा चुका है तथा इनके द्वारा उत्पन्न विभिन्न व्याधियों का वर्णन 'नानात्मज-विकारवाद' के अन्तर्गत किया जायेगा । यहाँ आचार्य ने संक्षिप्त निर्देश दिया है कि दोषों के प्राकृत कर्मों का सम्यक् सम्पादन ही प्राकृती गति है तथा दोषों द्वारा व्याध्युत्पादक प्रक्रिया ही वैकृती गति है । इन दोषों द्वारा किये गये सारे सामान्य तथा असामान्य कर्मों के परिणाम को ही प्राकृती व वैकृती गति के रूप में उल्लिखित किया गया है ।

---

१. सर्वा हि चेष्टा वातेन स प्राणः प्राणिनां स्मृतः ।
तेनैव रोगा जायन्ते तेन चैवोपरुध्यते ॥

(च० सू० १७।११८)

२. पित्तादेवोष्मणः पक्तिर्नराणामुपजायते ।
तच्चं पित्तं प्रकुपितं विकारान् कुरुते बहून् ॥ (च० सू० १७।११६)

३. प्राकृतस्तु बलं श्लेष्मा विकृतो मल उच्यते ।
स चैवोजः स्मृतः काये स च पाप्मोपदिश्यते ॥ (च० सू० १७।११७)

द्विविध व त्रिविध दोषगति के ज्ञान की उपादेयता

यद्यपि द्विविध व त्रिविध गति का वर्णन अलग-अलग स्वतंत्र शीर्षक में किया गया है, पर इसकी उपादेयता पर एक साथ ही प्रकाश डालना आवश्यक प्रतीत होता है, क्योंकि दोनों प्रकार की गतियाँ एक-दूसरे से सम्बन्ध रखने वाली हैं। प्रथमतः प्राकृती व वैकृती गति की उपादेयता पर विचार करना उचित प्रतीत होता है। क्योंकि आचार्य चरक ने कहा है कि—

'नित्याः प्राणभृतां देहे वातपित्तकफास्त्रयः ।
विकृताः प्रकृतिस्था वा तान् बुभुत्सेत पण्डितः ॥'

(च० सू० १८।४८)

अर्थात् प्राणियों के शरीर में ये वात, पित्त, कफ तीनों सदैव विद्यमान रहते हैं। इनकी विद्यमानता दो अवस्थाओं में होती है। एक तो प्राकृतावस्था (Normal condition) में तथा दूसरी विकृतावस्था (Abnormal condition) में। अतः विद्वान् वैद्यों को इनको जानने के लिए सदैव ही जिज्ञासा करते रहना चाहिए। आचार्य वाग्भट ने भी इसी तरह स्पष्ट रूप से निर्देश दिया है कि—ये वात, पित्त, कफ शरीर के ऊर्ध्व भाग (हृदय से ऊर्ध्व वा हृदयान्त से ऊर्ध्वभाग) में कफ, मध्यभाग (हृदय और नाभि के मध्यभाग में) में पित्त तथा अधोभाग (नाभि के अधोभाग) में वात रहकर प्राकृतावस्था में देह को धारण करते हैं तथा विकृतावस्था में देह का नाश कर देते है।

'ते व्यापिनोऽपि हृन्नाभ्योरधोमध्योर्ध्वसंश्रयाः ।
विकृताऽविकृता देहं घ्नन्ति ते वर्तयन्ति च ॥' (अ० हृ० सू० १)

इस प्रकार शरीर में ये दोष स्थित रहते हैं चाहे व प्राकृत रूप में हो या विकृतावस्था में हों। यदि दोषों के विकृतावस्था की जानकारी नहीं रहेगी तो उत्पन्न विकारों का यथोचित उपचार न होने से ये शरीर का नाश कर देते हैं। इनके वैकृती गति का ज्ञान तभी हो सकता है, जब इनके प्राकृती गति का ज्ञान हो। यदि इन दोनों गतियों का ज्ञान ही नहीं रहेगा तो चिकित्सा किसकी होगी ? क्योंकि प्रकुपित दोषों को (वैकृती गतिप्राप्त) शांत कर प्राकृती गति से युक्त करना ही वैद्य का उद्देश्य होता है। यदि प्राकृती गति का ज्ञान नहीं रहेगा तो यह समझा ही नहीं जा सकता कि अब व्यक्तिविशेष को चिकित्सा की आवश्यकता है या नहीं। जैसे—किसी आतुर ने यह शिकायत की हो कि उसे कफ का ष्ठीवन होता है। यहाँ ष्ठीवन से मलरूप कफागम होता है। यदि वैद्य को यह पता नहीं है कि मलरूप कफ का आना कौन-सी गति है ? या वैकृती गति में क्या हो सकता है ? ष्ठीवन द्वारा निकलने वाला कफ मलरूप कफ है या प्राकृत ? आदि। तो फिर उस आतुर की चिकित्सा कैसे

सम्भव हो सकती है। शास्त्रों में इन दोषों के प्राकृत कर्मों के साथ इनके विकृत कर्मों का भी उल्लेख किया गया है। जब उन विकृत कर्मों का ज्ञान नहीं रहेगा तो फिर चिकित्सा अशक्य है। वात, पित्त, कफ के सामान्य कर्म (प्राकृत कर्म) का ज्ञान है; पर किस दोष के कौन से विकृतकर्म हैं, यदि इसकी जानकारी नहीं है तो सम्यक् चिकित्सा नहीं हो पायेगी। कदाचित् औषधि-प्रभाव से कुछ लाभ हो जाय, यह बात अलग है। इसलिए शास्त्रकारों ने इन दोषों के प्राकृत कर्मों के साथ इनके विकृत कर्मों (वैकृती गति) का भी निर्देश दिया है, ताकि वैद्य उसका ज्ञान प्राप्त कर उसकी उपादेयता प्राप्त करें। चरकसंहिता के वातकलाकलीयाध्याय में इसीलिए वात के प्राकृत व विकृत दोनों कर्मों का निर्देश दिया गया है। प्राकृत कर्मों का तो वर्णन प्रथम भाग में किया जा चुका है; अतः उपादेयता को ध्यान में रखकर विकृत कर्मों का विवरण शास्त्राधार पर दिया रहा है।

शरीरगत वायु के विकृत कर्म (वैकृती गति)— 'कुपितस्तु खलु शरीरे शरीरं नानाविधैर्विकारैरुपतपति बलवर्णसुखायुषामुपघाताय मनोव्याहर्षयति, सर्वेन्द्रियाण्युपहन्ति, विनिहन्ति गर्भान् विकृतिमापादयत्यतिकालं वा धारयति, भयशोकमोहदैन्यातिप्रलापाञ्जनयति, प्राणांश्चोपरुणद्धि।' (च० सू० १२)

अर्थात् विकृत वायु (१) बल, वर्ण, सुख व आयु का नाश करती है। (२) मन को दुःखी करती है। (३) सभी इन्द्रियों के शक्ति का नाश करती है। (४) गर्भ को नष्ट करती है। (५) गर्भ में विभिन्न विकृतियाँ उत्पन्न करती है। (६) गर्भ को गर्भाशय में सुखाकर उसे बहुत दिनों तक धारण कराती है। (७) मन में भय, शोक, दैन्य, मोह उत्पन्न करती है। (८) अतिशय प्रलापोत्पादन करती है (९) प्राण को नष्ट कर देती है। इसके अतिरिक्त चरकसंहिता, सूत्र अ० २० में स्रंस-भ्रंशादि विकृत कर्मों का विशद विवेचन प्राप्त होता है, जिसका यथास्थान वर्णन किया जायेगा। इसी प्रकार पित्त के अपक्ति, अदर्शन, ऊष्माभाव, क्रोधादि विकृत कर्मों का तथा कार्श्य, अनुत्साह, क्लीबता, अज्ञानादि कफ के विकृत कर्मों का उल्लेख किया गया है। इन विकृत कर्मों की जानकारी उपादेय ही नहीं आवश्यक भी है क्योंकि जब तक यह ज्ञात नहीं रहेगा कि क्लीबता, क्रोध, व्याहर्षादि किस दोषविशेष की विकृति से उत्पन्न होते हैं तब तक चिकित्सा नहीं की जा सकती है।

त्रिविध दोषगति ज्ञान की उपादेयता

जिस प्रकार द्विविध दोषगति की उपादेयता पर विचार किया गया है, उसी प्रकार त्रिविध दोषगति का ज्ञान भी उपादेय है। त्रिविध दोषगति में 'कोष्ठशाखादि गति की उपादेयता का विस्तृत वर्णन पुस्तक के प्रथम भाग में 'त्रिरोगमार्गवाद' के अन्तर्गत किया जा चुका है, अतः उस पर पुनः प्रकाश डालना अपेक्षित नहीं है। आयुर्वेदीय

चिकित्सा की व्यावहारिकता में दोषों की क्षय स्थान वृद्धि गति का ज्ञान बहुत ही उपादेय है।

(१) यदि आचार्य विजयरक्षित (माधवनिदान के टीकाकार) के वचन—'तथाविधदोषदूष्यसम्मूर्च्छनाविशेषो ज्वरादिरूपो व्याधिः' पर विचार किया जाता है तो इसका अर्थ होता है कि दोष और दूष्यों का जब विशिष्ट संयोग होता है तो उसे व्याधि कहा जाता है। आचार्य विजयरक्षित लक्षणसमूह को व्याधि मानने के पक्ष में नहीं है। फिर भी उन्होंने 'खदिरतरूणां वनम्' का उदाहरण देकर दोनों में सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयास किया है। यदि विजयरक्षित द्वारा व्याधि की दी गई मान्यता को आचार्य सुश्रुतोक्त क्रियाकाल के परिप्रेक्ष्य में देखा जाय तो दोषों के स्थानसंश्रय की अवस्था से व्याध्युत्पत्ति की प्रक्रिया होती है। इस प्रकार क्रियाकाल को दो अवस्थाओं में वर्गीकृत किया जा सकता है—(१) दोषावस्था—इसमें संचय, प्रकोप व प्रसर तीन अवस्थायें होती हैं, जिसमें किसी विशिष्ट व्याधि का बोध न होकर दोषजन्य लक्षण ही उत्पन्न होते हैं। (२) व्याध्यावस्था—इसमें दोष जब दूष्यों के साथ संयोग करते हैं अर्थात् स्थानसंश्रित होते हैं तब भेदावस्था तक की अवस्था होती है। इसमें विशिष्ट व्याधि के पूर्वरूप, रूपादि का ज्ञान होता है।

जब तक दोष प्रसरावस्था में रहता है, तब तक दोषानुसार ही चिकित्सा अपेक्षित होती है। जब दोषों के स्थान, क्षय, वृद्धि आदि का ज्ञान रहेगा तभी यह संभव है। जब शरीरस्थ किसी दोष की वृद्धि होती है तो यह ज्ञान अपेक्षित होता है कि दोषों की वृद्धि कितने अंश तक हुई है या क्षय कितने अंश तक है। यदि वैद्य को वृद्धि-क्षयजन्य दोषों की गति ज्ञात है तो किसी विशिष्ट व्याधि के उत्पन्न होने के पूर्व ही दोषों का शमन कर स्वास्थ्यरक्षण किया जा सकता है। वृद्धि या क्षय प्राप्त दोष स्वस्थान में आसानी से लाया जा सकता है, पर यदि वृद्ध दोष स्थानसंश्रित होकर व्याधि विशेष के भेदावस्था तक पहुँचता है तो उसकी चिकित्सा कठिन हो सकती है। अतः आचार्य सुश्रुत ने कहा है कि—

'संचयेऽपहृता दोषाः लभन्ते नोत्तरा गतिः।
ते तूत्तरासु गतिषु भवन्ति बलवत्तराः॥' (सु० सू० २१।३१)

अर्थात् दोषों के संचय (वृद्धिजन्य लक्षण के प्रारम्भ) होते ही उनका निर्हरण कर देना चाहिए, नहीं तो उत्तरोत्तर वे क्रमशः बलवान् होते जाते हैं। इसके अतिरिक्त आचार्य ने पुनः कहा है कि—

'क्रमेणोपचयं प्राप्तो धातूननुगतः शनैः।
न शक्य उन्मूलयितुं वृद्धो वृक्ष इवामयः॥
स स्थिरत्वान्महत्त्वाच्च धात्वनुक्रमणेन च।
निहन्त्यौषधवीर्याणि मन्त्रान् दुष्टग्रहो यथा॥' (सु० सू० २३।१५-१६)

अर्थात् वृद्धि को प्राप्त संचित दोष प्रथमतः अणु रूप में ही होता है फिर क्रम से गंभीर धातु में प्रवेश कर जाता है, जो कि स्थिर और अधिक विस्तृत हो जाता है। फिर जिस प्रकार से दृढ़ वृक्षमूल को उच्छेदित करना कठिन होता है, तथा दुष्ट ग्रह का प्रभाव मन्त्रों से विफल हो जाता है, उसी प्रकार धातुगत स्थिर व विस्तृत दोषों में प्रयुक्त औषधियाँ विफल हो जाती हैं। अतः वैद्य को सदैव वृद्धिक्षय स्थान गति का ज्ञान प्राप्त करने में प्रयत्नरत रहना चाहिए ताकि धातुओं से दोषों की सम्मूर्छना के पूर्व ही उनका निर्हरण किया जा सके। आचार्य चरक ने भी इसी तरह का निर्देश किया है—

'अणुर्हि प्रथमं भूत्वा रोगः पश्चाद् विवर्धते।
स जातमूलो मुष्णाति बलमायुश्च दुर्मतेः॥
तस्मात् प्रागेव रोगेभ्यो रोगेषु तरुणेषु वा।
भेषजैः प्रतिकुर्वीत य इच्छेत् सुखमात्मनः॥'

(च० सू० ११।५८-६३)

(२) जब वैद्य को दोषों के वृद्धि, क्षय, स्थानादि का ज्ञान सम्यक् रूप से रहता है तभी वह द्वन्द्वज या त्रिदोषज व्याधियों में यह निश्चय कर पाता है कि किस दोष की कितनी वृद्धि है या किस दोष का कितना क्षय हुआ है। सन्निपातावस्था में दोषों की वृद्धि या वृद्धितर या वृद्धितम अवस्थाओं का ज्ञान अत्यावश्यक है, क्योंकि सन्निपात की चिकित्सा-व्यवस्था पूर्णरूपेण अंशांश कल्पना पर ही आधारित होती है। दोषों के तेरह सन्निपातों की उपादेयता ज्वराधिकार में ज्वर के तेरह सन्निपात के रूप में वर्णित की गई है। जैसे—यदि आतुर को भ्रम, प्यास, दाह, शरीर में भारीपन, शिरःशूल आदि लक्षणों के साथ ज्वर है तो इस स्थिति में यह ज्ञान होना चाहिए कि इस अवस्था में वात, पित्त की वृद्धि है तथा कफ क्षीण है[1]। जब इस प्रकार का ज्ञान रहता है तब यथोचित चिकित्सा-व्यवस्था की जा सकेगी, जिससे वात, पित्त का शमन व कफ की वृद्धि हो। इसी प्रकार यदि आतुर सन्धि, अस्थि व शिरःशूल से पीड़ित है, प्रलाप कर रहा है, शरीर में गौरव, तृषा, कण्ठ, मुख में शुष्कता, भ्रम है तो यह ज्ञान होना चाहिए कि इस अवस्था में वात दोष की वृद्धि है तथा कफ दोष का क्षय है।[2] सन्निपातावस्था में यह भी ज्ञान आवश्यक होता है कि --किस दोष की वृद्धि है, कौन दोष मध्य व किस दोष का क्षय है। जैसे—जिस ज्वर में प्रतिश्याय,

---

१. भ्रमः पिपासा दाहश्च गौरवं शिरसोऽतिरुक्।
वातपित्तोल्वणे विद्याल्लिङ्गं मन्दकफेज्वरे॥ (च० चि० ३।९१)

२. सन्ध्यस्थिशिरसः शूलं प्रलापो गौरवं भ्रमः।
वातोल्वणे स्याद् द्वयनुगे तृष्णा कण्ठास्यशुष्कता॥ (च० चि० ३।९४)

वमन, आलस्य, तन्द्रा, अरुचि व अग्निमांद्य हो तो इस अवस्था में कफ वृद्ध, पित्त मध्य व वात क्षीण होता है।[१] इस प्रकार वैद्य को जब तक दोषों के वृद्धि-क्षयजन्य लक्षणों का ज्ञान नहीं होगा तब तक चिकित्सा संभव नहीं है। क्योंकि सन्निपात की चिकित्सा क्षीण दोष को बढ़ाकर और बढ़े हुए दोष को ह्रास करके या स्थानानुसार होती है। इसमें कुपित दोषों को तर, तम व सम रूप में विधिवत् समझकर ही चिकित्सा करनी चाहिए।[२]

(३) दोषों के प्रसरावस्था तक (दोषों का धातुओं से सम्मूर्छना से पूर्व) जो लक्षणसमूह उत्पन्न होते हैं, उनकी चिकित्सा दोषानुसार होती है। कतिपय ऐसी स्थितियाँ होती हैं, जब आतुर में स्वस्थानगत दोष के ही लक्षण प्राप्त होते हैं। वैद्य को जब दोषों की गतियों का सम्यक् ज्ञान नहीं होता तो वे उस लक्षण की चिकित्सा स्वस्थानगत दोष के अनुसार ही करते हैं, जिससे आतुर को लाभ नहीं हो पाता। विशेषकर आशयापकर्षजन्य लक्षणों में अज्ञानी वैद्य भ्रमित हो जाते हैं। जैसे—एक आतुर ने विभिन्न आधुनिक चिकित्सकों व वैद्यों से सम्पर्क किया। उसकी शिकायत थी—कि थोड़े से परिश्रम से थकावट व दुर्बलता का अनुभव होता है तथा शरीर में स्थान बदल-बदल कर जलन व कुछ पीड़ा का अनुभव होता है। जहाँ जलन व पीड़ा होती है वहाँ ऐसा अनुभव होता है कि अन्दर कोई व्रण हो। आतुर महिला थी। आधुनिक चिकित्सक उसे मनोविकार (Psychogenic) कहकर एकाध नींद की औषधि देकर टाल दिये। घर वाले समझते थे कि घरेलू कार्य न करना पड़े; इसलिए यह दुर्बलता व थकावट आदि की शिकायत कर रही है; किन्तु वास्तविकता ऐसी नहीं थी। अतः एक दो वैद्यों ने भी जलन की शिकायत के आधार पर अच्छी से अच्छी पित्तशामक औषधि दिया। एक-दो दिन तो आतुर को आराम मिला पर पुनः वही शिकायत प्रारम्भ हो गई। मैं (लेखक) राजकीय आयु० चिकित्सालय, डेहरी आनसोन में आयुर्वेद की स्नातकोत्तर शिक्षा पूर्ण करके थोड़े दिन पूर्व ही चिकित्सक के रूप में बैठा था। मैं न तो उसे मनोजन्य रोगी ही कह सकता था न ही यह कह सकता था कि रुग्णा रोगरहित है, जो कि उसके अभिभावक चाहते थे। मैंने उसे दूसरे दिन आने को कहा। अचानक आशयापकर्ष दोष

---

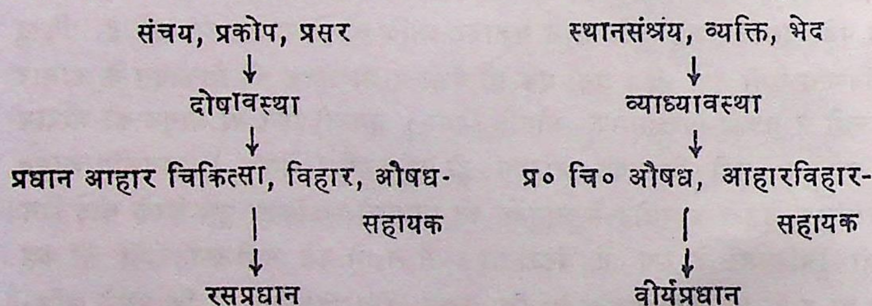
१. प्रतिश्या छर्दिरालस्यं तन्द्राऽरुच्यग्निमार्दवम्।
हीनवाते पित्तमध्ये लिङ्गं श्लेष्माधिके मतम्॥ (च० चि० ३।९७)

२. संसृष्टान् सन्निपतितान् बुद्ध्वा तरतमैः समैः।
ज्वरान् दोषक्रमापेक्षी यथोक्तैरौषधैर्जयेत्॥
वर्धनेनैकदोषस्य क्षपणेनोच्छ्रितस्य वा।
कफस्थानानुपूर्व्या वा सन्निपातज्वरं जयेत्॥ (च० चि० ३।२८५-८६)

विवरण पढ़ते ही मुझे सम्पूर्ण लक्षणों का ज्ञान हुआ। उसे बलामूल का क्वाथ दिया गया। मात्र इसी एक औषधि से कुछ दिनों में रुग्णा ठीक हो गई, क्योंकि चिकित्सा वात दोष की हुई। तब से मेरा ध्यान चिकित्सा में सदैव इन दोषों की गतियों के तरफ रहता है। उपर्युक्त उदाहरण से ही ज्ञात होता है कि दोषों की गतियों का ज्ञान कितना उपादेय है।

(४) इसी तरह कतिपय आतुर दोषों के संचय, प्रकोप या प्रसरावस्था से ही चिकित्सक के पास आते हैं। इन स्थितियों में कुछ लक्षण अनवस्थित (अस्थिर) होते हैं तथा ऐसे आतुरों को दुर्मना, मनोदैन्य आदि कहकर टाल दिया जाता है। यदि वैद्य इन दोषों का गतिज्ञान रखते हैं तो वे इन आतुरों को स्वस्थ कर यश प्राप्त कर सकते हैं, क्योंकि इन अवस्थाओं में शारीरिक परीक्षा में किसी अङ्गविशेष में विकृति न होने से वैद्य भ्रमित हो जाते हैं।

(५) आहार चिकित्सा में दोष-गति की उपादेयता—आयुर्वेद में 'औषधान्नविहारा-णामुपयोगं सुखावहम्' उपशय के लिए तीन सुखदायक उपायों का उल्लेख किया गया है। किसी भी व्याधि में औषधि के साथ अन्न व विहार की भी व्यवस्था की जाती है। विभिन्न व्याधियों में मुख्य चिकित्सा व्यवस्था औषधि द्वारा की जाती है तथा सहायक चिकित्सा के रूप में पथ्यापथ्य के अन्तर्गत आहार (अन्न) व विहार-विशेष का भी आवश्यक रूप से निर्देश दिया जाता है। यदि सुश्रुतोक्त क्रियाकाल को चिकित्सा का आधार बनाया जाय तो निम्नरूप में चिकित्सा व्यवस्था हो सकती है।



आयुर्वेद में अन्न को रसप्रधान व औषधि को वीर्यप्रधान माना जाता है। दोषों की चिकित्सा (प्रसरावस्था तक) रसों द्वारा ही होती है। चरकसंहिता के विमान स्थान, अध्याय एक 'रसविमानाध्याय' में दोषों की चिकित्सा में रस की प्रधानता का विशद वर्णन किया गया है तथा रस-प्रकरण में ही आठ आहारायतनों का वर्णन कर आहार चिकित्सा का क्षेत्र (Scope) निर्धारित किया गया है। दोषों की रसों द्वारा ही चिकित्सा विहित है। इस तथ्य का इससे महत्त्वपूर्ण प्रमाण और क्या हो सकता है कि दोषों की अंशांश कल्पना के आधार पर ही रसों की भी विकल्पनायें की गई हैं। यहाँ ध्यातव्य है कि दोषों की बासठ (६२) कल्पनायें होती हैं तथा रसों

की तिरसठ (६३) विकल्पनायें होती हैं। जिसमें रसों की अंतिम विकल्पना का महत्त्व छः रसों के एक साथ संयोग (षड्रस) का स्वास्थ्यरक्षण में है। शेष रसों की (६२) विकल्पनायें दोषों की बासठ (६२) अवस्थाओं की चिकित्सा हेतु ही हैं। दोष के एक अवस्था-विशेष की चिकित्सा हेतु रस की एक विशिष्ट विकल्पना होती है। आचार्य चरक ने स्पष्टतया कहा है कि—

'क्वचिदेको रसः कल्प्यः संयुक्ताश्च रसाः क्वचित्।
दोषौषधादीन् संचिन्त्य भिषजा सिद्धिमिच्छता॥
द्रव्याणि द्विरसादीनि संयुक्ताश्च रसान् बुधाः।
रसानेकैकशो वाऽपि कल्पयन्ति गदान् प्रति॥
यः स्याद्रसविकल्पज्ञः स्याद् दोषविकल्पवित्।
न स मुह्येद्विकाराणां हेतुलिङ्गोपशान्तिषु॥'

(च० सू० २६।२५-२७)

अर्थात् जो वैद्य चिकित्सा क्षेत्र में सफलता प्राप्त करना चाहता है या सफल चिकित्सक बनना चाहता है तो उसे दोष और औषध का विचार कर आवश्यकतानुसार दोषाधार पर एक रस या एक से अधिक संयुक्त रसों का प्रयोग करना चाहिए। विद्वान् चिकित्सक विभिन्न रोगों में दो या अधिक संयुक्त रस वाले द्रव्यों की कल्पना करते हैं तथा एक-एक रस की अलग-अलग कल्पना करते हैं। जो चिकित्सक दोषों के विभिन्न विकल्पों (विभिन्न क्षय-वृद्धिजन्य अवस्थायें अंशांश-कल्पना के आधार पर) को जानता है तथा रसों के विकल्पों को भी भलीभाँति जानता है वह चिकित्सक रोगों के कारण, लक्षण व चिकित्सा में कभी भी असफल नहीं होता अर्थात् सदैव सफल ही होता है। दोषों के कल्पना-ज्ञान से रोगों का लक्षण ज्ञात होता है, क्योंकि रोगों के सम्पूर्ण लक्षण दोष-विकल्प के अनुसार ही होते हैं। इसी तरह प्रत्येक दोष-विकल्प हेतु रस-विकल्पों की विशेष जानकारी रहती है तो चिकित्सा सदैव सफल होती है। रसों व दोषों का सम्बन्ध प्रकाशित करते हुए आचार्य ने कहा है—'रसदोषसन्निपाते तु ये रसा यैर्दोषैः समानगुणाः समानगुणभूयिष्ठा वा भवन्ति ते तानभिवर्धयन्ति, विपरीतगुणा विपरीतगुणभूयिष्ठा वा शमयन्त्यभ्यस्यमाना इति। एतद्व्यवस्थाहेतोः षट्त्वमुपदिश्यते रसानां परस्परेषासंसृष्टानां, त्रित्वं च दोषाणाम्। संसर्गविकल्पविस्तरो ह्येषामपरिसंख्येयो भवति, विकल्पभेदापरिसंख्येयत्वात्।'—च० वि० १।७-८। अर्थात् रस शरीर में जाकर दोषों से सम्पर्क करते हैं। जब रस दोष से सम्पर्क करते हैं तो रस जिस दोष के समान गुण वाला होता है, उस दोष की गुणों में वृद्धि करते हुए वृद्धि करता है तथा तथा जो रस जिन दोषों के विपरीत गुणों वाला होता है अथवा अधिक अंशों में गुणों की विपरीतता वाला होता है, तो वह रस उन दोषों का

शमन करने वाला या शांत करने वाला होता है। यह प्रक्रिया तभी होती है, जब रस का अनवरंत सेवन किया जाता है। रसों व दोषों में इस प्रकार के सम्बन्ध के कारण ही पृथक्-पृथक् रसों की संख्या छः तथा पृथक् पृथक दोषों की संख्या तीन होती है। पर इन दोषों व रसों के विकल्प-विस्तार तरतम योग से असंख्य होते हैं। प्रकृतसम-समवेतसिद्धान्तानुसार—अनेक रसवाले द्रव्यों में और अनेक दोषों से उत्पन्न होने वाली व्याधियों में, रस और दोष का स्वतन्त्ररूप से अलग-अलग विचार कर द्रव्य व रोग के प्रभाव को सुनिश्चित किया जाता है, अर्थात् सम्मिलित रस व दोष के घटकों पर पृथक्-पृथक् विचार किया जाता है। अर्थात् यदि दो दोष संयुक्त रूप से विकार उत्पन्न करते हैं, तो उन दोनों दोषों का स्वतन्त्र विचार कर उनके अनुसार प्रभावी रसों पर विचार कर विशेष रसों के संयोग वाले द्रव्य का प्रयोग किया जाता है, जैसा कि इस वचन से पुष्ट होता है—'तत्र खल्वनेकरसेषु द्रव्येष्वनेकदोषात्मकेषु च विकारेषु रसदोषप्रभावमेकैकश्येनाभिसमीक्ष्य, ततो द्रव्यविकारयोः प्रभावतत्वं व्यवस्येत्'—च० वि० १।९। किन्तु सभी स्थितियों में ऐसा नहीं होता है—'न त्वेवं खलु सर्वत्र।' क्योंकि विकृत विषय समवायरूप से मिले हुए एवं आपस में उपघात को प्राप्त और दूसरे भेद करने वाले उपायों से भिन्न हुए, रसों के अवयव के प्रभाव के अनुमान से ही समुदाय के प्रभाव के तत्त्व का निश्चय संभव नहीं होता है 'न हि विकृतिविषमसमवेतानां नानात्मकानां परस्परेण चोपहतानामन्यैश्च विकल्पनैर्विकल्पितानामवयवप्रभावानुमानेनैव समुदायप्रभावतत्त्वमध्यवसातुंशक्यम्'—च० वि० १।१०।

दोषों की ऊर्ध्व-अधो-तिर्यक् गति-ज्ञान की उपादेयता

दोषों के ऊर्ध्व, अधो व तिर्यक् गति का ज्ञान चिकित्सक के लिए आवश्यक है। इसमें दोषों के गति की दिशा (Direction) का ज्ञान होता है। जैसे—रक्तपित्त रोग में सम्पूर्ण चिकित्सा का आधार, रोग की साध्यासाध्यता आदि दोषों की गतियों पर ही निर्भर करती है। इसका गति के आधार पर भेद किया गया है। ऊर्ध्व मार्ग से प्रवृत्त रक्तपित्त को ऊर्ध्वग रक्तपित्त व अधोमार्ग से प्रवृत्त रक्तपित्त को अधोग रक्तपित्त कहा जाता है। यह दोनों मार्ग से भी प्रवृत्त हो सकता है। रक्तपित्त रोग की साध्यासाध्यता मार्ग पर ही निर्भर है। 'तत्र यदूर्ध्वभागं तत् साध्यं, विरेचनोपक्रमणीयत्वाद्बह्वौषधत्वाच्च, यदधोमार्गं तद्याप्यं, वमनोपक्रमणीयत्वादल्पौषधत्वाच्च; यदुभयमार्गं तदसाध्यं, वमनविरेचनायोगित्वादनौषधत्वाच्चेति।'—च० नि० २।९। अर्थात् ऊर्ध्व मार्ग से गति करने वाला रक्तपित्त साध्य होता है, क्योंकि ऊर्ध्वग रक्तपित्त अधो मार्ग से विरेचन द्वारा शांत होने के कारण साध्य है। अधो मार्ग से प्रवृत रक्तपित्त याप्य होता है, क्योंकि यह वमनसाध्य है एवं इसकी औषधियाँ भी कम

होती है। दोनों मार्ग (उर्ध्व व अधोमार्ग से) प्रवृत्त रक्तपित्त असाध्य है'[1] क्योंकि इसमें वमन विरेचन एक साथ नहीं दिया जा सकता। इन गतियों के ज्ञान से किस दोष का अनुबन्ध है, इसकी भी जानकारी प्राप्त हो जाती है। जैसे—ऊर्ध्वग रक्तपित्त में कफ का संसर्ग रहता है; क्योंकि शरीर के ऊर्ध्वभाग में कफ स्थित रहता है, अतः जब गति ऊपर की ओर होती है तो कफ का संसर्ग होता है। कफ के ऊर्ध्वभाग में संसर्ग से गति ऊर्ध्व होती है। इसी प्रकार जब दोषों का पक्वाशय अथवा शरीर के अधोभाग में स्थित वायु से संसर्ग होता है, तो उनकी गति अधोमार्ग से होती है। इसके अतिरिक्त गति-प्राप्त व्याधियों की चिकित्सा भी दोष-गति के अनुसार ही होती है, अतः इसका ज्ञान चिकित्सा हेतु अति उपादेय है, जैसे कि रक्तपित्त की चिकित्सा मार्ग पर ही निर्भर है—

'मार्गौ दोषानुबन्धं च निदानं प्रसमीक्ष्य च।
लङ्घनं रक्तपित्तादौ तर्पणं वा प्रयोजयेत्॥' (च० चि० ४।३०)
'स्निग्धोष्णमुष्णरुक्षं च रक्तपित्तस्य कारणम्।
अधोगस्योत्तरं प्रायः पूर्वं स्यादूर्ध्वगस्य तु॥
ऊर्ध्वगं कफसंसृष्टमधोगं मारुतानुगम्।
द्विमार्गं कफवाताभ्यामुभाभ्यामनुबध्यते॥'
(च० चि० ४।२३-२४)

आचार्य ने पुनः कहा है—

'ऊर्ध्वगे शुद्धकोष्ठस्य तर्पणादिः क्रमोहितः।
अधोगते यवाग्वादिर्न चेत्स्यान्मारुतो बली॥'
(च० चि० ४।६१)

उपर्युक्त उद्धरण ऊर्ध्व, अधो, तिर्यक् गति के ज्ञान की उपादेयता को स्पष्ट करते हैं, अतः वैद्य को इसके ज्ञान के लिए सदैव सचेष्ट होना चाहिए।

---

१. सप्तच्छिद्राणि शिरसि द्वेचाधः साध्यमूर्ध्वगम्।
याप्यंत्वधोगं, मार्गौ तु द्वावसाध्यं प्रपद्यते॥
यदा तु सर्वच्छिद्रेभ्यो रोमकूपेभ्य एव च।
वर्तते तामसञ्चेयां गतिं तस्याहुरान्तिकीम्॥
(च० चि० ४।१६-१७)

अध्याय–४

षडुपक्रमवाद

षडुपक्रम का तात्पर्य छः प्रकार की चिकित्सा से है। षड् का अर्थ छः और 'उपक्रम' का अर्थ चिकित्सा या उपाय है। अतः प्रस्तुत शीर्षक के अन्तर्गत छः चिकित्सा-विधियों पर प्रकाश डाला जायेगा। ये छः उपक्रम निम्न हैं—

'लङ्घनं बृंहणं काले रूक्षणं स्नेहनं तथा।
स्वेदनं स्तम्भनं चैव जानीते यः स वै भिषक्॥' (च० सू० २२।३)

अर्थात् लङ्घन, बृंहण, रूक्षण, स्नेहन, स्वेदन, स्तम्भन औषधियों के बारे में जानने वाला ही वैद्य कहा जाता है। चरकसंहिता में वर्णित षडुपक्रम प्रकरण में अग्निवेश द्वारा १२ प्रश्न किये गये हैं। प्रत्येक उपक्रम-विशेष से सम्बन्धित दो प्रश्न किये गये हैं। प्रथम प्रश्न उपक्रम-विशेष के परिचयात्मक ज्ञान से सम्बन्धित है तथा दूसरा प्रश्न उपक्रम-विशेष की उपादेयता से सम्बन्ध रखने वाला है अर्थात् उपक्रमविशेष का प्रयोग किन-किन अवस्थाओं में किया जा सकता है।[1] जैसे—(१) लंघन किसे कहते हैं? (२) लंघन के योग्य पुरुष कौन है? इसी प्रकार छः उपक्रमों के सम्बन्ध में दो-दो प्रश्न मिलाकर १२ प्रश्न किये गये हैं, जिसका समाधान महर्षि आत्रेय ने किया है तथा तदनुसार मौलिक रूप से षड् उपक्रमवाद की स्थापना किया है।

आयुर्वेद का लक्ष्य है—'धातुसाम्यक्रियाचोक्ता तन्त्रस्यास्य प्रयोजनम्' अर्थात् धातुओं को सम रखना ही आयुर्वेद का लक्ष्य है। हमलोग दोषों की गति-प्रकरण में जान चुके हैं कि त्रिविध गति में दोषों की वृद्धि, स्थान, क्षय—ये तीन गतियाँ होती हैं। स्थानस्थ गति से शरीर, मन के प्राकृत कर्म सम्पन्न होते हैं। वृद्धि व क्षय ये दोनों विकारावस्था के द्योतक हैं। अतः आचार्य सुश्रुत ने चिकित्सा स्थान अ०, ३३ में कहा है कि—'क्षीणाः वर्धयितव्याः, वृद्धाः ह्रासयितव्याः, समाः पालयितव्याः'। अर्थात्

---

१. तमुक्तवन्तमात्रेयमग्निवेश उवाच ह।
भगवंल्लंघनं किंस्विल्लङ्घनीयाश्च कीदृशाः॥
बृहणं बृंहणीयाश्च रूक्षणीयाश्च रूक्षणम्।
के स्नेहाः स्नेहनीयाश्च स्वेदाः स्वेद्याश्च के मताः॥
स्तम्भनं स्तम्भनीयाश्च वक्तुमर्हसि तद् गुरो।
लङ्घनप्रभृतीनां च षण्णामेषां समासतः॥
कृताकृतातिवृत्तानां लक्षणं वक्तुमर्हसि।
तदग्निवेशस्य वचो निशम्य गुरुरब्रवीत्॥ (च० सू० २२।५-८)

क्षीण दोषों को बढ़ाना चाहिए तथा वृद्ध दोषों का ह्रास (क्षीण) करना चाहिए एवं सम दोषों को सम रखने के लिए विहित नियम का पालन करना चाहिए। इस प्रकार आयुर्वेद में मुख्यत: दो उपक्रम वृद्धिकर (बृंहण) तथा ह्रासकर (लंघन) आयोजित किये जाते हैं। वृद्धि व ह्रास की प्रक्रिया क्रमश: सामान्य व विशेष द्रव्य, गुण व कर्मों से सम्पादित होते हैं।[1] इन दो अवस्थाओं में वृद्धि व क्षय के आधार पर दो प्रमुख उपक्रम सन्तर्पण व अपतर्पण माने गये हैं। व्याधियों को भी वृद्धिकर व क्षयकर भावों के आधार पर सन्तर्पणोत्थ व अपतर्पणोत्थ—दो वर्गों में वर्गीकृत किया गया है। जो व्यक्ति स्निग्ध, मधुर, पिच्छिल, नूतन-अन्न, नूतन-मदिरा, आनूप व जलीय मांस, दुग्ध, घृतादि, गुड़ से बने भक्ष्य पदार्थ, पिष्टान्न (गेहूँ, चावल आदि को पीस कर बनाये गये आटा से निर्मित विभिन्न प्रकार के भोज्यपदार्थ) का अधिक मात्रा में सेवन कर अपने-आप को तृप्त करता है तथा चेष्टा से द्वेष रखता है यानि किसी प्रकार की शारीरिक चेष्टायें (श्रम आदि) नहीं करता है, दिवास्वप्न करता है या शय्या पर सुखपूर्वक बैठा रहता है या आसन पर सुखपूर्वक बैठा रहता है, उन व्यक्तियों में सन्तर्पण के कारण अनेक प्रकार की व्याधियाँ उत्पन्न होती हैं। वास्तव में तर्पण का तात्पर्य धातुओं (रस-रक्तादि) को आवश्यकतानुसार स्वघटकानुसार पोषण मिलना है। जब एक बार धातुयें तर्पित हो जाती हैं तो मनुष्य जब विभिन्न चेष्टायें करता है तो पुन: पोषण की आवश्यकता होती है, परन्तु जब धातुयें तृप्त हो जाती हैं तथा मनुष्य किसी प्रकार की शारीरिक चेष्टायें नहीं करता तो धात्वग्नियाँ मंद हो जाती हैं, जिससे तृप्त धातुओं में अग्निमंदता से पाक-प्रक्रिया नहीं हो पाती है एवं उनमें लगातार आमसंचय होता रहता है या पूर्णपाकावस्था न प्राप्त करने से आमरूप मलसंचय से सन्तर्पणजन्य निम्न व्याधियाँ उत्पन्न होती हैं।[2]—प्रमेह,

---

१. विस्तृत विवेचना ज्ञान हेतु पुस्तक के प्रथम भाग में वर्णित सामान्य विशेष-वाद का अवलोकन करना चाहिए।

२. संतर्पयति यः स्निग्धैर्मधुरैर्गुरुपिच्छिलैः।
नवान्नैर्नवमद्यैश्च मांसैश्चानूपवारिजैः॥
गोरसैर्गौडिकैश्चान्नैः पैष्टिकैश्चातिमात्रशः।
चेष्टाद्वेषी दिवास्वप्नशय्यासनसुखे रतः॥
रोगास्तस्योपजायन्ते संतर्पणनिमित्तजाः।
प्रमेहपिडकाकोठकण्डूपाण्ड्वामयज्वराः॥
कुष्ठान्यामप्रदोषाश्च मूत्रकृच्छ्रमरोचकः।
तन्द्रा क्लैब्यमतिस्थौल्यमालस्यं गुरुगात्रता॥
इन्द्रियस्रोतसां लेपो बुद्धेर्मोहः प्रमीलकः।
शोफाश्चैवंविधांश्चान्ये शीघ्रमप्रतिकुर्वतः॥ (च० सू० २३।३-७)

पिडका, कोठ, कण्डू, पाण्डुरोग, ज्वर, कुष्ठ, आमदोष, मूत्रकृच्छ्र, अरुचि, तन्द्रा, नपुंसकता, अतिस्थूलता, आलस्य, गुरुगात्रता, स्रोतों व इन्द्रियों में कफ का लिप्त रहना, बुद्धि का व्यामोह, प्रमीलक, शोथादि अन्य रोग। जब शारीरिक धातुयें तृप्त नहीं हो पातीं और धातुओं का यथोचित पोषण नहीं होता है तो इस स्थिति को अपतर्पण कहा जाता है। अपतर्पण के कारण शारीरिक बल, अग्नि बल, वर्ण, ओज, शुक्र व मांस का क्षय हो जाता है। कासानुबन्धित ज्वर, पार्श्वशूल, अरोचक, श्रोत्रेन्द्रिय की दुर्बलता, उन्माद, प्रलाप, हृदय रोग, मलमूत्र की रुकावट, जंघा, ऊरु तथा त्रिकप्रदेश में शूल, पर्व, अस्थि एवं सन्धियों में चीरने-सी पीड़ा होती है तथा विभिन्न वातजन्य व्याधियाँ उत्पन्न होती हैं।[1] आचार्य चरक ने षडुपक्रम के बाद स्वतंत्र रूप से द्विविध उपक्रम—सन्तर्पण व अपतर्पण का भी वर्णन किया है, पर आचार्य वाग्भट ने दो ही उपक्रम—सन्तर्पण व अपतर्पण का उल्लेख किया है।[2] इसको उन्होंने लङ्घन व बृंहण माना है। यदि षडुपक्रम पर भी विचार किया जाय तो पाया जाता है कि इन छः उपक्रमों में तीन सन्तर्पण उपक्रम हैं तथा तीन अपतर्पण उपक्रम हैं। जैसे—

संतर्पणीय उपक्रम—१. बृंहण	२. स्नेहन	३. स्तम्भन।
अपतर्पणीय उपक्रम—१. लंघन	२. रुक्षण	३. स्वेदन।

अब यहाँ प्रश्न उठता है कि यदि आचार्य चरक ने भी संतर्पण, अपतर्पण का स्वतंत्र रूप से वर्णन किया है तथा वाग्भटोक्त सन्तर्पण, अपतर्पण के अन्तर्गत ही षडुपक्रम भी समाहित हो सकते हैं तो छः उपक्रमों के वर्णन का औचित्य क्या हो सकता है? विकारोत्पत्तिकारक दोषों की संख्या तीन है। सन्तर्पण व अपतर्पण में क्रमशः

---

१. देहाग्निबलवर्णौजः शुक्रमांसपरिक्षयः।
ज्वरः कासानुबन्धश्च पार्श्वशूलमरोचकः॥
श्रोत्रदौर्बल्यमुन्मादः प्रलापो हृदयव्यथा।
विण्मूत्रसंग्रहः शूलं जङ्घोरुत्रिकसंश्रयम्॥
पर्वास्थिसंधिभेदश्च ये चान्ये वातजा गदाः।
ऊर्ध्ववातादयः सर्वे जायन्ते तेऽपतर्पणात्॥ (च० सू० २३।२७-२९)

२. उपक्रमस्य हि द्वित्वाद् द्विधैवोपक्रमो मतः।
एकः सन्तर्पणस्तत्र द्वितीयश्चापतर्पणः॥
बृंहणो लङ्घनश्चेति तत्पर्यायावुदाहृतौ।
बृंहणं यद् बृहत्त्वाय लङ्घनं लाघवाय यत्॥
देहस्य भवतः प्रायो भौमापमितरच्च ते।
स्नेहनं रुक्षणं कर्म स्वेदनं स्तम्भनं च यत्॥
भूतानां तदपि द्वैध्याद् द्वित्वं नातिवर्तते॥ (अ० हृ० सू० ४)

वात व कफ—दो दोषों की ही उपचार-व्यवस्था है। अतः आचार्य ने तीनों दोषों की शान्ति हेतु षड्विध उपक्रम की व्यवस्था की है। यद्यपि इन छः कर्मों में भी लंघन व बृंहण कर्म के क्रियाकारिता की ही प्रमुखता रहती है, पर प्रत्येक कर्म की क्रियाकारिता का विशेष क्षेत्र निर्धारित है, अतः परिणामतः दो कर्मों को करने वाले इन छः उपक्रमों की पृथक् स्वतन्त्र उपादेयता है। जैसे—कृशता को सीधे बृंहण द्वारा, रूक्षता को स्नेहन द्वारा तथा अतिसार जैसे व्याधि वाले को स्तम्भन कर्म द्वारा संतर्पित किया जा सकता है। यहाँ इन उदाहरणों से स्पष्ट होता है कि परिणामतः संतर्पण करने वाले तीनों उपक्रमों की उपादेयता व क्रिया क्षेत्र पृथक् एवं स्वतन्त्र है तथा चिकित्सा व्यवस्था तीनों दोषों का करना अपेक्षित है। यथा—१. वातदोष हेतु उपचार—बृंहण, स्नेहन, स्वेदन से २. पित्तदोष हेतु उपचार—स्तम्भन व आवश्यकतानुसार स्नेहन व बृंहण से तथा ३. कफ दोष हेतु उपचार—लंघन व रूक्षण क्रिया से सम्पादित किया जाता है।

१. लङ्घन

'यत्किंचिल्लाघवकरं देहे तल्लङ्घनं स्मृतम्'—च० सू० २२।९। अर्थात् जिस उपाय या चिकित्सा के द्वारा शरीर में लाघव यानि हल्कापन उत्पन्न किया जाता है, उसे लंघन कहा जाता है। लंघन का अभिप्राय लाघव से है 'लङ्घनं लाघवाय यत्' जिसके द्वारा लाघवोत्पत्ति हो, वह लंघन है। लंघन कर्म में प्रयुक्त या लंघन कर्म करने वाले द्रव्य निम्न गुण वाले होते हैं।

'लघूष्णतीक्ष्णविशदं रूक्षं सूक्ष्मं खरं सरम्।
कठिनं चैव यद्द्रव्यं प्रायस्तल्लङ्घनं स्मृतम् ॥'
(च० सू० २२।१२)

अर्थात् १. लघु, २. उष्ण, ३. तीक्ष्ण, ४. विशद, ५. रूक्ष, ६. सूक्ष्म, ७. खर, ८. सर, ९. कठिन गुणयुक्त द्रव्य लंघन कर्म करते हैं।

लङ्घनोपक्रम में द्रव्यों की कार्मुकता—लंघन कर्म में प्रयुक्त द्रव्यों में प्रथमतः लघु गुण का उल्लेख किया गया है। लघु से लंघन का तात्पर्य-बोध होता है। लघुपाक वाले तथा लाघवोत्पत्तिकारक गुण को लघु कहा जाता है। लघु गुण लेखन कर्म करने वाला है अर्थात् वृद्ध धातुओं को शरीर या अङ्गों से पृथक् कर देता है एवं रोपणादि कर्म करता है—'लघुस्तद्विपरीतः स्याल्लेखनो रोपणस्तथा' सु० सू० ४६। लेखन कर्म से धातुओं का ह्रास होकर शरीर कृश होता है। यह स्रोतोशोधन कर अग्नि को प्रदीप्त करता है तथा कफ का नाश करता है ('लघु पथ्यं परं प्रोक्तं कफघ्नं शीघ्र-पाकि च'–भा० प्र०)। उष्ण गुण से मूत्र, पुरीष, स्वेदादि का प्रवर्त्तन होता है–स्वेदने उष्णः; जिससे संचित मल व क्लेद के प्रवर्त्तन होने से शरीर में लघुता आती है।

उष्ण गुण के पाचन प्रभाव से आम पाचन होता है, जिससे शरीर में लघुता आती है—'उष्णस्तद्विपरीतः स्यात् पाचनश्च विशेषतः' सु० सू० ४६। तीक्ष्ण गुण शोधन कर्म करने वाला होता है—'यस्य शोधने शक्तिः स तीक्ष्णः' हेमाद्रि। यह गुण स्रोतों का शोधन कर एवं अवयव या अङ्गविशेष में संचित आम, कफ, मलादि को तीव्रता से निकालता है तथा धातुओं को घटाकर शरीर को कृश बनाता है। सुश्रुत ने 'दाहपाककरस्तीक्ष्णः स्रावणः' कहा है अर्थात् तीक्ष्ण गुण आम दोषयुक्त वृद्ध धातु का पाचन कर अपने स्रावण गुण से उन्हें बाहर स्रावित कर देता है, जिससे लेखन कर्म होकर शरीर में लघुता आती है। विशद गुण में क्षालन शक्ति होती है—'यस्य क्षालने शक्तिः स विशदः'—हेमाद्रि। जिसके कारण आम दोष, आमजन्य संचित मल, कफ आदि की पिच्छिलता नष्ट हो जाती है। विशद गुण शरीरस्थ क्लेद का चूषण करता है—'विशदो विपरीतोऽस्मात् क्लेदाचूषणरोपणः'—सुश्रुत। परिणामतः शरीर में लघुता व्याप्त हो जाती है। रूक्ष गुण शरीर, शरीरस्थ धातुओं, मलों आदि के द्रवांश का शोषण करता है—'यस्य शोषणे शक्तिः स रूक्षः' हेमाद्रि। जब शरीर के वृद्ध द्रवांश का शोषण हो जाता है तो शरीर में लघुता आती है। सूक्ष्म गुण विलेय व प्रसारी होता है, जिससे यह शरीरस्थ सूक्ष्मातिसूक्ष्म अवयवों में प्रविष्ट होकर स्रोतों के मुख को खोलता है—'यस्य विवरणे शक्तिः स सूक्ष्मः'—हेमाद्रि। इस प्रकार विवरण शक्ति द्वारा सूक्ष्म गुण स्रोतों में संचित आम, कफादि का नाश कर धातुओं का ह्रास करता है, जिससे शरीर में लघुता व्याप्त होती है। खर गुण लेखन शक्ति वाला होता है—'यस्य लेखने शक्ति स खरः'—हेमाद्रि। जिससे वृद्ध धातुओं का लेखन होकर लघुता उत्पन्न होती है। सर गुण गतिशील होता है। यह मलों का प्रवर्त्तन करता है 'सरोऽनुलोमनः प्रोक्तः'—सुश्रुत। सर गुण वायु व मलों का प्रेरक होता है—'यस्य प्रेरणे शक्तिः स सरः'—हेमाद्रि। इस प्रकार वायु जब प्रेरित होता है तो अपने लघु, रूक्षादि गुणों से शरीर को कृश बनाता है, जिससे लघुता आती है। कठिन गुण शरीर में दृढ़ता उत्पन्न करने वाला होता है—'यस्य दृढीकरणे शक्तिः स कठिनः'—हेमाद्रि। कठिन गुण द्वारा शरीर की, शरीराङ्गों की या शरीरावयवों की मृदुता समाप्त होती है, जिसके परिणामस्वरूप शरीर में लघुता आती है। इस प्रकार लंघन में लघुपाक, पाक, स्रवण, लेखन, प्रवर्तन, प्रेरण, अनुलोमन, शोषण, चूषण, विवरण, दृढ़ीकरण आदि प्रक्रियायें होती हैं।

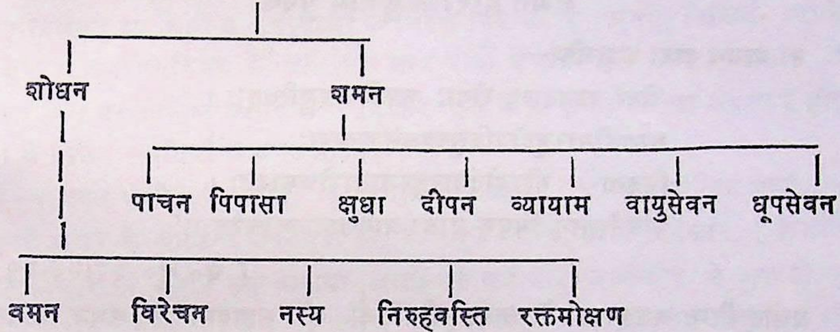
लङ्घन के प्रकार

'चतुष्प्रकारा संशुद्धिः पिपासा मारुतातपौ।
पाचनान्युपवासश्च व्यायामश्चेति लङ्घनम्॥'

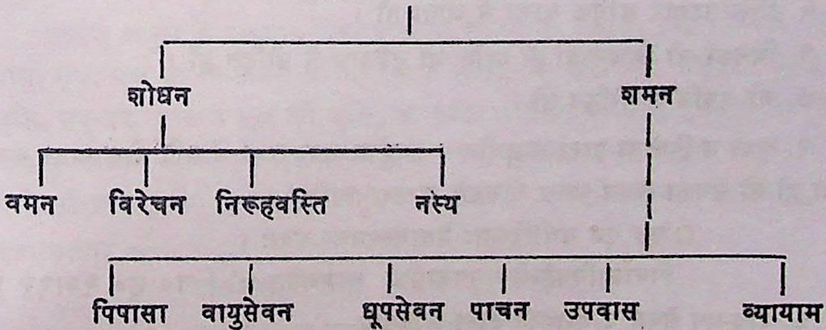
(च० सू० २२।१८)

अर्थात् चार प्रकार की संशुद्धियाँ—१. वमन, २. विरेचन, ३. शिरोविरेचन,

४. निरूह बस्ति तथा ५. पिपासा; ६. वायु का सेवन; ७. धूप का सेवन; ८. पाचन औषध द्रव्यों का प्रयोग, ९. उपवास; १०. व्यायाम। ये दस लंघन के प्रकार होते हैं। आचार्य वाग्भट ने लंघन के मुख्यत: दो भेद किये हैं—शोधन एवं शमन। फिर शोधन के ५ (पाँच) तथा शमन के ७ (सात) भेद किये हैं। इस प्रकार वाग्भट ने लंघन को १२ (बारह) प्रकार का माना है।



'शोधनं शमनं चेति द्विधा तत्रापि लङ्घनम्।
यदीरयेद्बहिर्दोषान् पञ्चधा शोधनं च यत्॥
निरूहो वमनं कायशरीरेकोऽस्रविस्रुतिः।
न शोधयति यद्दोषान् समान्नोदीरयत्यपि॥
समीकरोति विषमान् शमनं तच्च सप्तधा।
पाचनं दीपनं क्षुत्तृड्व्यायामातपमारुताः॥' (अ० हृ० सू० १४)



आचार्य वाग्भट ने शोधन में रक्तमोक्षण का व शमन में दीपन—इन दो प्रकारों का अधिक उल्लेख किया है।

शोधन द्वारा लङ्घनीय पुरुष—संशोधन (वमन, विरेचनादि) द्वारा निम्न व्यक्तियों में लंघन कर्म सम्पन्न किया जाता है।

१. जिन व्यक्तियों में कफ, पित्त, रक्त व मल अधिक मात्रा में संचित हों।

२. जिनके उपर्युक्त दोष मलादि वायु द्वारा संसृष्ट हो गये हों।

३. जिनका शरीर बड़ा (अधिक उपचित) हो।

४. जो बलवान् हो।

'प्रभूतश्लेष्मपित्तास्रमलाः संसृष्टमारुताः।
बृहच्छरीरा बलिनो लङ्घनीया विशुद्धिभिः॥' (च० सू० २२।१९)

शमन द्वारा लङ्घनीय पुरुष

१. पाचन द्वारा लङ्घनीय—

'येषां मध्यबलाः रोगाः कफपित्तसमुत्थिताः।
वम्यतीसारहृद्रोगविसूच्यलसकज्वराः॥
विबन्ध गौरवोद्गारहृल्लासारोचकादयः।
पाचनैस्तान् भिषक् प्राज्ञः प्रायेणादावुपाचरेत्॥'

(च० सू० २२।२०-२१)

अर्थात् निम्न अवस्थाओं में पाचक औषधियों की सहायता से लंघन कराना चाहिए।

१. जिन व्यक्तियों में पित्त व कफजन्य मध्यबल युक्त व्याधियाँ उत्पन्न हुई हों या यदि उपर्युक्त पाठ का तात्पर्य अलग-अलग किया जाय तो (अ) जो मध्यबल युक्त व्यक्ति हों (ब) जिनमें पित्त, कफजन्य विकारोत्पत्ति हो।

२. जो वमन, अतिसार, हृदयरोग, विसूचिका, अलसक तथा ज्वर से पीड़ित हो।

३. जिन्हें विबन्ध हुआ हो।

४. जिनके शरीर में भारीपन हो।

५. जिसे उद्गार अधिक मात्रा में आता हो।

६. जिनका जी मिचलाता हो यानि जो हृल्लास से पीड़ित हों।

७. जो अरुचि से पीड़ित हो।

२. क्षुधा व पिपासा द्वारा लङ्घनीय—उपर्युक्त अवस्थाओं में यदि रोग अल्प बल वाला हो तो उनका लंघन प्यास रोककर कराना चाहिए।

'एत एव यथोदिष्टाः येषामल्पबला गदाः।
पिपासानिग्रहैस्तेषामुपवासैश्च ताञ्जयेत्॥' (च० सू० २२।२२)

३. वायु-धूप सेवन व व्यायाम द्वारा लङ्घनीय—

'रोगाञ्जयेन्मध्यबलान् व्यायामातपमारुतैः।
बलिनां किं पुनर्येषां रोगाणामवरं बलम्॥' (च० सू० २२।२३)

अर्थात् यदि रोग मध्य बल हो तथा आतुर बलवान् हो तो उसमें लंघन कर्म हेतु व्यायाम, तीव्र वायु, तीव्र धूप का सेवन कराना चाहिए। यदि रोगी बलवान् व रोग

अल्प बल वाला हो तो उपर्युक्त लंघन कर्म (व्यायामादि) द्वारा ही रोग का शमन हो जाता है।

कालानुसार लङ्घन

प्रायशः लंघन कर्म सभी ऋतुओं में कराया जाता है। पर आचार्यों ने दसविध लंघन हेतु विशिष्ट काल शिशिर ऋतु को माना है। शिशिर ऋतु में लंघन कराने के लिए विशिष्ट व्याधियों व अवस्थाओं के निर्देश दिये गये हैं। अर्थात् निर्दिष्ट व्याधि-विशेष या अवस्था-विशेष के अतिरिक्त अन्य रोगों में कभी भी लंघन कराया जा सकता है। पर निर्दिष्ट व्याधियों में शिशिर ऋतु में ही लंघन कराना श्रेयस्कर होता है। ये विशेष व्याधियाँ व अवस्थायें निम्न हैं—

१. त्वग् रोगी, २. प्रमेह, ३. अतिस्निग्ध व्यक्ति, ४. अभिष्यन्दित पुरुष, ५. जिनके शरीर के स्रोतों में कफ भरा हो, ६. स्थूल व्यक्ति, ७. वातविकार (हालांकि वात विकारों में लंघन नहीं कराया जाता पर जब वायु आम-दोष से युक्त हो तब लंघन कराया जा सकता है), ८. ज्वर, ९. उरुस्तम्भ, १०. कुष्ठ, ११. विसर्प, १२. विद्रधि, १३. प्लीहा, १४. शिरोरोग, १५. कण्ठरोग, १६. नेत्ररोग।

'त्वग्दोषिणां प्रमीढानां स्निग्धाभिष्यन्दिबृंहिणाम्।
शिशिरे लङ्घनं शस्तमपि वातविकारिणाम्॥'
(च० सू० २२।२४)

'मेहामदोषातिस्निग्ध ज्वरोरुस्तम्भकुष्ठिनः।
विसर्पविद्रधिप्लीहशिरः कण्ठाक्षिरोगिणः॥
स्थूलांश्च लङ्घयेन्नित्यं शिशिरे त्वपरानपि॥' (अ० हृ० सू० १४)

सम्यक् लङ्घन के लक्षण—सम्यक् लंघन के निम्न लक्षण होते हैं—१. अपान वायु, मूत्र, मल का निष्क्रमण उचित रूप से होना, २. शरीर में लघुता, ३. हृदय-शुद्धि, उद्गार, कण्ठ व मुख की शुद्धि, ४. तन्द्रा व क्लम का नाश होना। ५. स्वेदागम, ६. भोजन में रुचि, ७. भूख व प्यास का एक साथ अनुभव होना। ८. आत्मा में किसी प्रकार के कष्ट का अनुभव न होना। ९. इन्द्रियों का विमल होना। १०. उत्साह—

'वातमूत्रपुरीषाणां विसर्गे गात्रलाघवे।
हृदयोद्गारकण्ठस्य शुद्धौ तन्द्राक्लमे गते॥
स्वेदे जाते रुचौ चैव क्षुत्पिपासासहोदये।
कृतं लङ्घनमादेश्यं निर्व्यथे चान्तरात्मनि॥' (च० सू० २२।३४-३५)
'विमलेन्द्रियता सर्गो मलानां लाघवं रुचि।
क्षुत्तृट्सहोदयः शुद्धहृदयोद्गारकण्ठता॥
व्याधिमार्दवमुत्साहस्तन्द्रानाशश्च लङ्घिते।' (अ० हृ० सू० १४)

'सृष्टमारुतविण्मूत्रं क्षुत्पिपासासहं लघुम् ।
प्रसन्नात्मेन्द्रियं क्षामं नरं विद्यात् सुलङ्घितम् ॥' (सु० उ० ३९)

अतिलङ्घन के लक्षण—१. पर्वभेद, २. अंगमर्द, ३. कास, ४. मुखशुष्कता, ५. क्षुधानाश, ६. अरुचि, ७. तृषाधिक्य, ८. श्रोत्र व नेत्र की दुर्बलता, ९. मनोभ्रम, १०. बार-बार ऊर्ध्ववात का होना, ११. हृदय में अंधकार, १२. देह व अग्नि का नाश। १३. रसक्षय, १४. शोष, १५. श्वास, १६. क्लम, १७. शुक्र व ओज क्षय; १८. ज्वर, १९. मल-मूत्र ग्रह, २०. प्रलाप, २१. ग्लानि, २२. छर्दि, २३. अनिद्रा आदि।

'पर्वभेदोऽङ्गमर्दश्च कासः शोषो मुखस्य च ।
क्षुत्प्रणाशोऽरुचिस्तृष्णा दौर्बल्यं श्रोत्रनेत्रयोः ॥
मनसः संभ्रमोऽभीक्ष्णमूर्ध्ववातस्तमो हृदि ।
देहाग्निबलनाशश्च लङ्घनेऽतिकृते भवेत् ॥'
(च० सू० २२।३६-३७)

'रसक्षयस्तृषाशोषतन्द्रानिद्राभ्रमक्लमाः ।
उपद्रवाश्च श्वासाद्याः सम्भवन्त्यतिलङ्घनात् ॥' (सु० उ० ३९)
'अतिकार्श्यंभ्रमः कासस्तृष्णाधिक्यमरोचकः ।
स्नेहाग्निनिद्रादृक् श्रोत्रशुक्रौजः क्षुत्स्वर क्षयः ॥
बस्तिहृन्मूर्धजङ्घोरुत्रिकपार्श्वरुजा ज्वरः ।
प्रलापोर्ध्वानिलग्लानिच्छर्दिपर्वास्थिभेदनम् ॥
वर्चोमूत्रग्रहाद्याश्च जायन्तेऽतिविलङ्घनात् ।'
(अष्टा० स० सू० २४)

बृंहणोपक्रम

'बृहत्त्वं यच्छरीरस्य जनयेत्तच्च बृंहणम् ।' (च० सू० २२।९)

अर्थात् जो द्रव्य उपाय या चिकित्सा शरीर में स्थूलता उत्पन्न करे, उसे बृंहण कहा जाता है। 'बृंहणं यत् बृहत्वाय' अर्थात् शरीर में जो वृद्धि करे उसे बृंहण कहते हैं। इसमें धातुओं की वृद्धि की जाती है।

बृंहण करने वाले द्रव्यों के गुण—बृंहण कर्म करने वाले द्रव्यों में निम्न गुण होते हैं—

'गुरु शीतं मृदु स्निग्धं बहलं स्थूलपिच्छिलम् ।
प्रायोमन्दं स्थिरं श्लक्ष्णं द्रव्यं बृंहणमुच्यते ॥' (च० सू० २२।१३)

प्रायः १. गुरु, २. शीत, ३. मृदु, ४. स्निग्ध, ५. सान्द्र, ६. स्थूल, ७. पिच्छिल, ८. मंद, ९. स्थिर, १०. श्लक्ष्ण गुण वाले द्रव्य बृंहण करते हैं।

बृंहण द्रव्यों की कार्मुकता—बृंहण द्रव्यों में प्रथमतः गुरु गुण का उल्लेख प्राप्त होता है। द्रव्यों के स्वाभाविक अधःपतन के कारणभूत गुण को गुरु कहा जाता है—'गुरुत्वं जलभूम्योः पतनकर्मकारणम्'–प्र० पा०। इसका पाक गुरु होता है तथा स्रोतों में इसके द्वारा उपलेप होता है। गुरु गुण धातुओं की वृद्धि करने वाला होता है–'यस्य द्रव्यस्य बृंहणे कर्मणि शक्तिः स गुरुः'–हेमाद्रि। यह जल महाभूत में विद्यमान होता है व पृथ्वी महाभूत का गुण होता है, अतः शरीर में पार्थिव व आप्य घटकों की वृद्धि कर बृंहण कर्म करता है। शीत गुण स्तम्भक होता है। यह स्तम्भन के द्वारा शरीर में द्रवांश की वृद्धि कर बृंहण कर्म करता है—'स्तम्भने हिमः'— हेमाद्रि; 'ह्लादनः स्तम्भनः शीतो'—सु० सू० ४६—'शीतस्तु ह्लादनः स्तम्भी'—भा० प्र०। स्तम्भन के साथ-साथ यह मन को आह्लादित करता है, जिससे शरीर व धातुओं की वृद्धि होती है। मृदु गुण द्वारा शरीर में मृदुता व शिथिलता उत्पन्न होती है—यस्य श्लथने शक्तिः स मृदु–हेमाद्रि। यह गुण दाह, पाक, स्रावादि का नाश करता है, जिससे मांस, रक्त, मेदादि धातुओं की वृद्धि होती है। स्निग्ध गुण शरीर, शरीराङ्गों व शरीरावयवों को क्लेदित करता है—यस्य क्लेदने शक्तिः स स्निग्धः–हेमाद्रि। इससे अङ्गों व अवयवों में आर्द्रता उत्पन्न होती है। स्निग्ध गुण 'अप्' का विशेष गुण होने से शारीरिक धातुओं, बल, वर्णादि की वृद्धि करने वाला है—'स्नेहमार्दवकृत् स्निग्धो बलवर्णकरस्तथा'–सुश्रुत। यह कफवर्द्धन करता है—'स्निग्धं वातहरं श्लेष्मकारि वृष्यं बलाबलम्'–भा० प्र०। स्निग्ध गुण स्नेहन यानि धातुओं पर व शरीर में उपलेपन कर्म करते हुए बृंहण कर्म करता है। सान्द्र गुण स्थूलता व स्थिरता उत्पन्न करने वाला होता है। यह गुण शरीर में अवयवों का प्रसादन करता है—'यस्य प्रसादने शक्तिः स सान्द्रः'–हेमाद्रि। इससे द्रवांशों में गाढ़ापन की उत्पत्ति होती है। सान्द्र धातुओं की वृद्धि कर शरीर में स्थूलता उत्पन्न करने वाला होता है ('सान्द्रः स्थूलः स्याद् बन्धकारकः।'—सुश्रुत। स्थूल गुण का तात्पर्य बड़ा व देर से विलायित होना है। इसका पाक गुरु होता है तथा कफवर्द्धनादि द्वारा स्रोतावरोध करने वाला होता है—'यस्य संवरणे शक्तिः स स्थूल'–हेमाद्रि। स्थूल गुण द्वारा शरीर में स्थूलता की उत्पत्ति होकर बृंहण कर्म होता है—'स्थूलाः स्थौल्यकरो देहे स्रोतसामवरोधकृत्'–भा० प्र०। इससे धात्वादि की वृद्धि होती है। पिच्छिल गुण तन्तुल व द्रव्यों को चिपकाने वाला होता है। पिच्छिल गुण शरीर व शरीरावयवों में लेपन कर्म करता है–'यस्य लेपने शक्तिः स पिच्छिलः'–हेमाद्रि। इसके कारण यह धातुओं की वृद्धि करता है तथा कृश व्यक्तियों के भग्न धातुओं में संधानादि कर्म करके उनकी वृद्धि करता है। यह गुण बलवर्द्धक व जीवनीय होने से भी बृंहण कर्म करता है 'पिच्छिलो जीवनो बल्यः संधानः श्लेष्मलो गुरुः'—सु०; 'पिच्छिलस्तन्तुलो बल्यः संधानः श्लेष्मलो गुरुः'–भा० प्र०। जो शरीर में जाकर विषमदोषों का शम.. करें

उसे मन्द गुण कहा जाता है—'यस्य शमने शक्तिः स मन्दः'–हे० । शमन का तात्पर्य दोषों को विषमावस्था से साम्यावस्था में लाना होता है—'न शोधयति यद्दोषान् समान्नोदीरयत्यपि । समीकरोति विषमान् शमनं तद्यथाऽमृता'–भा० प्र० । दोषों के शमन हो जाने से धातुओं में सामान्य वृद्धि प्रारम्भ हो जाती है, परिणामतः बृंहण कर्म सम्पन्न होता है । स्थिर गुण का तात्पर्य गतिहीनता होता है । स्थिर गुण के कारण धातुओं में स्थिरता उत्पन्न होती है—'यस्य धारणे शक्तिः स स्थिर' । इससे वायु व मल का स्तम्भन होता है—'स्थिरो वातमलास्तम्भी' । इस प्रकार स्थिर गुण धातुओं में स्थिरता उत्पन्न कर बृंहण कर्म करता है । श्लक्ष्ण गुण चिकनापन को कहते हैं । इसमें रोपण शक्ति होती है—यस्य रोपणे शक्तिः स श्लक्ष्णः–हे० । यह कफवर्द्धन करता है तथा पिच्छिल गुण के समानधर्मी होता है, अतः धातुओं की वृद्धि करते हुए शरीर में बृंहण कर्म करता है—'श्लक्ष्णः पिच्छिलवज्ज्ञेयः'–सु० । इस प्रकार बृंहण कर्म, गुरु, शीत, मृदु, स्निग्ध, सान्द्र, स्थूल, पिच्छिल, मंद, स्थिर व श्लक्ष्ण गुणों द्वारा वृद्धि, उपलेप, स्तम्भन, ह्लादन, मृदुता, शैथिल्य, क्लेदन, प्रसादन, बन्धन, संवरण, लेपन, संधान, शमन, तन्तुलता, धारण, रोपण, स्थिरता आदि गुणों के द्वारा सम्पन्न होता है ।

बृंहण के योग्य पुरुष—बृंहण कर्म निम्न स्थितियों में कराया जाता है या निम्न स्थितियों से युक्त पुरुष में कराया जाता है—१. जो पुरुष क्षत, क्षीण, कृश, वृद्ध या दुर्बल हों । २. जो नित्य अधिक पैदल रास्ता तय करने हों, ३. जो सर्वदा अर्थात् नित्यप्रति मैथुन करते हों, ४. जो नित्य मद्यपान करते हों, ५. ग्रीष्मऋतु में सभी व्यक्तियों में—६. जो शोक से कर्शित हों, ७. जो भार ढोने के कारण कर्शित हों, ८. गर्भिणी, ९. प्रसूता, १०. बालक औषध प्रयोग से कृश ।

'क्षीणाः क्षताः कृशा वृद्धा दुर्बला नित्यमध्वगा ।
स्त्रीमद्यनित्या ग्रीष्मे च बृंहणीया नराः स्मृताः ॥'

(च० सू० २२।२६)

बृंहयेद्व्याधिभैषज्यमद्यस्त्रीशोककर्शितान् ।
भाराध्वोरःक्षतक्षीणरुक्षदुर्बलवातलान् ॥
'गर्भिणीसूतिकाबालवृद्धान् बृंहणा लघवो रसाः ।'

(अ० हृ० सू० १४)

मांसप्रयोग द्वारा बृंहणीय पुरुष—निम्न व्यक्तियों में मांस या मांस रस के प्रयोग द्वारा बृंहण कर्म करना चाहिए । १. जो शोष रोग से ग्रसित हों । २. अर्श से पीड़ित रोगी, ३. ग्रहणी-पीड़ित व्यक्ति, ४. जो रोगग्रसित होकर कृश हुए हों । इन व्यक्तियों में कच्चे मांस खाने वाले पशु-पक्षियों के मांस-रस से बृंहण कराना चाहिए ।

'शोषार्शोग्रहणीदोषैर्व्याधिभिः कर्शिताश्च ये ।
तेषां क्रव्यादमांसानां बृंहणा लघवो रसाः ॥' (च० सू० २२।२७)

विशेषकर कच्चे मांसभक्षी पशु-पक्षियों का मांस रस शोष रोगियों में बृंहण हेतु उपयोगी कहा गया है । क्योंकि चरकसंहिता में राजयक्ष्मा चिकित्सा में इसका स्पष्ट निर्देश दिया गया है—

'शुष्यतां क्षीणमांसानां कल्पितानि विधानवित् ।
दद्यान्मांसादमांसानि बृंहणानि विशेषतः ॥'
(च० चि० ८।१४५)

यह भी निर्देश है कि यक्ष्मा में घृत भी मांसाहारी जन्तुओं के मांस से सिद्ध कर बृंहण कर्म के निमित्त देना चाहिये ।

'मांसादमांसस्वरसे सिद्धं सर्पिःप्रयोजयेत् ।
सक्षौद्रं पयसा सिद्धं सर्पिर्दशगुणेन वा' ॥ (च० चि० ८।१६७)

सामान्य रूप से बृंहण कर्म करने के लिए सात्म्य देश में चलने-फिरने वाले मृग; मछली और ऐसे पक्षियों का जिसे विषयुक्त शस्त्र से मारा न गया हो, रोगरहित युवा हो, इनका मांस प्रशस्त माना गया है ।

'अदिग्धविद्धमक्लिष्टं वयःस्थं सात्म्यचारिणम् ।
मृगमत्स्यविहङ्गानां मांसं बृंहणमुच्यते ॥'
(च० सू० २२।२५)

बृंहण के अन्य उपाय—१. स्नान, २. उबटन, ३. निद्रा, ४. मधुर द्रव्यों का सेवन, ६. अनुवासन बस्ति, ७. चीनी, ८. दूध, ९. घृत—ये बृंहण करते हैं ।

'स्नानमुत्सादनं स्वप्नो मधुराः स्नेहबस्तयः ।
शर्कराक्षीरसर्पींषि सर्वेषां विद्धिबृंहणम् ॥' (च० सू० २२।२८)

सम्यक् बृंहण के लक्षण—

'बलं पुष्टयुपलम्भश्च कार्श्यदोषविवर्जनम् ।
लक्षणं बृंहिते, स्थौल्यमति चात्यर्थबृंहिते ॥' (च० सू० २२।३५)

अर्थात् सम्यक् रूपेण बृंहण कर्म सम्पन्न हो जाने पर १. शरीर में बल की वृद्धि होती है । २. धातुओं की पुष्टि होती है । ३. कृशता का नाश होता है । यदि बृंहण अधिक मात्रा में या अधिक काल तक किया जाता है, तो शरीर में स्थूलता उत्पन्न होती है ।

बृंहणीय महाकषाय—'क्षीरिणी राजक्षवकाश्वगन्धाकाकोलीक्षीरकाकोलीवाट्यायनी-भद्रौदनीभारद्वाजीपयस्यार्ष्यगन्धा इति दशेमानि बृंहणीयानि भवन्ति ।'
(च० सू० ४।९)

अर्थात् १. क्षीरिणी (क्षीरलता, क्षीरविदारी), २. राजक्षवक (दुग्धिका चक्र०)

३. अश्वगंधा, ४. काकोली, ५. क्षीरकाकोली, ६. बाटचायनी (श्वेतबला–चक्र०); ७. भद्रौदनी (पीतबला), ८. भारद्वाजी (वनकपास), ९. पयस्या (विदारीकन्द) १०. ऋष्यगन्धा (विधारा)—ये दस औषधियाँ बृंहणीय महाकषाय हैं। इनमें किसी एक औषधि का या संयुक्त रूप से दस औषधियों का प्रयोग बृंहण करने वाला होता है।

३. रूक्षणोपक्रम

'रौक्ष्यं खरत्वं यत् कुर्यात्तद्धि रूक्षणम्'—च० सू० २२।१०। अर्थात् जो द्रव्य, उपाय या चिकित्सा शरीर में रूक्षता, खुरदुरापन एवं विशदपन करे, उसे रूक्षण कहा जाता है। इस कर्म के द्वारा शरीर में या आभ्यन्तर अङ्गों में रूक्षता उत्पन्न की जाती है।

रूक्षण में प्रयुक्त द्रव्यों के गुण—

'रूक्षं लघु खरं तीक्ष्णमुष्णं स्थिरमपिच्छिलम्।
प्रायशः कठिनं चैव यद् द्रव्यं तद्धि रूक्षणम्॥'

(च० सू० २२।१४)

अर्थात् रूक्षण कर्म करने वाले द्रव्यों में १. रूक्ष, २. लघु, ३. खर, ४. तीक्ष्ण, ५. उष्ण, ६. स्थिर, ७. अपिच्छिल, ८. कठिन आदि गुण होते हैं।

रूक्षण में प्रयुक्त द्रव्यों की कार्मुकता—रूक्ष गुण शरीर; शरीराङ्गों या शरीरावयवों के द्रवांशों का शोषण करता है—यस्य शोषणे शक्तिः स रूक्षः–हेमादि। इसके कारण शरीर में रूक्षता, शुष्कता व्याप्त होती है। शोषण प्रक्रिया से धातुओं, बल, वर्णादि में शुष्कता आती है। लघु गुण से शरीर व अङ्गों में लघुता आती है। लघु गुण धातुओं को घटाता है, जिससे शरीर में कृशता होती है। यह अग्नि-दीपक गुण है, इससे उत्साह व स्फूर्ति आती है। दुःखद स्पर्श वाले गुण को खर कहते हैं, इसके द्वारा शरीर का लेखन होता है—'यस्य लेखने शक्तिः स खरः'—हेमाद्रि। इससे मलों का शोषण व धातुओं का क्षय होता है। तीक्ष्ण गुण शोधन करने वाला होता है—'यस्य शोधने शक्तिः स तीक्ष्णः'—हेमाद्रि। शोधन करने से यह धातुओं का ह्रास करने वाला होता है। उष्णगुण पित्तवर्द्धक होता है, जिससे शरीर में उष्णता की वृद्धि होती है। यह मूत्र, स्वेद, पुरीष आदि का प्रवर्त्तक होता है–'स्वेदने उष्णः'–हे०। जिसके फलस्वरूप शरीर से क्लेद व द्रवांश निकल जाने के कारण रूक्षण प्रक्रिया सम्पन्न होती है। स्थिर गुण चिरस्थायी व गतिहीन होता है। इससे धातुओं में स्थिरता होती है—'यस्य धारणे शक्तिः स स्थिरः—हेमाद्रि। यह वात का स्तम्भन करता है—'स्थिरो वातमलस्तम्भी'—भा० प्र०। वात के शरीर में रुक जाने के कारण शरीर में रूक्षता तथा लघुता व्याप्त हो जाती है, क्योंकि वात रूक्ष व लघु गुण युक्त है। अपिच्छिल का तात्पर्य पिच्छिल के विपरीत गुण से है। पिच्छिल का विपरीत विशद

होता है। विशद में क्षालन शक्ति होती है–'यस्य क्षालने शक्तिः स विशदः'—हेमाद्रि। क्षालन शक्ति द्वारा यह शरीर के शरीरस्थ धातुओं की पिच्छिलता (चिपचिपापन) को नष्ट कर देता है, जिससे रूक्षण प्रक्रिया सम्पन्न होती है। कठिन गुण दृढ़ व कठोर होता है। यह धातुओं को दृढ़ करता है तथा मलों को शुष्क करता है। इससे वात-वृद्धि होती है, परिणामतः वायु वृद्ध होने के कारण शरीर में रूक्षता उत्पन्न करती है। इस प्रकार रूक्षण कर्म में प्रयुक्त द्रव्य शोषण, लेखन, अग्नि-दीपन, शोधन, स्वेदन, धारण, वात-स्तम्भन, क्षालन व वातवृद्धि द्वारा रूक्षण प्रक्रिया सम्पन्न करते हैं।

रूक्षण द्रव्य—

'कटुतिक्तकषायाणां सेवनं स्त्रीष्वसंयमः।
खलिपिण्याकतक्राणां मध्वादीनां च रूक्षणम्॥'

(च० सू० २२।२९)

अर्थात् १. कटु, तिक्त, कषाय रस वाले द्रव्य का सेवन, २. मैथुन में संयम न रखना, ३. सरसों की खली, तिल की खली, मट्ठा और शहद का प्रयोग शरीर को रूक्ष बनाता है।

रूक्षणीय पुरुष—

'अभिष्यण्णा महादोषा मर्मस्था व्याधयश्च ये।
ऊरुस्तम्भप्रभृतयो रूक्षणीया निर्दिशताः॥'

(च० सू० २२।३०)

अर्थात् अभिष्यन्द वाले, बहुत दोषयुक्त, मर्मस्थान की व्याधियाँ, उरुस्तम्भ आदि व्याधियों में रूक्षण कर्म किया जाता है।

स्तम्भनोपक्रम

'स्तम्भनं स्तम्भयति यद्गतिमन्तं चलं ध्रुवम्'—च० सू० २२।१२। अर्थात् जो द्रव्य, उपाय या चिकित्सा गतिशील द्रव्यों एवं चल द्रव्यों के गति आदि को निश्चित रूप से रोकता है, उसे स्तम्भन कहा जाता है। स्तम्भन द्वारा शरीर में दोषों, धातुओं एवं मलों में रुकावट उत्पन्न होती है।

स्तम्भनीय पुरुष—

'पित्तक्षाराग्निदग्धा ये वम्यतीसारपीडिताः।
विषस्वेदातियोगार्ताः स्तम्भनीया निर्दशिताः॥'

(च० सू० २२।३२)

अर्थात् १. पित्त प्रकृति वाले व्यक्ति या पित्तज व्याधियों से ग्रसित व्यक्ति, २. क्षार व अग्नि दग्ध से पीड़ित, ३. वमन, ४. अतीसार-पीड़ित, ५. विष व स्वेद के अधिक निकलने के कारण कष्टयुक्त रोगी—इनमें स्तम्भनोपक्रम किया जाता है।

स्तम्भक द्रव्य के गुण—

'शीतं मन्दं मृदु श्लक्ष्णं रूक्षं सूक्ष्मं द्रवं स्थिरम् ।
यद् द्रव्यं लघु चोद्दिष्टं प्रायस्तत् स्तम्भनं स्मृतम् ॥'

(च० सू० २२।१७)

अर्थात् १. शीत २. मन्द ३. मृदु ४. श्लक्ष्ण ५. रूक्ष ६. सूक्ष्म ७. द्रव ८. स्थिर तथा ९. लघु—ये नौ गुण स्तम्भन कर्म करने वाले द्रव्यों में होते हैं ।

स्तम्भन में प्रयुक्त द्रव्यों की कार्मुकता—शीत गुण स्तम्भन करने वाला होता है–'स्तम्भने हिमः'—हेमाद्रि । यह विशेषरूप से स्वेद की गतिशीलता को रोकता है । स्वेद के अतिरिक्त पुरीष का भी स्तम्भन करता है । शीत गुण द्वारा स्तम्भन प्रक्रिया सीधे सम्पन्न होती है, अतः स्तम्भक द्रव्यों में प्रथमतः शीत गुण का ही उल्लेख किया गया है—'ह्लादनः स्तम्भनः शीतो'—सु० सू० ४६, 'शीतस्तु स्तम्भी'–भा० प्र० । मन्द गुण शनैः शनैः अल्प कार्य करने वाला होता है—'मन्दो मान्द्यकरः स्मृतः'–हे० । अतः अधिक गतिशील व चलत्व युक्त द्रव्यों की गति को अल्प कर देता है । दोष-वैषम्य से जब दोष-विशेष की अतिप्रवृत्ति होती है तो मन्द गुण अपने शामक कर्म (यस्य शमने शक्तिः स मंदः–हे०) द्वारा दोष-साम्य करता है, परिणामतः दोष का अति प्रकोप समाप्त होकर स्तम्भन हो जाता है । मृदु गुण धातुओं को शिथिल कर देता है (यस्य श्लथने शक्तिः स मृदु), जिससे दोषों की गतिशीलता समाप्त हो जाती है, परिणामतः स्तम्भन कर्म सम्पन्न होता है । श्लक्ष्ण में रोपण शक्ति होती है—'यस्य रोपणे शक्तिः स श्लक्ष्णः'–हेमाद्रि । रूक्ष गुण में शोषण शक्ति होती है— 'यस्य शोषणे शक्तिः स रूक्षः'–हेमाद्रि । यह धात्वादि व मलों का शोषण करता है । शोषण से शुष्कता आ जाती है, जिससे रूक्ष स्तम्भन करता है । सूक्ष्म गुण में विवरण शक्ति होती है—'यस्य विवरणे शक्तिः स सूक्ष्मः'—हेमाद्रि । अपने विवरण शक्ति द्वारा मार्ग को स्वच्छ कर देता है, जिससे वात गतिशील होकर प्रसृत होता है, परिणामतः मलों का शोषण होता है, जिससे स्तम्भन- कर्म सम्पन्न हो जाता है । सभी जगह व्याप्त हो जाने वाले गुण को द्रव कहा जाता है । यह प्रवाह व संग्रह का कारण होता है—'द्रवत्वं स्यन्दनकर्मैकारणम्'—भा० प्र० । हेमाद्रि ने द्रव में विलोड़न एवं सुश्रुत तथा भावमिश्र ने क्लेदन शक्ति कहा है—'यस्य विलोड़ने शक्तिः स द्रवः'–हे०; 'द्रवः प्रक्लेदनः'–सु० सं० 'द्रवः क्लेदकरी व्यापी'–भा० प्र० । अतः यह गुण मलादि का उत्सर्ग कराने वाला होता है, पर संग्रह का कारण होने से संग्रह द्वारा स्तम्भन कर्म कर सकता है । स्थिर गुण गतिहीन होता है । इसमें धारण शक्ति होती है—'यस्य धारणे शक्तिः स स्थिरः'—हेमाद्रि । भा० प्र० में इसे 'वातमलस्तम्भी' कहा गया है—'स्थिरो वातमलस्तम्भी' । इस प्रकार स्थिर गुण अपने धारण शक्ति द्वारा स्तम्भन कर्म करता है । लघु गुण लेखन, रोपण कर्म करता है तथा ऊर्ध्व गति करने वाला होता

है। जब दोष-धात्वादि की प्रवृत्ति अधोमार्ग से होती है, तो अपनी ऊर्ध्व गति के कारण अधोगतिप्राप्त द्रव्य को रोककर स्तम्भन कर्म करता है।

स्तम्भनीय द्रव्य—

'द्रवं तन्वसरं यावच्छीतीकरणमौषधम् ।
स्वादु तिक्तं कषायं च स्तम्भनीया निर्दशिता ॥'

(च० सू० २२।३३)

अर्थात् जो द्रव्य तनु, द्रव, स्थिर तथा शरीर में शीतोत्पादक होते हैं, रस में मधुर, तिक्त, कषाय होते हैं; वे स्तम्भन कर्म करते हैं।

षडुपक्रमवाद की उपादेयता

षडुपक्रमवाद विवरण के प्रारम्भ में ही हम विचार कर चुके हैं कि आयुर्वेद का लक्ष्य धातुसाम्य है। जिसमें वृद्ध धातुओं का ह्रास तथा क्षीण धातुओं की वृद्धि की जाती है। इसे ही सन्तर्पण-अपतर्पण, लंघन-बृंहणादि कर्मों के रूपों में जाना जाता है। इस तथ्य की विवेचना पूर्व में की जा चुकी है। किन्तु शरीरस्थ दोष तीन हैं, अतः यदि मात्र दो ही उपक्रम (लंघन, बृंहण) प्रयुक्त होते हैं तो कतिपय व्यावहारिक कठिनाइयाँ आ सकती हैं, अतः तीनों दोषों की चिकित्सा हेतु षडुपक्रम सिद्धान्त की स्थापना की गई है। जैसे—वात-दोषजन्य विकारों में स्नेहन, स्वेदन व बृंहण उपक्रम उपादेय हैं। पित्तज प्रकृति के व्यक्ति या पित्तजन्य विकारों में स्तम्भन उपक्रम प्रशस्त माना गया है तथा रोग व रोगी के अनुसार घृतपानादि स्नेहन उपक्रम का भी विधान है। कफज व्याधियों में लंघन व रूक्षण चिकित्सा ही सफल चिकित्सा मानी गई है। इस प्रकार तीनों दोषों द्वारा उत्पन्न व्याधियों के लिए षडुपक्रम की उपादेयता पृथक्-पृथक् निर्दिष्ट है। इन छः उपक्रमों में स्नेहन व स्वेदन की उपादेयता पर स्नेह-स्वेद कल्पाध्याय में विस्तृत रूप से विचार किया जा चुका है, अतः स्नेहन, स्वेदन की उपादेयता-ज्ञान हेतु उस प्रकरण का अवलोकन करना चाहिए। शेष चार लङ्घन, रूक्षण, स्तम्भन इन चार बृंहण उपक्रमों की उपादेयता पर यहाँ विचार करना अपेक्षित है।

बृंहण उपक्रम की उपादेयता विशेष रूप से कृश व्यक्तियों के लिए होती है। अतिकृश को परिभाषित करते हुए कहा गया है—

शुष्कस्फिगुदरग्रीवो धमनीजालसंततः ।
त्वगस्थिशेषोऽतिकृशः स्थूलपर्वा नरो मतः ॥ (च० सू० २१।१५)

अर्थात् १. जिस व्यक्ति का नितम्ब, उदर, ग्रीवा अधिक सूख गई हो, २. जिसके शरीर में धमनियों का जाल स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होता हो, ३. जिसके शरीर को देखने पर ऐसा प्रतीत होता है कि शरीर में त्वचा व अस्थियाँ ही शेष हैं। ४. जिसकी

संधियाँ अपेक्षाकृत मोटी हो गई हों; इस प्रकार के व्यक्तियों को अतिकृश कहा जाता है। ऐसे व्यक्तियों में बृंहण चिकित्सा ही उपादेय होती है। उपर्युक्त लक्षण तो अतिकृश के हैं, इसके अतिरिक्त सामान्य कृश व्यक्तियों में भी बृंहण चिकित्सा ही उपादेय है। यदि कृशता के दोषों पर सूक्ष्मदृष्टि से विचार किया जाता है, तो उन व्यक्तियों को भी आयुर्वेद में कृश कहा गया है, जिनके अन्दर बल अर्थात् व्याधिक्षमता की कमी होती है; क्योंकि कृश के दोषों का उल्लेख निम्न रूप में किया गया है—१. जो व्यक्ति व्यायाम को सहन न कर पाता हो अर्थात् कुछ समय तक या हल्के व्यायाम से भी उसमें श्वास-प्रश्वास अधिक चलने लगे, २. जो कभी भी अधिक भोजन को पचा न सके, ३. जो भूख-प्यास के वेग को रोक न पावे अर्थात् भूख-प्यास लगने के साथ ही आहारादि न प्राप्त होने पर विशेष कष्ट का अनुभव करने लगे, ४. जो औषधियों का सेवन न कर पाते हों अर्थात् किसी भी औषधप्रयोग से उनके अन्दर असात्म्यज लक्षण उत्पन्न हो जाते हों, ४. जो शीत-उष्णादि को सहन न कर पाते हों (बहुधा ऐसे व्यक्ति चिकित्सार्थ आते हैं, जो शीत वस्तुओं का प्रयोग या शीत में बाहर निकलने से या उष्ण सेवन से बार-बार प्रतिश्यायादि से पीड़ित हो जाते हैं अर्थात् वे शीत या उष्ण को सहन नहीं कर पाते हैं), ६. जो मैथुनकर्म सहज रूप से नहीं कर पाते हैं, अर्थात् किञ्चित् मात्रा में भी मैथुन करने पर या तो शक्तिहीन अनुभव करते हैं या सफल मैथुन-कर्म बलाभाव के कारण नहीं कर पाते हैं; इन लक्षणों से युक्त व्यक्तियों में बृंहण चिकित्सा ही उपादेय होती है। इन लक्षणों से युक्त व्यक्तियों में बृंहणोपक्रम करना चाहिए—

सोऽतिकृशः क्षुत्पिपासाशीतोष्णवातवर्षभारादानेष्वसहिष्णुर्वातरोगप्रायोऽल्पप्राणश्च क्रियासु भवति। श्वासकासशोषप्लीहोदराग्निसादगुल्मरक्तपित्तानामन्यतममासाद्य मरणमुपयाति, सर्वे एव चास्य रोगाः बलवन्तो भवन्त्यल्पप्राणत्वात्। अतस्तस्योत्पत्तिहेतुं परिहरेत्। उत्पन्ने तु पयस्याश्वगन्धाविदारीगन्धाशतावरीबलातिबलानागबलानां मधुराणामन्यासां चौषधीनामुपयोगः,' क्षीरदधिघृतमांसशालिषष्टिकयवगोधूमानां च, दिवास्वप्नब्रह्मचर्याव्यायामबृंहणवस्त्युपयोगश्चेति।

(सु० सू० १५।३३)

आचार्य सुश्रुत के उपर्युक्त उद्धरण में अतिकृश व्यक्ति के लक्षणों, उपद्रवों का उल्लेख करते हुये कार्श्य के उपचार का भी विवरण उपलब्ध होता है जिससे कि बृंहण कर्म की उपादेयता पर प्रकाश पड़ता है। अतिकृश व्यक्ति क्षुधा, पिपासा, शीत, उष्ण, वात, वर्ण तथा भारवहन को सहन करने में असमर्थ हो जाता है एवं वातरोग से पीड़ित होकर अल्प जीवनशक्ति वाला हो जाता है। अतिकृशता के कारण आतुर श्वास, कास, शोष, प्लीहाविकार, उदररोग, अग्निमांद्य, गुल्म, रक्तपित्त आदि रोगों में से किसी भी रोग से ग्रस्त होकर मृत्यु को प्राप्त करता है। अल्प जीवनशक्ति होने

के कारण अतिकृश व्यक्ति में उपर्युक्त सभी रोग अत्यन्त बलवान् होते हैं। अतः अतिकृश के कारणों को त्याग देना चाहिए। अतिकार्श्य रोग के उत्पन्न होने पर क्षीरकाकोली, अश्वगन्धा, विदारीगन्धा, शतावरी, बला, अतिबला, नागबला आदि मधुर रस वाले औषधियों का प्रयोग; दूध, दही, घृत, मांस, शालि, षष्टिक, यव, गोधूम आदि अन्नों का आहार लेना तथा दिन में सोना, ब्रह्मचर्यपालन, परिश्रम न करना, बृंहणवस्ति का उपयोग लाभकारी होता है। आचार्य सुश्रुत के उपर्युक्त उद्धरण से बृंहण कर्म की उपादेयता पर यथेष्ट प्रकाश पड़ता है। बृंहणकर्म की उपादेयता दो प्रकार से विवेचित की जा सकती है।

१. **प्रतिबन्धक रूप में बृंहणकर्म**—स्वास्थ्य रक्षण हेतु उन व्यक्तियों के लिए बृंहण कर्म अति उपादेय है, जो नित्य यात्रा करते हैं, सर्वदा मैथुन करते हैं, नित्य मद्यपान करते हैं, ग्रीष्मऋतु में सभी व्यक्तियों को, जो किसी भी प्रकार के शारीरिक या मानसिक कार्य ज्यादे करते हों, जो चिन्तित रहते हों, जो व्यक्ति वातज प्रकृति के हों—उनमें बृंहणकर्म करने से रोगों के प्रति प्रतिबंधन होता है।

२. **विकार प्रशमन के रूप में बृंहण कर्म**—क्षत, क्षीण आदि से पीड़ित व्यक्तियों में बृंहण कर्म अत्यन्त उपादेय है। इसके अतिरिक्त वृद्ध, दुर्बल व्यक्तियों में बलाधान हेतु बृंहणकर्म किया जाता है। अतिकृशताजन्य व्याधियों में बृंहणोपक्रम उपादेय है, क्योंकि उन व्याधियों का मूल कारण शरीर-कर्षण यानि कृशता ही मानी गई है। यदि कृश व्यक्तियों की बृंहण चिकित्सा नहीं की जाती है तो वे प्रायः प्लीहा, कास, क्षय, श्वास, गुल्म, अर्श, उदररोग एवं ग्रहणी रोग से पीड़ित हो जाते हैं। आचार्य सुश्रुत ने तो कृश व्यक्तियों में बृंहणकर्म नहीं करने से रक्तपित्त, अग्निसाद व मृत्यु तक का उल्लेख किया है—

'प्लीहाकासः क्षयः श्वासो गुल्मोऽर्शांस्युदराणि च।
कृशं प्रायोऽभिधावन्ति रोगाश्च ग्रहणी गताः॥'

(च० सू० २१।१४)

'स्वासकासशोषप्लीहोदराग्निसादगुल्मरक्तपित्तानामन्यतममासाद्य मरणमुपयाति।'

(सु० सू० १५।३३)

बृंहण की तरह लङ्घनोपक्रम भी अति उपादेय चिकित्सा है। यह बृंहण के विपरीत होता है। लङ्घनोपक्रम प्रायः स्थूलता-नाश के लिए किया जाता है। आयुर्वेद में स्पष्टरूप से कहा गया है कि कृशता व स्थूलता की चिकित्सा पर विशेष ध्यान देना चाहिए क्योंकि दोनों ही प्रकार के व्यक्ति सदा किसी-न-किसी व्याधि से ग्रस्त रहते हैं। अतः कृश का बृंहणोपक्रम तथा स्थूल व्यक्ति की चिकित्सा लङ्घनोपक्रम से करनी चाहिए—

'सततं व्याधितावेतावतिस्थूलकृशौ नरौ ।
सततं चोपचर्यौ हि कर्षणैर्बृंहणैरपि ॥' (च० सू० २१।१६)

लंघनोपक्रम की उपादेयता और भी बढ़ जाती है। कृश व स्थूल में यदि तुलना किया जाय तो कृशता ही अच्छी है, क्योंकि इन दोनों के व्याधिग्रस्त होने पर स्थूल व्यक्ति व्याधि से अधिक पीड़ित होता है, जैसाकि निम्नोक्त उद्धरण से स्पष्ट होता है।

'स्थौल्यकार्श्ये वरं कार्श्यं समोपकरणौ हि तौ ।
यद्युभौ व्याधिरागच्छेत् स्थूलमेवातिपीडयेत् ॥'
(च० सू० २१।१७)

अतिस्थूल व्यक्तियों के लिए एकमात्र लंघन चिकित्सा ही प्राणरक्षक होती है; क्योंकि—'अतिस्थूलस्य तावदायुषो ह्रासो जवोपरोधः कृच्छ्रव्यवायता दौर्बल्यं दौर्गन्ध्यं स्वेदाबाधः क्षुदतिमात्रं पिपासातियोगश्चेति भवन्त्यष्टौ दोषाः।' (च० सू० २१।४१)

अर्थात् स्थूल व्यक्तियों में आयु का ह्रास, किसी भी कार्य के प्रति उत्साह की कमी, मैथुन में कष्ट होना या सफल मैथुन-कर्म न कर पाना, दुर्बलता, शरीर का दुर्गन्धित होना, स्वेद से अधिक कष्ट होना, अधिक भूख लगना, अधिक प्यास लगना आदि आठ दोष होते हैं। इन दोषों से युक्त व्यक्तियों में एकमात्र लंघन चिकित्सा ही उपादेय होती है। प्रायः लंघन शब्द से उपवासादि अर्थ जनसामान्य में लिया जाता तथा कतिपय वैद्य भी लंघन के नाम पर उपवास या प्रमिताशन (नपे-तुले आहार) या व्यायामादि का निर्देश देते हैं, पर लंघन के दस बारह प्रकार है, जिनकी उपादेयता का क्षेत्र अलग-अलग है। यदि एक स्थूलकाय व्यक्ति का वजन कम करने हेतु उपवास या प्रमिताशन का निर्देश दिया जाता है (जैसाकि अधुना आधुनिक चिकित्सक, पोषण विशेषज्ञ और कतिपय वैद्य निर्देश देते हैं) तथा व्यायाम कराया जाता है, तो उस व्यक्ति की पूर्व से ही प्रज्वलित अग्नि और अधिक बढ़ जाती है तथा कुछ वजन कम होने के साथ ही दुर्बलता आदि अन्य व्याधियाँ ग्रसित कर लेती हैं। अतः रोग-रोगी, देश-काल, वय-बल आदि का विचार कर किसी विशेष लंघन प्रक्रिया को अपनाना चाहिए। जैसे यदि किसी मेदस्वी स्थूल व्यक्ति का लंघन कराना है तो उसे—'गुरु-चातर्पणं चेष्टं स्थूलानां कर्शनं प्रति'—अर्थात् उसे कृश बनाने या लघुता लाने के लिए गुरु आहार देना चाहिए। यदि हृदय रोग से पीड़ित व्यक्ति के शरीर में भारीपन हो तो उसका लंघन पाचक औषधियों की सहायता से करना चाहिए। यदि रोगी बलवान् हो तथा उसका दोष अल्प हो तभी व्यायामादि से लंघन कराना चाहिए। यदि आतुर बहुत दोष वाला है तो शोधन द्वारा लंघन कराना चाहिए। शोधन द्वारा लंघन कर्म की उपादेयता पुस्तक के प्रथम भाग में वमन, विरेचन निरुहबस्ति प्रकरण

में विस्तृत रूप से दर्शाया गया है। अधिक ज्ञान-प्राप्ति हेतु प्रथम भाग का अवलोकन करना चाहिए। यहाँ संक्षिप्त रूप से लंघनोपक्रम की उपादेयता का निर्देशमात्र किया गया है।

रूक्षणोपक्रम भी परिणामतः लंघन कर्म करने वाला है। पर इसकी प्रक्रिया विशेष होने के कारण 'विशेषस्तु पृथक्त्वकृत्' रूक्षण का उल्लेख स्वतंत्र रूप में किया गया है। रूक्षण स्नेहन के विपरीत होता है, अतः प्रथमतः यह कहा जा सकता है कि रूक्षण चिकित्सा की विशेष उपादेयता स्निग्धता-नाश करने में है। जो व्यक्ति अतिमात्रा में स्नेह का सेवन करते हैं तथा शारीरिक श्रमादि से विरत रहते हैं, उनके शरीर में, शरीराङ्गों में व शरीरावयवों में सूक्ष्म गुण वाला होने के कारण स्नेह व्याप्त होकर सन्तर्पणजन्य व्याधियाँ उत्पन्न कर देता है; ऐसी स्थिति में उन अवयवों में व्याप्त स्निग्धता के नाश के लिए रूक्षण चिकित्सा ही उपादेय है। इसकी उपादेयता विशेषकर अभिष्यन्दन-युक्त व्यक्तियों में[1] (तात्पर्य बहुत दोष वाले, मर्म स्थान में उत्पन्न व्याधियों से है), अतिस्थूल व्यक्तियों की चिकित्सा में रूक्षणोपक्रम अति

---

१. आचार्य चरक ने रूक्षण चिकित्सा की उपादेयता अभिष्यन्दि व्यक्तियों में कहा है अर्थात् जिन व्यक्तियों में अभिष्यन्दन हो। अतः यहाँ विचार करना आवश्यक है कि—अभिष्यन्दित व्यक्ति का तात्पर्य क्या है? प्रथमतः अभिष्यन्दी क्या है? इस पर विचार करना है। आचार्य डल्हण ने कहा है कि—'अभिष्यन्दि दोषधातुमलस्रोतसामतिशयक्लेदप्राप्तिजनकम्'। अर्थात् दोषों, धातुओं और मलों का वहन करने वाले स्रोतों का अतिशय क्लेदयुक्त हो जाने को अभिष्यद कहा जाता है। इसको आचार्य शार्ङ्गधर ने और भी स्पष्ट करते हुए कहा है कि—

'पैच्छिल्याद् गौरवाद् द्रव्य रुद्ध्वारसवहाः सिरा।
धत्ते यद् गौरवं तत्स्यादभिष्यन्दि यथा दधि॥' (शा० पू० ४।२४)

अर्थात् पिच्छिल, गुरु गुण वाले द्रव्यों के प्रयोग से रसवाहि-सिराओं में मार्गावरोध हो जाता है, क्योंकि पिच्छिल द्रव्य अपने चिपचिपापन से सिराओं में चिपक कर मार्गावरोध उत्पन्न करते हैं। रसवाही स्रोतस का मूल हृदय व सिराएँ होती हैं, अतः अभिष्यन्दित व्यक्ति में रक्तवाही नलिकाओं के या हृदयगत विकार विशेषरूप से होते हैं। अतः आचार्य चरक ने अभिष्यन्दित के साथ मर्मगत व्याधियों में भी रूक्षण उपक्रम की उपादेयता बतलाई है। अधुना रक्तचाप, कतिपय हृदय रोग इस श्रेणी में आते हैं। कोलेस्ट्राल आदि स्नेह द्रव्यों द्वारा हृदयगत नलिकाओं के अवरोध से उत्पन्न हृदयविकार, रक्तनलिकाओं की स्थूलता, हृदयगत कपाटों की स्थूलता आदि आयुर्वेदानुसार अभिष्यन्दित विकार हैं। अतः उपर्युक्त व्याधियों में रूक्षण चिकित्सा का उपयोग किया जा सकता है तथा रूक्षण कर्म करने वाली औषधियाँ उपर्युक्त विकारों में उपादेय सिद्ध होंगी।

उपादेय है। रूक्ष गुण द्रवांश का शोषण करने वाल होता है, अतः जब शरीर में या अवयवों में द्रवांश संचित हो जाता है, उस स्थिति में रूक्षण चिकित्सा द्रवांश का शोषण कर अपनी उपादेयता सिद्ध करती है। यदि त्वचादि में अतिस्निग्धता हो जाती है या अतिस्नेहजन्य विकार हो जाते हैं, उस स्थिति में रूक्षण चिकित्सा बढ़ी स्निग्धता का नाश करती है। अतिस्थूलता में रूक्ष बस्तियों का प्रयोग तथा त्वचा पर रूक्ष उद्वर्त्तन का प्रयोग करना प्रशस्त होता है—'रूक्षोष्णा बस्तयस्तीक्ष्णा रूक्षाण्युद्वर्त्तनानि च।'—च० सू० २१।२१। जब शरीर से जीवनधारक धातुओं की अतिप्रवृत्ति होने लगती है तो स्तम्भनोपक्रम ही जीवनरक्षक सिद्ध होता है। जैसे—अतिसार में जब अप् धातु की प्रवृत्ति ज्यादा होने लगती है या वमन से अप् धातु का शरीर में क्षय होने लगता है तो स्तम्भनोपक्रम के द्वारा 'अप्' धातु की अतिप्रवृत्ति को रोककर जीवन-रक्षा की जाती है। इसी प्रकार शरीर से होने वाले रक्तस्राव में स्तम्भनोपक्रम ही एकमात्र जीवनरक्षक सिद्ध होता है। धातुओं के साथ-साथ कतिपय अवस्थाओं में मलों का भी स्तम्भन कर जीवनरक्षा की जाती है, जैसे—राजयक्ष्मा से पीड़ित व्यक्ति में अतिसार या मल की अतिप्रवृत्ति प्राणघातक कही गई है, इस स्थिति में 'बिड्बल' ही जीवनरक्षक कहा गया है तथा 'विड्बलरक्षण' हेतु एकमात्र उपाय 'स्तम्भनोपक्रम' प्रशस्त होता है। इसी प्रकार बहुमूत्रता, शुक्रमेहादि में स्तम्भक चिकित्सा उपादेय है। जहाँ भी शरीरस्थ धातुओं की अनावश्यक व शीघ्र प्रवृत्ति होती है, वहाँ स्तम्भनोपक्रम उपादेय है। जैसे—मैथुनादि में यदि शुक्र की प्रवृत्ति शीघ्र हो जाती है यानि व्यक्ति शीघ्रपतन दोष से ग्रसित होता है तो स्तम्भक औषधियों द्वारा ही इस विकार को रोका जाता है। अतः यह कहा जा सकता है कि 'स्तम्भनोपक्रम आत्ययिक स्थिति में प्राणरक्षकोपक्रम' के रूप में उपयोगी सिद्ध हो सकता है। उपर्युक्त प्रस्तुत तथ्यों के आलोक में विचार करने से स्पष्ट होता है कि षडुपक्रम सिद्धान्त कितना उपादेय तथा आयुर्वेद में वर्णित एक व्यापक सर्वजनोपयोगी चिकित्सोपक्रम है।

अध्याय—५

यज्जःपुरुषीयवाद

यज्जःपुरुषीयवाद का सन्दर्भ एकमात्र चरकसंहिता में ही प्राप्त होता है जो कि एक स्वतंत्र अध्याय 'यज्जःपुरुषीय अध्याय' की विषयवस्तु है। यज्जःपुरुषीय का तात्पर्य यह है कि—जिससे पुरुष की उत्पत्ति होती है। यज्जः को स्पष्ट करते हुए चक्रपाणिदत्त ने कहा है कि 'यस्माज्जातो यज्जः'। इस प्रकार प्रस्तुत शीर्षक में जिससे पुरुष की उत्पत्ति होती है, उन भावों पर विचार किया गया है। जब यज्जःपुरुषीयवाद की विवेचना की जा रही थी तो महर्षि पुनर्वसु आत्रेय की अध्यक्षता में सम्भाषा परिषद् आयोजित की गई थी; इस सम्भाषा परिषद् में विवेच्य विषय रखा गया कि—

'आत्मेन्द्रियमनोर्थानां योऽयं पुरुषसंज्ञकः।
राशिरस्यामयानां च प्रागुत्पत्तिविनिश्चये॥' (च० सू० २५।४१)

अर्थात् आत्मा, इन्द्रिय, मन व विषयों के समुदाय, जिसे पुरुष के नाम से जाना जाता है तथा इसके रोगोत्पत्ति के कारण के निश्चय के लिये इस प्रसंग की अवतारणा की गई है। यहाँ आचार्य ने स्पष्टतया 'विनिश्चये' का उल्लेख कर निर्देश दिया है कि इस विद्वत् परिषद का उद्देश्य मात्र सम्भाषा ही नहीं था, बल्कि यह निश्चय करना भी था कि पुरुष व रोग की उत्पत्ति के कारण क्या हैं? तथा पुरुष व रोग की उत्पत्ति कैसे हुई?

इस सभा में उपस्थित होने वाले सभी महर्षि, ऋषि विद्वान् थे। इस सम्भाषा में निम्न महर्षियों ने भाग लिया—१. मुद्गल गोत्र में उत्पन्न ऋषि; जिनका नाम पारीक्षि था। २. शरलोमा, ३. वार्योविद, ४. हिरण्याक्ष, ५. कौशिक, ६. भद्रकाप्य; ७. भरद्वाज, ८. काङ्कायन, ९. भिक्षु आत्रेय। इस प्रकार उपर्युक्त नौ विद्वानों ने पुरुष व रोगोत्पत्ति के कारण से सम्बन्धित अपने-अपने विचार प्रस्तुत किये, जिसकी अध्यक्षता महर्षि पुनर्वसु आत्रेय ने की। इस सम्भाषा में अपने-अपने सिद्धान्तों को पुष्ट करने के लिए प्रमाण प्रस्तुत किये गये तथा पूर्व के विद्वानों द्वारा प्रस्तुत मतों का खण्डन किया गया। इस सभा की यह विशेषता थी कि जल्पवाद के अनुसार दूसरे पक्ष को दोषपूर्ण बतलाते हुए प्रायः प्रत्येक विद्वान् अपने पक्ष की स्थापना हेतु प्रमाण दिये, पर अध्यक्ष द्वारा लिया गया निर्णय ही सर्वमान्य हुआ। इस सम्भाषा परिषद् में पुरुष व रोग से सम्बन्ध रखने वाले उत्पत्तिकारकों का विचार निम्न रूप में प्रस्तुत किया गया है।

१. आत्मवाद—आत्मवाद के प्रस्तोता पारीक्षि थे। उन्होंने अपना पक्ष रखते हुए कहा कि—

'आत्मजः पुरुषो रोगाश्चात्मजाः कारणं हि सः।
स चिनोत्युपभुङ्क्ते च कर्म कर्मफलानि च॥
नह्यृते चेतनाधातोः प्रवृत्तिः सुखदुःखयोः'।

(च० सू० २५।१०)

अर्थात् पुरुष व रोग ये दोनों आत्मा से उत्पन्न होते हैं। पुरुष व रोग दोनों का कारण आत्मा को ही माना जाता है, क्योंकि आत्मा ही कर्म करता है तथा उस कर्म के फल को स्वयं भोगता है। आत्मा के बिना सुख-दुःख की प्रवृत्ति ही नहीं होती। यहाँ पारीक्षि ने अपने पक्ष में यह तर्क प्रस्तुत किया है कि बिना चेतना धातु के सुख-दुःख की प्रवृत्ति नहीं हो सकती। यदि सुख-दुःख की प्रवृत्ति का कारण आत्मा ही है तो पुरुष व रोगोत्पत्ति का कारण भी आत्मा ही होगा। यहाँ आचार्य ने दूसरा यह तथ्य प्रस्तुत किया कि कर्म-कर्त्ता भी आत्मा ही है; अतः उन कर्मों के फल का भोक्ता भी आत्मा ही है। यदि कर्त्ता व भोक्ता दोनों आत्मा है तो रोगोत्पत्ति व पुरुषोत्पत्ति दोनों का कारण आत्मा ही होना चाहिए। इस तरह पारीक्षि ने अपने दो तर्कों (कर्त्ता व भोक्ता होना, सुख-दुःख की प्रवृत्तिकारक) द्वारा अपने पक्ष को प्रस्तुत किया कि पुरुषोत्पत्ति व रोगोत्पत्ति का कारण आत्मा है।

आत्मवाद का खण्डन—पारीक्षि के आत्मवाद के प्रस्ताव का खण्डन ऋषि शरलोमा द्वारा किया गया। उन्होंने आत्मवाद के खण्डन में अपना विचार रखा कि—

'नेत्याह न ह्यात्माऽऽत्मानमात्मना।
योजयेद्व्याधिभिर्दुःखैर्दुःखद्वेषी कदाचन॥' (च० सू० २५।१०)

अर्थात् दुःख से द्वेष करने वाला आत्मा स्वयं अपने-आप को दुःख से युक्त करेगा; यह कदापि सम्भव नहीं है। यहाँ शरलोमा ने आत्मवाद के खण्डन में आत्मा को दुःखद्वेषी के रूप में प्रस्तुत किया है। स्वयं को दुःखी करना कोई नहीं चाहता, अतः आत्मा अपने को दुःखी क्यों करेगा? यदि आत्मा को पुरुषोत्पत्ति का कारण माना जाय तो अपने को आत्मा निम्न योनियों से क्यों संयुक्त करेगा? अतः रोगोत्पत्ति एवं पुरुषोत्पत्ति का कारण आत्मा को नहीं स्वीकार किया जा सकता है।

२. सत्त्ववाद—शरलोमा ने पारीक्षि द्वारा प्रस्तुत आत्मवाद का खण्डन करते हुए अपने सत्त्ववाद के पक्ष को प्रस्तुत किया। उनकी उक्ति है—

'रजस्तमोभ्यां तु मनः परीतं सत्त्वसंज्ञकम्।
शरीरस्य समुत्पत्तौ विकाराणां च कारणम्॥'

अर्थात् सत्त्वसंज्ञक मन जब रज व तम से युक्त होता है, तब शरीर (जीवित शरीर पुरुष) व रोग दोनों की उत्पत्ति होती है।

सत्त्ववाद का खण्डन—सत्त्ववाद का खण्डन वार्योविद ने किया। इनका कथन है कि—अकेले मन न तो शरीर की उत्पत्ति कर सकता है और न ही रोग की उत्पत्ति कर सकता है। जब मन शरीर की उत्पत्ति नहीं कर सकता तो न तो शारीरिक रोगों की उत्पत्ति हो सकती है और न ही मानसिक रोगों की; क्योंकि मन भी शरीरस्थ ही होता है—

'वार्योविदस्तु नेत्याह न ह्येकं कारणं मनः।
नर्ते शरीराच्छारीररोगा न मनसः स्थितिः'॥ (च० सू० २५।१२)

३. रसवाद—वार्योविद ने सत्त्ववाद का खण्डन करते हुए रसवाद का अपना पक्ष प्रस्तुत किया है—

'रसजानि तु भूतानि व्याधयश्च पृथग्विधाः।
आपोहि रसवत्यस्ताः स्मृता निर्वृत्तिहेतवः॥'

अर्थात् सभी प्राणियों की उत्पत्ति रस से होती है तथा रोगों की उत्पत्ति भी रस से ही होती है। जल रसयुक्त होता है, अतः सभी प्राणियों की उत्पत्ति तथा रोगोत्पत्ति का कारण वही है।

रसवाद का खण्डन—वार्योविद द्वारा प्रस्तुत रसवाद का खण्डन हिरण्याक्ष ने किया। उन्होंने कहा कि पुरुष व रोग की उत्पत्ति रस के द्वारा सम्भव नहीं है—

'हिरण्याक्षस्तु नेत्याह न ह्यात्मा रसजः स्मृतः।
नातीन्द्रियं मनः सन्ति रोगाः शब्दादिजास्तथा॥'
(च० सू० २५।१४)

उन्होंने खण्डन करते हुए तर्क प्रस्तुत किया कि—यदि पुरुषोत्पत्ति का कारण रस को माना जाय तो आत्मा की उत्पत्ति भी रस द्वारा मानी जायेगी; यह कदापि संभव नहीं है। मन अतीन्द्रिय होता है, अतः मन की उत्पत्ति भी रस से नहीं मानी जा सकती। यदि रोगोत्पत्ति का कारण भी रस को माना जाय तो यह भी संभव नहीं है कि रस से रोगोत्पत्ति होती है, क्योंकि असात्म्यज शब्द, स्पर्श, रूप, गंधादि से भी रोगोत्पत्ति होती है।

४. षड्धातुवाद—इस प्रकार हिरण्याक्ष ने रसवाद का खण्डन करते हुए अपने पक्ष षड्धातुवाद को प्रस्तुत किया। अपने पक्ष को प्रस्तुत करते हुए उन्होंने कहा है कि—

'षड्धातुजस्तु पुरुषो रोगाः षड्धातुजास्तथा।
राशिः षड्धातुजो ह्येष सांख्यैराद्यैः प्रकीर्त्तितः'॥

अर्थात् पुरुष की उत्पत्ति षड्धातु से होती है तथा षड्धातु से ही रोगोत्पत्ति

होती है। हिरण्याक्ष ने 'सांख्यैराद्यैः प्रकीर्त्तितः' कहकर अपने पक्ष की पुष्टि किया है कि प्राचीन विद्वानों ने चिकित्सा के लिए उपयोगी इस राशिपुरुष सिद्धान्त की पूर्ण परीक्षा के बाद स्थापना की है।

षड्धातुवाद का खण्डन—हिरण्याक्ष द्वारा प्रस्तुत षड्धातुवाद का खण्डन कौशिक ने किया। उनका कथन है कि—

'कस्मान्मातापितृभ्यां हि बिना षड्धातुजो भवेत्।'

अर्थात् बिना माता-पिता के षड्धातुओं से पुरुष की उत्पत्ति कैसे हो सकती है? जब पुरुष की उत्पत्ति इससे नहीं होती तो रोग की भी उत्पत्ति नहीं हो सकती।

५. **मातापितृवाद**—हिरण्याक्ष के प्रस्ताव षड्धातुवाद का खण्डन करते हुए कौशिक ने अपने पक्ष मातापितृवाद को प्रस्तुत किया—

'पुरुषः पुरुषाद्गौर्गोरश्वादश्वः प्रजायते।
पित्र्या मेहादयश्चोक्ता रोगास्तावत्र कारणम्॥'

अर्थात् पुरुष से पुरुष, बैल से बैल, घोड़े से घोड़ा तथा प्रमेहादि रोग पिता से होते हैं। अतः पुरुष और रोग दोनों के उत्पत्ति के कारण माता-पिता हैं।

मातापितृवाद का खण्डन—कौशिक के प्रस्ताव मातापितृवाद का खण्डन भद्रकाप्य ने किया। उनका कथन है कि—

'भद्रकाप्यस्तु नेत्याह नह्यन्धोऽन्धात् प्रजायते।
मातापित्रोरपि च ते प्रागुत्पत्तिर्न युज्यते'॥ (च० सू० २५।१८)

अर्थात् यदि पुरुष व रोग के उत्पत्ति का कारण माता-पिता को मान लिया जाय तो प्रश्न यह उत्पन्न होगा कि—अंधे माता-पिता से अंधी सन्तान उत्पन्न नहीं होती है। क्यों ? यदि माता-पिता पुरुषोत्पत्ति के कारण हैं तो उनकी सन्तान भी अन्धत्व-युक्त होनी चाहिए। यदि पुरुषोत्पत्ति के कारण माता-पिता हैं तो सृष्टि की उत्पत्ति किसके द्वारा हुई। अर्थात् प्रथमतः माता-पिता की उत्पत्ति किसी अन्य कारणों से हुई होगी। अतः पुरुषोत्पत्ति व रोगोत्पत्ति के कारणरूप में माता-पिता को स्वीकार नहीं किया जा सकता।

६. **कर्मवाद**—इस प्रकार भद्रकाप्य ने माता पितृवाद का खण्डन करते हुए अपने पक्ष 'कर्मवाद' को प्रस्तुत किया। अपने पक्ष कर्मवाद को प्रस्तुत करते हुए भद्रकाप्य ने कहा है कि—

'कर्मजस्तु मतोजन्तुः कर्मजास्तस्य चामयाः।
न ह्यते कर्मणो जन्म रोगाणां पुरुषस्य वा॥'

(च० सू० २५।१९)

अर्थात् प्राणियों की उत्पत्ति कर्म से मानी जाती है तथा उसके रोग भी कर्मज

माने जाते हैं अर्थात् रोगोत्पत्ति का कारण भी कर्म ही होता है; अतः कर्म के बिना पुरुष व रोग की उत्पत्ति नहीं हो सकती है।

कर्मवाद का खण्डन—भद्रकाप्य द्वारा प्रस्तुत कर्मवाद का खण्डन भरद्वाज ने किया है। कर्मवाद का खण्डन करते हुए भरद्वाज ने कहा है कि—

'भरद्वाजस्तु नेत्याह कर्त्ता पूर्वं हि कर्मणः।
दृष्टं न चाकृतं कर्म यस्य स्यात् पुरुषः फलम्'॥'

(च० सू० २५।२०)

अर्थात् कर्म से पुरुष की उत्पत्ति व रोग की उत्पत्ति मानना सर्वथा अनुचित है, क्योंकि कर्म करने से पूर्व कर्त्ता का होना आवश्यक है। यदि कर्म से पुरुषोत्पत्ति मानी जाय तो प्रश्न उत्पन्न होता है कि पुरुषोत्पत्ति-कारक कर्म का कर्त्ता कौन था? क्योंकि बिना कर्त्ता कर्म सम्पन्न ही नहीं होता है। कर्म का फल कर्त्ता को ही प्राप्त होता है, अतः कर्त्ता की उत्पत्ति पूर्व में किससे हुई? अतः पुरुषोत्पत्ति और रोगोत्पत्ति का कारण कर्म को भी नहीं माना जा सकता।

७. स्वभाववाद—कर्मवाद का खण्डन करते हुए भरद्वाज ने अपना पक्ष स्वभाववाद को प्रस्तुत किया। अपने पक्ष का प्रस्तुतीकरण भरद्वाज ने निम्न रूप में किया है—

'भावहेतुः स्वभावस्तु व्याधीनां पुरुषस्य च।
खरद्रवचलोष्णत्वं तेजोऽन्तानां यथैव हि॥'

(च० सू० २५।२१)

अर्थात् व्याधियों तथा पुरुष की उत्पत्ति स्वभाव द्वारा होती है। उन्होंने अपने पक्ष की पुष्टि के लिए तर्क प्रस्तुत किया है कि जिस प्रकार पृथ्वी जल वायु, अग्नि आदि भावपदार्थों में खरत्व, द्रवत्व, चलत्व व उष्णत्व स्वभावतः होते हैं, उसी प्रकार पुरुष व रोग की उत्पत्ति भी स्वभावतः होती है।

स्वभाववाद का खण्डन—इस तरह भरद्वाज द्वारा प्रस्तुत स्वभाववाद का खण्डन कांकायन ने किया है। उनका कथन है कि—यदि पुरुषोत्पत्ति व रोगोत्पत्ति का कारण स्वभाव माना जाय तो सृष्टि में उत्पत्ति या अनुत्पत्ति-विशेष के लिए किये गये अन्य व्यवहारों का कोई महत्त्व नहीं रह जायेगा। अतः स्वभाव को पुरुषोत्पत्ति व रोगोत्पत्ति का कारण नहीं माना जा सकता—

काङ्क्षायनस्तु नेत्याह नह्यारम्भफलं भवेत्।
भवेत् स्वभावाद्भावानामसिद्धिः सिद्धिरेव च॥'

(च० सू० २५।२२)

८. प्रजापतिवाद—स्वभाववाद का खण्डन करते हुए काङ्क्षायन ने अपने प्रजापतिवाद का पक्ष प्रस्तुत करते हुए कहा है कि—

'स्रटा त्वमितसंकल्पो ब्रह्मापत्यं प्रजापतिः ।
चेतनाचेतनस्यास्य जगतः सुखदुःखयोः ॥'

अर्थात् सम्पूर्ण सृष्टि के रचनाकार, पुरुषोत्पत्ति तथा रोगोत्पत्ति के कारण ब्रह्मा के पुत्र प्रजापति हैं, क्योंकि प्रजापति के संकल्प अपरिमित हैं। प्रजापति ही इस चेतन-अचेतन जगत् के सुख-दुःख के कर्त्ता हैं। अतः पुरुष और रोग दोनों की उत्पत्ति के कारण प्रजापति हैं।

प्रजापतिवाद का खण्डन—प्रजापतिवाद के प्रस्तोता काङ्कायन के इस पक्ष का खण्डन भिक्षु आत्रेय ने किया। इनका कथन है कि पुरुष व रोग के उत्पत्तिकारक प्रजापति को स्वीकार नहीं किया जा सकता। इस पक्ष के खण्डन हेतु उनका तर्क यह है कि—

तन्नेति भिक्षुरात्रेयो नह्यपत्यं प्रजापतिः ।
प्रजाहितैषी सततं दुःखैर्युञ्ज्यादसाधुवत् ॥'

(च० सू० २५।२४)

अर्थात् यदि प्रजापति को पुरुष के उत्पत्ति में कारण माना जाय तो, इस सृष्टि के समस्त प्राणि प्रजापति की ही प्रजा अर्थात् सन्तान होंगे! कोई भी पिता अपने सन्तान को दुःखी करना नहीं चाहता, बल्कि सदैव उसके सुख की ही कामना करता है, तो फिर प्रजापति अपने सन्तानों में रोगोत्पत्ति कैसे कर सकते हैं? अतः रोगोत्पत्ति प्रजापति के द्वारा नहीं की जा सकती। इसलिए प्रजापति को पुरुषोत्पत्ति व रोगोत्पत्ति का कारण नहीं माना जा सकता।

९. कालवाद—इस प्रकार प्रजापति वाद का खण्डन करते हुए भिक्षु आत्रेय ने अपने कालवाद के पक्ष को प्रस्तुत करते हुए कहा कि—

'कालजस्त्वेवपुरुषः कालजास्तस्य चामयाः ।
जगत् कालवशं सर्वं कालः सर्वत्र कारणम् ॥'

(च० सू० २५।२५)

अर्थात् पुरुषोत्पत्ति व रोगोत्पत्ति का कारण काल होता है; क्योंकि सम्पूर्ण जगत् काल के ही वशीभूत होता है एवं इस सृष्टि के समस्त व्यवहारादि (कार्यादि) होने में काल ही कारण होता है, अतः पुरुषोत्पत्ति व रोगोत्पत्ति का कारण काल है।

अध्यक्ष द्वारा सम्भाषा रोकना—इस तरह उपर्युक्त विद्वानों के वाद-प्रतिवाद को देखकर आचार्य पुनर्वसु आत्रेय ने सम्भाषा की कार्यवाही रोक दी, क्योंकि वाद प्रतिवाद से किसी निश्चयात्मक सिद्धान्त की स्थापना नहीं की जा सकती है। भगवान आत्रेय पुनर्वसु ने कहा कि—जिस प्रकार तेल पेरने वाला मनुष्य घूम घूमकर पुनः उसी स्थान पर आ जाता है जहाँ से वह चलना प्रारम्भ किया था; उसी प्रकार वाद-

प्रतिवाद में मनुष्य अपने पक्ष पर ही केन्द्रित हो जाता है परिणामतः किसी प्रकार का निश्चयात्मक ज्ञान स्थापित नहीं हो पाता है।

अध्यक्ष द्वारा दिशा-निर्देश——अध्यक्ष आत्रेय पुनर्वसु ने विद्वानों को दिशानिर्देश दिया कि——

'मुक्त्वैवं वादसंघट्टमध्यात्ममनुचिन्त्यताम् ।
नाविधूते तमः स्कन्धे ज्ञेये ज्ञानं प्रवर्तते ।।'

(च० सू० २५।२८)

अर्थात् वाद-विवाद की प्रक्रिया को छोड़कर आध्यात्म की चिन्ता विद्वज्जनों को करनी चाहिए (यहाँ आध्यात्मचिन्ता से निश्चित सिद्धान्त का तात्पर्य ग्रहण किया जाता है) क्योंकि जब तक अज्ञानरूपी तम (अन्धकार) का नाश नहीं होता है तबतक ज्ञान करने योग्य सिद्धान्तों का ज्ञान नही हो पाता।

विद्वानों के वाद-प्रतिवाद में दोष——विद्वानों के वाद-प्रतिवाद में आचार्य पुनर्वसु ने एकपक्षीय दोषारोपण किया कि——

'मैवं वोचत तत्त्वं हि दुष्प्रापं पक्षसंश्रयात् ।' (च० सू० २५।२६)

अर्थात् अपने-अपने पक्ष-पुष्टि में संलग्न विद्वानों ने स्वपक्ष अर्थात् पुरुषोत्पत्ति व रोगोत्पत्ति से सम्बन्धित कारण के प्रतिपादन में अपने-अपने पक्ष की स्थापना करना चाहते हैं।

भगवान आत्रेय पुनर्वसु (अध्यक्ष) का यज्जःपुरुषीय सार्वभौमिक सिद्धान्त

उपर्युक्त नौ विद्वानों के वाद-प्रतिवाद को शांत कर दिशानिर्देश देने के बाद सभाध्यक्ष भगवान् पुनर्वसु आत्रेय ने एक सार्वभौमिक सिद्धान्त की स्थापना किया है। इस सिद्धान्त में किसी भी विद्वान् के पक्ष का खण्डन नहीं किया गया है, बल्कि एक ऐसे सिद्धान्त की स्थापना की गई है, जिससे सभी विद्वज्जन सन्तुष्ट हो सकते हैं। पुनर्वसु का यज्य:पुरुषीय सिद्धान्त निम्नोद्धृत है—

येषामेव हि भावानां संपत् संजनयेन्नरम् ।
तेषामेव विपद्व्याधीन् विविधान् समुदीरयेत् ।।

(च० सू० २५।२९)

अर्थात् जिन भावों की सम्पत्ति अर्थात् श्रेष्ठावस्था में रहने पर पुरुष की उत्पत्ति होती है, उन्हीं भावों की विपत्ति अश्रेष्ठता होने पर अनेक प्रकार के व्याधियों की उत्पत्ति होती है। इस सिद्धान्त में किसी पक्ष से सम्बन्धित सिद्धान्त प्रतिपादित न कर सार्वभौम सिद्धान्त स्थापित किया गया है। इस सिद्धान्त के अनुसार जो भी उत्पादक भाव पुरुष के हैं उन्हीं उत्पादक भावों का अभाव रोग कहा जाता है पर

पुरुषोत्पादक सम्पत्ति भावों को कहा गया है जब कि रोगोत्पादक विपत्तिभावों को कहा गया है।

पुनर्वसु ने किसी भी पक्ष का खण्डन नहीं किया है, पर उन्हें एकपक्षीय माना है। क्योंकि पुरुषोत्पत्ति किसी एक भाव से न मानकर आयुर्वेद में उसे समुदायात्मक कहा गया है। सम्भाषा के प्रारम्भ में ही 'आत्मेन्द्रिय मनोर्थानां योऽयं पुरुषसंज्ञकः' कहकर इस पुरुष को आत्मा, इन्द्रिय, सत्त्व, विषय आदि का समुदाय कहा गया है। आयुर्वेद में यदि सूक्ष्म विचार किया जाता है तो पुरुषोत्पत्ति में उपर्युक्त सभी भावों का प्रायः परोक्ष या प्रत्यक्षतः उल्लेख किसी न किसी रूप में पाया जाता है। संभवतः उसी कारण से आचार्य पुनर्वसु ने विद्वानों को 'पक्षसंश्रयात्' कहा है तथा किसी एक वाद विशेष को स्वीकार न कर एक ऐसा सिद्धान्त प्रतिपादित किया है, जिससे सभी पक्षों की पुष्टि हो सकती है। उदाहरणार्थ—पारीक्षि के आत्मवाद का चरकसंहिता शारीर स्थान के कतिधापुरुषीय में उल्लेख प्राप्त होता है, जहाँ कहा गया है कि—'भास्तमः सत्यमनृतं वेदाः कर्मशुभाशुभम्। न स्युः कर्त्ता च बोद्धा च पुरुषो न भवेद्यदि ॥ नाश्रयो न सुखं नार्त्तिर्न गतिर्नागतिर्न वाक्।……न बन्धो न च मोक्षः स्यात् पुरुषो न भवेद्यदि। कारणं पुरुषस्तस्मात् कारणज्ञैरुदाहृतः ॥' च० शा० १।३९-४१॥ अर्थात् यदि कर्त्ता व ज्ञाता पुरुष को नहीं माना जाय तो प्रतिभा, मोह, सत्य, असत्य, गति, अगति, बन्ध, मोक्ष; ज्ञान-विज्ञानादि नहीं होंगे। अतः कारण जानने वाले पुरुष आत्मा को कारण कहते हैं।

इसी प्रकार भद्रकाप्य के कर्मवाद का उल्लेख भी चरकसंहिता में उपलब्ध है। कर्म भी पुरुष व रोगोत्पत्ति को प्रभावित करता है। यह भी माना गया है कि सत्त्वानुबन्धित आत्मा को अपने कर्म के अनुसार ही विभिन्न योनियों में भ्रमण करना पड़ता है—'वशी तत् कुरुते कर्म यत् कृत्वा फलमश्नुते। वशी चेतः समाधत्ते वशी सर्वं निरस्यति' है। च० शा० १।७८। अर्थात् वशी आत्मा वही कर्म करता है, जिसे करने के बाद उसे स्वयं भोगता है। 'नित्यानुबन्धमनसा देहकर्मानुपातिना। सर्वयोनिगतं विद्यादेकयोनावपि स्थितम्'।—च० शा० १।८१। जब कर्म-फल का भोग होता है, तभी कर्म का क्षय हो पाता है—'न हि कर्म महत् किञ्चित् फलं यस्य न भुज्यते। क्रियाघ्नाः कर्मजा रोगाः प्रशमं यान्ति तत्क्षयात्।'—च० शा० १।११७। आयुर्वेद में कर्म द्वारा रोगोत्पत्ति भी मानी जाती है तथा कर्मजन्य व्याधियों को कर्मज व्याधियाँ कहा जाता है—'ब्रह्मस्त्री सज्जनवधपरस्वहरणादिभिः। कर्मभिः पापरोगस्य प्राहुः कुष्ठस्य सम्भवम्।'—सु० नि० ५।२९। 'निर्दिष्टं दैवशब्देन कर्म यत् पौर्वदेहिकम्। हेतुस्तदपि कालेन रोगाणामुपलभ्यते।' च० शा० १।११६। हिरण्याक्ष द्वारा प्रस्तुत षड्धातुवाद को आयुर्वेद ने स्वीकार किया है तथा षड्धातुज पुरुष को ही कर्मपुरुष या चिकित्स्य पुरुष माना गया है। 'खादयश्चेतनाषष्ठा धातवः पुरुषः स्मृतः।'—च०

शा० १।१६। 'पञ्चमहाभूतशरीरिसमवायः पुरुष इत्युच्यते।' पुनः पुरुषविचय अध्याय में—'षड्धातवः समुदिताः 'पुरुष' इति शब्दं लभन्ते, तद्यथा—पृथिव्यपस्तेजो वायुराकाशं ब्रह्म चाव्यक्तमिति, एत एव च षड्धातवः समुदिताः पुरुषः इति शब्दं लभन्ते।' आदि। पंचभूत व आत्मा का विस्तृत वर्णन प्रथम भाग में किया गया है, अतः इस सन्दर्भ का अवलोकन कृपया प्रथम भाग में करना चाहिए। आत्रेय (भिक्षु आत्रेय) के कालवाद का उल्लेख भी आयुर्वेद में किया गया है। गर्भ प्रकरण में क्षेत्र, बीज, अम्बु के साथ काल का भी सम्यक् संयोग आवश्यक घटक के रूप में स्वीकार किया गया है। काल को कारण द्रव्य भी माना गया है; अतः किसी भी कार्य-द्रव्य की उत्पत्ति में इसका रहना अपेक्षित होता है। व्याधियों के तीन कारणों में परिणाम (काल) को व्याधियों का एक प्रमुख कारण माना गया है। अतः आयुर्वेद में भी पुरुष व रोगोत्पत्ति में काल की भूमिका का उल्लेख प्राप्त होता है। शरलोमा के सत्त्ववाद को भी यदि सूक्ष्मदृष्टि से देखा जाता है तो पुरुषोत्पत्ति व रोगोत्पत्ति में कारण रूप में आयुर्वेद में वर्णन मिलता है। शरलोमा का कथन है—'रजस्तमोभ्यां तु मनः परीतं सत्त्वसंज्ञकम्'। अर्थात् सत्त्वसंज्ञक मन जब रज, तम से युक्त होता है, तो पुरुषोत्पत्ति व रोगोत्पत्ति होती है। आयुर्वेद में 'रजस्तमोभ्यां युक्तस्य संयोगोऽयमनन्तवान्'।—च० शा० १।—कहा गया है। इसके अतिरिक्त राशिपुरुष की उत्पत्ति का कारण रज व तम द्वारा उत्पन्न मोह-द्वेषादि को माना गया है—'पुरुषो राशिसंज्ञस्तु मोहेच्छाद्वेषकर्मजः'।—च० शा० १।५३। यह पुरुष तब तक जन्म-मृत्यु के चक्र में रहता है, जब तक रज-तम से बँधा रहता है—'रजस्तमोभ्यामाविष्टश्चक्रवत् परिवर्तते'।—च० शा० १।६८। तथा इस रज व तम से उत्पन्न उपधा ही शरीर तथा दुःखोत्पत्ति की कारण मानी गई है—'उपधा हि परोहेतुर्दुःखदुःखाश्रयस्पदः। त्यागः सर्वोपधानां च सर्वदुःखव्यपोहकः।—च० शा० १।९५। यदि हम पुनर्वसु आत्रेय के इस वचन पर ध्यान दें कि—'नेति भगवानात्रेयः सर्वेभ्यो एभ्यो समुदितेभ्यो गर्भोऽभिनिर्वर्तते।—च० शा० ३।५ अर्थात् सभी भावों के समुदाय से गर्भ की उत्पत्ति होती है, तो प्रस्तुत विषय स्पष्ट हो जाता है। ये गर्भज भाव निम्न है—

१. मातृजभाव २. पितृजभाव	कौशिक का माता-पितृवाद
३. आत्मजभाव	पारीक्षि का आत्मवाद
४. सत्त्वजभाव ५. सात्म्यजभाव	शरलोमा का सत्त्ववाद
६. रसजभाव	वार्योविद का रसवाद

जैसे—कौशिक ने पुरुषोत्पत्ति व रोगोत्पत्ति का कारण माता-पिता को माना है। जो कि एकपक्षीय है। पुरुष समुदायात्मक है। माता-पितृजभाव पुरुष को प्रभावित करते हैं, अर्थात् शरीर में कतिपय भाव माता के बीज द्वारा तो कतिपय भाव पिता

के बीज द्वारा उत्पन्न होते हैं। मृदु व कोमल अङ्ग मातृबीज से तथा कठोर अङ्ग-प्रत्यङ्ग, अस्थि आदि पितृबीज से उत्पन्न होते हैं। रोगोत्पत्ति में भी माता-पिता को कारण माना गया है। प्रमेह रोग में, जातप्रमेही में प्रमेह का कारण माता-पिता को ही माना गया है। आयुर्वेद में कहा गया है कि—'यस्य यस्य ह्यङ्गावयवस्य बीजे बीजभाग उपतप्तो भवति, तस्य तस्याङ्गावयवस्य विकृतिरुपजायते'।—च० शा० ३।१७ अर्थात् गर्भोत्पादक बीज से या बीज भाग से जो-जो अंग उत्पन्न होते हैं यदि उस बीज, बीजभाग या बीजभाग का अवयवविशेष दूषित रहता है, तो भावी सन्तान के उन-उन अङ्गों या अवयवों में विकृतियाँ होती हैं। इसी प्रकार वार्योविद ने पुरुषोत्पत्ति व रोगोत्पत्ति का कारण रस को माना है। आयुर्वेद में रसजभाव भी स्वीकार किये गये हैं। यदि रस सम्पत्ति (प्रशस्तगुण) अवस्था में रहता है तो गर्भ की पुष्टि करता है; क्योंकि गर्भ की वृद्धि व पुष्टि रस से ही होती है। यदि यह विपत्ति (अप्रशस्तगुण) अवस्था में हो तो गर्भ के अनेक व्याधियों का कारण बनता है। इसके अतिरिक्त ओज को भी रस वर्ग का ही माना गया है तथा 'रसौजः' ऐसा कहा गया है। यह भी उल्लेख है कि—'प्रथमे जायते ह्योजः।' अर्थात् गर्भोत्पत्ति में प्रथम भूमिका रसवर्गीय ओज की ही होती है। स्वभाव को आयुर्वेद में कतिपय स्वभावबलप्रवृत्त व्याधियों का कारण माना गया है।

इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि आयुर्वेद में पुरुष को किसी एक भाव से उत्पन्न न मानकर समुदायात्मक कहा गया है। जिन-जिन भावों की प्रशस्तावस्था से पुरुषोत्पत्ति होती है, उन-उन भावों की अप्रशस्तावस्था में अनेक रोग उत्पन्न होते हैं।

पुरुषोत्पत्ति व रोगोत्पत्ति-मूलक सिद्धान्त

यज्जःपुरुषीयवाद में पुरुष व रोग की उत्पत्ति के सिद्धान्त का प्रतिपादन हुआ है। इस सम्बन्ध में काशीपति वामक ने पुनर्वसु आत्रेय के समक्ष यह समस्या प्रस्तुत किया कि पुरुष व रोग की उत्पत्ति का कारण तो क्रमशः साम्यावस्थागत भाव व वैषम्यता-प्राप्त भाव उद्घाटित किये गये हैं, पर पुरुष व रोग के वृद्धि का कारण क्या है अर्थात् इनके वृद्धि का सिद्धान्त क्या है?

पुनर्वसु आत्रेय द्वारा सिद्धान्त-प्रतिपादन—

'तमुवाच भगवानात्रेयः हिताहारोपयोग एक एव पुरुषवृद्धिकरो भवति, अहिताहारोपयोगः पुनर्व्याधिनिमित्तमिति।' (च० सू० २५।३१)

अर्थात् हितकर आहार का सेवन ही पुरुष की वृद्धि करने वाला होता है तथा अहितकर आहार के उपयोग से रोग की उत्पत्ति होती है।

यज्जःपुरुषीयवाद की उपादेयता

१. यज्जःपुरुषीयवाद में इस सिद्धान्त की स्थापना की गई है कि जिन-जिन भावों के साम्यावस्था से पुरुषोत्पत्ति होती है, उन्हीं-उन्हीं भावों के विषमता से रोगोत्पत्ति होती है।

२. हिताहार के सेवन से पुरुष की वृद्धि होती है तथा अहिताहार के सेवन से रोग की वृद्धि होती है।

यज्जःपुरुषीयवाद का सिद्धान्त आयुर्वेद में अत्यन्त उपादेय है। पुरुषोत्पत्ति के जो भी कारण माने जाते हैं वही कारण यदि विषमावस्था में होंगे तो रोगोत्पत्ति होती है। चाहे हम पुरुष को आयुर्वेदानुसार भौतिक व आध्यात्मिक द्रव्यों का समुदाय मानें या रासायनिक द्रव्यों का संगठन मानें या भौतिक अवस्थाओं का परिणाम मानें या जैव-भौतिक व जैव-रासायनिक द्रव्यों का संगठन मानें; पर इस सिद्धान्त के अनुसार हम पुरुषोत्पत्ति में जिन भावों की सत्ता स्वीकार करते हैं यदि उन भावों में विषमता होती है तो वह रोगोत्पत्ति का कारण होगा। रोगोत्पादक कारण अन्य नहीं होते हैं, वरन् उत्पादक भावों की विषमावस्था ही होती है। यदि पुरुषोत्पत्ति में सत्त्ववाद को हम स्वीकार करते हैं, तो रोगोत्पादक भी सत्त्व ही है, अन्य नहीं। अतः उत्पादक भाव अपने साम्य अवस्था में बने रहें, इसके लिए सदैव प्रयत्नशील रहना चाहिए। जैसे—यदि काल उत्पादक भाव है तो काल की विषमता रोगोत्पत्ति करती है; अतः काल यदि वैषम्ययुक्त है तो अपने आप को तदनुसार प्रतिबन्धित करना चाहिए। जैसे—यदि शीतऋतु में अतिशय शीत हो जाय तो वह रोगोत्पादक होगा—ऐसा मानकर उसके प्रकोप से बचने के लिए सदैव सचेष्ट होना चाहिए। यदि माता-पिता अपने को पुरुषोत्पादक भाव समझते हैं, तो वे इस अर्थ में भी सचेष्ट रहें कि भावी सन्तान के लिए वे रोगोत्पादक भी हैं; क्योंकि अनेकानेक विकृतियाँ माता-पिता से सन्तान में आती हैं तथा वे असाध्य होती हैं। माता-पिता के कारण उत्पन्न व्याधियाँ जन्मजात होने से अचिकित्स्य होती हैं। आयुर्वेद पुरुष की उत्पत्ति में षड्धातु (पंचमहाभूत या चेतनाधातु) को कारण के रूप में स्वीकार करता है। अतः गर्भावस्था में गर्भिणी के आहार-विहार में ऐसी व्यवस्था होनी चाहिये जिससे कि पंचमहाभूतों की साम्यावस्था बनी रहे। पंचमहाभूतों की विषमता भी रोगोत्पत्ति में कारण होती है। इस प्रकार के वर्णन से यज्जःपुरुषीयवाद की उपादेयता का निर्देश किया गया है। यदि विद्वान् वैद्य यज्जःपुरुषीयवाद की महत्ता को ध्यान में रखे तथा तदनुसार इसका अनुपालन करे तो रोगोत्पत्ति की संभावना नहीं होती। इस प्रकार हमें यह स्पष्ट होता है कि यज्जःपुरुषीयवाद एक अत्यन्त उपादेय सिद्धान्त है।

पुरुष व रोग-वृद्धिकर भावसिद्धान्त की उपादेयता—पुरुष व रोग-वृद्धिकर भावसिद्धान्त की उपादेयता हमारे दैनिक जीवन में ओतप्रोत है। पुरुष व रोगवृद्धिकर भाव क्रमशः हिताहार व अहिताहार कहे गये हैं; क्योंकि आहार या अन्न को ही प्राणधारक कहा गया है—'प्राणाः प्राणभृतामन्नं तदयुक्त्या निहन्त्यसून्'।—च० चि० २४।६०। हितकर आहार-विहार हेतु सदैव सचेष्ट रहना चाहिए। विहित हिता-

हार ही सेवन करना चाहिए। इसके लिए आहार के अष्टायतन पर सावधानीपूर्वक विचार कर आहार-सेवन करना चाहिए। जो आहार स्वभावतः अहिताहार हो उनका त्याग तथा जो स्वभावतः हिताहार हो उनका सेवन करना चाहिए। आचार्यों ने हितकर और अहितकर आहारों का निर्देश निम्न रूप में दिया है। उपादेयता की दृष्टि से उन्हें यहाँ उद्धृत किया जा रहा है।

१. **हितकर आहार**—जो आहार-द्रव्य समान मात्रा में स्थित शारीरिक धातुओं को साम्यावस्था में बनाये रखें तथा विषमता प्राप्त शारीरिक धातुओं को साम्यावस्था में लाकर सम बनाये रखें उसे हितकर आहार कहा जाता है—'समांश्चैव शरीरधातून् प्रकृती स्थापयति विषमांश्च समीकरोतीत्येतद्धि तं विद्धि।'—च० सू० २५।३३।

२. **अहितकर आहार**—हितकर के विपरीत धातुओं को विषम करने वाले आहार को अहितकर आहार कहा जाता है।

हितकर व अहितकर आहार का चयन द्रव्यों के गुण, कर्मादि के आधार पर किया जाता है। इसके अतिरिक्त आहार की मात्रा भी हितकारी या अहितकारी होने में महत्त्वपूर्ण भूमिका रखती है। ये आहार-द्रव्य योनि के अनुसार (जंगम, स्थावर), परिणामानुसार (हितकर, अहितकर), आहार-प्रकार के अनुसार (लेह्य, भक्ष्य, भोज्य, पेय), रस के अनुसार (मधुराम्ललवणकटुतिक्तकषाय), गुणानुसार (रूक्ष-स्निग्ध, गुरु आदि २०) अनेक प्रकार के होते हैं। संस्कारानुसार गुण-परिवर्तन भी होता है, अतः सदैव तत्पर होकर हिताहार का सेवन तथा अहिताहार का त्याग करना चाहिए।

स्वभावतः हिताहार—कुछ ऐसे आहार-द्रव्यों का उल्लेख किया गया है जो स्वभावतः हिताहार होते हैं, अर्थात् शरीरस्थ धातुओं को किसी प्रकार की हानि नहीं पहुँचाते तथा शारीरिक धातुओं को सम बनाये रखते हैं। जैसे—लाल चावल, मूँग की दाल, आकाशीय जल, सैंधव लवण, जीवन्ती का शाक, हरिण का मांस, लावा पक्षी का मांस, गोह का मांस, रोहू मछली का मांस, गोघृत, गोदुग्ध, तिल-तैल, सूअर की चर्बी, चुलुकी मछली की चर्बी, श्वेतहंस की चर्बी, मुर्गे की चर्बी, बकरी का मेदा, अदरख, मुनक्का, शर्करादि द्रव्य स्वभावतः हितकर होते हैं—'लोहितशालयः शूकधान्यानां पथ्यतमत्वे श्रेष्ठतमा भवन्ति, मुद्गाः शमीधान्यानाम्, आन्तरिक्षमुदकानां, सैन्धवं लवणानां, जीवन्तीशाकं शाकानाम्, ऐणेयं मृगमांसानां, लावा पक्षिणां, गोधा विलेशयानां, रोहितो मत्स्यानां, गव्यं सर्पिः सर्पिषां, गोक्षीरं क्षीराणां, तिलतैलं स्थावरजातानां स्नेहानां, वराहवसा आनूपमृगवसानां, चुलुकीवसा मत्स्यवसानां पाकहंसवसा जलचरविहङ्गवसानां, कुक्कुटवसा विष्किरशकुनिवसानाम्,

अजा मेदः शाखादमेदसां, शृङ्गवेरं कन्दानां, मृद्वीकाफलानां, शर्करेक्षुविकाराणामिति प्रकृत्यैव हिततमानामाहारविकाराणां प्राधान्यतो द्रव्याणि भवन्ति ।'

(च० सू० २५।३८-३९)

स्वभावतः अहिताहार—कुछ आहार-द्रव्य स्वभावतः अहिताहार होते हैं। अर्थात् इन द्रव्यों का सेवन यदि किया जाता है तो शारीरिक धातुयें विषम हो जाती हैं। यथा—'अहिततमानप्युपदेक्ष्यामः—यवकाः शूकधान्यानामपथ्यतमत्वेन प्रकृष्टतमा भवन्ति, माषाः शमीधान्यानां, वर्षानादेयमुदकानाम्, ऊषरं लवणानां, सर्षपशाकं शाकानां, गोमांसं मृगमांसानां, काणकपोतः पक्षिणां, भेको बिलेशयानां, चिलचिमो मत्स्यानाम्, आविकं सर्पिः सर्पिषाम् ।'

अध्याय—६

आत्रेयभद्रकाप्यीयवाद

चरकसंहिता में द्रव्य से सम्बन्धित रस, गुण, वीर्य, विपाकादि का वर्णन एक सम्भाषा के रूप में प्राप्त होता है। विशेषकर रस के सम्बन्ध में प्रचलित विभिन्न मतों के उद्घोषक महर्षियों की सम्भाषा प्रस्तुत की गई है। सम्भाषा-परिषद् के वक्ताओं में प्रथमतः आत्रेय व भद्रकाप्य का उल्लेख किया गया है, अतः इस अध्याय का नाम 'आत्रेयभद्रकाप्यीयाध्याय' रखा गया है। प्रस्तुत शीर्षक 'आत्रेयभद्रकाप्यवाद' का भी आधार यही है, क्योंकि प्रारम्भिक—विषय रस में सम्भाषा का प्रारम्भ भद्रकाप्य के द्वारा हुआ है तथा निर्णय व रसादि से सम्बन्धित सिद्धान्तों की स्थापना आत्रेय द्वारा की गई है। अतः प्रस्तुत विषय का शीर्षक 'आत्रेयभद्रकाप्यीयवाद' रखा गया है। इस 'आत्रेयभद्रकाप्यीयवाद' में विवेच्य विषयवस्तु निम्न है—

१. रससंख्या विनिश्चय
२. रस के आश्रयभूत द्रव्य
३. रस व अनुरस के लक्षण
४. परादि गुणों के लक्षण
५. रसों की पांचभौतिकता
६. ऊर्ध्वानुलोमभाजवाद
७. रसों की विकल्पनायें
७. रसों की गुरुता, लघुता आदि में श्रेष्ठता
९. विपाक लक्षण
१०. प्रभाव लक्षण
११. वीर्य व वीर्य का संख्या-निर्णय
१२. वैरोधिक आहार तथा
१३. वैरोधिक आहार के घटक

रसों से सम्बन्धित तथ्यों का विशद् वर्णन व उसकी उपादेयता का विवेचन पुस्तक के प्रथम भाग के पृष्ठ १९७ से २१८ में किया गया है, अतः उसका पुनः वर्णन करना उचित नहीं होगा। विद्वान् पाठकगण रसों के विस्तृत विवेचनाध्ययन हेतु पुस्तक के प्रथम भाग का अवलोकन करें, जहाँ रसों की संख्या विनिश्चय, आश्रयभूत द्रव्य, रसानुरस के लक्षण, पांचभौतिकता, रसों की विकल्पनायें, ऊर्ध्वानुलोमभाजवादादि का वर्णन किया गया है। अब इन विषयों का पुनः पिष्टपेषण न करके शेष विषयों पर प्रकाश डालने का प्रयत्न किया जायेगा। परादि गुणों का वर्णन व

उपादेयता पर पुस्तक के प्रथम भाग के पृष्ठ ५०-५१ में प्रकाश डाला गया है, अतः यह वहीं द्रष्टव्य है।

विपाकवाद

आत्रेयभद्रकाप्यवाद में रसवाद के बाद विपाकवाद का उल्लेख किया गया है। विपाक क्या है? विपाक का लक्षण क्या है? इसको स्पष्ट करते हुए आचार्य वाग्भट ने कहा है—

'जाठरेणाग्निना योगाद्यदुदेति रसान्तरम्।
आहार परिणामान्ते स विपाक इति स्मृतः॥'

(अ० हृ० अ० ९।१०)

अर्थात् गृहीत मधुरादि रसों से युक्त द्रव्यों का महास्रोतस् में जाठराग्नि द्वारा परिपाक होकर अन्त में जिस रस की उत्पत्ति होती है, उसे विपाक कहा जाता है।

विपाक की निरुक्ति से ही इसका लक्षण स्पष्ट हो जाता है—'विशिष्टः जरणनिष्ठाकाले रसविशेषस्य पाकः प्रादुर्भावः विपाकः।' अर्थात् पाचनक्रिया पूर्ण हो जाने के उपरान्त अन्त में उत्पन्न विशिष्ट रस को विपाक कहा जाता है। आचार्य चक्रपाणिदत्त ने विपाक-लक्षण को स्पष्ट करते हुए कहा है कि—'विपाकलक्षणं तु जाठराग्नियोगादाहारस्य निष्ठाकाले यो गुणं उत्पद्यते स विपाकः, वचनं हि—

जाठरेणाग्निना योगाद्यदुदेति रसान्तरम्।
रसानां परिणामान्ते स विपाक इति स्मृतः॥'

आचार्य गंगाधर ने भी विपाक के सम्बन्ध में अपना विचार निम्नरूप में प्रकट किया है—'पाकः पचनं द्रव्याणां स्वरूपरसयोः परावृत्तिः। सा च स्वरूपान्तरत्वेन रसान्तरत्वेन च परिणतिः, तस्याः विशेषो विपाकः।' इसको पाचन के अन्तिम (निष्ठा) काल में होने के कारण निष्ठापाक भी कहा जाता है। वाग्भट के टीकाकार अरुणदत्त ने इसको स्पष्ट करते हुए कहा है—'रसानां परिणामान्ते जरणनिष्ठाकाले, यद् रसान्तरं रसविशेषः उदेति उत्पद्यते स विपाकः।' अर्थात् उदरस्थ अग्नि के संयोग से जो रसविशेष उत्पन्न होता है, उसे विपाक कहा जाता है। यहाँ निष्ठा से अन्तिम पाक का ग्रहण किया जाता है। इसका तात्पर्य यह है कि निष्ठापाक से पूर्व भी किसी तरह की पाक-प्रक्रिया होती है। इस तथ्य के आधार पर आयुर्वेद में विशेषकर विभिन्न व्याख्याकारों ने दो प्रकार का पाक माना है। प्रथम अवस्थापाक तथा द्वितीय निष्ठापाक या विपाक। प्रथमतः आहार का जो पाक होता है, उसे अवस्थापाक कहा जाता है, क्योंकि इसमें रसों का परिवर्तन आवस्थिक रूप में होता है। इस अवस्था में आहार के पाचनोपरान्त रस व मल की उत्पत्ति होती है तथा पाचन-प्रक्रिया में विभिन्न अवस्थाओं में विभिन्न रूप से परिवर्तन होता है और अवस्थानुसार मलों की

उत्पत्ति होती है। स्थूलतः छः रसों से युक्त आहार का आमाशय में पाक होने पर मधुर रस की उत्पत्ति होती है अर्थात् सम्पूर्ण आहार फेनीभूत होकर मधुर रस में परिवर्तित हो जाता है। मधुरता-प्राप्त आहार के फेन से कफ की वृद्धि होती है। इसके बाद मधुरभाव-प्राप्त आहार विदग्ध हो जाता है। विदग्ध प्रतिक्रिया द्वारा सम्पूर्ण आहार का अम्ल रस में परिवर्तन हो जाता है। अम्ल रस के कारण पित्त की वृद्धि होती है। अब वह आहार वायु द्वारा पक्वाशय में ले जाया जाता है, जहाँ शोषणोपरान्त वह पिण्डस्वरूप हो जाता है। यह पिण्डरूप वाला आहार कटु रस में परिवर्त्तित हो जाता है, जिसके कारण वायु की वृद्धि होती है। इस प्रकार अवस्था-पाक में आहार प्रथमतः फेनीभूत होकर मधुरभाव प्राप्त करता है, फिर विदग्ध होकर अम्लभाव को प्राप्त करता है तथा अन्त में पिण्डित होकर कटुभाव को प्राप्त करता है; जैसा कि निम्न उद्धरण से स्पष्ट होता है—

‘अन्नस्य भुक्तमात्रस्य षड्रसस्य प्रपाकतः।
मधुराद्यात् कफो भावात् फेनभूत उदीर्यते॥
परं तु पच्यमानस्य विदग्धस्याम्लभावतः।
आशयाच्च्यवमानस्य पित्तमच्छमुदीर्यते॥
पक्वाशयं तु प्राप्तस्य शोष्यमाणस्य वह्निना।
परिपिण्डितपक्वस्य वायुः स्यात् कटुभावतः॥’

(च० चि० १५।९-११)

विपाक में रसों का अंतिम परिवर्तन होता है। यह रस रसाश्रित होकर धातुरूप में परिणत हो जाता है, जिससे विपाक में परिवर्तित रस का प्रत्यक्ष होना संभव नहीं हो पाता। आचार्य हेमाद्रि ने इस तथ्य को निम्न रूप में स्पष्ट किया है—‘एवं कर्मभिश्चानुमित एकरूपावस्थो जाठराग्निसंयोगाद् यो रसानां रसान्तरोद्भवः, स एव विपाकः, न तु यो जाठराग्निसंयोगमात्राद्रसानामनेकावस्थः प्राङ्मधुरोऽनन्तरं स एव पच्यमानोऽम्लस्ततो विपच्यमानः स एव कटुः विपाकः।’ विपाक हेतु प्रयुक्त निष्ठा शब्द अतिमहत्त्वपूर्ण है, क्योंकि जब निष्ठा से अन्तिम अर्थ ग्रहण किया जाता है तो इसके अन्तर्गत तीनों प्रकार के अग्नियों (जाठराग्नि, भूताग्नि व धात्वाग्नि) द्वारा पाक होना आवश्यक होता है। धात्वग्नियों द्वारा ही आहार रस का अन्तिम रूप से पाक होता है, जिससे शरीरस्थ धातुओं की पुष्टि होती है। रसों का प्रारम्भिक परिवर्तन तो जाठराग्नि द्वारा विभिन्न अवस्थाओं के अनुसार होता है, पर अन्तिम परिवर्तन बिना भूताग्नि के संभव प्रतीत नहीं होता; क्योंकि विभिन्न रसों के भौतिक संघठन विभिन्न होते हैं। जब रसों का अन्तिम परिवर्तन होता है तो भूताग्नियों की सहायता अपेक्षित होती है। पुनः अन्तिम अग्नि धात्वग्नि द्वारा पाचनोपरान्त रसों में परिवर्तन होता है तो वे धातुरूप में परिणत होते हैं; क्योंकि रसाश्रित होने तक भूताग्नि की

क्रिया होती है, तत्पश्चात् विभिन्न धात्वग्नियों द्वारा पाक होता है। अन्तिम रूप से धात्वग्नियों द्वारा पाक होने पर विपाक कर्म सम्पन्न हो जाता है, जिसके परिणाम-स्वरूप समस्त शरीर में धातुरूप दोषों की उत्पत्ति होती है। जबकि अवस्थापाक में मलरूप दोषों की उत्पत्ति होती है।

आचार्य चरक ने तीन विपाक माना है—

'परं चातो विपाकानां लक्षणं संप्रवक्ष्यते।
कटुतिक्तकषायाणां विपाकः प्रायशः कटुः॥
अम्लोऽम्लं पच्यते, स्वादुर्मधुरं लवणस्तथा॥'

(च० सू० २६।५८)

अर्थात् कटु-तिक्त-कषाय रस वाले द्रव्यों का विपाक प्रायशः कटु होता है। अम्ल रस वाले द्रव्यों का विपाक प्रायः अम्ल होता है तथा लवण व मधुर रस वाले द्रव्यों का विपाक प्रायशः मधुर होता है। इस प्रकार आत्रेय सम्प्रदाय में विपाक के परिणामतः रसों का परिवर्तन तीन रूपों में स्वीकार किया गया है—

रस	विपाक	धातु रूप वृद्ध दोष
१. मधुर व लवण रस का विपाक—	मधुर—	कफ
२. अम्ल " " "	अम्ल—	पित्त
३. कटुतिक्तकषाय " " "	कटु—	वात

आयुर्वेद में विपाक के प्रकार-वर्णन में भी मतमतान्तर पाया जाता है। आत्रेय सम्प्रदाय के मत वाले विद्वान् उपर्युक्त तीन विपाक को स्वीकार करते हैं। चरक-संहिता में उल्लिखित त्रिविध विपाक की पुष्टि वृद्धवाग्भट, वाग्भट आदि ने भी किया है। त्रिविध विपाक मानने का आधार वात, पित्त, कफ रूपी त्रिधातु या त्रिदोष हैं। ये तीनों सामान्यावस्था (Normal Condition) में शरीर का धारण क्रियात्मक रूप से करते हैं, जबकि सप्तधातुयें शरीर का धारण रचनात्मक रूप से करती हैं। ये क्रियात्मक धातु ही रचनात्मक धातुओं को सम या विषम स्वरूप में रखते हैं, अतः इन्हें सामान्यतया त्रिदोष कहा जाता है। आहार के पाकोपरान्त धातुरूप वात, पित्त, कफ की क्रियात्मक व सप्तधातुओं की रचनात्मक रूप से पुष्टि होती है। मधुर व लवण रस वाले द्रव्यों का मधुर विपाक होता है, जिससे शरीर के ऊर्ध्वभाग में स्थित कफ की पुष्टि होती है। अम्ल द्रव्यों का अम्ल विपाक होता है, जिससे मध्यकाय स्थित पित्त की पुष्टि होती है तथा कटु-तिक्त-कषाय रस वाले द्रव्यों का विपाक कटु होता है, जिससे पक्वाशयस्थ व शरीरगत वायु की पुष्टि होती है।

धन्वन्तरि सम्प्रदाय के अग्रणी आचार्य सुश्रुत ने दो ही प्रकार के विपाक को स्वीकृत किया है। द्विविध विपाक स्वीकार करने का आधार उन्होंने आगम प्रमाण व पञ्चमहाभूत उल्लिखित किया है—'आगमस्त्वाह—द्विविध एव पाको मधुरः कटुश्च।'—

सु० सू० ४०। रसवैशेषिककार आचार्य नागार्जुन ने भी 'द्वौ द्वैविध्यदर्शनात् परिणामस्य' कहकर द्विविध विपाकवाद की पुष्टि की है। नागार्जुन ने द्विविधविपाकवाद का आधार गुण को माना है—'गुणकारणत्वाद् गुणद्वैविध्याच्च।'—र० वै० सू० १।५१। गुणवादी विद्वान् गुरु व लघु दो प्रकार के विपाक को स्वीकार करते हैं।

यदि द्विविध विपाकवाद व आत्रेय सम्प्रदाय के त्रिविध विपाकवाद पर सूक्ष्मरूप से दृष्टिपात किया जाता है तो विशेष अन्तर (तात्त्विक) नहीं ज्ञात होता है। वस्तुतः द्विविध विपाकवाद (मधुर व कटु) तथा त्रिविध विपाकवाद (मधुर, अम्ल, कटु) दोनों में ही षड्रसों का दो या तीन रसों में परिवर्तन स्वीकार किया गया है। इन रसों के आधार पंचमहाभूत ही हैं। त्रिविध विपाकवाद में तीनों दोषों (वात, पित्त, कफ) का महत्त्व दर्शाते हुए इसकी स्थापना की गई है। द्विविध विपाकवादी अम्ल विपाक को स्वीकार नहीं करते। संभवतः पित्त के कटु गुण को ध्यान में रखते हुए कटु विपाक द्वारा पित्त व वात दोनों की क्रियापुष्टि इंगित की गयी है। जबकि आत्रेय सम्प्रदाय में पित्त-पुष्टि हेतु स्वतंत्र रूप से 'अम्ल' विपाक को स्वीकार किया गया है। द्विविध विपाकवादी (गुरु-लघुवादी) का समन्वय मधुर व कटु विपाक से हो जाता है। मधुर रस पार्थिव व आप्य होने से गुरु होता है तथा कटु आग्नेय व वायव्य होने से लघु होता। अतः गुरु-लघु विपाक को क्रमशः मधुर व कटु विपाक के रूप में ग्रहण किया जा सकता है; क्योंकि आचार्य नागार्जुन (गुरु, लघुवादी) ने स्वयं इस तथ्य को निम्न रूप में प्रकाशित किया है—'मधुरो गुरुत्वाच्च कटुकः।'—र० वै० सू० १।५२। आचार्य सुश्रुत ने भी इस तथ्य को स्पष्ट करते हुए—'तयोर्मधुराख्यो गुरुः कटुकाख्यो लघुरिति।'—सु० सू० ४०। कहा है। चरकसंहिता के चरकोपस्कार टीकाकार आचार्य योगीन्द्रनाथ सेन ने त्रिविध व द्विविध विपाकवाद का समन्वय बहुत सुन्दर व वैज्ञानिक रूप में किया है—'अम्लपाकस्याभ्युपगमानभ्युपगमयोर्बीजं तु चरकनये पित्तं प्रकृत्याऽम्लं कटु च, सुश्रुते तु कटुरसं, यत् पुनरम्लत्वं तदस्य विदग्धस्यैवेति सुश्रुतेन पित्तस्य प्राकृतस्याम्लत्वानङ्गीकारात्, सुतरां अम्लपाकोऽपि नाङ्गीक्रियते, निष्प्रयोजनत्वात्। इह पुनरम्लपाकः सप्रयोजन एव।' अर्थात् आचार्य चरक ने स्वभावतः पित्त का गुण अम्ल व कटु स्वीकार किया है, जबकि आचार्य सुश्रुत ने प्राकृत या स्वाभाविक रूप में पित्त का केवल कटु गुण ही माना है। सुश्रुत ने पित्त में अम्ल गुण तो स्वीकार किया है, पर विदग्धावस्था में ही। जिसे वे सामान्य (प्राकृत) अवस्था न मानकर असामान्यावस्था मानते हैं। अतः आचार्य चरक ने पित्त की दृष्टि से अम्ल विपाक को भी उल्लिखित किया है, किन्तु सुश्रुत ने अम्ल का स्वतंत्र उल्लेख न कर दो विपाक ही माना है।

विपाकवाद की उपादेयता

पाचन क्रिया के अन्त में जिस रस-विशेष की उत्पत्ति होती है, उसे विपाक कहा जाता है। आचार्य चरक ने विपाक हेतु 'विपाकः कर्मनिष्ठया' कहा है। अर्थात् विपाक

का ज्ञान कर्म के द्वारा अनुमान द्वारा होता है। यदि दूसरे शब्दों में कहा जाय तो अन्त्य-परिणामी ही विपाक है। चक्रपाणि दत्त ने इसकी व्याख्या में कहा है कि—'कर्मणो निष्ठा निष्पत्तिः··· । रसोपयोगे सति योऽन्त्याहारपरिणामकृतः कर्मविशेषः कफशुक्राभिवृद्ध्यादिलक्षणः, तेन विपाको निश्चीयते । एतेन विपाको नित्यपरोक्षः, तत्कार्येणानुमीयते ।' यहाँ स्पष्ट किया गया है कि शुक्रादि वृद्धिजन्य कर्मों के आधार पर विपाक का ज्ञान प्राप्त किया जाता है; अतः कहा जा सकता है कि द्रव्य वा आहारादि के वृद्धि आदि कर्म विपाक के आधार पर ही होते हैं। जिसे योगिन्द्रनाथ सेन ने स्पष्ट किया है—'विपाकः कर्मणः आहारपरिणामकृतस्य निष्ठा निष्पत्तिः दोष शुक्रवृद्धिक्षयलक्षणा, तया उपलभ्यते ।' चरकसंहिता, सूत्र स्थान, अ० २६ में विपाक के आधार पर सम्पन्न कर्मों का निर्देश देकर इसके महत्त्व व उपादेयता पर प्रकाश डाला गया है—

'शुक्रहा बद्धविण्मूत्रो विपाको वातलः कटुः ।
मधुरः सृष्टविण्मूत्रः विपाकः कफशुक्रलः ॥
पित्तकृत् सृष्टविण्मूत्रो पाकोऽम्लः शुक्रनाशनः ।
तेषां गुरुः स्यान्मधुरः कट्वाम्लावतोऽन्यथा ॥'
(च० सू० २६।६१-६२)

यहाँ आचार्य ने दोषों, धातुओं व मलों में विपाक के कर्मों का निर्देश देकर 'विपाकः कर्मनिष्ठया' को सिद्ध किया है, क्योंकि आयुर्वेद में दोषधातुमलमूलं हि शरीरम्' कहकर शरीर का मूल दोषों धातुओं व मलों को स्वीकार किया है; अतः मौलिक रूप से यहाँ विपाक की कार्मुकता दोषों, धातुओं तथा मलों पर दर्शायी गयी है। धातु में सप्तधातुओं के अन्तिम धातु (शुक्र) का उदाहरण लिया गया है; क्योंकि पूर्व-धातुओं पर उत्तरधातु का वृद्धि-क्षय क्रमिक रूपसे आधारित रहता है। अतः आचार्य ने आद्य धातु--रस का उदाहरण न देकर अन्तिम धातु—शुक्र को उदाहरण रूप में प्रस्तुत किया है। इस प्रकार विपाकवाद की उपादेयता यहाँ स्वतः सिद्ध होती है कि गृहीत द्रव्यों की शरीर में कार्मुकता का आधार विपाक ही है। आचार्य सुश्रुत ने भी निम्न वचनों द्वारा विपाक द्वारा द्रव्यों की कार्मुकता को दोषों, धातुओं व मलों पर प्रदर्शित किया है—'गुरुपाको वातपित्तघ्नः लघुपाकः श्लेष्मघ्नः । गुरुपाकः सृष्टविण्मूत्रतया कफोत्क्लेशेन च, लघुर्बद्धविण्मूत्रतया मारुतकोपेन च । (सु० सू० ४१)

आचार्य सुश्रुत के अनुसार—'सम्यङ्मिथ्याविपाकत्वात् इह सर्वद्रव्याण्यभ्यवहृतानि सम्यङ्मिथ्याविपक्वानि गुणं दोषं वा जनयन्ति ।'--सु० सू० ४० अर्थात् द्रव्यों द्वारा शरीर में गुणोत्पत्ति—दोषोत्पत्ति विपाक पर ही निर्भर करता है। सम्यक्रूपेण विपाक के सम्पन्न होने पर द्रव्य के गुणपरक कर्म लक्षित होते हैं तथा मिथ्या विपाक होने पर दोषजन्य लक्षणों की उत्पत्ति होती है। चक्रपाणिदत्त ने विपाक की उपादेयता दर्शाते हुए कहा है कि—सम्यक्पाकी व मिथ्यापाकी द्रव्यों के गुणदोष विपाक

के अनुसार ही होते हैं। वे सम्यक् पाक से समाग्नि द्वारा पाक तथा मिथ्यापाक से अतिहीनपाक का ग्रहण करते हैं। उन्होंने चित्रक और पिप्पली का उदाहरण प्रस्तुत किया है—'सम्यक् विपक्वानि गुणं, मिथ्याविपक्वानि दोषं जनयन्ति। सम्यक्पाकः समाग्निना, मिथ्यापाकस्तु हीनातिपाकरूपो यथाक्रमं मन्देन तीक्ष्णेन वाऽग्निना क्रियते। किंवा सम्यक् पाको द्रव्यानुगुणः पाकः यथा चित्रकः मिथ्यापाको तद्द्रव्यगुणविसदृशः पाकः यथा पिप्पल्यः।'

रसवैशेषिककार नागार्जुन ने विपाक की उपादेयता दर्शाते हुए कहा है कि—'तन्निमित्तत्वात् प्रशमनवर्धनयोः' अर्थात् दोषों का प्रशमन या वृद्धि विपाक के द्वारा ही होता है। इस प्रकार विपाक दोषों का साम्य बनाये रखने या दोषशमन हेतु उपादेय है। इसके अतिरिक्त 'धातूपदेहात्' अर्थात् शरीर में धातु-निर्माण प्रक्रिया विपाक पर ही आश्रित होती है। तथा 'विपाकाक्षेपत्वादितरेषां, प्रायशो विपाकसाद्गुण्ये च गुणवतामप्यदोषात्'—र० वै० सू० १।१४४; अर्थात् सभी द्रव्य अपने गुण व दोष के लिए विपाक की अपेक्षा करते हैं।

उपर्युक्त विवरण में विपाक की प्रमुख उपादेयता 'विपाकः कर्मनिष्ठया' के रूप में दर्शायी गई है। शरीर के धारण, पोषण, वृद्धि हेतु आहार का सेवन किया जाता है तथा वृद्ध या क्षीण दोषादि हेतु औषधि आदि द्रव्यों का सेवन किया जाता है। इन द्रव्यों की कार्मुकता का आधार विपाक ही माना गया है। सम्यक् पाक द्वारा द्रव्य के गुण-कर्म के द्वारा परिलक्षित होते हैं तथा मिथ्यापाक द्वारा दोष लक्षित होते हैं तथा मिथ्यापाक द्वारा दोष लक्षित होते हैं। अतः कहा जा सकता है कि शरीर को सामान्य स्थिति या यथास्थिति में बनाये रखने वाला (To maintain the body tissues and functions in normal state) आधारभूत भाव (Basic factor) विपाक ही है।

वीर्यवाद

चरकसंहिता में विपाकवाद के बाद वीर्यवाद का उल्लेख प्राप्त होता है। जिसके द्वारा क्रियायें सम्पन्न होती है, उसे वीर्य कहा जाता है। वीर्य को स्पष्ट करते हुए चक्रपाणिदत्त ने कहा है कि—'एतच्चैकीयमतद्वयं पारिभाषिकी वीर्यसंज्ञां पुरस्कृत्य प्रवृत्तं, वैद्यके हि रसविपाकप्रभावव्यतिरिक्ते प्रभूतकार्यकारिणी गुणे वीर्यमिति संज्ञा।' इस प्रकार आचार्य ने कार्यकारी या क्रियावान् गुण को वीर्य कहा है। वीर्य की निरुक्ति में कहा गया है—'वीर्यते विक्रान्तः कर्मसमर्थो भवति अनेन इति वीर्यम्।' अर्थात् जिसके कारण द्रव्य क्रिया करने में समर्थ होते हैं, उसे वीर्य कहा जाता है।

वीर्य को स्पष्ट करते हुए आचार्य चरक ने कहा है कि—'वीर्यं तु क्रियते येन या क्रिया। नावीर्यं कुरुते किंचित्सर्वा वीर्यकृता क्रिया।—च० सू० २६।६५। अर्थात् कर्म या क्रिया जिसके द्वारा निष्पन्न होती है, उसे वीर्य कहा जाता है। वीर्य के बिना

कोई भी द्रव्य किसी कर्म को करने में असमर्थ होता है, क्योंकि सारी क्रियायें वीर्य के द्वारा ही सम्पन्न होती हैं। चक्रपाणिदत्त के अनुसार यहाँ वीर्य का लक्षण शक्ति के पर्यायरूप में वर्णित है—'पारिभाषिकवीर्यसंज्ञापरित्यागेन शक्तिपर्यायस्य वीर्यस्य लक्षणमाह—वीर्यं त्वित्यादि।'

आचार्य चरक ने वीर्य के ज्ञान हेतु इसके व्यापक क्षेत्र का निर्देश किया है—'वीर्यं यावदधीवासासन्निपाताच्चोपलभ्यते।'—च० सू० २६।६६। अर्थात् जिह्वा पर द्रव्य का निपात यानि स्पर्श होता है, तब से लेकर जब तक द्रव्य शरीर में स्थित रहते हैं, तब तक वीर्य का ज्ञान होता है। इस प्रकार इस वीर्य का ज्ञान निपात से प्रत्यक्ष द्वारा एवं अधीवास द्वारा अनुमान द्वारा भी जाना जाता है। उपर्युक्त चरकोपदेश की टीका करते हुए आचार्य चक्रपाणिदत्त ने स्पष्ट किया है कि—'किञ्चिद् वीर्यमधीवासादुपलभ्यते, यथा आनूपमांसादेरुष्णत्वं, किञ्चिच्च निपातादेव लभ्यते, यथा मरिचादीनां तीक्ष्णत्वादि, किंचिच्च निपाताधीवासाभ्यां; यथा मरिचादीनामेव। एतेन रसः प्रत्यक्षेणैव, विपाकस्तु नित्यपरोक्षः तत्कार्येणानुमीयते, वीर्यं तु किञ्चिदनुमानेन, यथा सैन्धवगतं शैत्यम् आनूपमांसगतमौष्ण्यं वा, किञ्चिच्च वीर्यं प्रत्यक्षेणैव, यथा—राजिकागतं तैक्ष्ण्यं घ्राणेन, पिच्छिलविशदस्निग्धरुक्षादयः चक्षुः स्पर्शनाभ्यां निश्चीयन्त इति वाक्यार्थः।'

अर्थात् कुछ द्रव्य ऐसे होते हैं, जिनके वीर्य का ज्ञान अधीवास से होता है। अधीवास की स्थिति में वीर्य का ज्ञान अनुमान द्वारा किया जाता है, जैसे उष्ण वीर्य वाला आनूपमांस। कतिपय द्रव्यों के वीर्य का ज्ञान निपात द्वारा प्रत्यक्षतः होता है, जैसे—तीक्ष्ण मरिच तथा कतिपय द्रव्यों के वीर्य का ज्ञान प्रत्यक्ष व अनुमान दोनों द्वारा होता है, जैसे—उष्ण मरिच। विभिन्न वीर्य का ज्ञान विभिन्न इन्द्रियों द्वारा होता है। कतिपय वीर्य का ज्ञान (शीतादि) स्पर्श द्वारा, कतिपय का चक्षु द्वारा तथा (विशदादि) कतिपय का जिह्वा द्वारा होता है।

वीर्य की संख्या—'मृदुतीक्ष्णगुरुलघुस्निग्धरुक्षोष्णशीतलम्। वीर्यमष्टविधं केचित् केचिद् द्विविधमास्थिताः। शीतोष्णमिति वीर्यं तु क्रियते येन या क्रिया।'—च० सू० २६।६४। अर्थात् कुछ आचार्य १. मृदु, २. तीक्ष्ण, ३. गुरु, ४. लघु, ५. स्निग्ध, ६. रूक्ष, ७. शीत, ८. उष्ण—इन आठ वीर्य को स्वीकार करते हैं तथा कतिपय विद्वान् शीत व उष्ण दो ही वीर्य स्वीकार करते हैं। चरकसंहिता में दोनों मतों का उल्लेख किया गया है। दोनों मतों द्वारा मान्य वीर्य संख्या का उल्लेख करने के साथ 'वीर्यं तु क्रियते येन या क्रिया' कहकर वीर्य का लक्षण स्पष्ट कर दिया गया है, जिससे यह माना जा सके कि वीर्य के लक्षण के अनुसार दोनों मत मान्य हो सकते हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ में दोनों मतों का उल्लेख किया गया है, पर किसी मत-विशेष की पुष्टि या आलोचना नहीं की गई है और न ही किसी मत का खण्डन किया गया है। जब

किसी पक्ष या मत का खण्डन नहीं किया जाता है, तो उसे अनुमत कहते हैं। यहाँ आचार्य ने किसी के मत का प्रतितेष नहीं किया है, अतः 'परमत प्रतिसिद्धमनुमतम्' या 'अनुमतं एकीयमतस्यानिवारणेनानुमननम्' के अनुसार चरक का अनुमत अष्टविध व द्विविध दोनों पक्ष है।

आचार्य चरक शक्तिमात्र को वीर्य मानते हैं। उनके अनुसार वीर्य के अभाव में कोई द्रव्य अपना कर्म नहीं कर सकता। शिवदास सेन ने इसको स्पष्ट करते हुए कहा है—'परमार्थतः शक्तिरेव वीर्यं, सा पुनर्बलवत् क्रियानिर्वर्तनक्षमा रसादिऽयोगाग्नि-रुपाधिरिति तस्याः शीतोष्णादयो गुणा।'

'गुणाः कर्मव्यवस्थार्थं द्रव्याणां रसपाकयोः।
शक्तेः कर्मसु शक्ता ये निरुपाधेरुपाधयः॥'

शक्ति रूपवीर्यवादी चरक ने अपना स्पष्ट मत नहीं दिया है। शक्तिवादी के अनुसार द्रव्यों में कार्यानुसार अनेक शक्तियाँ रहती हैं, जिसकी कल्पना कार्यानुसार की जा सकती है। अतः चरकानुसार वीर्य की संख्या अनेक हो सकती है। पर आचार्य ने शक्तिरूप वीर्य (अष्टविध), गुणवीर्य (द्विविध) दोनों का उल्लेख किया है। अष्टांगसंग्रह में शक्तिमात्र को वीर्य मानकर गुर्वादि गुणों को शक्तिसम्पन्न कहा गया है—'गुर्वाद्या वीर्यमुच्यन्ते शक्तिमन्तोऽन्यथा गुणाः। परसामर्थ्यहीनत्वाद् गुणा एवेतरे गुणाः।'—अ० सं० सू० १७। अर्थात् गुर्वादि गुणों में जो उत्कृष्ट शक्तिसम्पन्न गुण होते हैं, उन्हें वीर्य कहा जाता है। गुर्वादि में मृदु-तीक्ष्ण, गुरु-लघु, स्निग्ध-रूक्ष, शीत-उष्ण—इन आठ गुणों को वीर्य रूप में या उत्कृष्ट शक्तिसम्पन्न होना स्वीकार किया गया है। इन अष्टविध गुणों को वीर्य रूप में मान्यता को वृद्ध वाग्भट भी स्वीकार करते हैं।

'गुर्वादीनां वीर्यसंज्ञा विशिष्टाम्नायविहिताऽपि लौकिकीति समुद्भाव्यते।'—अ० सं० सू० १७। आठ गुणों की ही लोकमान्यता उत्कृष्ट शक्ति सम्पन्न वीर्य के रूप में हुई। अन्य बारह गुणों को वीर्यरूप में स्वीकृति नहीं प्राप्त हुई। आचार्य सुश्रुत ने सूत्रस्थान ४१ में विशद व पिच्छिल गुणों का उल्लेख अष्टविध वीर्य के रूप में किया है, जबकि गुरु व लघु गुणों का समावेश नहीं किया है—'तत्र य इमे गुणाः वीर्यसंज्ञकाः शीतोष्ण-स्निग्धरूक्षमृदुतीक्ष्णपिच्छिलविशदाः। आचार्य वाग्भट ने यह भी स्पष्ट कर दिया है कि आठ गुणों में ही उत्कृष्ट शक्तिसम्पन्नता होने की लोकमान्यता क्यों हुई—'तैरपि चैवमतिप्रकृष्टशक्तियुक्तानामशेषौषधगुणसारभूतानामष्टानामेव गुर्वादीनां वीर्यसंज्ञा विशिष्टाम्नायविहिताऽपि लौकिकीति समुद्भाव्यते, तथा हि तया रसविपाकगुणान्तर विजयिनो भूयांसश्च वरिष्ठाश्च गुणा संगृहीताः।' (अ० सं० सू० १७)

अर्थात् ये आठ गुण सभी गुणों से सारवान् होते हैं (शेषौषधगुणसारभूताना-मष्टानामेव), जिससे इनकी स्थिति अधिक काल तक रहती है। जाठराग्नि संयोग से

रसों का परिवर्तन होते हुए भी ये यथारूप में रहते हैं। अन्य गुणों की अपेक्षा ये अधिक शक्तिसम्पन्न होते हैं। इन गुणों का ही अधिक व्यवहार होता है, क्योंकि सामान्यरूपेण अन्य गुणों की अपेक्षा द्रव्यों में इनका उपयोग बहुलता से होता है। यानि द्रव्यों में प्रायः यही आठ गुण अधिक कार्यकारी रूप से पाये जाते हैं। इन गुणों को प्रबल माना गया है; क्योंकि ये ''रसविपाकगुणान्तरविजयिनो भूयांशश्च'--रस विपाक व सान्द्रादि अन्य गुणों को अभिभूत कर देते हैं। अष्टांगहृदय में इसको स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि--

'गुर्वादिष्वेव वीर्याख्या तेनान्वर्थेति वर्ण्यते।
समग्रगुणसारेषु शक्त्युत्कर्षविवर्त्तिषु ॥
व्यवहाराय मुख्यत्वात् बह्वग्रग्रहणादपि।
अतश्च विपरीतत्वात् संभवत्यपि नैव सा ॥' (अ० हृ० सू० ९)

चरकसंहिता में दूसरे मत--द्विविध वीर्यवादी का उल्लेख प्राप्त होता है। द्विविध वीर्य में शीत व उष्ण का उल्लेख किया गया है। वाग्भट ने भी 'उष्णशीतगुणोत्कर्षात् तत्र वीर्यं द्विधा स्मृतम्' ।--अ० सं० सू० १; कहकर शीत व उष्ण को वीर्य रूप में उल्लिखित किया है। द्विविध वीर्यवाद का आधार क्या है? इसका वर्णन अष्टांग-संग्रह व अष्टांगहृदय में वैज्ञानिक ढंग से प्रस्तुत किया गया है। आचार्य सुश्रुत ने दो वीर्य माना है तथा इसका आधार सृष्टि का आग्नेय व सौम्य होना बतलाया है—'तच्च वीर्यं द्विविधमुष्णं शीतञ्चाग्नीषोमीयत्वाज्जगतः।'--सु० सू० अ० ४०। अष्टांग-हृदय में इसको स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि—'उष्णं शीतं द्विधैवान्ये वीर्यमाचक्षतेऽपि च। नानात्मकमपि द्रव्यमग्नीषोमौ महाबलौ। व्यक्ताव्यक्तं जगदिव नातिक्रामति जातुचित् ।'--अ० हृ० सू० ९। इस जगत् को अग्नीषोमीय कहा जाता है; क्योंकि दो तत्त्व अग्नि व सोम प्रबल होते हैं। शुक्रार्त्तव को भी सौम्य व आग्नेय माना जाता है। सृष्टि-संचालन में भी सूर्य व चन्द्रमा की आग्नेय व सौम्य क्रियायें मानी गई हैं। सृष्टिगत मूल क्रियायें आग्नेय व सौम्य हैं, अतः इनकी शक्ति उष्ण, शीत को वीर्य माना गया है। अष्टांगसंग्रह में द्रव्य, कालादि के आग्नेय सौम्य होने से तथा इनके द्वारा दो ही आदान व विसर्ग की क्रियायें होने से द्विविध वीर्यवाद की पुष्टि की गई है; क्योंकि तीसरा सृष्टिधारक तत्त्व वायु योगवाही होता है। वह शीत व उष्ण दोनों से प्रभावित होता है; अतः सृष्टि को आग्नेय व सौम्य मानते हुए दो वीर्य—शीत व उष्ण स्वीकार किये गये हैं—'अन्ये तु गुर्वादीनामग्नीषोमात्मकत्वादादानविसर्गविभागेन कालस्य चोष्णशीतात्मकत्वाद् द्विविधमेवामनन्ति।' (अ० सं० सू० १७)

आचार्य चरक ने भी वीर्य-निर्धारण क्रम में दो वीर्य का ही निर्धारण किया है—

'शीतं वीर्येण तद्द्रव्यं मधुरं रसपाकयोः।
तयोरम्लं यदुष्णं च यद् द्रव्यं कटुकं तयोः ॥

तेषां रसोपदेशेन निर्देश्यो गुणसंग्रहः ।
वीर्यतोऽविपरीतानां पाकतश्चोपदेक्ष्यते ॥
यथा पयो यथा सर्पिर्यथा वा चव्यचित्रकौ ।'

(च० सू० २६।४५-४६)

अर्थात् जो द्रव्य रस व विपाक में मधुर होते हैं उन द्रव्यों का वीर्य शीत होता है । जो द्रव्य रस व विपाक में अम्ल व कटु होते हैं उन द्रव्यों का वीर्य उष्ण होता है। जैसे—दुग्ध व घृत रस-विपाक में मधुर हैं, अतः इनका वीर्य शीत होता है। चव्य व चित्रक रस-विपाक में कटु है, अतः इनका वीर्य उष्ण होता है। इस प्रकार आचार्य ने रस-विपाक के आधार पर दो ही वीर्य माना है ।

रस	विपाक	वीर्य
१. मधुर रस २. लवण रस	मधुर	शीत
३. अम्ल रस	अम्ल	
४. कटु रस ५. तिक्त रस ६. कषाय रस	कटु	उष्ण

वीर्यवाद की उपादेयता

चरकसंहिता के टीकाकार आचार्य चक्रपाणिदत्त ने आहार को रसप्रधान कहा है तथा औषध-द्रव्यों को वीर्य-प्रधान कहा है—'रसप्रधानम् आहारद्रव्यम् वीर्यप्रधानं औषधद्रव्यम् ।' आहार द्वारा शरीर-पुष्टि का आधार रस होता है । रसों के संगठनात्मक भाव पंचमहाभूत ही होते हैं, जो शरीर के रचनात्मक इकाई के रूप में मान्य हैं । इनमें जिस घटक की क्षति होती है, उसकी पुष्टि आहार द्वारा रसाधार पर की जाती है । उसी प्रकार औषध-द्रव्यों को वीर्यप्रधान कहा गया है, क्योंकि वीर्य को गुणात्मक रूप में स्वीकार किया गया है, अतः शरीर में गुणात्मक कर्मों या गुणात्मक परिवर्तन वीर्य द्वारा किया जाता है । वृद्धिप्राप्त या प्रकुपित दोषों का ज्ञानाधार तज्जन्य गुर्वादि गुण ही होता है । जैसे—रूक्षता-वृद्धि, स्निग्धता-वृद्धि, उष्णता-वृद्धि आदि, वास्तव में चिकित्सा में इन गुणों को ही सम करना होता है, गुणसाम्य से आश्रय धातुयें भी सम हो जाती हैं । गुणसाम्य के लिए द्वन्द्वज गुणों में विपरीत गुणों का प्रयोग किया जाता है । जैसे—गुरु-लघु द्वन्द्वज गुणों में गुरु बढ़ने पर लघु तथा लघु बढ़ने पर गुरु-गुणयुक्त औषध सेवन कराया जाता है । अतः गुणात्मक परिवर्तन हेतु गुणात्मक भाव ही उपादेय हो सकते हैं । इस प्रकार आयुर्वेद में औषध के कार्यकारी शक्ति को वीर्य कहा गया है तथा इसी आधार पर वीर्यवाद की स्थापना की गई है। औषध-द्रव्यों के कार्यकारी तत्त्व को वीर्य कहा गया है । उपर्युक्त तथ्य के आधार पर

वीर्यवाद की उपादेयता स्पष्ट होती है। वीर्य की प्रधानता स्वीकार करते हुए आचार्य सुश्रुत ने निम्न रूप में इसकी उपादेयता प्रदर्शित किया है—

'वीर्यं प्रधानमिति। कस्मात्? तद्वशेनौषधकर्मनिष्पत्तेः। इहौषधकर्माण्यूर्ध्वाधोभागोभयभागसंशोधनसंशमनसंग्राहिकाग्निदीपनपीडनलेखनबृंहणरसायनबाजीकरणश्वयथुकरविलयनदहनदारणमादनप्राणघ्नविषप्रशमनादीनि वीर्यप्राधान्याद् भवन्ति।'

(सु० सू० ४०)

अर्थात् वीर्य द्रव्यगत सभी पदार्थों में प्रधान व उपादेय होता है, क्योंकि उर्ध्वाधोभाग का संशोधन, संशमन, संग्राहिता, दीपन, लेखन, बृंहण, रसायन, बाजीकरण, विलयन, दहनादि सभी कर्मों का सम्पादन वीर्य द्वारा ही होता है। इन कर्मों के सम्पन्न होने में जो शक्ति क्रियाशील होती है, उसे वीर्य कहा जाता है। यदि द्रव्य में क्रियाशील शक्ति न हो तो द्रव्यों द्वारा बृंहण-लेखनादि कर्म सम्पन्न ही नहीं हो सकते। वीर्य अपने बल व गुण की उत्कर्षता के कारण रसादि को अभिभूत कर अपना कार्य करता है—'एतानि खलु वीर्याणि स्वबलगुणोत्कर्षाद् रसाभिभूयात्मकं कर्म कुर्वन्ति।'—सु० सू० ४०। जैसे—लघुपञ्चमूल कषाय रस व तिक्तानुरस होने से तथा उष्ण वीर्य के कारण वातशामक है। यहाँ उष्णवीर्य अपने बल व गुणोत्कर्ष से कषाय व शीत रस को अभिभूत करके वात का शमन करने वाला होता है। यहाँ वीर्यवाद की यह उपादेयता दर्शायी गई है कि—द्रव्यगत रस, विपाकादि को अभिभूत करने वाली शक्ति के ही कर्म लक्षित होते हैं। जिनके द्वारा गुण परिवर्तन हो जाता है, उस शक्ति को वीर्य रूप में स्वीकार किया गया है तथा इसे औषध द्रव्य के प्रयोग करने का आधार मानकर व्यावहारिक रूप से उपादेय माना जाता है। यदि लघुपञ्चमूल को रसाधार मानकर प्रयोग करना हो तो वात-व्याधियों में इसका प्रयोग नहीं किया जा सकता पर लघुपञ्चमूल में स्थित बलयुक्त, उत्कर्ष उष्ण गुण को (वीर्य) रूप में आधार मानकर प्रयोग किया जाता है, तो वात का शमन होता है। इस प्रकार लघुपञ्चमूल का वातशामक उपयोग वीर्यवाद का व्यावहारिक स्वरूप है।

सम्पूर्ण कर्मों के सम्पादन में आठ या मूलतः दो प्रकार की शक्तियों की भूमिका स्वीकृत है। जैसे—दहन, पाचन, मूर्च्छन, स्वेदन, वमनादि कर्म बिना उष्णता के सम्पन्न नहीं होते। ये सभी कर्म उष्मारूपी शक्ति की अपेक्षा करते हैं। इन कर्मों के सम्पादन हेतु ऐसे द्रव्य की आवश्यकता होती है, जिसमें उष्णता का उत्कर्ष हो तथा वह उष्ण रसादि को अभिभूत कर दहनादि कर्म करे। उष्ण वीर्य वाले द्रव्यों के द्वारा उपर्युक्त कर्मों का सम्पादन होता है। उष्णवीर्य वाले द्रव्यों द्वारा वात व कफ का शमन होता है तथा पित्त की वृद्धि होती है। 'तत्र कर्मण्यनुष्णस्य दहनपाचनमूर्च्छनस्वेदनवमनविरेचनानि। उष्ण···वातघ्नौ।'—सु० सू० ४१। वृद्ध वाग्भट ने उष्णवीर्य को विलयन कर्म की शक्ति स्वीकार किया है—'तत्रोष्णं विलयनानिलकफशमनानि

करोति ।' अ० सं० सू० १७ । यदि उष्ण वीर्य वाले द्रव्यों का सेवन अधिक या अनावश्यक रूप से किया जाता है तो भ्रम, तृष्णा, शुक्रनाश, दाह, शीघ्रता से पाक आदि विकार उत्पन्न होते हैं । यदि द्रव्य के रस-विपाकादि के आधार पर द्रव्यों का प्रयोग किया जाता है तो (बहुत ऐसे द्रव्य है, जो रस में मधुर होते हुए भी उष्ण वीर्य वाले होते हैं) उष्ण वीर्य वाले द्रव्यों द्वारा उपर्युक्त विकारों की उत्पत्ति की सम्भावना बनी रहती है, क्योंकि वीर्य रसादि भावों को अभिभूत करने वाला होता है; अतः चिकित्साव्यवहार में वीर्यवाद की ही उपादेयता सिद्ध होती है ।

प्रह्लादन विष्यन्दन (स्रावण) स्थिरीकरण, प्रसादन, क्लेदन, जीवन, स्तम्भन आदि कर्मों को सम्पन्न करने वाली शक्ति शीत है । अर्थात् उपर्युक्त कर्मों के सम्पादन में शैत्य शक्ति नहीं रहने पर कर्मसम्पादन नहीं हो पाता । अतः ऐसे द्रव्यों का चयन करना होता है, जिसमें रस चाहे कटु भी हो, पर उस द्रव्य में शैत्य को उत्कर्ष (शक्तिरूप) रूप में होना चाहिए । जैसे—पिप्पली कटु रसयुक्त है, फिर भी रस के आधार पर इसका प्रयोग पित्तशमन हेतु नहीं किया जा सकता । कटु रस आग्नेय होने से अवृष्य होगा, परन्तु पिप्पली में उत्कर्षित रूप में शैत्य रहता है । अतः शीत वीर्य के आधार पर पित्तशमन, वृष्यता हेतु इसका प्रयोग किया जाता है । इसी प्रकार आँवला को वीर्य के आधार पर ही पित्त शमन, रसायन एवं वयस्थापन के रूप में प्रयोग किया जाता है । 'शीतस्य प्रह्लादन-विष्यन्दन-स्थिरीकरण-प्रसादन-क्लेदन-जीवनानि ।'—सु० सू० ४१ । 'शीतं ह्लादनस्तम्भनजीवनानि'—अ० स० सू० १७ । स्नेहन, बृंहण-सन्तर्पण-वाजीकरण-वयस्थापनादि कर्म-सम्पादन हेतु स्निग्धता आवश्यक है । अतः इन कर्मों के सम्पादन हेतु ऐसे द्रव्य की आवश्यकता होती है, जिसमें स्निग्धता उत्कर्षावस्था में हो । 'स्निग्धस्य स्नेहन-बृंहण-सन्तर्पण-बाजीकरण-वयस्थापनानि ।'—सु० सू० ४१ । इसी प्रकार संग्रहण, पीड़न, रूक्षण, उपरोपण, कफ-शमनादि कर्म रूक्ष वीर्य द्वारा सम्पन्न होते हैं । उपलेप, बृंहणादि कर्म ऐसे द्रव्यों द्वारा होते हैं, जिनमें गुरु गुण उत्कर्षरूप में होता है । रक्तमांसप्रसादन, सुस्पर्शन कर्म मृदु गुणोत्कर्षता से तथा संग्रहाचूषण, अवदारण, स्रावणादि कर्म तीक्ष्णोत्कर्षतायुक्त द्रव्यों द्वारा होता है ।

आयुर्वेद का प्रयोजन धातुसाम्य ही है । बढ़े हुए दोषों को कम करना तथा क्षीण दोषों को बढ़ाना—धातुसाम्य के निमित्त यही दो कर्म किये जाते हैं । धातुसाम्य का आधार लोकगत मूल प्रक्रिया है, जहाँ तीन कर्म सम्पादित होते हैं । विसर्ग, आदान व विक्षेप । ये तीन क्रियायें शरीर में भी सम्पादित होती हैं । इनमें दो प्रमुख क्रियाओं—आदान व विसर्ग का सम्पादन क्रमशः आग्नेय सूर्य व सौम्य चन्द्रमा द्वारा होता है । विक्षेपकारी बायु योगवाही है, वह अग्नि व सोम दोनों से प्रभावित होता है । इस प्रकार दो प्रकार के भाव निर्धारित किये गये हैं । आग्नेय व सौम्य । यदि सूक्ष्म दृष्टि-

पात किया जाय तो यह विभाजन सभी मूर्त्तभावों हेतु किया गया है, क्योंकि अग्नि में रूपत्व है। अग्नि से पूर्व उत्पन्न भूत वायु व आकाश में रूपत्व नहीं होता। जल की उत्पत्ति अग्नि से व पृथ्वी की जल से होती है; अतः जल व पृथ्वी में भी रूपत्व है। हालांकि सभी द्रव्य पाञ्चभौतिक हैं, उनकी रचना में पाँचों भूत विद्यमान हैं, पर मूर्त्तत्व व रूपत्व गुण वाले द्रव्यों में अग्नि, जल, पृथ्वी महाभूतों की उल्वणता होती है। जगत के व्यक्त भावों को दो वर्ग में ही विभाजित किया गया है—आग्नेय व सौम्य। शरीर में पित्त आग्नेय तथा कफ सौम्य होता है। वायु योगवाही होता है, यह शीत व उष्ण दोनों से प्रभावित होता है। वायु व्यक्तभाव नहीं है, बल्कि इसकी अभिव्यक्ति कर्मों द्वारा होती है। विविध वीर्यवादी सुश्रुत ने वायु को अव्यक्त कहा है—'अव्यक्तो व्यक्तकर्मा च'। जब मूर्त्त शरीर में मूर्त्त द्रव्य का प्रयोग किया जाता है तो दो ही प्रकार की शक्तियों की आवश्यकता होती है—आग्नेय व सौम्य शक्ति। जब शरीर में उष्मा की वृद्धि होती है तो शमन हेतु शीत शक्ति की तथा जब शैत्य होता है तो आग्नेय शक्ति की आवश्यकता होती है। वायु का शमन संश्रयानुसार उन्हीं दोनों शक्तियों द्वारा किया जाता है। उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि स्थूलतः या सूक्ष्मतः दोनों दृष्टियों से चिकित्सा कर्म हेतु वीर्यवाद ही विशेष उपादेय है। वीर्यवाद के आधार पर ही लंघन-बृंहण, सन्तर्पण-अपतर्पण आदि चिकित्सा की जाती है। वीर्यवाद की उपादेयता को व्यावहारिक स्वरूप देने हेतु 'षड्विध चिकित्सा विधि' की स्थापना की गई है। षड्विध चिकित्सा वीर्यवाद का व्यावहारिक व चिकित्सात्मक (Applied and clinical form) स्वरूप है। अष्टविध वीर्यवाद में मृदु व तीक्ष्ण की अप्रत्यक्ष भूमिका होने से शेष छः वीर्यों को चिकित्साविशेष का नाम दिया गया है। जैसे लंघन-बृंहण (लघु-गुरु), रूक्षण-स्नेहन (रूक्ष-स्निग्ध), स्वेदन-स्तम्भन (उष्ण-शीत)। इस प्रकार शीत-उष्ण, लघु-गुरु, रूक्ष-स्निग्ध चिकित्सा-मूलक विशेष वीर्यवाद हैं। पुनः गुरु, शीत व स्निग्ध तीनों द्वारा बृंहण होने से सन्तर्पण एवं लघु, उष्ण, रूक्ष द्वारा लेखन होने से अपतर्पण का विधान किया गया है। इस प्रकार शीत द्वारा स्तम्भन, स्नेहन, बृंहणादि कर्मों का परिणाम बृंहण एवं तद्विपरीत उष्ण से लंघन होता है। ये द्विविध कर्म द्विविध वीर्यवाद के व्यावहारिक व चिकित्स्य-स्वरूप हैं।

प्रभाववाद

आयुर्वेद में कहा गया है कि—

'रसवीर्यविपाकानां सामान्यं यत्र लक्ष्यते।
विशेषः कर्मणा चैव प्रभावस्तस्य स स्मृतः॥'

(च० सू० २६।६७)

अर्थात् जिन द्रव्यों में रस, वीर्य, विपाक समान रहने पर भी कर्म में विशेषता पाई जाती है, उसे प्रभाव कहा जाता है। अर्थात् जब द्रव्य अपने रस, वीर्य, विपाकादि के अनुसार कर्म न कर किसी विशेष कर्म का सम्पादन करते हैं तो विशेष कर्म-सम्पादन के कारण को प्रभाव कहा जाता है। प्रभाव शब्द की निरुक्ति भी इसी अर्थ में होती है—'प्रभवति सामर्थ्यं भवति द्रव्यमनेन इति प्रभावः।' अर्थात् जिसके कारण किसी द्रव्य में विशिष्ट कर्म-सामर्थ्य हो, उसे प्रभाव कहा जाता है। आचार्य चरक ने उपर्युक्त श्लोक में प्रभाव को एक विशिष्ट शक्ति के रूप में स्वीकार किया है। आचार्य वाग्भट ने 'सर्वातिशायी द्रव्यस्वभावः प्रभावः।'—अ० सं० सू० १७ तथा; 'रसादिसाम्ये यत् कर्मविशिष्टं तद् प्रभावजम्।'—अ० हृ० सू० ९।२६, अ० सं० सू० १७—कहते हुए चरक का ही अनुसरण किया है। वाग्भट के टीकाकार अरुणदत्त प्रभाव को द्रव्यस्वभाव रूप में ग्रहण करते हैं—'रसवीर्यविपाकादिगुणातिशयवानयम्। द्रव्यस्वभावो निर्दिष्टः यः प्रभावः स कीर्त्तितः।' जब द्रव्य अपने मधुरादि रस, विपाक के अनुसार अथवा शीतादि वीर्य के अनुसार बृंहणादि, स्तम्भनादि कर्म न करके किसी अन्य विशिष्ट कर्म को करते हैं, तब स्वभावतः यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि द्रव्यगत कौन ऐसा पदार्थ है जो विशिष्ट कर्म का कारण है? द्रव्यों की कार्मुकता के आधार रस, वीर्य, विपाक आदि है। जिनकी कार्मुकता के बारे में युक्ति दी जा सकती है कि अमुक द्रव्य का कर्म रसानुसार है, विपाकानुसार है या वीर्य के अनुसार है, पर जब द्रव्य विशेष कर्म करता है, जिसमें रस, गुण, वीर्य, विपाकादि से सम्बन्धित युक्ति नहीं दी जा सकती, तब उस कर्मसामर्थ्य शक्ति को क्या कहा जाय? वह कर्मसामर्थ्य शक्ति क्या है? आदि प्रश्न उत्पन्न होते हैं। आचार्य चरक ने रसादिजन्य कर्मों से पृथक् कर्म को प्रभावजन्य माना है, क्योंकि 'विशेषकर्मणां' कहकर पृथक् कर्म होना स्पष्ट कर दिया गया है—विशेषस्तु पृथक्त्वकृत्। अतः रसादि से उत्पन्न कर्मों से पृथक् उत्पन्न होने वाले कर्म की विशेष शक्ति द्रव्यगत होती है, जो द्रव्यगत भावों (रसविपाकादि) को अभिभूत कर कर्मसामर्थ्य रखती है। वह शक्ति 'प्रभवति सामर्थ्यं-विशिष्टं' विशिष्ट (अन्यों से पृथक्) कर्म करने का सामर्थ्य रखने से प्रभाव कही जाती है। प्रभाववाद का प्रत्यक्षतः वर्णन आत्रेय सम्प्रदाय के ग्रन्थों में है (चरक संहिता, वाग्भट संहिता आदि)। सुश्रुतसंहिता में प्रभाव का प्रत्यक्षतः वर्णन नहीं है, परन्तु द्रव्यगत विशिष्ट कर्मसामर्थ्य या शक्ति को स्वीकार किया गया है, जिसे अचिन्त्य या अमीमांस्य कहा गया है। अमीमांस्य या अचिन्त्य उसे कहा जाता है, जिस द्रव्यस्वभाव या विशिष्ट कर्म की मीमांसा हजारों युक्तियों द्वारा भी न की जा सके। आचार्य ने सहज द्रव्यस्वभाव को अचिन्त्य व अमीमांस्य कहा है—

'अमीमांस्यान्यचिन्त्यानि प्रसिद्धानि स्वभावतः।
आगमेनोपयोज्यानि भेषजानि विचक्षणैः॥

सहस्रेणापि हेतूनां नाम्बाष्ठादिर्विरेचयेत् ।
तस्मात्तिष्ठेत्तुमतिमानागमे न तु हेतुषु ॥ (सु० सू० ४०)

इस अचिन्त्य शक्ति का उल्लेख आचार्य चक्रपाणिदत्त ने वीर्य प्रकरण में किया है। वीर्य को वे दो प्रकार की शक्तियाँ मानते हैं। एक को चिन्त्य शक्ति अर्थात् जिसकी मीमांसा की जा सके या जिसके कर्मसामर्थ्य में युक्ति दी जा सके। इस शक्ति की स्वीकृति वीर्यरूप में है तथा दूसरी अचिन्त्य शक्ति होती है, जिसके कर्म-सामर्थ्य में किसी प्रकार की युक्ति नहीं दी जा सकती। उसे तन्त्रान्तर (सुश्रुत संहिता के अतिरिक्त अन्य चरकसंहिता आदि ग्रन्थों में) प्रभाव कहा गया है। इस आधार पर वीर्य व प्रभाव का स्वतंत्र उल्लेख किया गया है। उन्होंने अधोभाग हरत्व व वृष्यत्व का उदाहरण देकर इन कर्मों के सम्पादन में अचिन्त्य शक्ति के हेतु रूप में प्रभाव को स्वीकार किया है—'अत्र च वीर्यशब्देन द्रव्यस्य द्विविधा चिन्त्याऽचिन्त्या च शक्तिरुच्यते। तत्राचिन्त्या शक्तिर्या तन्त्रान्तरे 'प्रभाव' इत्युच्यते सा ग्राह्या, तस्यैव च वीर्यस्य प्रभावस्य स्वतन्त्रे तद्द्रव्यसात्मना किञ्चित्……एतदधोभागहरत्ववृष्य-त्वादि प्रायः कार्यं, न हीदमुष्णशीताभ्यां……कार्यम्।'—सु० सू० ४० पर चक्र-पाणिदत्त।

रसवैशेषिक में भी वीर्य प्रकरण में चिन्त्य व अचिन्त्य वीर्य का उल्लेख किया गया है—'रसगुणभूतसमुदायाश्रयः एषामनवधारणीयः, तथारसभूतसमुदायानामन्येषामन्यथा वीर्यत्वात्। (र० वै० सू० २४)

उपर्युक्त विवेचन से यह निष्कर्ष प्राप्त होता है कि रस, वीर्य, विपाकादि के अतिरिक्त द्रव्य में एक ऐसी भी विशिष्ट शक्ति होती है जो रस, वीर्य, विपाकादि से पृथक् विशिष्ट कर्म करने वाली होती है। शक्तिरूप वीर्यवादी चरक इसे 'प्रभाव' की स्वतंत्र संज्ञा देते हैं, जिसका अनुसरण आत्रेय सम्प्रदाय के आचार्यों ने किया है। इस शक्ति की मान्यता तो प्रायशः आयुर्वेद के सभी विद्वानों ने दिया है, पर वीर्य प्रकरण में ही इसे अचिन्त्य, अमीमांस्य व अनवधारणीय आदि कहा गया है। आत्रेय सम्प्रदाय में प्रभाव को स्वतंत्र मान्यता देकर कहा गया है कि—

'किंचिद्रसेन कुरुते कर्म वीर्येण चापरम्।
द्रव्यं गुणेन पाकेन प्रभावेण च किंचन॥
रसं विपाकस्तौ वीर्यं प्रभावस्तानपोहति।
बलसाम्ये रसादीनामिति नैसर्गिकं बलम्॥'
(च० सू० २६।७२।३३)

अर्थात् कुछ द्रव्य अपना कार्य रस से, कुछ द्रव्य गुण से, कुछ द्रव्य विपाक से, कुछ द्रव्य वीर्य से तथा कुछ द्रव्य अपना कर्म प्रभाव से करते हैं। जैसे—सिता की पित्त-प्रशमन क्रिया रस से (मधुर रस से) पञ्चमूल की वात-शमन क्रिया वीर्य से

(उष्ण वीर्य से) शहद की कफनाशक क्रिया गुण से (रूक्ष गुण से) शुण्ठी की वातशमन क्रिया विपाक से (मधुर विपाक से) तथा दन्ती की विरेचन प्रक्रिया प्रभाव से होती है। द्रव्यों में रस को विपाक नष्ट कर देता है। वीर्य विपाक व रस दोनों को नष्ट कर देता है तथा रस, विपाक, वीर्य---इन तीनों को प्रभाव नष्ट कर देता है। यहाँ आचार्य ने रस, विपाक, वीर्य व प्रभाव को क्रमशः उत्तरोत्तर शक्तिसम्पन्न स्वीकार किया है। अर्थात् रस से अधिक कर्म सामर्थ्य विपाक में—विपाक से अधिक सामर्थ्य वीर्य में—तथा सर्वाधिक कर्मसामर्थ्य प्रभाव में होता है। प्रभाव द्रव्यगत रसादि भावों को अभिभूत कर देता है। जिस द्रव्य के जिस भाव में शक्ति की अधिकता होती है, उसी में कर्मसामर्थ्य होता है, यदि सभी भाव सामान्य बल वाले होते हैं, तो स्वाभाविक कर्म होता है। वाग्भट ने इस तथ्य को निम्न रूप में कहा है—'यद्यद्द्रव्ये रसादीनां बलवत्त्वेन वर्त्तते। अभिभूयेतरांस्तत्तत् कारणत्वं प्रपद्यते।

(अ० सं० सू० १०)

आयुर्वेद में कतिपय कर्मों को प्रभावजन्य कहा गया है। आचार्य प्रियव्रत शर्मा ने द्रव्यगुण विज्ञान, प्रथम भाग में प्रभावजन्य कर्मों को निम्नरूप में विभक्त किया है—१. औषधीय कर्म (Pharmacological), यथा—रेचन (दंती द्वारा), २. अगदीय कर्म (Toxicological), यथा—शिरीष का विषघ्न प्रभाव, ३. रक्षोघ्न कर्म (Bacteriological), यथा--गुग्गुल आदि द्वारा भूत निवारण, ४. मानस कर्म (Psychological), ५. भौतिक कर्म (Physical) आदि। चरकसंहिता में कतिपय उदाहरण देकर प्रभावजन्य कर्मों का उल्लेख किया गया है। यथा—

१. 'कटुकः कटुकः पाके वीर्योष्णश्चित्रको मतः।
तद्वद्दन्ती प्रभावस्तु विरेचयति मानवम्॥' (च० सू० २६।६८)

अर्थात् चित्रक व दन्ती दोनों रस में कटु, विपाक में कटु व वीर्य में उष्ण होते हैं, पर दन्ती अपने प्रभाव से विरेचन कराने वाली होती है; जबकि चित्रक द्वारा विरेचन कर्म द्वारा नहीं होता।

२. 'विषं विषघ्नमुक्तं यत् प्रभावस्तत्र कारणम्'—अर्थात् विष-प्रयोग से विष का नाश प्रभावजन्य कर्म होता है।

३. 'ऊर्ध्वानुलोमिकं यच्च तत् प्रभावप्रभावितम्'--अर्थात् द्रव्यों द्वारा ऊर्ध्व व अधोभाग दोषहरण प्रक्रिया प्रभाव से ही होती है।

४. 'मणीनां धारणीयानां कर्म यद्विविधात्मकम्। तत् प्रभावकृतं तेषां, प्रभावोऽचिन्त्य उच्यते।'—अर्थात् धारण-योग्य मणियों के जो विभिन्न कर्म होते हैं, वह भी प्रभावजन्य होते हैं। इस प्रभाव को अचिन्त्य कहा जाता है।

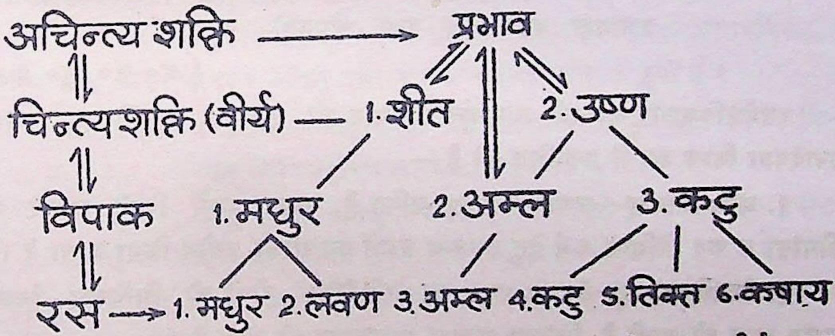
प्रभाववाद की उपादेयता

प्रभाव के सम्बन्ध में उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि जब—१. द्रव्यों का कर्म रस, विपाक, वीर्य के अनुसार न होकर विशिष्ट रूप में होता है तो विशिष्ट कर्म का हेतु प्रभाव को माना गया है। प्रत्येक कार्य का कोई न कोई हेतु अवश्य होता है। जब द्रव्य विशिष्ट कर्म करते हैं, तो उसका भी हेतु अवश्य होना चाहिए। अतः विशिष्ट कर्म का कारण प्रभाव माना गया है।

२. आचार्य सुश्रुत ने विशिष्ट कर्म के हेतु को कोई विशिष्ट नाम न देकर मात्र उस हेतु को अमीमांस्य या अचिन्त्य कहा है।

३. चक्रपाणिदत्त ने प्रभाव को अचिन्त्य शक्ति कहा है।

४. आचार्य चरक के अनुसार द्रव्यों की कार्मुकता के हेतुओं में रस, विपाक, वीर्य व प्रभाव उत्तरोत्तर शक्तियुक्त होते हैं। रस, विपाकादि का कर्मसामर्थ्य निम्न रूप में होता है।



इस प्रकार प्रभाव सबसे अधिक शक्तिशाली होता है, उससे कम वीर्य, उससे कम विपाक, उससे कम रस होते हैं। चक्रपाणिदत्त ने आहार को रस-प्रधान व औषध को वीर्य-प्रधान कहा है। रस द्वारा शरीर के रचनात्मक भाव सप्तधातुओं की पुष्टि होती है अर्थात् रस द्वारा स्थूल शरीर के धारक-भावों की पुष्टि होती है। फिर ये छः रस परिवर्तित होकर तीन रूप में होकर (मधुर, अम्ल, कटु) कफ, पित्त व वात की पुष्टि करते हैं। जब शरीर में वात, पित्त, कफ द्वारा विकार उत्पन्न किये जाते हैं तो दो शक्तियाँ शैत्य शक्ति व ऊष्मा शक्ति विकार-शान्ति की हेतु होती हैं। इन शैत्य व ऊष्मा गुण वालेको शरीर क्रिया में पित्त व कफ माना गया है। इनसे पृथक् कतिपय द्रव्यों में एक ऐसी शक्ति विद्यमान होती है, जो द्रव्यगत अन्य पदार्थों को अभिभूत करती है, उस शक्ति को प्रभाव या अचिन्त्य शक्ति कहा गया है। यदि 'रसं विपाकस्तौ वीर्यं प्रभावस्तानपोहति' तथा वाग्भट के 'यद्यद्द्रव्ये

रसादीनां बलवत्त्वेन' के परिप्रेक्ष्य में देखा जाय तो द्रव्यों का प्रभाव भी सभी द्रव्यों में प्रायश: होता है, पर जिस द्रव्य में बलयुक्त होता है, उसके कर्म लक्षण-लक्षित होते हैं। प्रायश: प्रत्येक द्रव्य में इसकी स्थिति देखते हुए ही आचार्य चरक ने 'बल-साम्ये रसादीनामिति नैसर्गिकं बलम्' कहा है; क्योंकि श्लोक के प्रथमपाद में रसादि में प्रभाव का भी उल्लेख किया गया है।

इसकी उपादेयता चरकोक्त विभिन्न उदाहरणों से ही सिद्ध है। विष की चिकित्सा विष द्वारा करना, विशिष्ट कर्मों की सिद्धि हेतु तत्प्रभावजन्य द्रव्यों का प्रयोग करना, अधोभाग के ऊर्ध्वभाग के दोषों का हरण आदि। आयुर्वेद में दैवव्यपाश्रय चिकित्सा पूर्णरूपेण 'प्रभाववाद' की उपादेयता-स्वरूप ही है। रक्षोघ्न कर्म आदि भी प्रभाववाद पर ही आधारित हैं। आचार्य वाग्भट प्रभाव को ही प्रधान मानते हैं; क्योंकि प्रभाव से वे द्रव्यस्वभाव ग्रहण करते हैं। द्रव्यगत भाव द्रव्यस्वभाव पर आधारित होते हैं, अत: प्रभाववाद की उपादेयता द्रव्यस्वभाव रूप में सर्वोपरि हो जाती है—

'अप्रधाना: पृथक् तस्माद् रसाद्या: संश्रितास्तु ते।
प्रभावश्च यतो द्रव्ये द्रव्यं श्रेष्ठमतो मतम्॥'

(अ० सं० सू० १७)

रसवैशेषिककार आचार्य नागार्जुन ने प्रभाव की प्रधानता दर्शाते हुए इसकी उपादेयता निम्न रूप में प्रकाशित की है—

१. **अचिन्त्यत्वात्**—प्रभाव अचिन्त्य शक्ति है; अत: इसमें किसी प्रकार की मीमांसा न कर विशिष्ट कर्म हेतु तज्जन्य द्रव्यों का सीधा प्रयोग किया जाता है।

२. **दैवप्रतिघातात्**—दैवबल प्रवृत्त या आधिदैविक रोगों की चिकित्सा दैवव्य-पाश्रय द्वारा की जाती है, जिसका आधार प्रभाववाद ही होता है।

३. **विषप्रतिघात्**—विष की विषों द्वारा चिकित्सा करना प्रभाववाद की ही उपादेयता है।

४. **दर्शनाच्छ्रवणात्**—कतिपय सिद्धपुरुषों, देवस्थलों आदि के दर्शन से या विभिन्न मंत्र, स्वस्तिवाचन, संगीतादि श्रवण से रोगमुक्त प्रभाववाद की उपादेयता के उदाहरण हैं।

५. **तुल्यरसगुणेषु विशेषात्**—समान रस, गुण, विपाक, वीर्यादि होने पर भी प्रभाव द्वारा विशिष्ट कर्म होने से किसी विशेष कार्य की सिद्धि होती है।

६. **दर्शनाच्चाद्भुतादीनां कर्मणाम्**—वशीकरण आदि या मन्त्रों, मणियों आदि की चमत्कारी क्रियायें मानव हेतु उपादेय होती हैं।

७. **आगमाच्च**—शास्त्रकारों ने इसे सर्वोपरि कहा है; अत: आगम प्रमाण द्वारा इसकी उपादेयता स्वत:सिद्ध है।

वैरोधिक-आहारवाद

आयुर्वेद में विशेषकर चरकसंहिता में आहार का विशद वर्णन किया गया है। जीवन के तीन उपस्तम्भों में प्रथम उपस्तम्भ आहार को माना गया है। आयुर्वेद की मान्यता है—'हिताहारोपयोग एक एव पुरुषवृद्धिकरो भवति, अहिताहारोपयोगः पुनर्व्याधिनिमित्तमिति।'—च० सू० २५।३०। अर्थात् हितकर आहारों के सेवन से पुरुष के शरीर की वृद्धि होती है तथा अहितकर आहार का सेवन रोगों की वृद्धि करता है।

अहिताहार की शृंखला में वैरोधिक आहार भी है। वैरोधिक आहार क्या है? इसको स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि—'देहधातुप्रत्यनीकभूतानि द्रव्याणि देहधातुभिर्विरोधमापद्यन्ते'—च० सू० २६।८। अर्थात् जो द्रव्य शरीरस्थ धातुओं के गुणों के विपरीत गुण वाले होते हैं, उनका प्रयोग करने पर वे शरीर के धातुओं के विरुद्ध हो जाते हैं, ऐसे शरीरस्थ धातुओं के गुणों के विरुद्ध गुण वाले आहार द्रव्यों को वैरोधिक आहार कहते हैं। इन द्रव्यों में कुछ 'द्रव्य···गुणविरुद्धानि कानिचित्, कानिचित् संयोगात्, संस्कारादपराणि, देशकालमात्रादिभिश्चापराणि, तथा स्वभावादपराणि।'—च० सू० २६। अर्थात् गुणविरुद्ध, कुछ द्रव्य संयोगविरुद्ध, कुछ द्रव्य संस्कारविरुद्ध, कुछ द्रव्य देश, काल, मात्रादि विरुद्ध तथा कुछ द्रव्य स्वभावविरुद्ध होते हैं।

चरकसंहिता में वैरोधिक आहार को पारिभाषित करते हुए कहा गया है कि—

'यत् किञ्चिद्दोषमास्राव्य न निर्हरतिकायतः।
आहारजातं तत् सर्वमहितायोपपद्यते ॥' (च० सू० २६।८५)

अर्थात् जो आहार या औषध द्रव्य शरीरस्थ दोषों को अपने स्थान से उभार दे या प्रचलित कर दे, पर उन दोषों को शरीर से बाहर न निकाले, उस आहार या औषध द्रव्य को वैरोधिक या अहिताहार कहा जाता है।

चरकसंहिता में चक्रपाणि-सम्मत वैरोधिक आहार के अठारह घटकों का उल्लेख प्राप्त होता है। वे घटक निम्नवत् हैं—

'यच्चापि देशकालाग्निमात्रासात्म्यानिलादिभिः।
संस्कारतो वीर्यतश्च कोष्ठावस्थाक्रमैरपि ॥
परिहारोपचाराभ्यां पाकात् संयोगतोऽपि च।
विरुद्धं तच्च न हितं हृत्सपद्विधिभिश्च यत् ॥'
(च० सू० २६।८६-८७)

अर्थात् देश, काल, अग्नि, मात्रा, सात्म्य, वायु आदि के द्वारा तथा संस्कार, वीर्य; कोष्ठ, अवस्था-क्रम, परिहार, उपचार, पाक, संयोग, हृदय, सम्पद व विधि के आधार से अठारह वैरोधिक आहार के घटक हैं।

१. देशविरुद्ध—देश का तात्पर्य जांगल, आनूप, साधारण आदि देश से है।

आहार-सेवन देशानुसार उत्पन्न गुणों के आधार पर ही किया जाता है। देश में उत्पन्न गुण के विपरीत गुण वाले आहार-सेवन से दोष साम्यावस्था में रहते हैं। यदि देशोत्पन्न गुणों के सदृश गुण वाले आहार का सेवन किया जाता है, तो शरीरस्थ दोष कुपित हो जाते हैं। अतः इस प्रकार के आहार को देश-विरुद्ध आहार कहा जाता है। जैसे—जांगल देश में रुक्षता व तीक्ष्णता व्याप्त रहती है, यदि वहाँ रूक्ष व तीक्ष्णाहार लिया जाता है, तो वह आहार देशविरुद्ध होता है, उसी प्रकार आनूप देश में स्निग्धाहार देशविरुद्ध है—

'विरुद्धं देशतस्तावद्रूक्षतीक्ष्णादि धन्वनि ।
आनूपे स्निग्धशीतादि भेषजं यन्निषेव्यते ॥'

(च० सू० २६।८८)

२. कालविरुद्ध—काल से शीत-उष्णादि काल का तात्पर्य है। काल के गुणों से विपरीत गुण वाले आहार का सेवन धातुओं को सम रखने वाला होता है तथा काल के सदृश गुणों वाले आहार विरुद्धाहार कहे जाते हैं, क्योंकि वे धातुओं को दूषित करते हैं। जैसे—'कालतोऽपि विरुद्धं यच्छीतरूक्षादिसेवनम्। शीते काले, तथोष्णे च कटुकोष्णादि सेवनम्।' अर्थात् शीतकाल में शीत, रूक्ष आहार; ग्रीष्मकाल में कटु-उष्ण आहारौषध विरुद्धाहार कहे जाते हैं।

३-४. अग्निविरुद्ध—मात्राविरुद्ध—दोषों के आधार पर शरीर में चार प्रकार की अग्नियाँ कही गई हैं—मन्दाग्नि, तीक्ष्णाग्नि, विषमाग्नि व समाग्नि। इन चार अग्नियों के अनुसार आहार न लेकर विरुद्ध आहार लिया जाता है तो उसे अग्निविरुद्ध आहार कहा जाता है—'विरुद्धमनले तद्वदन्नपानं चतुर्विधम्।' जैसे—मन्दाग्नि में गुरु आहार का सेवन, तीक्ष्णाग्नि में लघु, उष्ण, व तीक्ष्ण आहार का सेवन करना अग्नि विरुद्ध है। इसी प्रकार अग्नि के विभिन्न स्थितियों में मात्रादि का विचार न करना मात्राविरुद्ध है। क्योंकि कहा गया है—पुनराहारमात्राऽग्निबलापेक्षिणि आहार की मात्रा अग्निबल की अपेक्षा करती है। दीप्त अग्नि हेतु आहार की प्रवर मात्रा व मन्दाग्नि में अवरमात्रा ग्रहण करना चाहिए। इसके विपरीत ली गई मात्रा को मात्राविरुद्ध कहा जाता है। कतिपय द्रव्यों को जब एक साथ लेना हो तो यथोचित मात्रा में न लेना मात्राविरुद्ध कहा जाता है। जैसे—मधु व घृत समान मात्रा में मात्राविरुद्ध कहा जाता है—'मधुसर्पिः समघृतं मात्रया तद्विरुध्यते।'

५. सात्म्यविरुद्ध—जिस मनुष्य के लिए जो रस सात्म्य हो जाता है, उसके लिए वही रस लाभदायक होता है। जैसे—'कटुकोष्णादिसात्म्यस्य स्वादुशीतादिसेवनम्। यत्तत् सात्म्यविरुद्धं तु।' अर्थात् जिस व्यक्ति के लिए कटु व उष्ण आहार सात्म्य हो गया है, उस व्यक्ति के लिए मधुर व शीत द्रव्य सात्म्यविरुद्ध होता है। सात्म्य का तात्पर्य 'सात्म्यतश्चेति सात्म्यं नाम तद्यत् सातत्येनोपसेव्यमानमुपशेते।' होता है।

अर्थात् सात्म्य उसको कहा जाता है, जो निरन्तर सेवन करने पर अपने प्रकृति के अनुकूल हो जाय।

६. दोषविरुद्ध—'विरुद्धं स्वानिलादिभिः। या समानगुणाभ्यासविरुद्धान्नौषध क्रिया'—च० सू० २६।९१। अर्थात् वातादि दोषों के समान गुण वाले और अभ्यास किये गये आहार-औषध व कर्म के विरुद्ध भावों का सेवन करना दोषविरुद्ध आहार कहा जाता है।

७. संस्कारविरुद्ध—यहाँ संस्कारविरुद्ध से तात्पर्य यह है कि—वैसे आहार जो ऐसे संस्कार से युक्त हो, जिसका शरीर पर हानिकर प्रभाव होता हो, उसे संस्कार-विरुद्ध कहा जाता है। जैसे—एरण्ड की लकड़ी में छिद्र कर भुना गया मयूरमांस विष-सदृश हो जाता है। इस प्रकार मयूरमांस संस्कार के द्वारा हानिकर हो जाता है।

८. वीर्यविरुद्ध—वीर्य-विरुद्ध से तात्पर्य विपरीत वीर्य वाले द्रव्यों का सेवन करने से है—'विरुद्धं वीर्यतो ज्ञेयं वीर्यतः शीतलात्मकम्। तत् संयोज्योष्णवीर्येण द्रव्येण सह सेव्यते।'—च० सू० २६।९३। अर्थात् शीत वीर्य वाले द्रव्यों को उष्ण वीर्य वाले द्रव्यों के साथ मिलाकर सेवन करना वीर्यविरुद्ध कहा जाता है। वीर्यविरुद्ध आहार लेने से रक्त दूषित होता है—'विरुद्धवीर्यत्वाच्छोणितप्रदूषणाय'—च० सू० २६।८२।

९. कोष्ठविरुद्ध—आहार अपने कोष्ठ के अनुसार ही लेना चाहिए। कोष्ठ को क्रूर, मृदु आदि आधार पर विभाजित किया गया है। यदि व्यक्ति अपने कोष्ठ के अनुसार आहार न लेकर विपरीत आहार ग्रहण करता है तो उसे कोष्ठविरुद्ध कहा जाता है। जैसे—'क्रूरकोष्ठस्य चात्यल्पं मन्दवीर्यमभेदनम्।' अर्थात् क्रूर कोष्ठ वाला व्यक्ति जब अल्प, मन्दवीर्ययुक्त, मल को नहीं लाने वाला (अभेदक द्रव्य) लेता है तो उसे कोष्ठविरुद्ध कहा जाता है। इसी प्रकार जब मृदु कोष्ठवाला व्यक्ति अतिमात्रा में गुरु, भेदक आहार का सेवन करता है तो उसे कोष्ठविरुद्ध आहार कहा जाता है।

१०. अवस्थाविरुद्ध—अवस्था से यहाँ आतुर की सामान्य रहने वाली स्थिति से है। व्यक्तिविशेष के विभिन्न विहार को यहाँ अवस्था से सम्बोधित किया गया है। जैसे—

'श्रमव्यवायव्यायामसक्तस्यानिलकोपनम्।
निद्रालसस्यालसस्य भोजनं श्लेष्मकोपनम्॥'

(च० सू० २६।९६)

अर्थात् परिश्रम, मैथुन, व्यायाम आदि विहार से वात की वृद्धि होती है। यदि उपर्युक्त भावों में आसक्त व्यक्ति वातवर्द्धक आहार का सेवन करता है तो इसे अवस्थाविरुद्ध कहा जाता है, इसी प्रकार आलस्ययुक्त व अतिनिद्रादि विहार-सेवी में कफ की वृद्धि होती है, अतः उसका आहार कफविरुद्ध होना चाहिए। पर यदि वह व्यक्ति कफवर्द्धक आहार लेता है तो उसे अवस्था विरुद्ध कहा जाता है।

११. क्रमविरुद्ध—आहार का क्रमानुसार सेवन न कर, जैसे-तैसे आहार-सेवन क्रमविरुद्ध कहा जाता है। यहाँ क्रम का तात्पर्य आहार-ग्रहण-सम्बन्धित विहित मार्ग या दिशानिर्देश से है। आयुर्वेद में आहारक्रम निम्न रूप में कहा गया है—मनुष्य को आहार ग्रहण करने से पूर्व इस क्रम पर विचार करना चाहिए कि—मल-मूत्र का त्याग कर चुका हो, इन्द्रियाँ अपने-अपने कार्य में संलग्न हों, शरीर में हल्कापन का अनुभव होता हो, शुद्ध उद्गार निकलता हो, हृदय प्रदेश या हृदय पर किसी तरह के भार का अनुभव नहीं होता हो, भोजन करने की इच्छा हो, शरीर व मन में थकावट न हो। उपर्युक्त भावों पर विचार करने के बाद ही आहार का ग्रहण करना चाहिए—

'विसृष्टे विण्मूत्रे विशदकरणे देहे च सुलघौ।
विशुद्धे चोद्गारे हृदि सुविमले वाते च सरति॥
तथाऽन्नश्रद्धायां क्लमपरिगमे कुक्षौ च शिथिले।
प्रदेयस्त्वाहारो भवति भिषजां कालः स तु मतः॥'

(सु० उ० ६४।८५-८६)

चरकसंहिता में कहा गया है कि—'यच्चानुत्सृज्य विण्मूत्रं भुङ्क्ते यश्चाबुभुक्षितः। तच्च क्रमविरुद्धं स्याद्यच्चातिक्षुद्वशानुगः।' (च० सू० २६।९७)

अर्थात् जो व्यक्ति बिना मल-मूत्र के त्याग किये ही, बिना भूख लगे ही या अत्यधिक भूख लगने पर ही आहार ग्रहण करता है उसे क्रमविरुद्ध कहा जाता है।

१२. परिहारविरुद्ध—आहार-विशेष हेतु निर्दिष्ट अनुपान सहपान का सेवन न कर विहित निर्देश के अतिरिक्त द्रव्यों का सेवन करना परिहारविरुद्ध कहा जाता है। जैसे—सूअर का मांस खाकर उष्ण वस्तुओं का सेवन करना।

१३. उपचारविरुद्ध—घृतादि स्नेहपान के बाद शीत जल, आहार या औषध का सेवन करना उपचारविरुद्ध होता है—'सेवेतोष्णं घृतादींश्च पीत्वा शीतं निषेवते।'

१४. पाकविरुद्ध—आहार द्रव्यों का सम्यक् रूपेण पाचन न करके आहार का ग्रहण करना या अत्यधिक पाचन (अधिक पकाकर या जलाकर) कर ग्रहण करना या विहित मार्ग से पाचन किये बिना ग्रहण करना या आहार-विशेष के पाचन हेतु निषिद्ध ईंधन की सहायता से पाचन कर आहार ग्रहण करना पाकविरुद्ध कहा जाता है—'विरुद्धं पाकतश्चापि दुष्टदुर्दारुसाधितम्। अपक्व तण्डुलात्यर्थं पक्वदग्धं च यद्भवेत्।'

(च० सू० २६।९८)

अर्थात् दूषित या अनुचित लकड़ी से आहार का पाचन करना, चावलों को बिना पूर्ण पकाये ग्रहण करना या अत्यधिक पाचन कर ग्रहण करना पाकविरुद्ध कहा जाता है।

१५. संयोगविरुद्ध—जिन विशिष्ट द्रव्यों का एक साथ संयोग कर या विशिष्ट रसों का एक साथ संयोग कर सेवन करना निषिद्ध है, उनका एक साथ सेवन करना संयोगविरुद्ध कहा जाता है। चरकसंहिता में सर्वाधिक उदाहरण संयोगविरुद्ध के ही उल्लिखित हैं। संयोगविरुद्ध प्रकरण में अम्ल रस का मधुर रस के साथ सेवन करना संयोगविरुद्ध कहा गया है–'संयोगतो विरुद्धं तद्यथाऽम्लं पयसा सह।'–च० सू० २६।९९। इसके अतिरिक्त मछली के साथ दूध का सेवन करना संयोगविरुद्ध होता है। इससे रक्तपुष्टि व विबन्धजन्य व्याधियों की उत्पत्ति होती है तथा आमविष उत्पन्न होता है—च० सू० २६। ग्राम्य, आनूप या जलीय मांस के साथ मधु, तिल, गुड़, उड़द, मूली, विभिन्न अंकुरित धान्यों का सेवन करना संयोगविरुद्ध होता है। इससे बाधिर्य, अन्धापन, कम्प रोग, जड़ता, अस्पष्ट बोलना, मिनमिनापन या मृत्यु तक हो जाती है।—च० सू० २६।८४। पौष्कर, रोहिणी शाक व कपोतमांस का सेवन मधु व दुग्ध के साथ नहीं करना चाहिए, इससे शोणिताभिष्यन्द, धमनी-प्रतिचय या धमनी का विस्तृत होना, अपस्मार, शंखक, गलगण्ड, रोहिणी—इन रोगों में से किसी एक रोग की उत्पत्ति होती है या मृत्यु हो जाती है। इसी प्रकार मधु व दूध के साथ जातु शाक या पके हुए बड़हल खाने से मृत्यु-भय होता है अथवा इससे बल, रूप, कान्ति व वीर्य का नाश होता है या किसी बड़ी व्याधि होने की आशंका रहती है या सेवन करने वाला मनुष्य नपुंसक हो जाता है। इसी प्रकार पके बड़हल का सेवन उड़द की दाल, गुड़, घृतादि के साथ नहीं करना चाहिए। (च० सू० २६।८४)

१६. हृदयविरुद्ध—यहाँ हृदय का तात्पर्य मन से है। जो आहार मनोनुकूल न हो, उनका सेवन करना हृदयविरुद्ध कहा जाता है—'अमनोरुचितं यच्च हृद्विरुद्धं तदुच्यते।'—च० सू० २६।९९। आयुर्वेद में कहा गया है 'तन्मना भुञ्जीत' अर्थात् आहार में मन को केन्द्रित कर आहार ग्रहण करना चाहिए। यदि आहार मनोनुकूल नहीं रहता है तो उसका सम्यक् पाचन नहीं होता। यदि किसी कारणवश मनुष्य में आहारेच्छा न हो, फिर भी वह आहार ग्रहण करता है, तो उसे भी हृदयविरुद्ध आहार कहा जा सकता है; क्योंकि कतिपय मनःस्थितियों में मानसिक रूप से व्यक्ति-विशेष को आहार की इच्छा नहीं रहती है।

१७. संपद्-विरुद्ध—यहाँ सम्पत् से तात्पर्य आहार द्रव्यों के सम्पत् (गुणयुक्त) होने या पूर्णता से है। जब आहार द्रव्य परिपक्व हो जाते हैं, अर्थात् उनमें रसादि पूर्णतः स्वाभाविक रूप में आ जाते हैं तो उस आहार द्रव्य का सेवन किया जाता है। पर यदि—

'संपद्विरुद्धं तद्विद्यादसंजातरसं तु यत्।
अतिक्रान्तरसं वाऽपि विपन्नरसमेव वा॥' (च० सू० २६।१००)

अर्थात् जिस आहार द्रव्य या औषध द्रव्य में यथोचित रस की उत्पत्ति न हो

अर्थात् अभी अपक्वावस्था में हो या अतिक्रान्त रसयुक्त हो या जिसके रसादि में प्रारम्भिक अवस्था से ही विकृति आ गई हो, ऐसे आहार द्रव्यों का सेवन करना सम्पद्-विरुद्ध कहा जाता है।

१८. **विधि-विरुद्ध**—

'ज्ञेयं विधिविरुद्धं तु भुज्यते निभृते न यत्।
तदेवंविधमन्नं स्याद्विरुद्धमुपयोजितम्॥'

(च० सू० २६।१०१)

अर्थात् जो आहार-द्रव्य एकान्त में नहीं लिया जाता, उसे विधि-विरुद्ध कहा जाता है। इस प्रकार के आहार सेवन करने से शरीर में अहितकर प्रभाव होता है।

वैरोधिक-आहारजन्य रोग व उसकी चिकित्सा

वैरोधिक आहार के अन्तर्गत उपर्युक्त अठारह घटकों का वर्णन किया गया है। वैरोधिक आहार-सेवन से शरीर व मन में विभिन्न व्याधियाँ उत्पन्न हो जाती हैं एवं मृत्यु तक हो जाती है। वैसे तो वैरोधिक आहार के अठारह घटक वर्णित हैं, पर सामान्यतया द्रव्य-विरुद्ध, गुण-विरुद्ध, संयोग-विरुद्ध, संस्कार-विरुद्ध, देश-कालादि विरुद्धाहार सेवन किये जाते हैं तथा तज्जन्य अनेक व्याधियाँ उत्पन्न होती हैं। विभिन्न विरुद्धाहार के यथास्थल हानिकर प्रभावों का उल्लेख किया गया है। यथा—वीर्य-विरुद्ध आहार से—'विरुद्धवीर्यत्वाशोणितप्रदूषणाय महाभिष्यं···मार्गोपरोधाय च।' इसी प्रकार संयोग-विरुद्ध से रक्तदुष्टि, कम्पादि। जिसका उल्लेख यथास्थान किया गया है। पर आचार्य ने सामान्यतः विरुद्ध आहार सेवन से होने वाले विविध रोगों का उल्लेख किया गया है। यथा—

'षाण्ड्यान्ध्यवीसर्पदकोदराणां विस्फोटकोन्मादभगन्दराणाम्।
मूर्च्छामदाध्मानगलग्रहाणां पाण्ड्वामयस्यामविषस्य चैव॥
किलासकुष्ठग्रहणीगदानां शोथाम्लपित्तज्वरपीनसानाम्।
सन्तानदोषस्य तथैव मृत्योर्विरुद्धमन्नं प्रवदन्ति हेतुम्॥'

(च० सू० २६।१०२-१०३)

अर्थात् १. षण्डता (नपुंसकता), २. अन्धापन, ३. विसर्प, ४. जलोदर, ५. शोथ, ६. विस्फोट, ७. उन्माद, ८. भगन्दर, ९. मूर्च्छा, १०. मद, ११. आध्मान, १२. गलग्रह, १३. पाण्डु, १४. आम-विष, १५. किलास, १६. कुष्ठरोग, १७. ग्रहणी रोग, १८. शोथ, १९. अम्लपित्त, २०. ज्वर, २१. पीनस, २२. सन्तान-दोष (चक्रपाणिदत्त ने सन्तानदोष का अर्थ 'मृतवत्सत्वादि' लगाया है) आदि व्याधियों की उत्पत्ति होती है तथा २३. मृत्यु तक हो सकती है। वैसे तो आयुर्वेद में प्रायशः निज-व्याधियों का कारण मिथ्याहार स्वीकार किया जाता है, पर यहाँ वैरोधिक आहार-जन्य विशिष्ट व्याधियों का उल्लेख किया गया है। वैरोधिक आहार की परिभाषा में

ही इसे धातुओं को उभाड़ने वाला कहा गया है। विरुद्धाहार पर यदि विचार किया जाता है, तो देखा जाता है कि कतिपय द्रव्य सीधे रूप से शरीरस्थ धातुओं पर हानिकर प्रभाव डालते हैं। विशेषकर ये दोष वृद्धिकर विकृति पैदा करते हैं। जैसे— आनूप देश में (विरुद्धाहार) कफज आहार, जांगलदेश में वातज आहार, उसी प्रकार काल से सम्बन्धित विरुद्धाहार से दोष-वृद्धि होती है। कतिपय द्रव्यों के गुण या वीर्य सीधे शरीरस्थ धातुओं को प्रभावित करते हैं। इनसे सामान्यतया तद्दोषजन्य व्याधियों की उत्पत्ति होती है। वैरोधिक आहार में अधिकांशतः घटक विभिन्न द्रव्यों के विरुद्ध गुणधर्मी है। इसमें प्रधानता संयोग व संस्कार-विरुद्ध की दर्शायी गई है। यहाँ संयोग व संस्कार को प्रधान कहने का तात्पर्य यह कदापि नहीं है कि अन्य घटक महत्त्वहीन है, बल्कि संयोग का यहाँ तात्पर्य यह है कि वीर्य-विरुद्ध द्रव्य शीत-उष्ण तभी विरुद्धाहार होते हैं। जब दो विभिन्न वीर्य वाले द्रव्यों का संयोग हो—'शीतोष्ण-त्वाद्विरुद्धवीर्यं।' इसी प्रकार मात्रा-विरुद्ध उदाहरण शहद व घृत का संयोग होने पर ही विरुद्धाहार है। इस प्रकार कतिपय घटक में मात्रा, वीर्यादि का वैरोधिक गुण संयोगावस्था में ही होते हैं। इसी प्रकार परिहार, उपचार, विरुद्धाहार में भी सहपान या अनुपान में गृहीत विशेषद्रव्य जब पूर्वगृहीत द्रव्यों से संयोग करते हैं तो विरुद्धाहार होते हैं। वैसे ही संस्कार में भी विभिन्न प्रक्रियाओं के साथ यह भी ध्यान देना पड़ता है कि किस द्रव्य-विशेष के संयोग से संस्कृत करना है। जैसे—हारिल पक्षी का मांस सरसों तेल में भुनना संस्कार-विरुद्ध है। यहाँ भुनना संस्कार-वैरोधिक नहीं है। सरसों तेल का हारिल पक्षी के मांस से संयुक्त होना विरुद्ध है। इस प्रकार वैरोधिक आहार द्रव्यों का शरीरस्थ धातुओं से द्रव्यों का संस्कार से हानिकर हो जाना आदि विरुद्ध होना विरुद्धाहार कहा गया है। इनसे प्रायशः रक्तदुष्टिजन्य, आमविषजन्य व मार्गावरोधजन्य व्याधियों की उत्पत्ति होती है। चरकसंहिता में वर्णित षण्डादि २२ व्याधियों में अधिकतर व्याधियाँ परोक्षतः या प्रत्यक्षतः रक्तदुष्टि से सम्बन्धित हैं। कतिपय आमविषजन्य व अग्निविकारजन्य हैं, कतिपय व्याधियाँ मार्गावरोध-(स्रोतावरोध)-जन्य हैं। आचार्य वाग्भट वैरोधिक आहार को विषवत् स्वीकार करते है तथा मृत्युदायक कहते हैं; जैसा कि चरकसंहिता में भी कहा गया है—'विस्फोटशोक-मदविद्रधिगुल्मयक्ष्मतेजोबलस्मृतिमतीन्द्रियचित्तनाशान्। कुर्याद्विरुद्धमशनं ज्वरमल्पपित्तमष्टौ गदांश्च महतो विषवच्च मृत्युम्।' (अ० सं० सू० ९)

चिकित्सा—वैरोधिक आहारजन्य व्याधियों की निम्न चिकित्सा बतलाई गई है—

१. वमनं विरेचनं च—वैरोधिक आहारजन्य व्याधियों में वमन व विरेचन कराना चाहिए; क्योंकि वमन, विरेचन व संशमन से वैरोधिक आहारजन्य व्याधियाँ नष्ट हो जाती हैं—

'विरुद्धाशनजान् रोगान् प्रतिहन्ति विरेचनम् ।
वमनं शमनं चैव पूर्वं वा हितसेवनम् ।।'

(च० सू० २६।१०५)

२. तद्विरोधिनां च द्रव्याणां संशमनार्थमुपयोगः—अर्थात् वैरोधिक आहारजन्य व्याधियों में विरुद्धाहार के विपरीत द्रव्यों के द्वारा संशमन चिकित्सा करनी चाहिए।

३. तथाविधैश्च द्रव्यैः पूर्वमभिसंस्कारः शरीरस्येति—अर्थात् पहले ही आहार के समान द्रव्यों से शरीर का संस्कार करना चाहिए।

विरुद्धाहार से अप्रभावित अवस्थायें—निम्न अवस्थाओं में शरीर में वैरोधिक आहार का दुष्प्रभाव नहीं हो पाता है—१. लगातार विरुद्धाहार सेवन से सात्म्य हो जाने पर, २. मात्रा अल्प होने पर, ३. व्यक्ति-विशेष की अग्नि तीव्र होने पर, ४. व्यक्ति के युवावस्था में रहने पर, ५. व्यक्ति द्वारा सदैव घृत-सेवन करने पर, ६. व्यायाम करते रहने पर तथा ७. बलयुक्त होने पर—

'सात्म्यतोऽल्पतया वाऽपि दीप्ताग्नेस्तरुणस्य च ।
स्निग्धव्यायामबलिनां विरुद्धं वितथं भवेत् ।।'

(च० सू० २६।१०६)

वैरोधिक आहारवाद की उपादेयता—

आत्रेयभद्रकाप्यीयवाद में मानव के स्वास्थ्य-रक्षण हेतु वैरोधिक आहार व उसके घटकों का उल्लेख किया गया है।

आयुर्वेद में निज रोगों का कारण मिथ्याहार-बिहार को कहा गया है। मिथ्याहार बिहार सेवन से दोष संचित होते हैं, फिर दोष प्रकुपित होकर सामान्यतः व्याधियों को उत्पन्न करते हैं। दोष प्रकोपोपरान्त दोषों का शरीरस्थ धातुओं से सम्मूर्च्छन होता है, तब रोगोत्पत्ति होती है। पर कतिपय आहार को जब विभिन्न रूपों में विधि-विधान का पालन किये बिना ही ग्रहण किया जाता है तो वे दोषों में संचयादि प्रक्रिया न करके सीधे दोषों को अपने स्थान से स्रवित करते हैं, जिससे विभिन्न व्याधियाँ उत्पन्न होती हैं। अतः ऐसे आहार के सेवन करने से रोगों से बचने के लिए यह उपादेय है। इसकी उपादेयता व्यावहारिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि वैरोधिक आहारजन्य व्याधियों की चिकित्सा संक्षिप्त पर महत्त्वपूर्ण होती है। ऐसे वैरोधिक आहार से तो सर्वदा बचने का प्रयास करना चाहिए जो विषाक्त प्रभाव वाले तथा मृत्युकारक होते हैं। जैसे—सममात्रा में मधु व घृत विष हो जाता है। दोनों अलग-अलग अमृततुल्य गुणकारी है; अतः अधिक लाभ हेतु इनका सेवन मिलाकर न किया जाय—इसलिए वैरोधिक आहारवाद की अवधारणा उपादेयता की दृष्टि से स्थापित की गई है। कतिपय वैरोधिक आहार से आमविषजन्य आत्ययिक व्याधियाँ (विसूचिकादि) उत्पन्न होकर मारक सिद्ध होती हैं, अतः वैरोधिक आहार व तद्-

घटकों का ज्ञान चिकित्सक ही नहीं, अपितु जनसामान्य को भी होना आवश्यक है। वैरोधिक आहार के प्रत्येक घटक व्यवहार्य हैं; अतः स्वास्थ्य-रक्षण हेतु इसके घटकों की जानकारी देकर जनसामान्य को लाभ पहुँचाया जा सकता है। कतिपय विरुद्धाहार लोकमान्य होकर प्रचलित हैं; जैसे—मछली के साथ दूध का सेवन नहीं करना चाहिए, मधु-घृत सम मात्रा में मिलाकर सेवन नहीं करना चाहिए आदि। वैसा ही सभी वैरोधिक आहार घटकों का सामान्य परिचय जन-साधारण में प्रचारित होना चाहिए।

आधुनिक काल में अनेक नई व्याधियाँ उत्पन्न हो रही हैं, उनका कारण विरुद्धाहार ही है। आज हृदयरोग, उच्च रक्तचाप आदि व्याधियाँ विरुद्धाहार के कारण उत्पन्न हो रही हैं। विरुद्धाहार से रक्ताभिष्यन्द (रस, रक्तवह स्रोतों का अवरोध करने वाले तत्त्वों की उत्पत्ति), धमनी-प्रतिचय, धमनियों का विस्तृत हो जाना आदि विकृतियाँ वैरोधिक आहार-सेवन के परिणामस्वरूप उत्पन्न हो रही हैं।

तन्त्रार्थबोधक तत्त्व व उसकी उपादेयता

यहाँ तन्त्रर्थावबोधक तत्त्व से अभिप्राय ऐसे तत्त्वों से है, जिनकी सहायता से शास्त्र के विषयों का सम्यक्रूपेण बोध होता है। तन्त्रार्थबोधक तत्त्व का तात्पर्य तन्त्र + अर्थ + बोधक + तत्त्व से है। तन्त्र से यहाँ शास्त्र का ग्रहण किया जाता है। अर्थ से तात्पर्य विषय या शास्त्रवर्णित विषय से है। बोधक, बोध कराने वाले को कहते हैं। अतः शास्त्र के विषयों का ज्ञान कराने वाले तत्त्व को तन्त्रार्थबोधक तत्त्व कहा जाता है। चरकसंहिता में रस, गुण, विपाकादि के प्रकरण में तन्त्रार्थबोधन हेतु एक निर्देश दिया गया है—

'अतश्च प्रकृतं बुद्ध्वा देशकालान्तराणि च।
तन्त्रकर्तुरभिप्रायानुपायांश्चार्थमादिशेत् ॥' (च० सू० २६।३७)

अर्थात् वैद्य या चिकित्सक को सदैव इस बात के लिए प्रयत्नशील रहना चाहिए कि, किसी के वचनों को सुनकर या रोग आदि को देखकर 'प्रकृतं बुद्ध्वा' अर्थात् प्रकरण के अनुसार ही अर्थ ग्रहण करना चाहिए। प्रकरण का ज्ञान देश, कालादि के भेदों के आधार पर करना चाहिए तथा सदैव इस बात को समझने का प्रयत्न करना चाहिए कि तन्त्रकर्त्ता का प्रकरण-वर्णन में अभिप्राय क्या है ? तन्त्रकर्त्ता द्वारा वर्णित उपायों का ज्ञान प्राप्त कर तात्पर्य समझने की चेष्टा करनी चाहिए। चक्रपाणिदत्त ने 'तन्त्रकर्तुः अभिप्राया' से 'तन्त्रकर्तुः अभिप्राया इति तत्र तत्रोपचारेण सामान्यशब्दादि-प्रयोगेण तन्त्रकरणबुद्धयः' ग्रहण किया है तथा 'उपायाश्च हेतु उपायानिति शास्त्रोपायान् तन्त्रयुक्तिरूपान् अर्थम् अभिधेयम्' कहा है। इस प्रकार तन्त्रकर्त्ता का अभिप्राय प्रकरण, देश, काल के आधार पर समझना चाहिए; क्योंकि प्रकरणादि पर ध्यान नहीं दिया जाता है तो शाब्दबोध नहीं होता। जैसे—रस पारद को भी कहते हैं

तथा जिह्वा द्वारा बोध होने वाले षड्रसों को भी रस कहते हैं। इसके अतिरिक्त सप्तधातुओं के आद्य धातु को भी रस कहा जाता है। यदि शास्त्र में रस शब्द का उल्लेख प्राप्त होता है तो प्रकरणानुसार ग्रन्थकर्त्ता का अभिप्राय समझा जाता है। यदि शास्त्र में 'यः स्याद्रसविकल्पज्ञः स्यात्तु दोषविकल्पवित्। यः क्वचिदेको रसः कल्प्यः संयुक्ताश्च रसाः क्वचित्।' ऐसा उल्लेख प्राप्त होता है तो प्रकरणवश 'रस' शब्द से जिह्वाग्राह्य षड्रसों का ग्रहण होता है, क्योंकि यहाँ षड्रस प्रकरण है, अतः प्रकरणवश स्वाद अर्थ में रस का ग्रहण होता है। वैसे ही यदि 'साध्येषु भेषजं सर्वमीरितं······। असाध्येष्वपि दातव्यो रसोऽतः श्रेष्ठ उच्यते।' यहाँ प्रकरणवश रस शब्द से पारद का ग्रहण किया जाता है। वैसे शास्त्र में 'एवं रसमलौ स्वप्रमाणावस्थितावाश्रयस्य समधातोर्धातुसाम्यमनुवर्तयतः।' ऐसा उल्लेख दृष्टिगत होता है तो यहाँ 'रस' शब्द से शरीरस्थ आद्य धातु रस का प्रकरणानुसार ग्रहण किया जाता है। इसी प्रकार प्रकरण के अतिरिक्त देश-कालादि के आधार पर भी तन्त्रकर्त्ता के अभिप्राय को समझा जाता है। देश से भौगोलिक विभाग, भूमि, देश व शरीर दोनों अर्थ ग्रहण किया जाता है। यदि कहा जाता है कि अजीर्ण-जन्य शूल में 'आमसन्नोऽनलो' अर्थात् आम सम्पृक्त वायु के कारण शूलघ्न औषधि नहीं देनी चाहिए। यहाँ यदि यह उल्लिखित नहीं है कि किस भाग के शूल के लिए कहा गया है, तो भी 'आमसन्नो' के आधार पर देशानुसार आमाशय शूल का ग्रहण होता है। जैसे—शास्त्र में कहा गया है कि कालादि का विचार कर त्रिवृत्त विरेचन का प्रयोग करना चाहिए। यहाँ शास्त्रकार का अभिप्राय है कि त्रिवृत्त का सेवन भिन्न ऋतुओं में कालानुसार द्रव्यों के साथ करना चाहिए। जैसे—इन्द्र जौ, पीपर, शुण्ठी आदि के साथ '······वर्षास्वेतद्विरेचनम्' अर्थात् वर्षा ऋतु में विरेचन कराना चाहिए। दुरालभा, मोथा, सुगन्धबाला आदि के साथ शरद्काल में, चित्रक, पाठा, जीरक आदि के साथ हेमन्तकाल में तथा 'शर्करां त्रिवृता तुल्या ग्रीष्मकाले विरेचनम्' अर्थात् चीनी के साथ ग्रीष्मकाल में विरेचन कराना चाहिए। इस प्रकार कालानुसार से उपर्युक्त विधि से विभिन्न ऋतुओं में तदनुकूल द्रव्यों के साथ सेवन करने का अभिप्राय है।

उपर्युक्त विवेचन से हमें ज्ञात होता है कि तन्त्रार्थबोधक तत्त्वों की जानकारी से तन्त्रकर्त्ता का अभिप्राय जो कि अस्पष्ट तथा संदिग्ध होता है वह स्पष्ट तथा असंदिग्ध रूप में प्रकाशित हो जाता है जिससे कि प्रसंगगत विषय की सार्थकता का ज्ञान तथा उसकी व्यावहारिक उपादेयता का लाभ सामान्यजन भी उठा सकें। इसी तथ्य को दृष्टिगत करते हुये आचार्य ने तन्त्रार्थबोधक तत्त्वों के महत्त्व को निर्देशित किया है जो कि चिकित्सक समाज के लिये एक प्रज्वलित दीप की भाँति है जिससे कि शास्त्र के गूढ़ तथा अस्पष्ट तथ्यरूपी अन्धकार नष्ट होकर समीचीन अर्थ प्रकाशन में समर्थ हो जाते हैं।

अध्याय-७

धातुपोषण सिद्धान्त

रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा, शुक्र—ये सात धातुयें आयुर्वेद में स्वीकार की गई हैं। ये शरीर का धारण करती हैं, अतः इन्हें धातु कहा जाता है—'त एते (रसादयाः) शरीरधारणाद्धातव इत्युच्यन्ते।'—सु०सू० १४।२०। इन धातुओं के पोषण से सम्बन्धित आयुर्वेद का अपना स्वतन्त्र सिद्धान्त है, जिसे धातुपोषण सिद्धान्त कहा जा सकता है; अतः इस विषय का शीर्षक 'धातुपोषण सिद्धान्त' रखा गया है। धातुएँ शरीर का धारण एवं पोषण दोनों कार्य करती हैं। आचार्य सुश्रुत ने आहार रस द्वारा इन धातुओं का प्रीणन होना कहा है—'तत्रैतेषां धातूनामन्नपानरसः प्रीणयिता।'—सु० सू० १४।११। चरकसंहिता में इस तथ्य को विस्तृत रूप से समझाया गया है। मूल पाठ निम्न है—'विविधमशितं पीतं लीढं खादितं जन्तोर्हितमन्तरग्निसन्धुक्षित-बलेन यथास्वेनोष्मणा सम्यग्विपच्यमानं कालवदनवस्थितसर्वधातुपाकमनुपहतसर्वधा-तूष्ममारुतस्रोतः केवलं शरीरमुपचयबलवर्णसुखायुषा योजयति शरीरधातूनूर्णयति च।'—च० सू० २८।३। अर्थात् चारो प्रकार के अशित, पीत, लीढ व खादित आहार का जब सेवन किया जाता है (यहाँ चारो प्रकार का तात्पर्य चार में से किसी भी प्रकार का या चारो प्रकार का है) तब जठराग्नि के बल से अपनी-अपनी पाञ्चभौतिक उष्मा (प्रत्येक भूत की अपनी अग्नि होती है। आहार पांचभौतिक हैं; अतः उनका पाचन अपनी-अपनी अग्नियों द्वारा होता है) द्वारा पाचन होता है, फिर वह पचा हुआ आहार काल की तरह किसी धातुविशेष में न रुकता हुआ सम्पूर्ण धातुओं में बिना किसी बाधा के पाक प्राप्त कर सभी धात्वग्नियों, वायु और स्रोतों से युक्त इस शरीर को उपचय बल, वर्ण, सुख व आयु से युक्त करता है तथा शारीरिक धातुओं को शक्ति प्रदान करता है। आयुर्वेद में धातुपोषण सिद्धान्त की प्रक्रिया में कहा गया है कि—

'धातवो हि धात्वाहाराः प्रकृतिमनुवर्तन्ते।'—च० सू० २८।३। अर्थात् शरीरस्थ धातुएँ (स्थायी पोष्य धातु) (अस्थायी पोषक धातु) धातुओं का आहार करती हुई प्रकृति का अनुवर्त्तन करती हैं। इसका तात्पर्य यह है कि धातुओं का पोषण धातुओं के द्वारा ही होता है। पूर्व धातुओं से उत्तर धातु का पोषण होता है—

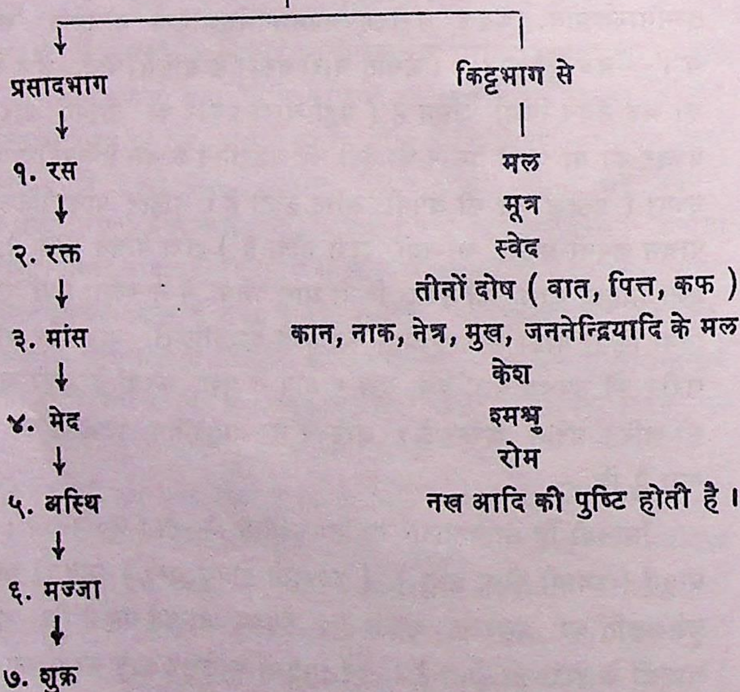
'सप्तभिर्देहधातारो धातवो द्विविधं पुनः ।
यथास्वमग्निः पाकं यान्ति किट्टप्रसादवत् ॥

रसाद् रक्तं ततो मांसं मांसान्मेदस्ततोऽस्थि च ।
अस्थ्नो मज्जा ततः शुक्रं शुक्राद् गर्भः प्रसादजः ।।'

(च० चि० १५।१५-१६)

देहधारक रसादि धातुओं का अपने-अपने अग्नियों द्वारा पाक होता है। यह पाक द्विविध---किट्ट भाग व प्रसादभाग के रूप में होता है। अर्थात् जठराग्नि की क्रिया के उपरान्त आहार रस पर धात्वग्नियों की क्रिया से एक सारभाग बनता है, जिसे प्रसाद भाग कहते हैं, इसका उपयोग उत्तरधातु के पोषण में होता है तथा जो निःसार भाग होता है, उसे किट्ट भाग कहा जाता है। इस प्रकार प्रसादांश रस से रक्त, रक्त से मांस, मांस से मेद, मेद से अस्थि, अस्थि से मज्जा व शुक्र का पोषण होता है।

आहार का जब समुचित रूप से पाचन होता है, तो उसके स्वच्छ भाग को रस कहा जाता है तथा मल भाग को किट्ट कहा जाता है।



प्रसादांश रस से रक्तादि धातुओं के अतिरिक्त ओज-धातुओं के सारभूत पांचो ज्ञानेन्द्रियों के द्रव्य, शारीरिक सन्धियाँ, स्नायु, कण्डराओं, कलादि अवयवों की भी

पुष्टि होती है—'पुष्यन्ति त्वाहाररसाद्रसरुधिर···पञ्चेन्द्रियद्रव्याणि धातुप्रसादसंज्ञकानि शरीरसन्धिबन्धपिच्छादयश्चावयवाः।'—च० सू० २८।४। इस प्रकार आहार रस के द्वारा धातुओं, मलों आदि की पुष्टि होती है एवं शरीरस्थ धातुएँ व मल अपने अपेक्षित मात्रा में बने रहते हैं, जिससे शारीरिक धातुएँ साम्यावस्था में रहती हैं—'ते सर्वे एव धातवो मलाख्या······एवं रसमलौ स्वप्रमाणावस्थितावाश्रयसमधातोर्धातुसाम्यमनुवर्तयतः।'—च० सू० २८।४।

जब किसी कारण से धातुओं के प्रसादांश क्षीण हो जाते हैं या वृद्धि को प्राप्त कर लेते हैं, तो आहार-रस आहारमूलक वृद्धि-क्षय के द्वारा धातुओं को सम बनाये रखते हैं। यदि इनका प्रमाण अधिक बढ़ जाता है तो औषधियों के द्वारा इन्हें सम किया जाता है।—च० सू० २८।४।

इन धातुओं के प्रसादांश द्वारा ही शरीरस्थ उपधातुओं की भी पुष्टि होती है; क्योंकि उनकी उत्पत्ति भी तत्तद्धातुओं से मानी गई है। यथा—

रसात्स्तन्यं ततो (स्त्रियाः इति पा०) रक्तमसृजः कण्डराः सिराः।
मांसाद्वसात्वचः षट् च मेदसः स्नायुसन्धयः॥' (च० चि० १५।१७)

अर्थात् १. रस धातु से { स्तन्य (स्त्रियों के दुग्ध) व आर्तव की उत्पत्ति होती है।

२. रक्तधातु से { कण्डरा व सिराओं की उत्पत्ति होती है।

३. मांस धातु से { वसा व छ त्वचाओं की उत्पत्ति होती है।

४. मेदधातु से { स्नायु व सन्धियों की उत्पत्ति होती है।

धातुओं के पोषण से सम्बन्धित तीन पक्ष आयुर्वेद में वर्णित हैं, जिनका यहाँ उल्लेख किया जा रहा है—१. क्षीरदधिन्याय या क्रमपरिणामपक्ष, २. केदारकुल्यान्याय तथा ३. खलेकपोत न्याय। इन तीनों मत पर प्रकाश डालने से पूर्व चरकसंहिता चिकित्सा स्थान में वर्णित धातुपोषण से सम्बन्धित सन्दर्भ को प्रकाशित करना आवश्यक प्रतीत होता है; अतः चरकसंहिता में वर्णित धातुपोषण का विवरण दिया जा रहा है—

१. रस व रक्त की उत्पत्ति व पोषण—आहार के पाचन के उपरान्त जो प्रसाद रूप रस बनता है, वह रस धातु है—'तेजो रसानां सर्वेषां मनुजानां यदुच्यते। पित्तोष्मणः स रागेण रसो रक्तत्वमृच्छति।'—च० चि० १५।२८। अर्थात् जब रसधातु का रञ्जन तेज व पित्त की उष्मा से होता है, तब उसे रक्त कहते हैं यानि रक्तधातु की उत्पत्ति होती है। यहाँ पित्त का तात्पर्य रञ्जक पित्त से है। चरकसंहिता में तो

पित्त के प्रकारों का नामतः उल्लेख नहीं है किन्तु पित्त के प्रमुख कर्मों का उल्लेख प्राप्त होता है सुश्रुत संहिता में रस का रञ्जन कर रक्त रूप में परिणत करने वाले पित्त को रञ्जक पित्त कहा गया है तथा इसका स्थान यकृत् प्लीहा कहा गया है—'यत्तु यकृत्प्लीहोः पित्तं तस्मिन् रञ्जकोऽग्निरिति संज्ञा स रसस्य रागकृदुक्तः ।'

(सु० सू० १५।३५)

२. मांस धातु की उत्पत्ति व पोषण—'वाय्वम्बुतेजसा रक्तमूष्मणा चाभिसंयुतम् । स्थिरतां प्राप्य मांसं स्यात् स्वोष्मणा पक्वमेव तत् ।'—च० चि० १५।२९ । अर्थात् वायु जल, तेज की ऊष्मा से संयुक्त तथा अपनी अग्नि से पक्व रक्त स्थिर हो जाता है, तब उसे मांस कहा जाता है । अर्थात् जब रक्तधातु का रक्ताग्नि द्वारा पाक होने लगता है, तो पाक प्रक्रिया की अन्तिम अवस्था में रक्त का संयोग वायु, जल व अग्नि की ऊष्मा से होकर उसमें स्थिरता होती है; परिणामतः मांसोत्पत्ति होती है ।

३. मेदधातु की उत्पत्ति व पोषण—'स्वतेजोऽम्बुगुणस्निग्धोद्रिक्तं मेदोऽभिजायते ।' अर्थात् मांस का जब उसकी अग्नि द्वारा पाक होता है तो अपनी अग्नि द्वारा पाक होने एवं उसमें उपस्थित जल की स्निग्धता से मेदधातु की उत्पत्ति होती है ।

४. अस्थिधातु की उत्पत्ति व पोषण—'पृथिव्यग्न्यनिलादीनां संघातः स्वोष्मणा कृतः । खरत्वं प्रकरोत्यस्य जायतेऽस्थि ततो नृणाम् ।'—च० चि० १५ । अर्थात् प्रथमतः मेदो धातु का मेदोऽग्नि द्वारा पाक होता है । फिर पाकोत्कर्षता प्राप्त मेद का पृथ्वी, अग्नि व वायु से संयोग होता है, तो उस मेद में खरता उत्पन्न हो जाती है । उस खरता प्राप्त मेद की संज्ञा अस्थि हो जाती है अर्थात् मेदोऽग्नि द्वारा चरमपाक अवस्था में पृथ्वी, वायु, अग्नि-संयोग से खरता का आधान होने पर अस्थि धातु की उत्पत्ति होती है ।

५. मज्जा धातु की उत्पत्ति व पोषण—'करोति तत्र सौषिर्यमस्थ्नां मज्ज्ञे समीरणः । मेदसस्तानि पूर्यन्ते स्नेहोमज्जा ततः स्मृतः ।'—च० चि०० १५ । अर्थात् प्रवृद्ध वायु प्रथमतः अस्थियों में सुषिरता (सूक्ष्म रिक्त स्थान) उत्पन्न करती है । फिर उन सुषिर प्रदेशों/रिक्त स्थानों में मेदोधातु का स्नेहभाग भर जाता है । इस रिक्त स्थान में भरे हुए मेद के स्नेहांश को मज्जाधातु कहा जाता है ।

६. शुक्रधातु की उत्पत्ति व पोषण—जब मज्जा धातु का मज्जाग्नि द्वारा पाक होता है तो मज्जा के स्नेहांश से शुक्र की उत्पत्ति होती है—'तस्मान्मज्ज्ञास्तु यः स्नेहः शुक्रं संजायते ततः ।' मज्जा से शुक्र-निर्माण के बाद वायु और आकाश द्वारा अस्थियों में सूक्ष्म छिद्र होते हैं, उन्हीं छिद्रों से शुक्र का स्राव होता है—

'वाय्वाकाशादिभिर्भावैः सौषिर्यं जायतेऽस्थिषु ।
तेन स्रवति तच्छुक्रं नवात् कुम्भादिवोदकम् ॥' (च० चि० १५)

इस प्रकार चरकसंहिता में अपनी अग्नियों द्वारा पाक को प्राप्त पूर्व धातुओं द्वारा

उत्तर-धातु का पोषण-क्रम समझाया गया है। अब पूर्व उल्लिखित आयुर्वेद के तीन मतों पर प्रकाश डाला जायेगा।

१. क्षीरदधिन्याय/क्रमपरिणामपक्ष/सर्वात्मपरिणामपक्ष—आयुर्वेद में धातुपोषण के सम्बन्ध में एक विद्वत् समूह का मत है कि जिस प्रकार दूध सम्पूर्ण रूप में दही के रूप में परिवर्तित हो जाता है, फिर वह दही सर्वात्मरूप मे यानि सम्पूर्ण रूप में तक्र और नवनीत रूप में परिवर्तित हो जाता है, फिर नवनीत भी पूर्णरूपेण घृत रूप में परिवर्तित हो जाता है, उसी प्रकार आहार रस, रस धातु के साथ मिलकर पूर्णतः रसधातु रूप में परिवर्तित हो जाता है। फिर रस धातु रसाग्नि पाक से रक्त में, रक्त रक्ताग्नि से पाकोपरान्त मांस में, मांस मेद में, मेद अस्थि में, अस्थि मज्जा में व मज्जा शुक्र में परिवर्तित हो जाता है। इस धातुपोषण क्रम में जिस प्रकार क्षीर दधि में परिवर्तित हो जाता है, उसी प्रकार पूर्व धातु उत्तर धातु में परिणत होती है, अतः इसको क्षीर-दधि न्याय कहा जाता है। इसमें धातुओं का परिवर्त्तन सर्वात्म यानि सम्पूर्ण रूप में होता है; अतः इसे सर्वात्म परिणाम पक्ष भी कहा जाता है। 'तत्राहार-रसाद् रक्तादिपोषणमेव केचिद् ब्रुवते यत्, रसो रक्तरूपतया परिणमति रक्तं च मांस-रूपतया, एवं मांसादयोऽप्युत्तरोत्तरं धातुरूपतया परिणमन्ति। अत्रापि च पक्षे केचिद् ब्रुवते—क्षीराद् यथा सर्वात्मना दधि भवति, तथा कृत्स्नो रसो रक्तं भवति, एवं रक्ता-दयोऽपि मांसादिरूपा भवन्ति।'—च० सू० २८।४ पर चक्रपाणि…'यथा (सर्वात्मना) क्षीराद् दधि भवति, दध्नो नवनीतं; नवनीताद् घृतमित्येकः पक्षः।'—सु० सू० १४।१० पर चक्रपाणिदत्त ने इस तथ्य का उल्लेख च० चि० १५।१६-१७ श्लोक के टीका में भी किया है—'तत्र रसः स्वाग्निपच्यमानो रक्ततां याति…यथा क्षीराद्दधि भवति… घृताद् घृतमण्डः इत्येकः पक्षः।'—च० चि० १५।१६-१७ पर चक्रपाणिदत्त।

इस पक्ष के अनुसार रस धातु से शुक्र पर्यन्त सभी धातुओं के पोषण में लगने वाला समय अग्नि पर निर्भर है। आचार्य वाग्भट व दृढ़बल ने इस सम्बन्ध में अपना मत निम्न रूप में व्यक्त किया है—

'केचिदाहुरहोरात्रात् षड्रात्रादपरे परे।
मासाद् प्रयाति शुक्रत्वमन्नं पाकक्रमादिति॥'
(अ० हृ० शा० ३।६५)

'षड्भिः केचिदहोरात्रैरिच्छन्ति परिवर्तनम्।
संतत्या भोज्यधातूनां परिवृत्तिस्तु चक्रवत्॥'
(च० चि० १५।२१)

अर्थात् रस धातु तो प्रत्येक धातुओं के स्थान पर शीघ्र पहुँचता है, पर धातुओं का पोषण धातुगत अग्नियों पर निर्भर होता है। वाग्भट के अनुसार जब अग्नि बल-युक्त होती है तो एक अहोरात्र में ही समस्त धातुओं का पोषण हो जाता है। यदि

अग्नि मध्यबल युक्त होती है तो षड्रात्रि यानि छः दिनों में समस्त धातुओं का पोषण हो जाता है अर्थात् ६ दिनों में रस से शुक्रपर्यन्त सभी धातुओं की उत्पत्ति हो जाती है। यदि अग्नि मंद होती है तो रस से शुक्रपर्यन्त समस्त धातुओं की उत्पत्ति एक मास में होती है। आचार्य दृढ़बल के अनुसार कुछ आचार्य इन धातुओं का परिवर्त्तन ६ अहोरात्र में होना मानते हैं। भोज्य धातुओं का परिवर्त्तन निरन्तर चलता रहता है। आचार्य सुश्रुत के अनुसार रस से शुक्रपर्यन्त धातुपोषण में एक मास (१८०९० कला; अठारह हजार नब्बे कला) का समय लगता है—'अष्टादश सहस्राणि संख्या ह्यस्मिन् समुच्चये। कलानां नवतिः प्रोक्ताः स्वतन्त्रपरतन्त्रयोः।'—सु० सू० १५।१५। 'स खलु (रसः) त्रीणि त्रीणि कलासहस्राणि पञ्चदश च कला एकैकस्मिन् धातावतिष्ठते; एवं मासेन रसः शुक्रं स्त्रीणां चार्तवं भवति।'—सु० सू० १५।१४। अर्थात् प्रत्येक धातु के परिवर्त्तन में तीन हजार पन्द्रह (३०१५ कला) कला का समय लगता है; इस प्रकार समस्त धातु परिवर्तन में (१८०९० कला) समय लगता है।

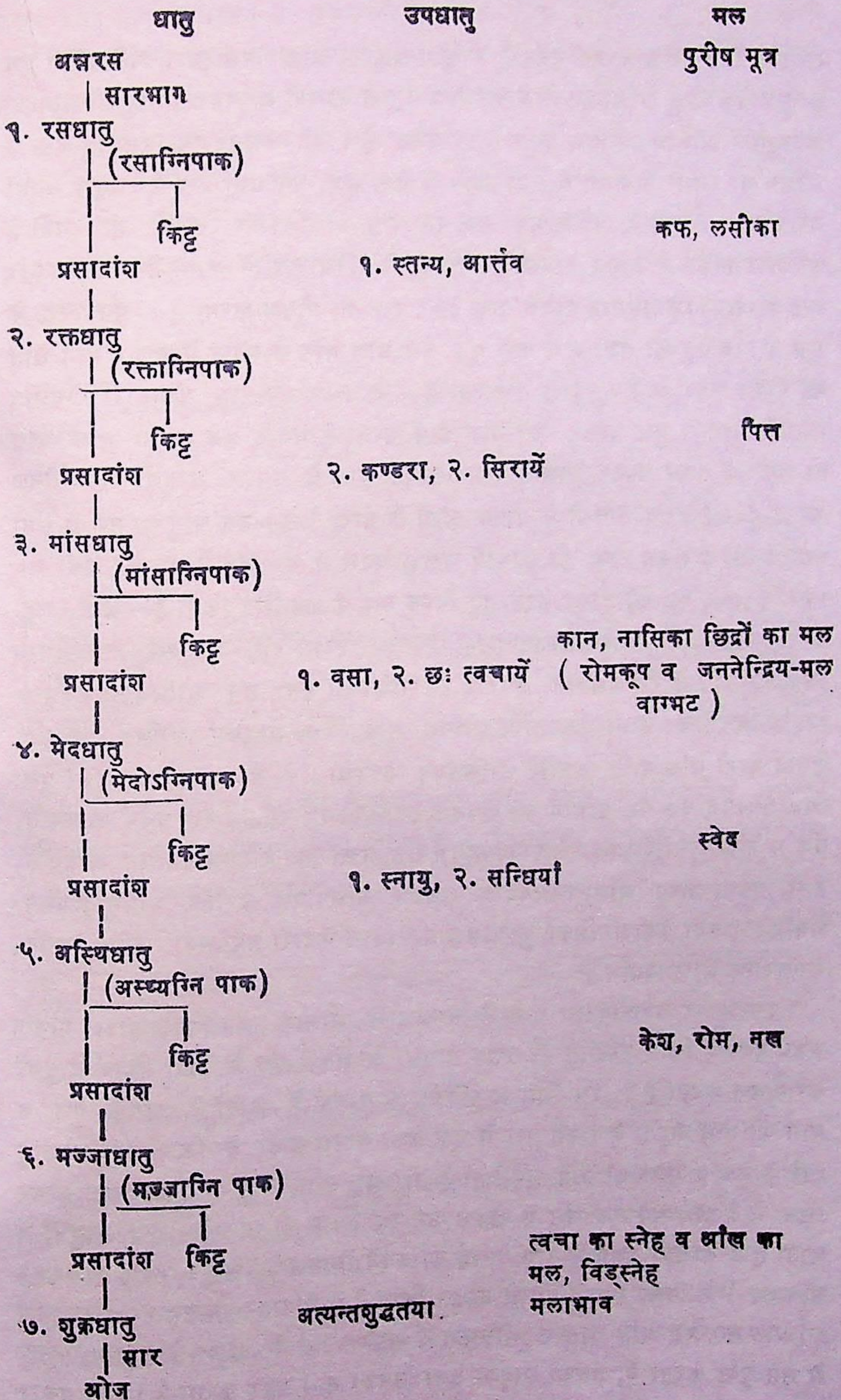
क्रम परिणाम पक्ष के अनुसार धातुओं का पोषण निम्न रूप में आहार रस के प्रसाद व किट्ट अंशों के द्वारा धातु, उपधातु व मलादि का पोषण होता है।[1]

२. केदारीकुल्या न्याय—केदारी शब्द का तात्पर्य यहाँ क्यारी यानि छोटी-छोटी क्यारियों में विभक्त क्षेत्र-विशेष से है एवं कुल्या का अर्थ नाली (पानी बहने की नलिकायें) है। केदारीकुल्यान्यायानुसार—जब जल क्षेत्र-विशेष हेतु प्रवाहित किया जाता है तो प्रथमतः समीपतम केदारी में जाता है, उस समीपस्थ क्यारी को जितने जल की आवश्यकता होती है, उतने जल से प्रवाहित जल उसे सिञ्चित करता है, फिर शेष जल कुल्या के द्वारा उत्तर क्यारी में जाकर उसे सिञ्चित करता है, पुनः शेष जल कुल्या द्वारा अगली क्यारी को सिञ्चित करता है; इस प्रकार यह क्रम निरन्तर

---

१. ···रसात् स्तन्यं ततो रक्तमसृजः कण्डराः सिराः। मांसाद्वसा त्वचः षट् च मेदसः स्नायुसंभवः (स्नायुसंधयः पा०) किट्टमन्नस्य विण्मूत्रं रसस्य तु कफोऽसृजः। पित्तं, मांसस्य खमला; मलः स्वेदस्तु मेदसः। स्यात्किट्टं केशलोमास्थ्नो मज्ज्ञः स्नेहोऽक्षिविट् त्वचाम्। प्रसादकिट्टे धातूनां पाकादेवंविधर्च्छतः। परस्परोपसंस्तब्धा धातुस्नेहपरम्परा। (च० चि० १५।१७-१९)

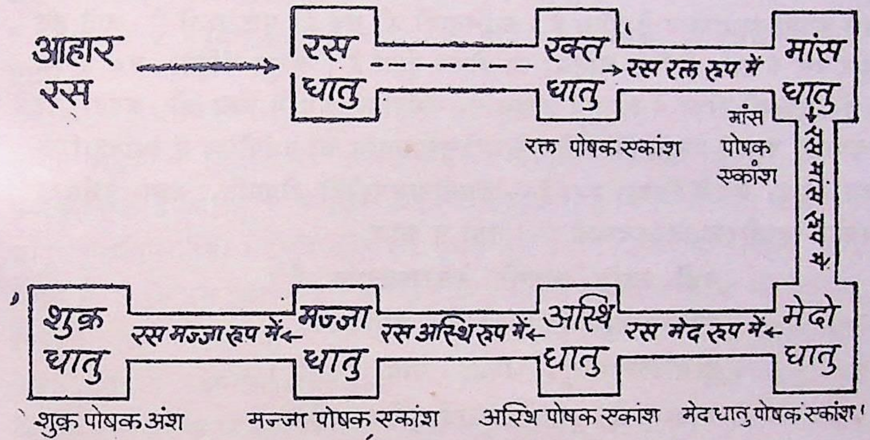
तत्राहाररसो व्यानविक्षिप्तो यथास्वं सप्तसु धात्वग्निषु क्रमात्पच्यमान······। अथान्नकिट्टमच्छं मूत्रं घनं शकृत्। रसस्यसारो रक्तं मलःकफोलसिकाश्च। रक्तस्यसारो मांसं कण्डराः सिराश्च, मलं पित्तम्। मांसस्य सारो मेदस्त्वचो वसा च, किट्टं कर्णाक्षिनासिकास्यरोमकूपप्रजननमलाः। मेदसः सारोऽस्थिस्नायुसंधयः किट्टं स्वेदः। अस्थ्नः सारो मज्जा, किट्टं केशलोमानि नखाः। मज्ज्ञस्तु सारः शुक्रं, मलोऽक्षिविट्त्वचां स्नेहः। शुक्रस्य सारमोजः। (अ० सं० शा० ६)


धातु
उपधातु
मल
अन्नरस
पुरीष मूत्र
सारभाग
१. रसधातु
(रसाग्निपाक)
किट्ट
कफ, लसीका
प्रसादांश
१. स्तन्य, आर्त्तव
२. रक्तधातु
(रक्ताग्निपाक)
किट्ट
पित्त
प्रसादांश
२. कण्डरा, २. सिरायें
३. मांसधातु
(मांसाग्निपाक)
किट्ट
कान, नासिका छिद्रों का मल
प्रसादांश
१. वसा, २. छः त्वचायें
(रोमकूप व जननेन्द्रिय-मल वाग्भट)
४. मेदधातु
(मेदोऽग्निपाक)
किट्ट
स्वेद
प्रसादांश
१. स्नायु, २. सन्धियां
५. अस्थिधातु
(अस्थ्यग्नि पाक)
किट्ट
केश, रोम, नख
प्रसादांश
६. मज्जाधातु
(मज्जाग्नि पाक)
प्रसादांश
किट्ट
त्वचा का स्नेह व आंख का मल, विड्स्नेह
अत्यन्तशुद्धतया.
मलाभाव
७. शुक्रधातु
सार
ओज

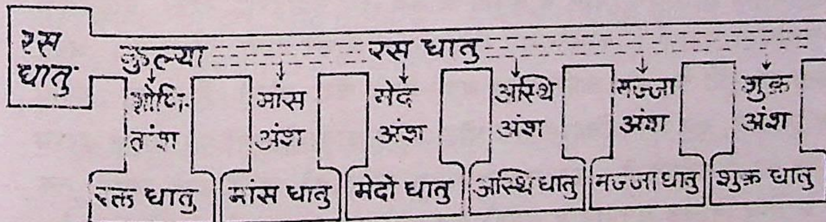
अन्तिम क्यारी तक चलता रहताहै। इसी प्रकार आहार रस द्वारा परिवर्त्तित रस धातु प्रत्येक धातु के आशय में जाकर उसे पोषक सामग्री अथवा उस धातु की आवश्यकतानुसार आवश्यक पोषण देकर संतृप्त करता है। जैसे—सर्वप्रथम रसधातु रक्त के आशय या स्थान में जाता है। रक्ताशय में गया हुआ रस धातु रक्त के सदृश गन्ध, वर्ण प्राप्त कर लेता है, परिणामतः उस रस धातु की संज्ञा भी रक्त की हो जाती है अर्थात् रक्ताशय में आगत रसधातु रक्तधातु में परिवर्त्तित हो जाता है। इस प्रकार रक्त के आवश्यकतानुसार पोषक द्रव्य देकर रक्त का पोषण करता है। पुनः रक्त के गुण व रक्तधातु की संज्ञा प्राप्त कर, पुनः रस धातु मांस के स्थान में जाकर मांस धातु का पोषण मांस के पोषक अंश से करता है। तदनन्तर वह रक्त संज्ञाधारी रसधातु मांस के गुणों से युक्त होकर मांस संज्ञा प्राप्त करता है अर्थात् अब उसका नाम मांस हो जाता है। इस प्रकार रसधातु केदारीकुल्या न्याय से समस्त धातुओं का पोषण करता हुआ (तत्तद् धातुओं के पोषक अंशों के द्वारा) उस-उस धातु का गुण व संज्ञा प्राप्त करता है। इस तथ्य को आचार्य चक्रपाणिदत्त ने च० सू० २८।४ की एवं च० चि० १५।१६-१७ की टीका करते हुए निम्न रूप में प्रकाशित किया है—'अन्ये त्वाहुः केदारीकुल्यान्यायेन रसस्य धातुपोषणम्। तत्रान्नादुत्पन्नो रसो धातुरूपं रसमधिगम्य कियताऽप्यंशेन तं रसं वर्धयति, अपरश्च रसराशिस्तत्र गतः सन् शोणितगन्धवर्णयुक्तत्वाच्छोणितमिव भूत्वा कियतापि शोणितसमानेनांशेन धातुरूपं शोणितं पुष्णाति, शेषश्च भागो मांसं याति, तत्रापि शोणितवद् व्यवस्था।'—च० सू० २८।४ पर। पुनः चि० १५।१६-१७ पर आचार्य का कथन है कि—'किंवा, रस एवं रक्त प्रथमं प्लावयति, तत्र च रक्तस्थानसंबन्धात् रक्तसादृश्यमनुभवति, रक्तं च रक्तसमानेनांशेन पोषयति, ततो रक्तमाप्लाव्य मांसमाप्लावयति तत्रापि मांसपोषणं करोति, मांससादृश्यमनुभवति।...यथा केदारनिषिक्तं कुल्याजलं प्रत्यासन्नां केदारीं तर्पयित्वा क्रमेण केदारिकान्तराणि आप्लावयति।'

इस प्रकार केदारीकुल्या न्याय के सम्बन्ध में आचार्य चक्रपाणिदत्त द्वारा वर्णित अवधारणा है कि—रसधातु ही तत्तद् धातुओं के पोषक अंश के द्वारा सम्पूर्ण धातुओं का पोषण करता है। रस जिस धातुविशेष के सम्पर्क में जाता है, उसके गुण व नाम को प्राप्त करता है। इस पक्ष में एक प्रश्न उत्पन्न होता है कि—जब रसधातु रक्त के गुण व संज्ञा को प्राप्त कर लेता है तो क्या मांस धातु में रक्तस्वरूप होकर जाता है ? या अपने एक अंश से पोषण कर रस रूप में ही मांसादि अन्य धातुओं में जाता है ? आचार्य रणजित राय देसाई ने अपने क्रियाशरीर के पृ० ४०५ (१९७२ संस्करण) में निम्न रूप में इसको प्रस्तुत किया है—'अनन्तर रक्तसदृश एवं रक्तसंज्ञा को प्राप्त कर रस मांस धातु के अधिष्ठान में जाकर मांस के पोषण के अनुरूप एकांश से उसे पुष्ट करता है, उसका सादृश्य तथा उसका नाम ग्रहण करता है। इस प्रकार

उत्तर-उत्तर धातु के आशय में जाकर अपने एकांश से उस धातु की पुष्टि कर उस धातु के सम्पर्कवश उसके सदृश हुआ रस ही शेषांश से उस-उस धातु की पुष्टि करता है।' इसका तात्पर्य यह हुआ कि रसधातु, रक्त-मांसादि की संज्ञा प्राप्त करते हुए उत्तर-उत्तर धातु के आशय में जाता है। यदि रसधातु मांसधातु में रक्त की संज्ञा प्राप्त कर प्रविष्ट होता है तो इसका अर्थ हुआ कि पुनः मेदधातु में मांस की संज्ञा प्राप्त कर लेगा, तो फिर 'केदारीकुल्यान्याय' से क्या तात्पर्य समझा जाय। इस पक्ष के अनुसार कुल्या प्रत्येक केदारी से प्रादुर्भूत होगी, जिसे निम्न रेखाचित्र से सरलतापूर्वक समझा जा सकता है।



यदि चक्रपाणिदत्त के केदारीकुल्यान्यायानुसार 'शोणितसमानेनांशेन धातुरूपं शोणितं पुष्णाति, शेषश्च भागो मांसं याति' आदि के अनुसार रेखाचित्र बनाया जाय तो उसका निम्नस्वरूप बनेगा।



आचार्य सुश्रुत ने सिराओं के कर्म में केदारीकुल्या का उल्लेख किया है—'याभिरिदं शरीरमाराम इव जलहारिणीभिः केदार इव च कुल्याभिरुपस्निह्यते।'—सु० शा० ७।३। अधुना केदारीकुल्यान्याय के वर्णन का आधार मुख्यतया चक्रपाणिदत्त आदि टीकाकारों की अवधारणा ही मानी गई है। यहाँ यह विचार करना आवश्यक प्रतीत होता है कि यदि सुश्रुत तथा चरकसंहिता में केदारीकुल्या का उल्लेख किया गया है

तो इस न्याय का व्यावहारिक स्वरूप क्या है ? क्या चक्रपाणिदत्त की अवधारणा ही मात्र व्यावहारिकता का स्वरूप है। आचार्य वाग्भट इस न्याय का व्यावहारिक स्वरूप गर्भपोषण में दिये हैं। उनके अनुसार गर्भ का पोषण केदारीकुल्यान्यायानुसार होता है—

'गर्भस्य नाभौ मातुश्च हृदि नाडी निबद्धयते ।
यथा च पुष्टिमाप्नोति केदार इव कुल्यया ।।'

(अ० हृ० शा० १।५६)

अर्थात् गर्भ की नाभी में लगी नाड़ी के द्वारा माता के आहार रस से गर्भ का पोषण केदारिकुल्यान्याय से होता है। नाभिनाड़ी की एक ही मूल नाली से जाते हुए आहार रस के द्वारा विभिन्न धातुओं का पोषण होता है। सुश्रुत संहिता अ० ४ के १५ वें श्लोक की टीका में आचार्य डल्हण ने गर्भपोषण-क्रम में भोज की अवधारणा को यथावत् रूप में प्रस्तुत किया है। केदारिकुल्यान्याय का गर्भपोषण में व्यावहारिक स्वरूप स्पष्ट रूप से किया गया है—'धमनीनामुपस्नेहो जीवयति, यथा पूर्णसरः सलिलोपस्नेहस्तीरजाततरुकदम्बकं··· । तथा च भोजः—

गर्भो रुणद्धि स्रोतांसि रसरक्तवहानि वै ।
रक्ताज्जरायुर्भवति नाडी चैव रसात्मिका ।।
तस्मादन्नाद्रसीभूतं त्रिधा वीर्यं प्रवर्त्तते ।
भागः शरीरं पुष्णाति स्तन्यं भागेन वर्द्धते ।
गर्भः पुष्यति भागेन वर्धते च यथाक्रमम् ।
गर्भं कुल्येव केदारं नाडी प्रीणाति तर्पिता ।।

इस प्रकार केदारीकुल्यान्याय का व्यवहार गर्भपोषण क्रम में किया गया है।

३. खलेकपोतन्याय पक्ष—खल का अर्थ खलिहान होता है तथा कपोत शब्द कबूतर हेतु प्रयुक्त है। इस न्याय में कपोत व खल के उदाहरण द्वारा धातुपोषण क्रम को समझाया गया है। कपोतसमूह खलिहान में आकर दाना चुगते हैं। अपने आवश्यकता की पूर्ति के बाद कपोतसमूह अपने-अपने घर लौटते हैं। जो कपोत समीपस्थ होता है, वह अपने निवास तक शीघ्र पहुँच जाता है तथा जो कपोत दूरस्थ रहते हैं वह देर से पहुँचते हैं। इस प्रकार प्रत्येक कपोत को अपने-अपने स्थान तक पहुँचने के लिए विभिन्न समयावधि लगती है। इसी प्रकार धातुपोषण भी होता है। च० सू० २८।४ की टीका करते हुए आचार्य चक्रपाणिदत्त ने कहा है—'अन्ये त्वाहुः—खलेकपोतन्यायेनायमन्नरसः पृथक्पृथग्धातुमार्गे गतः सन् रसादीन् पोषयति, न स्वस्य धातुपोषको रसभागो धात्वन्तरेण समं सम्बन्धमप्यनुभवति। रसादिपोषकाणि स्रोतांस्युत्तरोत्तरं सूक्ष्ममुखानि दीर्घाणि च। तेनैव रसपोषकरसभागो रसमार्गचारित्वाद् रसं पोषयति।' अर्थात् खलेकपोतन्याय के अनुसार—अन्न रस को रसादि धातुओं तक ले

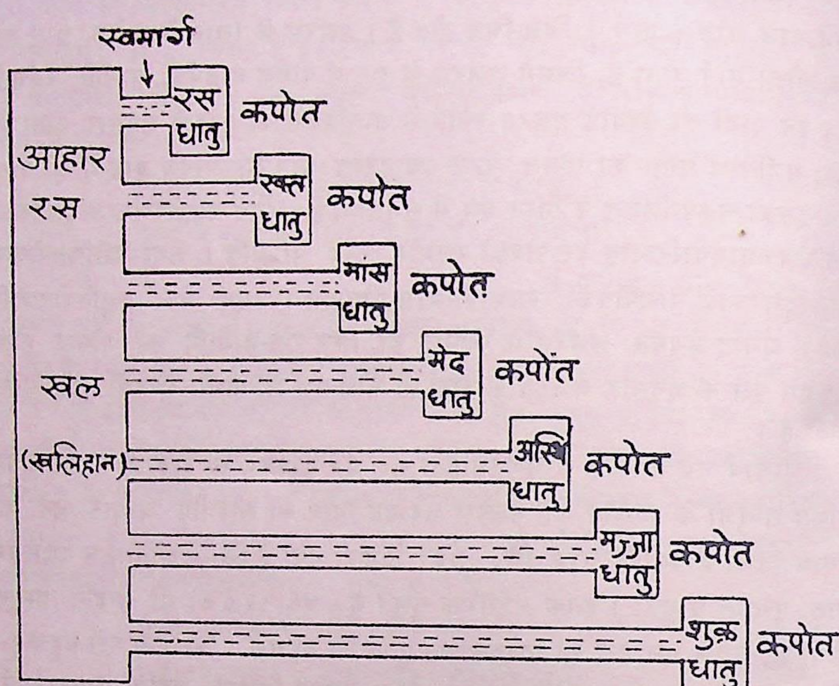
जाने वाले स्रोत (मार्ग) भिन्न-भिन्न होते हैं। अन्नरस के स्थान से प्रत्येक धातु तक एक सीधा मार्ग होता है, जिससे अन्नरस के रूप में पोषक व तर्पक सामग्री पहुँचती है। इन मार्गों की लम्बाई अन्नरस स्थान से धातुविशेष की दूरी के अनुसार होती है; अत: समीपस्थ धातु का पोषण पहले एवं दूरस्थ धातु का पोषण बाद में हो पाता है। इसको चक्रपाणिदत्त ने निम्न रूप में समझाया है—'एवं रसपोषणकालादुत्तरकालं रक्तपोषकमार्गचारित्वात् रक्तपोषको रसभागं रक्तं पोषयति। तथा शोणितपोषण-कालादुत्तरकालं मांसपोषको रसभागो मांसं पोषयति।···एवं मेदः प्रभृतिपोषणेऽपि ज्ञेयं।' अर्थात् प्रथमत: अन्नरस से रसधातु का, फिर रक्त-मांसादि का पोषण होता है। इस पक्ष के अनुसार अन्नरस के द्वारा ही सीधे रूप में सभी धातुओं की पुष्टि होती है।

आचार्य चक्रपाणिदत्त ने सुश्रुतसंहिता सू० अ० १४।१० की टीका में चरकसंहिता-वर्णित धातुओं के स्वस्रोत का उल्लेख कर इस न्याय को शास्त्रीय आधार देने का प्रयास किया है क्योंकि चरक चि० ८।३९ में कहा गया है कि—'स्रोतसा च यथास्वेन धातुः पुष्यति धातुतः। इसके अतिरिक्त सुश्रुत सू० ४६।५२८ को भी उन्होंने प्रस्तुत किया है; ताकि इस पक्ष की शास्त्रसम्मत पुष्टि की जा सके। 'अस्मिश्च पक्षे यदुक्तम्—विण्मूत्रमलाहार: सार: प्रागीरितो रसः। स तु व्यानेन विक्षिप्त: सर्वान् धातून् प्रतर्पयेत्।' आचार्य चक्रपाणिदत्त ने धातुपोषण क्रम को विस्तृत रूप से समझाया है, अतः विस्तृत विवरण के लिये जिज्ञासुओं को तद्स्थल का अवलोकन करना चाहिए। आचार्य वृद्धवाग्भट ने अ० स० शा० अ० ७ में इस न्याय के विषयवस्तु का उल्लेख किया है पर विषयोंल्लेख से पूर्व ही 'अन्ये तु वर्णयन्ति' कहकर स्पष्ट कर दिया है कि यह अन्यों का मत है न कि आचार्य वाग्भट का मत है। मूलपाठ का रूप है—'अन्ये तु वर्णयन्ति अभ्यवहृतमात्रस्याहारस्य······समं समस्तधातुषु संवृतासंवृतैः प्रविसृतो विवृतमुखेष्वासन्नेषु द्वारैः स्रोतःसु भूयान्··· । एवमन्नरस एव साक्षात् सर्वधातून् केनचिदेव कालभेदेन पुष्णाति। न पुनर्धातवो धात्वन्तरतां स्वरूपो मर्देन प्रतिपद्यन्त इति।' इस न्याय के अनुसार—

सूक्ष्मविदूरमार्गतया चिरेण पोषणं भवति। चक्रपाणिदत्त सु० सू० १४-१०। पर जहाँ शीघ्र धातुपोषण की आवश्यकता होती है, वहाँ पर धातुओं का पोषण खलेकपोत न्याय से ही संभव है।

४. एककाल धातुपोषण पक्ष—आयुर्वेद में धातुपोषण के सम्बन्ध में प्रचलित तीनों मतों के अरिरिक्त एक चौथा पक्ष भी है, जिसे एककालधातुपोषण पक्ष कहते हैं। इस पक्ष की स्थापना वाग्भट संहिता के टीकाकार आचार्य अरुणदत्त ने की है। उनका कथन है कि—'आहाररसादेककालं सप्तसु धातुस्रोतःसु प्रवेशिताद् रसरक्तादयो धातवः उत्पद्यन्ते इति एककालधातुपोषणपक्षः।'

(अ० हृ० शा० ३।६२ पर अरुणदत्त)



यहाँ आचार्य अरुणदत्त का मत है कि आहार रस सातों धातुओं के स्रोतों द्वारा एक ही काल में समस्त (सप्त) धातुओं का पोषण करता है। अरुणदत्त खलेकपोत न्याय सदृश समस्त धातुओं का पोषण सीधे अन्न रस से होना तो स्वीकार करते हैं, पर भिन्न-भिन्न काल में पोषण होना स्वीकार नहीं करते। इनका कथन है कि आहार रस द्वारा एक ही काल में सभी धातुओं का पोषण होता है, अतः इस पक्ष को उन्होंने एककालधातुपोषण पक्ष की संज्ञा दी है।

धातुपोषण सिद्धान्त की उपादेयता

आयुर्वेद का विशिष्ट सिद्धान्त है कि—'दोषधातुमलमूलं हि शरीरम्।' अर्थात् दोष (वात, पित्त, कफ), धातु (रस-रक्तादि सप्त धातुएँ) और मल (मल, मूत्र, स्वेदादि) ही शरीर के मूल है। इन तीनों को शरीर का मूल क्यों कहा गया है, इस बात को स्पष्ट करने पर धातुपोषण सिद्धान्त की उपादेयता स्वतः स्पष्ट हो जाती है। दोष शरीर के क्रियात्मक इकाई (Functional unit) के रूप में रहते हैं तथा क्रियात्मक रूप से शरीर को धारण करते हैं; अतः इन्हें भी धातु कहा जाता है। सप्तधातु शरीर को रचनात्मक रूप से (Structurally) धारण करते हैं अर्थात् मूर्त्त रूप में व्यक्त शरीर सप्तधातुओं की ही सुव्यवस्था है। अतः जब शरीररक्षण की बात होती है तो उसका तात्पर्य धातुओं की रक्षा करना होता है। हम जो भी आहार ग्रहण करते हैं, उससे धातुओं की क्षतिपूर्ति होती है—

'पूर्वः पूर्वोऽतिवृद्धत्वाद् वर्धयेद्धि परं परम् ।
तस्मादतिप्रवृद्धानां धातूनां ह्रासनं हितम् ॥' (सु० सू० १५।१८)

धातुओं की क्षतिपूर्त्ति तो आहार रस से होती है । परन्तु प्रत्येक धातु आपस में भिन्न होते हैं तथा उनका स्थान अलग-अलग है । इस स्थिति में वात उनका संवहन, पित पाक व कफ क्लेदन कर्म द्वारा उस आहार से धातुओं का रख-रखाव करते हैं । इस पाकादि प्रक्रिया में आहार का वह भाग जो शारीरिक धातुओं के लिए आवश्यक या उपयोगी नहीं होता, उसे शरीर से बाहर कर दिया जाता है, जिसे मल कहा जाता है । इस प्रकार शरीर-संचालन हेतु एक ही उद्देश्य होता है कि—शरीरस्थ सप्त धातुओं को सुरक्षित रखा जाय, इसके लिए त्रिदोष की क्रियायों से आहार धातुरूप में परिवर्तित होता है तथा इस आहार का अनावश्यक अंश शरीर से बाहर कर दिया जाता है । इस प्रकार दोष, धातु एवं मल को शरीर का मूल कहने का एक ही उद्देश्य होता है कि—शरीरस्थ धातुओं को सम रखा जाय । इन धातुओं के पोषण से सम्बन्धित तीन सिद्धान्त प्रचलित हैं, जिनका उल्लेख किया जा चुका है ।

१. क्रमपरिणामपक्ष की उपादेयता सामान्यरूपेण दैनिक आहार से धातु रक्षण-हेतु है । यहाँ तात्पर्य है कि जो आहार हम लेते हैं, वह सामान्यरूपेण क्रमिक रूप से रस-रक्त-शुक्रादि का पोषक होता है । इसमें लिए गये आहार का पाक प्रत्येक धातु के अग्नि द्वारा क्रमशः होता है तथा धातुओं का पोषण सामान्य रूपेण होता रहता है । इस पक्ष के आधार पर धातुविशेष के असामान्यावस्था में तद् अग्नि वैकारिकी का अनुमान कर उसकी व्यवस्था की जाती है । इसके अतिरिक्त शरीर में जब अनुलोम क्षय या प्रतिलोम क्षय होता है तो क्रमपरिणामपक्ष सिद्धान्त के आधार पर ही धातु-क्षय की चिकित्सा की जाती है, क्योंकि पूर्व धातु के क्षय से उत्तर धातु प्रभावित होती है एवं उत्तर धातु के क्षय से पूर्व धातु प्रभावित होती है; अतः क्षय चाहे अनुलोम हो या प्रतिलोम—दोनों अवस्थाओं में धातु-पोषण क्रमपरिणामपक्ष के अनुसार ही होता है ।

२. केदारीकुल्या सिद्धान्त की उपादेयता गर्भ पोषण में दर्शायी गयी है । क्योंकि इस सिद्धान्त के अनुसार रसधातु द्वारा सभी धातुओं का पोषण किया जाता है । इस सिद्धान्त में धातुओं की अग्नियों द्वारा बारम्बार पाक प्रक्रिया नहीं होती है । माता द्वारा पाक प्राप्त आहार रस गर्भस्थ शिशु के सभी धातुओं की आवश्यकतानुसार पोषण करता है । हमारे मत से केदारीकुल्यान्याय की उपादेयता गर्भ-पोषण में दर्शायी गयी है । इसका तात्पर्य यह भी हो सकता है कि शिशु को जब पाचित आहार रस सीधे प्राप्त होता है तो उसके लिए यह आवश्यक नहीं होता कि उसका पाक हो, अतः रस धातु एक ही नाड़ी से चलता हुआ सभी धातुओं का पोषण करता है । एक ही नाड़ी या नाली के द्वारा गर्भस्थ शिशु के सभी केदारियों (धातुओं) का पोषण हो जाता है ।

३. खलेकपोतन्याय सिद्धान्त की उपादेयता वहाँ होती है, जहाँ शीघ्र धातुपोषण की आवश्यकता होती है। क्योंकि इस सिद्धान्त के अनुसार आहार रस से सीधे सभी धातु अपनी आवश्यकतानुसार पोषण प्राप्त कर लेते हैं। यदि अतिशीघ्र पोषण की आवश्यकता होती है आहार द्रवरूप में लेना चाहिए, ताकि उसकी परिणति रस रूप में अतिशीघ्र हो तथा शीघ्रातिशीघ्र आवश्यकतानुसार धातुओं का पोषण हो जाय। जैसे यव के सत्तू का घोल सद्यःतर्पक होता है, पर यदि यव का सत्तू पिण्डरूप में लिया जाता है तो सद्यःतर्पक नहीं होता। जब जौ का सत्तू घृत जल के साथ द्रव रूप में लिया जाता है तो खलेकपोत न्यायानुसार सभी धातुएँ सीधे रूप में अपना पोषण प्राप्त कर तृप्त होती हैं। यदि किसी धातुविशेष का क्षय होता है तथा उस धातुविशेष के क्षय से अन्य धातुओं पर प्रभाव पड़ता है तो इस स्थिति में उस धातु का पोषण खलेकपोत न्याय से सीधे रूप में होता है तथा प्रभावित धातुएँ अपना पोषण सीधे प्राप्त कर लेती हैं। जैसे—जलाभाव में जल देने से, रक्तक्षय में रक्ताधान, मांसक्षय में मांस रस, शुक्रक्षय में दुग्ध, ओजक्षय में घृतादि का सेवन उपयोगी होता है।

अध्याय—८

दशप्राणायतनवाद

'दशैवायतनान्याहुः प्राणायेषु प्रतिष्ठिताः ।
शङ्खौ मर्मत्रयं कण्ठो रक्तं शुक्रौजसी गुदम् ॥'

(च० सू० २९। ३)

अर्थात् दो शंखप्रदेश, तीन मर्मस्थान (शिर, हृदय व बस्ति प्रदेश) कण्ठ, रक्त, शुक्र, ओज व गुदा—ये दश प्राणायतन हैं अर्थात् इन दस आयतनों में प्राण विशेष रूप से प्रतिष्ठित रहते हैं। इन दस आयतनों के आघात अथवा क्षयादि से मृत्यु हो जाती है। प्राण के आश्रय होने के कारण इन्हें प्राणायतन कहा जाता है—'इयमप्यर्थपरा संज्ञा, न शब्दानुकारिणी। आयतनानीवायतनानि, तदुपघाते प्राणोपघातात् तन्नाशे च प्राणनाशादित्यर्थः; न प्राणस्य जीविताख्यस्य शरीरेन्द्रियसत्वात्मसंयोगरूपस्य शङ्खादय एव परमाशयाः, तस्य कृत्स्नशरीराद्याश्रयत्वात् ॥'—च० सू० २९।१ पर चक्रपाणिदत्त। आचार्य सुश्रुत के अनुसार—

'शृङ्गाटकान्यधिपतिः शङ्खौ कण्ठसिरा गुदम् ।
हृदयं बस्तिनाभ्यौ च घ्नन्ति सद्यो हतानि तु ॥' (सु० शा० ६। ९)

अर्थात् दोनों शंख, चार शृंगाटक मर्म, एक अधिपति (शिर), कण्ठ, सिरा, गुद, हृदय, बस्ति, नाभि—ये प्राणायतन हैं अर्थात् इनके उपघात से सद्यः मृत्यु हो जाती है। आचार्य वाग्भट ने भी प्राणायतन का उल्लेख किया है। यदि बृहत्त्रयी में प्राणायतनों पर दृष्टिपात किया जाता है तो आयुर्वेद में निम्न भाव प्राणायतन रूप में स्वीकृत हैं।

भाव	च० सू० २९	च० शा० ७	सु० सं०	(अ० सं०)
१. दोनों शंख	+	—	+	—
२. हृदय	+	+	+	+
३. शिर	+	—	+	—
४. बस्ति	+	+	+	+
५. कण्ठ	+	+	+	+
६. रक्त	+	+	—	+
७. शुक्र	+	+	—	+
८. ओज	+	+	—	+
९. गुद	+	+	+	+
१०. नाभि	—	+	+	+
११. सिरा	—	—	+	—
१२. मूर्धा	—	+	—	+
१३. जिह्वाबन्धन	—	—	—	+
१४. मांस	—	+	—	—

(+) उल्लिखित है। (—) उल्लेख नहीं है।

इस प्रकार बृहत्त्रयी में १४ प्राणायतनों का उल्लेख है। चरकसंहिता में ही दशप्राणायतनीय अध्याय में उल्लिखित शंख व शिर का शारीर स्थान में उल्लेख नहीं है। शिर के स्थाम पर मूर्द्धा का वर्णन है। आचार्य वाग्भट ने भी शिर के स्थान पर मूर्धा का वर्णन किया है। आचार्य सुश्रुत ने रक्त, शुक्र व ओज का उल्लेख नहीं किया है बल्कि सिरा का उल्लेख किया है। नाभि को प्राणायतन तीनों आचार्यों ने माना है पर इसकी गणना आचार्य चरक द्वारा दश प्राणायतन में नहीं की गई है। च० शा० ७ में मांस को भी प्राणायतन कहा गया है। त्रिमर्म को सभी आचार्यों ने प्राणायतन स्वीकार किया है।

वैसे तो प्राण सम्पूर्ण शरीर में संचरित है परन्तु उपर्युक्त स्थानों में विशेष रूप से स्थित होता है। मुख्यतः प्राण तीन स्थानों में अति विशिष्ट रूप से स्थित होता है अतः उसे त्रिमर्म भी कहा जाता है, जिसे सभी आचार्यों ने प्राणायतन कहा है। शिर को प्राणायतन के रूप में ही पारिभाषित किया गया है—'प्राणाः प्राणभृतां यत्राश्रिताः सर्वेन्द्रियाणि च।······शिरस्तदभिधीयते ॥'—च० सू० १७।३। आचार्य वाग्भट ने भी शिर को प्राणायतन रूप में ही स्वीकार किया है—'सर्वेन्द्रियाणि येनास्मिन् प्राणा येन च संश्रिताः। तेन तस्योत्तमाङ्गस्य रक्षायामादृतो भवेत्।' शिर को प्राणायतन सीधे प्राणस्थिति के आधार पर तथा सभी इन्द्रियों की स्थिति के आधार पर माना गया है। आचार्य वाग्भट ने शिर को मूल कहकर इसके महत्त्व को प्रदर्शित किया है—'ऊर्ध्वमूलमधःशाखमृषयः पुरुषं विदुः। मूलप्रहारिणस्तस्माद्रोगान्···।' अर्थात् शरीर ऊर्ध्वमूल वाला होता है। शरीर का मूल (शिर) ऊपर होता है तथा उस मूल की शाखायें निम्न प्रदेश में फैली होती हैं। जिस प्रकार मूलछेदन से पौधा नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार शरीर-मूल शिरोघात से यह शरीर भी नष्ट हो जाता है, अतः शिर को प्राणायतन कहा गया है। यदि इस शिर पर आघात होता है तो—'शिरस्य अभिहते मन्यास्तम्भार्दित······चेष्टानाशकासश्वासहनुग्रहमूक···स्वरहानिवंदनजिह्मत्वादीनि।'—च०सि० ९।६। अर्थात् शिर में अभिघात से मन्यास्तम्भ, अर्दित, भ्रम, मोह, उद्वेष्ठन, संज्ञानाश, कास, श्वास, हनुग्रह, मूकता, गदगदत्व, नेत्रनिमीलन, गण्डप्रदेश का फड़कना, जृम्भा, लालास्राव, स्वरभेद आदि रोग होते हैं। हृदय को प्राणायतन कहा गया है; क्योंकि—जीवन का कारण आत्मा का स्थान हृदय ही है—'हृदयं चेतनास्थानमुक्तं सुश्रुत देहिनाम्।'—सु० शा० ४।३४। आत्मा के अतिरिक्त छः अंगों से युक्त शरीर, विज्ञान, इन्द्रियाँ, उनके विषय, सगुण आत्मा, विषयों सहित मन—ये सभी हृदयाश्रित ही होते हैं। 'षडङ्गमङ्गं विज्ञानमिन्द्रियाण्यर्थपञ्चकम्। आत्मा च सगुणश्चेतश्चिन्त्यं च हृदि संस्थितम्।' उपनिषदों में भी आत्मा का निवास हृदय ही कहा गया है—'अन्तरात्मनः श्रेष्ठतममायतनं हृदयम्।' च० वि०। 'य एषोऽन्तर्हृदय आकाशः तस्मिन्नयं पुरुषो मनोमयः।'—तै० उ०। इस प्रकार अनेक वचनों से यह

स्पष्ट है कि जीवन के मूल कारण आत्मा की स्थिति हृदय में ही है। इसीलिए कहा गया है कि—'तस्योपघातान्मूर्च्छायं भेदान्मरणमृच्छति।'—च० सू० ३०।६। अर्थात् हृदय पर आघात होने से मूर्च्छोत्पत्ति होती है तथा इसके भेदन से मृत्यु हो जाती है। इसको सिद्धिस्थान में आचार्य दृढ़बल ने और भी स्पष्ट करते हुए कहा है—'तत्र हृद्यभिहते कासश्वासबलक्षयकण्ठशोषक्लोमाकर्षणजिह्वानिर्गममुखतालुशोषापस्मारोन्मादप्रलापचित्तनाशादयः स्युः।'—च० सि० ९।६। बस्ति को भी प्राणायतन व प्रधान मर्म कहा गया है। बस्ति, गुद, अण्डकोष, सेवनी, शुक्रवह स्रोत तथा मूत्रवह स्रोत के मध्य मूत्र का तथा सभी प्रकार के उदकवह स्रोत का आधार है। जिस प्रकार अनेक नदियाँ समुद्र को आधार बनाती हैं, आकाश में व्याप्त किरणों का आधार सूर्य होता है, उसी प्रकार सभी उदकवाही स्रोतों का आधार बस्ति है—'बस्तिस्तु स्थूलगुदमुष्कसेवनीशुक्रमूत्रवाहिनीनां नाडीनां मध्ये मूत्रधारोऽम्बुवहानां सर्वस्रोतसामुदधिरिवापगानां प्रतिष्ठा।' च० सि० ९।४। यदि बस्ति का आघात होता है तो अपानवायु, मल, मूत्र की रुकावट हो जाती है, वंक्षण, मूत्रेन्द्रिय व बस्ति प्रदेश में शूल, बस्ति कुण्डल, उदावर्त्त, गुल्म, वाताष्ठीला, बस्ति की जकड़ाहट, नाभि, उदर व गुद श्रोणि में जकड़ाहट हो जाती है—'बस्तौ तु वातमूत्रवर्चोनिग्रहवङ्क्षणमेहनबस्तिशूलकुण्डलोदावर्तगुल्मानिलाष्ठीलोपस्तम्भनाभिकुक्षिगुदश्रोणिग्रहादयः।'

(च० सि० ९।६)

इसके अतिरिक्त आयुर्वेद में शंख को भी प्राणायतन कहा गया है। यदि शंखप्रदेश में आघात होता है तो शिरोघात सदृश कतिपय लक्षण उत्पन्न होते हैं। यदि इस प्राणायतन विशेष में कोई विकार या व्याधि उत्पन्न होती है तो वह तीन दिनों में मृत्युदायक होती है—'रक्तपित्तानिला दुष्टाः शङ्खदेशे विमूर्च्छिताः तीव्ररूग्दाहं.... त्रिरात्राज्जीवितं हन्ति शङ्खको नामतः।'—च० सि० ९।७१-७३। आचार्य सुश्रुत ने भी शंख प्रदेश में उत्पन्न व्याधि शंखक को मारक कहा है—'शङ्खाश्रितो वायुरुदीर्णवेग......व्याधिंवदन्त्युद्गातमृत्युकल्पं भिषक्सहस्रैरपि दुर्निवारम्।' आयुर्वेद में कण्ठ व गुद को भी प्राणायतन कहा गया है। कण्ठाघात से अनेक कष्टदायक लक्षण व मृत्यु हो जाती है। कण्ठ भी कई मार्गों का मूल है; अतः मूलोच्छेदन से तदाश्रित मार्ग बाधित होकर नष्ट हो जाते हैं। उसी प्रकार गुद प्रदेश भी अनेकों मर्म से युक्त होता है तथा इसके आघात एवं व्याधियों से प्रधान मर्म बस्ति भी प्रभावित होती है। प्राणायतनों में नाभि प्रदेश का भी उल्लेख किया गया है। प्रारम्भिक जीवन में तो नाभि ही शरीर का मूल होती है; अतः नाभि को अतिमहत्त्वपूर्ण प्राणायतन माना गया है। नाभिप्रदेश वायु का मूल स्थान है। यदि वायु का नाश हो जाता है तो सम्पूर्णशरीर का नाश होना अवश्यंभावी होता है। आचार्य सुश्रुत ने चौबीस धमनियों की उत्पत्ति नाभि से ही माना है—'चतुर्विंशतिर्धमन्यो नाभिप्रभवा अभिहिताः।'—

सु० शा० ८।३। अष्टांग हृदय में कुछ इसी प्रकार से नाभि के महत्त्व को प्रदर्शित किया गया है—'धमन्यो: नाभिसंबद्धाः विंशतिश्चतुरुत्तरा। ताभिः परिवृता नाभिश्च-क्रनाभिरिवारकैः।' अ० हृ० शा० ३।३९। आचार्य सुश्रुत ने नाभि को प्राणायतन क्यों माना जाय, इस तथ्य को बहुत ही स्पष्ट रूप से शा० अ० ७ के ३-५ श्लोक में समझाया है—

'नाभ्यां सर्वानिवद्धास्ताः प्रतन्वन्ति समन्ततः ॥
नाभिस्थाः प्राणिनां प्राणाः प्राणान्नाभिर्व्युपाश्रिता।
सिराभिरावृता नाभिश्चक्रनाभिरिवारकैः ॥'

आत्रेय सम्प्रदाय में रक्त, शुक्र, ओज आदि को भी प्राणायतन कहा गया है। आचार्य चरक के अनुसार—'युनक्ति प्राणिनं प्राणाः शोणितं ह्यनुवर्तते।'—च० सू० २४।४। अर्थात् प्राणियों का प्राण रक्त का ही अनुसरण करता है। आचार्य सुश्रुत ने इसे शरीर का मूल कहा है। उनका कथन है कि जीव यानि प्राण की स्थिति रक्त में होती है—'देहस्य रुधिरं मूलं रुधिरेणैव धार्यते। तस्माद् यत्नेन संरक्ष्यं रक्ते जीव इति स्थितिः।'—सु० सू० १४।४४। यदि जीवादान होता है तो मृत्यु तक हो जाती है। जीवादान शब्द ही रक्त के प्राणायतन होने का द्योतक है। जीवादान में कहा गया है कि जब तक रोगी जीवित है तबतक उसकी रक्षा हेतु प्रयत्नशील रहना चाहिए—'तृष्णामूर्च्छामदार्तस्य कुर्यादामरणात् क्रिया।'—च० सि० ६।८१। इसी प्रकार आयुर्वेद में ओज को भी प्राणायतन कहा गया है; क्योंकि यह सभी धातुओं का तेजांश होता है। यदि इसका नाश होता है तो फिर प्राणरक्षा असंभव हो जाती है तथा मृत्यु हो जाती है—'हृदि तिष्ठति यच्छुद्धं रक्तमीषत्सपीतकम्। ओजः शरीरे संख्यातं तन्नाशान्ना विनश्यति।'—च० सू० १७।७४। क्योंकि इस शरीर में सर्वप्रथम ओज की ही उत्पत्ति होती है—'प्रथमं जायते ह्योजः शरीरेऽस्मिञ्छरीरिणाम्।'—च० सू० १७। आचार्य सुश्रुत ने भी ओज क्षय की स्थिति में मृत्यु ही बतलाया है—'मूर्च्छा-मांसक्षयो मोहः प्रलापो मरणमितिक्षये।' अर्थात् ओज का क्षय होने पर मूर्च्छा, मांसक्षय व मृत्यु हो जाती है। इसके अतिरिक्त शुक्र को भी आयुर्वेद में प्राणायतन कहा गया है। शुक्र शरीर का अन्तिम धातु है। इसे श्रेष्ठतम धातु कहा गया है। 'जब इस धातु का लगातार क्षय हो जाता है तो मृत्यु तक हो जाती है और शरीर अनेक प्रकार की व्याधियों से युक्त हो जाता है—'तस्याशु क्षीयते शुक्रं ततः प्राप्नोति संक्षयम्। घोरं व्याधिमवाप्नोति मरणं वा स गच्छति। शुक्रं तस्माद्विशेषेण रक्ष्यमा-रोग्यमिच्छता।'—च० चि० ३०।१८६। आयुर्वेद में शुक्र को प्राणायतन मानते हुए स्वास्थ्य के तीन उपस्तम्भों में ब्रह्मचर्य को भी एक माना गया है; क्योंकि 'ब्रह्मचर्ये वीर्यलाभः।'—यो० द०। के अनुसार ब्रह्मचर्य द्वारा विशेष प्राणायतन शुक्र की रक्षा होती है।

इस प्रकार दश प्राणायतनवाद में उन दस विशिष्ट स्थानों का जिससे प्राण विशेष रूप से सम्बन्धित रहते हैं, उल्लेख किया गया है।

दशप्राणायतनवाद की उपादेयता

मानव की प्रथम इच्छा अधिकतम काल तक जीवित रहने की होती है। मानव व्यवहार व उसकी चेष्टायें सर्वप्रथम प्राणरक्षा हेतु ही उत्प्रेरित रहती हैं। अतः मानव में तीन प्रकार की एषणाओं में प्रथम एषणा प्राणैषणा ही कही गई है, जिसके लिए मनुष्य सदैव प्रयत्नशील होता है, क्योंकि अन्य सभी व्यवहार जीवित व्यक्ति द्वारा ही होते हैं।—'आसां तु खल्वेषणानां प्राणैषणां तावत्पूर्वतरमापद्येत। कस्मात्? प्राणपरित्यागे हि सर्वत्यागः। अर्थात् तीन एषणाओं में प्रथमतः प्राणैषणा आती है; क्योंकि प्राण-त्याग होने पर सभी सांसारिक व्यवहारों का अभाव हो जाता है, अतः मानव प्रथमतः प्राणरक्षा हेतु तत्पर रहता है। प्राणों की रक्षा से दीर्घ आयु की प्राप्ति होती है—'प्राणानुपालनाद्दीर्घमायुरवाप्नोतीति।'—च० सू० ११।४।

प्राणरक्षा हेतु सतत् प्रयत्नशील तभी रहा जा सकता है, जब इस बात की जानकारी हो जाय कि प्राणायतन क्या है? अर्थात् प्राण विशिष्टरूपेण किस भाव से सम्बन्धित रहता है। दश प्राणायतनवाद में यही बतलाया गया है कि प्राण विशिष्ट रूप से कहाँ रहते हैं। इस वाद की उपादेयता चिकित्सक व जनसामान्य दोनों के लिए है। (१) प्राणायतनवाद की उपादेयता–चिकित्सा सौकर्य हेतु प्राणायतनवाद का चरक संहिता में जहाँ उल्लेख किया गया है वहाँ उसकी उपादेयता व ज्ञान की अनिवार्यता चिकित्सकों के लिए ही बतलाई गई है। चिकित्सकों की श्रेणी भी प्राण के आधार पर बनाई गई है। यथा—प्राणों को देने वाले या प्राण वृद्धि करने वाले वैद्य को प्राणाभिसर कहा गया है तथा जो वैद्य प्राणों का नाश एवं रोग वृद्धि करते हैं, उन्हें रोगाभिसर कहा गया है—'प्राणानामेकेऽभिसरा हन्तारो रोगाणां रोगाणामेकेऽभिसरा हन्तारः प्राणानामिति।'—च० सू० २९।५। प्राणाभिसर वैद्य वही होता है जो चेतनायतन यानि प्राणायतन की जानकारी रखता हो—'तानीन्द्रियाणि विज्ञानं चेतनाहेतुमामयान्। जानीते यः स वै विद्वान् प्राणाभिसर उच्यते।'—च० सू० २९।४। चिकित्सक चाहे काय चिकित्सक हो या शल्य चिकित्सक प्राणायतन का ज्ञान उसके लिए उपादेय ही नहीं, बल्कि अनिवार्य है। जिस चिकित्सक को प्राण के विशिष्ट अधिष्ठानों का ज्ञान नहीं होगा वह चिकित्सक फिर प्राण रक्षा कैसे कर पायेगा? यदि वैद्य को ज्ञात है कि हृदय प्राणायतन है तो हृदय रक्षा हेतु तत्पर होगा। यदि किसी दो या तीन अङ्गों पर आघात लगा है तो प्रथमतः चिकित्सक प्राणायतन की रक्षा करेगा। यदि शल्य-चिकित्सक है तो शल्य कर्म करते समय प्राण के आयतनों की सावधानीपूर्वक रक्षा करेगा। यदि किसी प्राणायतन का शरीर से स्राव (शुक्र, ओज, रक्त का) हो रहा है या शरीर में ही किसी कारणवश क्षय हो

रहा है, तो उसको रोकने का यत्न करेगा या क्षीण प्राणायतन को वृद्ध कर प्राण रक्षा करेगा। इस प्रकार आयुर्वेद में दश प्राणायतन बाद द्वारा चिकित्सकों को निर्देश दिया गया है कि उपर्युक्त दस मुख्य प्राणायतनों की रक्षा तत्परता से करनी चाहिए।

(२) प्राणायतनवाद की जनसामान्य में उपादेयता—प्राणायतनवाद एक जनोपयोगी सिद्धान्त है। पूर्व में ही कहा जा चुका है कि सभी मानव प्रथमत: प्राण-रक्षा हेतु ही प्रयत्नशील रहते हैं। यदि प्राणायतन की जानकारी रहती है तो व्यक्ति विशेष उसकी रक्षा हेतु तत्पर रहता है। जैसे शिर जनसामान्य में यदि प्राणायतन रूप में मान्य है तो उसकी रक्षा हेतु पगड़ी छत्र धारण तैलाभ्यंग आदि द्वारा उसकी रक्षा हेतु जनसामान्य तत्पर रहता है। यदि हृदय की रक्षा हेतु मानसिक आघातों से बचने के लिए कहा गया है तो जनसामान्य इससे बचता है। यदि किसी कारणवश मनोविघात हो भी जाता है तो निकटस्थ व्यक्ति उसकी आश्वासन, सान्त्वना आदि द्वारा रक्षा करता है। यदि जनसामान्य को जानकारी है कि रक्त प्राणायतन है तो रक्तस्राव की स्थिति में शीघ्रातिशीघ्र चिकित्सक से सम्पर्क स्थापित कर रक्तस्राव रोकने का प्रयत्न करेगा। इसी प्रकार प्राणायतन शुक्र एवं ओज की रक्षा के लिए ब्रह्मचर्य पालन का प्रयत्न किया जाता है। भारतवर्ष में प्राणायतनवाद जनसामान्य में प्रचलित रहा है, इसके अनेकों उदाहरण जनसामान्य में मिलते हैं, इस प्रकार प्राणायतनवाद अत्यन्त जनोपयोगी है।

अध्याय—९

अर्थेदशवाद

अर्थेदशवाद शीर्षक चरकसंहिता के अर्थेदशमहामूलीय अध्याय पर आधारित है। अर्थ हृदय को कहा जाता है—

'अर्थे दश महामूला: समासक्ता महाफलाः।
महच्चार्थश्च हृदयं पर्यायैरुच्यते बुधैः॥' (च० सू० ३०।३)

अर्थात् अर्थ यानि हृदय से महामूल वाली और महाफल वाली दश रक्तवाहिनियाँ लगी हुई हैं, महत् और अर्थ को हृदय के पर्यायरूप में जाना जाता है। इस प्रकार यहाँ अर्थ से हृदय का तात्पर्य है। आयुर्वेद में हृदय व हृदय से सम्बन्धित विषयों की विशिष्ट अवधारणा है, अतः इस विशिष्ट रूप से स्थापित अवधारणा के कारण 'वाद' पद लगाकर शीर्षक की संज्ञा 'अर्थेदशवाद' रखी गयी है। अध्याय में दशमहामूलीय संज्ञा हृदय के लिए ही कहा गया है। क्योंकि हृदय दशमहामूलयुक्त होता है अर्थात् महामूल वाली दश रक्तवाहिनियों का उद्गम स्थान है; अत: हृदय को दशमूलीय या महामूलीय कहा गया है। इस प्रकार अर्थेदशवाद का विवेच्य विषय हृदय है। इसके अन्तर्गत १. हृदय की दशमहामूलीयता, २. हृदय की प्रधानता, ३. ओज व हृदय, ४. हृदय की रक्षा, ५. हृदयरक्षार्थ अद्रव्यभूत कतिपय उपाय आदि विषय हैं।

शतपथ ब्राह्मण ग्रन्थ में हृदय को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि—'तदेतत् त्र्यक्षर ॐ हृदयमिति, हृ इत्येकमक्षरम्, अभिहरन्त्यस्मै स्वाश्चान्ये च य एवं वेद, द इत्येकमक्षरम्, ददात्यस्मै स्वाश्चान्ये च य एवं वेद, यमित्येकमक्षरम्, एति स्वर्गं य एवं वेद।' (श० ब्रा० ४।८।४।१)

अर्थात् हृदय पद तीन मूल धातुओं हृञ्, दा और इण् (य) से बना है। जिसमें 'हृञ्' हरणे अर्थ में, 'दा' दाने अर्थ में तथा 'इण्' गतौ अर्थ में प्रयुक्त है। इस प्रकार निरुक्ति के अनुसार हृदय शरीर का वह अंग है, जिसमें मूलतः तीन क्रियायें—आहरण, दान व गति होती है। आहरण या हरण का अर्थ खींच लेना या खींचकर ले लेना या स्व-बल से लेना है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि हृदय शरीर से जो कुछ लेता है, उसे अपने बल से खींचकर हरण कर लेता है; कुछ शरीरावयवों को देता है तथा इण् गतौ का तात्पर्य यह है कि यह गतिशील रहता है। इस प्रकार हृदय का परिचय निम्नरूप में दिया जा सकता है—हृदय शरीर का वह अंग है जो हरण (शरीर के अन्य स्थानों से किसी अन्य भाव को खींचकर ले लेने वाला), दान (शरीर के अन्य अवयवों को कुछ देने वाला तथा गतिशील रहने वाला है।

१. हृदय की दशमहामूलीयता—हृदय वह मूल है, जिससे दश रक्तवाहिनियाँ लगी रहती हैं। वैसे तो आयुर्वेद में २४ महाधमनियों व इससे अधिक सिराओं का उल्लेख प्राप्त होता है पर हृदय से सम्बन्धित दस रक्तवाहिनियों का ही उल्लेख प्रायः सभी ग्रन्थों में मिलता है। परन्तु इस प्रसंग में एक ऊहापोह की स्थिति यह होती है कि—कोई आचार्य हृदय से दस सिराओं को सम्बन्धित मानते हैं तो कोई विद्वान् हृदय से धमनियों को सम्बन्धित मानते हैं। जबकि सिरा और धमनी की अवधारणा आयुर्वेद में भिन्न रूप में है। जैसे—'ध्मानाद्धमन्यः स्रवणात् स्रोतांसि सरणात्सिराः।' च० सू० ३०।१२। अर्थात् (१) जो शरीर में धमन करती है उसे धमनी कहते हैं, (२) जिसमें सरण होता है उसे सिरा कहते हैं तथा (३) जिनसे स्रवण होता है उसे स्रोतस् कहते हैं। काश्यपसंहिता में हृदय से सम्बन्धित दस सिराओं का उल्लेख मिलता है—

'हृदयात् सम्प्रतान्ते सिराणां मातरोदश।
ऊर्ध्वं चतस्रो द्वे तिर्यक् चतस्रोऽधोबहाः सिराः॥'

इस प्रकार कहा गया है कि हृदय से दस सिरायें निकलती हैं, जिसमें चार सिरायें ऊर्ध्व प्रदेश में, चार सिरायें अधोप्रदेश में तथा दो सिरायें तिर्यक् रूप से स्थित होती हैं। यहाँ आचार्य काश्यप ने सिराओं का उल्लेख कर यह स्पष्ट कर दिया है कि सिरा का तात्पर्य क्या है? अर्थात् किस तरह की रक्तवाहिनियाँ इससे सम्बन्धित रहती हैं। सिरा से काश्यप संहिता में भी वही अर्थ ग्रहण किया गया है जो चरक-संहिता में है। यथा—'पर्णानामिव सीवन्यः सरणाच्च सिराः स्मृताः।'—का० शा०। जबकि चरकसंहिता, सिद्धि स्थान में दृढ़बल ने स्पष्ट रूप से हृदय का सम्बन्ध दस धमनियों से बतलाया है—'यत्र हृदि दश च धमन्यः प्राणापानौ मनोबुद्धिश्चेतना महा-भूतानि च नाभ्यामरा इव प्रतिष्ठितानि।'—च० सि० ९।४। हाँलाकि आचार्य चरक ने हृदय से सिरा सम्बन्धित है या धमनी सम्बन्धित है—इसका उल्लेख नहीं किया है, पर उपर्युक्त गद्यांश में आचार्य दृढ़बल ने धमनी का उल्लेख किया है। भेलसंहिता में सू० अ० २० में हृदय का धमनियों से सम्बन्धित होना कहा है—'अथं इत्याह हृदयं तस्मिन् धमन्यो दश। ऊर्ध्वं चतस्रो द्वे तिर्यक् चतस्रश्चाप्यधः क्रमात्।'—भे० सू० अ० २०। आचार्य भेल व आचार्य काश्यप दोनों ने ही इन रक्तवाहिनियों की स्थिति का उल्लेख एक समान ही किया है—चार ऊर्ध्व, चार अधः व दो तिर्यक्। पर आचार्य काश्यप ने इन्हें सरण करने वाली सिरा कहा है, जबकि भेल ने धमनी कहा है। भेलसंहिता के सू० अ० २१ में सिराओं का भी हृदय से सम्बन्धित होने का उल्लेख किया गया है, पर इसमें किसी संख्या का उल्लेख नहीं है—'हृदो रसो निःसरति तस्मादेव च सर्वशः। सिराभिर्हृदयं चैति तस्मात् तत्प्रभवाः सिराः।'—भे० सू० २१। आचार्य वाग्भट ने हृदय से मूल सिराओं को सम्बन्धित माना है—

'दशमूलसिरा हृत्स्थास्ताः सर्वाः सर्वतो वपुः ।
रसात्मकं वहन्त्योजस्तन्निबद्धं हि चेष्टितम् ॥

(अ० हृ० शा० ३।१८)

इस प्रकार ज्ञात होता है कि आयुर्वेद के सभी आचार्यों ने हृदय को दशमहामूलीय तो माना है, पर कतिपय आचार्य इससे सम्बन्धित वाहिनियों को सिरा मानते हैं तो कतिपय आचार्य इसे धमनी मानते हैं। हृदय की दशमहामूलीयता पर आचार्य चरक की अवधारणा क्या है ? इसको समझने का प्रयत्न किया जायेगा। (१) चरकसंहिता में अर्थेदश महामूला कहकर हृदय में दस महामूल को स्वीकार किया है, परन्तु ये मूल सिराओं के हैं या धमनियों के—इस सम्बन्ध में दिशानिर्देश नहीं है। (२) चरकसंहिता सि० स्था० में उल्लिखित 'दश च धमन्यः' दृढ़बल की अवधारणा है। (३) चरकसंहिता में हृदय को दो स्रोतों का भी मूल माना गया है—(१) प्राणवह स्रोत व (२) रसवह स्रोत का। (४) हृदय के अतिरिक्त प्राणवह स्रोत का मूल महास्रोत माना गया है—'तत्र प्राणवहानां स्रोतसां हृदयं मूलं महास्रोतश्च।'—च० वि० ५।७। उसी प्रकार रसवह स्रोत का मूल हृदय के साथ दस धमनियाँ मानी गई हैं—'रसवहानां स्रोतसां हृदयं मूलं दश च धमन्यः।' आचार्य सुश्रुत ने भी रसवह धमनियों का उल्लेख किया है। यहाँ आचार्य चरक ने इनकी संख्या दस बतलाई है। अब प्रश्न होता है कि क्या ये हृदयाश्रित दश धमनियाँ हैं या किन्हीं अन्य दश धमनियों का उल्लेख है ? (५) चरकसंहिता के अर्थेदशमूलीयवाद में ही धमनी, सिरा व स्रोत की निरुक्ति वर्णित है। यथा—'ध्मानाद्धमन्यः स्रवणात् स्रोतांसि सरणात्सिराः।'—च० सू० ३०।१२।

चरकसंहिता की ही उक्ति 'अतश्च प्रकृतं बुद्ध्वा देशकालान्तराणि च। तन्त्रकर्तुरभिप्रायानुपायांश्चार्थमादिशेत् ॥'—च० सू० २६।३७। अर्थात् 'प्रसङ्गादि के अनुसार लेखक का अभिप्राय समझना चाहिए।' के अनुसार प्रसङ्ग में आचार्य द्वारा हृदय से सम्बन्धित दस रक्त वाहिनयों का उल्लेख न कर धमनी, सिरा एवं स्रोत की एक साथ ही निरुक्ति देना इस अभिप्राय को निर्देशित करता है कि हृदय दस महावाहिनियों का मूल है, इनमें कुछ धमन करने वाली धमनियाँ हैं, कुछ सरणयुक्त सिरायें है तथा प्राणवह व रसवह दो स्रोतों का मूल है।

२. हृदय की प्रधानता—आयुर्वेद में हृदय का महत्व एक केन्द्रक/नाभिक (Nucleus) के रूप में दिया गया है—'यत्र हृदि···प्राणापानौ मनोबुद्धिश्चेतना महाभूतानि च नाभ्यामरा इव प्रतिष्ठितानि।'—च० सि० ९।४। आचार्य चक्रपाणि 'नाभ्यामरा इव प्रतिष्ठितानीति' की टीका करते हुए कहते हैं कि—'नाभिश्चक्रनाभिः अराश्चक्रनेमयः। अरा इव अरा इति व्याख्यानयन्ति।' यहाँ नाभि से तात्पर्य गाड़ी के पहिये के बीच में रहने वाली केन्द्र में स्थित नाभि से है, जिससे अरा का सम्बन्ध बना

रहता है। यह नाभि केन्द्र में लगी रहती है; अतः इसे केन्द्रक व केन्द्र में रहने वाली जीवन संचालक होने से नाभिक (Nucleus) कहा गया है; क्योंकि जिस प्रकार प्रत्येक कोषा में केन्द्रक/नाभिक का महत्त्व है उसी प्रकार पूरे शरीर का केन्द्रक/नाभिक आचार्य दृढ़बल ने हृदय को माना है, क्योंकि जीवन की समस्त जीवनीय क्रियायें (Biological functions characters of life) प्राण, अपान, चेतनता, मन, बुद्धि आदि हृदयाश्रित ही हैं। आचार्य चरक ने इस तथ्य को निम्नरूप में व्यक्त किया है—

'षडङ्गमङ्गं विज्ञानमिन्द्रियाण्यर्थपञ्चकम् ।
आत्मा च सगुणश्चेतश्चिन्त्यं च हृदि संश्रितम् ।।
प्रतिष्ठार्थं हि भावानामेषां हृदयमिष्यते ।
गोपानसीनामागारकर्णिकेवार्थचिन्तकैः ।।
तस्योपघातान्मूर्च्छायं भेदान्मरणमृच्छति ।
यद्धि तत् स्पर्शविज्ञानं धारि तत्तत्र संश्रितम् ।।' (च० सू० ३०।४-६)

अर्थात् यह षडङ्ग शरीर (छः अंगों से युक्त शरीर), विज्ञान, इन्द्रियां, इन्द्रियों के पाँचों विषय, सगुण आत्मा, मन व इसके विषय—ये सब हृदय में आश्रित हैं।

हृदय (अर्थ) का चिन्तन करने वाले विद्वान् वैद्य या हृदयविशेषज्ञ वैद्य का कथन है कि—जिस प्रकार आगारकर्णिका आगार स्तम्भ को धारण करती है, उसी प्रकार हृदय भी षडङ्ग शरीर को धारण किये रहता है। इस प्रकार हृदय शरीरस्थ सभी अङ्गों में प्रधान या श्रेष्ठतम है। इस हृदय पर आघात होने पर मूर्च्छा तथा इसके फट जाने पर मृत्यु हो जाती है। क्योंकि स्पर्शज्ञान और जीवन हृदय पर ही आश्रित होते हैं। इसके अतिरिक्त—'तत् परस्यौजसः स्थानं तत्र चैतन्यसंग्रहः। हृदयं महदर्थश्च तस्मादुक्तं चिकित्सकैः ।।'—च० सू० ३०।७। के अनुसार हृदय पर ओज का स्थान है तथा हृदय में ही चेतना का संग्रह होता है। इस प्रकार आचार्य चरक ने हृदय को प्रधान एवं श्रेष्ठतम अङ्ग कहा है, जिसमें निम्न कारण बताये गये है—१. मन, आत्मा, इन्द्रियाँ एवं विषय आदि हृदयाश्रित होते हैं। २. शरीर का धारण करता है। ३. स्पर्शज्ञान हृदयाश्रित होता है। ४. चेतनता का संग्रह हृदय में ही होता है। ५. पर ओज का स्थान है। इसके अतिरिक्त नाड़ी विज्ञान में हृदय को सुख-दुःख का प्रकाशक कहा गया है तथा इसमें संकोच, विकास व स्फुरण की क्रिया होना बतलाया गया है—

'देहिनां हृदयं देहे सुखदुःखप्रकाशकम् ।
तत् सङ्कोचविकासञ्च स्वतः कुर्यात् पुनः-पुनः ।।
सङ्कोचने बहिर्याति वायुरन्तर्विकासतः ।
ततो नाड्यश्चलन्त्यसृग्धरायाः स्फुरणं ततः ।।'

यदि मौलिक रूप से देखा जाय तो हृदय शब्द से ही समस्त मौलिक क्रियाओं का द्योतन होता है। इस सृष्टि में मौलिक क्रियायें तीन ही मानी गई हैं—१. आदान; २. विसर्ग एवं ३. विक्षेप। जगत में ये तीन क्रियायें क्रमशः सूर्य, चन्द्रमा एवं वायु के द्वारा सम्पादित होती हैं। शरीर में भी यही तीन क्रियायें मौलिक रूप से सम्पादित होती हैं। जिसमें पित्त द्वारा आदान कर्म, कफ के द्वारा विसर्ग कर्म तथा वायु के द्वारा विक्षेप की क्रिया सम्पादित होती है—

'विसर्गादानविक्षेपैः सोमसूर्यानिला यथा।
धारयन्ति जगद् देहं कफपित्तानिलास्तथा॥' (सु० सू० २१।८)

हृदय भी इन तीन मूल क्रियाओं का सम्पादन करता है। हृञ् हरणे अर्थात् आदान कर्म, दा दाने अर्थात् विसर्ग कर्म एवं इण् गतौ विक्षेप अर्थात् स्फुरण (गति) करता है। इस प्रकार सृष्टि की तीन मौलिक क्रियायें शरीर में भी सम्पादित होती हैं। इन तीनों मौलिक क्रियाओं को हृदय सम्पादित करता है। अतः यह श्रेष्ठतम है। यदि कर्म की परिभाषा एवं प्रकार की दृष्टि से विचार किया जाय तो भी सम्पूर्ण क्रियायें हृदय द्वारा सम्पादित होती हैं। कर्म को ही क्रिया कहते हैं। कर्म पाँच माने गये हैं—१. उत्क्षेपण, २. अपक्षेपण, ३. आकुञ्चन, ४. प्रसारण और ५. गमन। हृदय में ये पाँचों क्रियायें—उत्क्षेपण—ऊपर की ओर किसी वस्तु को फेंकना, अपक्षेपण—नीचे की ओर फेंकना, आकुञ्चन अर्थात् संकोच, प्रसारण यानि प्रसार, गमन या गति अर्थात् लगातार स्फुरण आदि क्रियायें सम्पादित होती हैं। इसी कारण हृदय को श्रेष्ठतम एवं प्रधान कहा गया है। उपर्युक्त विवेचन के आधार पर हृदय की प्रधानता में एक और कड़ी जोड़ी जा सकती है—'हृदयं देहे क्रियामूलम्'—अर्थात् शरीर में हृदय समस्त क्रियाओं का मूल है।

ओज और हृदय—आयुर्वेद में रसधातु से शुक्रपर्यन्त समस्त धातुओं के सारांश (तैजस् अंश) को ओज कहा जाता है। इसी को बल भी कहा जाता है—रसादि-शुक्रान्तानां धातूनां यत् परं तेजः तत् खल्वोजः तदेव बलमित्युच्यते।'—सु० सू० १५। 'ओजस्तु तेजोधातूनां शुक्रान्तानां परं स्मृतम्। हृदयस्थमपि व्यापि देहस्थिति-निबन्धनम्।'—अ० हृ० सू० ११। अर्थात् रस से शुक्रपर्यन्त सभी धातुओं के तेज को ओज कहा जाता है। यह ओज हृदयस्थ होते हुये भी शरीर में व्याप्त होकर शरीर को धारण करता है। यह ओज सामान्यरूपेण—'गुरुशीतं मृदुस्निग्धं बहलं मधुरं स्थिरम्। प्रसन्नं पिच्छिलं श्लक्ष्णमोजो दशगुणः स्मृतः।'—च० चि० २४। 'ओजः सोमात्मकं स्निग्धं शुक्लं शीतं स्थिरं परं। विविक्तं मृदु मृत्स्नं च प्राणायतनमुत्तमम्।'—सु० सू० १५। ओज गुरु, शीत, मृदु, स्निग्ध, बहल, मधुर, स्थिर, पिच्छिल, श्लक्ष्ण, सोमात्मक, शुक्ल, मृत्स्न होता है। इसके दो भेद होते हैं—पर-ओज तथा अपर-ओज। वैसे तो हृदय का सम्बन्ध दोनों ओज से होता है, परन्तु पर ओज हृदय में ही

होता है। पर ओज (हृदयाश्रित) श्रेष्ठ एवं प्रधान होता है। इस ओज के नाश से मृत्यु हो जाती है तथा इसका वर्ण रक्त व कुछ पीलापन लिए हुए होता है—'हृदि तिष्ठति यच्छुद्धं रक्तमीषत्सपीतकम् । ओजः शरीरे संख्यातं तन्नाशान्ना विनश्यति ।'—च० सू० १७।७४। चरक सू० अ० ३० में स्पष्ट कर दिया गया है कि हृदय में ही पर ओज रहता है—'तत् परस्यौजसः स्थानं तत्र चैतन्यसंग्रहः ।'—च० सू० ३०।७। अपर ओज का भी संवहन शरीर में हृदय द्वारा ही होता है; क्योंकि—'तेन मूलेन महता महामूला मता दश । ओजोवहाः शरीरेऽस्मिन् विधम्यन्ते समन्ततः । ये नौजसा वर्तयन्ति प्रीणिताः सर्वदेहिनः । यदृते सर्वभूतानां जीवितं नावतिष्ठते ।। यत् सारमादौ गर्भस्य यत्तद्गर्भरसाद्रसः । संवर्तमानं हृदयं समाविशति यत् पुरा ।। यस्य नाशात्तु नाशोऽस्ति धारि यद्धृदयाश्रितम् । यच्छरीर-रसस्नेहः प्राणाः यत्र प्रतिष्ठिताः । तत्फला बहुधा वा ताः फलन्तीव महाफलाः'—च० सू० ३०।८-११। अर्थात् हृदय मूल के कारण दस रक्तवाहिनियाँ महामूल वाली कही जाती हैं। ये धमनियाँ ही शरीर में ओज का वहन करती हैं। धमनियाँ ही शरीर में रस को चारो ओर प्रसारित करती हैं। इस प्रकार आचार्य चरक ने हृदय द्वारा शरीर में ओज का संवाहित होना स्वीकार किया है। यह ओज हृदय से सम्बद्ध धमनियों के द्वारा शरीर में संवाहित होता है। पुनः उनका कथन है कि ओज द्वारा ही सभी देहधारियों के शरीर का प्रीणन होता है, जिसके परिणामस्वरूप मनुष्य जीवित रहता है; इस ओज के अभाव में प्राणी जीवित नहीं रह सकता है। इस ओज की अवधारणा को और भी स्पष्ट करते हुए आचार्य कहते हैं कि—यह ओज गर्भ के प्रारम्भ में भी साररूप में (शुक्र शोणित के सार रूप में) विद्यमान रहता है तथा गर्भ के कललावस्था में रक्त के साररूप में रहता है। जब गर्भस्थ शिशु में हृदय की उत्पत्ति हो जाती है, तो अपने स्वरूप में ही हृदय में प्रवेश कर जाता है। अब यहाँ इसके बाद आचार्य हृदयस्थ ओज के बारे में कहते हैं कि—जिस ओज के नष्ट होने पर जीवन नष्ट हो जाता है वह हृदयाश्रित होकर जीवन धारण करता है। जिस ओज को प्राणायतन कहा गया है अर्थात् जिसमें प्राण प्रतिष्ठित रहता है, वह ओज शरीर हेतु रस का स्नेह होता है, उसी ओज को हृदय द्वारा धमनियों के अस्थियों में से सारे शरीर में संवाहित किया जाता है। जो धमनियाँ ओज का वहन करती है उन्हें महाफला कहा जाता है, क्योंकि इस ओज के संवहन से अनेक कार्य सम्पादित होते हैं। परिणामतः अनेकों प्रकार से कार्यफल निष्पन्न होता है।

गर्भकाल के आठवें मास में गर्भस्थ शिशु व माता में ओज का अन्तर्संवहन होता है अर्थात् ओज कभी शिशु के हृदय में तो कभी माता के हृदय में रहता है, अतः अष्टममास में यदि बालक का जन्म होता है तो उसका जीवन संकटमय हो जाता है; क्योंकि ओज स्थिर नहीं होता है। यदि ओज माता के हृदय में स्थित होता है तो

माता प्रसन्न दीखती है। यदि ओज गर्भस्थ शिशु के हृदय में चला जाता है तो माता उदास हो जाती है।—'अष्टमे मासि गर्भस्य मातृतो गर्भतश्च माता रसहारिणीभिः संवाहिनीभिः...तस्मात्तदा गर्भस्य जन्म व्यापत्तिमद्भवत्योजसोऽनवस्थितत्वात् ॥'—च० शा० ४।२४ ॥ अष्टांग हृदय शा० ३।१८ में भी ओज का संवहन हृदस्थ दस सिराओं के द्वारा ही सम्पन्न होना कहा गया है—

'दशमूलसिराहृत्स्थास्ताः सर्वं सर्वतो वपुः ।
रसात्मकं वहन्त्योजस्तन्निबद्धं हि चेष्टितम् ॥'

हृदय प्रकरण में ओज का सम्बन्ध हृदय से है, इसको दो रूप में प्रस्तुत किया गया है—प्रथम ओज एक विशेष प्रकार का, जिसका वर्ण रक्त कुछ पीलापन लिए हुए होता है, वह सदैव हृदय में स्थित रहता है। इसका तात्पर्य यह है कि जो हृदयाश्रित अष्टबिन्दु वाला ओज है वह हृदय में अपने स्वरूप (वर्ण में) व मात्रा (अष्टबिन्दु) में सदैव रहता है, यदि इस अष्टबिन्दु वाले ओज का हृदय में क्षय या नाश हो जाय तो इस शरीर यानि जीवन का भी नाश हो जाता है। दूसरा-शेष शरीरस्थ ओज, जिसका वर्ण घृत के समान होता है, उसका संवहन हृदयाश्रित दस रक्तवाहिनियों के द्वारा होता है तथा रक्तवाहिनियों के माध्यम से ही ओज सम्पूर्ण शरीर में प्रीणन कर्म सम्पादित करता है। जब इस अपर ओज का क्षय होता है तो भी प्रत्यक्षतः या अप्रत्यक्ष रूप से हृदय प्रभावित होता है। क्योंकि अपर ओज के क्षय से जो लक्षण उत्पन्न होते हैं, वे हृदय के विभिन्न रोगों के कारण रूप में आयुर्वेद में मान्य हैं। यथा—सदैव भययुक्त रहना, शरीर में दुर्बलता तथा व्याधि-क्षमत्व की कमी होना, सदैव चिन्तायुक्त रहना, इन्द्रियों में व्यथा होना तथा मनोबल की हीनता आदि। 'बिभेति दुर्बलोऽभीक्ष्णं ध्यायति व्यथितेन्द्रियः। दुश्छायो दुर्मना रूक्षः क्षामश्चैवोजसः क्षये।'—च० सू० ७।१२। ये लक्षण हृद्रोगों के कारण बनते हैं; क्योंकि मानसिक दुःखों का हृदय पर हानिकर प्रभाव पड़ता है। पर ओज का प्रभाव हृदय पर सीधे रूप से पड़कर जीवन का नाश हो जाता है।

४. हृदय की रक्षा (Preventive measures for Heart diseases)—पूर्व विवरण में हृदय के महत्त्व पर प्रकाश डाला जा चुका है। हृदय शरीर की क्रिया-मूल है। आयुर्वेद में हृदय को वह अङ्ग-विशेष माना गया है, जिसके द्वारा जीवन की अभिव्यक्ति (Manifestation of Life) होती है, अतः स्वाभाविक है कि इस अङ्ग-विशेष की रक्षा के लिए मानव समाज सतत प्रयत्न करता है। भारतवर्ष में पूर्वकाल (वैदिककाल) से ही हृदय की रक्षा की आवश्यकता अनुभूत है, जिसका प्रमाण दैनिक जीवन में दिनचर्या के रूप में 'हृदयन्यास' विधि के रूप में प्रचलित है। विश्व वाङ्मय में चरकसंहिता एक ऐसा ग्रन्थ है, जिसमें हृदय रोगों से बचने के

उपाय (Preventive measures for cardiac disorders or cardiac Prevention) का सर्वप्रथम उल्लेख किया गया है। इस सम्बन्ध में कहा गया है कि—

'तन्महत् ताः महामूलास्तच्चौजः परिरक्षता।
परिहार्या विशेषेण मनसो दुःखहेतवः॥
हृद्यं यत् स्याद्यदौजस्यं स्रोतसां च प्रसादनम्।
तत्तत् सेव्यं प्रयत्नेन प्रशमो ज्ञानमेव च॥'

(च० सू० ३०।१३-१४)

अर्थात् हृदय व उसके आश्रित धमनियों व हृदयस्थ ओज की रक्षा करने के लिए—(१) 'परिहार्या विशेषेण मनसो दुःख हेतवः'—अर्थात् विशेष रूप से मानसिक दुःखों से अपनी रक्षा करनी चाहिए। (२) 'हृद्यं' अर्थात् हृदय को बल देने वाली औषधियों व आहार का सेवन करना चाहिए। (३) ओजोवर्द्धक आहार-विहार का सेवन करना चाहिए। (४) 'स्रोतसां यत् प्रसादनम्'—जो आहार या आहारोपयोगी द्रव्य स्रोतों को शुद्ध करने वाले हैं उनका सेवन करना चाहिए। (५) 'तत्तत् सेव्यं प्रयत्नेन प्रशमो ज्ञानमेव च'—अर्थात् शान्ति एवं ज्ञान हेतु प्रयत्न करना चाहिए।

इस प्रकार हृदय की रक्षा व हृदय-रोगों से रक्षा हेतु ये पाँच उपाय बतलाये गये हैं। जिसमें विशेष रूप से मानसिक आघातों से बचने के लिए कहा गया है, क्योंकि मानसिक दुःखों से हृदय-विकार उत्पन्न होते हैं, यथा - शोक करने से वातज हृदय रोग होता है। विषाद से रोगवृद्धि होती है। चिन्तनादि से ओज क्षय होकर हृदय-रोगोत्पत्ति होती है। आयुर्वेद में मन एवं आत्मा का स्थान हृदय माना गया है; अतः किसी भी प्रकार के मनोघात या मनोसंवेग (काम, क्रोधादि) हृदय पर प्रभाव डालते हैं। किसी भी भावनात्मक स्थिति में हृदय को अतिरिक्त कार्य करना पड़ता है, अतः मानसिक आघात से बचना चाहिए। अब प्रश्न उठना है कि जब मनोघात-जन्य कारण विद्यमान हो तो फिर उससे कैसे बचा जा सकता है? यदि किसी का स्वजन या धन-नाश आदि होता है, तो वह शोकग्रस्त होगा ही, फिर इस शोक से बचने का उपाय क्या है? यहाँ चरकसंहिता में उल्लिखित 'मानसदुःखहेतवः' से मानसिक दुःख से मात्र शोकादि दुःखानुभव अर्थ न ग्रहण कर मानसिक दुःख पहुँचाने वाले विभिन्न कारणों से बचना चाहिए। उपर्युक्त पंक्तियों में शोक का उल्लेख उदाहरण-मात्र है। यहाँ जो भी कारण, मनोसंवेग, मन में क्षोभ उत्पन्न करते हैं, वे मानसिक दुःख के कारण हैं। इन मानसिक दुःखों से बचने का सर्वश्रेष्ठ उपाय कायिक, वाचिक व मानसिक संवेगों का धारण करना है। जैसे—दूसरे को कष्ट देने वाली शारीरिक कर्म पर-स्त्रीगमन, चोरी, हिंसादि कायिक वेग, कठोर वचन बोलना, चुगलखोरी, झूठ बोलना आदि वाचिक वेग तथा लोभ, शोक, भय, क्रोध, अहंकार, निर्लज्जता, ईर्ष्या, अतिराम, अभिध्या आदि मनोवेग हैं। इन वेगों को धारण करना

चाहिए । विशेषकर मनोसंवेग जो मानसिक दुःख के कारण हैं उनका धारण करना चाहिए । यहाँ धारण से तात्पर्य यह है कि उन संवेगों को मन में आने के साथ ही उनका निग्रह करना चाहिए ताकि वह कायिक या वाचिक वेग के रूप में व्यक्त न हो पाये । इन संवेगों को धारण करने का सरलतम उपाय यह होता है कि उसके विपरीत भाव पर अपने मन को केन्द्रित कर लेना चाहिए । जैसे क्रोध का संवेग उत्पन्न होते ही, उसके शरीर में (चेहरा लाल हो जाना, नेत्रों का लाल होना आदि) या वाचिक रूप में (कठोर वचन बोलना आदि) व्यक्त होने से पूर्व ही अपने को भयजन्य कारण पर केन्द्रित करना चाहिए । यथा—यदि क्रोधवश इसे मारेंगे तो जेल भी जा सकते हैं । जैसे ही मन जेलभय पर केन्द्रित होगा, वैसे ही क्रोध शान्त हो जायेगा । इसके अतिरिक्त आप्तपुरुषों के उपदेश से, वृद्ध व्यक्तियों के सम्पर्क से मानसिक दुःखों से बचा जा सकता है । जो जनसामान्य इन तथ्यों को व्यावहारिक जीवन में व्यवहृत नहीं कर पाते हैं, उन जनसामान्य के लिए मानसिक दुःखों से बचने का सर्वसुलभ व सरल उपाय है—आस्तिकता या ईश्वरवाद । ईश्वरवाद का प्रत्यक्ष फल यही है कि इससे मानसिक दुःखों से आसानी से बचा जा सकता है, क्योंकि यदि हम अपने दुःख-सुख के कारणरूप में ईश्वर को मान लेते हैं तो फिर किसी प्रकार के मनोघात का भय नहीं रहता तथा इससे मनोघातों से बचने की क्षमता भी विकसित होती है । हृदय-रक्षण हेतु हृदय को बल देने वाले आहार-विहार का सेवन करना चाहिए । जैसे अपने आहार में उचित मात्रा में अम्ल द्रव्यों का सेवन करना । भारतीय आहार व्यवस्था में अम्ल रस की अनिवार्यता स्वीकार की गई है, क्योंकि यह हृदय का तर्पक होता है । इसके अतिरिक्त ओजोवर्द्धक आहार-विहार का सेवन भी हृद्य कहा गया है । ओज हृदयाश्रित रहकर जीवन धारण करता है, यदि हृदयाश्रित ओज का क्षय या नाश होता है तो हृदय की क्रियाशीलता प्रभावित होती है या हृदयगति बन्द हो जाती है जिससे मृत्यु हो जाती है । अतः ओजोवर्द्धक आहार-विहार से हृदय की रक्षा अपेक्षित होती है । दुग्ध, घृत, मधुर, स्निग्धादि गुणयुक्त द्रव्य ओजोवर्द्धक होते हैं । स्रोतों के प्रसादक आहार-विहार या औषधियों के सेवन करने से हृद्रोग का भय नहीं रहता है । आयुर्वेद के अनुसार रोगोत्पत्ति में स्रोतोदुष्टि की भूमिका महत्त्वपूर्ण होती है अर्थात् स्रोतोदुष्टि होने से विभिन्न व्याधियाँ उत्पन्न होती हैं । हृदय शरीर के प्राणवह व रसवह स्रोतों का मूल है तथा दस रक्तवाहिनियों का मूल है, अतः स्रोतोदुष्टि का सीधा प्रभाव हृदय पर पड़ता है । अधुना स्रोतोरोधजन्य अनेक हृदय-विकार देखे जा सकते हैं । स्रोतोरोध कतिपय हृद् रोगों के कारण में मान्य है । यदि ऐसे आहार-विहार या औषधि का सेवन किया जाय जिससे स्रोतावरोध व स्रोतोदुष्टि न हो तो हृदय रोगों की संभावना कम होगी । हृदय प्रतिरक्षण में शान्ति व ज्ञान का भी उल्लेख किया गया है । शान्ति का यहाँ तात्पर्य 'मनोसंवेगरहित होना' ग्रहण

किया जा सकता है जिनका उल्लेख इसी सन्दर्भ में किया गया है। शान्त चित्त व्यक्तियों में हृदय रोग की संभावना कम रहती है । अतः शान्ति व ज्ञान से हृदय की रक्षा होती है ।

हृदय रोगों की प्रतिबन्धक व शामक विशिष्ट अद्रव्यभूत चिकित्सा

अद्रव्यभूत चिकित्सा (Special Non-pharmacological remedy in prenentive and curative aspect of cardiac diseares)—आयुर्वेद में अर्थेदशवाद के अन्तर्गत ही हृदय रोगों की कुछ अद्रव्यभूत विशिष्ट चिकित्सा का उल्लेख किया गया है, जिन्हें उत्कृष्टतम कहा गया है यानि यह अद्रव्यभून चिकित्सा हृद्रोगों की सर्वोत्तम चिकित्सा है । अत: इस चिकित्सा को (Superb therapy) कहा जा सकता है । इस चिकित्सा का उभय रूप में उपयोग है अर्थात् इस चिकित्सा का उपयोग हृदय-रक्षण व चिकित्सा दोनों में समान रूप से है । इस चिकित्सा के द्वारा हृदय रोगों से बचा जा सकता है तथा यदि हृदय रोगी इस चिकित्सा का अनुसरण (To follow up the Superb remedy) करते हैं, तो रोगमुक्ति में यह चिकित्सा सहायक हो सकती है, विशेषकर क्रियात्मक विकारों की (Functional disorders) स्थिति में लाभदायक सिद्ध हो सकती है । इस चिकित्सा में छः भाव से सम्बन्धित उत्कृष्ट चिकित्सा या उपाय या द्रव्य हेतु जिज्ञासा की गई है; उस जिज्ञासा के उत्तर रूप में इस चिकित्सा का उल्लेख किया गया है—'अथ खल्वेकं प्राणवर्धनानामुत्कृष्टतमं, बृंहणानामेकं बलवर्द्धनामेकं, बृंहणानामेकमानन्दनामेकं हर्षणानामेकमयनानामिति ।'

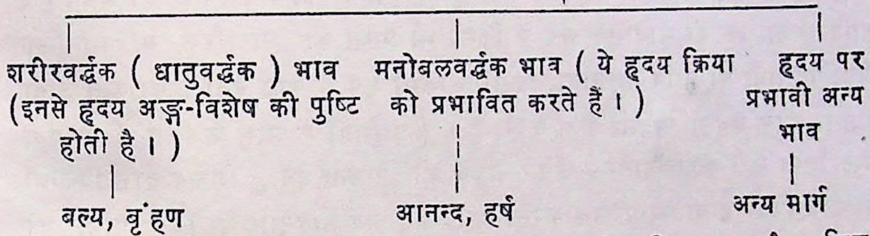
(च० सू० ३०।१५)

अर्थात्—१. प्राणवर्द्धक पदार्थों में सर्वश्रेष्ठ एक ही पदार्थ होता है ।
२. बलवर्द्धक ,, ,, ,, ,, ,, ,, ।
३. बृंहण ,, ,, ,, ,, ,, ,, ।
४. मन प्रसन्न करने वाले ,, ,, ,, ,, ,, ।
५. हर्षोत्पत्ति ,, ,, ,, ,, ,, ,, ।
६. अन्य मार्गों में ,, ,, ,, ,, ,, ।

अब प्रश्न यह है कि अर्थेदशवाद में इसका उल्लेख क्यों किया गया है ? तो इसका अभिप्राय यह हो सकता है कि—उपर्युक्त भाव का सम्बन्ध हृदय से है, क्योंकि लेखक का अभिप्राय प्रकरणानुसार समझना चाहिए । अतः हृदय प्रकरण में उल्लेख करने का अभिप्राय हृदय से है । हृदय अपनी क्रिया सुचारुरूप से करता रहे इसके लिए प्राणवर्द्धक आहार सेवन किया जाता है । जीवनीय औषधियों, विभिन्न रसायनों का प्रयोग किया जाता है । इसी प्रकार बल्य आहार-विहार और औषधि हृदय की रक्षा करते हैं । बृंहण के प्रयोग से तृप्ति होती है; परिणामतः हृदय की क्रियायें अबाध

रूप से चलती रहती हैं। इसके अतिरिक्त कतिपय विशिष्ट मानसिक अवस्थाओं में हृदय अपनी क्रिया अबाध रूप से करता रहता है। जैसे—आनन्द, हर्ष, प्रसन्नता आदि। इस प्रकार शरीर-वृद्धिकर भाव (बल्य, बृंहण), प्राण-वृद्धिकर भाव (प्राण-वर्द्धक), मनोबलवर्द्धक (आनन्द, हर्ष) भाव आदि का हृदय पर स्पष्ट प्रभाव पड़ता है, इसके अतिरिक्त अन्य भाव भी हैं जिनका शरीर पर प्रभाव पड़ता है, अतः अन्य मार्गों का भी उल्लेख किया गया है। इस प्रकार हृदय को प्रभावित करने वाले भावों में—

१. हृदय (चेतनायतन प्राणायतन)—प्राणवर्द्धक भाव



इस प्रकार हृदय की रक्षा हेतु उपर्युक्त भावों का उल्लेख किया गया है। जिस प्रकार प्राणवर्द्धन हेतु जीवनीय औषधियों, आहारादि का सेवन उत्कृष्ट होता है, उसी प्रकार बल्य व बृंहण, आहार-विहार औषधि हृदय-हेतु उत्कृष्ट होते हैं। आनन्द हेतु विभिन्न बिहार (बाग, उपवन, झरना आदि) उत्कृष्ट होते हैं। हर्षोत्पादक भाव, बाजीकर औषधियाँ उत्कृष्ट होती हैं। अन्य मार्गों हेतु तद्भाव उत्कृष्ट होते हैं, पर उत्कृष्टतम नहीं होते हैं। प्रस्तुत सन्दर्भ में उपर्युक्त भाव उत्कृष्ट ही नहीं, बल्कि उत्कृष्टतम हैं। परन्तु ये भाव अद्रव्यभूत हैं। यथा—'तत्राहिंसा प्राणिनां प्राण-वर्धनानामुत्कृष्टतममेकं वीर्यं बलवर्धनानां, विद्या बृंहणानाम्, इन्द्रियजयोनन्दनानां, तत्त्वावबोधो हर्षणानां, ब्रह्मचर्यमयनानामिति; एवमायुर्वेदविदो मन्यन्ते।'—च० सू० ३०।१५ अर्थात्

१. प्राणियों के प्राण बढ़ाने वाले द्रव्यों में अहिंसा सर्वश्रेष्ठ है।

२. बलवर्द्धक पदार्थों में वीर्य सर्वश्रेष्ठ है।

३. बृंहण कर्म करने वाले पदार्थों में विद्या को सर्वश्रेष्ठ कहा गया है।

४. मन को आनन्दित करने वाले पदार्थों में इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करना सर्वश्रेष्ठ है।

५. हर्ष उत्पन्न करने वाले पदार्थों में तत्त्वज्ञान सर्वश्रेष्ठ है।

६. अन्य मार्गों में ब्रह्मचर्य सर्वश्रेष्ठ है।

(१) **अहिंसा—अहिंसा** को प्राणवर्द्धक पदार्थों में सर्वश्रेष्ठ कहा गया है। अन्य प्राणवर्द्धक द्रव्य उत्कृष्ट होते हैं पर अहिंसा उत्कृष्टतम है। यहाँ एक स्वाभाविक

प्रश्न उठता है कि अहिंसा का सम्बन्ध हृदय से किस प्रकार है ? वास्तव में अहिंसा हृदय रक्षण हेतु व आतुरों—दोनों के लिए सामान्यरूपेण उपादेय है। सर्वप्रथम यहाँ विचार करना आवश्यक है कि अहिंसा का अर्थ क्या है ? सामान्यतया अहिंसा से किसी प्राणी को ताड़ना या वध के विपरीत अर्थ में ग्रहण होता है। योगदर्शन में अहिंसा को प्रथम यम माना गया है। महर्षि व्यास ने अपने भाष्य में अहिंसा को स्पष्ट करते हुए कहा है कि—सर्वकाल में सर्व प्रकार से सब प्राणियों के प्रति चित्त में भी द्रोह न करना अहिंसा है। अर्थात् मन से समस्त प्राणियों से सम्बन्धित द्रोह भावना को निकाल देना यानि द्रोहरहित हो जाना अहिंसा है। यदि इसके विपरीतार्थक शब्द हिंसा पर ध्यान दिया जाता है तो अहिंसा का अर्थ स्पष्ट हो जाता है। कायिक, वाचिक या मानसिक रूप से किसी भी प्राणी को शारीरिक या मानसिक पीड़ा पहुँचाना या हानि पहुँचाना, किसी-न-किसी रूप में कष्ट देना हिंसा कहा जाता है तथा इनसे बचना अहिंसा कहा जाता है। (प्राणियों के लाभ के लिए दिया गया कष्ट हिंसा नहीं कहा जाता—जैसे—बच्चे को ताड़ना देना, शिक्षक द्वारा विद्यार्थी को दण्ड दिया जाना, आपरेशन करना आदि।) जब ताड़नादि या किसी प्राणी को कष्ट देने में द्वेष, काम, क्रोध, लोभ, भय आदि मनोवृत्तियाँ हों तो उसे हिंसा कहा जाता है। प्राणों का शरीर से वियोग करने को सबसे बड़ी हिंसा कहते हैं, इसके विपरीत अहिंसा प्राणवर्द्धक है। अब यहाँ एक प्रश्न हो सकता है कि—हिंसा तो दूसरे प्राणियों के कष्ट, वध हेतु प्रयुक्त है अथवा आत्महत्या हेतु प्रयुक्त है तो फिर अहिंसा पालन से अपने प्राणवर्द्धन का सम्बन्ध क्या हो सकता है ? यहाँ इसी प्रश्न पर विचार करना है कि अहिंसा पालन से हृदय-रक्षण या प्राणवर्द्धन कैसे होता है। यहाँ अहिंसा को दो दृष्टियों से स्पष्ट करने का प्रयत्न किया जा रहा है। यदि प्रथम दृष्टि से 'अपने आपको द्रोहरहित कर लेना' अर्थ में अहिंसा का ग्रहण किया जाता है तो—आयुर्वेद में स्पष्टतः कहा गया है कि—अभिद्रोहादनृतवचनं, अनृतवचनात् कामक्रोधमानद्वेषपारुष्याभिघातभयतापशोकचित्तोद्वेगादयः प्रवृत्ताः।'

(च० वि० ३।२४)

अर्थात् द्रोह से अनृत वचन व अनृत वचन से काम, क्रोध, मान, द्वेष, कठोरता, अभिघात, भय, ताप, शोक, चिन्ता, उद्वेग आदि की उत्पत्ति होती है जो प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से हृदय व प्राण को हानि पहुँचाते हैं। यदि अहिंसा का पालन किया जाता है तो इन संवेगों की उत्पत्ति नहीं होती है, चित्त शांत रहता है, जिसके परिणामस्वरूप हृदय बलयुक्त होता है एवं प्राण की या आयु की वृद्धि होती है। यदि अहिंसा को लोक-व्यवहार की दृष्टि से देखा जाय तो भी अहिंसा प्राणवर्द्धक पदार्थों में श्रेष्ठतम है। प्राणियों में प्रायः यह देखा जाता है कि–हिंसा द्वारा भय की उत्पत्ति होती है। जो प्राणी जितना हिंसक प्रवृत्ति का होता है, उसके अन्दर उसी अनुपात व

वेग में भय भी व्याप्त रहता है। कभी-कभी भयावस्था हिंसक प्रवृत्ति को विकसित करती है। यदि हिंसक प्राणियों की व्यावहारिक प्रवृत्ति की ओर ध्यान दिया जाय तो हिंसक शेर छिप कर सोता है, वह भयवश भी सावधान रहता है, हिंसक सर्प आहट का अनुभव होते ही अपने को लुप्त करता है। हिंसक मानव सदैव अपने दुश्मनों व राज्यदण्ड से भययुक्त रहता है। हिंसक कर्म भले न करता हो पर यदि किसी की प्रवृत्ति हिंसक होती है या मानसिक रूप से हिंसाभावना से ग्रस्त रहता है तो वह सदैव तनावयुक्त रहता है। परिणामतः हृदय व प्राण पर हानिकर प्रभाव पड़ता है। भय का हृदय पर क्या प्रभाव है यह सर्वविदित है। हृदय रोगी में भय का व्याप्त होना प्राणघातक भी हो सकता है। अहिंसा पालन करने वाले प्राणी या मानव भय-मुक्त रहते हैं। जैसे-जैसे अहिंसा दृढ़ होती जाती है व्यक्ति निर्भीक हो जाता है। उस स्थिति में हृदय स्वस्थ रहता है तथा प्राण की वृद्धि होती है। अहिंसा के अनुयायी व्यक्तियों का जीवन भयमुक्त रहता है तथा उनका हृदय बलयुक्त रहता है—जैसे महात्मा गांधी, स्वामी विवेकानन्द आदि। अहिंसा से मनोबल की वृद्धि होती है, परिणामतः मन का आश्रय हृदय भी स्वस्थ रहता है जिससे प्राणवर्द्धन होता है। योगदर्शन में कहा गया है—'अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः ॥'—यो० द० सा० पा० सू० ३७ ॥ अहिंसा की दृढ़ स्थिति हो जाने पर सभी प्राणियों से वैर-भाव समाप्त हो जाता है।

२. वीर्य—यहाँ वीर्य से तात्पर्य शुक्र धातुविशेष से है। यहाँ कहा गया है कि, बलवर्द्धक द्रव्य घृत, दुग्ध, अन्य बल्य आहार औषधादि बलवर्द्धन हेतु उत्कृष्ट होते हैं, परन्तु वीर्य उत्कृष्टतम होता है। आयुर्वेद में बल दो अर्थों में ग्रहण किया जाता है। प्रथमतः शक्ति अर्थ में; जैसे—शारीरिक बल यानि शरीर की शक्ति, अग्निबल यानि अग्नि की शक्ति, दोषबल, व्याधिबल इत्यादि। यदि बल को शक्ति अर्थ में ग्रहण किया जाता है तो भी वीर्य उत्कृष्टतम होता है, क्योंकि वीर्य भी आयुर्वेद में दो अर्थ में प्रयुक्त होता है। प्रथम शक्ति अर्थ में तथा दूसरा शुक्रधातु के रूप में। यदि बल व वीर्य इन दोनों को शक्ति अर्थ में ग्रहण किया जाता है तो 'सर्वदा सर्व-भावानां सामान्यं वृद्धिकारणम्' के अनुसार वीर्य बलवर्द्धक पदार्थों में सर्वश्रेष्ठ है; क्योंकि शक्ति (वीर्य) से शक्ति (बल) की वृद्धि होती है। बल का दूसरा अर्थ आयुर्वेद में व्याधिक्षमता व व्याधिक्षमतोत्पादक भाव ओज ग्रहण किया जाता है। ओज व हृदय का क्या सम्बन्ध होता है? इसकी विवेचना की जा चुकी है। यदि वीर्य का शुक्र अर्थ ग्रहण किया जाता है तो शुक्र का ओज से सीधा सम्बन्ध होता है; क्योंकि शुक्र अन्तिम धातु है, जिससे ओज की उत्पत्ति होती है। ओजोत्पादक भावों में शुक्र ही ऐसा पदार्थ है, जिससे ओजोत्पत्ति सीधे रूप में होती है, अतः अन्य बल्य पदार्थ उत्कृष्ट होते हैं, पर शुक्र उत्कृष्टतम होता है, क्योंकि कहा गया है कि—

'तस्याशु क्षीयते शुक्रं ततः प्राप्नोति संक्षयम् । घोरं व्याधिमवाप्नोति मरणं वा स गच्छति । शुक्रं तस्माद्विशेषेण रक्ष्यमारोग्यमिच्छता ॥'—च० चि० ३०।१८५ ।

इस प्रकार यदि वीर्यनाश होता है, तो ओजः क्षय हो जाता है, जिसके कारण शरीर में घोर व्याधियां उत्पन्न हो जाती हैं तथा अन्त में मृत्यु हो जाती है । हृदय रक्षा हेतु विशेषकर हृदय रोगियों को शुक्र रक्षा अवश्य करनी चाहिए क्योंकि हृदय की स्वस्थता हेतु शुक्र दो रूप से उपयोगी होता है । प्रथमतः तो इससे ओज व बल की उत्पत्ति होती है, जिससे हृदय स्वस्थ रहता है तथा ओज वृद्धि होने से हृदय रोग की चिकित्सा में सहायता मिलती है तथा शुक्र का दूसरा उपयोग यह है कि—शुक्र से धैर्य की उत्पत्ति होती है । धैर्य द्वारा ही मन का नियमन होता है, जिसके परिणामस्वरूप व्यक्ति या हृद्रोगी मानसिक संवेगों से प्रभावित नहीं होता है । इस प्रकार शुक्र के द्वारा मानसिक बल (मानसिक व्याधि क्षमता की वृद्धि सीधे रूप से होती है । हृदय रोगियों में मानसिक बलवृद्धि में वृद्धि कितना आवश्यक होता है, इसे चिकित्सक अच्छी तरह से जानते हैं कि कतिपय हृदय रोगी या व्यक्ति विशेष ऐसे होते हैं, जिन पर शुक्रवर्द्धक या ओजोवर्द्धक औषधियाँ विपरीत प्रभाव डालती हैं; अतः उन व्यक्तियों में बलवर्द्धन हेतु एकमात्र उपाय शुक्ररक्षण ही बच जाता है । इसीलिए कहा गया है—'वीर्यं बलवर्द्धनानामुत्कृष्टतमम् ।'

३. **विद्या**—बृंहण पदार्थों में सर्वश्रेष्ठ विद्या को कहा गया है । उत्कृष्ट आहार-विहार, औषध शरीर में बृंहण कर्म करते हैं, पर ज्ञानवर्द्धन इससे नहीं हो पाता है । जबकि हृदयरक्षण हेतु शान्ति व ज्ञान को एक उपाय कहा गया है । हृदय रोगी यदि बृंहण कर्म की इच्छा रखते हैं तो कतिपय ऐसी स्थितियाँ है, जिनमें वे स्निग्ध, गुरु आदि बृंहण कर्म करने वाली आहार औषधादि के उपयोग से अग्नि विकार के कारण हानिकर प्रभाव डाल सकते हैं । विद्या से ज्ञान-वृद्धि होती है । हृदय रक्षा हेतु व हृदय रोगी के लिए ज्ञान उपादेय होता है । किसी क्षेत्र में विद्या बृंहणकर्म ही करती है । जिस विषय की विद्या ग्रहण की जाती है उस ज्ञान में वृद्धि होती है । ज्ञानवृद्धि होने पर व्यक्ति विशेष या आतुर विहितमार्ग का ही अनुशीलन करता है जिससे उसके स्वास्थ्य व हृदय की रक्षा होती है । योग-दर्शन में अविद्या को क्लेश कहा गया है । विद्या के द्वारा क्लेश समाप्त हो सकता है; क्योंकि इससे ज्ञानोत्पत्ति या ज्ञानवृद्धि होती है । ज्ञान से दग्ध क्लेश-दुःखादि पुनः उसी प्रकार उत्पन्न नहीं होते जिस प्रकार अग्निदग्ध बीज पुनः पौधों की उत्पत्ति नहीं कर सकते हैं । जैसा कि निम्नोक्त वचन से स्पष्ट होता है—

'बीजान्यग्न्युपदग्धानि न रोहन्ति यथा पुनः ।
ज्ञानदग्धैस्तथा क्लेशैर्नात्मना: सम्पद्यते पुनः ॥'

४. **इन्द्रियजय**—आनन्ददायक पदार्थों में सर्वश्रेष्ठ इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करना

है। यहाँ इन्द्रियजय का तात्पर्य इन्द्रियों को अहित विषयों में संलग्न होने से रोकना तथा इन्द्रियार्थों में आसक्त नहीं होना होता है। मानव निरन्तर सुख व आनन्द की खोज में रहता है, पर अज्ञानवश विभिन्न विषय-तुष्टियों को ही आनन्द समझता है। सामान्यतया इन्द्रियों के विषयों की तुष्टि को ही जनसामान्य आनन्द समझकर विषयासक्त होते हैं। जैसे किसी जनसाधारण से प्रश्न किया जाय—आपको आनन्दानुभव कब होता है तो उसका उत्तर विषय-सेवन से सम्बन्धित होता है अर्थात् वह उत्तर देता है—अच्छे भोजन से या अच्छे गन्ध से या अच्छे दृश्य देखकर या मधुर स्वर से या सुखद स्पर्श से। लोकमान्य आनन्द (तुष्टि) वास्तव में राग का कारण है। जिस विषयोपभोग से तुष्ट होकर मानव अपने को आनन्दित समझता है, उस विषय से अतिशय राग बढ़ता है। यदि किसी को अपने सन्तान को देखने से, स्पर्श करने से, उसके स्वर सुनने से आनन्दानुभव होता है तो उस सन्तान से व्यक्ति का राग अतिशय बढ़ जाता है।

इसी प्रकार जनसामान्य विभिन्न विषयोपभोग द्वारा आनन्द की प्राप्ति चाहता है पर वे विषयोपभोग प्रत्यक्षतः या अप्रत्यक्षतः हृदय को प्रभावित करते हैं। वास्तव में यह एक जटिल प्रश्न है कि आनन्द है क्या ? जनसामान्य आनन्द प्राप्ति कैसे कर सकते हैं। योगदर्शन के व्याख्याकार स्वामी ओमानन्द तीर्थ ने पृष्ठ १८९ में आनन्द के बारे में कहा है—जब चित्त की एकाग्रता इतनी बढ़ जाय कि शक्तिमात्र इन्द्रियों और तन्मात्राओं के कारण सत्त्व-गुण-प्रधान अहङ्कार को धारण कर उसे साक्षात् किया जाता है, उस अवस्था-विशेष में जो अनुभव चित्त के द्वारा किया जाता है, उसे आनन्द कहा जाता है। जब सूक्ष्मता का तारतम्य बढ़ता है, तब चित्त में सत्त्व-गुण की वृद्धि होती है तो आनन्द प्राप्ति होती है। उस समय कोई भी विचार या ग्राह्य विषय आदि चित्त के विषय नहीं रहते हैं। आनन्द की अवस्था में अहङ्कार से साक्षात्कार होता है, पर यह साक्षात्कार इन्द्रियार्थों जैसा नहीं होता है, क्योंकि इन्द्रिय व इसके अर्थों का उपादान कारण तो स्वयं अहंकार है। इस स्थिति में चित्त द्वारा सत्त्वगुण बहुल अहंकार का साक्षात्कार किया जाता है तथा सत्त्व गुण में ही आनन्द होता है। श्रीमद्भगवद् गीता में स्पष्ट कहा गया है कि—

'सुखमात्यन्तिकं यत्तद् बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः ॥
यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।
यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते ॥'

(भ० गी० ६।२१-२२)

अर्थात् आनन्द का ग्रहण बुद्धि द्वारा होता है तथा आनन्दानुभव भी बुद्धि द्वारा

ही सम्पन्न होता है न कि इन्द्रियों द्वारा। आनन्द की स्थिति में चित्त में स्थित तत्त्व चलायमान नहीं हो पाते हैं। इस अवस्था में योगी या मानव महान् दुःखों से भी विचलित नहीं होता है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि आनन्द वह अवस्था है, जिसमें चित्त को सात्त्विक अहंकार से साक्षात्कार होता है तथा चित्त को उस अवस्था विशेष में कोई भी रागात्मक या द्वेषात्मक मनोवृत्ति प्रभावित या विचलित नहीं कर पाती अर्थात् मन या चित्त सत्त्व गुण में इस तरह एकाग्र हो जाता है कि शेष दो गुण रज व तम उस काल में उसे विचलित न कर पाते। फिर प्रश्न उठ सकता है कि—समाज का सामान्य व्यवहार कैसे सम्पन्न किया जा सकता है। इसी प्रश्न के समाधान के लिए आचार्य ने कहा है कि—इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करना सर्वश्रेष्ठ आनन्ददायक है। इन्द्रियों का विषयों में आसक्त होना ही दुःख का कारण है। जब इन्द्रियों की विषयों से आसक्ति हटा दी जाती है तथा निरन्तर अभ्यास द्वारा विषयोपभोग की आसक्ति समाप्त कर दी जाती है तो इसे इन्द्रियजय कहा जाता है। इस स्थिति में मन चित्त एकाग्र होता है तथा रागात्मक या द्वेषात्मक इच्छायें समाप्त हो जाती हैं, परिणामतः आनन्दानुभव होता है। हृदय रोगी यदि विषयों में आसक्त होते हैं या मिथ्या, हीन या अतियोग रूप में इन्द्रियार्थों का सेवन करते हैं, तो वह दुःख का कारण बनता है। अतः हृदयरोगी इन्द्रियों पर विजय प्राप्त कर आनन्द प्राप्ति करता है तो सत्त्वगुण की वृद्धि के कारण हृदय क्रिया भी सामान्य हो जाती है।

५. तत्त्वज्ञान—हर्षोत्पादक पदार्थों में तत्त्वज्ञान को सर्वश्रेष्ठ कहा गया है। प्रायः बाजीकर औषधियों व आहार-विहारादि को उत्कृष्ट हर्षोत्पादक पदार्थ माना जाता है पर यहाँ आचार्य ने उत्कृष्टतम हर्षोत्पादक पदार्थ तत्त्वज्ञान को कहा है। हर्ष से ओज व बल की वृद्धि होती है। राजयक्ष्मा रोग की चिकित्सा में प्रहर्षिणी यानि हर्षोत्पादक चिकित्सा का विधान किया गया है। राजयक्ष्मा ओजक्षयजन्य व्याधिसमूह है; अतः वहाँ हर्षोत्पादक चिकित्सा ओज व रसादि धातुओं की पुष्टि में सहायक सिद्ध होती है। जैसाकि प्रस्तुत वचन से स्पष्ट होता है—'प्रहर्षकारीणि तानि पथ्यतमानि हि'। हृदयरक्षण हेतु या हृदय रोगी में हर्ष समानरूपेण उपादेय है, परन्तु हृदय रक्षण हेतु तत्त्वज्ञान द्वारा हर्षोत्पत्ति करना सर्वोत्तम होता है, क्योंकि तत्त्वज्ञानजनित हर्ष स्थायी होता है जिससे शरीरगत सारे भाव प्रसन्न व प्रसादरूप में होते हैं।

६. ब्रह्मचर्य—अन्य मार्गों में ब्रह्मचर्य को सर्वश्रेष्ठ कहा गया है। 'ब्रह्मचर्ये वीर्यलाभः।' (यो० द०)। ब्रह्मचर्य से वीर्य लाभ होता है। वीर्य की भूमिका का वर्णन इसी प्रसंग में किया जा चुका है। आयुर्वेद में जीवन के तीन उपस्तम्भों में एक उपस्तम्भ ब्रह्मचर्य को भी माना गया है। प्रायः ब्रह्मचर्य से सामान्यतया मैथुन या अन्य किसी भी प्रकार से वीर्य का नाश न करते हुए अपने जननेन्द्रियों का संयम करना

अर्थ ग्रहण होता है। इस प्रकार मैथुन का सर्वथा त्याग करने को ब्रह्मचर्य कहा जाता है। अत्रि स्मृति में आठ प्रकार का मैथुन कहा गया है—

'स्मरणं कीर्तनं केलिः प्रेक्षणं गुह्यभाषणम्।
संकल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिर्वृत्तिरेव च।
एतन्मैथुनमष्टाङ्गं प्रवदन्ति मनीषिणः।'

अर्थात् स्त्री का स्मरण, कीर्त्तन करना (यानि स्त्रीविशेष की या स्त्रियों के बारे में बार-बार बोलना), केलि करना, स्त्री को देखना, गुप्त रूप से बातें करना, स्त्री संकल्प, अध्यवसाय तथा शुक्रपतन—ये मैथुन के आठ अङ्ग हैं। इनका सर्वथा त्याग करना ब्रह्मचर्य है। इस प्रकार के ब्रह्मचर्य से—

'ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमुपाघ्नत।
इन्द्रो ह ब्रह्मचर्येण देवेभ्यः स्वभरत॥' (अ० वे० ३।५।१९)

अर्थात् ब्रह्मचर्य के कारण देवताओं ने काल को जीत लिया तथा ब्रह्मचर्य के कारण ही इन्द्र देवताओं में श्रेष्ठ हुए हैं। ब्रह्मचर्य पालन करने वाले को देवतुल्य कहा गया है—'न तपस्तप इत्याहुर्ब्रह्मचर्यं तपोत्तमम्। ऊर्ध्वरेता भवेद् यस्तु स देवो न तु मानुषः॥' श्रीमद्भगवद् गीता में विभिन्न भोगों को दुःख की योनि कहा गया है—'ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।'—अ० ५।२२। काम को भोग से शांत नहीं किया जा सकता, बल्कि भोग से उसमें और वृद्धि होती है—जैसे हवि डालने से अग्नि और प्रज्वलित हो जाती है—'न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति। हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते।'—नारद उपदेश ३ श्लो० ३७। इसी संदर्भ में कहा गया है कि—माद्यति प्रमदां दृष्ट्वा सुरां पीत्वा च माद्यति। तस्माद् दृष्टिविषां नारीं दूरतः परिवर्जयेत्। सम्भाषणं सह स्त्रीभिरालापः प्रेक्षणं तथा। नृत्यगानं सहासं च परिवादांश्च वर्जयेत्।'—नारद प० ६।३१। अर्थात् मनुष्य सुरा पीकर मद में चला जाता है, पर स्त्री का दर्शन ही मदकारी होता है। दर्शनमात्र से विषसदृश प्रभाव डालने वाली स्त्री का दूर से ही त्याग करना चाहिए। स्त्रियों के साथ बातें करना; उनके पास संदेश भेजना, नाचना-गाना, हास-परिहास या किसी की निन्दा करना आदि का त्याग करना चाहिए। अपनी पत्नि के साथ पुत्र-कामना हेतु ऋतुकाल में समागम करना भी ब्रह्मचर्य ही होता है। ब्रह्मचर्य से शारीरिक व मानसिक बल दोनों की वृद्धि होती है, अतः इसे जीवन का उपस्तम्भ कहा गया है। दीर्घायु हेतु; स्वास्थ्य हेतु जीवन में ब्रह्मचर्य-पालन का निर्देश किया गया है।

अर्थेदशवाद की उपादेयता

अर्थेदशवाद की विवेचना से ही स्पष्ट हो गया है कि यह विषय कितना उपादेय है। शरीर में तीन प्रधान मर्म माने गये हैं—शिर, हृदय, वस्ति। परन्तु अर्थेदशवाद

के अन्तर्गत हृदय का विशिष्ट रूप से वर्णन कर इसके विशिष्ट महत्त्व को प्रदर्शित किया गया है तथा यह निर्देश किया गया है कि हृदय शरीर का महत्त्वपूर्ण अङ्ग-विशेष है। इसकी रक्षा हेतु सदैव तत्पर रहना चाहिए। यह स्पष्ट रूप से कहा गया है कि आत्मा, मन आदि का स्थान होने से हृदय वह अङ्ग-विशेष है, जिसके द्वारा जीवन की अभिव्यक्ति होती है। इस हृदय व जीवन को धारण करने वाला पदार्थ ओज हृदयाश्रित होता है तथा ओज और हृदय के घनिष्ठ सम्बन्ध को पहले ही स्पष्ट किया गया है। अर्थेदशवाद में हृदय व ओज के अन्योन्याश्रित सम्बन्ध से हृदय की रक्षा हेतु एक समीचीन मार्ग प्रशस्त होता है, जिससे हृद् रोग चिकित्सा व हृद् रक्षा में सरलता प्राप्त होती है।

अर्थेदशवाद में हृदय जैसे महत्त्वपूर्ण अङ्ग-विशेष की रक्षा किस प्रकार की जा सकती है, इसका मार्गदर्शन किया गया है, जो आधुनिक काल में अत्यन्त उपादेय है। भारतवर्ष में इन्हीं प्रतिबन्धक उपायों के द्वारा मानव हृदय रोगों से बचा रहता था। उसके आहार-विहार इस प्रकार के होते थे, जो हृदय के लिए हितकारी होते थे। हृदय प्रतिरक्षा हेतु मानसिक दुःखों से बचने का उपदेश देकर जनसामान्य में विभिन्न दुःखों का हृदय पर पड़ने वाले अहितकर प्रभावों से आगाह किया गया है। आधुनिक काल में अधिकतर मनुष्य तनावग्रस्त है। मानसिक तनाव इस समय समाज की गम्भीर समस्या के रूप में है। परिणामतः अनेक प्रकार की व्याधियाँ उत्पन्न हो रही हैं। मानसिक दुःख का उपघात घटने के बजाय बढ़ता जा रहा है। दुःख योनि विषयोपभोग है। इस भोगवादी युग की देन हृदय रोग है। भारतवर्ष में जनसामान्य को हृदय रोग बहुत कम होता था; क्योंकि आयुर्वेद में प्रमेह, ज्वर, कुष्ठादि रोगों का जितना विस्तृत वर्णन प्राप्त होता है, उसकी तुलना में हृदय रोगों का बहुत संक्षिप्त विवरण उपलब्ध है। संभवतः हृदय-रक्षण से सम्बन्धित विधि-विहित मार्ग का अनुसरण जनसामान्य करते थे, जिससे हृदय रोगों से बचते थे। प्राणाकांक्षी जनसमुदाय मुख्य प्राणायतन हृदय-रक्षण में तत्पर रहते थे। आपसी सौहार्द, तनावमुक्त, आस्तिक व नैतिकता से पूर्ण मानसिकता उनके हृदय की रक्षा करती थी। आज से मात्र २०-२५ वर्षों पूर्व भारतवर्ष में हृदय रोगों का प्रतिशत बहुत कम रहा है, परन्तु विगत २०-२५ वर्षों में हृदय रोगी बढ़ते जा रहे हैं। भारतवर्ष में अब इनकी संख्या लाखों में हो गई है; इससे सम्बन्धित रक्तचाप का प्रतिशत तो बेतहाशा रूप में बढ़ा है। कारण यह है कि हृदय-रक्षण सम्बन्धित जो मार्ग हम भारतीय अपनाते रहे हैं, उनका त्याग करते जा रहे हैं। भारतीय आहार-विहार में परिवर्त्तन होता जा रहा है। फास्ट फुड, कोल्ड ड्रींक्स, स्लाइस आदि का प्रचलन बढ़ता जा रहा है। ओजोवर्द्धक दुग्ध के स्थान पर ओजोनाशक मद्य का प्रचलन पूर्वपान, सहपान व अनुपान के रूप में लिया जा रहा है। विरुद्धाहार व असात्म्यज आहार का दैनिक जीवन में

प्रयोग किया जा रहा है। इस वातावरण में चरकसंहिता में वर्णित हृद्य, ओजोवर्द्धक आहार-विहार का सेवन ही हृदय-रक्षण में उपादेय हो सकता है। हृदयरक्षण हेतु कहा गया है कि स्रोतोप्रसादक आहारादि का सेवन करना चाहिए। परन्तु अधुना स्रोतोप्रसादन की अवधारणा को ही तिरस्कृत कर मिथ्याहार का सेवन किया जा रहा है, परिणामतः अनेक स्रोतोरोधजन्य हृदय विकार (I. H. D., C. H. D.) समाज में व्याप्त होते जा रहे हैं। क्या M. I., I. H. D. के रोगियों को स्रोतोप्रसादक औषधियों की आवश्यकता नहीं है? यहाँ एकमात्र स्रोतोप्रसादन कर्म वाली औषधियाँ ही उपादेय हो सकती हैं। इस प्रकार हृदयरक्षा सम्बन्धित अर्थेदशवाद सिद्धान्त कितना उपादेय है, यह स्पष्ट हो जाता है।

इसके अतिरिक्त अर्थेदशवाद में जिन उत्कृष्टतम पदार्थों पर विस्तृत प्रकाश डाला गया है, उनकी उपादेयता तत्तद् स्थलों पर विस्तृत रूप से वर्णित है। यदि हृदय रोग की संभाव्यता (Incidence) २० वर्ष पूर्व तक का भी देखा जाय तो विगत २० वर्षों में हुए सामाजिक-मानसिक परिवर्तन का परिणाम समाज में हृदय रोग, रक्तचाप आदि के रूप में उपस्थित हो गया है। भारतीय जनता अहिंसा, वीर्यरक्षा, विद्या, इन्द्रियजय, तत्त्वबोध व ब्रह्मचर्य का पालन करती थी, जिसके कारण आजीवन उनका हृदय स्वस्थ व बलयुक्त रहता था। हृदय-विकारों की वृद्धि स्वयं ही इन अद्रव्यभूत चिकित्सा भावों की उपादेयता को प्रदर्शित कर रहा है। आज हिंसा, आतंक, कामुकता, विलासिता, इन्द्रियों की विषयासक्ति, शुक्रपतन आदि भाव बढ़ते जा रहे हैं। परिणामतः हृदय-रोगियों की संख्या भी बढ़ती जा रही है। आज काम, क्रोध, ईर्ष्यादि का संवेग मानव हृदय को विकृत किये जा रहा है। यदि जनसामान्य आयुर्वेदवर्णित विहित मार्ग को अपना कर उसका पालन करें तो वह न केवल हृदय रोग से बचा रहेगा, अपितु उसका हृदय बलवान् भी होगा। मनोबल में दृढ़ता आयेगी, नैतिक उत्थान होगा तथा मानव समाज का कल्याण हो सकता है।

अध्याय—१०

पञ्चनिदान सिद्धान्त

आयुर्वेद का उद्देश्य स्वस्थ व्यक्तियों के स्वास्थ्य की रक्षा एवं आतुरों के विकार की चिकित्सा करना है। इसके लिए त्रिसूत्र आयुर्वेद की स्थापना की गई है, जिसमें हेतु, लिङ्ग, सूत्र नैदानिक दृष्टि से अति महत्त्वपूर्ण हैं, क्योंकि त्रिसूत्र का तीसरा सूत्र इन्हीं दोनों पर आधारित होता है। आयुर्वेद में कहा गया है कि—'रोगमादौ परीक्षेत ततोऽनन्तरमौषधम्। ततः कर्म भिषक् पश्चाज्ज्ञानपूर्वं समाचरेत्।'—च० सू० अ० २०। अर्थात् सर्वप्रथम रोग की विधिवत् परीक्षा करनी चाहिए, तत्पश्चात् उसी आधार पर चिकित्सा व्यवस्था करनी चाहिए। रोग-विनिश्चय के दो आधार होते हैं—१. रोगी परीक्षा तथा २. रोग परीक्षा। रोगी परीक्षा हेतु त्रिविध, षड्विध, अष्टविध, दशविध आदि परीक्षाओं की विधि आयुर्वेद में यथास्थान वर्णित है। रोग-परीक्षा हेतु पञ्च-निदान सिद्धान्त की आयुर्वेद में स्थापना की गई है, जो यहाँ शीर्षक रूप में विवेच्य विषय है।

'पञ्चनिदान सिद्धान्त' वास्तव में रोग-परीक्षा विधि है। किसी भी रोग की परीक्षा या विनिश्चय करते समय परीक्ष्य विषय पाँच होते हैं। यहाँ निदान शब्द रोग-ज्ञान हेतु प्रयुक्त है, क्योंकि व्यवहार में रोगज्ञान का साधन होने के कारण यह निदान शब्द से ही सम्बोधित होता है यथा निदानपञ्चक, पञ्चनिदानादि। पञ्चनिदान के अन्तर्गत, निदान, पूर्वरूप, लिङ्ग, उपशय व सम्प्राप्ति—ये पाँच परीक्ष्य विषय आते हैं। जिनके आधार पर रोग का ज्ञान होता है—

'तत्र व्याधिरामयो गद आतङ्को यक्ष्मा ज्वरो विकारो रोग इत्यनर्थान्तरम्।
तस्योपलब्धिर्निदानपूर्वरूपलिङ्गोपशयसंप्राप्तितः॥' (च० नि० १।५-६)

'निदानं पूर्वरूपाणि रूपाण्युपशयस्तथा।
संप्राप्तिश्चेति विज्ञानं रोगाणां पञ्चधास्मृतम्॥' (मा० नि० १।४)

पंचनिदान से पूर्व रोग को पारिभाषित करना आवश्यक है, क्योंकि जिसके ये परीक्ष्य विषय हैं, उसका संक्षिप्त परिचय अपेक्षित है। उपर्युक्त गद्यांश में आचार्य चरक ने व्याधि, आमय, आतङ्क, यक्ष्मा, ज्वर, विकार—इन सबको रोग का पर्याय कहा है तथा पञ्चनिदान द्वारा इन्हीं के बारे में निश्चित ज्ञान प्राप्त किया जाता है। आचार्य चक्रपाणिदत्त ने कष्टदायक को रोग कहा है अर्थात् जिसके द्वारा कष्ट या वेदना का अनुभव किया जाता है, उसे रोग कहा जाता है—'रोगशब्देन च रुजाकर्तृत्वं'—चक्र०। अरुणदत्त ने वेदनोत्पादक अर्थ में रोग का ग्रहण करते हुए इसे दुःख

का अभिधायक कहा है—'रुजंतीति रोगा: । दु:खस्य कर्तृत्वात् दु:खस्याभिधायक: । प्राय: सभी व्याधियों में न्यूनाधिक वेदना होती है, अत: उसी अर्थ में रोग शब्द प्रयुक्त होता है । अष्टांगहृदय में दोषों की विषमता को रोग कहा गया है—'रोगस्तु दोष-वैषम्यम्' । रोग हेतु दूसरा प्रचलित शब्द व्याधि है । व्याधि की निरुक्ति में कहा गया है कि—'विविधं दु खमादधातीति व्याधि: ।' अर्थात् विभिन्न प्रकार के दु:खों का संयोग होना व्याधि कहा जाता है । अब प्रश्न उठता है कि दु:खों का संयोग किसके साथ होता है ? तो इसका उत्तर है जब विभिन्न दु:खों का सम्बन्ध मन व शरीर से होता है तब उसे व्याधि कहते हैं—'विविधमाधि दु:खं आदधाति शरीरे मनसि चेति व्याधि:' —अ० द० । यहाँ अरुणदत्त ने शरीर व मन का दु:ख से सम्बन्धित होना व्याधि माना है । सुख व दु:ख—ये दोनों मन के विषय हैं, फिर शरीर द्वारा दु:खानुभव कैसे हो सकता है । शारीरिक वेदना का अनुभव तो मन के द्वारा होता है फिर दु:ख संयोग दोनों से माना जाय या मन से ही माना जाय । शब्दस्तोममहानिधि में व्याधि को स्पष्ट करते हुए इसका सम्बन्ध मन से माना गया है तथा कहा गया है कि मन सदैव पीड़ा या दु:ख से मुक्त होना चाहता है—'आधीयते अभिनिवेश्यते प्रतीकाराय मन: अनेन इति व्याधि: ।' इसमें यह स्पष्ट कर दिया गया है कि जब मन का संयोग दु:ख से होता है, जिससे वह मुक्त होना चाहता है, उसे व्याधि कहते हैं । रोग का एक पर्याय आमय कहा गया है । चक्रपाणि ने आम के द्वारा उत्पन्न होने के कारण इसे आमय कहा है—'प्रायेण आमसमुत्थत्वेन आमय: उच्यते ।' आयुर्वेद में अधिकतर निज रोगों का कारण आम माना गया है, जो कि अग्निविकार का परिणाम है। कायचिकित्सा के अन्तर्गत प्राय: उन रोगों का समावेश किया गया है जो अग्नि-विकार से उत्पन्न होते हैं। अत: आमोत्पत्ति के कारण अधिकांश रोग के प्रादुर्भूत होने से रोग का पर्याय आमय कहा गया है । गद का व्यवहार भी रोगार्थक होता है । सामान्यतया गद का प्रयोग विष अर्थ में होता है, परन्तु कतिपय स्थानों पर व्याधि अर्थ में गद का प्रयोग किया जाता है । इसको स्पष्ट करते हुए अरुणदत्त ने कहा है कि—'गद इव गद: अनेककारणजन्यत्वात् । यथाहि गदोऽनेककारणज: तथा गदोऽपि इति गदशब्दस्यार्थ: ।' अर्थात् विष (गद) अनेक प्रकार के द्रव्यों से बना होता है अर्थात् यह निश्चित नहीं है कि एक ही द्रव्य-विशेष से विषोत्पत्ति होती है या एक ही द्रव्यविशेष विष है, विष अनेक द्रव्यों से बनता है या विषयुक्त अनेक द्रव्य हो सकते हैं, उसी प्रकार व्याधि भी बहुत कारणों वाली होती है अत: इसे गद भी कहा जाता है । गद के सम्बन्ध में यह भी कहा जा सकता है कि शरीर या मन पर जिस प्रकार का प्रभाव गद (विष) का होता है, उसी प्रकार का प्रभाव शरीर व मन पर कतिपय रोगों से होता है, अत: इसे गद कहा जाता है अथवा जिस प्रकार गद (विष) से शरीर व मन विषादित होता है, उसी प्रकार कतिपय रोगों में शरीर

व मन विषादित होता है, अतः इसे गद कहते हैं। रोग का पर्याय 'आतंक' भी माना गया है। आतंक शब्द 'तकि कृच्छ्रजीवने' से बनता है। अर्थात् जब जीवन कष्टमय हो जाता है, तब उसे आतंक कहते हैं। रुग्णावस्था में जीवन कष्टप्रद हो जाता है, अतः रोग को आतंक कहा जाता है। कतिपय असाध्य या याप्य रोग जीवनपर्यन्त कष्ट देने वाले होते हैं। इस अवस्था में जीवनपर्यन्त रोग या कष्ट से बचने के लिए प्रयत्न किया जाता है, अतः इसे आतंक कहा जाता है—'आतंक इति 'तकि कृच्छ्रजीवने' इत्यस्य धातोराङ्पूर्वस्य रूपम्। रोगोरूपतत्वाद्धि: निवृत्ता: कृच्छ्रेण जीवन्ति।'—अरुणदत्त। यक्ष्मा भी रोग का पर्याय है। आयुर्वेद में यक्ष्मा कहने से प्रायः राजयक्ष्मा का बोध होता है परन्तु कतिपय स्थितियों में यक्ष्मा रोग के पर्यायरूप में व्यवहृत होता है। राजयक्ष्मा आयुर्वेद के अनुसार कोई रोग-विशेष नहीं है बल्कि यह एक अवस्था-विशेष है, जिसमें अनेक रोग-लक्षण सामूहिक रूप में प्रकट होते हैं। दूसरे शब्दों में यह भी कहा जा सकता है कि जब रोग सामूहिक रूप में अन्य रोगों के साथ उत्पन्न होता है तो उसे यक्ष्मा कहा जाता है। अनेक सामान्यज व्याधियों में अनेक रोग सामूहिक रूप में भी प्रकट होते हैं—जैसे—ज्वर, अतिसार, अजीर्ण आदि। इसीलिए यक्ष्मा को रोग का पर्याय माना गया है। अरुणदत्त ने इसको निम्नरूप में स्पष्ट किया है—'यक्ष्मेव यक्ष्मा यथा 'यक्ष्मा रोगसमूहानां' इत्युक्तम्। एवं सर्वेऽपि रोगा: रोगसमूह इत्यनेन द्योतयति। तथा च सर्वे विकारा: उत्पद्यमानोऽनेकैर्व्याधिलक्षण-भूतैश्च युक्तः उत्पद्यंते। यथा ज्वरस्यालस्यारोचकादय:।' व्याधि अवस्था में शरीर व मन को संतप्त करने के कारण इसे ज्वर भी कहते हैं। इसके अतिरिक्त सभी रोगों में ज्वर को प्रधान कहा गया है—'ज्वरः प्रधानो रोगाणामुक्तः। प्राधान्यं चास्य दुरुपक्रम-त्वात् अतिदु:सहत्वाच्च। अतएव सर्वकायमनःसंतापकत्वं ज्वरस्याहु:।'—अरुणदत्त। चक्रपाणिदत्त ने मन, शरीर में होने वाले संताप के कारण ही ज्वर को व्याधि के पर्यायरूप में स्वीकार किया है—ज्वरशब्देन च देहमनःसंतापकरत्वं।' व्याधि का एक पर्याय विकार माना गया है। मन, शरीर, इन्द्रियादि की क्रियायें स्वाभाविक रूप से न होकर अस्वाभाविक रूप से होती हैं, अतः इसे विकार कहा जाता है—'विकारो बुद्धीन्द्रियमनःशरीराणां विकृतिं अन्यथात्वं जनयतीत्यर्थः।'—अरुणदत्त। चक्र० ने भी इसका अर्थ यही लगाया है—'विकारशब्देन च शरीरमनसोरन्यथाकारणत्वं व्याधेर्दर्शयति।'—चक्र०। चरकसंहिता में 'विकारो दुःखमेव च' कहा गया है। यहाँ विकार रोग-पर्याय के रूप में व्यवहृत है तथा दुःख अर्थ में व्यवहृत है। दुःख-संयोग को ही व्याधि कहते हैं, जिसे यहाँ विकार कहा गया है। इसके अतिरिक्त अन्य कारणों द्वारा (वातादि दोष, मिथ्याहारादि) से उत्पन्न होने के कारण भी इसे विकार कहा जा सकता है, क्योंकि स्वाभाविक क्रिया में बिना कारण परिवर्तन नहीं होता है। जब कारण का सेवन किया जाता है तो कार्य रूप से स्वाभाविक क्रिया

(सामान्य क्रिया Normal functions) अस्वाभाविक रूप में (Abnormal) हो जाती है। किसी के द्वारा उत्पन्न होने वाले भाव को भी विकार कहा जाता है, तदनुसार भी विकार को व्याधि का पर्याय माना जा सकता है। आचार्य वाग्भट ने इन पर्यायों के अतिरिक्त पाप्मा, दुःख एवं आबाधा तीन अन्य भी रोग के पर्याय माने गये हैं–'रोगा: पाप्मा ज्वरो व्याधिर्विकारो दुःखमामयः। यक्ष्मातंकगदाबाधा: शब्दा: पर्यायवाचिन:।'–अ० हृ० नि० १।१। आयुर्वेद में कुष्ठादि व्याधियों को पाप-कर्मजन्य माना गया है, अत: व्याधि को पाप्मा भी कहा जाता है—'पाप्मेति किल सर्वे रोगाः पापस्य कर्मण: फलमिति पाप्मेत्युच्यते।'–अ० दत्त। वाग्भट ने रोग का एक पर्याय 'आबाधा' को भी स्वीकार किया हैं। इसको स्पष्ट करते हुए अरुणदत्त ने कहा है कि—'आबधा इति आसमन्तात् कायमनसोर्बाधनं पीडेत्यर्थः।'—अ० दत्त। अर्थात् रोग व्याधित के शरीर व मन में कई प्रकार से घात पहुँचाते हैं, अत: इसे आबाधा कहा जाता है।

इस प्रकार विभिन्न प्रकार के दुःख-संयोग को या कष्ट, दुःख का अनुभव होना व्याधि कहा गया है। इस व्याधि या रोग को जानने के पाँच उपाय हैं, जिन्हें पञ्चनिदान कहा जाता है। ये पञ्चनिदान व्यस्त या समस्त रूप से व्याधि का ज्ञान कराते हैं अर्थात् इन पाँचों (हेतु, पूर्वरूप, रूप, उपशय, सम्प्राप्ति) में से किसी एक के द्वारा भी व्याधि का ज्ञान होता है अर्थात् इनके द्वारा पृथक्-पृथक् रूप से व्याधि का ज्ञान होता है या पाँचों एक साथ मिलकर भी व्याधि का ज्ञान कराते हैं। आवश्यकतानुसार इनमें से एक, दो, तीन या पाँचों के द्वारा व्याधि का ज्ञान होता है। त्रिसूत्र आयुर्वेद में भी प्रथमतः हेतु सूत्र का ही उल्लेख किया गया है, क्योंकि बिना कारण कार्योत्पत्ति नहीं होती है। वास्तव में निदान शब्द हेतु के लिए ही व्यवहृत होता है, वास्तव में इन पाँचों विधियों द्वारा ज्ञातव्य विषय हेतु ही होता है, अतः इन पाँचों को निदानपञ्चक कहकर निदान के महत्त्व को दर्शाया गया है। अब इन पाँचों को पृथक्-पृथक् रूप से समझने का प्रयत्न किया जायेगा।

१. निदान (हेतु)—'इह खलु हेतुर्निमित्तमायतनकर्त्ता कारणं प्रत्ययः समुत्थानं निदानमित्यनर्थान्तरम्।'—च० नि० १।३। 'निमित्तहेत्वायतनप्रत्ययोत्थानकारणैः। निदानमाहुः पर्यायैः।'—वा० नि० १।

अर्थात्—हेतु, निमित्त, आयतन, कर्त्ता, कारण, प्रत्यय, समुत्थान, निदान के पर्याय हैं। रोगोत्पादक कारण को निदान कहा जाता है—'तत्र निदानं कारणमित्युक्तमग्रे।'—च० नि० १।७। 'सेतिकर्तव्यताकः रोगोत्पादकहेतुर्निदानम्'—अर्थात् अनेक कार्यों को करते हुए रोगोत्पादक कारण को निदान कहा जाता है। यहाँ अनेक कार्यों का तात्पर्य यह है कि रोगोत्पादक कारण रोगोत्पत्ति अनेक प्रकार की क्रियाओं द्वारा करता है। दोषों के दूष्यों से संयुक्त हो जाने से अनेक क्रियायें जब होती हैं तो रोगोत्पत्ति होती है। जैसे—जब विभिन्न प्रकार के मिथ्या आहार-विहार दोष को प्रकुपित

करते हैं, पुनः दोष धातुओं को दूषित करते हैं, इस प्रकार रोगोत्पत्ति के कारण को निदान कहा जाता है।

हेतु का तात्पर्य कर्त्ता के प्रयोजक से है—'हेतोः प्रयोजके कर्तरि' (मधुकोष)। आयतन स्थान को कहा जाता है। यहाँ आयतन स्थान अर्थ में प्रयुक्त होता है—'आयतनस्य स्थाने।' जैसे चरक, सुश्रुत आदि आचार्यों ने प्राण के विशेष स्थानों हेतु 'प्राणायतन' शब्द का व्यवहार किया है तथा रोगों के कारणों के लिए भी चरक में आयतन शब्द व्यवहृत है। यथा—'त्रीण्यायतनानीति–अर्थानां कर्मणः··· ।'–च० सू० ११। कर्त्ता शब्द का प्रयोग, क्रिया की स्वतंत्रता अर्थ में प्रयुक्त होता है। आयुर्वेद में आत्मा को कर्त्ता कहा गया है, क्योंकि यह स्वतंत्र है। वास्तव में आत्मा तो क्रियाहीन है परन्तु वह मन को चेतना प्रदान करता है, परिणामतः इसमें क्रिया होती है। जिस प्रकार शरीरगत सभी क्रियायों के कारण आत्मा को कर्त्ता कहा जाता है, उसी प्रकार अनेक रोगोत्पादक कारणों को कर्त्ता के पर्याय रूप में ग्रहण किया गया है। कारण शब्द का प्रयोग कार्य, नियतपूर्ववृत्ति शरीर में या पूर्ववृत्ति अर्थ में प्रयुक्त है। किसी कार्य के उत्पादक भाव को कारण कहा जाता है। कारण से ही कार्य की उत्पत्ति होती है। बिना कारण किसी भी कार्य की उत्पत्ति नहीं होती। रोगरूपी कार्य की उत्पत्ति में भी कतिपय उत्पादक भाव होते हैं। उन उत्पादक भावों को उनके द्वारा कार्योत्पत्ति होने से उसे कारण कहा जाता है। अतः यहाँ निदान के पर्याय रूप में कारण उल्लिखित है। प्रत्यय शब्द का प्रयोग लट्, तिप् आदि विषय में और विश्वास अर्थ में होता है—'प्रत्ययस्य लडादौ' (मधु०)। आचार्य चक्रपाणिदत्त ने प्रत्यय का अर्थ निमितकारण लगाया है, क्योंकि च० सू० १।६४ में रसों के सन्दर्भ में 'प्रत्यय' शब्द का व्यवहार कारण रूप में ही किया गया है—'निवृत्तौ च विशेषे च प्रत्ययाः खादयस्त्रयः।' यहाँ प्रत्यय को स्पष्ट करते हुए आचार्य चक्रपाणिदत्त ने कहा है—'प्रत्ययाः निमित्तकारणं।' समुत्थान शब्द का प्रयोग—'उत्थानस्य उद्गमनोत्सर्गयोश्च दर्शनात्' अर्थ में प्रयुक्त है। अर्थात् उत्थान का अर्थ उद्गमन और उत्सर्ग होता है।

इस प्रकार निदान से रोगोत्पादक हेतु या कारण का बोध होता है। हेतु के अनेक विधि से कई प्रकारों का आयुर्वेद में वर्णन किया गया है तथा पञ्चनिदान का विस्तृत वर्णन उपलब्ध है। चरकसंहिता में रोग के तीन आयतन कहे गये हैं। 'तत्र त्रिविधम्—असात्म्येन्द्रियार्थसंयोगः प्रज्ञापराधः परिणामश्चेति।' अर्थात् रोगों के कारण तीन प्रकार के हैं—असात्म्येन्द्रियार्थसंयोग, प्रज्ञापराध और परिणाम।

(१) **असात्म्येन्द्रियार्थसंयोग**—हेतु-वर्ग का प्रथम कारण असात्म्येन्द्रियार्थसंयोग कहा गया है। असात्म्येन्द्रियार्थसंयोग का यदि विच्छेद किया जाता है तो असात्म्य + इन्द्रिय + अर्थ + संयोग होता है, अर्थात् इन्द्रियों का अपने अर्थ (विषय) से असात्म्य संयोग होना। सात्म्य का अर्थ यह है कि—जो निरन्तर सेवन करने पर प्रकृति के अनुकूल

हो जाय—'सात्म्यतश्चेति सात्म्यं नाम तद्यत् सातत्येनोपसेव्यमानमुपशेते।'—च० वि० ८। असात्म्य इसके विपरीत होता है अर्थात् जिसके निरन्तर सेवन से शरीर व मन पर प्रतिकूल प्रभाव पड़े, उसे असात्म्य कहा जाता है। यहाँ प्रकृति के अनुकूल का तात्पर्य यह है कि अभ्यास द्वारा सुख की प्राप्ति हो। शरीर, मन पर किसी प्रकार का हानिकर प्रभाव न हो; कारण कि उपर्युक्त गद्यांश में 'उपशेते' कहा गया है तथा असात्म्य अनुपशयकारी यानि शरीर व मन पर हानिकर प्रभाव वाला होता है। इस प्रकार यहाँ असात्म्येन्द्रियार्थसंयोग का तात्पर्य यह हुआ कि--जब इन्द्रियों के द्वारा विषयों का सेवन इस प्रकार से किया जाता है कि शरीर व मन पर प्रकृति के (सामान्य रचना व क्रिया के) प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है तो उसे असात्म्येन्द्रियार्थ संयोग कहते हैं। आयुर्वेद में असात्मेन्द्रियार्थ संयोग भी तीन प्रकार का कहा गया है–'अर्थानां कर्मणः कालस्य चातियोगायोगमिथ्या योगाः।'–च० सू० ११।३७। 'कालबुद्धीन्द्रियार्थानां योगो मिथ्या न चाति च। द्वयाश्रयाणां व्याधीनां त्रिविधो हेतुसंग्रहः।'–च० सू० १।५४। इस प्रकार त्रिविध हेतुओं (अर्थानां-असात्म्येन्द्रियार्थ संयोग, काल आदि) के तीन आयतन होते हैं--१. अतियोग--अर्थात् इन्द्रियों द्वारा विषयों का अतिसेवन, २. हीनयोग--इन्द्रियों का विषयों से कम संयोग या संयोग न होना। इसे अयोग भी कहा गया है। ३. मिथ्यायोग अर्थात् असम्यक् संयोग।

१. इन्द्रियार्थों का अतियोग—'तत्रातिप्रभावतां दृश्यानामतिमात्रं दर्शनमतियोगः' अर्थात् नेत्र से अधिक चमकने वाली वस्तुओं को अधिक देर तक लगातार देखना, जैसे--सूर्य, अग्नि आदि को देखना अतियोग है। अधुना विद्युत् बल्ब आदि अत्यधिक प्रकाशमान वस्तुओं, टी० वी० आदि को लगातार अधिक देर तक देखना। 'तथाऽतिमात्रस्तनितपटहोत्क्रुष्टादीनां शब्दानामतिमात्रं श्रवणमतियोगः'—अर्थात् अत्यन्त ऊँचे शब्द, मेघों की गर्जना, नगाड़े का शब्द तथा जोर से रोने की ध्वनि सुनना--ये सब कर्णेन्द्रिय का अतियोग है। इस समय शब्दातियोग के अनेक उदाहरण दैनिक जीवन में उपलब्ध हैं जो समाज में अभिशाप-से बने हुए हैं। ध्वनि-प्रदूषण (Sound pollution) इस समय गम्भीर समस्या के रूप में वर्त्तमान है। बड़े-बड़े उद्योग संस्थाओं की घड़घड़ाहट, लाउड स्पीकरों का शोर, पाप संगीत लगातार सुनना, वाहनों का शोर इत्यादि कर्णेन्द्रिय के अतियोग हैं। इसी प्रकार नासिका के साथ अति तीक्ष्ण, अति उग्र एवं अभिष्यन्दि (रुकावट डालने वाले) गन्धों का लगातार संयोग होना घ्राणेन्द्रिय का अतियोग है—'तथाऽतितीक्ष्णोग्राभिष्यन्दीनां गन्धानामतिमात्रं घ्राणमतियोगः।'—च० सू० ११। अधुना बहुत ऐसे उद्योग-धन्धे हैं, जिनके कारखानों में विभिन्न रासायनिक पदार्थों से लगातार तीक्ष्ण, उग्र व अभिष्यन्दि गन्ध निकलते हैं। उनमें कार्यरत मनुष्य लगातार उसके सम्पर्क में रहते हैं, उनके लिए यह घ्राणेन्द्रिय का अतियोग है। तीक्ष्णगंध से तात्पर्य उन गन्धों से है, जिनके संयोग

से घ्राणेन्द्रिय (नासिका) पर क्षोभक प्रभाव पड़े, तथा क्षवथु आदि की उत्पत्ति हो जाय। अभिष्यन्दि गंध का यहाँ तात्पर्य उस गन्ध से है जिसके संयोग से नासामार्ग में अवरोध की अनुभूति हो तथा श्वास क्रिया में कठिनाई का अनुभव हो। इस तरह के वातावरण में रहना अतियोग है। नासिका द्वारा गन्ध के साथ-साथ जीवन के लिए आवश्यक वायु का ग्रहण किया जाता है। प्रदूषित वायु का घ्राणेन्द्रिय से लगातार संयोग भी अतियोग के अन्तर्गत ही आता है। अधुना घने शहरों में वाहनों द्वारा, कल-कारखानों द्वारा किया जाने वाला वायु-प्रदूषण तथा उसके द्वारा होने वाले हानिकर परिणाम घ्राणेन्द्रिय अतियोग के उदाहरण हैं। इसी प्रकार 'रसानामत्यादानमतियोगः'—जिह्वा द्वारा किसी रसविशेष का अत्यधिक सेवन करना रसनेन्द्रिय का अतियोग है। 'तथाऽतिशीतोष्णानां स्पृश्यानां स्नानाभ्यङ्गोत्सादनादीनां चात्युपसेवनमतियोगः'—अर्थात् त्वचा के साथ अत्यधिक शीतल या अति उष्ण स्पर्श का संयोग या शीत या उष्ण द्रव्यों का त्वचा में अभ्यङ्ग या उबटन के रूप में अत्यधिक प्रयोग करना त्वचा का अपने विषयों से अतियोग है। अधुना त्वचा पर लगातार अधिक मात्रा में विभिन्न रासायनिक द्रव्यों द्वारा निर्मित शुभङ्करकारक द्रव्यों का प्रयोग करना स्पर्शनेन्द्रिय का अतियोग है। इस प्रकार इन्द्रियों के विषयों के साथ अतियोग के अनेकों उदाहरण दैनिक जीवन में देखे जाते हैं।

२. **इन्द्रियार्थों का अयोग**—इन्द्रियार्थों के अयोग का अर्थ है कि इन्द्रियों का अपने विषयों के साथ संयोग नहीं होना या अल्प संयोग होना। यथा—नेत्र का 'सर्वशोऽदर्शनमयोगः'—अर्थात् नेत्र से रूप-दर्शन न करना अयोग है या अल्पदर्शन करना हीनयोग है। इसी प्रकार कर्णेन्द्रिय से शब्द न सुनना या अत्यन्त धीमे स्वरों का सुनना अयोग है—'सर्वशोऽश्रवणमयोगः।' इसी प्रकार त्वचा, घ्राण, रसनादि इन्द्रियों का अपने विषयों के साथ संयोग नहीं होना या अल्प संयोग होना अयोग या हीनयोग है।

३. **इन्द्रियार्थों का मिथ्यायोग**—जब इन्द्रियों का विषयों के साथ अविहित रूप से संयोग होता है, तो उसे मिथ्यायोग कहा जाता है। यथा—'अतिश्लिष्टातिविप्रकृष्टरौद्रभैरवाद्भुतद्विष्टबीभत्सविकृतवित्रासनादिरूपदर्शनं मिथ्यायोगः।'—च० सू० ११। अर्थात् नेत्र से वस्तु का अत्यन्त समीप रहना या अधिक दूर होना, रौद्र (कठोर) भैरव (डरावना), अद्भुत, द्विष्ट, वीभत्स, विकृत, वित्रासन आदि रूपों का देखना—ये सब नेत्र का विषयों से मिथ्यायोग है। यहाँ आचार्य ने स्पष्ट कर दिया है कि नेत्र से वस्तु की दूरी एक निश्चित बिन्दु पर होनी चाहिए, जिससे नेत्र का संयोग सुखपूर्वक हो अन्यथा अतिसमीपस्थ या दूरस्थ वस्तु के रूप-ग्रहण में नेत्र द्वारा अतिरिक्त प्रयास करना पड़ता है। इनके अतिरिक्त रौद्र यानि किसी क्रोधित स्वरूप, भैरव अर्थात् भयानक स्वरूप का दर्शन करना या आश्चर्यजनक वस्तुओं का दर्शन करना या विचित्र वस्तुओं का दर्शन करना या वित्रासन अर्थात् ऐसे दृश्यों को देखना जिसके देखने के

साथ ही अचानक अतिशय व्याप्त हो जाय—ये सब नेत्र के मिथ्यायोग हैं। इन मिथ्यायोगों के उदाहरणों से यह आवश्यक नहीं है कि नेत्रगत ही विकार उत्पन्न हों, बल्कि मिथ्यादि योग सभी सामान्य रोगों के कारण माने गये हैं। इन दृश्यों को देखने से मन सहित सम्पूर्ण शरीर पर हानिकर प्रभाव पड़ता है। चरकसंहिता में इन्द्रियार्थ संयोग के प्रकरण में चक्षु का उल्लेख सर्वप्रथम किया गया है; क्योंकि चक्षु द्वारा गृहीत रूप का प्रभाव इस शरीर पर शीघ्र होता है। भयानक या वित्रासक दृश्यों से या रौद्र दृश्यों से चक्षु पर हानिकर प्रभाव भले न पड़े, परन्तु मन पर उसका गहरा प्रभाव पड़ता है। यदि बालक को वीभत्स दृश्य या वित्रासक दृश्य दिखाया जाता है तो उसका प्रभाव उसके शारीरिक विकास पर भी पड़ता है। अतः आचार्य ने विभिन्न उदाहरणों द्वारा नेत्र के मिथ्यायोग को स्पष्ट कर दिया है। इसी प्रकार 'परुषेष्टविनाशोपघातप्रघर्षणभीषणादिशब्दश्रवणं मिथ्यायोगः'—अर्थात् कठोर, प्रियजन या प्रियजन के विनाशसूचक शब्द, प्रघर्षण (किसी के द्वारा किये जाने वाले तिरस्कार हेतु प्रयुक्त शब्द), भीषण एवं भयंकर शब्दों को सुनना कर्ण का विषयों के साथ मिथ्यायोग है। इसका तात्पर्य यह है कि कर्ण द्वारा ग्राह्य विषय शब्द है। विभिन्न प्रकार के असात्म्य शब्द शरीर पर हानिकर प्रभाव डालते हैं या कतिपय मन को विकृत करते हैं। भीषणादि शब्द जैसे बमविस्फोट आदि मन एवं शरीर के साथ इन्द्रियाधिष्ठान पर भी हानिकर प्रभाव डालते हैं; अतः कठोर शब्द सुनना या प्रियजन वियोग की सूचना या किसी से तिरस्कृत होना आदि का ग्रहण कर्णेन्द्रिय द्वारा ही होता है चाहे इसकी प्रतिक्रिया शारीरिक, मानसिक या आङ्गिक रूप से ही क्यों न हो; अतः इन्हें कर्णेन्द्रिय का मिथ्ययोग कहा गया है तथा—पूतिद्विष्टामेध्यक्लिन्नविषपवनकुणपगन्धादिघ्राणमिथ्यायोगः'—अर्थात् दुर्गंध, सड़ी-गली वस्तुओं का गन्ध, प्रतिकूल गन्ध, अपवित्र गन्ध, क्लिन्न गन्ध, विषाक्त वायु का गन्ध, कुणप गन्ध आदि विषयों का घ्राणेन्द्रिय से संयोग होना मिथ्यायोग है। विभिन्न विकृत गन्धों एवं प्रदूषित वायुजन्य गन्ध का घ्राणेन्द्रिय से संयोग होना मिथ्यायोग है। आठ आहारायतनों में से राशि के अतिरिक्त शेष सात प्रकृति, करण, संयोग, देश, काल, उपयोग संस्था, उपयोक्ता आदि नियमों के विपरीत रसों का सेवन करना आदि विषयों का रसना के साथ संयोग मिथ्यायोग है—'मिथ्यायोगो राशिवर्ज्येष्वाहारविधिविशेषायतनेषूपदेश्यते।'—च० सू० ११। तात्पर्य यह है कि द्रव्य व व्यक्तिविशेष की प्रकृति के अनुसार आहार का सेवन न करना, उचित रूप से बिना संस्कार के या दो संयोग-विरुद्ध द्रव्यों का सेवन करना जैसे मधुर व लवण रस का मिलाकर सेवन करना, काल, नियम आदि के विपरीत आहार का सेवन करना मिथ्यायोग है। आधुनिक काल में अनेक मिथ्यायोग के उदाहरण मिलते हैं। इसी प्रकार 'स्नानादीनां शीतोष्णादीनां च स्पृश्यानामननुपूर्व्योपसेवनं विषमस्थानाभिघाताशुचिभूतसंस्पर्शादयश्चेति स्पर्शनमिथ्यायोगः।'—च०

सू० ११। अर्थात् शीत या उष्ण स्पर्श वाले स्नान का बिना क्रम सेवन, अभ्यंग या उत्सादन का सेवन करना, विषमस्थान (उबड़-खाबड़, खुरदुरे वस्तु आदि) का त्वचा से स्पर्श होना, त्वचा पर आघात होना, अपवित्र वस्तुओं का त्वचा द्वारा स्पर्श होना, भूत-प्रेतादि का स्पर्श होना--ये सब त्वचा का विषयों के साथ मिथ्यायोग है। इस प्रकार असात्म्येन्द्रियार्थ संयोग के लक्षणों को उदाहरण सहित शीघ्रबोध हेतु तालिकाबद्ध रूप में प्रस्तुत किया जा रहा है--

इन्द्रिय	विषय	अतियोग	अयोग	मिथ्यायोग
१. चक्षु	रूप	प्रभायुक्त दृश्यों सूर्य अग्नि को अधिक देखना।	रूप दर्शन का अभाव	समीपस्थ या दूरस्थ वस्तु का दर्शन, रौद्र, भैरव, अद्भुत, द्विष्ट, बीभत्स, विकृत वित्रासक दृश्य देखना
२. कर्ण	शब्द	अति उच्चस्वर, मेघ गर्जना, नगाड़े व रोने का स्वर।	शब्द का ग्रहण न करना	कठोर, विनाश-सूचना, या दु:खद समाचार, प्रघर्षण, भीषण व भयंकर शब्द सुनना
३. घ्राण	गन्ध	अतितीक्ष्ण, उग्र या अभिष्यन्दि गन्ध का ग्रहण।	गन्ध का घ्राण से संयोग का अभाव या हीन संयोग	दुर्गन्धित, सड़ी गली वस्तु का गंध, क्लिन्नगंध प्रतिकूल अपवित्र गंध, कुणप गंधादि का सेवन करना
४. रसना	रस	रसविशेष का अति रूप में सेवन करना।	जिह्वा का रस से संयोग न होना या हीन रूप से होना	अष्ट आहारायतनों में से राशि को छोड़कर शेष सातों के विपरीत रूप से रस-सेवन करना।
५. त्वचा	स्पर्श	अतिशीत या अतिउष्ण का स्पर्श या शीत उष्ण जल से देर तक स्नान शीत उष्ण द्रव्य से अतिशय रूप में उत्सादनादि प्रयोग	त्वचा द्वारा स्पर्शाभाव या हीन रूप में संयोग होना	शीत या उष्ण द्रव्यों से स्नान उबटन अभ्यंगादि का प्रयोग अनुचित रूप में करना। विषमस्थान का स्पर्श, त्वचाघात, अपवित्र वस्तु एवं भूतादि का स्पर्श।

२. **प्रज्ञापराध**--हेतु का दूसरा प्रकार या भेद प्रज्ञापराध को माना गया है। प्रज्ञापराध का तात्पर्य 'प्रज्ञा द्वारा किये गये अपराध या प्रज्ञा के अपराध' से है। प्रज्ञा बुद्धि को कहा जाता है, इस प्रकार रोगों का दूसरा कारण प्रज्ञापराध को माना गया है। प्रज्ञापराध को पारिभाषित करते हुए कहा गया है--

धीधृतिस्मृतिविभ्रष्टः कर्म यत्कुरुतेऽशुभम् ।
प्रज्ञापराधं तं विद्यात्सर्वदोषप्रकोपणम् ।। (च० शा० अ० १)

अर्थात् जब मनुष्य की धी (बुद्धि), धृति व स्मृति भ्रष्ट हो जाती है, तो मनुष्य अशुभ फलदायक कर्मों को करता है, जिसके परिणामस्वरूप सभी दोष अर्थात् शारीरिक दोष—वात, पित्त, कफ एवं मानसिक दोष—रज व तम प्रकुपित हो जाते हैं। इस प्रकार धी, धृति आदि की भ्रंशता के कारण जब मनुष्य अशुभ फलदायक कर्म करता है तो उसे प्रज्ञापराध कहा जाता है। प्रज्ञापराध पर विस्तृत विवेचन 'प्रज्ञापराधवाद' नामक स्वतंत्र अध्याय में किया गया है, अतः पाठकगणों से अनुरोध है कि विस्तृत जानकारी हेतु उन्हें उस स्थान का अवलोकन करना चाहिए।

यहाँ प्रज्ञापराध की परिभाषा के द्वितीय पाद 'कर्म यत्कुरुतेऽशुभम्' पर प्रकाश डाला जा रहा है। प्रज्ञापराध में अशुभ कर्मों में प्रवृत्ति ही महत्त्वपूर्ण है; अतः चरकसंहिता सू० अ० ११ में प्रज्ञापराध के द्वारा अशुभ कर्मों का विस्तृत वर्णन किया गया है। अशुभ कर्मों के भी तीन प्रकार माने गये हैं। ये शारीरिक, मानसिक व वाचिक रूप से तीन प्रकार के होते हैं—'कर्म वाङ्मनःशरीरप्रवृत्तिः।' इन तीनों के पुनः अतियोग, अयोग व मिथ्यायोग भेद से तीन प्रकार के संयोग होते हैं। जब मन, वचन व शरीर की क्रियाशीलता अतिशय रूप से होती है तो उसे अतियोग कहा जाता है—'तत्र वाङ्मनशरीरातिप्रवृत्तिरतियोगः'। जैसे—दौड़ना शारीरिक कर्म है। यदि लगातार अधिक समय तक दौड़ा जाय तो अतियोग है या लम्बी दूरी लगातार पैदल चल कर तय करने पर शारीरिक कर्म का अतियोग होता है। दिन-रात शारीरिक श्रम किया जाय या कल-कारखानों में शारीरिक श्रमिकों द्वारा अतिरिक्त समय (Over time) में कार्य करना शारीरिक कर्म का अतियोग है। इसी प्रकार मन द्वारा अत्यधिक चिन्तनादि करना मानसिक कर्म का अतियोग है। अधिक काल तक या अत्यधिक काल तक भाषण देना, वेदादि का लगातार पाठ करना, तेज स्वरों में लगातार बोलना (जैसे प्रचारक, मतदान के समय नेतागण) या लगातार गीत आदि गाना ये सभी वाचिक कर्म के अतियोग हैं। 'सर्वशोऽप्रवृत्तिरयोगः'—अर्थात् शारीरिक, वाचिक या मानसिक रूप से क्रिया में प्रवृत्त नहीं होना अयोग कहा जाता है। जैसे—कोई व्यक्ति विस्तर पर लेटा ही रहे, अति अल्प चेष्टा द्वारा ही अपना दैनिक स्नानादि कर्म कर पुनः लेट जाय; यानि शारीरिक क्रियायों में उसकी प्रवृत्ति न हो, यह अयोग है। इसी तरह मन द्वारा कदापि चिन्तनादि कर्म न करना अयोग है। अल्प वचन बोलना या मौन धारण करना ये वचन के अयोग हैं। कर्म के अयोग से उत्पन्न व्याधि स्थौल्य रोग में, कर्म अयोग का परिणाम सुन्दर ढंग से प्रस्तुत किया गया है। कर्मों के अयोग से स्थौल्य होता है—'अचिन्तनाच्च कार्याणां ध्रुवं संतर्पणेन च। स्वप्नप्रसङ्गाच्च नरो वराह इव पुष्यति।'—च० सू० २१। ३४।

इसमें अचिन्तन मन का व स्वप्न-प्रसङ्ग शारीरिक कर्म का अयोग है। अतः स्थूलता की चिकित्सा में व्यवाय (मैथुन) शारीरिक कर्म, व्यायाम शारीरिक कर्म, चिन्तनादि मानसिक कर्म में प्रवृत्त होने के लिए कहा गया है–'प्रजागरं व्यवायं च व्यायामं चिन्तनानि च। स्थौल्यमिच्छन्'''।'—च० सू० २१।२८। कर्म के मिथ्यायोग के सम्बन्ध में कहा गया है कि—'वेगधारणोदीरणविषमस्खलनगमनपतनाङ्गप्रणिधानाङ्गप्रदूषणप्रहारमर्दनप्राणोपरोधसंक्लेशनादि शारीरो मिथ्यायोग:'—अर्थात् आये हुए शारीरिक वेगों का (मल-मूत्रादि अधारणीय वेगों का) धारण करना, उदीरण अर्थात् बलपूर्वक मल का निष्कासन करना अर्थात् मलादि के निष्क्रमण हेतु कुंथनादि कर या प्रवाहणादि द्वारा मल-त्याग करना, विषमरूप से गिरना (यहाँ विषम-स्खलन या पतन का तात्पर्य है—टेढ़े-मेढ़े रूप से या शिर के बल या पार्श्वादि के बल गिरना।) विषम रूप से चलना या विषम स्थिति में रहना, दूषित पदार्थ के स्पर्श करने के बाद अपने अङ्ग-विशेष को स्पर्श कर दूषित करना, विकृत मनुष्यों का नकल करते हुए अपने अङ्गों को दूषित करना अर्थात् किसी विकृताङ्ग वाले व्यक्ति का नकल कर उसी प्रकार की शारीरिक चेष्टा में रत रहना। जैसे—किसी लंगड़े व्यक्ति को देखकर अपने पैरों को भी मोड़कर या बैठ कर घिसट कर चलना, या कूबड़े व्यक्ति का नकल करते हुए आगे झुककर पृष्ठ को उभाड़ कर चलना आदि। शरीर पर आघात होना, अङ्गों को मरोड़ना, प्राण रोकना अर्थात् श्वासादि को रोकना, प्राण के लिए हानिकारक क्लेशजन्य कर्म करना अर्थात् ऐसे कर्म करना, जिससे शरीर में कष्ट का अनुभव हो, अतिधूप सेवन या धूप में बहुत देर तक कार्य करना, अतिशय मदिरा-पान करना, लगातार बहुत देर तक जलादि में स्नान करना या जल-क्रीड़ादि करना, ये सब शारीरिक कर्म के मिथ्या योग हैं। यहाँ शारीरिक मिथ्यायोग में वेगविधारण व उदीरण का प्रथमतः उल्लेख किया गया है। इस मिथ्यायोग का सीधा प्रभाव शरीर पर पड़ता है। इसी प्रकार वागिन्द्रिय-जन्य कर्मों के मिथ्यायोग के सम्बन्ध में कहा गया है कि—'सूचकानृताकालकलहाप्रियाबद्धानुपचारपरुषवचनादिर्वाङ्मिथ्यायोग:'—अर्थात् सूचक यानि चुगली करना या किसी दूसरे की अन्य व्यक्ति से शिकायत करना, झूठ बोलना, बिना समय के यानि बिना उचित अवसर के बोलना; अप्रिय बोलना, असम्बद्ध बोलना, प्रतिकूल बोलना, कठोर वचन बोलना, झगड़ा करना आदि वाचिक कर्म के मिथ्यायोग हैं। मानसिक कर्मों के मिथ्यायोग का उल्लेख निम्न रूप में किया गया है—'भयशोकक्रोधलोभमोहमानेर्ष्यामिथ्यादर्शनादिमनसो मिथ्यायोग:।'—च० सू० ११।३९। अर्थात् भययुक्त होना, शोक करना क्रोध करना, लोभ होना, मोह, अभिमान करना, ईर्ष्या करना आदि मानसिक कर्म के मिथ्यायोग हैं। इसके अतिरिक्त मिथ्यादर्शनादि कहकर मिथ्यादर्शन को मिथ्यायोग माना गया है। यहाँ मिथ्यादर्शन का तात्पर्य है कि जो जिस रूप में है, उसको

गलत रूप में देखना या उसके प्रति गलत धारण बना लेना। जैसे—जो व्यक्ति आदर देने योग्य हैं, उनका अनादर करना और अवांछनीय व्यक्तियों को आदर रूप से देखना मानसिक मिथ्यायोग हैं। इसके अतिरिक्त—'संग्रहेण चातियोगायोगवर्जं कर्मं वाङ्मनःशरीरजमहितमनुपदिष्टं तच्च मिथ्यायोगं विद्यात्।'—च० सू० ११।४०। अर्थात् अतियोग व अयोग को छोड़कर मन, वचन, कर्म से जितने भी अहितकर कर्म किये जाते हैं। उनको मिथ्यायोग कहा जाता है। इसके अतिरिक्त जो शारीरिक, वाचिक, व मानसिक वेग हैं, उनका धारण नहीं करना भी कर्म का मिथ्यायोग ही है। यहाँ वचन व मन के कर्मों के मिथ्यायोग में जिन भावों का उल्लेख किया गया है, उनको च० सू० ७।२६-२८ में धारणीय वेग कहा गया है। शारीरिक धारणीय वेग के अन्तर्गत कतिपय अन्य कर्मों का उल्लेख किया गया है। यदि उन धारणीय वेगों को धारण नहीं किया जाता है तो वे शारीरिक कर्म के मिथ्यायोग ही कहे जायेंगे। यथा—परपीड़ा, दूसरे को कष्ट देना, परस्त्री-संभोग, चोरी, हिंसादि ये शारीरिक कर्म के मिथ्यायोग हैं।—च० सू० ७।२७।

३. **काल-परिणाम**—व्याधि के तीसरे कारण रूप में परिणाम या काल को स्वीकार किया गया है। इसके भी अयोग, अतियोग व मिथ्यायोग भेद से रोगकारक स्वरूप तीन प्रकार से वर्णित हैं। काल को प्रथमतः तीन भागों में विभक्त किया गया है—'शीतोष्णवर्षलक्षणाः पुनर्हेमन्तग्रीष्मवर्षाः संवत्सरः, स कालः।' अर्थात् शीतकाल, उष्णकाल व वर्षा—ये तीन प्रकार के काल हैं। इसमें हेमन्त ऋतु को शीतकाल, ग्रीष्म ऋतु को ग्रीष्मकाल व वर्षा ऋतु को वर्षाकाल माना जाता है। यहाँ काल का तात्पर्य शीत, उष्ण व वर्षाकाल से ही है। 'तत्रातिमात्रस्वलक्षणः कालः कालातियोगः'—अर्थात् अपने काल में जब अपने लक्षणों में अतिशय वृद्धि हो जाती है तो उसे उस काल का अतियोग कहा जाता है। जैसे—हेमन्त ऋतु में जब अधिक ठंढक हो जाती है या सामान्य तापक्रम से अतिन्यून तापक्रम हो जाता है तो हेमन्त या शीतकाल का अतियोग होता है। ग्रीष्म ऋतु में भीषण गर्मी का प्रकोप हो जाय, तापक्रम काल के अनुपात में अतिशय बढ़ जाता है तो ग्रीष्म ऋतु का अतियोग कहा जाता है, इसी प्रकार वर्षा ऋतु में अतिशय रूप में वर्षा हो तो वर्षा ऋतु का अतियोग होता है। जब हेमन्त में शीत न हो अर्थात् हेमन्त ऋतु में जितना तापक्रम होना चाहिए, उससे अधिक-कम तापक्रम रहने पर अयोग कहा जाता है। ग्रीष्म ऋतु में यदि इस काल के सामान्य तापक्रम से कम हो तो ग्रीष्म का अयोग कहा जाता है तथा वर्षा ऋतु में वर्षाभाव होना वर्षा ऋतु का अयोग कहा जाता है। 'यथास्वलक्षणविपरीतलक्षणस्तु कालः कालमिथ्यायोगः'—अर्थात् जब शीत, उष्णादिकाल में अपने लक्षणों से विपरीत लक्षण उत्पन्न होते हैं तो काल का मिथ्यायोग है। जैसे—हेमन्त ऋतु का अपना लक्षण शीत है, परन्तु यदि हेमन्त में वर्षा होने लगे या गर्मी का अनुभव होने लगे या विषम

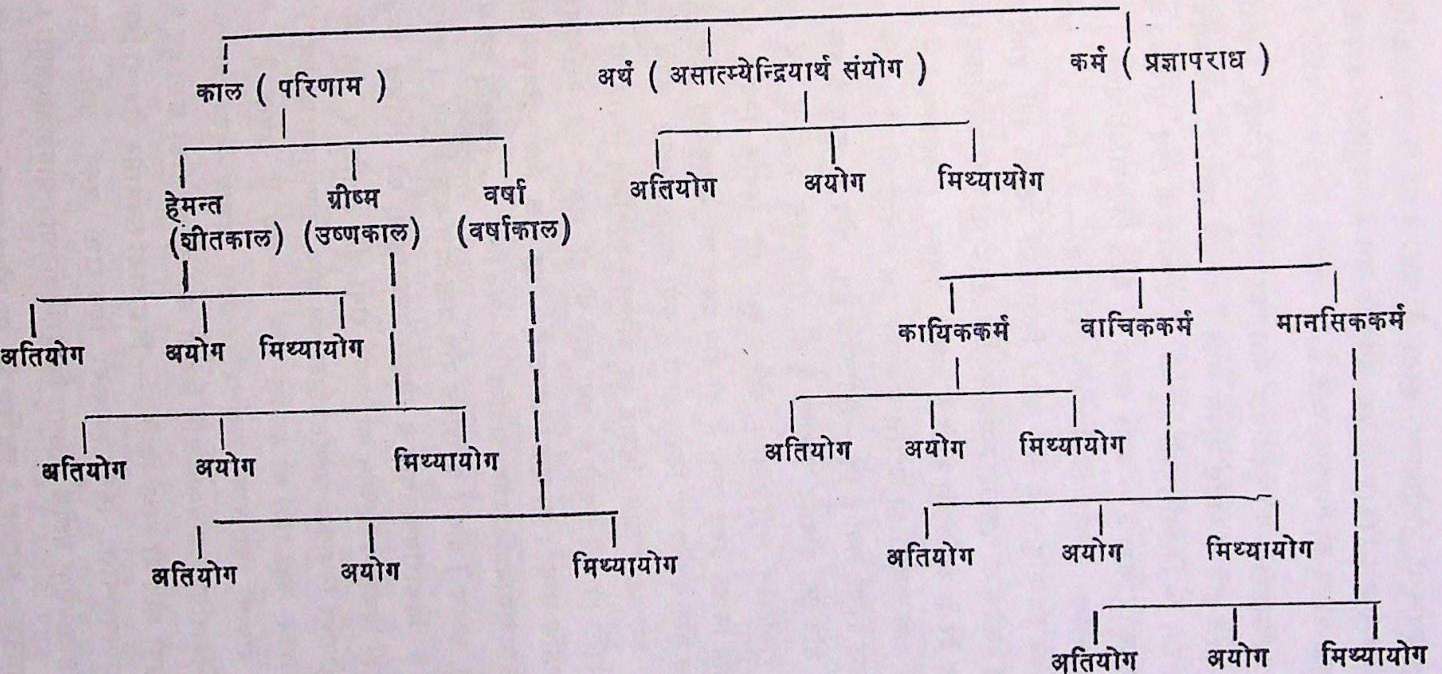
रूप से कभी ठंढक, कभी गर्मी, कभी वर्षा होने लगे तो उसे हेमन्त ऋतु का मिथ्यायोग कहा जाता है। इसी प्रकार गर्मी में शीतानुभव व वर्षा होना मिथ्यायोग है। वर्षाऋतु में वर्षाभाव होकर शीत या उष्ण होना अथवा कभी तेज वर्षा, कभी गर्मी तथा कभी ठंढक का अनुभव होना वर्षाकाल का मिथ्यायोग है। इस काल को परिणाम भी कहते हैं; क्योंकि काल भी स्वकर्मों का फल देने वाला होता है। इस प्रकार रोगों के त्रिविध हेतु को निम्न रेखाचित्र के माध्यम से प्रदर्शित किया गया है—

(रेखाचित्र पृष्ठ १९३ पर देखें)

हेतुओं का वर्गीकरण अनेक प्रकार से किया गया है। आचार्य विजयरक्षित ने प्रथमतः हेतुओं के चार प्रकारों का उल्लेख किया है। उन्होंने कहा है कि उपकल्पनीय अध्याय में हरिचन्द्र ने चार प्रकार का हेतु बतलाया है जो इस प्रकार है—'स च हेतुरनेकधा; तत्र प्रथमं चतुर्विधः उपकल्पनीयाध्याये हरिचन्द्रः—सन्निकृष्ट-विप्रकृष्ट-व्यभिचारि-प्राधानिकभेदाच्चतुर्धा इति।' ये चार हेतु हैं—१. सन्निकृष्ट २. विप्रकृष्ट ३. व्यभिचारी तथा ४. प्राधानिक।

(क) सन्निकृष्ट हेतु—'नक्तंदिनर्तुभुक्तांशा दोषप्रकोपस्य हेतवः, न ते चयादिकमपेक्षन्ते।'—(मधु०) अर्थात् बिना संचय के ही जब अन्य किसी कारण से दोष सीधे रूप में प्रकुपित हो जाते हैं तो उस कारण या हेतु को सन्निकृष्ट कहते हैं। आयुर्वेदानुसार विकारोत्पत्ति प्रक्रिया में प्रथमतः दोषों का स्वस्थान में संचय होता है। जब दोषों का संचय हो जाता है तब दोष प्रकुपित होकर शरीर में प्रसरित होते हैं, परन्तु कतिपय कारणों से दोष संचयावस्था के बिना ही सीधे प्रकुपित हो जाते हैं। जैसे—रात्रि-दिन तथा भोजन के तीन-तीन विभाग सीधे दोषों को प्रकुपित करने के कारण सन्निकृष्ट हेतु होते हैं; यथा दिन, रात्रि व भोजन के प्रारम्भ में कफ का प्रकोप होता है। दिन तथा रात्रि के मध्य में पित्त का प्रकोप होता है तथा अन्त में वायु का प्रकोप होता है। इस प्रकार दोष प्रकुपित करने वाले साक्षात् कारण सन्निकृष्ट हैं।

(ख) विप्रकृष्ट हेतु—जब दोषादि का संचय होने के पश्चात् प्रकोप, प्रसरादि द्वारा रोगोत्पत्ति होती है, तब उस कारण को विप्रकृष्ट हेतु कहा जाता है। यहाँ विप्रकृष्ट हेतु का तात्पर्य यह है कि—कारण का जब सेवन किया जाता है तो वह अपने विभिन्न अवस्थाओं से होते हुए कुछ कालोपरान्त रोगोत्पत्ति करता है। यथा—'हेमन्ते निचितः श्लेष्मा वसन्ते कफरोगकृत्।'—सु० उ० ६४। अर्थात् हेमन्त ऋतु में नवान्न, मधुर रस, स्निग्धाहार सेवन करने से तथा विसर्ग काल होने से शरीर में कफ की वृद्धि होती है। यह बढ़ा हुआ कफ तत्क्षण प्रकुपित नहीं होता, अपितु शरीर में संचित हो जाता है। पुनः जब वसन्त ऋतु में सूर्य की किरणें प्रखर होती हैं तो कफ प्रकुपित होकर कफजन्य व्याधियाँ उत्पन्न करता है। इस प्रकार हेमन्त


काल (परिणाम)
हेमन्त (शीतकाल)
ग्रीष्म (उष्णकाल)
वर्षा (वर्षाकाल)
अतियोग
अयोग
मिथ्यायोग
अतियोग
अयोग
मिथ्यायोग
अतियोग
अयोग
मिथ्यायोग
अर्थ (असात्म्येन्द्रियार्थ संयोग)
अतियोग
अयोग
मिथ्यायोग
कर्म (प्रज्ञापराध)
कायिककर्म
वाचिककर्म
मानसिककर्म
अतियोग
अयोग
मिथ्यायोग
अतियोग
अयोग
मिथ्यायोग
अतियोग
अयोग
मिथ्यायोग

में वृद्ध कफ वसन्त में रोगोत्पादन करता है; अतः हेमन्त में कफवृद्धि विप्रकृष्ट हेतु है। इसी प्रकार अन्य विकार भी जब संचयादि क्रम के अनुसार उत्पन्न होते हैं तो व्याध्युत्पादक कारण को विप्रकृष्ट कहते हैं।

(ग) व्यभिचारी—'यो दुर्बलत्वाद् व्याधिकरणासमर्थः' (मधु०) अर्थात् जो हेतु या कारण दुर्बल होने से व्याधि उत्पन्न करने में असमर्थ रहता है, उसे व्यभिचारी हेतु कहा जाता है। अपने व्यभिचारी हेतु को स्पष्ट करने के लिए हरिचन्द्र ने चरक के संदर्भ को उद्धृत किया है—'यदाह चरकः (यदैते निदानादिविशेषाः) अवलीयांसोऽचलाऽनुबध्नन्ति, न तदा विकाराभिनिर्वृत्ति इति'—च० नि० ४। अर्थात् दुर्बल दोषों का जब संयोग होता है तब शीघ्र विकार की उत्पत्ति नहीं होती है। यदि व्याध्युत्पत्ति होती है तो 'चिराद्वाऽप्यभिनिर्वर्तन्ते, तनवो वा भवन्त्ययथोक्तसर्वलिङ्गा वा'—अर्थात् बहुत देर से रोगोत्पत्ति होती है अथवा तनुरूप (अल्परूप) में रोगोत्पत्ति होती है या सभी लक्षणों की उत्पत्ति न होकर कुछ लक्षणों की ही उत्पत्ति होती है। यहाँ यह स्पष्ट किया गया है कि—रोगोत्पत्ति हेतु, दोष व दूष्य के बल पर निर्भर करती है। यदि हेतु, दोषादि बलयुक्त है तो रोगोत्पत्ति होती है एवं यदि निर्बल होते हैं तो रोगोत्पत्ति नहीं होती। दोष व दूष्य की स्थिति निदान पर निर्भर करती है, यदि निदान प्रबल होता है तो दोष प्रबल रूप में प्रकुपित होता है परन्तु निदान निर्बल होने से दोष भी निर्बल होता है तथा व्याधि उत्पन्न करने में सक्षम नहीं होता। इस प्रकार जिस निदान का परिणाम अनिश्चित स्थिति में रहता है अर्थात् रोगोत्पत्ति हो भी सकती है तथा नहीं भी हो सकती उसे व्यभिचारी कहा जाता है। क्योंकि आयुर्वेद का एक सिद्धान्त है—'इह खलु निदानदोषदूष्यविशेषेभ्यो विकारविघातभावाभावप्रतिविशेषा भवन्ति।'—च० नि० ४।४। अर्थात् इस शरीर में निदान (हेतु, कारण) दोष (शारीरिक दोष वात-पित्त-कफ) दूष्य (सप्तधातुएँ) की विशेषता से विकारविघातभाव व विकारविघाताभाव की विभिन्न विशेषतायें होती हैं। यहाँ विकारविघातभाव का तात्पर्य रोगों की उत्पत्ति न होने से है—'विकाराणां रोगाणां विघातस्य उत्पत्तिप्रतिबन्धस्य भाव उत्पत्तिकारणाभावः।' तथा विकारविघाताभाव यहाँ रोगों की उत्पत्ति होने के अर्थ में प्रयुक्त है। क्योंकि 'विकाराणां रोगाणां विघातस्य उत्पत्तिप्रतिबन्धस्य अभावः-विकारविघाताभावः' होता है। 'विकारविघातभावाभावप्रति विशेषा भवन्ति' की टीका करते हुए आचार्य गंगाधर ने इसको और भी स्पष्ट किया है—'विकाराणां सर्वेषामेव रोगाणां विघातस्य भावो विकाराणामनुत्पत्तिः, विघातस्याभावो विकाराणां जननं, तयोः विघातस्य भावाभावयोः प्रतिविशेषा प्रत्येकं विशेषाः विकारविघातभावाभावप्रतिविशेषाः।

(घ) प्राधानिक—हरिचन्द्र ने चतुर्विध हेतु का चौथा प्रकार प्राधानिक को कहा

है। आचार्य ने प्राधानिक के लिए मात्र 'यथा-विषं' ही कहा है। इसका अर्थ हुआ कि विष की श्रेणी या विष-सदृश हेतुओं को प्राधानिक हेतु कहा जाता है। अब इसको पारिभाषित करने के लिए विष-स्थित गुणों के आधार पर उसकी कार्मुकता को स्पष्ट करना होगा। सामान्य रूप से कहा जा सकता है कि विष सदृश हेतुओं को प्राधानिक कहा जाता है। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि जो हेतु अपनी रूक्षता, तीक्ष्णता, सूक्ष्मता, शीघ्रक्रियाकर्तृत्व, विशदता आदि के द्वारा व शीघ्र पूरे शरीर में फैलकर ओज का नाश करते हुए उग्र लक्षण उत्पन्न कर दे या मृत्युकारक हो जाय, उन हेतुओं को प्राधानिक हेतु कहा जाता है।

पुनः मधुकोषकार ने हेतुओं के तीन भेद किये हैं—'दोषव्याध्युभयहेतुभेदाच्च स त्रिविधः।' अर्थात् दोष हेतु, व्याधि हेतु व दोषव्याधि उभय हेतु से हेतु तीन प्रकार के होते हैं।

१. **दोषहेतु**—'दोषहेतवः यथा चयप्रकोपप्रशमनिमित्ता यथर्तूत्पन्ना मधुरादयः।' मधुकोष। अर्थात् जो हेतु या कारण स्वभावतः दोषों का संचय, प्रकोप, प्रशम कराने वाले होते हैं, वे दोषहेतु कहे जाते हैं। यहाँ दोषहेतु का अर्थ दोषकारण हुआ। जिस कारण से दोष संचित व प्रकुपित होते हैं। यथा—मधुर रस। मधुर रस के कारण कफ की वृद्धि होकर संचय होता है फिर प्रकोप व प्रशम होता है। शिशिर व हेमन्तऋतु में मधुरोल्वणता होती है, अतः कफसंचय का कारण मधुर रस ही होता है। पुनः वसन्तऋतु में कफ का प्रकोप व ग्रीष्म में शमन हो जाता है। इसी प्रकार अन्य रस की भी विशिष्ट ऋतु में उल्वणता होने से विशिष्ट दोष का संचय प्रकोप प्रशमादि होता है। अतः ये दोषोत्पादक कारण दोष-हेतु कहे जाते हैं।

२. **व्याधिहेतु**—'व्याधिहेतवः यथा—मृद्भक्षणं पाण्डुरोगस्य कारणम्। यद्यपि मृदपि दोषं प्रकोपयत्येवः, यदुक्तं चरके-कषायामारुतं, पित्तमूषरा, मधुरा कफम् इति तथाऽपि तज्जैर्दोषैः पाण्डुरोग एवारभ्यते न त्वन्यो विकार इति व्याधिहेतुता भवति।' (मधु०) अर्थात् जब किसी कारण के सेवन से व्याधिविशेष की उत्पत्ति होती है तो उस कारण को व्याधि हेतु कहा जाता है। हालांकि प्रत्येक कारण या द्रव्य द्वारा शरीरस्थ दोष अवश्य ही प्रभावित होते हैं क्योंकि तत्तद् द्रव्यों में कोई-न-कोई रस विद्यमान रहता है जो दोष को प्रभावित करता है, परन्तु वह द्रव्य एक विशिष्ट व्याधि को उत्पन्न करने वाला होता है। इस प्रकार दोषादि के क्रमानुमार व्याधि की उत्पत्ति न होकर जब किसी हेतुविशेष द्वारा व्याधिविशेष की उत्पत्ति होती है तो उसे व्याधि हेतु कहा जाता है। यथा—मृद्भक्षण से पाण्डुरोग की उत्पत्ति होती है। यहाँ मिट्टी सेवन से विशिष्ट व्याधि—पाण्डु की ही उत्पत्ति होती है। हालांकि मिट्टी सेवन से दोषादि का संचय होना स्वाभाविक है, क्योंकि मधुर रसयुक्त मिट्टी से कफ, कषाय रसयुक्त से वात एवं ऊसर भूमि की मिट्टी से पित्त का संचय होता है,

परन्तु इसके सेवनोपरान्त वातजन्य, पित्तजन्य या कफज व्याधियों की उत्पत्ति न होकर एक विशिष्ट व्याधि पाण्डु की उत्पत्ति होती है।

३. उभयहेतु—'उभयहेतुर्यथा वातरक्ते—'हस्त्यश्वोष्ट्रैर्गच्छताश्नतश्च'—सु० नि० १ इत्यादि।' 'तत्र यद्यपि दोषप्रकोपपूर्वकमेव व्याधिजननं, तथाऽपि दोषवद् व्याधावपि तस्य कारणत्वमिति बोधयति। तेन तत्र न व्याधिहरमात्रं भेषजं प्रयोज्यं, किंतूभयप्रत्यनीकम्।'—मधुकोष। अर्थात् जो हेतु या कारण किसी दोषविशेष का उत्पादक होने के साथ किसी विशिष्ट व्याधि को भी उत्पन्न करने वाला होता है, उसे उभय हेतु कहा जाता है। यहाँ उभय हेतु का तात्पर्य उस हेतु से है जो विशिष्ट दोष व व्याधि दोनों का उत्पादक हो। आचार्य विजयरक्षित ने उभय हेतु में वातरक्त रोग का उदाहरण दिया है। हाथी, घोड़ा, ऊँट आदि पर सवारी करने या यात्रा करने से वायु का प्रकोप होता है तथा विदाही आहार के सेवन करने पर पित्त की वृद्धि होती है। पित्त रक्तसदृश गुणयुक्त होने से रक्त की वृद्धि होती है। जब (यान) हाथी पर पैर लटकाया जाता है तो वात व रक्त संधियों व लटके हुए अङ्गों में आश्रित होकर वातरक्त रोग की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार पैर लटकाकर की जाने वाली सवारी व विदाही आहार विशिष्ट दोष के (क्रमशः वात व पित्त दोष के) उत्पादक होते हैं। इन दोनों के संयोग से एक विशिष्ट व्याधि—वात रक्त की उत्पत्ति होती है। अतः इस प्रकार के कारण जो दोष व व्याधि दोनों को उत्पन्न करते हैं; उन्हें उभयहेतु कहा जाता है। इस प्रकार जब वात रक्त की चिकित्सा की जाती है तो उभय विपरीत चिकित्सा करनी पड़ती है अर्थात् दोष व व्याधि दोनों के विपरीत चिकित्सा करनी पड़ती है। यदि वातरक्त में मात्र वात की चिकित्सा की जाय या पित्त की चिकित्सा की जाती है तो लाभ नहीं होता है, जब तक की उभय-विपरीत चिकित्सा नहीं की जाती है तब तक रोग का प्रशमन नहीं होता।

हेतु पुनः उत्पादक व व्यञ्जक भेद से दो प्रकार का कहा गया है—'स एवोत्पादकव्यञ्जकभेदाच्च द्विधा' (मधु०)। अर्थात् हेतु उत्पादक व व्यञ्जक भेद से दो प्रकार के होते हैं। 'तत्रोत्पादको यथा हेमन्तजो मधुररसः कफः। व्यञ्जको यथा—तस्यैव कफस्य व्यञ्जको वसन्ते सूर्यसंतापः' (मधुकोष टीका में भट्टार हरिचन्द्र का वाक्य) अर्थात् ऋतुविशेष में जब ऋतु के अनुसार रस-विशेष द्वारा दोष की उत्पत्ति होती है तो उसे उत्पादक हेतु कहा जाता है। जैसे—हेमन्त ऋतु में मधुर रस से कफोत्पत्ति तथा हेमन्त में संचित कफ पुनः जब वसन्तऋतु में सूर्य के सन्ताप से द्रव रूप में परिवर्तित होकर कफजन्य व्याधियों को उत्पन्न करता है तो कफजन्य रोगोत्पत्ति का कारण सूर्यसन्ताप व्यञ्जक हेतु कहा जाता है। इसके अतिरिक्त हेतु को प्राकृत व विकृत भेद से दो प्रकार का कहा गया है। जब दोष की उत्पत्ति ऋतुओं के स्वभावानुसार होती है तो इस हेतु को प्राकृत हेतु कहते हैं। यथा हेमन्त में कफ का संचय। परन्तु यदि ऋतु स्वभाव के विपरीत काल में जब अन्य

दोषों की उत्पत्ति होती है तो उसे वैकृत कहते हैं। जैसे वसन्त ऋतु में यदि पित्त या वात का प्रकोप होता है तो यह वैकृत हेतु है।

पुनः बाह्याभ्यन्तर भेद से हेतु के दो प्रकार हैं—(१) बाह्य हेतु (२) आभ्यन्तर हेतु।

१. बाह्यहेतु—'तत्र बाह्याः आहाराचारकालादयः।' (मधु०) अर्थात् विभिन्न प्रकार के दोष प्रकोपक आहार, विहार, काल आदि बाहरी कारण बाह्य हेतु कहे जाते हैं। अन्य आगन्तुज कारणों को भी बाह्य हेतु के अन्तर्गत रखा जा सकता है।

२. आभ्यन्तर हेतु—शरीरस्थ दोषदूष्य आभ्यन्तर हेतु हैं।

भारतीय दर्शनों में भी हेतु पर विचार किया गया है। दर्शनों में तीन हेतुओं का उल्लेख सामान्यतया प्राप्त होता है। उन हेतुओं का भी आयुर्वेद में व्यावहारिक स्वरूप उपलब्ध है। ये हेतु या कारण निम्न हैं—१. समवायि कारण, २. असमवायि कारण एवं ३. निमित्त कारण।

१. समवायि कारण—समवाय के लिए कहा गया है कि 'समवायोऽपृथकभावो' अर्थात् दो वस्तुओं या दो पदार्थों का ऐसा सम्बन्ध जिसे अलग नहीं किया जा सके, उसे समवाय कहते हैं। यहाँ समवायिकारण से तात्पर्य उस कारण का है जो रोग के साथ रहेगा ही तथा उसको अलग नहीं किया जा सके। आयुर्वेद में रोगों का समवायि कारण दोषों को (वात, पित्त, कफ शारीरिक दोष व रज, तम, मानसिक दोष) माना जाता है। क्योंकि वैशेषिक दर्शन के अनुसार—'अयुतसिद्धानामाधार्याधारभूतो यः सम्बन्धः इहेति प्रत्ययहेतुः स समवायः।' अर्थात् आधार व आधेय भाव से अयुतसिद्ध जो सम्बन्ध 'इह' अर्थात् 'यहाँ है' इस ज्ञान का कारण है, उसे समवाय कहते हैं। दोष व व्याधि का सम्बन्ध आधार व आधेय रूप में अयुत सिद्ध होता है। व्याधि का 'इह' अर्थात् 'यहाँ है' ज्ञान दोष के कारण ही होता है। अतः व्याधि का समवायि कारण दोषों को ही कहा गया है। सुश्रुत संहिता में सभी व्याधियों का मूल कारण वातादि दोषों को ही माना गया है—'सर्वेषाञ्च व्याधीनां वातपित्तश्लेष्माण एव मूलम्'। इन त्रिधातुओं को दोष इसीलिए कहते हैं कि ये शरीरस्थ धातुओं को दूषित कर रोगोत्पत्ति करने वाले हैं। सुश्रुत सूत्र अ० २४ में इसे और भी स्पष्ट किया गया है—'सर्वेषां च व्याधीनां वातपित्तश्लेष्माण एव मूलं तल्लिङ्गत्वाद् दृष्टफलत्वादागमाच्च। एवमेव कृत्स्नं विकारजातं विश्वरूपेणावस्थितमव्यतिरिच्यवातपित्तश्लेष्माणो वर्तन्ते।' अर्थात् सभी व्याधियों के मूल कारण वात, पित्त, कफ ही होते हैं। इसके प्रमाण में आचार्य ने तीन प्रमाण प्रस्तुत किया है। १. तल्लिङ्गत्वात् (Signs & symptoms presenti on the doshic base)—व्याधियों में जो भी लक्षण प्राप्त होते हैं वे वात, पित्त व कफजन्य ही होते हैं। २. दृष्टफलत्वात् (Clinical observations after therapeutic course)—

चिकित्सा में दोषों के शमन कर देने पर या दोषों की चिकित्सा करने पर व्याधि शांत हो जाती है तथा ३. आगमात् (Researches done by previous seers)—पूर्व के वैज्ञानिकों की भी यही मान्यता है। चरकसंहिता में इन धातुओं की विषमता को ही रोग कहा गया है—'विकारो धातुवैषम्यम्'। इसके अतिरिक्त कहा गया है कि—'नित्याः प्राणभृतां देहे वातपित्तकफास्त्रयः। विकृता प्रकृतिस्था वा तान् बुभुत्सेत पण्डितः।'—च० सू१ ८।४८। च० सू० १९।५ में कहा गया है कि—सभी प्रकार के निज रोग वात, पित्त, कफ के द्वारा ही होते हैं, जिस प्रकार शकुनि पक्षी सारे दिन आकाश में उड़कर देश-देशान्तर गमन करती है परन्तु अपनी छाया को पार (Cross) नहीं कर पाती, ठीक उसी प्रकार वातादि दोषों से उत्पन्न होने वाली व्याधियाँ वातादि दोषों का अतिक्रमण नहीं कर सकती हैं। इन्हीं वात-पित्त-कफ के स्थान-संस्थान, प्रकृति विशेष के आधार पर त्रिदोषजन्य विभिन्न व्याधियों का नामतः निर्देश किया जाता है—'सर्व एव निजा विकारा नान्यत्र वातपित्तकफेभ्यो निर्वर्तन्ते; यथा हि—शकुनिः सर्वं दिवसमपि परिपतन् स्वां छायां नातिवर्तते; तथा स्वधातुवैषम्य-निमित्ताः सर्वे विकारा वातपित्तकफान्नातिवर्तन्ते, वातपित्तश्लेष्मणां पुनः स्थानसंस्थान-प्रकृतिविशेषानभिसमीक्ष्य तदात्मकानपि च सर्वविकारांस्तानेवोपदिशन्ति बुद्धिमन्तः।'—च० सू० १९।५। आचार्य वाग्भट भी दोषों को व्याधियों के समवायिकारण रूप में ही स्वीकार करते हैं। उन्होंने अपना अभिमत निम्न रूप में दिया है—'दोषा एव हि सर्वेषां रोगाणामेककारणं।···विकारजातं विविध त्रीन् गुणान्नातिवर्तते। तथा स्वधातु-वैषम्यनिमित्तमपि सर्वदा। विकारजातं त्रीन्दोषान्।'—अ० हृ० सू०। इस प्रकार आयुर्वेद के सभी आचार्यों का मत है कि बिना दोष-प्रकोप या दोष के किसी व्याधि की उत्पत्ति नहीं हो सकती है, अतः दोषों को व्याधि का समवायिकारण माना जाता है।

२. असमवायिकारण—समवायि कारण जहाँ 'अपृथग्भाव' वाला होता है, वहीं जो कारण अयुतसिद्ध नहीं होते हैं, उन्हें असमवायिकारण कहा जाता है। समवाय सम्बन्ध नित्य होता है। हालांकि बहुत विद्वान् असमवायिकारण को स्वीकार नहीं करते हैं। व्याधि उत्पत्ति में दोष दूष्य संयोग को असमवायि कारण माना जाता है, क्योंकि दोष दूष्य सम्मूर्छना को सम्प्राप्ति माना जाता है, अतः इसके निदानत्व का खण्डन सिद्धान्त-निदान की टीका में किया गया है। दोषदूष्य सम्मूर्च्छना भी व्याधि का कारण है। यह संयोग (दोषदूष्य) अनित्य होता है; अतः इसे असमवायि कारण माना जाता है। यह भी सत्य है कि दोष-दूष्य संयोग व्याध्युत्पत्ति की प्रक्रिया है। व्याधिजनक व्यापार को सम्प्राप्ति कहा जाता है। वैसे दोनों मतावलम्बी अपने-अपने तर्कों के आधार पर सही हैं।

३. निमित्तकारण—रोगोत्पत्ति के जो बाह्य कारण मिथ्याहार-विहारादि हैं इन्हीं को निमित्तकारण माना जाता है; क्योंकि ये दोष-प्रकोपक होते हैं।

२. पूर्वरूप

'पूर्वरूपं प्रागुत्पत्तिलक्षणं व्याधेः।'—च० नि० १।८। अर्थात् व्याधि उत्पन्न होने के पूर्व जो लक्षण उत्पन्न होते हैं, उन्हें पूर्वरूप कहा जाता है। माधवनिदान में वाग्भटोक्त पूर्वरूप की परिभाषा का संग्रह किया गया है—'प्राग्रूपं येन लक्ष्यते। उत्पित्सुरामयो दोषविशेषेणानधिष्ठितः। लिङ्गमव्यक्तमल्पत्वाद् व्याधिनां तद्यथायथम्।' —मा० नि० १।६। अर्थात् जिन लक्षणों के द्वारा उत्पन्न होने वाली व्याधि के बारे में जानकारी प्राप्त होती है, उसे पूर्वरूप कहा जाता है, परन्तु इसमें दोष विशेष का ज्ञान नहीं होता। इन लक्षणों या लक्षणसमूह की अल्पता के कारण (लक्षणसमूह या लक्षणों के कम होने के कारण) विशिष्ट व्याधि के व्यक्त होने के पूर्व विशिष्ट रूप में किंचित् रूप में व्यक्त होने के कारण पूर्वरूप कहा जाता है। इसका अर्थ यह हुआ कि व्याधि के रूप या विशिष्ट रूप का अल्परूप में प्रकट होना प्रारम्भ होता है तथा यह पता नहीं चल पाता कि उत्पत्स्यमान व्याधि वातज है या पित्तज, तो इस अवस्था-विशेष को पूर्वरूप कहा जाता है। आचार्य विजयरक्षित ने पूर्वरूप को पारिभाषित करते हुए कहा है कि—

स्थानसंश्रयिणः क्रुद्धा भाविव्याधिप्रबोधकम्।
दोषाः कुर्वन्ति यल्लिङ्गं पूर्वरूपं तदुच्यते॥ (मधुकोष)

अर्थात् जब स्वकारणों द्वारा कुपित हुआ दोष किसी स्थानविशेष पर आश्रित होकर रोगारम्भक प्रक्रिया प्रारम्भ करता है तो इस प्रक्रिया में कुछ अस्पष्ट लक्षण उत्पन्न होते हैं, उन्हें पूर्वरूप कहा जाता है। यह पूर्वरूप भावी रोग का ज्ञान कराने वाला होता है अर्थात् पूर्वरूप के द्वारा प्रायः यह ज्ञात होता है कि अमुक व्याधि उत्पन्न होने वाली है। हेतु व लिङ्ग के बीच पूर्वरूप एक अवस्थाविशेष है। जब व्याधिजनक व्यापार प्रारम्भ होता है तथा व्याधि अपने पूर्णरूप में व्यक्त होती है, इसके बीच की अवस्था को पूर्वरूप कहा जा सकता है। आचार्य विजयरक्षित ने इस अवस्था को अतिस्पष्ट कर दिया है कि —'स्थानसंश्रयिणः क्रुद्धा'—'दोषाः कुर्वन्ति यल्लिङ्गं' अर्थात् जब प्रकुपित दोष स्थान-संश्रित होते हैं तो पूर्वरूप की उत्पत्ति होती है। मधुकोष टीकाकार ने पराशर की एक उक्ति को उद्धृत किया है, जहाँ कहा गया है—'पूर्वरूपं नाम येन भाविव्याधिविशेषो लक्ष्यते न तु दोषविशेषः इति।' अर्थात् इसमें भावि व्याधि का तो ज्ञान होता है, परन्तु दोष-विशेष का ज्ञान नहीं होता। मा० नि० में संगृहीत वाग्भट की परिभाषा में भी कुछ इसी प्रकार का संकेत है। अब यहाँ यह विषय विचारणीय है कि आचार्य विजयरक्षित के अनुसार कुपित दोष

स्थानसंश्रित होकर रोग का पूर्वरूप उत्पन्न करते हैं तथा दूसरी तरफ पराशर या वाग्भट की मान्यता है कि इसमें दोष-विशेष का ज्ञान नहीं होता है। क्या जब दोष ही स्थानसंश्रित होकर अल्प लिङ्गोत्पत्ति करते हैं तो कुछ लक्षण तो दोषजन्य होने चाहिए। यदि दोषों के स्वलक्षण अल्प रूप में भी उत्पन्न नहीं होते हैं तो क्यों ? अब इन तथ्यों के समन्वय से पूर्वरूप सिद्धान्त को समझने का प्रयत्न किया जायेगा। प्रथमदृष्ट्या इस प्रश्न का समाधान मधुकोशकार ने उत्तम ढंग से किया है। उनके अनुसार पूर्वरूप दो प्रकार के होते हैं—सामान्य पूर्वरूप एवं विशिष्ट पूर्वरूप—'द्विविधं हि पूर्वरूपं भवति सामान्यं विशिष्टं च।'—मधु०।

१. **सामान्य पूर्वरूप**—'तत्र सामान्यं येन दोषदूष्यसंमूर्च्छनावस्थाजनितेन भाविज्वरादिव्याधिमात्रं प्रतीयते, न तु वातादिजनितत्वाविशेषः। यथा—श्रमोऽरतिविवर्णत्वं।' (अ० ५) अर्थात् जब दोषों का दूष्यों के साथ संयोग होता है तो उस समय कुछ लक्षण उत्पन्न होते हैं, जिनके द्वारा उत्पद्यमान व्याधियों का ज्ञान प्राप्त किया जाता है। इन लक्षणों को सामान्य पूर्वरूप कहा जाता है। क्योंकि इन लक्षणों के द्वारा भावि रोग का तो ज्ञान प्राप्त हो जाता है परन्तु यह पता नहीं चलता कि उत्पद्यमान व्याधि वातज, पित्तज या कफज है। जैसे—ज्वर के पूर्व श्रम (थकावट) अरति (बेचैनी) आदि लक्षणों के द्वारा यह तो ज्ञान हो जाता है कि उत्पद्यमान व्याधिज्वर है, परन्तु यह ज्ञात नहीं हो पाता कि ज्वर किस दोष की उल्वणता से उत्पन्न होगा।

२. **विशिष्ट पूर्वरूप**—जब उत्पद्यमान व्याधि के साथ जब दोष-विशेष का भी ज्ञान पूर्वरूप द्वारा होता है तो उसे विशिष्ट पूर्वरूप कहा जाता है। यथा—उरःक्षतादौ लिङ्गान्येव वातादिजान्यव्यक्तानि। यदुक्तं तत्रैव-अव्यक्तं लक्षणं तस्य पूर्वरूपमिति स्मृतम्—मधु०। अर्थात् उरःक्षत व्याधि में वातादि दोषजन्य अव्यक्त लक्षण विशिष्ट पूर्वरूप ही होते हैं; क्योंकि इन व्याधियों में पूर्वरूप के रूप में उत्पन्न अव्यक्त विशिष्ट लक्षण उरःक्षत व्याधि के वातज होने या पित्तज होने का भी ज्ञान करा देते हैं, अतः दोषविशेष का ज्ञान कराने के कारण इन्हें विशिष्ट पूर्वरूप कहा जाता है। आचार्य विजयरक्षित ने सुश्रुतसंहिता व हारीतसंहिता में वर्णित विशिष्ट पूर्वरूप के सन्दर्भों को उद्धृत करते हुए विशिष्ट पूर्वरूप को स्पष्ट कर दिया है—

सामान्यतो विशेषात्तु जृम्भाऽत्यर्थं समीरणात्। पित्तान्नयनोर्दाहः कफादन्नारुचिस्तथा।—सु० उ० ३९ इति पूर्वरूपमष्टानां ज्वराणां सामान्यतः, विशेषस्तु जृम्भाऽङ्गमर्दभूयिष्ठं हृदयोद्वेगिवातजम्।—हा० सं० मधुकोष में उद्धृत। अर्थात् उत्पद्यमान ज्वर में अत्यधिक जृम्भा होना वातज ज्वर का, नेत्रों में जलन का अनुभव होना पित्तज ज्वर का तथा अन्न में अरुचि कफज ज्वर का बोधक होता है। हारीत ने भी ज्वर में होने वाले पूर्वरूपों में जृम्भा, अङ्गमर्द व हृदयोद्वेग को विशिष्ट पूर्वरूप माना

है, क्योंकि जृम्भादि के द्वारा ज्वर के वातादि दोषों से उत्पन्न विशिष्ट प्रकार के ज्वर का भी ज्ञान हो जाता है।

रोग की पूर्वरूप अवस्था आयुर्वेद के पञ्चनिदान सिद्धान्त की महत्त्वपूर्ण अवस्था है, अतः इस अवस्था-विशेष में उत्पन्न होने वाले लक्षणों व भावी व्याधि की उत्पत्ति-प्रक्रिया को समझाना आवश्यक है, क्योंकि प्रक्रिया के ज्ञानाभाव में पूर्वरूप अवस्था स्पष्ट नहीं हो पाती है। पूर्वरूपावस्था की प्रमुख प्रक्रिया स्थानसंश्रय वा दोषदूष्य सम्मूर्च्छना है। स्थानसंश्रय का तात्पर्य क्या है? दोषदूष्य सम्मूर्च्छना की प्रक्रिया क्या है? यहाँ यही दो विषय विचारणीय है। सुश्रुतसंहिता में सम्पूर्ण व्याधिजनक व्यापार (Pathogenesis) को छः अवस्थाओं में विभक्त किया गया है। इस व्याध्युत्पादन प्रक्रिया में प्रत्येक अवस्था में क्रिया (चिकित्सा) करने का अवसर प्राप्त रहता है, अतः इसे क्रियाकाल कहा जाता है, परन्तु वास्तव में षड्क्रियाकाल रोगजनक व्यापार की छः अवस्थायें हैं। ये अवस्थायें हैं—'संचयं च प्रकोपं च प्रसरं स्थानसंश्रयम्। व्यक्तिं भेदं च यो वेत्ति दोषाणां स भवेद्भिषक्।'—सु० सू० २१।३६। अर्थात् संचय, प्रकोप, प्रसर, स्थानसंश्रय, व्यक्ति व भेद ये छः अवस्थायें होती है। यदि इसे 'दोषदूष्यसम्मूर्च्छनाजनितो व्याधि' के परिप्रेक्ष्य में देखा जाय तो मुख्यतः दो अवस्थाओं में विभक्त किया जा सकता है।

१. **दोषावस्था**—यहाँ दोषावस्था का तात्पर्य यह है कि इस अवस्था में मुख्य विकृति दोषगत ही होती है। इसके अन्तर्गत तीन अवस्थाओं का समावेश किया जा सकता है। वे अवस्थायें हैं—संचय, प्रकोप व प्रसर। इन तीनों अवस्थाओं में किसी धातु में विकृति उत्पन्न नहीं होती बल्कि दोष-विकृति की ही अवस्थायें होती है, अतः इसे दोषावस्था कहा गया है। प्रथमतः अपने कारणों के सेवन से दोष का संचय होता है। जब दोष का अतिसंचय हो जाता है तो वह दोष बलयुक्त होकर प्रकोपावस्था को प्राप्त होता है और दोष के प्रकोपजन्य लक्षण उत्पन्न होते हैं। इसके बाद दोष शरीर में प्रसरित होता है तो दोषों के प्रसरजन्य लक्षण उत्पन्न होते हैं। संचय, प्रकोप व प्रसर इन तीनों अवस्थाओं में दोषजन्य लक्षण ही उत्पन्न होते हैं। अतः इन तीनों को दोषावस्था कहा जा सकता है। यदि इन तीनों में क्रमशः संचय, प्रकोप, प्रसर अवस्था में यदि दोष का शमन कर दिया जाता है तो व्याधि की उत्पत्ति नहीं हो पाती अन्यथा प्रकुपित व प्रसृत दोष और अधिक बलयुक्त होकर अगली अवस्था को प्राप्त करता है तथा व्याधि-विशेष की उत्पत्ति करता है—

'संचयेऽपहृता दोषा लभन्ते नोत्तरा गतिः।
ते तूत्तरासु गतिषु भवन्ति बलवत्तराः॥' (सु० सू० २१।३७)

२. **व्याध्यवस्था**—प्रसर के बाद वाली तीन अवस्थायें स्थानसंश्रय, व्यक्ति व भेद

इसके अन्तर्गत रखी जाती हैं। क्योंकि पूर्व में कहा गया है कि प्रस्तुत तथ्य 'दोष-दूष्यजनितो व्याधिः' के परिप्रेक्ष्य में प्रकाशित किया जा रहा है। आयुर्वेद का सिद्धान्त है—'दोषदूष्यसम्मूर्च्छनाजनितो व्याधिः।' अर्थात् दोषों का दूष्यों के साथ संयोग होने पर व्याधि की उत्पत्ति होती है। पूर्वरूप प्रकरण में भी दोषदूष्यसम्मूर्च्छना होने पर उत्पन्न लक्षण को ही पूर्वरूप कहा गया है। आचार्य विजयरक्षित ने सुश्रुतोक्त स्थान-संश्रय की अवस्था को पूर्वरूपावस्था में स्वीकार किया है। वास्तव में दोष-दूष्य सम्मूर्च्छना, स्थान संश्रय ही है, क्योंकि दोषों का दूष्यों के साथ संयोग प्रायः स्थान-संश्रित होने पर ही होता है। व्याध्यवस्था के अन्य दो अवस्थाओं व्यक्ति और भेद का वर्णन यथास्थान किया जायेगा। यहाँ पूर्वरूप प्रकरण में विवेच्य विषय स्थानसंश्रय है, अतः इसी को स्पष्ट किया जा रहा है।

स्थानसंश्रय—चक्रदत्त में स्थान-संश्रयावस्था को सीधे रूप में पूर्वरूपावस्था माना गया है—'पूर्वरूपमेव स्थानसंश्रयलिङ्गम्। सुश्रुत ने इसे चतुर्थ क्रियाकाल कहा है। डल्हण ने स्थानसंश्रयाबस्था को स्पष्ट करते हुए कहा है—'प्रसृतानां पुनर्दोषाणां स्रोतोवैगुण्याद्यत्र संगः सः स्थानसंश्रयः'। अर्थात् प्रकुपित दोष जब शरीर में प्रसृत होते हैं तब पुनः प्रसृत होते हुए किसी विशिष्ट स्थान पर अवस्थित हो जाते हैं, जहाँ दोष स्रोतोवैगुण्य उत्पन्न करते हुए विकारोत्पत्ति करते हैं। इस प्रकार प्रसृत दोष का एक स्थान-विशेष में अवस्थित होना स्थान-संश्रय कहा जाता है। इसी को दूसरे शब्दों में दोष-दूष्य सम्मूर्च्छना कहा जा सकता है; क्योंकि प्रसृत दोष किसी-न-किसी दूष्यविशेष (धातुविशेष) में ही आश्रित होता है, जिसके परिणामस्वरूप दोषों का दूष्यों के साथ संयोग होता है। चरकसंहिता चिकित्सा-स्थान के ग्रहणी चिकित्सा में धातुपोषण क्रम में दृढ़बल ने इसको स्पष्ट शब्दों में कहा है—

'व्यानेन रसधातुर्हि विक्षेपोचित कर्मणा।
युगपत् सर्वतोऽजस्रं देहे विक्षिप्यते सदा॥
क्षिप्यमाणः खवैगुण्याद्रसः सज्जति यत्र सः।
करोति विकृतिं तत्र खे वर्षमिव तोयदः॥
दोषाणामपि चैवं स्यादेकदेशप्रकोपणम्'।

(च० चि० १५।३६-३८)

अर्थात् व्यानवायु रस धातु को एक ही समय में एक साथ सम्पूर्ण शरीर में पहुँचाती है। जब वायु रस धातु को एक स्थान से दूसरे स्थान तक ले जाती है, उस समय रसवाही स्रोत में जहाँ भी विकृति होती है, वहीं पर रस धातु रुक जाती है तथा शरीर में रुके हुए स्थान पर ही रोगोत्पत्ति होती है। जिस प्रकार आकाश में गमन करते हुए मेघ जहाँ रुकते हैं वहीं पर वर्षा होती है, उसी प्रकार 'दोषाणामपि

चैवं स्यादेकदेशप्रकोपणम्' अर्थात् शरीर में भ्रमण करते हुए दोष प्रकुपित रूप में जिस स्थान पर रुकते हैं, उसी स्थान पर रोग उत्पन्न करते हैं। इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि प्रसरावस्था में दोष सम्पूर्ण शरीर में भ्रमण करते हैं तथा जहाँ पर वह स्थान-संश्रित होते हैं, वहाँ वे रोग उत्पन्न करते हैं। इसको सुश्रुतसंहिता में निम्न रूप में व्यक्त किया गया है—'कुपितानां हि दोषाणां शरीरे परिधावताम्। यत्र संगः खवैगुण्याद् व्याधिस्तत्रोपजायते'। यहाँ यह स्पष्ट नहीं किया गया है कि दोष किस माध्यम से शरीर में भ्रमण करते हैं, परन्तु दृढ़बल ने इस तथ्य को स्पष्ट कर दिया है कि दोषों का शरीर में भ्रमण करने का माध्यम रसधातु है, क्योंकि सभी धातुओं का तर्पक रसधातु होता है, जिससे इसकी पहुँच (Approach) सभी धातुओं तक होती है। जब दोष स्थान-संश्रित होते हैं तो दोषदूष्यसम्मूर्च्छना होकर व्याध्युत्पत्ति की प्रक्रिया प्रारम्भ हो जाती है। दोष प्रथमतः धातुओं को दूषित करते हैं। जब धातु दूषित होता है तो उस समय धातु अपने असामान्यावस्था को प्राप्त करता है। दोष तो धातुओं की विकृति-प्रक्रिया में संलग्न रहता है तथा विकृतावस्था प्राप्त होते ही दोष-धातुजन्य मिश्रित लक्षण अस्पष्ट रूप से उत्पन्न होने प्रारम्भ हो जाते हैं, जिन्हें पूर्वरूप कहा जाता है। इस स्थिति में व्याध्युत्पत्ति प्रक्रिया अपूर्ण रहती है; अतः लक्षण अव्यक्त स्वरूप के होते हैं तथा दोष जब धात्वाश्रित होकर धातुओं को विकृत करते हैं तो दोषों के स्वलक्षण उत्पन्न नहीं होकर धातु-विकृतिजन्य लक्षण ही उत्पन्न होते हैं। इस स्थिति में उत्पन्न पूर्वरूप को सामान्य पूर्वरूप कहा जाता है—'सामान्यं येन दोषदूष्यसम्मूर्च्छनावस्थाजनितेन भाविज्वरादिव्याधिमात्रं प्रतीयते।' विशिष्ट पूर्वरूप के लिए कहा गया है कि इसमें दोषादि का भी ज्ञान हो जाता है। उदाहरण रूप में उरःक्षत को प्रस्तुत किया गया है। यहाँ विचारणीय विषय यह है कि जहाँ पर विशिष्ट पूर्वरूपोत्पत्ति होती है, वहाँ भी दोष-दूष्य-सम्मूर्च्छना प्रक्रिया ही होती है या अन्य? यदि सामान्य पूर्वरूप प्रक्रिया ही वहाँ होती है तो फिर दोषादिजन्य लक्षणों का आविर्भाव कैसे होता है? यहाँ विशिष्ट पूर्वरूप से दोषजन्य ही नहीं बल्कि ऐसे अन्य लक्षणों का भी समावेश किया जा सकता है तो मात्र व्याधि-विशेष में ही उत्पन्न होते हैं। परन्तु टीकाकारों ने इस पूर्वरूप में वातादि के लक्षण ही स्वीकार किया है। सामान्य पूर्वरूप दोष-दूष्य-सम्मूर्च्छनाजन्य कहा गया है। उसमें दोष धातु-विशेष को दूषित करते हैं। धातु सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त रहते हैं। अतः दोष-दूष्य-सम्मूर्च्छना तो स्थान-विशेष पर होती है, परन्तु उसका प्रभाव सम्पूर्ण शरीर पर होता है, जिसके परिणामस्वरूप सर्वाङ्ग संश्रित व्याधियों की उत्पत्ति होती है। जैसे सामान्य पूर्वरूप में उद्धृत ज्वर-प्रकरण में देखा जाता है कि मिथ्याहार-बिहार से कुपित दोष आमाशयाश्रित होकर अपना स्थान वहीं बना लेते हैं परन्तु अग्नि को शाखा में कर देते हैं। जिससे दोष रसानुगमन करते हुए ज्वर को व्यक्त करता है।

इस प्रकार दोष स्थान-विशेष (आमाशय) में संश्रित होते हुए भी सर्वाङ्ग व्याधि उत्पन्न करता है। वास्तव में इस अवस्था में धातुओं में क्रियात्मक दुष्टि होती है; अतः लक्षण धातु-संश्रय के अनुसार ही अव्यक्त रूप में उत्पन्न होते हैं जिसे सामान्य पूर्वरूप कहा जाता है। यथा—थकावट, बेचैनी, विवर्णतादि। जब दोष किसी स्थान-विशेष पर संश्रित होकर उस स्थान-विशेष के धातुओं को दूषित या विकृत करते हैं, जिससे वहाँ का प्रदेश प्रथमतः प्रभावित होता है तब दोष व्याधि प्रक्रिया में अपने भी कुछ अस्पष्ट लक्षण उत्पन्न करते हैं, जिसे विशिष्ट पूर्वरूप कहा जाता है। इसके अतिरिक्त जब दोष प्रबल रूप से प्रकुपित होकर स्थान-संश्रित होते हैं तो अव्यक्त रूप से स्वलक्षण भी उत्पन्न करते हैं, जिसे विशिष्ट पूर्वरूप कहा जाता है। जैसे—उरःक्षत अङ्ग-विशेष उरःप्रदेश का रोग है। जब दोष स्थान-संश्रित होता है तो किसी धातु-विशेष की विकृति न होकर अङ्ग-विशेष की विकृति होती है। जब उरःप्रदेश में क्षत होता है तो प्रकुपित दोषों की लक्षणोत्पादक प्रक्रिया उत्पन्न होती है। अङ्ग-विशेष में आश्रित होने के कारण जो भी लक्षण पहले उत्पन्न होते हैं वही लक्षण व्यक्तावस्था में उस रोग के परिचायक होते हैं—'अव्यक्तं लक्षणं तस्य पूर्वरूपमिति स्मृतम्।'—च० चि० ११।१२। अर्थात् उरःक्षत में उरःक्षत के लक्षण ही जब अव्यक्तावस्था में रहते हैं, तो उसे पूर्वरूप कहा जाता है।

किसी भी स्थान पर दोष संश्रित होकर जब स्थानगत विकार उत्पन्न करते हैं तो स्थानविशेष पर ही अपना पूर्ण बल लगाने के कारण, उनकी प्रबलता के कारण उनके लक्षण भी अस्पष्ट रूप से दिखलाई पड़ने लगते हैं, जिन्हें विशिष्ट पूर्वरूप कहा जाता है। जहाँ मधुकोषकार ने सामान्य व विशिष्ट पूर्वरूप का वर्णन किया है वहाँ ज्वर व उरःक्षत का उदाहरण भी प्रस्तुत किया है। इस आधार पर एक संभावना सामने आती है, जिसे यह तो नहीं कहा जा सकता कि ऐसा ही होता है परन्तु एक संभाव्य विचार प्रस्तुत किया जा सकता है कि—प्रायः जब दूष्यों के दूषित होने पर क्रियात्मक विकृतिजन्य (Functional disorders) व्याधियाँ उत्पन्न होती हैं तो उनके सार्वदैहिक प्रभाव से सामान्य पूर्वरूप उत्पन्न होते हैं तथा दोषों के स्थान संश्रित होने और अंगविशेष या धातुविशेष में रचनात्मक या आङ्गिक रूप में विकृति से व्याध्युत्पत्ति (Organic disordors) की जाती है तो विशिष्ट पूर्वरूप की उत्पत्ति होती है। हालांकि व्याध्युत्पत्ति प्रक्रिया में मुख्य भूमिका दोष-दूष्य की ही होती है; अतः दोषजन्य अस्पष्ट लक्षण सामान्य व दूष्यादि से सम्बन्धित अन्य लक्षण विशिष्ट पूर्वरूप कहे जाते हैं। परन्तु कतिपय रोगों में ऐसे भी विशिष्ट लक्षण होते हैं, जिनका सम्बन्ध प्रत्यक्ष रूप से न तो दोष से होता है और न ही दूष्य से। हालांकि वे लक्षण तो मुख्य लक्षणों की उत्पत्ति के पूर्व होते हैं, परन्तु वे स्पष्ट रूप से व्यक्त अवस्था में विद्यमान रहते हैं। यथा—राजयक्ष्मा में वर्णित कति-

पय पूर्वरूप या स्वप्नादि में प्रकट होने वाले पूर्वरूप आदि। राजयक्ष्मा के पूर्वरूप में कहा गया है कि—'यक्ष्मिणां घुणकेशानां तृणानां पतनानि च। प्रायोऽन्नपाने केशानां नखानां चाभिवर्द्धनम्।'—च० चि० ३।८। 'तस्येमानि पूर्वरूपाणि भवन्ति, तद्यथा··· दोषदर्शनमदोषेष्वल्पदोषेषु वा भावेषु पात्रोदकान्नसूपापूपोपदंशपरिवेषकेषु···बाह्वोश्च प्रमाणजिज्ञासा, स्त्रीकामता ······निर्घृणित्वं, बीभत्सदर्शनता चास्य काये स्वप्ने चाभीक्ष्णं···चाधिरोहणमिति।'—च० नि० ६।१३।

यहाँ चरक नि० में वर्णित कतिपय ऐसे ही लक्षणों को उपर्युक्त पंक्तियों में उद्धृत किया गया है, जिसे मधुकोष टीका में उद्धृत कर कहा गया है कि—'न च तदपि दोषजं, दोषाणां तृणादिभिरसम्बन्धात् असंबद्धस्य च भावस्य कारणत्वेनादृष्टत्वात्, परम्परया तु सम्बन्धकल्पनयाऽतिप्रसङ्गात् सर्वं सर्वस्य कारणं स्यात्'—मधु०। राजयक्ष्मा के पूर्वरूप में कहा गया है कि रोगी को ऐसा अनुभव होता है कि अन्नपान में, तृण, घुण, केशादि गिरा हुआ है, आतुर के केश व नख की अतिवृद्धि होती है, आतुर को स्वच्छ पात्र, जल, अन्नादि में गन्दगी का अनुभव होता है, आतुर अपने हाथों की लम्बाई जानना चाहता है, स्त्रियों को अधिक चाहता है, निर्लज्जता हो जाती है, अपना ही शरीर वीभत्स रूप में दिखाई पड़ता है, आतुर स्वप्न में सर्वत्र शुष्कता की व्याप्ति ही देखता है, विशिष्ट पक्षियों का स्पर्श, विशिष्ट जन्तु घोड़ा, ऊँट, सूअर पर चढ़ना, केश, राख, तुषादि पर तथा आग पर चढ़ना आदि देखता है। इन लक्षणों में कतिपय लक्षण अन्नपान में घुण-केशादि देखना, नख-केशादि का बढ़ना आदि को उद्धृत करते हुए मधुकोषकार का कहना है कि—'स्थानसंश्रयिणा क्रुद्धा···दोषा···। में दोषकृत लक्षणों को ही पूर्वरूप कहा गया है, परन्तु तृणादि पतन में दोष का सम्बन्ध नहीं होता। चरकोक्त राजयक्ष्मा के पूर्वरूप का लक्षण उपर्युक्त परिभाषा के अन्तर्गत नहीं है, अतः दोषों से असम्बद्ध होने के कारण इसे दोषज मानना उचित नहीं है। परम्परा से दोषों को कारण कहने से सर्वत्र अतिव्याप्ति दोष हो जायेगा। इस प्रकार सभी वस्तुएँ सबका कारण बन जायेंगी तो फिर कार्य-कारण की सम्पूर्ण परम्परा ही समाप्त हो जायेगी। आचार्य विजयरक्षित इन लक्षणों को 'भाविव्याधि-प्रबोधकः' मानने के पक्ष में हैं, उनका कहना है कि इसमें पूर्णरूपत्वेन उत्पन्न सभी लक्षणों का समावेश हो जाता है। परन्तु भावि व्याधि प्रबोधकत्व मात्र कहने से निदानादि का भी इसमें समावेश हो जाता है। यथा—कोई व्यक्तिविशेष यदि मिट्टी खा रहा है तो निदान (मिट्टी खाने से) से ही यह ज्ञान हो जाता है, कि इस व्यक्ति-विशेष को पाण्डु रोग होगा।

यदि राजयक्ष्मा या अन्य व्याधियों में जहाँ इस तरह के पूर्वरूप हैं, उन्हें किस-प्रकार का पूर्वरूप माना जाय। क्या इन लक्षणों का दोष-दूष्य से सम्बन्ध नहीं है? तो फिर आतुर के अन्दर पूर्वरूप के रूप में ये लक्षण कैसे उत्पन्न होते हैं? यहाँ मधु-

कोषकार ने अपना तर्क तो प्रस्तुत कर दिया है, परन्तु इनके बारे में कोई निर्णय नहीं दिया है कि इसे यदि पूर्वरूप माना जाय तो किस प्रकार का पूर्वरूप माना जाय। यदि ये लक्षणरूप में उत्पन्न होते हैं तो क्यों ? आखिरकार इन लक्षणों की उत्पत्ति जनसामान्य में न होकर व्यक्तिविशेष में ही होती है। शरीरगत सम्पूर्ण क्रियायें तीन ही प्रकार की होती हैं; जिनके माध्यम वात, पित्त, कफ हैं। मन के भी दो दोष रज व तम हैं। हमारे मत से मधुकोषकार ने 'स्थानसंश्रयिण: दोषा:' मात्र शारीरिक दोषों के परिप्रेक्ष्य में देखा है, जिससे राजयक्ष्मा के पूर्वरूप में उत्पन्न विभिन्न मनोगत लक्षणों का उन्होंने दोषों से सम्बन्ध न होना कहा है। वास्तव में पूर्वरूपावस्था में कोई भी लक्षण व्याध्युत्पत्ति प्रक्रिया का ही द्योतक है, यदि ये लक्षण (तृणपतन) उत्पन्न होते हैं, तो किसी न किसी क्रमिक प्रक्रिया के ही परिणाम हैं। राजयक्ष्मा कोई विशिष्ट व्याधि न होकर कई रोगों का समूह है। प्रथमत: यह ध्यातव्य है कि राजयक्ष्मा किस स्वभाव का रोग है। राजयक्ष्मा एक व्याधिसमूह है, जिसमें शारीरिक व मानसिक दोनों विकृतियां समान रूप से प्रारम्भ होती हैं। यह कहा जा सकता है कि यह आयुर्वेद के मनोदैहिक परम्परा का मील का पत्थर (Mile stone of Psychdsomatic tradition of Ayurveda) है। राजयक्ष्मा ओज:क्षयजनित व्याधि है, क्योंकि च० चि० ८ में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि चन्द्रमा की चिकित्सा ओजोवर्द्धक औषधियों से की गई। ओज का सम्बन्ध शरीर व मन से है। आयुर्वेद में बल (व्याधिक्षमता) का कारण ओज को माना गया है तथा बल की अवधारणा शरीर व मन दोनों के लिए है—'त्रिविधं बलमिति""सहजं यच्छरीरसत्त्वयो: प्राकृतम्'—च० सू० ११।३६। इत प्रकार बल की अवधारणा मनोदैहिक है। शरीर में ओज ही वह पदार्थ है जो मनोदैहिक बल का कारण है (Ojas is the factor which is Conccrned to Psychosamatic immunity)। जब राजयक्ष्मा में चतुर्विध कारण से ओज व ओजवर्गीय द्रव्यों का क्षय होने लगता है, तो शरीर व मन दोनों के बल का क्षय होने लगता है, परिणामत: दोष प्रबल रूप से व्याध्युत्पत्ति करते हैं। शारीरिक दोषों के साथ मानसिक दोष रज व तम भी कुपित होकर इस प्रक्रिया में व्यक्तावस्था के पूर्व भाग लेते हैं। जब विकारोत्पत्ति प्रक्रिया पूर्ण होकर शरीरगत लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं तो मानसिक दोष शारीरिक दोषों के साथ अनुबन्धित हो जाते हैं। ओज:क्षय की अवस्था में शरीर के साथ मनोविकृति भी होती है यथा—'विभेति दुर्बलोऽभीक्ष्णं ध्यायति व्यथितेन्द्रिय:। दुश्छायो दुर्मना रूक्ष: क्षामश्चैवौजस: क्षये ॥' इस प्रकार राजयक्ष्मा व्याधि उत्पत्तिक्रम में जब ओजक्षय होता है तो मनोविकार उत्पन्न होते हैं, जिसमें आतुर के मन में अनेक प्रकार का भय व्याप्त हो जाता है। दुर्मना की स्थिति में आतुर तृणादि पतन का अनुभव करता है। धातुओं के पोषणक्रम में सारभाग का निर्माण अल्प व मल

का निर्माण ज्यादा होता है। परिणामतः केश व नख की वृद्धि होती है; क्योंकि केश व नख अस्थि धातु के मल होते हैं—'स्यातिकट्टं केशलोमास्थ्नो।'—च० चि० १५। मनोविकृति के कारण व्यक्ति विभिन्न प्रकार का स्वप्न देखता है। चूंकि इस अवस्था में धातुओं का शोषण होता है, अतः स्वप्न में शुष्क भाव अधिक दिखाई पड़ते हैं तथा केश-नखादि मलभाव की उत्पत्ति के कारण दुर्मना की स्थिति में केश के ढेर पर रोगी स्वप्न में अपने को चढ़ा हुआ देखता है। जहाँ यक्ष्मोत्पत्ति से सम्बन्धित पौराणिक गाथा दी गई है वहीं अन्त में कहा गया है कि—'रजः परीतमबलं यक्ष्मा शशिनमाविशत्।'—च० चि० ८।७। अर्थात् रजोगुण से युक्त निर्बल चन्द्रमा को राजयक्ष्मा रोग हुआ। यहाँ स्पष्टतः राजयक्ष्मा में बल-क्षय व रजोगुण की वृद्धि मानी गई है। अतः जहाँ तक राजयक्ष्मा के उपर्युक्त पूर्वरूप में कथित लक्षणों का प्रश्न है, उनकी उत्पत्ति दोष के स्थानसंश्रय के अनुसार ही है। शारीरिक दोष प्रायः प्रथमतः शारीरिक भावों में स्थानसंश्रित होते हैं तथा मानसिक दोष मन में स्थानसंश्रित होकर मनोविकृति उत्पन्न करते हैं। इसीलिए राजयक्ष्मा की चिकित्सा में जितनी औषध चिकित्सा या बृहंणादि चिकित्सा की उपादेयता होती है उतनी ही रोगी के मानसिक प्रसन्नता और उसे आश्वस्त करने की होती है। चरकसंहिता में राजयक्ष्मा चिकित्सा प्रकरण में कहा गया है कि—'यानि प्रहर्षकारीणि तानि पथ्यतमानि हि।'—च० चि० ८।१८२। अर्थात् मन में जो भी हर्ष उत्पन्न करने वाले आहार-बिहारादि हैं वे सभी राजयक्ष्मा में पथ्य हैं। इसके अतिरिक्त निम्न प्रकार की मनोचिकित्सा राजयक्ष्मा में उपादेय कही गई है—

सुहृदां रमणीयानां प्रमदानां च दर्शनैः।
गीतवादित्रशब्दैश्च प्रियश्रुतिभिरेव च॥
हर्षणाऽश्वासनैर्नित्यं गुरूणां समुपासनैः।
ब्रह्मचर्येण दानेन तपसा देवतार्चनैः॥
सत्येनाचारयोगेन माङ्गल्यैरप्यहिंसया।
वैद्यविप्रार्चनाच्चैव रोगराजो निवर्तते॥

(च० चि० ८। १८६-१८८)

उपर्युक्त विवेचन का तात्पर्य इतना ही है कि पूर्वरूप में वर्णित लक्षण व्याध्युत्पत्ति प्रक्रिया के अवस्थाविशेष में उत्पन्न होते हैं। वह अवस्था स्थानसंश्रित दोष की है। कतिपय शारीरिक व्याधियों में मानसिक दोषों का भी अनुबन्ध होता है; अतः पूर्वरूप में उत्पन्न लक्षण शारीरिक के साथ-साथ मनोविकृतिजन्य भी हो सकते हैं। अतः राजयक्ष्मादि के पूर्वरूप में उत्पन्न अनेक प्रकार की मनोविकृतियाँ मानसिक दोष के कारण ही होती हैं। स्वप्न में भी मन क्रियाशील रहता है जब व्याध्युत्पत्ति क्रम में

मन भी दोषयुक्त हो जाता है तो अनेक प्रकार के स्वप्न दिखलाई पड़ते हैं; अत: यह कहना उचित नहीं है कि इन लक्षणों का सम्बन्ध दोष से नहीं है। बिना दोष के प्राकृत या विकृत कोई भी क्रिया शरीर या मन में नहीं होती। जब मनोविकृतिजन्य लक्षण उत्पन्न होते हैं तो इसका तात्पर्य यह है कि मानसिक दोष अनुबन्धित है; क्योंकि च० शा० ४।३६ में स्पष्ट कहा गया है कि—शरीर भी मन का अनुगमन करता है तथा मन शरीर का अनुगमन करता है—'शरीरं ह्यपि सत्वमनुविधीयते, सत्त्वं च शरीरम्।' जब रजोगुण की अधिकता होती है तो असूयक (दूसरे के गुण में भी दोष दिखाई देना, जैसे स्वच्छ पात्र का भी गन्दा दिखाई देना) च० शा० ४।३६।१, स्त्रीरहस्कामम् (स्त्रियों के साथ एकन्त में रहने वाला यक्ष्मा में स्त्रीकामता) च० शा० ४।३६।३, आशङ्की (शङ्कित रहना, जैसे कहीं हाथ छोटे तो नहीं हो रहे हैं, इसलिए हाथ की लम्बाई नापता है) नित्यशङ्कितम् - का० सं०—आदि लक्षण होते हैं। अत: राजयक्ष्मा के पूर्वरूप में उत्पन्न लक्षण दोषजन्य ही है।

३. रूप

'प्रादुर्भूतलक्षणं पुनर्लिङ्गम्। तत्र लिङ्गमाकृतिर्लक्षणं चिह्नं संस्थानं व्यञ्जनं रूपमित्यनर्थान्तरम्।'—च० नि० १।९।

'तदेव व्यक्ततां यातं रूपमित्यभिधीयते ।
संस्थानं व्यञ्जनं लिङ्गं लक्षणं चिह्नमाकृतिः ॥'

(मा० नि० १।७॥ वा० नि० १)

अर्थात् व्यक्त हुआ पूर्वरूप ही रूप कहा जाता है अथवा उत्पन्न रोग के जो लक्षण होते हैं, उन्हें रूप कहते हैं। रूप के संस्थान, व्यञ्जन, लिङ्ग, लक्षण, चिह्न तथा आकृति ये पर्याय हैं। आचार्य वाग्भट ने अव्यक्त पूर्वरूप को ही व्यक्त हो जाने पर उन्हें रूप कहा है। पूर्वरूप में लक्षण अस्पष्ट रहते हैं जो कुछ कालोपरान्त स्पष्ट होते हैं तो उन्हें रूप कहा जाता है। इस अवस्था में व्याधि के परिचयात्मक सभी लक्षण व्यक्त हो जाते हैं। रूपावस्था में दोष-दूष्य सम्बन्धित व्याध्युत्पत्ति का क्रम पूर्ण हो जाता है। संस्थानादि इसके पर्याय हैं। १. संस्थान—रूप का पर्याय संस्थान कहा गया है। संस्थान लक्षण व शरीर अर्थ में प्रयुक्त होता है। च० सू० १८ में संस्थान लक्षण हेतु प्रयुक्त है—'रूजावर्णसमुत्थानस्थानसंस्थाननामभिः।' चरक संहिता के व्याख्याकार डा० चतुर्वेदी व डा० शास्त्री ने संस्थान का शब्दत: अर्थ तो स्पष्ट नहीं किया है परन्तु गुल्म, अर्बुद, गलगण्डादि को उदाहरणस्वरूप प्रस्तुत किया है। संस्थान के द्वारा यह समझा जा सकता है कि स्थानसंश्रित दोष के व्यक्तरूप संस्थान कहे जाते हैं। इसमें स्थानविशेष में संश्रित होने पर दोष द्वारा उस स्थानविशेष में उत्पन्न लक्षणों का अन्तर्भाव हो सकता है। यथा–गल प्रदेश में दोष संश्रित होकर

उस प्रदेश (गल-प्रदेश) में विकृति उत्पन्न करता है तो गल प्रदेश में उत्पन्न लक्षण संस्थान कहा जा सकता है। इसी प्रकार अन्य स्थानों पर दोषों के आश्रयस्थान पर लक्षणोत्पत्ति कर व्याधिजन्य लक्षण व्यक्त हो जाते हैं अतः इसे संस्थान कहा जाता है। २. लिङ्ग—इसका प्रयोग लक्षण अर्थ में होता है—'लिङ्ग्यते ज्ञायते अनेन इति लिङ्गम्।' जिसके द्वारा व्याधि की पहचान होती है, उसे लिङ्ग कहा जाता है। त्रिसूत्र आयुर्वेद में लक्षण हेतु लिङ्ग शब्द का ही प्रयोग किया गया है। ३. आकृति—इसका प्रयोग लक्षण व शरीर अर्थ में होता है। यहाँ यह व्याधि के प्रमाण से सम्बन्धित पर्याय है। व्याधि का स्वरूप क्या है? जिसकी जानकारी लक्षण से होती है। व्याधि की दीर्घता, लघुता शीघ्रकारित्व, चिरकारित्वादि व्याधि के आकार हैं। इनकी जानकारी लक्षणों द्वारा ही होती है; अतः आकृति को लक्षण का पर्याय कहा गया है। ४. चिह्न—इसका प्रयोग लक्षण व पताका अर्थ में होता है। चिह्न का तात्पर्य शरीर में विद्यमान लक्षण से है। व्याधियों में दो प्रकार के लक्षण होते हैं। एक लक्षण जो शरीर में व्यक्त रहते हैं, जिसे वैद्य प्रत्यक्षीकरण (Percieve) करते हैं तथा दूसरे वे जो आतुर अपने अनुभव के आधार पर अभिव्यक्त करता है। यहाँ चिह्न का तात्पर्य शरीर में उपस्थित या विद्यमान चिह्न (Sign) से है। ५. व्यञ्जन—व्यञ्जन का प्रयोग आयुर्वेद में लक्षण तथा विभिन्न प्रकार के शाक भेदों के लिए प्रयुक्त होता है। सामान्यतया व्यञ्जन का अर्थ विभिन्न संस्कारों से निर्मित शाक या भोज्य पदार्थ के भेद हेतु प्रयुक्त होता है यथा—'तैल-सर्पिर्भ्यां व्यञ्जनान्युपकल्पयेत्।' ६. रूप—रूप का अर्थ लक्षण व शरीर होता है। आचार्य चक्रपाणिदत्त के अनुसार 'रूप्यते इति रूपं भौतिकशरीरमिति' अर्थात् भौतिक शरीर जिस स्थिति में दिखाई देता है, उसे रूप कहते हैं। इसी प्रकार रोग जिस स्थिति द्वारा अपनी अभिव्यक्ति करता है, उसे रूप कहा जाता है।

इस प्रकार उत्पन्न व्याधि का ज्ञान कराने वाले को लिङ्ग कहा जाता है—'उत्पन्नव्याधिबोधकमेव लिङ्गंरूपम्।' एक ही लक्षण जब प्रधान रूप से अभिव्यक्त होता है तो वह रोग की संज्ञा का आधार यानि नामकरण का आधार होता है, परन्तु कदाचित् कुछ व्याधियों में लक्षणसमूह के रूप में रहता है। इसका तात्पर्य यह है कि कतिपय विकार स्वतन्त्र रूप से रोग स्वरूप होते हैं। तब उन्हें लक्षण नहीं कहा जाता है, जब वह विकार अन्य व्याधियों में उस व्याधिविशेष का बोध कराता है; तब उसे लक्षण कहा जाता है। यथा—ज्वर एक स्वतन्त्र व्याधि माना गया है। जब ज्वर में स्वेदावरोध, अङ्गमर्दादि लक्षण साथ-साथ होते हैं तब उसे ज्वर की संज्ञा से अभिहित किया जाता है। ज्वर के प्रतिपादन में उपस्थित स्वेदावरोध लक्षण है, परन्तु यदि राजयक्ष्मा आदि में ज्वर होता है तो वह राजयक्ष्मा रोग का बोध कराने वाला

होता है । अतः ज्वर को वहाँ राजयक्ष्मा का लक्षण माना जाता है । चरकसंहिता में कहा गया है कि—

'ज्ञानार्थं यानि चोक्तानि व्याधिलिङ्गानि संग्रहे ।
व्याधयस्ते तदात्वे तु लिङ्गानीष्टानि नामयाः ॥' (च० नि० ८।४०)

अर्थात् जब विकार स्वतन्त्र रूप से होते हैं तो उन्हें व्याधि कहा जाता है परन्तु जब अन्य रोगों के अधीन होते हैं तो उन्हें लक्षण कहा जाता है । इस तथ्य को आचार्य चक्रपाणिदत्त ने और भी स्पष्ट किया है—'ये ज्ञानार्थं प्रधानभूतज्वरादिज्ञानार्थं व्याधयः सन्ति तेऽविपाकारुच्यादयः स्वातन्त्र्येणोत्पद्यमाना व्याधय एव व्याधित्वेनैव व्यपदेष्टव्या इत्यर्थः, तदात्वे तु लिङ्गानीति, यथा ज्वरादिपरतन्त्रा जायन्तेऽरुच्यादयः, तदा पारतन्त्र्याल्लिङ्गान्येव ते नामयाः ।' अर्थात् जब ज्वरादि रोग में अविपाक, अरुचि आदि उपस्थित होता हैं तो उसे लक्षण कहा जाता है, जब इनकी उत्पत्ति स्वतन्त्र रूप से होती है, तब उन्हें व्याधि कहा जाता है । इसी प्रकार ज्वरादि भी जब स्वतन्त्र रूप से उत्पन्न होते हैं तो उन्हें व्याधि कहा जाता है तथा जब किसी अन्य व्याधि के अन्तर्गत परतन्त्र रूप से उत्पन्न होते हैं तो उन्हें लक्षण कहा जाता है ।

४. उपशय

'उपशयः पुनर्हेतुव्याधिविपरीतानां विपरीतार्थकारिणां चौषधाहारविहाराणामुपयोगः सुखानुबन्धः ।' (च० नि० १।१०)

'हेतुव्याधिविपर्यस्तविपर्यस्तार्थकारिणाम् ।
औषधान्नविहाराणामुपयोगं सुखावहम् ॥
विद्यादुपशयं व्याधेः स हि सात्म्यमिति स्मृतः ।'
(मा० नि० १।८ । वा० नि० ९)

अर्थात् औषध, अन्न व विहार के सुखावह उपयोग को उपशय कहा जाता है । चरकसंहिता में उपशय को 'सुखानुबन्धः' तथा वाग्भटोक्त मा० नि० में उद्धृत श्लोक में 'सुखावहम्' कहा गया है । इस प्रकार यह स्पष्ट है कि किसी आहारविशेष, औषधविशेष या विहारविशेष का उपयोग सुखकारी होता है, तो इसे ही उपशय कहा जाता है । उपशय को और भी स्पष्ट करने के उद्देश्य से आचार्य वाग्भट ने उपशय को ही सात्म्य कहा है । उपशय को समझने के लिए प्रथमतः सात्म्य को समझना अपेक्षित है, क्योंकि सात्म्य को समझने से उपशय स्वतः स्पष्ट हो जायेगा । 'सात्म्यं नाम तद् यदात्मन्युपशेते सात्म्यार्थो ह्युपशयार्थः ।'—च० वि० १।२० । अर्थात् जो आत्मा के लिए सुखकारी हो उसे सात्म्य कहा जाता है, इसी को उपशय भी कहा कहा है । पुनः विमान अ० ८ में कहा गया है—'सात्म्यतश्चेति सात्म्यं नाम तद्यत् सातत्येनोपसेव्यमानमुपशेते ।'—च० वि० ८।११८ । अर्थात् जब किसी आहारौषध या विहारविशेष का निरन्तर सेवन करने से व्यक्तिविशेष के लिये वह प्रकृति के अनुकूल

हो जाय तो उसे सात्म्य कहा जाता है। यहाँ सात्म्य का तात्पर्य अनुकूलता से है। अर्थात् जो चेष्टा आहार, औषधादि शरीर के अनुकूल हो जाय उन्हें सात्म्य कहा गया है। जब निरन्तर अभ्यास करने से कोई पदार्थ शरीर पर किसी प्रकार का हानिकर प्रभाव नहीं करता है तो उसे शरीरानुकूल या ओकसात्म्य कहा जाता है—'इत्युक्तमृतुसात्म्यं यच्चेष्टाहारव्यपाश्रयम्। उपशेते यदौचित्यादोकसात्म्यं तदुच्यते। देशानामामयानां च विपरीतगुणं गुणैः। सात्म्यमिच्छन्ति सात्म्यज्ञाश्चेष्टितं चाद्यमेव च।'—च० सू० ६।४९-५०। यहाँ आचार्य का कथन है कि सात्म्य को जानने वाले विद्वान् अर्थात् सात्म्यज्ञ देश व रोगों के विपरीत गुण वाले आहार-विहार को उन-उन देशों व रोगों के लिए सात्म्य मानते हैं। इस प्रकार उपशय में वर्णित विपरीत आहार औषध, चेष्टादि को प्रायशः सात्म्य कहा गया है तथा 'उपशेते' कहकर यहाँ सात्म्य व उपशय को एकार्थवाची प्रदर्शित किया गया है। आचार्य वाग्भट ने सात्म्य को निम्न रूप में स्पष्ट किया है—

'सात्म्यस्य नियमो ह्येष आत्मना सह यत् स्थितम्।
आत्मा ह्यनुमतो देहो यदा द्रव्योपयोगतः॥
विकारं नैव भजते तस्मात्सात्म्यं निरुच्यते।'
(अ० स० नि० १)

अर्थात् किसी प्रकार का आहार-विहार के उपयोग करने पर जब वह आत्मा के अनुकूल होता है तथा किसी प्रकार का विकार उत्पन्न नहीं करता तो उसे सात्म्य कहा जाता है। यहाँ आत्मा के अनुकूल या प्रतिकूल का तात्पर्य क्या है? इस पर इस तरह से विचार किया जा सकता है कि जीवन की क्रियायों व तज्जन्य लक्षण का मूलकारण आत्मा है, अतः यहाँ आत्मा से मौलिक व अन्य जीवन की अनिवार्य क्रियायों का ग्रहण करना चाहिए। इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि—जब कोई भी औषध, आहार, विहारादि का सेवन करने पर शारीरिक या मानसिक क्रियायों में किसी प्रकार की बाधा नहीं पहुँचती और वह शारीरिक या मानसिक क्रियायों के अनुकूल हो जाय तो उसे सात्म्य कहते हैं। इसके विपरीत जो औषधादि शारीरिक या मानसिक क्रियायों में बाधा पहुँचाते हैं, उन्हें असात्म्य कहा जाता है। हमारे मत से यदि सात्म्य को समझाने की दृष्टि से पारिभाषित करना है तो इस स्थिति में कहा जा सकता है कि—यदि कोई आहार, विहार, औषधादि प्रयोग करने पर शारीरिक या मानसिक क्रिया को प्रतिकूल रूप में प्रभावित न करे अर्थात् ये क्रियायें प्राकृत रूप से अबाध गति से चलती रहें तो उसे सात्म्य कहा जाता है। (The factors utilised by individual, which have no untoward effect on the body for maintaing physiological functions are termed as satmya) यदि स्नेह प्रकरण पर ध्यान दिया जाता है तो यह बात स्पष्ट हो जाती है; जहाँ कहा गया है—

'सप्तरात्रात् परं स्नेहः सात्म्यीभवति सेवितः ।'—सु० चि० ३ । 'वातिकः सप्तरात्रेण सात्म्यतां यात्यतः परम् ।'—चरकोपस्कार ।

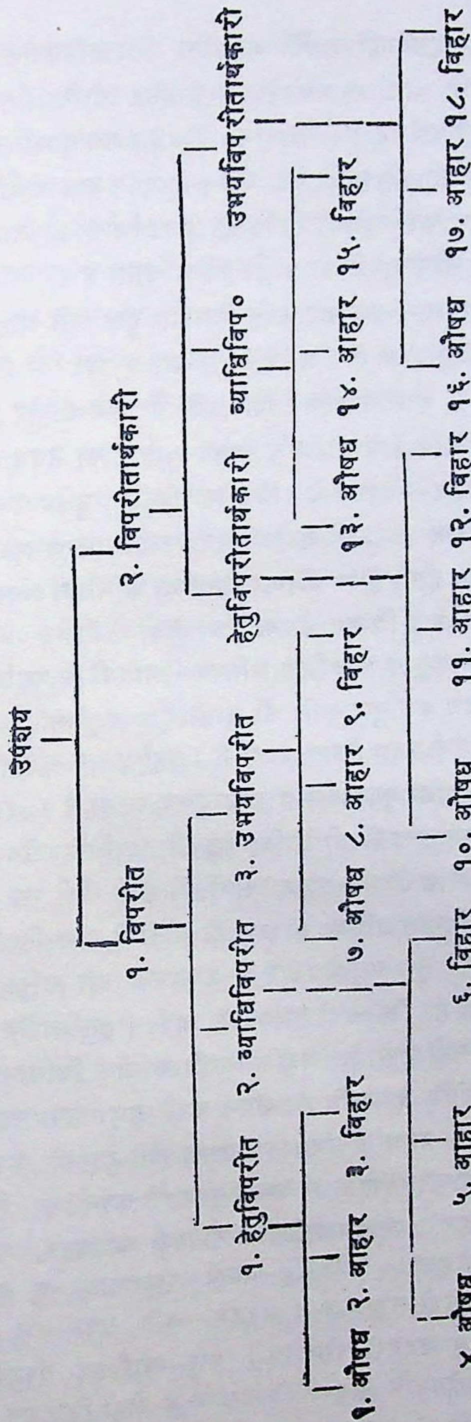
इसका तात्पर्य यह हुआ कि सात दिनों के बाद स्नेहपान सात्म्य हो जाता है अर्थात् किसी प्रकार से भी शरीर के प्राकृत क्रियादि में परिवर्त्तन नहीं कर पाता जबकि सात दिनों से पूर्व रूक्षादि को स्निग्धादि में, चल को स्थिरता में परिवर्त्तित कर प्राकृत रूप क्रिया को स्थापित करता है । प्राकृत क्रिया में जब किसी प्रकार का परिवर्त्तन नहीं होता तब उसे सात्म्य कहा जाता है । इसी को उपशय भी कहा गया है । यहाँ उपशय से तात्पर्य शारीरिक भावों को सामान्य करने वाले भाव से है; क्योंकि उपशय को 'सुखानुबन्धः या सुखावहः' कहा गया है । आयुर्वेद में आरोग्य को सुख कहा गया है । शरीरस्थ भावों का समभाव में रहना ही आरोग्य है । इस प्रकार उपशय का तात्पर्य शरीरस्थ भावों का समभाव में रहना है । इनके सेवन से किसी प्रकार के कष्ट का अनुभव नहीं होना चाहिए । बल्कि उनसे सुखानुभव होना चाहिए ।

आयुर्वेद में उपशय को मुख्यतः दो प्रकार का कहा गया है—१. विपरीत तथा २. विपरीतार्थकारी । पुनः दोनों हेतु व्याधि व उभयविध से तीन प्रकार के होते हैं, जिसमें से प्रत्येक औषध, आहार, विहार भेद से तीन प्रकार का होता है । इस प्रकार उपशय की कुल संख्या—२ × ३ × ३ = १८ हो जाती है, जिसे निम्न रेखाचित्र में देखा जा सकता है— (रेखाचित्र पृष्ठ २१३ पर देखें)

१. विपरीत उपशय—पूर्व में चरक व वाग्भट के उपशय सम्बन्धी वचनों का उल्लेख किया गया है कि देश, रोगादि के बिपरीत भाव प्रायशः सात्म्य होते हैं, जिसे उपशय कहा जाता है । प्रायः विपरीत भाव ही उत्पन्न विकारों को शांत कर सामान्यावस्था में लाने वाले होते हैं, अतः पहले विपरीत भावों द्वारा उपशय का निर्देश किया गया है ।

(अ) हेतुविपरीत उपशय—जब हेतु यानि व्याधि के कारण के विपरीत आहारादि का सेवन किया जाता है तो उसे हेतुविपरीत कहा जाता है । इसके औषध, आहार, विहार भेद से तीन प्रकार होते हैं ।

(१) हेतुविपरीत औषध—जब हेतु को दृष्टिगत करते हुए तद्विपरीत औषधियों का प्रयोग किया जाता है तो उसे हेतुविपरीत कहा जाता है । च० वि० ३ में इसका उल्लेख करते हुए कहा गया है कि—'शीतेनोष्णकृतान् रोगान् शमयन्ति भिषग्विदः । ये च शीतकृता रोगास्तेषामुष्णं भिषग्जितम् ।'—च० वि० ३।४१ । अर्थात् उष्ण द्रव्यों के प्रयोग द्वारा उत्पन्न विकारों में शीत गुण वाले द्रव्य एवं शीतोत्पन्न विकार में उष्ण द्रव्य लाभदायक होते हैं । इस प्रकार कारण के विपरीत प्रयुक्त चिकित्सा हेतुविपरीत चिकित्सा कही जाती है । निदान या हेतुविपरीत चिकित्सा को और भी स्पष्ट करते


उपशय
१. विपरीत
२. विपरीतार्थकारी
१. हेतुविपरीत
२. व्याधिविपरीत
३. उभयविपरीत
हेतुविपरीतार्थकारी
व्याधिविप०
उभयविपरीतार्थकारी
१. औषध
२. आहार
३. विहार
४. औषध
५. आहार
६. विहार
७. औषध
८. आहार
९. विहार
१०. औषध
११. आहार
१२. विहार
१३. औषध
१४. आहार
१५. विहार
१६. औषध
१७. आहार
१८. विहार

हुए कहा गया है कि—'एवमितरेषामपि व्याधीनां निदानविपरीतं भेषजं भवति, यथा—अपतर्पणनिमित्तानां व्याधीनां नान्तरेण पूरणमस्ति शान्तिः, तथा पूरणनिमित्तानां व्याधीनां नान्तरेणापतर्पणम् ।'—च० वि० ३।४२ । अर्थात् कतिपय व्याधियों की चिकित्सा निदान के विपरीत की जाती है । जैसे—अपतर्पणजन्य रोगों की चिकित्सा सन्तर्पण से व सन्तर्पणोत्थ व्याधियों की चिकित्सा अपतर्पण से की जाती है । जैसे—शीतजन्य कफज ज्वर में उष्ण शुण्ठी का प्रयोग किया जाता है ।

(२) **हेतुविपरीत आहार**—जब कारण के विपरीत गुण वाले आहार का सेवन किया जाता है, तो सुखावह होता है । श्रमजन्य या वातज ज्वर में स्निग्ध व तर्पक आहार का सेवन करना । रूक्षाहारजन्य व्याधियों में स्निग्धाहार सेवन करना, अभिष्यन्दि आहारजन्य व्याधियों में तीक्ष्ण व विशद आहार का सेवन करना आदि ।

(३) **हेतुविपरीत विहार**—कारण के विपरीत विहार सुखप्रदायक होता है । जैसे—दिवा स्वप्नजन्य कफ में रात्रिजागरण एवं रात्रिजागरणजन्य रूक्षवात में स्निग्ध दिवास्वप्न सुखावह होता है । अचेष्टाजनित या अचिन्तनजनित स्थूलता की चिकित्सा क्रमशः श्रम करना व चिन्तन करना होता है ।

(ब) **व्याधिविपरीत**—हेतु के अतिरिक्त कतिपय स्थितियों में व्याधि के विपरीत औषध, आहारादि का सेवन कर सुख-प्राप्ति की जाती है । यहाँ व्याधि से, व्यथा या उत्पन्न प्रधान लक्षण का अर्थ ग्रहण किया जाता है । यहाँ प्रधान लक्षण का तात्पर्य यह है कि जिसके कारण व्यक्ति मुख्य रूप से कष्टानुभव करता है । इसके अतिरिक्त विभिन्न व्याधियों में उत्पन्न उपद्रवों की शान्ति हेतु भी व्याधिविपरीत चिकित्सा की जाती है । जिन व्याधियों में शरीरगत धारक भावों की क्षति सीधे रूप में होती है या शारीरिक धातुओं की विनाश-प्रक्रिया प्रारम्भ हो जाती है, उस स्थिति में व्याधिविपरीत चिकित्सा की जाती है । मधुकोषकार ने वाप्यचन्द्र की उक्ति का उल्लेख किया है, जिसमें कहा गया है कि—'दोषप्रत्यनीक कर्म (हेतुविपरीत चिकित्सा) नियमतः व्याधिप्रत्यनीक नहीं होते हैं, जबकि व्याधिप्रत्यनीक चिकित्सा अवश्य ही दोषप्रत्यनीक होती है, क्योंकि वे व्याधि का शमन करते हुए दोष का भी शमन करते हैं । वे कहते हैं कि—वमन व लंघम कफनाशक होते हुए भी कफज गुल्म का नाश नहीं करते हैं, क्योंकि चरकसंहिता में कफज गुल्म में वमन का निषेध किया गया है—'ज्वरादि व्याधिहरं ··· यद्दोषप्रत्यनीकं तन्नावश्यं व्याधिहरं, यथा—वमनलङ्घने कफहरे न कफगुल्मं हरतः, उक्तं हि—कफे लङ्घनसाध्ये तु कर्तरि ज्वरगुल्मयोः । तुल्येऽपि देशकालादौ लङ्घनं न च संमतम्—इति तथा—'न वामयेत्तैमिरिकं न गुल्मिनं न चापि पाण्डूदररोगपीडितम् । यत्तु व्याधिहरं तदवश्यं दोषहरं, तद्व्याधिं शमयेत्तदारम्भकंदोषमपि शमयतीति अन्यथा स रोगो जित एव न स्यात्, कारणस्य तावदवस्थ्यात् इति ।'—मधुकोष में उद्धृत । परन्तु आचार्य वाप्यचन्द्र के इस

उक्ति से कतिपय विद्वान् सहमत नहीं हैं; क्योंकि सभी व्याधियों के मूलकारण कुपित दोष ही माने गये हैं, व्याधि कार्य है। कार्य के नाश से कारण का नाश हो जायेगा; ऐसी शतप्रतिशत संभावना नहीं की जा सकती। दोष व्याधियों के समवायिकारण होते हैं न कि निमित्तकारण। गुल्म के उपर्युक्त उद्धरण में गुल्म में लङ्घन-निषेध करने का कारण दोषप्रत्यनीकता ही है, क्योंकि कहा गया है कि कफज गुल्म की उत्पत्ति भी कर्शनादिजन्य वायु से होती है--'तैरेव तु कर्शनैः कर्शितस्या''' शरीरस्य श्लेष्मा सह मारुतेन प्रकोपमापद्यते।'--च० नि० ३।१०। इस प्रकार गुल्म रोग में--१. प्रथमतः वायु दोष का कर्शन द्वारा यानि कृशताकारक क्रियायों द्वारा कोप होता है तब, २. वायु कुपित कफ को आमाशय के एक भाग में एकत्रित कर वातज गुल्म सदृश वेदनायें उत्पन्न करती है--'तं प्रकुपितं मारुत आमाशयैकदेशे संवर्त्य तानेव वेदनाप्रकारानुपजनयति य उक्ता वातगुल्मे।'—च० नि० ३।११। इस प्रकार ३. 'सर्वे-ष्वपि खल्वेतेषु गुल्मेषु न कश्चिद्वाताहृते संभवति गुल्मः।'—च० नि० ३।५। अर्थात् बिना वायु दोष के किसी भी गुल्म की उत्पत्ति नहीं होती। इसलिए ४. 'गुल्मिनाम-निलशान्तिरुपायैः सर्वशो विधिवदाचरितव्या'--सभी गुल्मों में वायु की शांति हेतु सम्पूर्ण विधि के अनुसार उपाय करना चाहिए। अतः गुल्म रोग में हेतु (कर्षणादि कर्म) लंघन का निषेध किया गया है।

(१) **व्याधिविपरीत औषधि**—जब व्याधि सीधे रूप से शरीरस्थ धारक भावों का विनाश या क्षय प्रारम्भ करती है तब व्याधिविपरीत औषध का प्रयोग किया जाता है। यथा--अतिसार में पाठा, इन्द्र जौ, अतीस आदि स्तम्भक औषधियों का प्रयोग। यदि अतिसार में दोष या हेतुविपरीत चिकित्सा की जाती है तो क्रमिक रूप से व्याधि-नाश होने तक, अतिसरण से शरीर में जल तत्त्व का क्षय हो जायेगा। अतः इस अवस्था में ऐसी औषध का प्रयोग किया जाता है, जो शरीर के जल तत्त्व का क्षय रोक दे। व्याधिविपरीत औषधादि के प्रयोग में उचित यह है कि जिस व्याधि में धातुओं का निष्क्रमण हो रहा है वहाँ हेतुविपरीत चिकित्सा के स्थान पर व्याधिविपरीत चिकित्सा अधिक उपादेय है। आतुर की जीवनरक्षा इसी आधार पर की जाती है, यथा—राजयक्ष्मा में उत्पन्न अतिसार का स्तम्भन ही जीवन रक्षा का आधार है। इसी प्रकार शरीर में होने वाले धातुओं का जब सीधे रूप में स्राव होता है, यथा—रक्तस्राव, शुक्रमेह, ओजस्राव आदि तो इस अवस्था में प्रथमतः व्याधिविपरीत औषध का प्रयोग करना चाहिए। इसके अतिरिक्त जब व्याधि द्वारा शरीरगत भावों के विनाश की सम्भावना होती है तो व्याधिविपरीत चिकित्सा की जाती है। यथा--जब ज्वर मृदु या मध्य स्तर का होता है तब तो उसकी चिकित्सा हेतुविपरीत या दोषप्रत्यनीक की जाती है, परन्तु जब शरीर के तापक्रम की अतिशय वृद्धि हो जाती है तो यह भय हो जाता है कि शरीरगत भावों का नाश हो सकता

है। अतः इस स्थिति में व्याधिविपरीत चिकित्सा द्वारा प्रथमतः शीत उपचार कर तापक्रम कम किया जाता है।

(२) **व्याधिविपरीत आहार**—व्याधिविपरीत औषध-प्रयोग के सिद्धान्तानुसार ही व्याधिविपरीत स्तम्भक आहार का भी प्रयोग किया जाता है। यथा—अतिसार में मसूर दाल का प्रयोग कर स्तम्भन करना, प्रमेह रोग में यव के सत्तू का प्रयोग करना आदि।

(३) **व्याधिविपरीत विहार**—उदावर्त रोग में प्रवाहण करना। दाह में शीतल जलयुक्त जलाशय में स्नान, शीत गृह में निवास करना।

३. **हेतु व्याधि विपरीत**—कतिपय स्थितियों में हेतु व व्याधि दोनों के विपरीत औषध आहारादि का प्रयोग किया जाता है। (१) हेतु व्याधि विपरीत औषध से जब किसी एक भाव की चिकित्सा (अर्थात् केवल हेतुविपरीत या व्याधिविपरीत) आतुर के लिए सुखावह नहीं हो पाती है तो ऐसी चिकित्सा व्यवस्था की जाती है जो हेतु व व्याधि दोनों के विपरीत हो। यथा—वातजन्य शोथ में जब वात दोष के विपरीत या शोथ के विपरीत चिकित्सा की जाती है तो वह सुखावह नहीं होता, परन्तु जब हेतु (वात दोष) व व्याधि (शोथ) के विपरीत चिकित्सार्थ दशमूल (वात-शोथनाशक) का प्रयोग किया जाता है तो वह सुखावह होता है। (२) हेतु-व्याधिविपरीत आहार—जब हेतु या व्याधि के विपरीत लिया गया आहार सुख-दायक नहीं होता है तो सुख-प्राप्ति के लिए हेतु व्याधि विपरीत आहार का सेवन किया जाता है। यथा—यदि वातज या कफज ग्रहणी रोग में वात व कफहर आहार का प्रयोग किया जाता है या ग्रहणी रोग हेतु ग्राही, स्तम्भक आहार लिया जाता है तो उचित लाभ नहीं होता है, परन्तु जब ऐसे आहार का सेवन किया जाता है जो वात कफहर होने के साथ ग्रहणी रोगनाशक भी होता है, तो उससे सुखानुबन्ध होता है। यथा—तक्र-प्रयोग। ग्रहणी में तक्र का प्रयोग हेतु वात कफहर के साथ व्याधि (ग्रहणी) विपरीत भी है। इसी प्रकार शीतजन्य ज्वरादि में पेयादि का प्रयोग करना हेतु व्याधि विपरीत उपशय है। (३) हेतुव्याधिविपरीत विहार—रात्रि जागरण जन्य अङ्गमर्द में दिवास्वप्न, हेतु (रूक्षता व वातवृद्धि) व्याधि (अङ्गमर्द) दोनों के विपरीत होता है।

२. **विपरीतार्थकारी उपशय**—रोगविशेष के उत्पादक कारण के समान होते हुए भी व्याधि प्रशमन करने वाले औषध आहार, विहारादि को विपरीतार्थकारी कहा जाता है। आयुर्वेद में प्रायः विपरीत भावों के प्रयोग से रोग-प्रशमन प्रक्रिया वर्णित है। आहारादि का सेवन भी प्रकृति के विपरीत प्रायशः किया जाता है। परन्तु कतिपय अवस्थाओं में व्याधि के कारण या व्याधि के सदृश औषधादि-प्रयोग भी

सुखावह होता है, अतः उपशय का दूसरा प्रकार विपरीतार्थकारी माना गया है। चक्रपाणिदत्त ने विपरीतार्थकारी को स्पष्ट करते हुए कहा है कि—'तत्र विपरीतार्थकारि तदेवोच्यते यदविपरीततया आपाततः प्रतीयमानं विपरीतस्यार्थं प्रशमलक्षणं करोति।' इस प्रकार विपरीत फलदायक प्रतीत होते हुए भी जो औषध आहारादि व्याधि प्रशमन करते हैं, वे विपरीतार्थकारी हैं। यहाँ अर्थ का तात्पर्य फल है, इस प्रकार विपरीतार्थकारी का तात्पर्य है कि प्रतीत होने वाले फल के विपरीत फलदायक। अर्थात् विष में जब विष का प्रयोग किया जाता है, तो प्रतीत होता है कि इसकी मारकता उग्र हो जायेगी परन्तु प्रतीत होने वाले फल के विपरीत विष शमन हो जाता है, अतः वे औषधादि जो निदानादि के समान होने से व्याधि-वृद्धि के विपरीत व्याधि शमन करते हैं, वे विपरीतार्थकारी कहे जाते हैं। विपरीत उपशय की व्याधि-शमन प्रक्रिया तो स्पष्ट है, क्योंकि 'ह्रासहेतुः विशेषश्च' के अनुसार विपरीत द्रव्य या भाव व्याधि-शमन करते हैं, परन्तु सामान्य द्रव्यों द्वारा रोग-वृद्धि के स्थान पर रोग-प्रशमन प्रक्रिया होती है, यह विचारणीय प्रश्न है। हालाँकि अधिकांश विद्वान् इसे प्रभावजन्य स्वीकार करते हैं, जो उचित भी है। क्योंकि जब तक इसकी कार्मुकता स्पष्ट नहीं हो जाती है, प्रभावजन्य मानना ही उचित है। विपरीत उपशय की तरह विपरीतार्थकारी उपशय के भी तीन प्रकार होते हैं।

(१) हेतुविपरीतार्थकारी—जब हेतु अर्थात् कारण के सदृश औषधादि के प्रयोग से सुखानुबन्ध होता है, तो उसे हेतुविपरीतार्थकारी कहा जाता है।

(अ) औषध—जब पित्त-प्रधान व्रणशोथ में पित्त की वृद्धि करने वाले उष्ण उपनाह का प्रयोग किया जाता है, तो इस चिकित्सा को हेतुविपरीतार्थकारी कहा जाता है। यहाँ इस चिकित्सा का प्रयोग व्रण का शीघ्र पाचन करने के लिए किया जाता है। पित्त-प्रधान व्रण में उष्ण उपनाह द्वारा शीघ्र पाचन होकर व्रण में लाभ होता है।

(ब) आहार—औषध की तरह जब पित्त-प्रधान व्रण में बिदाही आहार का सेवन किया जाता है तो हेतुविपरीतार्थकारी आहार कहा जाता है।

(स) विहार—काम शोकादि भयजन्य वातज उन्माद में भय दिखाने हेतु रोगी को डरवाना विपरीतार्थकारी बिहार है। क्योंकि उन्माद के कारण काम, शोक, भयादि से वात दोष कुपित होकर वातज उन्माद उत्पन्न करता है तथा इसकी चिकित्सा हेतु वातदोष-प्रकोपक चिकित्सा विधि 'भयदर्शन' अपनाया जाता है, परन्तु इस चिकित्सा द्वारा रोगवृद्धि के स्थान पर विपरीत फल रोगशमन की प्राप्ति होती है, अतः इसे हेतुविपरीतार्थकारी बिहार कहा जाता है।

२. व्याधिविपरीतार्थकारी—जब व्याधि के सदृश अर्थात् रोग लक्षण की वृद्धि करने वाले चिकित्सा के द्वारा विपरीत फल (रोग शमन) की प्राप्ति होती है तो

उसे व्याधिविपरीतार्थकारी कहा जाता है। यह भी औषध, आहार, बिहार भेद से तीन होता है।

(अ) **औषध**—वमन रोग में वामक औषधि मदनफल का प्रयोग व्याधिविपरीतार्थकारी चिकित्सा है; क्योंकि मदनफल वामक द्रव्य है, जब वमन रोग में इसका प्रयोग किया जाता है तो सम्पूर्ण दोष का शीघ्र ही निर्हरण हो जाता है, और व्याधि शमन हो जाता है।

(ब) **आहार**—अतीसार रोग में विरेचक क्षीर का प्रयोग व्याधिविपरीतार्थकारी है।

(स) **बिहार**—छर्दि में वमन हेतु प्रवाहण कर्म करना व्याधिविपरीतार्थकारी है।

३. **हेतुव्याधिविपरीतार्थकारी**—कारण व लक्षण दोनों के सदृश द्रव्यों का प्रयोग कर सुखानुबन्ध की प्राप्ति की जाती है तो इसे हेतुव्याधिविपरीतार्थकारी कहा जाता है।

(अ) **औषध**—जब अग्निदग्ध में उष्ण गुणयुक्त द्रव्य अगरु आदि का लेप किया जाता है तो उसे हेतुव्याधिविपरीतार्थकारी कहा जाता है; क्योंकि यहाँ हेतु अग्नि है तथा व्याधि भी आग्नेय है जिसमें दाहादि होता है। उष्ण द्रव्य युक्त लेप भी दोनों के अर्थात् हेतु तथा व्याधि के समान होते हुए भी रोगशामक होता है। इसी प्रकार विष प्रभाव में विष का प्रयोग हेतुव्याधिविपरीतार्थकारी है।

(ब) **आहार**—मदात्यय रोग में मद्यपान करना हेतुव्याधिविपरीतार्थकारी आहार है; क्योंकि मदात्यय का हेतु मद्य है। मद्य से उत्पन्न व्याधि मदात्यय हेतु तथा व्याधि दोनों के ही सदृश मद्य के होने पर भी सुखावह होता है। इस प्रसंग में आचार्य विजयरक्षित ने एक सुन्दर उदाहरण के द्वारा विषय को स्पष्ट किया है। यथा राजा के आदेश से दंड पाये हुए व्यक्ति की दंड से मुक्ति जिस प्रकार राजा की प्रसन्नता से ही होती है उसी प्रकार मदात्यय से पीड़ित व्यक्ति का मदात्यय रोग मदकारक मद्य के पीने से ही शमन होता है।

(स) **बिहार**—व्यायाम से उत्पन्न संमूढ वातजनित ऊरुस्तम्भ जल में तैरने से दूर हो जाता है।

५. सम्प्राप्ति

पञ्चनिदान सिद्धान्त में सम्प्राप्ति सिद्धान्त का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसको निम्नरूप में पारिभाषित किया गया है—

यथा दुष्टेन दोषेण यथा चानुविसर्पता।
निर्वृत्तिरामयस्यासौ संप्राप्तिर्जातिरागतिः॥ (मा० नि० १।१०)

'व्याधिजनकव्यापारविशेषयुक्तं व्याधिजन्मेह सम्प्राप्तिशब्देन वाच्यम् ।'—चक्रपाणि । अर्थात् दोष जिस प्रकार निदानों से दूषित होकर ऊर्ध्व आदि विभिन्न गतियों द्वारा जिस प्रकार शरीर में विसर्पण करते हुए रोग को उत्पन्न करता है, उसे सम्प्राप्ति कहते हैं । चक्रपाणिदत्त के अनुसार व्याधि को उत्पन्न करने वाले दोष के व्यापार के साथ जो रोगोत्पत्ति होती है, उसे सम्प्राप्ति कहते हैं । आचार्य चरक ने सम्प्राप्ति को पारिभाषित नहीं किया है, परन्तु इसके भेदादि का विस्तृत वर्णन किया है । जाति व आगति सम्प्राप्ति के पर्याय कहे गये हैं । सम्प्राप्ति शब्द का अर्थ 'सम्यक् प्रकार से किसी वस्तु की प्राप्ति' होता है । यहाँ रोग की सम्यक् प्राप्ति होती है, अतः इसे सम्प्राप्ति कहा जाता है । 'जनी' प्रादुर्भावे धातु से जाति शब्द व्युत्पन्न होता है । आचार्य भट्टार हरिश्चन्द्र का कथन है कि—वस्तु का जन्म भी ज्ञान में कारण होता है, क्योंकि बिना जन्म के कोई वस्तु जानी नहीं जाती है । यहाँ व्याधि का जन्म भी व्याधि के ज्ञान में कारण है । अतः सम्प्राप्ति को जाति भी कहा जाता है, क्योंकि 'जनी प्रादुर्भावे' के अनुसार सम्प्राप्ति द्वारा व्याधि-प्रादुर्भाव या व्याधिजन्म का ज्ञान होता है । इसका एक पर्याय आगति भी माना गया है । दोषों का रोगोत्पादक व्यापार ज्ञान आगति कहा जाता है । आ समन्तात् गतिः प्राप्तिः से आगति शब्द बनता है ।

इस प्रकार व्याधिजनक व्यापार की सम्यक् ज्ञान प्राप्ति जिसके द्वारा होती है, उसे सम्प्राप्ति कहा जाता है । इस सम्प्राप्ति द्वारा यह ज्ञान प्राप्त होता है कि—किस प्रकार के निदान-सेवन से कौन दोष कितने अंशों में किस प्रकार शरीर में भ्रमण करता हुआ किन-किन धातु-विशेष या अवयवविशेष को दूषित करता हुआ किस आशय में स्थान-संश्रित होकर व्याधि को उत्पन्न करता है । इस सम्पूर्ण प्रक्रिया की सम्यक् रूपेण प्राप्ति (ज्ञान-प्राप्ति) जिसके द्वारा होती है, उसे सम्प्राप्ति कहते हैं । जैसे ज्वर की सम्प्राप्ति कहते हुए कहा गया है कि—'मिथ्याहारविहाराभ्यां दोषा ह्यामाशयाश्रयाः । बहिर्निरस्य कोष्ठाग्निज्वरदाः स्युरसानुगाः ।'—मा० नि० २।२ । यहाँ सम्प्राप्ति द्वारा ज्ञान की प्राप्ति होती है कि—दोष किस प्रकार दूषित हुए (मिथ्याहार-विहाराभ्यां), दोष किस प्रकार प्रसरित होकर किस स्थान पर संश्रित हुए (दोषा आमाशयाश्रया), पुनः वहाँ व्याध्युत्पत्ति प्रक्रिया क्या होती है (बहिर्निरस्य कोष्ठाग्नि), पुनः इस प्रक्रिया का परिणाम क्या होता है (ज्वरदाः स्यु रसानुगाः) । इस प्रकार सम्प्राप्ति के द्वारा व्याधिजनक व्यापार की सम्यक् ज्ञान-प्राप्ति होती है । सम्प्राप्ति के द्वारा ज्ञातव्य विषयों का निर्धारण आचार्य वाग्भट ने पारिभाषित करते हुए निम्न रूप में प्रस्तुत किया है तथा इसकी अवस्थाओं को निम्नरूप में रखा जा सकता है । १. दोष किस प्रकार दूषित हुआ, २. किस प्रकार प्रसरित हुआ, ३. किस प्रकार स्थानसंश्रित होकर, ४. रोगोत्पत्ति हुई । आचार्य सुश्रुत ने सम्पूर्ण व्याधिजनक

व्यापार को निम्न अवस्थाओं में विभक्त किया है तथा यह भी स्पष्ट किया है कि प्रत्येक अवस्थाविशेष एक क्रियाकाल है अर्थात् उस अवस्थाविशेष में चिकित्सा की जा सकती है। ये अवस्थायें निम्न हैं—संचयं च प्रकोपं च प्रसरं स्थानसंश्रयम्। व्यक्तिभेदं च यो वेत्ति दोषाणां स भवेद्भिषक्।—सु० सू० ११।३७। अर्थात् संचय, प्रकोप, प्रसर, स्थानसंश्रय, व्यक्ति व भेद ये छः क्रियाकाल हैं तथा ये छः व्याधिजनक व्यापार की विभिन्न अवस्थायें हैं।

१. **संचय**—वाग्भटोक्त 'यथादुष्टेन दोषेण' की अवस्था को सुश्रुतोक्त संचय व प्रकोपावस्था कहा जा सकता है। आचार्य सुश्रुत के अनुसार क्रमानुसार व्याधिजनक व्यापार में प्रथमतः दोषों का संचय होता है। यह संचयावस्था व्याधि उत्पत्ति की प्रथम अवस्था है। जब दोषसंचय प्रारम्भ होता है तो शरीर क्रिया में बाधा उत्पन्न होने लगती है। इस अवस्था में अस्पष्ट लक्षण होते हैं, परन्तु दोषों के स्वलक्षण इस प्रकार के होते हैं कि उनका ज्ञान हो जाता है। दोष के संचय होने पर—'चयकारणविद्वेषश्चेति लिङ्गानि भवन्ति'।—सु० सू० २१।२८। अर्थात् संचय के कारणों से विद्वेष होने लगता है तथा उसके विपरीत गुण वाले द्रव्यों की इच्छा होने लगती है। दोषों की संचयावस्था में उत्पन्न लक्षण के सम्बन्ध में कहा गया है कि—'संचितानां खलु दोषाणां स्तब्धपूर्णकोष्ठता पीतावभासता मन्दोष्मता चाङ्गानां गौरवमालस्यं चयकारणविद्वेषश्चेति लिङ्गानि भवन्ति'।—सु० सू० २१।१८। अर्थात् संचयावस्था मे वात के संचय से कोष्ठ में भारीपन होता है तथा कोष्ठ जकड़ा हुआ प्रतीत होता है। पित्त के संचय होने पर त्वचा, नख, नेत्रादि में पीलापन दिखाई देता है तथा कफ के संचित होने पर ऊष्मा की मन्दता, अंगों में भारीपन तथा आलस्य की उत्पत्ति होती है।

२. **प्रकोपावस्था**—जब संचित दोष का निर्हरण या शमन नहीं किया जाता तो दोष प्रकुपित हो जाते हैं। जब संचित दोष प्रकुपित होते हैं तो—'तेषां प्रकोपात् कोष्ठतोदसंचरणाम्लीकापिपासापरिदाहान्नद्वेषहृदयोत्क्लेदाश्च जायन्ते।'—सु० सू० २१। अर्थात् वात प्रकोप से उदर में सूई चुभोने जैसी वेदना व वात संचार, पित्त प्रकोप से अम्लोद्गार, पिपासा तथा शरीर में दाह एवं कफ के प्रकुपित होने पर अन्नद्वेष, अरुचि व हृल्लास होता है।

३. **प्रसरावस्था**—व्याधिजनक व्यापार की तीसरी अवस्था प्रसरावस्था है। प्रकुपित दोष के लक्षण उत्पन्न होने पर उसकी शांति का कोई उपाय नहीं किया जाता है तो वे प्रकुपित दोष शरीर में प्रसृत होने लगते हैं। यहाँ प्रसर से तात्पर्य दोष का संचित स्थान के अतिरिक्त अन्य स्थानों में फैल जाना है। प्रसर के सम्बन्ध में आचार्य सुश्रुत ने दृष्टान्त दिया है कि—'यथा महानुदकसंचयोऽतिवृद्धः सेतुमवदार्यापरेणोदकेन व्यामिश्रः सर्वतः प्रधावति एवं दोषाः कदाचिदेकशो द्विशः समस्ताः

शोणितसहिता वा अनेकधा प्रसरन्ति।' अर्थात् जिस प्रकार महान् जलराशि संचित होकर अत्यधिक प्रवृद्धावस्था में बांध तोड़कर सभी ओर फैलने लगती है अथवा किसी अन्य जलाशय के समीपस्थ होने से अपना बांध तोड़कर दूसरे जलाशय के जल के साथ मिलकर फैल जाती है, उसी प्रकार प्रकुपित दोष अपनी सीमा छोड़कर कभी अकेले, कभी दो-दो मिलकर, कभी तीनों या कभी रक्त के साथ मिलकर ऊर्ध्व-अधः-तिर्यक् या कोष्ठ शाखा मर्मादि में गमन करते हैं—'उर्ध्वं चाधश्च तिर्यक् च विज्ञेया त्रिविधाऽपरा। त्रिविधा चापरा कोष्ठशाखामर्मास्थिसंधिषु।' च० सू० १७।११२। दोषों के पृथक्, द्वन्दज व सन्निपात भेद से पन्द्रह प्रकार के प्रसर होते हैं—वात, पित्त, कफ, रक्त, वात-पित्त, वात-कफ, पित्त-रक्त, कफ-रक्त, वातपित्तरक्त, वात-कफ रक्त, वात-पित्त-कफ, वात-पित्त-कफ-रक्त (सु० सू० २१।२८)। जिस प्रकार अन्तरिक्ष में बहिश्चर वायु से आहत होकर मेघ जहाँ पहुँचते हैं वहीं वृष्टि करते हैं, उसी प्रकार कुपित दोष शरीर के अन्दर वायु से प्रेरित होकर जहाँ और जिस स्थान-विशेष में प्रसृत होते हैं उसी स्थान पर रोगोत्पत्ति होती है—'कृत्स्नेऽर्धेऽवयवे वापि यत्राङ्गे कुपितो भृशम्। दोषो विकारं नभसि मेघवत् तत्रवर्षति।'–सु० सू० २१।२९। दोषों का प्रसर ऊर्ध्व, अधः व तिर्यक् भेद से तीन प्रकार से एवं कोष्ठ, शाखा, मर्मास्थि संधि भेद से तीन स्थानों में प्रसृत होते हैं। जब वात दोष का प्रसर होता है तो—'एवं प्रकुपितानां प्रसरतां वायोर्विमार्गगमनाटोपो–विरुद्ध मार्ग (ऊर्ध्व, अधः, तिर्यकादि मार्गों) में गमन करता है तथा उदर में गुड़गुड़ाहट के साथ आध्यान होता है। जब पित्त दोष का प्रसर होता है तो—'ओषचोषपरिदाहधूमायनानि पित्तस्य-उष्णता'–चूसने सी वेदना, दाह व धूम के सदृश उद्गार होता है तथा जब कफ दोष प्रसृत होता है तो—'अरोचकाविपाकाङ्गसादाश्छर्दिश्चेति श्लेष्मणो लिङ्गानि भवन्ति।'–सु० सू० २१।३२। अरुचि, अजीर्ण, अनायास थकावट तथा वमन श्लेष्मा का लक्षण होता है।

४. **स्थानसंश्रय**—जब दोष प्रसृत होते हैं तो किसी स्थानविशेष पर संश्रित होकर रोगोत्पत्ति करते हैं। स्थानसंश्रय का विस्तृत विवेचन 'पूर्वरूप' प्रकरण में किया जा चुका है।

५. **व्यक्ति**—इसका वर्णन रूप के अन्तर्गत किया जा चुका है।

६. **भेद**—जब उत्पन्न व्याधि की यथोचित चिकित्सा नहीं की जाती है तो भेद-अवस्था में व्याधि हो जाती है। इसमें व्याधियाँ दीर्घकालानुबन्धी हो जाती हैं। व्रणादि विदीर्ण हो जाते हैं—'ज्वरातीसारप्रभृतीनां च दीर्घकालानुबन्धः तत्राप्रतिक्रियमाणेऽसाध्यतामुपयान्ति।'—सु० सू० २१।३५।

सम्प्राप्ति के भेद

सा संख्याप्राधान्यविधिविकल्पबलकालविशेषैर्भिद्यते । —च० नि० १।१२

संख्याविकल्पप्राधान्यबलकालविशेषतः । —वा० नि० अ० १

अर्थात् १. संख्या, २. प्राधान्य, ३. विधि, ४. विकल्प, ५. बल, ६. काल—ये सम्प्राप्ति के भेद हैं ।

१. संख्या—संख्या तावद्यथा—अष्टौ ज्वराः, पञ्च गुल्माः, सप्त कुष्ठान्येवमादिः । व्याधियों के संख्यापरक ज्ञान को संख्या सम्प्राप्ति कहते हैं । संख्या के द्वारा व्याधि-भेद का ज्ञान होता है । जैसे—ज्वर के आठ, गुल्म के पाँच, कुष्ठ के सात भेद हैं । जिस सम्प्राप्ति के द्वारा संख्या का विवरण प्राप्त होता है, वह संख्या सम्प्राप्ति है । इसी प्रकार जब दोषों के विभिन्न संसर्गों द्वारा पृथक् पृथक् लक्षणसमूह उत्पन्न होते हैं तो उस व्याधि का जो भेदात्मक ज्ञान होता है, उसे संख्या-सम्प्राप्ति कहते हैं । यथा—सन्निपात के तेरह भेद कहे गये हैं । इसका तात्पर्य यह हुआ कि—दोषों द्वारा संयुक्त रूप से तर-तम भेद के आधार पर तेरह प्रकार से रोगोत्पत्ति की जाती है । दो उल्वण और एकोल्वण दोषों से छः भेद; हीन, मध्य तथा अधिक दोषों से छः भेद; समदोषों से एक भेद—इस प्रकार तेरह प्रकार के सन्निपात होते हैं । इसी प्रकार अन्य व्याधियों के भेद होते हैं । यहाँ दोषादि के आधार पर सम्प्राप्ति संख्या का तात्पर्य है कि भिन्न दोष व दूष्य तथा उनके गुणादि द्वारा विभिन्न व्याधियों की उत्पत्ति पृथक्-पृथक् प्रक्रिया द्वारा होती है । जैसे—वातज ज्वर की उत्पत्ति प्रक्रिया व कफज ज्वरादि की उत्पत्ति प्रक्रिया भिन्न होने से संख्या-सम्प्राप्ति के द्वारा भेद किये जाते हैं । क्योंकि भेद तो अन्वयरहित होता है—'संख्या भेदमात्रबोधिका भवति, निरन्वयो भेदः ।'

२. प्राधान्य—प्राधान्यं पुनर्दोषाणां तरतमाभ्यामुपलभ्यते । तत्र द्वयोस्तरः त्रिषुतम इति ।—च० नि० १।२ । स्वातन्त्र्यपारतन्त्र्याभ्यां व्याधेः प्राधान्यमादिशेत् ।—मा० नि० १।१२ । दोषों में तर-तम अर्थात् वृद्ध, वृद्धतर, वृद्धतम आदि का होना प्राधान्य कहा गया है । उसके द्वन्द्वज में तर यानि वृद्धतर व सन्निपात में वृद्धितम को प्राधान्य कहा जाता है । आचार्य वाग्भट दोषों की स्वतन्त्रता को प्राधान्य मानते हैं अथवा अपने सभी कारणों से प्रबल रूप में जो दोष कुपित होते हैं, उसको प्राधान्य माना जाता है या जो रोग सर्वप्रथम उत्पन्न होता है, उसे प्राधान्य माना जाता है । जैसे—यदि प्रथमतः वात कुपित होकर पित्त व कफ के साथ मिलकर रोगोत्पत्ति करता है तो वात को प्रधान माना जाता है । यदि ज्वरादि में ज्वर के बाद अरुचि या शिरः-शूलादि की उत्पत्ति होती है तो स्वतंत्र होने से ज्वर को प्राधान्य एवं परतन्त्र यानि ज्वर रोग के अधीन होने से शिरः-शूलादि को अप्राधान्य माना जाता है । आचार्य विजयरक्षित अनुबन्ध्य को प्रधान तथा अनुबन्ध को अप्रधान कहा है ।

३. विधिसम्प्राप्ति—विधिर्नाम-द्विविधा व्याधयो निजागन्तुभेदेन, त्रिविधास्त्रि-दोषभेदेन, चतुर्विधाः साध्यासाध्यमृदुदारुणभेदेन ।—च० नि० १।१२ । यहाँ विधि से प्रकार का तात्पर्य है । जैसे—निजागन्तुज भेद से व्याधियाँ दो प्रकार की होती है, दोषानुसार व्याधियाँ तीन प्रकार की वातज, पित्तज व कफज होती हैं, साध्यासाध्यता भेद से व्याधियाँ चार प्रकार की साध्य, असाध्य, मृदु, दारुण होती हैं । विधि के सम्बन्ध में कहा गया है कि—समानेन धर्मेण परिग्रहो भेदानां यत्र क्रियते स विधिः– अर्थात् जहाँ भेदों का समान धर्म से ग्रहण होता है उसे विधि कहते हैं, यहाँ विधि प्रकार अर्थ में है । अन्वययुक्त को प्रकार कहा जाता है—अन्वयवान्प्रकारः । जैसे—शारीरिक रोग व मानसिक रोग, ऊर्ध्वग व अधोग रक्त-पित्त, उत्तान व गम्भीर ऊरु-स्तम्भ आदि । इस प्रकार व्याधियों के जो प्रकार होते हैं, उन्हें विधि-सम्प्राप्ति कहा जाता है । वाग्भट आदि आचार्य विधि-सम्प्राप्ति का उल्लेख नहीं किये हैं । इस पर अपना मन्तव्य आचार्य विजयरक्षित निम्न रूप में दिये हैं—संख्याग्रहणेन विधेरवरोधः, तस्याव्यभिचरितसंख्यायोगित्वात् । संख्या के ग्रहण से विधि का भी ग्रहण हो जाता है । इसका स्वतंत्र उल्लेख करना आवश्यक नहीं है, क्योंकि विधि का संख्या के साथ नियमित सम्बन्ध होता है । विधिप्रयुक्त द्विविध, त्रिविध में भी संख्या का ही प्रयोग होता है । पुनः वाप्यचन्द्र के मतानुसार दोनों में भेद प्रदर्शित करते हुए कहते हैं कि—"विधिसंख्ययोश्चायं भेदः—विधिर्हि प्रकारः, स चाभिन्नजातीयानामेव कस्यचिद्धर्मान्त-रस्यान्वयाद्भवति, यथा—रक्तपित्तत्वाविशेषेऽप्यूर्ध्वगादिप्रकारो भवति, संख्या तु भिन्नत्वमात्रेऽपि यथा—अष्टौ ज्वराः इति । अत्रैव विधिर्हि प्रकारः, स च भिन्नेषु न युक्तः, अतः संख्यादिभिन्नेषु व्याधिषु कारणधर्मानुगतः प्रकारो युज्यते । तथा च न्याय-विदो ब्रुवते—समानेन धर्मेण परिग्रहो भेदानां यत्र क्रियते स विधिः संख्या तु भेदमात्रं । वैयाकरणाः अपि व्याचक्षते—अन्वयवान् प्रकारः निरन्वयोः भेदः ।' मधुकोष । अर्थात् विधि और संख्या में यही भेद होता है कि—विधि का अर्थ प्रकार होता है । इसका प्रयोग अवान्तर धर्म-भेद के सम्बन्ध से एक ही जाति के दो या उससे अधिक भेद प्रदर्शित करने के लिए कहा जाता है । जैसे—ऊर्ध्व-अधः-तिर्यक् त्रिविध रक्तपित्त कहने से रक्तपित्तत्व जाति समान होते हुए भी स्वरूपभेद (ऊर्ध्व, अधो आदि) होता है, अतः विधि शब्द का प्रयोग कर त्रिविधं कहा जाता है । किन्तु संख्या का प्रयोग अवान्तरधर्म निरपेक्ष गणनामात्र में होता है । यानि पृथक् वस्तुओं की गणना बिना किसी विशिष्ट अवान्तर धर्म के विचार करना संख्या है । विशेषण या धर्म-विशेष को मानकर भेद कहने के लिए विधि शब्द का प्रयोग होता है ।

४. विकल्प सम्प्राप्ति—'समवेतानां पुनर्दोषाणामंशांशबलविकल्पो विकल्पोऽस्मि-न्नर्थे । दोषाणां समवेतानां विकल्पोऽशांशकल्पना ।'—मा० नि० १।१२ । अर्थात् एकत्रित दोषों की पुनः कल्पना कर या अंशांश कल्पना के आधार पर व्याधिजनक व्यापार

का ज्ञान प्राप्त करना विकल्प सम्प्राप्ति कहा जाता है। आचार्य चक्रपाणिदत्त ने इसकी व्याख्या में स्पष्ट किया है कि—'समवेतानां सर्वेषां, तेन एकशो द्विशो मिलितानां च दोषाणां ग्रहणं अंशं अंशं प्रतिबलमंशांशबलं तस्य विकल्प उत्कर्षापकर्षरूपोऽशांशं बलविकल्पः, एवंभूतो दोषाणामंशांशबलविकल्पोऽस्मिन्नर्थेऽस्मिन् प्रकरणे विकल्प उच्यते, प्रकरणान्तरे तु विकल्पशब्देन भेदमात्रमुच्यते।' विकल्प सम्प्राप्ति में दोषों के अंशांश बल का ज्ञान प्राप्त किया जाता है। सन्निपातादि में यह ज्ञान प्राप्त किया जाता है कि कौन-सा दोष कितने अंश तक उत्कर्षित है तथा कौन-सा दोष कितने अंश तक अपकर्षित है। पृथक्-पृथक् दोषों की अंशांश ज्ञान गुणोत्कर्षता व गुणापकर्षता के आधार पर की जाती है। जैसे—वातादि दोषों में रहने वाले गुण रूक्षता, लघुतादि प्रत्येक धर्म अंश होते हैं। इन गुणों में से एक, दो या समस्त गुणों का ज्ञान प्राप्त करना अंशांश कल्पना कहा जाता है। इसी प्रकार पित्त व कफ का गुणोत्कर्षता व गुणापकर्षता के आधार पर अंशांश ज्ञान प्राप्त किया जाता है। आयुर्वेद में अंशांश रूप से दोषों के बासठ विकल्पनाओं का उल्लेख प्राप्त होता है। जिसमें अंशोत्कर्षता व अंशापकर्षता (वृद्धिक्षय) को आधार मानकर ये बासठ विकल्पनायें उल्लिखित हैं।

५. बलसम्प्राप्ति—'हेत्वादिकात्स्न्यावयवैर्बलाबलविशेषणम्।'—मा० नि० १।१३। बलं विवृणोति-हेत्वादीत्यादि। 'हेतुपूर्वरूपरूपाणां साकल्याद्व्याधेर्बलवत्त्वं, तेषामवयवेनैकदेशेनाबलवत्त्वम्।'—मधुकोष। निदान, पूर्वरूप, रूप की सम्पूर्णता या अल्पता के कारण व्याधि के बलाबल का ज्ञान प्राप्त करना बल-सम्प्राप्ति कहा जाता है। अर्थात् बलयुक्त निदान, पूर्वरूपादि के आधार पर व्याधि को सबल समझा जाता है तथा इसके विपरीत अल्प बल वाले निदान, पूर्वरूपादि वाले व्याधि को निर्बल समझा जाता है।

६. कालसम्प्राप्ति—जिस सम्प्राप्ति में कालानुसार व्याधिजनक व्यापार के ज्ञान की प्राप्ति होती है, उसे काल सम्प्राप्ति कहते हैं। यथा—अहोरात्र दिन व रात के आधार पर, ऋतु के आधार पर भोजन के आदि, मध्य, अन्त के आधार पर व्याध्युत्पत्ति या दोष-विशेष का निर्धारण किया जाता है। आचार्य विजयरक्षित कालसम्प्राप्ति की व्याख्या में कहते हैं '......संवत्सररूपस्य कालस्य ऋतुरूपोंऽशः ऋत्वंशा इत्येवमपि योज्यं, नत्वेकस्य ऋतोर्दिनादिवदादिमध्यान्ता ऋत्वंशा, ऋतोः समुदितस्य तत्र कारणत्वेनोक्तत्वात्। यथाबलं यथादोषं तद्यथा—रात्रेरादौ श्लेष्मा, मध्ये पित्तं, शेषे वायुः एवं दिनस्य, वसन्ते कफस्य शरदि पित्तस्य, वर्षासु वायोः एवं भुक्तादौ भुक्तमात्रे कफस्य, मध्ये पच्यमानावस्थायां पित्तस्य, अन्ते सम्यक्परिणते भुक्ते वायुः प्रकोप इति। यदुक्तं वाग्भटेनैव—ते व्यापिनोऽपि हृन्नाभ्योरधोमध्योर्ध्वसंश्रयाः। वयोऽहोरात्रिभुक्तानां तेऽन्तमध्यादिगाः क्रमात्।'

अर्थात् ऋतु, अहोरात्र, आहारादि में अंशांश रूप से दोषों का संचयादि होता है। संवत्सर को यदि काल माना जाता है तो ऋतुएँ उसकी अंश होती हैं। इनमें वसंत में कफ, शरद में पित्त व वर्षाऋतु में वात का प्रकोप होता है। इसी प्रकार भोजन के आरम्भ में कफ का, पच्यमानावस्था में पित्त का तथा भोजन के पूर्णरूपेण पचने के बाद वात का प्रकोप होता है। वैसे ही दिन के आदि में कफ, मध्य में पित्त व अन्त में वायु की वृद्धि होती है।

पञ्चनिदान सिद्धान्त की उपादेयता

चरकसंहिता में पञ्चनिदान सिद्धान्त के प्रयोजन के सम्बन्ध में कहा गया है कि—'तस्माद् व्याधीन् भिषगनुपहतसत्त्वबुद्धिर्हेत्वादिभिर्भावैर्यथावदनुबुद्धयेत्।'—च० नि० १।१३। अर्थात् अनभिभूत मन व बुद्धियुक्त वैद्य को पञ्चनिदान के द्वारा रोग का सम्यक् ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। इस पञ्चनिदान सिद्धान्त के द्वारा रोग की परीक्षा की जाती है। पञ्चनिदान प्रकरण में कहा गया है कि—'रोगाणां पञ्चधास्मृतम्' अर्थात् रोगों का ज्ञान इस पञ्चनिदान से ही होता है। निदान शब्द की निरुक्ति में ही कहा गया है कि—'निर्दिश्यते व्याधिरनेनेति निदानम्' अर्थात् जिसके द्वारा व्याधि के सम्बन्ध में निर्देश प्राप्त होता है, उसे निदान कहते हैं। जेज्जट के अनुसार—'निश्चित्य दीयते प्रतिपाद्यते व्याधिरनेनेति निदानम्' अर्थात् जिसके द्वारा व्याधि का निश्चित ज्ञान प्राप्त होता है, उसे निदान कहते हैं। मधुकोषकार ने निदान शब्द के सम्बन्ध में भट्टार हरिचन्द्र की उक्ति को निम्नरूप में स्पष्ट किया है—'निशब्दो निश्चये। तथा च वररुचेरूपसर्गसूत्रं—नि निश्चयनिषेधयोः इति। लोकेऽपि······इत्युक्ते निश्चयं करिष्यामीत्यवगम्यते। निदानमिति करणे ल्युट; तेन व्याधिनिश्चयकरणं निदानम्' इति निदानादिपञ्चकसामान्यलक्षणम्।'—मधु०। इस प्रकार यहाँ निदान शब्द से विनिश्चय अर्थ का ग्रहण होता है। ये पञ्चनिदान व्याधिविनिश्चय कराने वाले होते हैं। इसी आधार पर माधवनिदानकार ने अपने ग्रन्थ के प्रारम्भ में 'निबध्यते रोगविनिश्चयोऽयम्' कहा है, जिसकी टीका करते हुए आचार्य विजयरक्षित ने कहा है कि—'रोगाणां विशेषेण वातादिजत्वादि···। निश्चयो ज्ञानं येन क्रियते स रोगविनिश्चयो।' इस प्रकार यहाँ निदान रोगविनिश्चयार्थ प्रयुक्त है। रोगविनिश्चय में मुख्यरूपेण ज्ञातव्य विषय हेतु, पूर्वरूप, रूप, उपशय, सम्प्राप्ति है अतः इसको पञ्चनिदान कहा जाता है। इस पञ्चनिदान की उपादेयता मुख्यतः रोगविनिश्चय करना या रोग परीक्षा करना है। आयुर्वेद के अनुसार प्रथमतः रोग की विधिवत् परीक्षा की जाती है, उसके बाद ही औषधादि की परीक्षा व प्रयोग किया जाता है। जैसा कि आचार्य चरक के निम्नोक्त उद्धरण से स्पष्ट होता है—

रोगमादौ परीक्षेत ततोऽनन्तरमौषधम्।
ततः कर्मभिषक् पश्चाज्ज्ञानपूर्वं समाचरेत्॥ (च० सू० २०।२०)

अब पञ्चनिदानोक्त हेत्वादि की पृथक्-पृथक् उपादेयता पर विचार किया जायेगा।

१. हेतु सिद्धान्त की उपादेयता—आयुर्वेद में हेतु, लिङ्ग, औषध को त्रिसूत्र कहा गया है। बिना हेतु किसी भी व्याधि की उत्पत्ति नहीं होती है। किसी भी कार्य का कोई-न-कोई कारण अवश्य होता है। आयुर्वेद का एक चिकित्सात्मक सिद्धान्त है कि—'संक्षेपतः क्रियायोगो निदानपरिवर्जनम्' अर्थात् संक्षिप्ततः व्याधि की चिकित्सा यही है कि निदान यानि हेतुसेवन का त्याग कर दिया जाय। यदि हेतु की जानकारी ही नहीं रहेगी तो फिर त्याग किसका किया जायेगा। कतिपय स्थितियों में हेतुसेवन से ही भविष्य में होने वाले व्याधि का ज्ञान हो जाता है। यथा—कोई व्यक्ति यदि मिट्टी का सेवन कर रहा है तो इस हेतु से ही उसे भविष्य में होने वाले पाण्डु रोग का ज्ञान हो जाता है, अतः कतिपय स्थितियों में हेतु भावि व्याधि-प्रबोधक के रूप में भी उपादेय है। प्रायः व्याधियों की चिकित्सा हेतु के विपरीत होती है। यदि हेतु का ज्ञान ही नहीं है तो फिर इस व्याधि की चिकित्सा किस प्रकार से की जा सकती है? जैसे—जब वातज विकारों में रूक्षाहारादि हेतु का ज्ञान होता है, तभी उस आधार पर विपरीत गुणयुक्त द्रव्य का प्रयोग किया जाता है, अतः चिकित्सा में हेतुज्ञान उपादेय ही नहीं वरन् अनिवार्य भी है। आयुर्वेद के चिकित्सा सिद्धान्त अधिकांशतः हेतुज्ञान की अपेक्षा करते हैं। उपशय में वर्णित हेतु विपरीत चिकित्सा व हेतु विपरीतार्थकारी चिकित्सा पूर्णतः हेतुज्ञान पर ही आधारित होता है तथा दो चिकित्सा सिद्धान्त—हेतु व्याधि विपरीत व हेतु व्याधि विपरीतार्थकारी चिकित्सा व्याधि-ज्ञान के साथ हेतु-ज्ञान पर भी निर्भर करता है। जब यह ज्ञान हो जाता है कि अमुक रोग का कारण शीत है तो उसमें उष्ण औषध आहारादि का प्रयोग कराया जाता है। इसी प्रकार जब हेतु विष का ज्ञान हो जाता है तो उसकी चिकित्सा विष के द्वारा होती है। यदि किसी व्यक्ति को वात-व्याधि है और वह वातज व्याधि यदि रूक्षताजन्य है तो उस रूक्षता का ज्ञान प्राप्त कर स्निग्ध चिकित्सा दी जाती है तभी सम्यक् लाभ होता है, अन्यथा वात शमन हेतु विपरीत गुण (वात के विपरीत रूक्ष के अतिरिक्त अन्य गुणों के विपरीत) उष्ण, स्थिर गुणयुक्त द्रव्य प्रयोग करने से यथोचित लाभ नहीं होता है। यदि व्याधियों के मौलिक हेतु असात्म्येन्द्रियार्थ संयोग प्रज्ञापराधादि का ज्ञान रहता है तो व्यक्तिविशेष इन हेतुओं से बचते हुए अपने स्वास्थ्य की रक्षा करता है। कतिपय परिणामजन्य व्याधियों में हेतु के आधार पर ही चिकित्सा की जाती है। जैसे—वसन्त में कफज व्याधियों की उत्पत्ति सूर्य की उष्मा द्वारा होती है, अतः वसन्त ऋतु में सामान्यतया कफ-निर्हरण प्रक्रिया अपनाई जाती है। इसके अतिरिक्त कतिपय स्थितियों में हेतु का ज्ञान ही चिकित्सा का मार्गदर्शक होता है। जैसे—किसी व्यक्ति के चिकित्सा क्रम

में भी रोगवृद्धि हो रही है। यदि इस रोगवृद्धि के हेतु 'विषाद' का ज्ञान हो जाता है तो फिर तदनुसार चिकित्सा व्यवस्था की जाती है। कतिपय स्थितियों में जब एक व्याधि के लक्षण दूसरी व्याधि से साम्य रखते हैं तो इस स्थिति में रोग-विनिश्चय के के लिए हेतु ही उपादेय होता है। जब हेतु के बलाबल का ज्ञान रहता है तो उसके अनुसार ही औषध-प्रयोग किया जाता है। जब किसी व्याधि के लक्षण अस्पष्ट होते हैं या स्पष्ट लक्षण होने पर भी मिश्रित लक्षण होने से यथोचित रूप से दोषों का निर्धारण नहीं हो पाता है तो उसका निर्धारण हेतु के ही आधार पर किया जाता है। जैसे—किसी व्यक्ति को प्रतिश्याय है, परन्तु एक दोष के प्रबल लक्षण होने से, उस प्रतिश्याय की चिकित्सा में तद् दोष की ही व्यवस्था की जाती है। परन्तु यदि यह ज्ञान प्राप्त हो जाता है कि—अमुक व्यक्ति दधि-सेवन किया था, जिससे प्रतिश्याय की उत्पत्ति हुई है तब यहाँ दोष का स्पष्ट निर्धारण हो जाता है कि यह प्रतिश्याय कफ-पित्तज है; क्योंकि 'कफपित्तकरं दधि' के अनुसार दधि पित्त-कफवर्द्धक है। अतः यहाँ हेतु के द्वारा ही स्पष्ट हो जाता है कि इस प्रतिश्याय की चिकित्सा कफपित्तनाशक करनी चाहिए।

२. पूर्वरूपज्ञान की उपादेयता—आयुर्वेद का एक सिद्धान्त है कि—'एको हेतुरनेकस्य तथैकस्यैक एव हि। व्याधेरेकस्य बहवो बहूनां बहवस्तथा। च० नि० ८।२४। अर्थात् एक हेतु अनेक व्याधियों का कारण होता है तथा एक रोग के अनेक कारण होते हैं और अनेक रोग के अनेक कारण होते हैं। इस स्थिति में मात्र हेतु के द्वारा ही रोग-विनिश्चय करना संभव नहीं होता है। जब हेतु के द्वारा रोगज्ञान नहीं हो पाता तो—'तस्मात् केवलान्निदानादपि न व्याधिज्ञानं भवतीति पूर्वरूपादीनामुपादानम्' पूर्वरूपादि के द्वारा व्याधि-विनिश्चय किया जाता है। आयुर्वेद में व्याधिजनक व्यापार की प्रत्येक अवस्था में चिकित्सा का निर्देश है। इन अवस्थाओं को क्रियाकाल कहा जाता है। स्थानसंश्रयावस्था में पूर्वरूप की उत्पत्ति होती है, अतः पूर्वरूप उत्पन्न होने पर भी चिकित्सा का एक अवसर प्राप्त होता है तथा इस अवस्था में यथोचित चिकित्सा करने पर व्याधि अपने व्यक्ति-भेदादि अवस्थाओं को प्राप्त नहीं करती है। इसलिए कहा गया है कि—'पूर्वरूपावस्थायां कर्तव्यं चिकित्सितम्।' यदि पूर्वरूप का ज्ञान नहीं होगा तो फिर इस अवस्थाविशेष की चिकित्सा कैसे की जायेगी? जैसे—चरकसंहिता में कहा गया है कि—'ज्वरस्य पूर्वरूपे लघ्वशनमपतर्पणं वा' अर्थात् ज्वर में जब पूर्वरूप की उत्पत्ति होती है, उसी समय लघ्वशन यानि लघु आहार का सेवन व अपतर्पण प्रक्रिया अपनानी चाहिए, जिससे व्याधि-शमन प्रक्रिया इसी अवस्था में पूर्ण हो जायेगी। इसी प्रकार वातज ज्वर के पूर्वरूप उत्पन्न होते ही घृतपान का निर्देश किया गया है—'वातिकज्वरपूर्वरूपे घृतपानम्।'—सुश्रुत। उपर्युक्त ज्वर के पूर्वरूप में निर्दिष्ट उपक्रम उदाहरण मात्र है। ज्वर की तरह अन्य व्याधियों के भी पूर्वरूपावस्था में क्रिया की जा सकती है। हालाँकि कतिपय स्थितियों में पूर्वरूप के अस्पष्ट होने

के कारण दोषादि का निर्धारण न हो पाने के कारण चिकित्सा क्रमानुसार करना शक्य नहीं होता है, परन्तु उस रोग की सामान्य व्यवस्था लंघनादि कराया जा सकता है।

रोगों के बलाबल निर्धारण में भी पूर्वरूप ज्ञान अति उपादेय होता है। यदि पूर्वरूप में अल्प लक्षण होते हैं तो व्याधि-बल अल्प होता है तथा पूर्वरूप में अधिक लक्षण होता है तो व्याधि प्रबल होती है। इस प्रकार पूर्वरूप के द्वारा व्याधि के बलाबल ज्ञान होने से व्याधि की साध्यासाध्यता से सम्बन्धित ज्ञान की प्राप्ति होती है। आचार्य विजयरक्षित मधुकोष में चरकसंहिता में उल्लिखित इस तथ्य को उद्धृत करते हुए स्पष्ट करते हैं कि—साध्यासाध्यता संज्ञान में पूर्वरूप अति उपादेय है। जैसे—'पूर्वरूपाणि सर्वाणि ज्वरोक्तान्यतिमात्रया। यं विशन्ति विशत्येनं मृत्युर्ज्वरपुरःसरः।' अर्थात् ज्वर प्रकरण में कहे गये सम्पूर्ण पूर्वरूप या अधिकतर पूर्वरूप लक्षणों के साथ ज्वर से ग्रसित मनुष्य मृत्यु को प्राप्त करता है। यहाँ ज्वर रोग का उदाहरण प्रस्तुत करने के साथ अन्य व्याधियों की साध्यासाध्यता व अरिष्ट-ज्ञान में पूर्वरूप की उपादेयता स्वीकार करते हुए कहा गया है—'अन्यस्यापि च रोगस्य पूर्वरूपाणि यं नरम्। विशन्त्यनेन कल्पेन तस्यापि मरणं ध्रुवम्।'—च० इ० ५।५। अर्थात् अन्य व्याधियों में भी यदि पूर्वरूप अपने सम्पूर्ण लक्षणों के साथ उत्पन्न होता है तो वह व्याधि निश्चित रूप से मृत्युकारक होती है। इसके बाद पूर्वरूप के आधार पर अरिष्ट व साध्यासाध्यता का वर्णन करते हुए आचार्य ने कहा है कि—'पूर्वरूपैकदेशांस्तु वक्ष्यामोऽन्यान् सुदारुणान्। ये रोगाननुबध्नन्ति मृत्युर्यैरनुबध्यते।'—च० इ० ५।६। इसके बाद आचार्य ने यक्ष्मा, रक्तपित्त, गुल्म, कुष्ठ, प्रमेह, उन्माद, अपस्मार, बहिरायाम आदि व्याधियों की साध्यासाध्यता व अरिष्ट का वर्णन पूर्वरूप के आधार पर प्रस्तुत किया है। अरिष्टज्ञान व साध्यासाध्यता ज्ञान हेतु पूर्वरूप कितना उपादेय है, इसका अनुमान इसी बात से लगाया जा सकता है कि चरकसंहिता, इन्द्रिय स्थान में पूर्वरूप के आधार पर अरिष्ट-ज्ञान हेतु एक स्वतन्त्र अध्याय 'पूर्वरूपीयमिन्द्रिय' अध्याय का वर्णन किया गया है। पूर्वरूप के आधार पर प्राप्त अरिष्ट ज्ञान के फल अर्थात् उपादेयता के सम्बन्ध में कहा गया है कि—'एतानि पूर्वरूपाणि यः सम्यगवबुध्यते। स एषामनुबन्धं च फलं च ज्ञातुमर्हति।'—च० इ० ५।२६। अर्थात् यक्ष्मा, रक्तपित्तादि के पूर्वरूपों को जो चिकित्सक भली-भाँति जानता है, तो वह इन पूर्वरूपों के बाद होने वाले रोग व उसके फल को जानने में पूर्णरूपेण समर्थ होता है।

इसके अतिरिक्त जब दो या अधिक रोगों के लक्षण इस प्रकार साम्य रखते हैं कि, निर्णय लेना कठिन हो जाता है कि कौन रोग है? इस स्थिति में सापेक्ष निदान हेतु पूर्वरूप उपादेय होता है। जैसे—मूत्र के साथ जब रक्त निकलता है तो इस स्थिति में सन्दिग्धता उत्पन्न हो जाती है कि उत्पन्न व्याधि रक्तपित्त है या प्रमेह? तब इसका निर्णय पूर्वरूप के आधार पर ही किया जाता है—

'हारिद्रवर्णं रुधिरं च मूत्रं बिना प्रमेहस्य हि पूर्वरूपैः।
यो मूत्रयेत्तं न वदेत् प्रमेहं रक्तस्य पित्तस्य हि स प्रकोपः॥'

(च० चि० ६)

अर्थात् जो व्यक्ति प्रमेह रोग के वर्णित पूर्वरूप के बिना ही हरिद्रा के वर्ण के या रक्तवर्ण के सदृश मूत्र त्याग करता है, उसे रक्तपित्त से ग्रसित समझना चाहिए। इस प्रकार इस उदाहरण में रोग विनिश्चय का आधार पूर्वरूप ही होता है। यदि पूर्वरूप का ज्ञान न हो तो रोग विनिश्चय करना कठिन हो जाता है।

३. **रूप ज्ञान की उपादेयता**--त्रिसूत्र आयुर्वेद में द्वितीय सूत्र लिङ्गसूत्र है जो रूप अर्थ का द्योतक है। कतिपय व्याधियों का ज्ञान हेतु व पूर्वरूप के द्वारा नहीं हो पाता है। परन्तु व्याधि-विनिश्चय का मुख्याधार रूप या लिङ्ग ही होता है। लिङ्ग के द्वारा हेतु का भी ज्ञान प्राप्त हो जाता है तथा चिकित्सा का आधार भी रूप होता है। रूपावस्था में ही व्याधि अपने आप को पूर्णतः व्यक्त करती है। पूर्वरूपावस्था में लक्षण अस्पष्ट रहते हैं, अतः उस अवस्था में व्याधि के सम्बन्ध में स्पष्ट निर्णय नहीं लिया जा सकता। जब वे अस्पष्ट लक्षण पूर्णतः स्पष्ट होते हैं तो उन्हें रूप कहा जाता है, जो व्याधि का वास्तविक स्वरूप होता है, जिसके आधार पर चिकित्सा की जाती है।

साध्यासाध्यता के निर्णय में रूप-ज्ञान उपादेय है; क्योंकि साध्यासाध्यता में भी विशिष्ट रूपों का ही ज्ञान प्राप्त किया जाता है कि—अमुक लक्षण उत्पन्न होने पर व्याधि साध्य है या अमुक लक्षण उत्पन्न होने पर व्याधि असाध्य होती है। जैसे—व्याधि यदि अल्प लक्षण वाली होती है तो सुखसाध्य होती है। यदि व्याधि मध्यम लक्षणों से युक्त होती है तो कष्टसाध्य होती है (च० सू० १०।१४)। जब व्याधि सम्पूर्ण लक्षणों से युक्त होती है, तो वह व्याधि असाध्य होती है—'सर्वसम्पूर्णलक्षणः सन्निपातज्वरोऽसाध्यः'।

व्याधि-ज्ञान के आधार उत्पन्न लक्षण ही होते हैं तथा कतिपय व्याधिविशेष की चिकित्सा का आधार भी रूप ही है। आयुर्वेद में वर्णित व्याधि-विपरीत चिकित्सा, व्याधि विपरीतार्थकारी चिकित्सा पूर्णतः रूप या लक्षण पर ही आधारित होती है तथा हेतुव्याधिविपरीत चिकित्सा, हेतुव्याधिविपरीतार्थकारी चिकित्सा अंशतः लक्षण पर आधारित होती है। जब शरीरस्थ धातुओं का क्षय होने लगता है तो चिकित्सा लक्षणों के आधार पर ही की जाती है। कतिपय रोगसमूहों में चिकित्सा का आधार लक्षण या उत्पन्न रूप ही होता है। जैसे—राजयक्ष्मा को रोगसमूह कहा गया है। इसकी चिकित्सा में स्पष्ट रूप से लक्षणों को आधार बनाया जाता है। अतिसारादि में भी लाक्षणिक चिकित्सा का उल्लेख प्राप्त होता है तथा स्तम्भनादि द्वारा अतिसार रोकना लक्षण के आधार पर ही किया जाता है।

४. उपशय की उपादेयता—रोगविनिश्चय करते समय कतिपय ऐसी स्थितियाँ उत्पन्न हो जाती हैं कि व्याधि के सम्बन्ध में निर्णय लेना कठिन हो जाता है। व्याधि का निर्णय हेतु, पूर्वरूप या रूप द्वारा भी नहीं हो पाता है। इस स्थिति में रोगविनिश्चय का साधन उपशय ही होता है। जब रोग लक्षण अतिगूढ़ हो जाता है, जिसके कारण रोग का निर्णय कठिन हो जाता है तब उपशय के द्वारा निर्णय लिया जाता है—'गूढ़लिङ्गं व्याधिमुपशयानुपशयाभ्यां परीक्षेत्।' अर्थात् जहाँ लक्षण गूढ़ होते हैं वहाँ व्याधि का ज्ञान उपशय या अनुपशय से होता है। जैसे—ऊरुस्तम्भ व वात व्याधि का निर्णय तैलाभ्यंग द्वारा हो जाता है। इसी प्रकार आमवातजन्य सन्धिशूल व सन्धिवातजन्य सन्धिशूल का निर्णय उपशय द्वारा होता है। क्योंकि स्नेहन द्वारा सन्धिवातजन्य शूल में लाभ होता है परन्तु आमवातजन्य शूल में वृद्धि होती है। इसी प्रकार विभिन्न ज्वरों का निर्णय भी उपशय के आधार पर किया जाता है। आधुनिक काल में पञ्चनिदान वर्णित उपशय की उपादेयता बढ़ गई है। विशेष रूप से ग्रामीण या पिछड़े क्षेत्रों में जहाँ विभिन्न प्रकार के प्रयोगशाला परीक्षण सम्भव नहीं हैं वहाँ रोग-निर्णय में उपशय बहुत उपादेय होता है। आयुर्वेद के नये स्नातक व अल्पज्ञ चिकित्सक तो प्रायः उपशय-अनुपशय के आधार पर ही चिकित्सा करते हैं। यदि एक औषधि लाभ नहीं करती है तो दूसरी, तीसरी औषधि का प्रयोग करते हैं। जिस औषधादि से लाभ होता है, तदाधार पर रोग का निर्णय करते हैं। कतिपय व्याधियों का विशिष्ट नामकरण न कर उसे असात्म्यज या अनुपशयजन्य व्याधि मानकर चिकित्सा की जाती है। उपशय की उपादेयता मात्र रोगनिर्णय में ही नहीं, वरन् हेतु निर्णय में भी होती है। कतिपय विशिष्ट व्यक्तियों को विशिष्ट औषध, आहार, विहारादि असात्म्य होते हैं अथवा किसी व्यक्ति को विशिष्ट व्याधि-काल विशेष में होती है, तो इस प्रकार के अनुपशय, उपशय रोग-निर्णय में सहायक होते हैं। जैसे—कोई आतुर कहता है कि जब आहार-विशेष का सेवन करता है या स्थान-विशेष पर जाता है तो रोगवृद्धि हो जाती है पुनः सामान्य आहार-विहार से लाभ होता है। इस प्रकार उपशय, अनुपशय रोग-निर्णय में अत्यन्त उपादेय है।

५. सम्प्राप्ति-ज्ञान की उपादेयता—दोष-दूष्यों के संयोग से व्याधि की उत्पत्ति होती है। व्याधिजनक व्यापार को सम्प्राप्ति कहते हैं। सम्प्राप्ति की उपादेयता इसी तथ्य के द्वारा स्पष्ट हो जाती है कि—दोषदूष्य सम्मूर्च्छना या सम्प्राप्ति-विघटन ही चिकित्सा है। चिकित्सा का उद्देश्य सम्प्राप्ति-विघटन कर धातुओं को समभाव में लाना होता है। यदि सम्प्राप्ति का ज्ञान ही नहीं होगा तो फिर चिकित्सा करना सम्भव नहीं हो पाता है। इसके अतिरिक्त रोगजनक व्यापार का सम्यक् ज्ञान सम्प्राप्ति के द्वारा ही प्राप्त किया जाता है। यदि रोग का सम्यक् ज्ञान ही नहीं होगा तो चिकित्सा किस प्रकार की जायेगी। मधुकोष टीकाकार ने सम्प्राप्ति की उपादेयता

पर प्रकाश डालते हुए कहा है कि—'असत्यां च सम्प्राप्तौ पूर्वरूपादिप्रतीतस्यापि व्याधेश्चिकित्सोपयोगिनोंऽशांशविकल्पनाबलकालादेरप्रतीतेश्चिकित्सा विशेषो न स्यात् ।' अर्थात् हेतु पूर्वरूपादि के साथ सम्प्राप्ति का ज्ञान उपादेय ही नहीं, बल्कि अत्यावश्यक भी है, क्योंकि दोषों की अंशांश कल्पना, बल (व्याधि बल, दोषबल) ऋतु एवं अहोरात्र सम्बन्धी काल, रोगादि के भेद, व्याधियों के प्रकारादि का ज्ञान सम्प्राप्ति के द्वारा ही होता है । यदि रोग के विधि की सम्यक् जानकारी नहीं होगी तो फिर चिकित्सा किस प्रकार की जा सकती है । इसी प्रकार व्याधिकाल, दोष के बल एवं विकल्पादि का ज्ञान नहीं होगा तो फिर यथोचित चिकित्सा किस प्रकार की जा सकती है । इस प्रकार सम्प्राप्ति-ज्ञान अत्यन्त उपादेय एवं महत्त्वपूर्ण है ।

अध्याय—११

अन्नपानविधि सिद्धान्त

आयुर्वेद का एक सिद्धान्त है कि—

'प्राणाः प्राणभृतामन्नमन्नं लोकोऽभिधावति ।
वर्णः प्रसादः सौस्वर्यं जीवितं प्रतिभासुखम् ।।
तुष्टिः पुष्टिर्बलं मेधा सर्वमन्ने प्रतिष्ठतम् ।
लौकिकं कर्म यद् वृत्तौ स्वर्गतौ यच्च वैदिकम् ।।
कर्मापवर्गे यच्चोक्तं तच्चाप्यन्ने प्रतिष्ठितम् ।'

(च० सू० २७ । ३४९–५०)

अर्थात् जन्तुओं (प्राणधारियों) का प्राण अन्न ही होता है । इसलिए जीवलोक (समस्त जीवधारीगण) अन्न की ओर ही दौड़ता है । अन्न के द्वारा ही वर्ण (शारीरिक वर्ण), प्रसाद, स्वर, जीवन, सुख, सन्तोष, बल, मेधा आदि प्रतिष्ठित होते हैं । शारीरिक कर्म (शरीर की विभिन्न क्रियायें) के लिए जो लौकिक कर्म है, स्वर्गगमन हेतु जो वैदिक कर्म किये जाते हैं एवं मोक्ष-साधन के जो कर्म बतलाये गये हैं, वे सभी कर्म अन्न में ही प्रतिष्ठित हैं । इस प्रकार आयुर्वेद के अनुसार—

इस लोक के समस्त व्यवहारों (जीव धारण करने वाले के) का मूल अन्न को कहा गया है । मानव द्वारा किये जाने वाले त्रिविध व्यवहार, १. लौकिक कर्म—शरीर संचालन व शरीर की क्रियायें २. वैदिक व्यवहार—स्वर्ग प्राप्ति हेतु, महत्त्वाकांक्षा, भौतिक चरम सुख प्राप्ति तथा ३. मोक्षदायक कर्म, अन्नपर ही निर्भर होते हैं, क्योंकि इन व्यवहारों व कर्मों का सम्पादन प्राण रहने पर ही संभव होता है तथा प्राण अन्न पर निर्भर करता है । अन्न से ही जीवन चलता है । शरीर की समस्त क्रियायों का अबाध संचालन होता रहे, इसका मूल अन्न ही होता है । आचार्य ने कहा है कि—जीवलोक अन्न की ओर ही दौड़ता है, इसका तात्पर्य यह है कि मनुष्य के व्यवहारों का केन्द्र या आधार अन्न होता है । आयुर्वेद में मनुष्य की तीन एषणाओं में प्रथम एषणा प्राणैषणा ही कही गई है । मानव का प्राथमिक व्यवहार प्राणरक्षा हेतु होता है । इस प्राणरक्षा का मूल अन्न होता है, अतः 'लोकोऽभिधावति' कहकर इसके महत्त्व को प्रदर्शित किया गया है । इसके अतिरिक्त जीवन के तीन उपस्तम्भों में प्रथम उपस्तम्भ आहार ही माना गया है । भारतवर्ष में प्राचीन काल से ही अन्न के महत्त्व को समझा गया है; क्योंकि छा० उ० में अन्न को सृष्टि-विकास के एक प्रमुख घटक के रूप में स्वीकार किया गया है— । '··· ···तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेदेति तत्तेजोऽसृजत् । तत्तेज ऐक्षत बहुस्यां प्रजायेदेति तदपोऽसृजत् ।···आप ऐक्षन्त बहुस्याम

प्रजायेयमहीतिता अन्नं सृजन्त ।'—छा० उ० ३-५-२।३ । अर्थात् प्रथमतः असत् से सत् प्रादुर्भूत हुआ । सत् की बहुत रूपों में विकसित होने की इच्छा हुई तो सत् से तेज की उत्पत्ति हुई । फिर तेज से अप की और अप से अन्न की उत्पत्ति हुई । इसके उपरान्त 'तस्माद्यत्र आपो च वर्षंति तदेव भूयिष्ठमन्नं भवत्यद्भ्यः एव तदध्यन्नाद्यं जायते ।'—२-४, तीनों देवता तेज, अप, एवं अन्न ने आत्मा के साथ सम्पर्क स्थापित किया, जिसके परिणामस्वरूप विभिन्न प्रकार के अनेक देहधारियों की उत्पत्ति हुई—'सेयं देवतैक्षत हन्ताहमिमास्तिस्रो देवता अनेन । जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणीति ।'—छा० उ० ६।३-१२ ॥ इन तीनों से असंख्य जीवों की उत्पत्ति त्रिवृतिकरण प्रक्रिया से हुई । अन्न, अप व तेज के परस्पर साहचर्य से सृष्टि का विकास हुआ । अन्नपाचन के उपरान्त अन्न के स्थूल भाग से पुरीषोत्पत्ति हुई, मध्य भाग से मांस की और सूक्ष्म भाग से मन की उत्पत्ति हुई—'अन्नमशितं त्रेधा विधीयते यस्य यः स्थविष्ठो धातुस्तत्पुरीषं भवति या मध्यमस्तन्मासं योऽणिष्ठः तन्मनः ।'—छ० उ० ६।५।१ । इस प्रकार अन्न के सूक्ष्म भाग से मन, अप् के उत्कृष्ट भाग से प्राण व तेज के उत्कृष्ट भाग से वाक् की उत्पत्ति हुई । इन तीनों से सृष्टि की उत्पत्ति हुई (विशेषविवरण हेतु 'त्रिदोष सिद्धान्त की उद्भव भूमि', आयुर्वेद महासम्मेलन पत्रिका दिसम्बर ८६ बी० के० द्विवेदी और डा० लक्ष्मीधर द्विवेदी द्वारा लिखित प्रकाशित है, उसे देखें । इस प्रकार वैदिक साहित्य के अनुसार जीवधारियों की उत्पत्ति में अन्न को एक प्रधान घटक माना गया है । वैदिक काल में यज्ञ को श्रेष्ठतम कर्म कहा गया है—'यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्मम्' इसका अप्रत्यक्षतः सम्बन्ध अन्न व ऊर्जा से होता है । शरीर में भी ऊर्जा (शरीरसंचालक शक्ति) यज्ञ के द्वारा मानी गई है । चरकसंहिता में कहा गया है कि—

'हिताभिर्जुहुयान्नित्यमन्तरग्नौ समाहितः ।
अन्नपानसमिद्भिर्ना मात्राकालौ विचारयन् ॥'
(च० सू० २७ । ३४५)

अर्थात् मनुष्य को मात्रा और काल का विचार करते हुए प्रतिदिन सावधानीपूर्वक हितकारी अन्नपानरूपी समिधा से अन्तरग्नि में हवन करना चाहिए । इस प्रकार शरीरस्थ अग्नि में अन्नरूपी की समिधा दी जाती है । यहाँ अन्तरग्नि (Combuster) भोक्ता व अन्न को हवि (Substratum) माना गया है । शरीरस्थ अग्नि में अन्न से होम (यज्ञ) करने को आचार्य चरक ने श्रेष्ठतम कहा है । यज्ञ कर्म से जिस फल की प्राप्ति होती है, वह फल अन्तरग्नि में अन्न के हवन से प्राप्त हो जाता है—

'आहिताग्निः सदा पथ्यान्यन्तरग्नौ जुहोति यः ।
दिवसे दिवसे ब्रह्म जपत्यथ ददाति च ॥

नरं निःश्रेयसे युक्तं सात्म्यज्ञं पानभोजने ।
भजन्ते नामयाः केचिद्भाविनोऽप्यन्तरादृते ।।'

(च० सू० २७। ३४६-४७)

अर्थात् जो अहिताग्नि पुरुष जाठराग्नि (अन्तरग्नि, शरीरस्थ अग्नि) में पथ्य अन्न का प्रतिदिन हवन करता है, तथा प्रतिदिन ब्रह्म का जप करता है और दान देता है तथा इस प्रकार निःश्रेयस कर्म (कल्याणकारी या मोक्षदायक कर्म) करने वाले एवं अन्नपान के सात्म्यता का ज्ञान रखने वाले पुरुष को यदि पूर्वजन्म के किसी पाप का फल शेष न हो तो उसे किसी प्रकार का भावी रोग नहीं होता है । यहाँ आचार्य ने 'नामयाः केचिद्भाविनोऽप्यन्तरादृते' कहकर स्पष्ट कर दिया है कि पथ्य व सात्म्य अन्न सेवन करने से किसी भी रोग का प्रादुर्भाव नहीं होता है । इसका तात्पर्य यह है कि अपथ्यान्न व असात्म्याहार से विभिन्न रोगों की उत्पत्ति होती है ।

चरकसंहिता में व आयुर्वेद के अन्य ग्रन्थों में, उपर्युक्त तथ्यों के महत्त्व को प्रतिपादित करते हुए अन्नपान व आहार का विस्तृत वर्णन किया गया है । अन्न के महत्त्व की समीक्षा विभिन्न दृष्टिकोणों से की गई है । शरीरस्थ अग्नि अपना कार्य सुचारु रूप से करती रहे इसके लिए भी अन्नपान आवश्यक होता है---'बलमारोग्यमायुश्च प्राणाश्चाग्नौ प्रतिष्ठिताः । अन्नपानेन्धनैश्चाग्निर्ज्वलति व्येति चान्यथा ।' च० सू० २७।३४२ । अतः चरकसंहिता में अन्नपान विषयक एक स्वतन्त्र अध्याय का वर्णन किया गया है । वैसे तो आहार से सम्बन्धित अन्य स्वतन्त्र अध्याय भी हैं, परन्तु यहाँ अन्नपान से आहारोपयोगी विभिन्न अन्न व पीने योग्य विभिन्न द्रव्यों पर विचार किया गया है । अन्नपान में प्रयुक्त विभिन्न द्रव्यों को अन्नरूप में ही गुणों को प्रकाशित किया गया है । चरकसंहिता में आहार द्रव्यों को निम्न बारह वर्गों में वर्गीकृत किया गया है ।

शूकधान्यशमीधान्यमांसशाकफलाश्रयान् ।
वर्गान् हरितमद्याम्बुगोरसेक्षुविकारिकान् ।।
दश द्वौ चापरौ वर्गौ कृतान्नाहारयोगिनाम् ।'

(च० सू० २७।६-७)

अर्थात् आहार द्रव्यों को—१. शूकधान्यवर्ग, २. शमीधान्यवर्ग, ३. मांसवर्ग, ४. शाकवर्ग, ५. फलवर्ग, ६. हरितवर्ग, ७ मद्यवर्ग, ८. जलवर्ग, ९. गोरसवर्ग, १०. इक्षुविकार वर्ग, ११. कृतान्नवर्ग तथा १२. आहारोपयोगी वर्ग, इन बारह वर्गों में वर्गीकृत किया गया है ।

इसका तात्पर्य यह है कि चरकसंहिता में आहारोपयोगी १२ प्रकार के द्रव्यों को आहार-घटक के रूप में मान्यता प्राप्त है । इनमें से क्रमशः १ से दस तक के वर्गों का एक साथ उल्लेख किया गया है तथा शेष दो वर्गों का उल्लेख 'दश द्वौ चापरौ

वर्ग' कहकर अतिरिक्त रूप से किया गया है; क्योंकि 'कृतान्न वर्ग' में उपर्युक्त दस वर्गों के द्रव्यों के संस्कृत रूप (संस्कार किये गये, सेवन हेतु सिद्ध किये गये) का वर्णन है तथा आहारोपयोगी वर्ग में उन द्रव्यों का वर्णन किया गया है जो अतिरिक्त रूप में सहायक (Supportive) होते हैं तथा दस द्रव्यों में वर्णित द्रव्यों के सेवन करने पर उनके पाचनादि में सहायक होते हैं। इस प्रकार चरकसंहिता में आहार-घटक के रूप में निम्न दस वर्ग मान्य है।

आहार घटक	वर्ग
१. अन्न	१. शूकधान्य वर्ग २. शमीधान्य वर्ग
२. मांस	३. मांसवर्ग
३. शाक व फलादि	४. शाकवर्ग ५. फलवर्ग ६. हरितवर्ग
४. मद्य	७. मद्यवर्ग
५. जल	८. जलवर्ग
६. दुग्ध	९. गोरसवर्ग
७. इक्षुविकार (गुड़, शर्करा)	१०. इक्षुवर्ग

इस प्रकार चरकसंहिता में अन्न, मांस, शाक, फलादि, मद्य, जल, दुग्ध, इक्षु-विकार को आहार घटक के रूप में स्वीकार किया गया है। आहार घटक में तीनों प्रकार के द्रव्यों का समावेश किया गया है। जैसे—१. वनस्पति स्रोत के द्रव्य, २. पार्थिव, ३. जान्तव।

मूलस्रोत	आहार घटक	वर्ग
१. वनस्पति	अन्न, शाक, फल, (हरितादि) अन्य उपयोगी द्रव्य मद्य, इक्षुविकार	१. शूकधान्य, २. शमीधान्य ३. शाक, ४. फल, ५. हरित ६. मद्य, ७. इक्षु, ८. आहारोपयोगी
२. खनिज (पार्थिवद्रव्य)	जल	१. जलवर्ग
३. जान्तव	मांस, दुग्ध	१. मांसवर्ग २. दुग्धवर्ग

उपर्युक्त तालिका से स्पष्ट हो जाता है कि चरकोक्त वर्गों में तीनों प्रकार के द्रव्यों का समावेश किया गया है, पर प्रधान रूप से विभिन्न वनस्पति स्रोत वाले द्रव्यों की मान्यता आहारोपयोग में है। इसके बाद जान्तव द्रव्यों को आहार घटक

के रूप में स्वीकार किया गया है। जान्तव द्रव्य का प्रयोग आहार घटक के रूप में अनिवार्य माना गया है। द्विविध आहार सेवन का (सामिष व निरामिष) जन-सामान्य में विकल्प व्याप्त होना ही इनकी अनिवार्यता को पुष्ट करता है। क्योंकि शाकाहारी व्यक्ति को भी एक जान्तव द्रव्य 'गोरस' लेने का विधान किया गया है। क्योंकि मानव के पैदा होने के साथ ही आहार रूप में जान्तव द्रव्य की उपादेयता स्पष्ट हो जाती है। अतः मांस व दूध इन दो जान्तव द्रव्यों की दो श्रेणियाँ विभक्त कर दी गई हैं। जो व्यक्ति मांस का सेवन नहीं करते हैं, मात्र वनस्पति द्रव्यों का प्रयोग करते हैं, उनके लिए भी एक जान्तव द्रव्य 'गोरस' का विकल्प रखा गया है। आचार्य सुश्रुत ने द्रव्यों का दो महावर्ग द्रव व अन्न बनाकर फिर द्रववर्ग में १० व अन्न वर्ग में १३ वर्गों का उल्लेख किया है। सुश्रुतोक्त द्रववर्ग में आहारोपयोगी द्रव्यों के साथ चिकित्सोपयोगी मूत्रवर्ग का भी वर्णन किया गया है। वैसे ही अन्न-वर्ग में धातु, रत्नवर्ग का उल्लेख किया गया है। चरकोक्त वर्गीकरण आहार-घटक के रूप में प्रस्तुत किया गया है। आचार्य सुश्रुत ने उत्तर तन्त्र अ० ६४ में आहार का बारह विभाग प्रस्तुत किया है, पर उनके वर्गीकरण का आधार भिन्न है। 'अत ऊर्ध्वं द्वादशाशनप्रविचारान् वक्ष्यामः। तत्र शीतोष्णस्निग्धरूक्षद्रवशुष्कैककालिक-द्विकालिकौषधयुक्तमात्राहीनदोषप्रशमनवृत्त्यर्थाः।'—सु० उ० ६४।५६। अर्थात् आहार के १२ (बारह) विभाग होते हैं—१. शीत, २. उष्ण, ३. स्निग्ध, ४. रूक्ष, ५. द्रव, ६. शुष्क, ७. एककालिक, ८. द्विकालिक, ९. औषधयुक्त, १०. मात्राहीन, ११. प्रशमनकारक, १२. वृत्ति प्रयोजक। इसमें १ से ६ तक परिगणित भाव द्रव्यों का गुण हेतु कहा गया है। ७-८. आहार प्रविचार के कालानुसार आहार, ९-११. आहार प्रविचार चिकित्सात्मक आहार हैं। दसवाँ आहार प्रविचार मात्रा के सम्बन्ध में है। १२वाँ आहार प्रविचार वृत्तिप्रयोजक आहार स्वस्थ व्यक्तियों के लिये हैं।

यहाँ अन्नपान सिद्धान्त की विवेचना का आधार चरकोक्त विधि-विधान को बनाया गया है। चरकोक्त बारह वर्गों का वर्णन प्रायशः जन-सामान्य द्वारा ग्रहण किये जाने वाले आहार पर आधारित है। आहार द्रव्य से सम्बन्धित सिद्धान्त को आचार्य चरक ने निम्न रूप में प्रकाशित किया है—

'अन्नपानैकदेशोऽयमुक्तः प्रायोपयोगिकः।
द्रव्याणि न हि निर्देष्टुं शक्यं कार्त्स्न्येन नामभिः॥
यथा नानौषधं किंचिद्देशजानां वचो यथा।
द्रव्यं तत्तत्तथा वाच्यमनुक्तमिह यद्भवेत्॥'

(च० सू० २७।३३०)

अर्थात् प्रायशः जनसामान्य द्वारा अधिकतर प्रयोग किये जाने वाले अन्नपान के

एक देश का यहाँ उपदेश किया गया है, क्योंकि संसार में उत्पन्न सभी द्रव्यों के बारे में नामतः निर्देश देना सम्भव नहीं है। जिस प्रकार जितने भी द्रव्य हैं, वे सभी औषध हैं अर्थात् औषधीय गुणयुक्त होते हैं, उसी प्रकार जिन अन्न व पान द्रव्यों का यहाँ उल्लेख नहीं किया गया है, वे द्रव्य जिस देश में उत्पन्न होते हैं, उस देशवासी मनुष्य के कथनानुसार उनके गुण-कर्म जानने चाहिए। यहाँ आचार्य ने स्पष्ट कर दिया है कि आहार द्रव्यों के बारह वर्ग का यहाँ एक देश (आर्यावर्त्त या भारतवर्ष) में प्रचलित आहार द्रव्यों के आधार पर उल्लेख किया गया है। संभव है, किसी अन्य देश में अन्य द्रव्य प्रचलित हों। अन्य देश के आहार द्रव्यों के गुण-कर्म की जानकारी उन व्यक्तियों से लेनी चाहिए जिस देश में उस अन्नपान द्रव्य का प्रयोग किया जाता है। इस प्रकार आचार्य ने अन्न-पान द्रव्यों का व्यापक क्षेत्र निर्धारित किया है।

अब चरकोक्त बारह वर्गों पर विचार करने का प्रयत्न किया जायेगा। जैसाकि शीर्षक 'अन्नपानविधि' से ही स्पष्ट है कि आहार द्रव्यों या आहार घटकों में अन्न की प्रमुखता है, अतः प्रथमतः अन्न द्रव्यों का उल्लेख किया गया है।

१. शूकधान्य वर्ग

आहार द्रव्यों में प्रथमतः शूकधान्य वर्ग का उल्लेख किया गया है। जिन अन्न द्रव्यों में शूक अर्थात् तुण्ड काँटा होता है, उन द्रव्यों को शूक धान्य वर्ग में रखा गया है। शूक धान्य वर्ग का अर्थ होता है—वैसे धान्यों का संग्रह जो शूक (तुण्ड) युक्त हों। इसके अन्तर्गत धान (चावल), जौ, गेहूँ आदि का संग्रह किया गया है। चावल के अनेक प्रकारों का उल्लेख किया गया है। शून्यधान्य वर्ग में द्रव्यों का संग्रह निम्न रूप में किया गया है।

शूकधान्यवर्ग[1]

१. सामान्यधान्य	२. षष्टिकधान्य	३. ब्रीहिधान्य ४. पाटलधान्य	५. कोरटव व ६. श्यामाक	७. जौ	८. गोधूम
१. रक्तशालि	१. श्वेतसाठी	१. ब्रीहि	१. हस्तिश्यामा	१. जौ	१. नान्दीमुखी
२. महाशालि	२. श्यामसाठी	२. पाटल	२. निवार	२. वेणुयव	२. मधूली
३. कलम	३. बरक		३. तोयपर्णी		

१. रक्तशालिर्महाशालिः कलमः शकुनाहृतः। तूर्णको दीर्घशूकश्च गौरः पाण्डुकलाङ्गुली। सुगन्धो लोहवालः सारिवाख्यः प्रमोदकः। पतङ्गस्तपनीयश्च ये चान्ये शालयः शुभाः।—च० सू० २७।८-९। षष्टिकः प्रवरो गौरः कृष्णगौरस्ततोऽनु च। वरकोद्दालकौ चीनशारदोज्ज्वलदर्दुराः। गन्धनाः कुरुविन्दाश्च षष्टिकाल्पन्तरा गुणैः। १४। मधुर···ब्रीहिः··· । त्रिदोषस्त्वेव पाटलः। १५। सकोरदूषः श्यामाकः कषाय-

४. शकुनाहृत	४. उद्दालक	४. गवेधुक
५. तूर्णक	५. चीन	५. प्रशातिका
६. दीर्घशूक	६. शारद	६. अम्भश्यामा
७. गौरधान्य	७. उज्ज्वल	७. लोहिताणु
८. पाण्डुकधान्य	८. दर्दुर	८. प्रियंगु
९. लांगुल	९. गन्धन	९. मुकुन्द
१०. लोहवाल	१०. कुरुविन्द	१०. झिण्टी
११. सारिवाख्य		११. गर्मूटी
१२. प्रमोदक		१२. वरुक
१३. पतङ्ग		१३. वरक
१४. तपनीय		१४. शिविर
		१५. उत्कट
		१६. जूर्णाह्व

इनमें सामान्य धान्यों को शीता रसे विपाके च मधुराश्चाल्पमारुताः । बद्धाल्पवर्चसः स्निग्धा बृंहणां शुक्रमूत्रलाः ।' 'च० सू० २७।१० । रस व विपाक में मधुर, वीर्य में शीत, गुण में स्निग्ध, कर्म-बृंहण, शुक्रल, मूत्रल, दोषप्रभाव-अल्प वातवर्द्धक, मलप्रभाव—बँधा हुआ अल्प मल निकालने वाला कहा गया है। धान्यों में सर्वश्रेष्ठ रक्त शालि को कहा गया है, अतः इसका उल्लेख प्रथमतः किया गया है । इससे कुछ अल्प गुणयुक्त महाशालि होता है—'रक्तशालिवरस्तेषां तृष्णाघ्नस्त्रिमलापहः । महांस्तस्न्यानुकलमस्तस्याप्यनु ततः परे' । रक्तशालि में उपर्युक्त कर्मों के अतिरिक्त यह तृष्णाघ्न है तथा त्रिदोषशामक होता है । सामान्य धान्यों में उल्लिखित धान्य क्रमशः न्यून गुण वाले होते हैं अर्थात् रक्तशालि से महाशालि, महाशालि से कलम, कलम से शकुनाहृत क्रमशः न्यून गुण वाले होते हैं । षष्टिक धान्य रस में मधुर, वीर्य में शीत, गुण में लघु स्निग्ध, त्रिदोषशामक व शरीर में स्थिरता उत्पन्न करने वाले होते हैं । इसमें भी पूर्व से उत्तर-उत्तर धान्य (वर्णन के आधार पर) न्यून गुणयुक्त होते हैं । जैसे—श्वेतसाठी सर्वोत्तम गुणयुक्त व कुरुविन्द न्यूनतम गुणयुक्त होता है। व्रीहि धान्य रस में मधुर, विपाक में अम्ल, पित्त दोष की वृद्धि करने वाले गुण में गुरु होते हैं । पाटलधान्य मूत्र, पुरीष व ऊष्मा को बढ़ाने वाला एवं त्रिदोषकारक होते हैं । कोदो व सावाँ रस में कषाय, मधुर, विपाक, मधुर, वीर्य शीत, कफ-पित्त शामक व

मधुरो लघुः । वातलः कफपित्तघ्नः शीतः संग्राहिशोषणः । हस्तिश्यामाकनीवारतोयपर्णी गवेधुकाः । प्रशातिकाम्भः श्यामाकलौहित्याणुप्रियङ्गवः । मुकुन्दो झिण्टिगर्मूटी वरुका वरकास्तथा । शिविरोत्कटजूर्णाह्वाः श्यामाकसदृशा गुणैः ॥ स्वादुर्बहुवातशकृद्यवः । ···वेणुयवो मतः ।···नान्दीमुखी मधूली च··· । (च० सू० २७।१६-२०)

वात वृद्धिकर, गुण-लघु, ग्राही व धातु शोषक होते हैं—'सकोरदूष: श्यामाक: कषाय-मधुरो लघुः। वातल: कफपित्तघ्नः शीतः संग्राहिशोषणः'।—च० सू० २७।१६। यव रसादि में मधुर, कषाय, गुण-रूक्ष, शीत, लघु, वात वृद्धिकर, मल वृद्धिकर तथा शरीर में स्थिरता उत्पन्न करने वाला होता है।[1] बाँस से उत्पन्न जौ रस में मधुर, कषायानुरस, गुण में रूक्ष, कफ-पित्तनाशक, मेद, कृमि, विषनाशक तथा बल्य होता है।[2] आचार्य सुश्रुत ने जौ का विपाक कटु कहा है। इसमें स्थूल, पिच्छिल गुण होता है तथा इसके अति रूक्ष होने से यह लेखन कर्म करने वाला कहा गया है।[3] गोधूम अर्थात् गेहूँ का रस मधुर, विपाक मधुर, वीर्य शीत, गुण-गुरु, स्निग्ध होता है। इसका कर्म जीवनीय, बृंहण, वृष्य एवं स्थैर्यकर होता है।[4] आचार्य सुश्रुत ने इसमें स्निग्ध गुण के साथ शीत भी कहा है। यह वात-पित्तनाशक एवं कफ को बढ़ाने वाला होता है—'गोधूम उक्तो मधुरो गुरुश्च बल्यः स्थिरः शुक्ररुचिप्रदश्च। स्निग्धोऽतिशीतोऽनिलपित्तहन्ता संधानकृच्छ्लेष्मकरः सरश्च।'—सु० सू० ४६।

शूकधान्यवर्ग के द्रव्यों के गुणकर्म

द्रव्य का नाम	रस	विपाक	वीर्य	गुण	कर्म	दोष प्रभाव व आमयिक उपयोग
१. सामान्यधान्य (शालि) शालि-धान्य	मधुर	मधुर	शीत	स्निग्ध	बृंहण शुक्रल मूत्रल तृष्णाघ्न मलनिस्सारक	किंचित् वातवर्द्धक त्रिदोषशामक

१. रूक्षः शीतोऽगुरुः स्वादुर्बहुवातशकृद्यवः।
स्थैर्यकृत् सकषायश्च बल्यः श्लेष्मविकारनुत्॥ (च० सू० २७।१९)

२. रूक्षः कषायानुरसो मधुरः कफपित्तहा।
मेदः क्रिमिविषघ्नश्च बल्यो वेणुयवो मतः॥ (च० सू० २७।२०)

३. यवः कषायो मधुरो हिमश्च कटुर्विपाके कफपित्तहारी।
व्रणेषु पथ्यस्तिलवच्च नित्यं प्रबद्धमूत्रो बहुवातवर्चाः॥
स्थैर्याग्निमेधा स्वरवर्णकृच्च सपिच्छिलः स्थूलविलेखनश्च।
मेदोमरुत्तृड्हरणोऽतिरूक्षः प्रसादनः शोणितपित्तयोश्च॥ (सु० सू० ४६)

४. सन्धानकृद्वातहरो गोधूमः स्वादुशीतलः।
जीवनो बृंहणो वृष्यः स्निग्धः स्थैर्यकरो गुरुः॥
नान्दीमुखी मधूली च मधुरस्निग्धशीतले।
इत्ययं शूकधान्यानां पूर्वो वर्गः समाप्यते॥ (च० सू० २७।२१-२२)

२. षष्टिकधान्य	मधुर	मधुर	शीत	लघु, स्निग्ध	स्थैर्यकर	त्रिदोषशामक वात-पित्तशामक (भा० प्र०)
३. व्रीहिधान्य	मधुर	अम्ल मधुर (भा० प्र०)	शीत (भा० प्र० खण्ड)	गुरु		पित्तजनक
४. पाटलधान्य	—	—	—	—	मूत्रवर्द्धक पुरीषवर्द्धक ऊष्मावर्द्धक	त्रिदोषकोपक
५. कोदो सावाँ धान्य	कषाय व मधुर	—	शीत	लघु	ग्राही धातुशोषक	वातवर्द्धक कफपित्त-शामक
६. यव	मधुर, कषाय (सुश्रुत) मधुर, कषाय (सुश्रुत)	कटु	शीत	रूक्ष, लघु शीत	बल्य स्थैर्यकर मेध्य-सु० मलवर्धक लेखन-सु० रक्तप्रसा-दक-सु०	वातवर्द्धक कफ-शामक कफपित्त शामक (सु०) मेदोहर, क्रिमी-नाशक. व्रणरोग में पथ्य, तृषारोग में पथ्य, अग्नि, मेधा वृद्धिकर
७. गोधूम	मधुर	मधुर	शीत	स्निग्ध गुरु, शीत स्थिर	जीवन बृंहण वृष्य स्थैर्यकर संधानकर बल्य वर्ण्य	वातशामक

उपर्युक्त तालिका से स्पष्ट हो जाता है कि आहार-घटक के रूप में प्रथमतः शूक-धान्य वर्ग का उल्लेख आहार के मुख्य घटक के आधार पर किया गया है। आचार्य चरक ने द्रव्यों के गुण कर्मादि के क्रम में स्पष्ट कर दिया है कि प्रथमतः सर्वोत्तम या प्रमुख द्रव्यों का उल्लेख किया गया है, जैसे—प्रथमतः रक्तशालि का। उसी प्रकार एक देश यानि भारतवर्ष में आहार द्रव्यों में प्रधान आहार शूकधान्य वर्ग को ही बनाया गया है अर्थात् प्रधान आहार के रूप में शूकधान्य वर्ग के द्रव्यों का ग्रहण किया जाता है। उपर्युक्त तालिका से यह स्पष्ट होता है कि—शूकधान्य को यदि

प्रधान घटक मानकर प्रथमत: उल्लेख किया गया है, तो इस आधार पर प्रधान घटक की निम्न विशेषतायें हैं—

१. शूकधान्य वर्ग के प्रायश: सभी द्रव्य मधुर रस के हैं।

२. उपर्युक्त द्रव्यों में अधिकतर मधुर विपाक वाले ही द्रव्य हैं। जौ का विपाक कटु व व्रीहि धान्य का अम्ल चरकसंहिता में कहा गया है, जबकि भावप्रकाश में व्रीहिधान्य का पाक भी मधुर कहा गया है। इस प्रकार शूकधान्य वर्ग के द्रव्यों का प्राय: मधुर विपाक है। अपवाद-यव।

३. शूकधान्यवर्ग में उल्लिखित सभी द्रव्यों का वीर्य शीत है।

४. शूकधान्य वर्ग की सात जाति के द्रव्यों में से तीन स्निग्ध गुण, तीन लघु, दो गुरु, दो शीत, एक रूक्ष व एक स्थिर गुणयुक्त है।

५. जनसामान्य में प्रचलित व सामान्यतया आहारोपयोगी शालिधान्य, गोधूम व षष्टिकधान्य में स्निग्ध गुण बतलाया गया है, इसका उद्देश्य यह है कि प्रधान आहार स्निग्ध गुण प्रधान होना चाहिए।

६. शूकधान्य में वर्णित द्रव्यों में शालिधान्य व गोधूम का कर्म-बृंहण वृष्य, शुक्रल, बल्य कहा गया है। यव को मेध्य, बल्य, स्थैर्यंकर कहा गया है। कर्म से सम्बन्धित निम्न तालिका प्रस्तुत है।

शूकधान्य वर्ग के द्रव्यों की कर्मतालिका

कर्म	शालिधान्य	ष० धा०	व्री० धा०	पाटल	को० सा०	यव	गोधूम
१. बृंहण	+	+	—	—	—	—	+
२. जीवन	—	—	—	—	—	—	+
३. वृष्य (शुक्रल)	+	—					
४. बल्य	+	—	—	—	—	+	+
५. स्थैर्यंकर	—	+	—	—	—	+	+
६. मेध्य	—	—	—	—	—	+	—
७. संधानकर	—	—	—	—	—	—	+
८. वर्ण्य	—	—	—	—	—	—	+
९. मूत्रवर्द्धक व मूत्रल	+	—	—	+	—	—	—
१०. पुरीषवर्द्धक	+	—	—	+	—	+	—
११. ऊष्मावर्द्धक	—	—	—	+	—	—	—
१२. ग्राही	—	—	—	—	+	—	—
१३. लेखन	—	—	—	—	+	+	—
१४. धातुपोषक	—	—	—	—	+	—	—

कर्म	शालिधान्य	ष० धा०	व्री० धा०	पाटल	को० सा०	यव	गोधूम
१. वातवर्द्धक	+किंचित्	—	—	+	+	+	—
२. पित्तवर्द्धक	—	—	+	+	—	—	—
३. कफवर्द्धक	—	—	—	+	—	—	+
४. वातशामक	—	+	—	—	—	—	+
५. पित्तशामक	—	+भा०प्र०	—	—	+	+(सु०)	—
६. कफशामक	—	—	—	—	+	+	—
७. त्रिदोषशामक	+	+(चरक)	—	—	—	—	—
८. त्रिदोष कोपक	—	—	—	+	—	—	—

उपर्युक्त तालिका से यह स्पष्ट होता है कि शूकधान्य वर्ग में शालिधान्य (विभिन्न चावल), गोधूम व यव आदि द्रव्यों में शरीर के लिए अनुकूल कर्माधिक्य है; अतः जनसाधारण में इसका प्रयोग अधिक किया जाता है। शालिधान्य त्रिदोष-शामक होता है; अतः प्रातःकालीन आहार में उपयुक्त होता है। दिनचर्यादि से (दैनिक क्रियायों व्यवसायादि से) सायं वातवृद्धि हो जाती है, अतः गोधूम का सेवन सायंकाल करना उचित होता है। कृशकाय व्यक्ति को प्रधान आहार शालि-धान्य व गोधूम जैसे बृंहण द्रव्यों को बनाना चाहिए तथा स्थूल व्यक्ति को यव-सदृश वा यव को प्रधान आहार बनाना चाहिए।

शमीधान्य वर्ग

जो धान्य छिलके के अन्दर दो दलों में रहते हैं, उसे शमीधान्य वर्ग में रखा गया है। विभिन्न प्रकार के दालों का संग्रह शमीधान्य वर्ग में ही किया गया है। चरक-संहिता में शमीधान्यवर्ग में मूंग, उड़द, राजमाष, मकुष्ठ, चना, तिल, अरहर, शिम्बी-धान्य, काकाण्डोल आदि का वर्णन किया गया है। इसका अर्थ यह नहीं है कि मात्र उल्लिखित शमीधान्य ही आहारोपयोगी है, बल्कि जनसामान्य में प्रचलित व सर्वसुलभ धान्यों का उल्लेख भीकिया गया है, जिनका उपयोग आहार में प्रायशः होता है। अन्य ग्रन्थों में (भावप्रकाशादि में) अन्य द्रव्यों का भी संग्रह कर वर्णन किया गया है। यहाँ चरकोक्त द्रव्यों को अन्नपान विधि का आधार बनाया गया है, इसके अतिरिक्त कुछ अन्य जनसामान्य में प्रचलित शिम्बी धान्यों का, यथा कलाय, मसूर आदि का भी उल्लेख किया जायेगा; क्योंकि इस समय यह जनसामान्य में प्रचलित आहार द्रव्य है। चरकसंहिता में इनका संक्षिप्त उल्लेख है, किन्तु भा० प्र० में इन पर पूर्ण प्रकाश डाला गया है।

निम्न तालिका में शिम्बी धान्यों का गुण-कर्म दर्शाया गया है।

द्रव्य नाम	१. रस	२. गुण	३. विपाक	४. वीर्य	५. कर्म	६. दोषप्रभाव	७. अन्य
१. मूँग[1]	कषाय मधुर	रूक्ष लघु विशद	कटु	शीत	नेत्र्य ज्वरघ्न	कफ-पित्त नाशक किंचित् वातवर्द्धक	सभी शमी-धान्यों में सर्वोत्तम
२. उड़द[2]	मधुर	गुरु स्निग्ध	मधुर	उष्ण	बल्य पुंस्त्वकर स्रंसन (भा० प्र०) तर्पण बल्य, बृंहण स्तन्यवर्द्धक वृष्य, मल-वर्द्धक	वातनाशक कफ-पित्त वर्द्धक (भा० प्र०)	गुदकील अर्दितवात श्वास और पक्ति-शूल में लाभ-दायक (भा० प्र०)
३. राज-माष[3]	मधुर कषाय	रूक्ष गुरु विशद	मधुर	—	रुचिवर्द्धक स्तन्य (भा० प्र०) सारक बल्य शुक्रहर	वातवर्द्धक कफनाशक	अम्लपित्त-

१. कषायमधुरो रूक्षः शीतः पाके कटुर्लघु।
विशदः श्लेष्मपित्तघ्नोमुद्गः सूप्योत्तमो मतः॥ (च० सू० २७। २३)
मुद्गो रूक्षो लघुर्ग्राही कफपित्तहरो हिमः।
स्वादुरल्पानिलो नेत्र्यो ज्वरघ्नो वनजस्तथा॥(भा० प्र० धा० व० ३८)

२. वृष्यः परं वातहर; स्निग्धोष्णोमधुरोगुरूः।
बल्यो बहुमलः पुंस्त्वं माषः शीघ्रं ददाति च॥ (च० सू० २७। २४)
माषो गुरुर्भिन्नपुरीषमूत्रः स्निग्धोष्णवृष्यो मधुरोऽनिलघ्नः।
सन्तर्पणः स्तन्यकरो विशेषाद्बलप्रदः शुक्रकफावहश्च॥(सु० सू० ४६)
माषो गुरुः स्वादुपाक·········कफपित्तकरा माषा॥ (भा० प्र०)

३. राजमाष सरो रुच्यः कफशुक्राम्लपित्तनुत्।
तत्स्वादुर्वातलो रूक्षः कषायो विशदो गुरुः॥ (च० सू० २७।२५)

द्रव्य नाम	१. रस	२. गुण.	३. विपाक	४. वीर्य	५. कर्म	६. दोषप्रभाव	७. अन्य
४. कुल्थी[1]	कषाय	लघु (भा० प्र० सर	अम्ल कटु (भा०प्र०)	उष्ण	संग्राही स्वेद-संग्राही क्रिमीहर ज्वरहर शुक्रहर	वातनाशक कफहर पित्तवर्द्धक (भा० प्र०)	कास, हिक्का श्वास, अर्श पीनस, अश्मरी आदि में लाभ-दायक है।
५. मकुष्ठ[2] (मोठ)	मधुर	रूक्ष लघु (भा०प्र०)	मधुर	शीत	संग्राही	कफ-पित्त नाशक (भा०प्र०) वातवर्द्धक	रक्तपित्त, ज्वरादि में सर्वोत्तम पथ्य द्रव्य है
६. चणक[3] (चना)	मधुर कषाय कषाय (भा० प्र०)	रूक्ष लघु	—	शीत	विष्टम्भक ज्वरघ्न	वातकारक (भा०प्र०) पित्त-कफ-नाशक	पित्तजन्य व रक्तविकारों में लाभ-दायक

राजमाषो गुरुः स्वादुस्तुबरस्तर्पणः सरः ।
रुक्षो वातकरो रुच्यः स्तन्यो भूरिबलप्रदः ॥ (भा० प्र०)

१. उष्णाः कषायाः पाकेऽम्लाः कफशुक्रानिलापहाः ।
कुलत्था ग्राहिणः कासहिक्काश्वासार्शसां हिताः ॥ (च० सू० २७।२६)
कुलत्थः कटुकः पाके कषायः पित्तरक्तकृत् ।
लघुर्विदाही वीर्योष्णः श्वासकासकफानिलात् ॥
हन्ति हिक्काऽश्मरीशुक्रदाहानाहान् सपीनसान् ।
स्वेदसंग्राहको मेदोज्वरक्रिमिहरः सरः ॥ (भा० प्र०)

२. मधुरा मधुराः पाके ग्राहिणो रूक्षशीतलाः ।
मकुष्ठका प्रशस्यन्ते रक्तपित्तज्वरादिषु ॥ (च० सू० २७।२७)
मकुष्ठो वातलो ग्राही कफपित्तहरो लघुः ।
वह्निजिन्मधुरः पाके क्रमिकृज्ज्वरनाशनः ॥ (भा० प्र०)

३. पित्तश्लेष्मणि शस्यन्ते सूपेष्वालेपनेषु च ।
लघवः शीतमधुराः सकषायाविरुक्षणाः ॥ (च० सू० २१)
चणकः शीतलो रूक्षः पित्तरक्तकफापहाः ।
लघु कषायोविष्टम्भी वातलो ज्वरनाशनः ॥ (भा० प्र०)

द्रव्य नाम	१. रस	२. गुण	३. विपाक	४. वीर्य	५. कर्म	६. दोषप्रभाव	७. अन्य
७. आढकी[1] (अरहर)	कषाय मधुर	रूक्ष लघु (भा०प्र०)	मधुर	शीत	ग्राही वर्ण्य	वातवर्द्धक कफ-पित्त-नाशक	रक्तविकार को दूर करने वाली होती है
८. मसूर[2]	मधुर कषाय	लघु रूक्ष	मधुर	शीत	संग्राही ज्वरहर (भा० प्र०)	वातवर्द्धक पित्त-कफ-नाशक	रक्तविकार में उपयोगी
९. मटर[3]	मधुर	रूक्ष लघु	मधुर	शीत		वातवर्द्धक	
१०. त्रिपुट[4] (खेसारी)	मधुर कषाय के साथ तिक्त (भा०प्र०)	रूक्ष लघु	मधुर	शीत	रुच्योत्पादक ग्राही भा० प्र०	कफ-पित्त-शामक अतिवात-वर्द्धक	खञ्जत्व, पङ्गुत्व करने वाली

१. आढकी कफपित्तघ्नी वातला, कफवातनुत् ।
अवल्गुजः सैडगजोनिष्पावा वातपित्तलाः ।। (च० सू० २७।३३)
आढकी तुवरा रूक्षा मधुरा शीतला लघुः ।
ग्राहिणी वातजननी वर्ण्या पित्तकफास्रजित् ।। (भा० प्र०)

२. चणकाश्च मसूराश्च खण्डिकाः सहरेणवः ।
लघवः शीतमधुराः सकषाया विरूक्षणाः ।।
पित्तश्लेष्मणि शस्यन्ते सूपेष्वालेपनेषु च ।
तेषां मसूरः संग्राही······ ।। (च० सू० २७।२८-२९)
मसूरो मधुरः पाके संग्राही शीतलो लघुः ।
कफपित्तास्रजिद्रूक्षो वातलो ज्वरनाशकः ।। (भा० प्र०)

३. अन्य गुण कर्म चणक मसूरादि के समान कहा गया है ।[8]
कलायो मधुरः स्वादुः पाके रूक्षश्च शीतलः ।। (भा० प्र०)

४. अन्यगुण कर्म चणकादि सदृश ।[8]
कलायो वातलः परम् । (च० सू० २७)
त्रिपुटो मधुरस्तिक्तस्तुवरो रूक्षणो भृशम् ।।
कफपित्तहरो रुच्यो ग्राहकः शीतलस्तथा ।
किन्तु खञ्जत्वपङ्गुत्वकारी वातातिकोपनः ।। (भा० प्र०)

द्रव्य नाम	१. रस	२. गुण	३. विपाक	४. वीर्य	५. कर्म	६. दोषप्रभाव	७. अन्य
११. तिल[1]	मधुर, तिक्त कषाय कटु	स्निग्ध उष्ण	कटु (भा० प्र०)	उष्ण	त्वच्य केश्य, वृष्य बल्य स्तन्य मूत्रलग्राही (भा० प्र०)	वातनाशक कफ-पित्त-वर्द्धक	दंतविकार में व व्रणावस्था में अतिलाभ-दायक है।
१२. अन्य शिम्बीधान्य[2] (जिनका उल्लेख नहीं किया गया है)	मधुर	रूक्ष गुरु	—	शीत	बलघ्न	वातकोपक	रूक्षतोत्पादक

इस प्रकार शमीधान्यों में सर्वश्रेष्ठ मूंग को कहा गया है। शमीधान्य वर्ग के उल्लिखित द्रव्यों में प्रायः मधुर व कषाय रस होते हैं। त्रिपुट (खेसारी) में मधुर, कषाय के साथ तिक्त रस भी होता है। त्रिपुट के अतिरिक्त सभी शमीधान्य द्रव्य मधुर व कषाय रसयुक्त हैं। मूंग व कुल्थी दो के अतिरिक्त अन्य शमीधान्यों का विपाक भी प्रायः मधुर होता है। मूंग का विपाक कटु व कुल्थी का अम्ल कहा गया है। उड़द व कुल्थी का वीर्य उष्ण होता है। अन्य सभी शमीधान्यों का वीर्य प्रायः शीत कहा गया है। धातुओं की पुष्टि आदि की दृष्टि से उड़द को बल्य, वृष्य; स्तन्यादि वृद्धिकर कहा गया है। इससे कुछ न्यून गुण-कर्म वाला राजमाष कहा गया

१. स्निग्धोष्णो मधुरस्तिक्तः कषायः कटुकस्तिलः।
त्वच्यः केश्यश्च बल्यश्च वातघ्नः कफपित्तकृत्॥ (च० सू० २७।३०)
तिलोरसे कटुस्तिक्तो मधुरस्तुवरोगुरुः॥
विपाके कटुकः स्वादु स्निग्धोष्णः कफपित्तनुत्।
बल्यः केश्यो हिमस्पर्शस्त्वच्यः स्तन्यो व्रणे हितः।
दन्त्योऽल्पमूत्रकृद् ग्राही वातघ्नोऽग्निमतिप्रदः।
कृष्णः श्रेष्ठतमस्तेषु शुक्लो मध्यमः सितः॥ (भा० प्रा०)

२. मधुराः शीतलाः गुर्व्यो बलघ्नो रूक्षणात्मिका।
सस्नेहा बलिभिर्भोज्यः विविधाः शिम्बिजातयः॥
शिम्बी रूक्षा कषाया च कोष्ठे वातप्रकोपिनी।
न च वृष्या न चक्षुष्या विष्टभ्य च विपच्यते॥
(च० सू० २७। ३२-३३)

है। बहुप्रचलित अरहर व मसूर को ग्राही कहा गया है। शमीधान्यों में कुछ विशिष्ट द्रव्यों को छोड़कर अन्य अधिकतर द्रव्य वातवर्द्धक कहे गये हैं; क्योंकि इस वर्ग के अधिकतर द्रव्यों के गुण रूक्ष व लघु हैं। मुद्ग व राजमाष में विशद गुण भी कहा गया है।

मांसवर्ग

अन्न या धान्य वर्गों का उल्लेख करने के बाद मांसवर्ग का उल्लेख किया गया है। मांस के विशद उल्लेख व चिकित्सा आदि में इसके व्यापक प्रयोग से ऐसा अनुमान करना संभव है कि—चरकसंहिता के निर्माण-काल में विशेष जनसमूह प्रधान रूप में मांस का आहार लेता था। आज भी कतिपय विशेष भूखण्ड में प्रधान आहार के रूप में मांस का ग्रहण किया जाता है। मांस को प्रधान आहार के रूप में लेने वाले जनसमूह को मांसाहारी कहा गया है। उस काल में अनेक जन्तुओं का मांस ग्रहण किया जाता था। उपर्युक्त कारणों को ध्यान में रखते हुए अन्न या धान्य के वर्णन के पश्चात् आचार्य ने मांसवर्ग का उल्लेख किया है। मांस वर्ग में निम्न जाति के जन्तुओं के मांस का उल्लेख किया गया है—

मांसवर्ग

[च० सू० २७।३५-५२ के आधार पर]

१. प्रसह पशु पक्षी—१. गौ, २. गधा, खच्चर, ४. ऊँट, ५. घोड़ा, ६. चीता, ७. भालू, ८. बानर, ९. भेड़िया, १०. बाघ, ११. बभ्रु (भेंड़), १२. बिल्ली, १३. चूहा, १४. लोमड़ी, १५. गीदड़, १६. बाज, १७. वान्ताद, १८. चाष, १९. कौवा, २०. शशघ्नी (पक्षीविशेष, जो बड़े नख व पंजे वाली होती है), २१. मधुहा, २२. भास (श्वेत शिखायुक्त गृध्र), २३. गिद्ध, २४. उल्लू, २५. कुलिंग, २६. धूमिका, २७. कुरर।

२. भूमिशय—१. श्वेत काकुली मृग, २. कृष्ण का० मृ०, ३. श्याम का० मृ०, ४. चित्रित का० मृ० (सर्पभेद), ५. कूर्चिका (सर्पभेद), ६. चिल्लट, ७. भेक (मेढ़क), ८. गोह, ९. शाही, १०. गण्डक (पीत गोह), ११. कदली (बनबिल्ला), १२. नेवला, १३. श्वाविद् (शाही का ही एक प्रकार)।

३. आनूप वर्ग—१. सृमर (बड़े सूअर), २. चमरी गौ, ३. गैंडा, ४. भैंस, ५. गवय, ६. हाथी, ७. न्यङ्कु (हरिण), ८. बाराह, ९. रुरु (मृगभेद)।

४. बारिशय—१. कछुआ, २. केकड़ा, ३. मछली, ४. शिशुमार, ५. तिमिङ्गिल, (मत्स्यभेद), ६. सीप, ७. शंख, ८. उद्र, ९. कुम्भीर, १०. चुलुकी, ११. मगर।

५. बारिचर—१. हंस, २. क्रौंच, ३. बलाका, ४. बक, ५. कारण्डव, ६. प्लव (सारस भेद), ७. शरारि, ८. पुष्कराह्व, ९. केशरी, १०. मणितुण्डक, ११. मृणाल-

कंठ, १२. मद्गु, १३. कादम्ब, १४. काकतुण्डक, १५. उत्क्रोश, १६. पुण्डरीकाक्ष, १७. मेघराव, १८. अम्बुकुक्कुटी, १९. आरा, २०. नन्दीमुखी, २१. वाटी, २२. सुमुख, २३. सहचारी, २४. रोहिणी, २५. कामकाली, २६. सारस, २७. रक्तशीर्षक, २८. चकवा-चकई आदि।

६. जाङ्गल—१. पृषद, २. शरभ, ३. राम, ४. श्वद्रंष्ट, ५. मृग (मातृकादि मृग), ६. राश (खरहा), ७. कुरपा, ८. कुरङ्ग, ९. गोकर्ण, १०. कोहकारक, ११. चारुष्क १२. हरिण, १३. एण, १४. शम्बर, १५. कालपुच्छक, १६. ऋष्य, १७. वरपोत (सं० ९ से १७ तक मृगों के भेद हैं)।

७. विष्किर—१. लवा, २. वर्तीरक, ३. वार्तीक (चटक भेद), ४. कपिञ्जल (तित्तिरभेद), ५. चकोर, ६. उपचक्र (चकोरभेद), ७. कुक्कुभ, ८. रक्तवर्त्मक (चटक भेद), ९. वर्तक, १०. वर्त्तिका, ११. मोर, १२. तित्तिर, १३. कुक्कुट, १४. कङ्क (काकभेद), १५. शारपाद, १६. इन्द्राभ, १७. गोनर्द, १८. गिरिवर्तक, १९. क्रकर, २०. अवकर, २१. वारड आदि।

८. प्रतुद—१. शतपत्र, २. भृङ्गराज, ३. कोयष्टि, ४. जीवजीवक, ५. कैरात, ६. कोयल, ७. अत्युह, ८. गोपापुत्र, ९. प्रियात्मज, १०. लट्ठा, ११. लहषक, १२. वभ्रु, १३. वटहा, १४. डिण्डिमानक, १५. जटी, १६. दुन्दभी, १७. पाक्कार, १८. लोहपृष्ठ, १९. कुलिङ्गक, २०. कपोत, २१. तोता, २२. शारङ्ग, २३. चिरटी, २४. कङ्कुयष्टिका, २५. सारिका, २६. कलविङ्क, २७. चटक, २८. अङ्गारचूड़क, २९. पारावत, ३०. पाण्डविक आदि।

१. प्रसह पशुपक्षी—प्रसह वर्ग में उन पशु-पक्षियों का संग्रह किया गया है, जो पशु या पक्षी दूसरे से आहारद्रव्य बलपूर्वक छीन कर ग्रहण करते हैं—'प्रसह्य भक्षयन्तीति प्रसहास्तेन संज्ञिताः'—च० सू० २७।५३।

२. भूमिशय—भूमिशय वर्ग में उन जन्तुओं का संग्रह किया गया है, जो भूमि में (बिल में) निवास करते हैं—'भूशया बिलवासित्वात्'—च० सू० २७।

३. आनूप—आनूप देश के पशु-पक्षियों को आनूप कहा जाता है।

४. वारिशय—वारिशय वर्ग में उन जन्तुओं का उल्लेख किया गया है जो जल में रहते हैं या निवास करते हैं—'जले निवासाज्जलजा'।

५. वारिचर—वारिचर के अन्तर्गत उन जीवों का उल्लेख किया गया है जो जल में विचरण करते हैं अर्थात् जल में निवास नहीं करते हैं पर जल में तैरते हैं या विचरण करते हैं—जले चर्याज्जलेचराः।

६. जांगल—जो भूमि पर उत्पन्न होते हैं तथा जंगल में भ्रमण करते हैं, उन्हें जांगल कहा जाता है—'स्थलजा जाङ्गलाः प्रोक्ता मृगा जाङ्गलचारिणः'—च० सू०।

७. विष्किर—विष्किर वर्ग में पक्षियों का संग्रह किया गया है। इस वर्ग में उन

पक्षियों का संग्रह किया गया है जो पक्षी अपने चोंच या पैर से कुरेद या खोदकर आहार द्रव्य खोज कर खाते हैं—विकीर्य विष्किराश्चेति।

८. प्रतुद—जो पक्षी अपनी चोंच या पैर से बार-बार आघात करते हैं उन्हें प्रतुद् कहा जाता है—प्रतुद्य प्रतुदा स्मृताः।

इस प्रकार मांस की आठ योनियाँ बतलाई गई है। उपर्युक्त मांस के आठ योनियों में बकरी व भेड़ का उल्लेख नहीं किया गया है। कारण में यह तथ्य प्रकाशित किया गया है कि ये सभी देश में पाये जाते हैं; अतः इन्हें आनूप या जांगल किसी विशेष वर्ग में नहीं रखा गया है, अतः इनका गुण स्वतंत्र रूप से बतलाया गया है—च० सू० २७।६३।

वर्गानुसार मांस के निम्न गुणों का उल्लेख किया गया है—

१. प्रसह, भूशय, आनूप, वारिज तथा वारिचर—इन पाँच वर्ग के प्राणियों का मांस—रस में मधुर; गुण में गुरु-स्निग्ध और वीर्य में उष्ण होता है। इससे बलोपचय, शुक्रवृद्धि होती है। यह वातशामक व कफ-पित्तवर्द्धक होता है। यह दीप्ताग्नि वाले के लिए हितकर होता है। इसका उपयोग पुराने अर्श, पुरानी ग्रहणी तथा पुराने शोष में होता है।

प्रसहा भूशया···गुरुष्णस्निग्धमधुरा बलोपचयवर्धनाः।
वृष्याः परं वातहराः कफपित्तविवर्धनाः॥
···जीर्णार्शोग्रहणीदोषशोषार्तानां प्रयोजयेत्॥
(च० सू० सं० ५६।५९)

२. विष्किर, प्रतुद व जाङ्गल मांस—रस में मधुर कषाय, गुण में लघु, विपाक-मधुर, वीर्य शीत होता है। इस मांस का उपयोग पित्तप्रधान, मध्य वात व हीन कफ की अवस्था में किया जाता है—

लावाद्यो वैष्किरो वर्गः प्रतुदा जाङ्गला मृगाः।
लघवः शीतमधुराः सकषायाहिता नृणाम्॥
पित्तोत्तरे वातमध्ये सन्निपाते कफानुगे॥
(च० सू० २७।६०)

चरकसंहिता में इस प्रकार मांस वर्ग के सामान्य रूप से गुण-कर्म बतलाने के बाद कतिपय विशिष्ट जन्तुओं के मांस का गुण व उपयोग बतलाया गया है। प्रायः उन्हीं जन्तुओं के मांस के गुण-उपयोग का उल्लेख किया गया है, जिनका जनसाधारण द्वारा विभिन्न क्षेत्रों में आहार रूप में उपयोग किया जाता है।

विशिष्ट पशुओं के मांस के गुण-कर्म से सम्बन्धित तालिका

जन्तु	रस	गुण	विपाक	वीर्य	कर्म	दोषप्रभाव व आमयिक प्रयोग
१. बकरे का मांस[1]	मधुर मा० प्र०	लघु स्निग्ध अगुरु	मधुर	किंचित् शीत	बृंहण (शारीरिक धातुओं के समानधर्मी) मांसवर्द्धक बल्य, रोचक व वृष्य	अक्लेदक होने से चरक ने अदोषकर कहा है। त्रिदोषनाशक (भा० प्र०) पीनस को दूर करता है।
२. भेड़ का मांस[2]	मधुर	गुरु	मधुर	शीत	मांसवर्द्धक पुष्टिकर (भा० प्र०)	पित्त व कफ-वर्द्धक (भा०प्र०)
३. एण (मृग-विशेष) का मांस[3]	मधुर	लघु	मधुर	शीत	शिव (आरोग्य-दायक) विण्मूत्र-बद्धता स्नेहन, श्रम-हर, बृंहण, वृष्य, संग्राही (भा० प्र०)	त्रिदोषशामक, विशेष रूप से वातशामक। रक्त-विकार, ज्वर का नाश करता है। (भा० प्र०)

१. नातिशीतगुरुस्निग्धं मांसमाजमदोषलम्।
शरीरधातु सामान्यादनभिष्यन्दि बृंहणम्॥ (च० सू० २७)
छागमांसं लघुस्निग्धं स्वादुपाकं त्रिदोषनुत्।
परं बलकरं रुच्यं बृंहणं वीर्यवर्द्धनम्॥ (भा० प्र०)

२. मांसं मधुरशीतत्वाद् गुरु बृंहणमाविकम्। (च० सू० २७)
मेषस्य मांसं पुष्टौ स्यात्पित्तश्लेष्मकरं गुरु॥ (भा० प्र०)

३. मधुरा मधुरा पाके त्रिदोषशमनाः शिवाः।
लघवो बद्धविण्मूत्रता शीताश्चैणाः॥ (च० सू० २७)

जन्तु	रस	गुण	विपाक	वीर्य	कर्म	दोषप्रभाव व आमयिक प्रयोग
४. वाराहमांस[1]	—	गुरु स्निग्ध	—	—	बृंहण, बल्य, वृष्य, स्वेदन	वातशामक है।
५. गोमांस[2]	—	गुरु स्निग्ध (भा० प्र०)	—	—	बृंहण, बल्य (भा० प्र०)	वातशामक अपथ्य पीनस रोगनाशक शुष्क-कासनाशक वात नाशक (भा० प्र०)
६. भैंस का मांस[3]	मधुर	स्निग्ध गुरु	—	उष्ण	शुक्रवर्द्धक, उत्साह, वर्द्धक, तर्पण, दार्ढ्य, निद्रा-कर, मलमूत्र निष्कासक (भा० प्र०)	रक्तविकार दूर करता है। (भा० प्र०)
७. खड्ग (गैंडा) मांस[4]	मधुर	स्निग्ध	मधुर	—	बल्य, स्नेहन बृंहण, वर्ण्य, श्रमहर	वातनाशक, वातविकारों को दूर करता है।

१. स्नेहनं बृंहणं वृष्यं श्रमघ्नमनिलापहम्।
वाराहपिशितं बल्यं रोचनं स्वेदनं गुरु॥ (च० सू० २७)
२. गव्यं केवलवातेषु पीनसे विषमज्वरे।
शुष्ककासश्रमात्यग्निमांसक्षयहितं च तत्॥ (च० सू० २७)
३. स्निग्धोष्णं मधुरं वृष्यं माहिषं गुरुतर्पणं।
दार्ढ्य बृहत्त्वगुत्साहं स्वप्नं च जनयत्यपि॥ (च० सू० २७)
महिषस्यामिषं स्वादु स्निग्धोष्णं वातनाशनम्।
निद्राशुक्रप्रदं बल्यं तनुदार्ढ्यकरं गुरु॥
वृष्यञ्च सृष्टविण्मूत्रं वातपित्तास्रनाशनम्॥ (भा० प्र०)
४. खड्गमांसमभिष्यन्द्यनिलापहम्। (च०)

जन्तु	रस	गुण	विपाक	वीर्य	कर्म	दोषप्रभाव व आमयिक प्रयोग
८. खरगोशमांस[1]	कषाय मधुर	विशद रूक्ष लघु	कटु	शीत	—	हीन वात वाले सन्निपात में लाभदायक है।
९. कछुए का मांस[2]	—	—	—	—	वर्ण्य, वृष्य, चक्षुष्य, बल्य, मेध्य, स्मृतिवर्द्धक शोषघ्न	वातनाशक पथ्य
१०. मछली (सामान्य)[3]	मधुर	गुरु स्निग्ध	—	उष्ण	बल्य, बृंहण, वृष्य	वातनाशक, बहुदोषकारक
११. रोहूमछली[4]	मधुर कषाय (भा० प्र०)	गुरु स्निग्ध	मधुर	—	दीपक, महाबल्य	वातशामक, अर्दित को दूर करता है।

विभिन्न पक्षियों के मांस का गुण-कर्म (चरकसंहिता के आधार पर)

द्रव्य	रस	गुण	विपाक	वीर्य	कर्म	दोषप्रभाव व आमयिक प्रयोग
१. मयूर मांस[5]	मधुर (भा०प्र०)		मधुर भा०प्र०	शीत	मेध्य अग्नि-वर्द्धक, वर्ण्य, स्वरवर्द्धक, चक्षुष्य, बल्य, शुक्रल, मांस-वर्द्धक	वातनाशक आयु व वय के लिए हितकर होता है

१. कषायो विशदो रूक्षः शीतः पाके कटुर्लघुः।
शशः स्वादुः प्रशस्तश्च संनिपातेऽनिलावरे ॥ (च० सू० २७)

२. वर्ण्यो वातहरो वृष्यश्चक्षुष्यो बलवर्द्धनः।
मेधास्मृतिकरः पथ्यः शोषघ्नः कूर्म उच्यते ॥ (च०)

३. गुरुष्णा मधुरा बल्या बृंहणा पवनापहाः।
मत्स्याः स्निग्धाश्च वृष्याश्च बहुदोषाः प्रकीर्तिताः ॥ (च० सू० २७।८६)

४. शैवालशष्पभोजित्वात्स्वप्नस्य च विवर्जनात्।
रोहितो दीपनीयश्च लघुपाको महाबलः ॥ (च० सू० २७।८३)

५. दर्शनश्रोत्रमेधाग्निवयोवर्णस्वरायुषाम् ।
बर्ही हिमतमो बल्यो वातघ्नो मांसशुक्रलः ॥ (च० सू० २७। ६५)
शुक्लापाङ्गकलापी ... ... ।
रसे पाके च मधुरः संग्राही वातशान्तिकृत् ॥ (भा० प्र०)

द्रव्य	रस	गुण	विपाक	वीर्य	कर्म	दोषप्रभाव व आमयिक प्रयोग
२. हंस का मांस[1]	मधुर	गुरु स्निग्ध	—	उष्ण (च०) शीत (भा०प्र०)	स्वरवर्द्धक, वर्ण्य, बृंहण शुक्रल	वातनाशक
३. मुर्गे का मांस[2]	कषाय (भा०प्र०)	स्निग्ध गुरु	—	उष्ण (भा० प्र०)	स्वरवर्द्धक, शुक्रल, मांस-वर्द्धक, बल्य, स्वेदन, चक्षुष्य (भा० प्र०)	विशेष रूप से वातनाशक है।
४. तित्तिर मांस[3]	मधुर	गुरु	—	उष्ण	बल्य, ग्राही (भा० प्र०)	वातप्रधान सन्निपात में लाभदायक है। हिक्का, कास, श्वास, त्रिदोष-नाशक है। (भा० प्र०)
५. गौरतित्तिर मांस[3]	मधुर	लघु	मधुर	शीत	—	रक्त के साथ पित्त व कफज रोगों व हीन वात से उत्पन्न रोगों में लाभ-दायक है।

१. गुरूष्णस्निग्धमधुराः स्वरवर्णबलप्रदाः ।
बृंहणा शुक्रलाश्चोक्ता हंसा मारुतनाशनः ॥ (च० सू० २७)
प्लवाः पित्तहराः स्निग्धा मधुरा गुरवो हिमाः ।
वातश्लेष्मप्रदाश्चापि बलशुक्रकराः सराः ॥ (भा० प्र०)

२. स्निग्धाश्चोष्णाश्च वृष्याश्च बृंहणाः स्वरबोधनाः ।
बल्यो परं वातहराः स्वेदनाश्चरणायुधाः ॥ (च० सू० २७)
कुक्कुटो बृंहणः स्निग्धो वीर्योष्णोऽनिलकृद्गुरुः ।
चक्षुष्यं शुक्रकफकृद् बल्योवृष्योः कषायकः ॥ (भा० प्र०)

३. गुरूष्णो मधुरो··· ··· ··· ··· ··· ··· ··· ।

द्रव्य	रस	गुण	विपाक	वीर्य	कर्म	दोषप्रभाव व आमयिक प्रयोग
६. लावा मांस[1]	कषाय मधुर	लघु	कटु	—	अग्निवर्द्धक	सन्निपातजन्य विकारों में लाभदायक है।
७. कबूतर मांस[2] (पालतू)	कषाय	विशद	मधुर	शीत	रक्तपित्तहर शुक्रल, ग्राही (भा० प्र०)	वातनाशक (भा० प्र०)
८. कबूतर (जंगली)[2]	कषाय	विशद लघु	मधुर	शीत	संग्राही	बहुमूत्रता-नाशक
९. सुग्गे का मांस[3]	कषाय अम्ल	रूक्ष लघु	कटु	शीत	संग्राही अग्निदीपक	शोष, कास, क्षय का नाश करता है।
१०. चटक मांस[4]	मधुर	स्निग्ध	मधुर	शीत	बल्य, शुक्रल	वातशामक सन्निपातज रोगों का नाश करता है।

तित्तिरिः संजयेच्छीघ्रं त्रीन्-दोषाननिलोल्वणान् ।
पित्तश्लेष्मविकारेषु सरक्तेषु कपिञ्जलाः ॥
मंदवातेषु शस्यन्ते शैत्यमाधुर्यलाघवात् ॥ (च० सू० २७)
तित्तिरिर्बलदो ग्राही हिक्का···श्वासकासहर ॥ (भा० प्र०)

१. लावाः कषायमधुराः लघवोऽग्निविवर्धनाः ।
सन्निपातप्रशमनाः कटुकाश्च विपाकतः ॥ (च० सू० २७)

२. कषायविशदाः शीता रक्तपित्तनिबर्हणाः ।
विपाके मधुराश्चैव कपोता गृहवासिनः ॥
तेभ्यो लघुतरा किंचित् कपोता वनवासिनः ।
शीता संग्राहिणश्चैव स्वल्पमूत्रकराश्च ते ॥ (च० सू० २७)
पारावतो गुरुः स्निग्धः रक्तपित्तानिलापहः ।
संग्राही शीतलस्तज्ज्ञैः कथितो वीर्यवर्द्धनः ॥ (भा० प्र०)

३. शुकमांसं कषायाम्लं विपाके रूक्षशीतलं ।
शोषकासक्षयहितं संग्राहि लघुदीपनम् ॥ (च० सू० २७)

४. चटका मधुराः स्निग्धा बलशुक्रविवर्धनाः ।
सन्निपातप्रशमनाः शमना मारुतस्य च ॥ (च० सू० २७)

द्रव्य	रस	गुण	विपाक	वीर्य	कर्म	दोषप्रभाव व आमयिक प्रयोग
११. गोधा मांस[1]	कषाय कटु	—	मधुर	उष्ण (भा,प्र.)	बल्य, मांस-वर्द्धक	वातपित्त शामक
१२. साही मांस[2]	मधुर अम्ल	—	कटु	—	श्वासहर	वातपित्त-कफ-नाशक; कास-श्वासनाशक

उपर्युक्त तालिका द्वारा मांसवर्ग के वर्णित गुण-कर्म स्पष्ट हो जाते हैं। चरक-संहिता में मांस को प्रधान आहार घटक के रूप में ग्रहण किया गया है। जैसाकि पूर्व में कहा जा चुका है कि, पूर्वकाल में या आजकल भी क्षेत्रविशेष में मांस का प्रधान आहार रूप में सेवन किया जाता है। चरकसंहिता में मांस को सर्वोत्तम आहार घटक माना गया है—

'शरीरबृंहणे नान्यत् खाद्यं मांसाद्विशिष्यते।' अर्थात् शरीर को बढ़ाने वाले द्रव्यों में मांस से बढ़कर अन्य खाद्य द्रव्य नहीं है। चरकसंहिता में विभिन्न प्रकार से जन्तुओं का वर्गीकरण करके उनके मांस के गुण-कर्मों का उल्लेख किया गया है। क्षेत्रविशेष के अनुसार प्राप्त जन्तुओं के आधार पर आहारोपयोगी विशिष्ट जन्तुओं के मांस के गुण-कर्म बतलाये गये हैं। तालिका से स्पष्ट है कि बकरे का मांस उत्तम होता है, क्योंकि इससे कोई भी दोष प्रकुपित नहीं होता है तथा इसके मांस को मनुष्य के धातुओं का समानधर्मी कहा गया है। समानधर्मी होने के कारण अजामांस शीघ्र व यथोचित रूप में बृंहण कर्म करने वाला होता है। इसके अतिरिक्त यह वृष्य बल्य होता है तथा त्रिदोषशमन करता है, अतः अजामांस मनुष्य के लिए पथ्य है। संभवतः इस गुण के आधार पर ही भारत में अजामांस सेवन का सर्वाधिक प्रचलन है अर्थात् जनसामान्य मांसवर्ग में सर्वाधिक अजामांस का ही सेवन करते हैं। आयुर्वेद

कुलिङ्गः शीतलः स्निग्धः स्वादुः शुक्रकफप्रदः।
सन्निपातहरो वेश्मचटकश्चातिशुक्रलः ॥ (भा० प्र०)

१. गोधा विपाके मधुरा कषायकटुका रसे।
वातपित्तप्रशमनी बृंहणी बलवर्द्धनी ॥ (च० सू० २७)
विलेशया वातहराः मधुरा रसपाकयोः।
बृंहणा बद्धविण्मूत्रा वीर्योष्णाश्च प्रकीर्त्तिताः ॥ (भा० प्र०)

२. शल्लको मधुराम्लश्च विपाके कटुकः स्मृतः।
वातपित्तकफघ्नश्च कासश्वासहरस्तथा ॥ (च० सू० २७)
शल्यकः श्वासकासास्रशोषदोषत्रयापहः ॥ (भा० प्र०)

में एण का मांस उत्तम कहा गया है। यह मांस बृंहण होने के साथ-साथ शिव (आरोग्यदायक) व त्रिदोषनाशक होता है, पर इसकी अनुपलब्धता या अपर्याप्त उपलब्धता के कारण सामान्यतया इसके मांस का प्रचलन न होकर केवल विशिष्ट वर्ग के लोगों में रह गया है। इसके अतिरिक्त प्रचलित मांसों में बाराहमांस व विभिन्न मछलियाँ हैं। वाराह मांस को बृंहण, बल्य व वृष्य कहा गया है तथा इसका स्वेदन कर्म भी बतलाया गया हैं, अर्थात् बृंहण बल्य के साथ-साथ यह उष्ण भी होता है, अतः पश्चिमी देशों व शीत प्रदेशों में वाराह मांस का प्रचलन अधिक है। मछलियाँ बृंहण कर्म तो करती हैं, पर उन्हें बहुदोषकारी कहा गया है। ये रस में मधुर, गुरु, स्निग्ध के साथ-साथ उष्ण होती हैं, इसलिए दोषकोपन कर सकती हैं। मछलियों में रोहू को सर्वोत्तम कहा गया है, क्योंकि यह मधुर रस विपाकयुक्त महाबल्य यानि अत्यधिक बल प्रदान करती है। गोधा, शाही आदि का मांस क्षेत्रविशेष या व्यक्ति-विशेष में किया जाता है। इससे बृंहणादि कर्म के साथ उष्णता में वृद्धि होती है। पक्षियों में अधिकतर के मांस को वातशामक, बृंहण व बल्य कहा गया है। मयूर, हंस व कुक्कुट के मांस को उत्तम कहा जा सकता है; क्योंकि इनका मांस बृंहण, बल्य, वृष्य, (शुक्रवर्द्धक) वर्ण्य, स्वरवृद्धिकर, चक्षुष्य आदि कहा गया है। अधुना कुक्कुट (मुर्गे का) मांस का प्रचलन उत्तरी भारत में अधिक है। अन्य आहारोपयोगी प्रचलित पक्षियों के मांसों का बृंहण, बल्यादि कर्म कहा गया है, पर उनका विशेष उपयोग विशेष रोगों में है, परन्तु उनका मांस सामान्यतया क्षेत्रविशेष व उपलब्धता के आधार पर किया जाता है। अन्नवर्ग के सदृश ही मांस वर्ग का रस प्रायः मधुर, कषाय होता है। अधिकतर जन्तुओं के मांस में गुण गुरू-स्निग्ध होता है, परन्तु अनेक पक्षियों का मांस लघु-रूक्ष भी कहा गया है।

४-शाकवर्ग

चरकसंहिता में शाकवर्ग के अन्तर्गत विभिन्न प्रकार के शाकों का वर्णन किया गया है। इसके अन्तर्गत आहारोपयोगी पत्र शाक-कन्द पुष्प, बीजादि रूप में व्यवहृत शाकों का उल्लेख किया गया है। कतिपय शाकों का संग्रह कर सामान्य गुणधर्मी होने से उनके गुण-कर्मों का उल्लेख सामान्य रूप से किया गया है तथा कतिपय विशिष्ट शाकों का वर्णन विशिष्ट रूप से किया गया है। यथा—

सामान्य गुणधर्मी शाक के गुणकर्म

१. पाठा, शुषा, शटी, बथुआ, तीनपतिया इन शाकों को ग्राही तथा त्रिदोष-नाशक कहा गया है, पर इनमें से बथुआ मल को पतला करने वाला होता है—

'पाठाशुषाशटीशाकं वास्तुकं सुनिषण्णकम्।
विद्यात् ग्राहि त्रिदोषघ्नं भिन्नवर्चस्तु वास्तुकम्'॥ (च० सू० २७।८९)

२. मण्डूकपर्णी, वेत्राग्र, कुचेला, वनतिक्तक, कर्कोटक, अवल्गुज, पटोलपत्र, शकुलादनी, वृषपुष्प, कालीमकोय, केम्बुक, कठिल्लक (करेला), नाड़ीशाक, कलाय, गोजिह्वा, वार्त्ताक (बैंगन), तिलपर्णिक, कौलक, कार्कश, नीम की पत्ती, पार्पटक आदि के शाक का रस—तिक्त, विपाक–कटु व वीर्य शीत होता है। ये शाकवर्गीय द्रव्य कफ व पित्त का शमन करते हैं—

'मण्डूकपर्णी वेत्राग्रं कुचेला ··· ···· ···।
कफपित्तहरं तिक्तं शीतं कटु विपच्यते'॥ (च० सू० २७)

३. सूप्यशाक वर्ग के द्रव्य (सूप्य विभिन्न प्रकार के दालों को कहा जाता है, यहाँ सूप्य शाक से तात्पर्य उन द्रव्यों के शाक से है, जिनकी दाल होती है) ये रस में मधुर, गुण में --रूक्ष व गुरू, वीर्य में–शीत होते हैं। ये मलभेदक होते हैं। इनका पाचन विष्टम्भन (कब्जियत) के बाद होता है। इन शाकों के रस को निचोड़ कर घृत में भून कर खाना चाहिए—

'सर्वाणि सूप्यशाकानि··············· ।
शाकं गुरू च रूक्षं च प्रायो विष्टभ्य जीर्यति।
मधुरं शीतवीर्यं च पुरीषस्य च भेदनम्॥
स्विन्नं निष्पीडितरसं स्नेहाढ्यं तत् प्रशस्यते'॥ (च० सू० २७)

(सूप्यशाक के अन्तर्गत अनेक द्रव्यों का संग्रह च० सू० २७।९७-१०२ में किया गया है। यहाँ सबका नामोल्लेख करना ग्रन्थ की कलेवरवृद्धि करना ही होगा)।

४. शण, कोविदार, कर्बुदार व शाल्मली पुष्प का शाक ग्राही होता है तथा विशेष रूप से रक्तपित्त रोग में लाभदायक है—

'शणस्य कोविदारस्य कर्बुदारस्य च शाल्मलेः।
पुष्पं ग्राहि प्रशस्तं च रक्तपित्ते विशेषतः'॥ (च० सू० २७)

५. बट, गूलर, पीपल, पाकड़ व कमलादि की पत्तियाँ रस में कषाय, वीर्य में शीत होती है। ये स्तम्भक होती हैं, विशेषकर पित्तातिसार में लाभदायक हैं।

'न्योग्रोधोदुम्बरा··· ··· ··· ··· ··· ··· ··· ···।
कषायाः स्तम्भनाः शीता हिताः पित्तातिसारिणाम्'॥ (च० सू० २७)

६. निशोथ की पत्ती का शाक, शतावर की पत्ती, बरियारा की पत्ती, जीवन्ती की पत्ती, पर्वणी, पर्वपुष्पी ये वात-पित नाशक होती हैं।

७. कठगूलर, कदम्ब, नदीमाषक, ऐन्दुक इनके शाक गुण में विशद गुरू, वीर्य में शीत व कफप्रकोपक होते हैं—च० सू० २७।११४।

८. वरूटा का कन्द, विस, शालूक, क्रौंचादन, कशेरुक, शृंगाटक, कमल का बीज इनका शाक गुण में गुरु, विष्टम्भी तथा वीर्य में शीत होता है।

'वरूटविसशालूक······गुरू विष्टम्भि शीतलम्'॥
(च० सू० २७। ११६)

विशिष्ट शाक

शाक विशेष	गुण कर्म	उपयोग	सन्दर्भ
१. मकोय शाक	वीर्य में अनुष्णशीत, भेदक रसायन, शुक्रवर्द्धक, त्रिदोष शामक	कुष्ठ रोग में यह उपयोगी होता है।	च०सू० २७।८९
२. राजक्षवक शाक	गुण-लघु, त्रिदोषशामक ग्राही	ग्रहणी व अर्श के रोगियों के लिए लाभदायक है।	च०सू० २७।९०
३. कालशाक	रस-कटु, अग्निदीपक	कृत्रिम विष व शोथ को दूर करने वाला है।	च०सू० २७।९१
४. मटर का शाक	रस-मधुर, गुण-लघु, रूक्ष वीर्य-उष्ण वातवर्द्धक है।	—	च०सू० २७।९२ भा. प्र. शा. व.
५. चाङ्गेरी शाक	रस-अम्ल, गुण-रूक्ष, वीर्य उष्ण अग्निदीपक, ग्राही पित्तजनक	वात-कफजन्य रोगों, अर्श तथा ग्रहणी में उपयोगी	च०सू० २७।९३ भा. प्र. शा. व.
६. पोई का शाक	रस-मधुर, विपाक-मधुर, वीर्य-शीत, गुण-स्निग्ध, भेदक, वृष्य, मदघ्नी, कफवर्द्धक, पथ्य, रेचक	रक्तपित्त को दूर करने व तृप्ति हेतु लाभदायक है।	च०सू० २७।९४ भा. प्र. शा. व.
७. चौलाई का शाक	रस-मधुर, विपाक-मधुर गुण-रूक्ष लघु, वीर्य-शीत रुच्य, दीपन, विषघ्न	रक्तपित्त, मदरोग, सभी प्रकार के विषों में उपयोगी है।	च०सू० २७।९५ भा. प्र. शा. व.
८. गुडूची का शाक श्रेयसी; बिल्ववर्णी	वातशामक	—	च०सू० २७।१०६
९. कलिहारी एरण्ड शाक	रस-तिक्त, गुण-लघु व भेदन कर्म	—	
१०. बर्रे का शाक	अम्ल रस, गुण-रूक्ष, वीर्य-उष्ण पित्तवर्द्धक व कफ-शामक	—	च० सू० २७।१०९
११. खीरा ककड़ी का शाक	रस-मधुर, गुण-गुरु, रूक्ष वीर्य-शीत, ग्राही, रुच्य, पित्तशामक	मूत्र लाने व पित्त शमन हेतु इसका उपयोग होता है।	च० सू० २७।११०

शाक विशेष	गुण-कर्म	उपयोग	सन्दर्भ
१२. पकी ककड़ी	तृषावर्द्धक, पित्तजनन (भा० प्र०)	इसका उपयोग अन्तर्दाह में होता है।	भा. प्र. शा. व.
१३. लौकी शाक (चिरभटी व एर्वारुक भी समान गुण-धर्मी है)	गुण-गुरु-रूक्ष, वीर्य-शीत, भेदक, वृष्य, हृदय, धातु-पुष्टिकर, पित्त, कफनाशक	इसका धातुपुष्टि व पित्त-शमन हेतु उपयोगी है।	च० सू० २७ भा. प्र. शा. व.
१४. पके कूष्माण्ड का शाक	रस-मधुर क्षारयुक्त व अम्ल गुण-लघु, वीर्य किंचित् शीत मल-मूत्र निष्कासक, सर्वदोषहर	मल-मूत्र निष्कासक होने व सर्वदोषहर होने से पथ्य रूप में उपयोगी है इसका विशेष उपयोग मनोरोग में है।	च० सू० २७ भा. प्र. शा. व.
१५. मुञ्जाक शाक	रस-मधुर, विपाक-मधुर गुण-गुरु स्निग्ध, वीर्य-शीत बल्य, तर्पक, बृंहण अधिक शुक्रवर्द्धक, वात-पित्त नाशक	बृंहण, बल्य, वृष्यादि कर्म युक्त होने से क्षीण व कृश व्यक्तियों हेतु उत्तम पथ्य होता है।	च० सू० २७।११९
१६. विदारी-कन्द का शाक	रस-मधुर, विपाक-मधुर, वीर्य-शीत, जीवनीय बृंहण, वृष्य, कण्ठ्य, बल्य, मूत्रल	इसका विशेष उपयोग रसायन रूप में होता है।	च० सू० २७।१२०
१७. कमल बीज का शाक	रस-कषाय, मधुर, विपाक-मधुर, विष्टम्भी।	रक्तपित्त रोग में इसका विशेष उपयोग होता है।	च० सू० २७।११८
१८. अम्लिका कन्द	किंचित् उष्ण, गुण-लघु ग्राही, कफ-वातनाशक	इसका विशेष उपयोग मदात्यय रोग में होता है।	च० सू० २७
१९. सरसों का शाक	रस-कटु, गुण-गुरु, विपाक में अम्ल, वीर्य-उष्ण, सक्षारलवण विदाही, त्रिदोषकारक होता है।	यह अपथ्यतम शाक है फिर भी इसे मलमूत्र लाने वाला कहा गया है।	च० सू० २७ भा. प्र. शा. व.
२०. पिण्डालु शाक	रस-मधुर, गुण-गुरु रूक्ष, वीर्य-शीत, विष्टम्भक, त्रिदोषकारक, बल्य, वृष्य, कफ-वातकारक, किंचित् जठराग्निवर्द्धक	रक्तपित्त का नाश करने वाला होता है।	च० सू० २७ भा. प्र. शा. व.

उपर्युक्त तालिका से स्पष्ट हो जाता है कि आहार के प्रधान घटक धान्यवर्ग तथा मांसवर्ग जैसी इस वर्ग में समानधर्मिता नहीं है। विभिन्न शाक के भिन्न-भिन्न गुण-कर्म हैं। इनका प्रयोग ऋतु-विशेष, क्षेत्र-विशेष, व्यक्ति-विशेष व रोग-विशेष के अनुसार होता है। शाक वर्ग के वर्णन में तालिका से स्पष्ट हो जाता है कि—इन शाकों के आमयिक प्रयोग का निर्देश गुण-कर्म के साथ उल्लिखित है, अतः दोष, रोग आदि के अनुसार शाक वर्ग के द्रव्यों का चयन होना चाहिए।

उपर्युक्त तालिका चरकसंहिता के आधार पर तैयार की गई है तथा जिन गुण-कर्मों का उल्लेख ग्रन्थ में संक्षिप्ततः है, इसकी पुष्टि द्रव्य-गुण विज्ञान की मान्य पुस्तक भावप्रकाश से की गई है। उक्त तालिका में कतिपय ऐसे शाक द्रव्यों का स्पष्ट उल्लेख नहीं हो पाया है, जिसका सेवन आधुनिक समाज में बहुतायत रूप में किया जाता है। कतिपय अधुना व्यवहृत शाकों के गुणकर्म का उल्लेख किया जा रहा है, जिनका उल्लेख चरकसंहिता में नहीं है या अस्पष्ट रूप में है, पर समाज में उनका प्रयोग बहुतायत रूप में हो रहा है। उन विशिष्ट शाकों के गुण-कर्म व उपयोग का भावप्रकाश ग्रन्थ के आधार पर (उपयोगिता को ध्यान में रखकर) वर्णन किया जा रहा है—

विशिष्ट शाक	गुण-कर्म	उपयोग	दोष
१. पालक शाक	गुरु गुण, वीर्य-शीत, विष्टम्भी, भेदक	मद, श्वास, पित्त, रक्त व कफ विकारों में उपयोगी है	वात व कफ को बढ़ाने वाला है।
२. मूली पत्र शाक	लघु गुण, वीर्य उष्ण, पाचक व रुचिवर्द्धक	तेल में भूनकर खाने पर त्रिदोषशामक है।	बिना भूने खाने से कफ व पित्त-वर्द्धक है।
३. कारवेल्लक (करेला)	रस-तिक्त, गुण-लघु, वीर्य-शीत, भेदक, अग्निदीपक	ज्वर पित्त कफ, रक्त-विकार पाण्डु, प्रमेह व क्रमि रोग में अति उपयोगी है।	किंचित् वात-वर्द्धक
४. तोरई, नेनुआ शाक	रस-मधुर, गुण-स्निग्ध, वीर्य-शीत, अग्निदीपक। नेनुआ–वात शामक, तोरई पित्त शामक	रक्तपित्त (नेनुआ) श्वास ज्वर, कास व क्रमि रोग में लाभदायक है।	तोरई वात-कफ को बढ़ाने वाली होती है।
५. पटोल (परवल) शाक	रस-तिक्त, गुण-लघु स्निग्ध वीर्य-उष्ण, पाचन, अग्नि-दीपन, हृदय, वृष्यकर्म वाला होता है। त्रिदोष-शामक	कास, रक्तविकार, ज्वर व क्रिमी रोग का नाशक है।	—

विशिष्ट शाक	गुण-कर्म	उपयोग	दोष
६. कुन्दुरू शाक	रस-मधुर, गुण-गुरु, वीर्य-शीत, स्तम्भक, लेखन, रुचिकारक, वात-पित्त शामक	पित्त, रक्तविकार एवं वात को दूर करता है।	इससे विबन्ध व अफारा की उत्पत्ति होती है
७. सहिजना शाक	रस-तिक्त-कटु-मधुर, गुण तीक्ष्ण लघु, रूक्ष, वीर्य-उष्ण, विपाक-कटु, चक्षुष्य अग्निदीपक, क्षार, वृष्य हृद्य आदि कर्म वाला, कफ-वातनाशक होता है।	विद्रधि, शोथ, क्रिमि, मेदोरोग, अपची, विष, प्लीहा, गुल्म, गलगण्ड, व्रण रोग में इसका उपयोग होता है।	इससे दाहोत्पत्ति (विदाही होने से) व मलावरोध होता है।
८. बैंगन शाक	रस-मधुर, विपाक-कटु गुण-तीक्ष्ण वीर्य-उष्ण, वात कफ नाशक, अग्निदीपक, शुक्रजनक।	—	पित्तवर्द्धक होता है।
९. टिंडा शाक	गुण-रूक्ष, वीर्य अति शीत, रुच्य, भेदक, मूत्रल, पित्त-कफशामक	पथरी रोग को दूर करता है। मूत्रकृच्छ्रता में उपयोगी है।	वातवर्द्धक है।
१०. जिमीकन्द सूरण	रस-कषाय कटु, गुण-रूक्ष विशद लघु, अग्निदीपक, रुच्य, कफनाशक	अर्श, प्लीहा, गुल्मनाशक है। विशेष प्रयोग अर्श में होता है।	विष्टम्भक है। रक्तविकार में अपथ्य होता है
११. आलू शाक	रस-मधुर, गुण-गुरु रूक्ष, वीर्य शीत, मूत्रल, मल-निष्कासक, बल्य, वृष्य, अग्निदीपक, पित्तशामक	रक्तपित्त को नष्ट करता है, अतः रक्तपित्त में उपयोगी है।	विष्टम्भजनक, वात व कफ-वर्द्धक होता है।
१२. मूली	रस-कटु, गुण-लघु, रुच्य पाचक त्रिदोषशामक, कण्ठ्य। बड़ी मूली रूक्ष, उष्ण, गुरु।	ज्वर, श्वास, नाक, कण्ठ व नेत्ररोगों में लाभदायक है।	बड़ी मूली त्रिदोषकारक है
१३. गाजर	रस-मधुर, तिक्त, गुण-तीक्ष्ण, वीर्य-उष्ण, अग्नि-दीपक, ग्राही, कफ-वात-शामक।	रक्तपित्त, अर्श, ग्रहणी, रोग में यह उपयोगी है।	

विशिष्ट शाक	गुण-कर्म	उपयोग	दोष
१४. शालूक (कमलकन्द)	रस-मधुर, विपाक-मधुर, गुण-गुरु, वीर्य-शीत, वृष्य स्तन्य, ग्राही, पित्तशामक	दाह व रक्तविकार को दूर करने वाला है।	वात-कफवर्द्धक तथा कठिनाई से पचने वाला है।
१५. सेम (शिम्बी)	रस-मधुर, विपाक-मधुर, गुण-गुरु, वीर्य-शीत, बल्य पित्तहर	—	इससे कफवृद्धि व दाह की उत्पत्ति होती है

उपर्युक्त तालिका में प्रस्तुत शाकों के अतिरिक्त भी अन्य शाकों का आहार में व्यवहार किया जाता है। उन सबके गुण-कर्म पर स्वतंत्र पुस्तक हो सकती है। अतः सामान्य रूप से प्रचलित कतिपय शाकों के गुण-कर्म का उल्लेख भावप्रकाश निघण्टु के आधार पर किया गया है। अन्य शाकों का चरकोक्त शाक वर्गों में समावेश कर उनके गुण-कर्म को एतद् विषयक विवरण के आधार पर जानना चाहिए।

५. फलवर्ग

फल का नाम	गुण-कर्म	चिकित्सोपयोग व लाभ	दोष
१. मुनक्का[1]	रस-मधुर, गुण-स्निग्ध, वीर्य-शीत, वात-पित्तनाशक, वृष्य, बृंहण, ज्वरघ्न तृषाहर।	यह दाह, ज्वर, श्वास, रक्तपित्त, उरःक्षत, क्षय-रोग, स्वरभेद, मदात्यय, तिक्तास्यता, कास व मुख शोष में उपयोगी है। उदावर्त्त नाशक है।	कच्चा फल रक्त-पित्तकारक होता है। (भा. प्र. आम्र-फ० व०)
२. खर्जूर (छोहाड़ा)[2]	रस-मधुर, गुण-गुरु, वीर्य-शीत विपाक-मधुर, बृंहण, वृष्य, हृद्य, तर्पक, बल्य	इसका उपयोग क्षत, क्षय, रक्तपित वमन, आघात, अन्तर्दाह, मद, मूर्च्छा, ज्वर, अतिसार, कास	

१. तृष्णादाहज्वरश्वासरक्तपित्तक्षतक्षयान् ।
वातपित्तमुदावर्तं स्वरभेदं मदात्ययम् ॥
तिक्तास्यतामास्यशोषं कासं चाशु व्यपोहति ।
मृद्वीका बृंहणी वृष्या मधुरा स्निग्धशीतला ॥
(च० सू० २७।१२५-१२६)

२. मधुरं बृंहणं वृष्यं खर्जूरं गुरु शीतलम् ।
क्षयेऽभिघाते दाहे च वातपित्ते च तद्धितम् ॥ (च० सू० २७।१२७)

फल का नाम	गुण-कर्म	चिकित्सोपयोग व लाभ	दोष
	वातपित्त (चरक) वातकफ (भा. प्र.) का शमन करता है।	श्वास आदि रोगों में होता है।	
३. अंजीर(फल्गु)[1]	गुण-गुरू, वीर्य-शीत, तर्पक बृंहण होता है। वात-पित्तशामक	इसका उपयोग स्नेह और विरेचन हेतु होता है।	विष्टम्भि होता है
४. बादाम, अखरोट, पिस्ता, चिलगोजा, खुरमानी[2]	रस-मधुर, गुण-स्निग्ध, गुरू वीर्य-उष्ण, वातशामक, बृंहण, वृष्य व बल दायक है।	बृंहण कर्म हेतु व वातज रोगों में उपयोगी है। इसकी पेया मूत्रजननेन्द्रिय विकार में देते हैं।	कफ व पित्त को बढ़ाता है।
५. चिरौंजी	उष्णता के अतिरिक्त सभी गुण बादाम सदृश ही होते हैं।	—	मल का विष्टम्भन करने वाला व आमोत्पादक है (भा० प्र०)
६. आम्रातक (अमड़ा)[3]	रस-मधुर, गुण-गुरु स्निग्ध बृंहण, बल्य, तर्पक, वृष्य, वीर्य-शीत।	—	कफवर्द्धक व विष्टम्भकर होता है।

खर्जूरी त्रितयं शीतं मधुरं रसपाकयोः।
स्निग्धं रुचिकरं हृद्यं क्षतक्षय हरं गुरु।
... ... खर्जूरिका स्मृतं॥ (भा० प्र०)

१. तर्पणं बृंहणं फल्गु गुरु विष्टम्भि शीतलं। (च० सू० २७।१२८)

२. गुरुष्णास्निग्धमधुराः सोरुमाणा बलप्रदाः।
वातघ्नाः बृंहणा वृष्याः कफपित्ताभिवर्धनाः।
प्रियालः मेषां सदृशं विद्यादौष्ण्यं विना गुणैः॥ (च० सू० २७।१५८)
विष्टम्भी चामवर्धनः॥ (भा० प्र०)

३. मधुरं बृंहणं बल्यमाम्रातं तर्पणं गुरु।
सस्नेहं श्लेष्मलं शीतं वृष्यं विष्टभ्य जीर्यति॥ (च० सू० २७।१२९)

फल का नाम	गुण-कर्म	चिकित्सोपयोग व लाभ	दोष
७. ताल व नारियल फल[१]	मधुर रस, गुण-स्निग्ध, वीर्य शीत, बृंहण, बल्य, मूत्रल, वात पित्तशामक (नारियल भा० प्र०)	नारियल रक्तविकार व पित विकार नाशक है।	तालफल पित्तरक्त व कफकोपक, तन्द्रा, अभिष्यन्दोत्पादक है। (भा. प्र.)
८. कमरख (भव्य)[१]	रस-मधुर अम्ल कषाय, गुण-गुरू, वीर्य-शीत, ग्राही, वक्त्र विशोधक,	इसका पक्व फल रक्त विकार में उपयोगी होता है।	यह पित्त व कफ-वर्द्धक है।
९. परूषक (फालसा)[२]	रस-कषाय, मधुर, विपाक—मधुर, वीर्य-शीत, बृंहण, हृद्य, वातशामक।	दाह, रक्तविकार, ज्वर, क्षय में उपयोगी है।	पका फल विष्टम्भि होता है। कच्चा फल पित्तकारक है।
१०. आलू बुखारा[३]	रस-मधुर, गुण-गुरु, वीर्य-किंचित् उष्ण, बृंहण	शीघ्र पचने के कारण पथ्य दोषों को कुपित नहीं करता है।	
११. अमरूद (पारावत)[३]	रस-मधुर, गुण-गुरु; वीर्य-शीत। अम्ल-पारावत-वीर्य में उष्ण होता है।	अरुचि, अत्यग्निनाशक है।	

१. मधुराम्लकषायं च विष्टम्भि गुरु शीतलम्।
पित्त श्लेष्मकरं भव्यं ग्राहि वक्त्रविशोधनम्॥ (च० सू० २७।१३१)

२. अम्लं परुषकं…पित्तश्लेष्मप्रकोपीणि कर्कन्धुनिकुचान्यपि॥
(च० सू० २७।१३२)

परुषकं कषायाम्लमामं पित्तकरं लघु।
तत्पक्वं मधुरं पाके शीतं विष्टम्भि बृंहणम्॥
हृद्यन्तु पित्तदाहास्रज्वरक्षयसमीरहृत्। (भा० प्र०)

३. नात्युष्णं गुरु संपक्वं स्वादुप्रायं मुखप्रियम्।
बृंहणं जीर्यति क्षिप्रं नातिदोषमारुकम्॥
द्विविधं शीतमुष्णं च मधुरं चाम्लमेव च।
गुरु पारावतं ज्ञेयमरुच्यत्यग्निनाशनम्॥ (च० सू० २७।१३३-३४)

फल का नाम	गुण-कर्म	चिकित्सोपयोग व लाभ	दोष
१२. टंक (नासपाती)[1]	रस-कषाय मधुर, गुण-गुरु वीर्य-शीत, वृष्य, त्रिदोषशामक है । (भा० प्र०)	पथ्य के रूप में उपयोगी है ।	
१३. कपित्थ (कैंथ)[1]	कच्चाफल-रस-कषाय-अम्ल, मधुर, गुण-लघु, संग्राही व लेखनकर । पका फल-गुरुगुणयुक्त ग्राही, विषघ्न, रुचि-वर्द्धक है ।	पके फल का उपयोग कण्ठशोधन हेतु, तृषा व हिक्का शमन हेतु होता है । यह दोषनाशक होता है ।	कच्चे फल से स्वर-भेद होता है ।
१४. बिल्व फल[2]	कच्चा विल्व गुण में उष्ण तीक्ष्ण, वीर्य में उष्ण, कफवात शामक अग्निदीपक ।	कच्चे फल का चूर्ण प्रवाहिका व अतिसार में अत्युपयोगी है ।	पक्वफल दोषकारक दुर्गन्ध के साथ अपना वायु निकालता है ।
१५. आम्र फल (पक्व)[3]	रस-मधुर, कषाय, गुण-स्निग्ध गुरु, वीर्य-शीत, वातनाशक, बल्य, शुक्रल, हृद्य, वर्ण्य, अग्निदीपक।		पित्तजनक व कफ-वर्द्धक है ।
कच्चा आम[3]	रस-अम्ल, गुण-रूक्ष, रुचिकारक		तरुण आम पित्त-वर्द्धक है । कच्चा आम, पित्त, रक्त व त्रिदोषकोपक है ।

१. कषायमधुरं टङ्कं वातलं गुरु शीतलम् ।
कपित्थमामं कण्ठघ्नं विषघ्नं ग्राहि वातलम् ॥
मधुराम्लकषायत्वात् सौगन्ध्याच्च रुचिप्रदम् ।
परिपक्वं च दोषघ्नं विषघ्नं ग्राहि वातलम् ॥(च० सू० २७।१३५-३६)
कपित्थमामं संग्राहि कषायं लघु लेखनम् ।
पक्वगुरुतृषाहिक्काशमनं···कण्ठशोधनदुर्जरम् ॥ (भा० प्र०)

२. बिल्वं तु दुर्जरं पक्वं दोषलं पूतिमारुतः ।
स्निग्धोष्णतीक्ष्णं तद्बालं दीपनं कफवातजित् ॥ (च० सू० २७।१३८)

३. रक्तपित्तकरं बालमापूर्णं पित्तवर्धनम् ।
पक्वमाम्रं जयेद्वायुं मांसशुक्रबलप्रदम् ॥

फल का नाम	गुण-कर्म	चिकित्सोपयोग व लाभ	दोष
१६. जामुन फल[१]	रस-कषाय मधुर, गुण-गुरू, वीर्य-शीत, कफ-पित्त-नाशक, ग्राही	मधुमेह में लाभदायक है।	विष्टम्भि व वात-वर्द्धक है।
१७. बेर[२]	रस-मधुर, गुण-गुरू वीर्य-शीत, स्निग्ध, भेदक, वात-पित्तहर, वृष्य, बृंहण	रक्तविकार, क्षयरोग व तृषाधिक्य में उपयोगी है।	
१८. सेव[३]	रस-मधुर, विपाक-मधुर, वीर्य-शीत, ग्राही, बृंहण, वृष्य, रुच्य।	हृदय, मस्तिष्क, यकृत व आमाशय को शक्ति देता है।	
१९. अनार[४]	रस-मधुर, कषाय, (भेदानुसार) गुण-लघु, स्निग्ध, ग्राही,	तृषा, दाह, ज्वर, हृदय रोग, कण्ठ रोगों में अति उपयोगी है।	खट्टा अनार पित्त-वर्द्धक होता है।

पक्वं तु मधुरं वृष्यं स्निग्धं बलसुखप्रदम्।
गुरु वातहरं हृद्यं वर्ण्यं शीतमपित्तलम्॥
कषायानुरसं ··· ··· ··· ····शुक्रविवर्धनम्। (भा० प्र०)

१. कषायमधुरप्रायं गुरु विष्टम्भि शीतलम्।
जाम्बवं कफपित्तघ्नं ग्राहि वातकरं परम्॥ (च० शा० २७।१४०)

२. वदरं मधुरं स्निग्धं भेदनं वातपित्तजित्।
तच्छुकं कफवातघ्नं पित्ते न च विरुध्यते॥ (च० सू० स० १४१)
पच्यमानं सुमधुरं सौवीरं बदरं महत्।
सौवीरं वदरं शीतं भेदनं गुरु शुक्रलम्।
बृंहणं पित्तदाहास्रक्षयतृष्णा निवारणम्।
शुष्कभेद्यग्निकृत्सवं लघु तृष्णाक्लमास्रजित्॥ (भा० प्र०)

३. कषायमधुरं शीतं ग्राहि सिम्बितिका फलम्। (च० सू० २७।१४२)
सेवं समीरपित्तघ्नं बृंहणं कफकृद् गुरु।
रसे पाके च मधुरं शिशिरं रुचिशुक्रकृत्॥ (भा० प्र०)

४. मधुरं पित्तनुत्तेषां पूर्वं दाडिममुत्तमम्। (च० सू० २७।१५१)
तत्रस्वादुत्रिदोषघ्नं तृड्दाहज्वरनाशनम्।

फल का नाम	गुण-कर्म	चिकित्सोपयोग व लाभ	दोष
	वृष्य, बल्य, मेध्य, (अम्लअनार) रूच्य, दीपक त्रिदोषशामक		
२०. इमली[1]	रस-अम्ल, गुण-गुरु, रूक्ष, वीर्य-उष्ण, अग्निदीपक, सारक, वातहर	सौम्यविरेचन व तृषा-शमन हेतु उपयोगी है।	पित्त-कफ व रुधिर-विकार उत्पन्न करती है।
अम्लवेतस	रस-अम्ल, गुण-लघु, रूक्ष, भेदक, वात-नाशक।	हृदयरोग, शूल, गुल्म, मूत्र-दोष, प्लीहा, हिक्का, आनाह में अति उपयोगी है।	
२१. कचूर[2]	रूच्य, अग्निदीपक, हृद्य, वात-कफ नाशक है।	श्वास, हिक्का व अर्श में उपयोगी है।	
२२. नारङ्गी[3]	रस-मधुर, अम्ल, गुण-गुरू, हृद्य, रूच्य व वातशामक है।	इसका उपयोग तृषा-शमन हेतु व हृद्रोगों में होता है।	

हृत्कण्ठमुखगन्धघ्नं तर्पणं शुक्रलं लघु ॥
कषायानुरसं ग्राहि स्निग्धं मेधाबलावहम् ।
स्वाद्वम्लं दीपनं रुच्यं किञ्चित्पित्तकरं लघु ॥
अम्लन्तु पित्तजनकमामं वातकफापहम् । (भा० प्र०)

१. अम्लिकायाः फलं पक्वं तस्मादल्पान्तरं गुणैः ।
गुणैस्तैरेव संयुक्तं भेदनं त्वम्लवेतसम् ॥ (च० सू० २७।१५२)
अम्लवेतसमत्यम्लं भेदनं लघु दीपनम् ।
हृद्रोगशूलगुल्मघ्नं पित्तलं लोमहर्षणम् ॥
रूक्षं विण्मूत्रदोषघ्नं प्लीहोदावर्त्तनाशनम् ।
हिक्काऽऽनाहारुचिश्वासकासजीर्णवमिप्रणुत् ॥
कफवातामयध्वंसिच्छागमांसद्रवत्वकृत् ।
चणकाम्लगुणं ज्ञेयं लोहसूचीद्रवत्वकृत् ॥ (भा० प्र०)

२. रोचनो दीपनो हृद्यः सुगन्धिस्त्वग्विवर्जितः ।
कर्चूरः कफवातघ्नः श्वासहिक्कार्शसांहितः ॥ (च० सू० २७-१५५)

३. मधुरं किंचिदम्लं च हृद्यं भक्तप्ररोचनम् ।
दुर्जरं वातशमनं नागरङ्गफलं गुरु ॥ (च० सू० २७।१५६)

फल का नाम	गुण-कर्म	चिकित्सोपयोग व लाभ	दोष
२३. केला[1] कटहल, खीरनी	रस-मधुर, विपाक-मधुर, गुण—स्निग्ध गुरू, वीर्यशीत, वृष्य, बृंहण, रूच्य, बृंहण, मांसवर्द्धक	नेत्ररोग, तृषा, व प्रमेह नाशक होने का उल्लेख प्राप्त होता है।	कच्चा या अर्द्धपक्व फल विष्टम्भक होता है।

इसके अतिरिक्त चरकसंहिता में कतिपय अन्य फलों के भी गुणकर्म बतलाये गये हैं। प्रायः जनसाधारण में प्रचलित व शास्त्रों में उल्लिखित फलों के गुण-कर्मों का यहाँ निर्देश दिया गया है। चरकसंहिता में अन्य फलों का संक्षिप्ततः गुण-कर्म उल्लिखित है, पर उनमें कई फल इस समय उपलब्ध नहीं होते या आहार रूप में उनका जनसाधारण द्वारा बहुलता से उपयोग नहीं किया जाता है तथा कतिपय फलों का इतना संक्षिप्त वर्णन है कि उनके रस, गुण, कर्मादि को स्पष्ट करना कठिन है।

६. हरितवर्ग

हरित द्रव्य	गुण-कर्म	उपयोग
१. अदरख[2]	रस-कटु, गुण-तीक्ष्ण रूक्ष, वीर्य-उष्ण, वात-कफ शामक, वृष्य, भेदक, दीपक, रुच्य, जिह्वा व कण्ठशोधक तथा शुण्ठी सदृशगुण।	विबन्ध, कुष्ठ, पाण्डुरोग, मूत्र-कृच्छ्रता, रक्तपित्त, व्रण, ज्वर, दाह—इन रोगों में इसका उपयोग होता है। भोजन से पूर्व सेंधानमक के साथ पथ्य है। निषेध-ग्रीष्म व शरदऋतु।

१. संपक्वं पनसं मोचं राजादनफलानि च।
स्वादूनि सकषायाणि स्निग्धशीतगुरुणि च ॥ (च० सू० २७।१४३)
मोचाफलं स्वादु शीतं विष्टम्भि कफकृद् गुरु।
स्निग्धं पित्तास्रतृड्दाहक्षतक्षयसमीरजित् ॥
पक्वं स्वादु हिमं पाके स्वादु वृष्यञ्च बृंहणम्।
क्षुतृष्णानेत्रगदहृन्मेहघ्नं रुचिमांसकृत् ॥
भा० प्र० आम्रादिफलवर्ग।

२. रोचनं दीपनं वृष्यमार्द्रकं विश्वभेषजम्।
वातश्लेष्मविबन्धेषु रसस्तस्योपदिश्यते ॥ (च० सू० २७।१६६)
आर्द्रिका भेदिनी गुर्वी तीक्ष्णोष्णा दीपनी मता।
कटुकामधुरापाके रूक्षा वातकफापहा ॥

हरित द्रव्य	गुण-कर्म	उपयोग
२. जम्बीर[1]	रस-अम्ल, गुण-गुरु, वीर्य-उष्ण वातकफशामक, रुच्य, अग्निदीपक, मुखविशोधक, पाचक, क्रिमिघ्न।	इसका उपयोग विबन्ध, शूल, कास, कफोत्क्लेश, वमन, तृषा, आमजन्य विकारों तथा अग्निमांद्य व हृत्शूल में करना चाहिए।
३. बालमूली[2]	सभी दोषों को दूर करती है।	वात कफजन्य विकारों में मूली का शुष्क चूर्ण उपयोगी है।
४. तुलसी[3]	रस-कटु-तिक्त, वीर्य-उष्ण, कफवातशामक, पूतिगन्धघ्न, हृद्य, अग्निदीपक।	इसका उपयोग हिक्का, कास, विष, श्वास, पार्श्वशूल, कुष्ठ, मूत्रकृच्छ्र, रक्तविकार आदि रोगों में होता है। अधिक सेवन दाह, पित्तकारक है।
५. प्याज[4]	रस-मधुर, विपाक-मधुर, वीर्य-इषदुष्ण, वातशामक, पित्त-	इसका उपयोग आहार रूप में होता है। इसका उपयोग बाजी-

ये गुणाः शुण्ठी ··· ··· ··· ···।
अग्निसन्दीपनं रुच्यं जिह्वाकण्ठविशोधनम् ॥
कुष्ठपाण्ड्वामये कृच्छ्रे रक्तपित्ते व्रणे ज्वरे।
दाहे निदाघशरदो नैव पूजितमार्द्रकम् ॥ (भा० प्र०)

१. रोचनो दीपनस्तीक्ष्णः सुगन्धिमुखशोधनः।
जम्बीरः कफवातघ्न क्रिमिघ्नो भक्तपाचनः ॥ (च० सू० २७।१६७)
जम्बीरमुष्णं गुर्वम्लं वातश्लेष्मविबन्धनुत्।
शूलकासकफोत्क्लेशच्छर्दितृष्णा आमदोषजित् ॥
आमवैरस्यहृत्पीडावह्निमांद्यक्रिमीन् हरेत्।
··· ··· ··· ··· ··· ··· ···छर्दि निवारिणी ॥ (भा० प्र०)

२. बालं दोषहरं वृद्धं त्रिदोषं मारुतापहम्।
स्निग्धसिद्धं विशुष्कं तु मूलकं कफवातजित् ॥ (च० सू० २७।१६८)

३. हिक्काकासविषश्वासपार्श्वशूलविनाशनः।
पित्तकृत् कफवातघ्नः सुरसः पूतिगन्धहाः ॥ (च० सू० २७।१६९)
तुलसी कटुकातिक्ता हृद्योष्णा दाहपित्तकृत्।
दीपनी कुष्ठकृच्छ्रास्रपार्श्वरुक्कफवातजित् ॥ (भा० प्र०)

४. श्लेष्मलो मारुतघ्नः पलाण्डुर्न च पित्तनुत्।
आहारयोगो बल्यश्च गुरुर्वृष्योऽथरोचनः ॥ (च० सू० २७।१७५)

हरित द्रव्य	गुण-कर्म	उपयोग
	संरक्षक, बल्य, वृष्य, रुच्य, कफ-वर्द्धक।	करण हेतु, अर्श, कामला, क्षयज कास आदि में होता है।
६. लशुन[1]	रस-कटु, गुण-स्निग्ध गुरु, वीर्य-उष्ण, विपाक-कटु, वातशामक, बृंहण, वृष्य, पाचक, सन्धानकर, कण्ठ्य, बल्य, वर्ण्य, मेध्य, रसायन, नेत्र्य।	इसका उपयोग कृमि रोग, कुष्ठ, किलास, गुल्म, हृदयरोग, अजीर्ण, ज्वर, कुक्षिशूल, विबन्ध, अरुचि, कास, शोथ, अर्श, अग्निमांद्य तथा श्वासरोग में किया जाता है।
७. गाजर[2]	रस-मधुर तिक्त, गुण-तीक्ष्ण, लघु वीर्य-उष्ण, अग्निदीपक, ग्राहि, वातशामक, कफशामक।	इसका उपयोग रक्तपित्त, अर्श, ग्रहणी में होता है। वातकफज प्रकृति के व्यक्तियों में स्वेदन हेतु भोजन में इसका प्रयोग करना चाहिए।
८. अजवाइन[3] राई, अर्जक	रस-कटु-तिक्त, गुण-तीक्ष्ण, वीर्य-उष्ण पाचक, रुच्य, दीपक, शूलघ्न, हृद्य, वातनाशक, कफ-शामक है।	इसका प्रयोग उदर-विकार, आनाह, गुल्म, प्लीहोदर व कृमि रोग में किया जाता है। दोष-शुक्रनाशक, पित्तवर्द्धक है।

स्वादुः पाके रसेऽनुष्णः कफकृन्नातिपित्तला।
हरते केवलं वातं वलवीर्यकरो गुरुः॥ (भा० प्र०)

१. क्रिमिकुष्ठकिलासघ्नो वातघ्नो गुल्मनाशनः।
स्निग्धश्चोष्णश्च वृष्यश्च लशुनः कटुको गुरुः॥ (च० सू० २७।१७६)
रसोनो बृंहणो वृष्यः स्निग्धोष्णः पाचनः सरः।
रसे पाके च कटुकस्तीक्ष्णो मधुरकोमतः॥
भग्नसंधानकृत्कण्ठ्यो गुरुः पित्तास्रवृद्धिदः।
बलवर्णकरो मेधाहितो नेत्र्यो रसायनः॥
हृद्रोगाजीर्णज्वरकुक्षिशूल ..... ।
दुर्नामकुष्ठानलसादजन्तु-समीरणश्वासकफांश्च हन्ति॥ (भा० प्र०)

२. ग्राहीगृञ्जनकस्तीक्ष्णो वातश्लेष्मार्शसां हितः।
स्वेदनेऽभ्यवहारे च योजयेत्तमपित्तिनाम्॥ (च० सू० २७।१७४)
गाजरं मधुरं तीक्ष्णं तिक्तोष्णं दीपनं लघु।
संग्राहि रक्तपित्तार्शो ग्रहणी कफवातजित्॥ (भा० प्र०)

३. यवानीचार्जक ... ... ।
हृद्यान्यास्वादनीयानि पित्तमुत्क्लेशयन्ति च॥ (च० सू० २७।१७०)

हरित द्रव्य	गुण-कर्म	उपयोग
९. सौंफ व सोया[1]	रस-कटु, गुण-तीक्ष्ण रूक्ष, वीर्य-उष्ण, कफवातशामक, अग्नि-दीपक, हृद्य, पाचक, कृमिघ्न, विबन्धहर।	इसका प्रयोग ज्वर, व्रण, शूल में होता है। सौंफ विशेषकर योनि-शूल में लाभदायक है। दोष-शुक्र-नाशक व पित्तवर्द्धक है।
१०. धनियाँ (हरी)[2] अजगन्धा सुमुख	रस-किंचित् कटु, कषाय, तिक्त, गुण-विपाक-मधुर, वीर्य-उष्ण (भा० प्र०)	भोजन में रुचि उत्पन्न करने के लिए उपयोगी है। मुख दुर्गंध-नाशन हेतु उपयोगी है। दोष-त्रिदोषकोपक है।
११. भूस्तृण[3]	रस-कटु, गुण-रूक्ष, वीर्य-उष्ण	पुंस्त्वनाशक है। मुखशोधन में उपयोगी है।

७. मद्य वर्ग

चरक संहिता में मद्यों के सामान्य गुण के सम्बन्ध में निम्नांकित उद्धरण कहा गया है—

प्रकृत्या मद्यमम्लोष्णमम्लं चोक्तं विपाकतः।
सर्वसामान्यतस्तस्य विशेषं उपदेक्ष्यते ॥

(च० सू० २७ । १७८)

अर्थात् सभी मद्यों का रस–अम्ल, विपाक अम्ल तथा वीर्य–उष्ण होता है। ये मद्य द्रव्यविशेष के अनुसार गुणविशेष युक्त होते हैं, जो निम्नतालिका से स्पष्ट है।

यवानी पाचनी रुच्या तीक्ष्णोष्णा कटुका लघुः।
दीपनी च तथा तिक्ता पित्तला शुक्रशूलहृत् ॥
वातश्लेष्मोदरानाहगुल्मप्लीहकृमिप्रणुत् ॥ (भा० प्र०)

१. शतपुष्पा लघुस्तीक्ष्णा पित्तकृद्दीपनी कटुः।
उष्णाज्वरानिलश्लेष्मव्रणशूलाक्षिरोगहृत् ॥
अग्निमांद्यहरी हृद्या बद्धविट् कृमि शुक्रहृत्।
रूक्षोष्णा पाचनी कासवमिश्लेष्मानिलान्हरेत् ॥ (भा० प्र०)

२. धान्यकं चाजगन्धा च सुमुखश्चेति रोचनाः।
सुगन्धा नातिकटुका दोषानुत्क्लेशयन्ति ॥ (च० सू० २७।१७३)

३. पुंस्त्वघ्नः कटुरूक्षोष्णो भूस्तृणो वक्त्रशोधनः।
खराह्वा कफवातघ्नी वस्तिरोगरुजापहा ॥ (च० सू० २७। १७२)

मद्य	गुणकर्म	विशेषगुणोपयोग
१. सुरा	वातशामक	सुरा का विशेष उपयोग कृश, मूत्रावरोध, ग्रहणी और अर्श में है। स्तन्य व रक्तक्षय में यह लाभकारी होता है।
२. मदिरा	वातशामक	मदिरा का प्रयोग हिक्का, श्वास, प्रतिश्याय, कास, विवन्ध, अरुचि, वमन, आनाह में लाभदायक है।
३. जगल (मद्य के नीचे वाला भाग)	गुण-रूक्ष, वीर्य-उष्ण कफ-वातशामक दीपक, शोथघ्न	यह शूल, प्रवाहिका, आटोप (उदर में गुड़गुड़ाहट) अर्श में लाभदायक है।
४. अरिष्ट	रूच्य, कफ शामक, दीपक	शोष, अर्श, ग्रहणी, पाण्डु, अरूचि, ज्वर में उपयोगी है।
५. शार्कर	पाचक, हृद्य, वर्ण्य, सुखदायक, मदकारी, रूचिकर	बस्तिगत विकारों में यह उपयोगी है।
६. शीधु (पक्वरस)	रूच्य, दीपक, हृद्य, कफ-नाशक, वर्ण्य	शोष, शोफ तथा अर्श में उपयोगी है।
अपक्व	स्वरवर्द्धक, पाचक, वर्ण्य लेखक व विवन्धहर होता है।	इसका प्रयोग शोथ, उदर रोग व अर्श में होता है।
७. गौड़	तर्पक, भेदक, अग्निदीपक	अपानवायु निकालने में उपयोगी है।
८. मैरेय मध्वासव सुरासव	रस-मधुर, गुण-गुरू, मध्वासव-तीक्ष्ण व छेदक, सुरासव व वातशामक	सुरासव तीव्र रूप से मदकारी है।
९. मधु	गुण-लघु, किंचित् वातवर्द्धक, कफ नाशक, रोचक, दीपक, हृद्य, बल्य विबन्धघ्न	विवन्धावस्था में मात्रापूर्वक लाभकारी है।
१०. अम्ल-काञ्जिक	वातकफ शामक, अग्नि-दीपक अवस्रंसी दाह-शामक	इसका प्रयोग दाह व ज्वर में उपयोगी होता है। विबन्ध में मलमूत्र निष्कासन हेतु उपयोगी है।
११. सौवीरक व तुषोदक	अग्निदीपक, कृमिघ्न, पाचक व भेदक	इसका उपयोग हृदयविकार, पाण्डु, व कृमि रोग में किया जाता है।

मद्य	गुणकर्म	विशेषगुणोपयोग
१२. द्रव्यानुसार मद्य	यव–गुण–रूक्ष, गुरु, वीर्य-उष्ण, गोधूम–कफवर्द्धक ।	यह वातपित्त वर्द्धक व गुरूपाकी है ।
अंगूरका–	माध्वीक सदृश गुणयुक्त	
धवपुष्पका	हृद्य, रूच्य व अग्निदीपक	
१३. नवीनमद्य	गुण-गुरु, शोधक, दीपक रूच्य	यह त्रिदोषकोपक होता है ।

इस प्रकार उपर्युक्त तालिका में विभिन्नमद्यों के गुण-कर्म निर्दिष्ट है । इसके मूल सन्दर्भ चरक संहिता सूत्र अ० २७ का १७८–१९५ श्लोक हैं ।

८. जल वर्ग

आयुर्वेद में आवश्यक आहार घटक जल का विस्तृत वर्णन किया गया है । प्राय: जल को दिव्य (आकाशीय) व भौम (पार्थिव) के आधार पर वर्णित किया गया है । समयानुसार उपयोगिता के आधार पर विभिन्न जलों के गुण दोषों का विवेचन आयुर्वेदाचार्यों ने किया है । आयुर्वेद के, आकर ग्रन्थ चरक संहिता में जल वर्ग के अन्तर्गत प्राय: आकाशीय जल व नदियों के जल का वर्णन किया गया है । जल के गुण दोषों का सम्बन्ध ऋतुओं के अनुसार भी वर्णित है । आहार घटक के रूप में जल को अहिमहत्त्वपूर्ण व आवश्यक घटक माना गया है । जल वर्ग में विभिन्न जलों के वर्णन क्रम में प्रथम दिव्य अर्थात् आकाशीय जल का वर्णन किया गया है; क्योंकि—

जलमेकविधं सर्वं पतत्यैन्द्रं नभस्तलात् ।
तत् पतत् पतितं चैव देशकालावपेक्षते ।। (च० सू० २७ । १९६)

अर्थात् आकाश से गिरने वाला मेघजन्य जल एक ही प्रकार का होता है । वह जल देल काल की अपेक्षा करने वाला होता है, अर्थात् देश व काल के अनुसर एक ही जल के विभिन्न गुण कर्म व्यक्त होते हैं ।

दिव्य या आकाशीय जल—आयुर्वेद में आकाशीय जल को सर्वोत्तम कहा गया है । आकाश से जल पृथ्वी पर विभिन्न रूपों में उपलब्ध होता है, अत: इनके रूपों के अनुसार इनकी संज्ञा भी विभिन्न निर्दिष्ट की गई है । यथा—धारा रूप में गिरने वाले जल को धार (चरक संहिता में ऐन्द्र जल का उल्लेख है) ओले के रूप में व्यक्त जल को कार तथा वर्फ को हिम कहा गया है । इसमें धार या ऐन्द्र जल को सर्वोत्तम माना गया है ।

आकाशीय जल में आचार्य चरक ने छः स्वाभाविक गुणों का उल्लेख किया है—'शीतं शुचि शिवं मृष्टं विमलं लघु षड्गुणम् । दिव्यमुदकं'—अर्थात् आकाशीय जल में शीत (वीर्य), शुचि (पवित्रता), शिव (कल्याण), सुखकर स्वाद, विमलता व लघुता ये छः गुण स्वाभाविक रूप से होते हैं । आचार्य वाग्भट ने—

'जीवनं तर्पणं हृद्यं ह्लादि बुद्धिप्रबोधनम् ।
तन्वव्यक्तरसं मृष्टं शीतं लघ्वमृतोपमम् ।। (अ० हृ० सू० ५।१)

कहकर इसके गुणों का संकेत किया है । आयुर्वेद के प्रायः सभी आचार्यों ने आकाशीय जल का रस अव्यक्त माना है । परन्तु आकाशीय जल—'खात् पतत् सोमवाय्वर्कैः स्पृष्टं कालानुवर्तिभिः । शीतोष्णस्निग्धरूक्षाद्यैर्यथासन्नं महीगुणैः ।'—च० सू० २७।१९७ । अर्थात् जब आकाश से गिरता जल सूर्य, चन्द्रमा वायु से सम्पर्क कर पृथ्वी के सम्पर्क में आता है तो उसके गुणानुसार रूक्ष, स्निग्ध, शीत, उष्ण आदि गुणों से युक्त होता है । इस प्रकार आकाशीय जल देश व काल के अनुसार गुण-कर्म वाला होता है । जैसे—

भूमि व दिशानुसार आकाशीय जल—श्वेत मिट्टी के सम्पर्क द्वारा कषायरस, पाण्डु वर्ण की मिट्टी के सम्पर्क से तिक्तरस, कपिल वर्ण की मिट्टी के सम्पर्क से क्षार, ऊसर भूमि द्वारा लवण रस, पर्वत सम्पर्क से कटु रस तथा कृष्णवर्ण की मिट्टी के सम्पर्क से मधुर रसयुक्त होता है । इस प्रकार अव्यक्त रस वाला आकाशीय जल विभिन्न भूमि-सम्पर्क से छः रसों वाला हो जाता है—

'श्वेते कषायं भवति पाण्डरे स्यात्तु तिक्तकं ।
कपिले क्षारसंसृष्टमूषरे लवणान्वितम् ।।
कटु पर्वतविस्तारे मधुरं कृष्णमृत्तिके ।'
(च० सू० २७।१९८-१९९)

कालानुसार आकाशीय जल के गुण—च० सू० २७।२०३-२०६ के आधार पर—

१. वर्षाऋतु का आकाशीय जल—रस-मधुर, गुण-गुरु, कफवर्द्धक होता है ।
२. शरदृऋतु ,, ,, ,, —गुण-लघु, तनु व कफकारक होता है । स्निग्धाहार वाले, सुकुमार व आहार के साथ यह लाभदायक होता है ।
३. हेमन्त ,, ,, ,, —गुण-स्निग्ध गुरु, शुक्र व बलवर्द्धक होता है ।
४. शिशिर ,, ,, ,, —हेमन्त से लघु, कफ-वातनाशक होता है ।
५. वसन्त ,, ,, ,, —रस-कषाय मधुर व गुण रूक्ष होता है ।
६. ग्रीष्म ,, ,, ,, —कफकारक नहीं होता है ।

विशेषकर राजाओं, धनाढ्यों, सुकुमार पुरुषों को शरदृऋतु में गिरे आकाशीय जल को संग्रह करने का निर्देश दिया गया है—

'राजभी राजमात्रैश्च सुकुमारैश्च मानवैः ।
सुगृहीताः शरद्यापः प्रयोक्तव्याः विशेषतः ॥' (च० सू० २७।२०८)

आकाशीय जल को चांदी आदि के स्वच्छ पात्र में एकत्रित किया जाता है, इस जल को चरकसंहिता में ऐन्द्र जल कहा गया है, सभी जलों में इसे ही प्रधान कहा गया है—

'यदन्तरीक्षात् पततीन्द्रसृष्टं चोक्तैश्च पात्रैः परिगृह्यतेऽम्भः ।
तदैन्द्रमित्येव वदन्ति धीरा नरेन्द्रपेयं सलिलं प्रधानम् ॥'
(च० सू० २७।२०१)

विभिन्न नदियों के जल का गुण—

१. हिमालय से निकलने वाली नदियों का जल सभी प्राणियों के लिए पथ्य है ।

२. मलयाचल पर्वत से निकली नदियों का जल स्वच्छ व अमृत-सदृश होता है ।

३. पश्चिम समुद्र में जाने वाली नदियों का जल पथ्य व निर्मल होता है ।

४. पूर्वी समुद्र की ओर जाने वाली नदियों का जल गुरु होता है ।

५. पारियात्र, विन्ध्य, सह्य पर्वत से निकली नदियों का जल अपथ्य है, इससे शिरोरोग, हृदय रोग, कुष्ठ व श्लीपद रोग की उत्पत्ति होती है ।

६. वर्षाजलवहा नदियों का जल दूषित होता है, यह सभी दोषों को कुपित करता है ।

इसके अतिरिक्त—'वापीकूपतडागोत्ससरःप्रस्रवणादिषु । आनूपशैलधन्वानां गुण-दोषैर्विभावयेत् ॥'—च० सू० २७।२१४ । अर्थात् वापी, कूप, तालाब, उत्स, सर, प्रस्रवण इनके गुण-दोष आनूप, साधारण व जाङ्गल देशानुसार होते हैं । आचार्य भावमिश्र ने भावप्रकाश के वारिवर्ग में देशानुसार जल का वर्णन निम्न रूप में किया है ।

१. जाङ्गल जल—'जाङ्गलं सलिलं रूक्षं लवणं लघु पित्तनुत् । वह्निकृत्कफ-हृत्पथ्यं विकारान्हरते बहून् ।' अर्थात् जांगल जल रस में लवण, लघु-रूक्ष गुणयुक्त पित्त व कफनाशक, अग्निवर्द्धक, पथ्य व अनेक रोगों का नाश करने वाला होता है ।

२. आनूप जल—'आनूपं वार्यमभिष्यन्दि स्वादु स्निग्धं घनं गुरु । वह्निहृत्कफकृद्-हृद्यं विकारान्कुरुते बहून् ।' अर्थात् आनूप जल अभिष्यन्दि, स्वादयुक्त, स्निग्ध व गुरु गुण वाला, हृद्य, अग्निनाशक, कफवर्धक व अनेक रोगोत्पादक होता है ।

३. साधारण जल—'साधारणं तु मधुरं दीपनं शीतलं लघु । तर्पणं रोचनं तृष्णा-दाहदोषत्रयप्रणुत् ।' अर्थात् साधारण देश का जल रस में मधुर, गुण में लघु व शीत वीर्य वाला होता है । यह रोचक, तर्पक, अग्निदीपक, तृषा, दाह-प्रशामक एवं त्रिदोष-हर होता है ।

सामुद्र जल लवण रस वाला व त्रिदोषकोपक होता है ।

९. गोरस (दुग्ध) वर्ग

चरकसंहिता के दुग्धवर्ग में आठ प्रकार के दुग्धों का उल्लेख किया गया है। इनके गुण-कर्म निम्न तालिका में प्रस्तुत किये जा रहे हैं।

दुग्ध	गुण-कर्म	उपयोग
१. गोदुग्ध	रस-मधुर, वीर्य-शीत, गुण-मृदु स्निग्ध, सान्द्र, श्लक्ष्ण, पिच्छिल, गुरु, मन्द, प्रसन्न ये १० गुण ओज-सदृश होते हैं। यह जीवनीय, रसायन, वृष्य, धातुवर्धक तथा वात-पित्तनाशक होता है।	यह सर्वोत्तम आहार घटक है। यह समस्त रोगनाशक होता है एवं जरा-नाश करता है (जरा समस्तरोगाणां शान्तिकृत् सेविनां सदा। भा० प्र०)
२. महिषदुग्ध	गोदुग्ध की अपेक्षा गुरु शीत व स्निग्ध होता है। यह निद्राकर तथा अत्यग्निनाशक होता है।	दुग्ध श्रम (थकावट) भ्रम, मद, दरिद्रता, श्वास, कास, अतितृषा, भूख, जीर्णज्वर, मूत्रकृच्छ्र व रक्त-पित्त रोग का नाश करने वाला है।
३. ऊँटनी दुग्ध	रस-किंचित् लवण, गुण-रूक्ष-लघु, वीर्य-उष्ण, वात-कफ-नाशक व दीपक।	इसका उपयोग आनाह, कृमि, शोथ, उदररोग व अर्श में होता है।

१. स्वादुशीतं मृदुस्निग्धं बहलं श्लक्ष्णपिच्छिलम्।
गुरुमन्दं प्रसन्नं च गव्यं दशगुणं पयः॥
तदेव गुणमेवौजः सामान्यादभिवर्धयेत्।
प्रवरं जीवनीयानां क्षीरयुक्तं रसायनम्॥ (च० सू० २७)
स्वादुपाकरसं स्निग्धमोजस्यं धातुवर्द्धनम्।
वातपित्तहरं वृष्यं··· ··· ··· ··· ··· ···
गव्यं तु जीवनीयं रसायनं ॥ (अ० हृ० सू० ५।२१)
२. महिषीणां गुरुतरं गव्याच्छीततरं पयः।
स्नेहान्न्यूनमनिद्राय हितमत्यग्नये च तत्॥ (च० सू० २७)
क्षतक्षीणहितं मेध्यं बल्यं स्तन्यकरं सरम्।
जीर्णज्वरं मूत्रकृच्छ्रं रक्तपित्तं च नाशयेत्॥
हितमत्यनिद्रेभ्यो गरीयो माहिषं हितम्।
३. रूक्षोष्णं क्षीरमुष्ट्रीणामीषत्सलवणं लघु।
शस्तं वातकफानाहक्रिमिशोफोदरार्शसाम्॥ (च० सू० २७)

दुग्ध	गुण-कर्म	उपयोग
४. घोड़ी दुग्ध	रस-अम्ल लवण, गुण-रूक्ष लघु वीर्य-उष्ण, बल्य, स्थैर्यंकर, शाखागत वातहर ।	शोष व शाखागत वातविकार में लाभदायक है ।
५. अजादुग्ध (बकरी)	रस-कषाय मधुर, वीर्य-शीत, गुण-लघु, ग्राही ।	इसका उपयोग रक्तपित्त, अतिसार, क्षय, कास तथा ज्वर में होता है । यह सर्वरोग-नाशक है (छागं'''सर्वरोगापहं पयः । भा० प्र०)
६. भेड़ दुग्ध	रस-मधुर लवण, गुण स्निग्ध, गुरु, वीर्य-उष्ण, पित्त कफवर्धक, तर्पक शुक्रल एवं अश्मरीनाशक	यह हिक्का श्वासोत्पादक व अहृद्य है ।
७. हथिनी दूध	रस-मधुर कषाय, गुण-गुरु, बल्य व स्थैर्यकर ।	—

औष्ट्रं दुग्धं लघु स्वादु लवणं दीपनं तथा ।
कृमिकुष्ठकफानाह शोथोदरहरं सरम् ॥ (भा० प्र० हृ० १)
४. बल्यं स्थैर्यकरं सर्वमुष्णं चैकशफं पयः ।
साम्लं सलवणं रूक्षं शाखावातहरं लघु ॥ (च० सू० २७)
रूक्षोष्णं वडवाक्षीरं बल्यं शोषानिलापहम् ।
अम्लं पटु लघु स्वादु सर्वमेकशफं तथा ॥ (भा० प्र०)
५. छागं कषायमधुरं शीतं ग्राहि पयो लघु ।
रक्तपित्तातिसारघ्नं क्षयकासज्वरापहम् ॥ (च० सू० २७)
अल्पाम्बुपानव्यायाम कटुतिक्ताशनैर्लघु ।
ओजं शोषज्वरश्वासरक्तपित्तातिसारजित् ॥ (अ० हृ० सू० ५।२४)
६. हिक्काश्वासकरं तूष्णं पित्तश्लेष्मलमाविकं । (च० सू० २७)
आविकं लवणं स्वादु स्निग्धोष्णं चाश्मरी प्रणुत् ।
अहृद्यं तर्पणं केश्यः शुक्रपित्तकफप्रदं ॥
गुरु कासानिलोद्भूते केवले चानिले वरम् । (भा० प्र०)
७. हस्तिनीनां पयो बल्यं गुरुस्थैर्यकरं परम् । (च० सू० २७)
बृंहणं हस्तिनीदुग्धं मधुरं तुवरं गुरुः ।
वृष्यं बल्यं हिमं स्निग्धं चक्षुष्यं स्थिरताकरम् ॥ (भा० प्र०)

दुग्ध	गुण-कर्म	उपयोग
८. स्त्रीदुग्ध	जीवनीय, बृंहण, सात्म्य व स्नेहनकर	इसका उपयोग रक्तपित्त रोग में नस्य हेतु व नेत्ररोगों में तर्पण हेतु होता है।

८. जीवनं बृंहणं सात्म्यं स्नेहनं मानुषं पयः।
नावनं रक्तपित्ते च तर्पणं चाक्षिशूलिनाम् ॥ (च० सू० २७।२२४)

दुग्ध से बने अन्य आहारोपयोगी द्रव्य

द्रव्य	गुण-कर्म	उपयोग
१. दधि	रस-अम्ल, विपाक—अम्ल, वीर्य-उष्ण, वातशामक, रुच्य, दीपन, वृष्य, स्नेहन, बल्य, बृंहण।	पीनस, अतिसार, शीतज्वर, विषमज्वर, अरुचि, मूत्रकृच्छ्र तथा कृशता में इसका सेवन लाभदायक है। निषेध—शरद, ग्रीष्म, वसन्त-ऋतु, रक्तपित्त में। (च० सू० २७।२२५-२२७)
२. मन्दक व जातदधि	मन्दक त्रिदोषकोपक है। जात वातशामक है। दही की मलाई वृष्य, जल—वात-कफ-शामक, स्रोतोशोधक।	
३. तक्र	रस-कषाय मधुर, विपाक-मधुर, गुण-लघु, वीर्य—उष्ण, ग्राही, अग्निदीपक, वीर्यवर्धक, तर्पक, व वातनाशक। (भा० प्र० तक्र वर्ग ४)	यह शोथ, अर्श, ग्रहणी, मूत्र-कृच्छ्र, उदर, अरुचि, स्नेहपान के उपद्रव में, पाण्डुरोग में तथा विष विकार में उपयोगी है। च० सू० २७।२२९।
४. मक्खन	संग्राहि, अग्निदीपक, हृद्य— च० सू० २७ वृष्य, वर्ण्य, बल्य (भा० प्र०)।	ग्रहणी, अर्श रोग का नाश करने वाला है। अर्दित व अरुचि में लाभदायक है (च० सू० २७)।
५. घृत	रस-मधुर, विपाक-मधुर, गुण—स्निग्ध, वीर्य-शीत, वातपित्त नाशक, स्मृतिवर्धक, बुद्धिवर्धक, अग्निवर्धक, शुक्रल, योगवाहि। (च० सू० २७)।	इसका प्रयोग वातज व पित्तज विकार, विषविकार, उन्माद, राजयक्ष्मा व ज्वर में प्रशस्त होता है (च०सू० २७।२३१-३२)

द्रव्य	गुण-कर्म	उपयोग
६. पुराणघृत	वीर्य-शीत, लाक्षारस सदृश च० चि० ९ ।	इसका उपयोग मदरोग, अपस्मार, मूर्च्छा, राजयक्ष्मा, उन्माद, कृत्रिम विष, ज्वर, योनि शूल, कर्णशूल व शिरःशूल में होता है च० सू० २७।२३३ ।
७. पीयूष मोरट व अन्य किलाट	गुरु, तर्पक, वृष्य, बृंहण, वात-शामक	प्रदीप्त अग्नि वालों के लिए तथा अनिद्रा के रोगियों में उपयोगी है । च० सू० २७।२३५ ।
८. तक्रपिण्ड	विशद, गुरु, रूक्ष व ग्राही । च० सू० २७।२३६ ।	—

१०. इक्षुवर्ग

इस वर्ग में इक्षु व विभिन्न इक्षुविकारों (गुड़ आदि) का उल्लेख किया गया है, जो कि निम्न हैं । इसके साथ-साथ विभिन्न प्रकार के मधु (शहद) का वर्णन भी इसी वर्ग में किया गया है ।

द्रव्य	भेद	गुणकर्म	उपयोग	दोष
१. ईख	१. चूसा हुआ रस	गुण-सर, स्निग्ध, वीर्य-शीत, रस-मधुर, बृंहण	—	कफवर्धक है । च० सू० २७। २३७ ।
	२. यंत्र पिडित रस	—	—	विदाहोत्पत्ति करता है ।
	३. पौण्ड्रक	वीर्य-शीत, रस-मधुर, प्रसाद	सभी इक्षु में श्रेष्ठ है । च० सू० २७। २३८।	—
२. गुड़		मज्जा, रक्त मेद व मांसवर्द्धक है ।	—	कृमि उत्पन्न करता है । च० सू० २७
	१. चीनी(गुडशर्करा)	स्निग्ध तीक्ष्ण वृष्य	उरःक्षतमें उपयोगी है	—
	२. यास शर्करा	रस-कषाय मधुर तिक्त, वीर्य शीत	—	—

द्रव्य	भेद	गुण-कर्म	उपयोग	दोष
	३. मधुशर्करा	कफछेदक, मलछेदक	वमन व अतिसारमें	—
	४. सभी चीनी	तृष्णाहर	रक्तपित्त व दाह में	—
३. मधु	माक्षिक, भ्रामर क्षौद्र, पौत्तिक	रस-कषाय मधुर, गुण—रूक्ष, गुरु वीर्य-शीत, छेदक, संधान कर कफनाशक	रक्तपित्त रोग में उपयोगी है। च. सू. २७।२४५	सन्निपात ज्वर में नहीं लेना चाहिए।
४. गर्म किया हुआ मधु	—	—		आमाजीर्णोत्पादक, मृत्युकारक है।

इस प्रकार इक्षु वर्ग में विभिन्न प्रकार या विभिन्न स्रोतों से प्राप्त होने वाले शर्कराओं का उल्लेख किया गया है। यद्यपि आयुर्वेद में आहार के मुख्य घटक के रूप में मधुर रस वाले द्रव्यों का ही ग्रहण किया गया है, फिर भी विभिन्न शर्कराओं को स्वतंत्र रूप से आवश्यक आहार घटक रूप में स्वीकार किया गया है, अतः चरक-संहिता में ईक्षुवर्ग को आहार घटक में स्वीकार कर विभिन्न शर्कराओं के गुण-कर्मों का वर्णन किया गया है।

११. कृतान्न वर्ग

विभिन्न तालिकाओं के द्वारा आहारोपयोगी द्रव्यों के गुण-कर्मों का उल्लेख करने के पश्चात् अब हम कृतान्न वर्ग के व्यंजनों के सम्बन्ध में विचार करेंगे। यहाँ कृतान्न वर्ग से तात्पर्य विभिन्न संस्कारों के द्वारा आहार हेतु बने अन्न से है। अर्थात् विभिन्न खाद्य द्रव्यों से बने विभिन्न आहार का समावेश इस वर्ग में किया गया है। जैसे शूकधान्य वर्ग में चावल आदि के गुणों का उल्लेख किया गया है। चावल, गेहूँ आदि का सेवन संस्कारित कर विभिन्न रूपों में किया जाता है। अतः इस वर्ग के द्रव्यों का विभिन्न संस्कारों द्वारा संस्कारित रूप के गुण-कर्मों का वर्णन किया गया है।

मूलद्रव्य	कृतान्न	गुण-कर्म	उपयोग	विशेष
१. शूक धान्य	१. पेया च० सू० २७। १५०	स्वेदजनन, अग्निदीपन, वातानुलोमक, मलनिस्सारक	यह भूख, प्यास, ग्लानि, दुर्बलता, उदररोग व ज्वर में उपयोगी है।	संसर्जन कर्म में या वमनादि के बाद पथ्य
	२. विलेपी च० सू० २७	तर्पक, ग्राहि, हृद्य, लघु	अतिसारादि से क्षीण व्यक्तियों में लाभकारी	संसर्जन कर्म में इसका विशेष उपयोग है।

मूलद्रव्य	कृतान्न	गुण-कर्म	उपयोग	विशेष
	३. मण्ड च० सू० २७ २५१।२५३	वातानुलोमक, अग्नि दीपक, मृदुकर (स्रोतोमृदुकर). स्वेदजनक तथा लघु	लंघनोपरान्त दीपक व लघु होने से उपयोगी है। विरेचनोपरान्त पथ्य हेतु उपयोगी है।	इसका विशेष उपयोग स्नेहपाकोपरान्त उत्पन्न तृषा में होता है।
	४. लाजमण्ड	संशोधन किये पुरुषों में मल-निष्कासक	क्षुधा व तृषाधिक्य में पीपर व शुण्ठी के साथ उपयोगी है।	पथ्य है। च० सू० २७।२५६
	५. ओदन (भात) च० सू० २७ २५७-२५८	विशद, लघु, अग्नि दीपक व तर्पक (भा०प्र०)बिनामण्ड निकाला हुआ गुरु होता है।	पथ्य व प्रमुख आहार रूप में उपयोग होता है।	चावल को भूनकर बनाया गया ओदन गरविष व कफज रोगों में उपयोगी है।
	६. सिद्ध ओदन (विभिन्न द्रव्यों से)	बल्य, संतर्पक, हृद्य गुरु, बृंहण (मांस वर्धक)। च० सू० २७।२५९	मांस, शाक, फल, ४ स्नेहों, माष, तिल, दूध आदि द्वारा सिद्ध करके बल व मांस वर्धन हेतु उपयोगी है।	विशेष द्रव्यों द्वारा सिद्ध करने पर द्रव्यानुसार उपयोग हो सकता है।
	७. सत्तू	यव—रूक्ष, दोषानुलोमक, सद्यःबल्य, सद्यःतर्पक। चावल का सत्तू-मधुर, लघु शीत, ग्राही, लाजसत्तू कषाय, मधुर, वीर्यशीत व लघु। च० सू० २७।२६४	चावल का सत्तू रक्तपित्त, तृषा, वमन तथा ज्वररोग में उपयोगी होता है।	—
८. जौ के अन्य खाद्य-पूआ यावक, बाटय च० सू० २७।२६५	—		उदावर्त, प्रतिश्याय कास, प्रमेह व गलग्रह में इनका उपयोग उत्तम फलदायक होता है।	—

मूलद्रव्य	कृतान्न	गुण-कर्म	उपयोग	विशेष
	९. कुल्माष घुंघुनी	रूक्ष, पाक में गुरु, वातवर्धक, मल को पतला करने वाला।	—	—
	१०. खीर	दुर्जर, बृंहण, बल्य विष्टम्भि, वात-शामक (भा० प्र० कृतान्न वर्ग)	रक्तपित्त में उपयोगी है।	अग्नि को मंद करने वाली है।
	११. पृथुक (चिउड़ा)	पाक में गुरु, आर्द्र धान्य से बना मल पतला करने वाला होता है (च० सू० २७) वातनाशक, बृंहण, वृष्य, बल्य, मलभेदक, कफवर्धक (भा० प्र०)।	इसका उपयोग भुन कर अल्पमात्रा में करना चाहिए।	तीव्र अग्नि वाले व्यक्ति में आहार रूप में प्रयुक्त किया जाता है।
शमीधान्य	१२. विभिन्न दालें	गुरु होती हैं। (च० सू० २७) इनके बने भक्ष्यपदार्थ रूक्ष, शीत व वातकारक है। च० सू० २७।२७४	—	इन्हें कटु, अम्ल व स्नेह से संस्कारित कर प्रयोग में लाना चाहिए।
अन्यद्रव्य	१३. श्रीखण्ड	बृंहण, वृष्य, स्निग्ध, बल्य, हृद्य, तर्पक, वातशामक च० सू० २७।२७८	रक्तपित्त, तृषा, दाह व प्रतिश्याय का नाश करता है। (भा० प्र०)	—
	१४. राग-षाडव	रस-कटु, अम्ल, मधुर, लवण गुण-लघु, हृद्य, दीपक व रुच्य होता है। (च० सू० २७)।		
	१५. चटनी (आम, आँवला)	स्निग्ध, मधुर, गुरु, बृंहण, बल्य, तर्पक, रुच्य। (च० सू० २७।२८२-८३	—	द्रव्यानुसार इसके गुण-कर्म होते हैं।
	१६. सिरका	वातानुलोमक (च० सू० २७)	—	रक्तपित्त व कफ-कोपक

चरकसंहिता में उदाहरणस्वरूप उपर्युक्त तालिका में वर्णित कृतान्नों के गुण-कर्म का निर्देश दिया गया है। विभिन्न कृतान्नों का उल्लेख विभिन्न व्याधियों के पथ्यापथ्य में यथास्थल किया गया है।

भारतवर्ष में अनेक प्रकार के कृतान्न प्रचलित हैं। यहाँ पर जनसामान्य में प्रचलित कतिपय कृतान्नों के गुण-कर्मों का निर्देश भावप्रकाश निघण्टु के कृतान्न वर्ग के आधार पर प्रस्तुत किया जा रहा है, क्योंकि जनसामान्य में प्रचलित प्रमुख कृतान्नों का उल्लेख चरकसंहिता में मात्र संकेत रूप में अस्पष्ट है, अतः प्रमुख प्रचलित कृतान्नों का उल्लेख निम्न तालिका में प्रस्तुत किया जा रहा है।

कृतान्न	गुणकर्म	उपयोग	विशेष निर्देश
१. कृशरा (खिचड़ी)	गुरु, पित्त व कफवर्धक, वृष्य, बल्य, दुर्जर, बुद्धिवर्द्धक, मलमूत्र निःस्सरण कराने वाली (भा० प्र०)	—	गुरु पाकी व विष्टम्भि होने से मात्रापूर्वक सेवन करना चाहिए। आर्द्रक, लवण, हींग से सिद्ध कर उपयोग करना चाहिए।
२. रोटी	बल्य, रुच्य, बृंहण, धातुवर्धक, गुरु, वातनाशक, कफकारक।	प्रदीप्त अग्नि वाले व्यक्ति हेतु उपयोगी है (भा० प्र०)	—
३. मैदे की रोटी	बृंहण, वृष्य, बल्य, रोचक रस-मधुर, ग्राही, लघु, त्रिदोष नाशक (भा०प्र०)	ग्राही होने से पतले मल आने में उपयोगी है।	इसकी अत्यन्त पतली रोटी बनानी चाहिए (भा० प्र०)
४. बाटी (अंगारकर्कटी)	बृंहण, शुक्रजनक, लघु, अग्नि दीपक, बल्य, कफकारक।	पीनस, श्वास, कास को दूर करती है। (भा० प्र०)	—
५. जौ की, उड़द की रोटी	जौ की रोटी मधुर रस, लघु व विशद गुणयुक्त, रुच्य, बल्य शुक्रल। उड़द की रोटी रूक्ष, उष्ण बल्य व वातकारक	कफज विकारों में यह उपयोगी है। तीव्राग्नि वाले व्यक्तियों में उपयोगी है।	इससे वातवृद्धि होती है अतः कफाधिक्य में सेवनीय।
६. चने की रोटी	रूक्ष, गुरु, कफपित्तशामक	रक्तविकार में उपयोगी है।	विष्टम्भि है। नेत्र के लिए अहितकर है।

कृतान्न	गुणकर्म	उपयोग	विशेष निर्देश
७. वेठई (कचौड़ी) उड़द की दाल की पीठी भरी रोटी	गुण-गुरु, वीर्य-उष्ण, बल्य शुक्रल, रूचिकारक, संतर्पक बृंहण, वीर्यवर्द्धक, भेदक, स्तन्य वातशामक (भा० प्र०)	गुपकील, अर्दितवात, श्वास तथा परिणाम शूल इसके सेवन करने से नष्ट होते हैं।	पित्त व कफ की इससे वृद्धि होती है।
८. पापड़	रोचक, अग्निदीपक, पाचक रूक्ष, गुरु (भा० प्र०)	—	स्नेह में भुनने से पापड़ के गुण कम हो जाते हैं
९. पूड़ी कचौड़ी	स्वादु, रुचिकारक, गुण-गुरु स्निग्ध, उष्ण, बल्य व वातनाशक (भा० प्र०)	घृत सिद्ध पूड़ी नेत्र रोगोंमें व रक्तपित्त में लाभदायक है।	पित्त व रक्त दूषित करने वाली है। तैल सिद्ध नेत्रों के लिए अहितकर है।
१०. बटक (बड़ा) शुष्क व रसदार	शुष्क-बल्य, बृंहण, वीर्यवर्धक, रुचिकारक, वातनाशक विवन्धनाशक, कफ वर्द्धक। रसदार बड़ा—शुक्रजनक, बल्य, रोचक, विवन्धहर, वातशामक व कफवर्धक है। (भा० प्र०)	विशेषरूप से अर्दित रोगका इसके सेवन से नाश होता है। रायता के साथ पाचन व रुचिवर्धन हेतु उपयोगी है। मूँग के बड़े त्रिदोषशामक है।	अत्यन्त दीप्त अग्नि वालों को प्रयोग करना चाहिए। अधिक सेवन से विदाही होने से दाहोत्पत्ति होती है।
११. विभिन्न बड़ी	इसके गुण बड़े के समान है।	पेठे की बड़ी रक्तविकार में अति उपयोगी है। (भा० प्र०)	—
१२. कढ़ी	लघु, पाचक, रुचिकारक, विवन्धहर, कफवातशामक	—	इससे पित्त प्रकुपित होता है। (भा० प्र०)
१३. मांस (रसदार)	अति वीर्यवर्धक, बृंहण, रोचक, बल्य, अग्निदीपक, त्रिदोषशामक।	—	उपर्युक्त गुण जल, घृत व वेशवारसिद्ध के हैं।
आसा	गुरु, शीतोष्ण, स्निग्ध, सारक, सन्धानकर, बृंहण, पित्तशामक।	—	—

कृतान्न	गुणकर्म	उपयोग	विशेष निर्देष
भुने मांस	बल्य, मेध्य, अग्नि, मांस, ओज शुक्र वृद्धिकर, तर्पक, लघु, स्निग्ध व स्थैर्यकर होता है।	—	घृत में भूनकर ही प्रयोग करना चाहिए।
कबाब	स्वादु, रुचिकारक, लघु, अग्निदीपक. बल्य, कफवात-नाशक होता है (भा० प्र०)।	—	किंचित् पित्तवर्धक है, अतः मात्रानुसार लेना चाहिए।
१४. सिद्धमांस रस (सुरुवा)	रुच्य, श्रमहर, श्वासहर, प्रीणन, वातपित्तशामक (भा० प्र०)।	क्षय, शुक्रक्षीणता, सन्धिभग्नता, शोधन के बाद, स्मृति, बल-हीनता, ज्वर, क्षतक्षीण, स्वरक्षय आदि में उपयोगी है।	—

भावप्रकाश में कतिपय ऐसे कृतान्नों के गुणकर्मों का उल्लेख किया गया है, जो तैयार कर रख लिया जाता है, तथा कुछ दिनों तक उसका सेवन किया जाता है। कतिपय कृतान्न प्रमुख आहार के रूप में ग्रहण न कर अल्पाहार के रूप में लिये जाते हैं। जैसे—मिठाईयां, अनेक प्रकार के स्नैक्स आदि। आगे की तालिका में जन-सामान्योपयोगी कतिपय कृतान्नों का उल्लेख भावप्रकाश के आधार पर किया जा रहा है।

कृतान्न	गुण-कर्म	उपयोग	विशेष निर्देश
१. मण्ठक (मठरी)	रस-मधुर, गुण-गुरु, पित्त-वातशामक, बृंहण, बृष्य, बल्य, रुचिकारक।	प्रदीप्त अग्नि वाले के लिए उपयोगी।	बालूशाही आदि के गुण मण्ठक के समान हैं।
२. सम्पाव: (गुजिया)	मठरी के समान	—	—
३. बूंदी का लड्डू	लघु, ग्राही, त्रिदोषनाशक, वीर्य-शीत, नेत्र्य, बल्य और तर्पक।	ज्वर में लाभदायक	घृत में पकाने पर ये गुण प्राप्त होते हैं। (भा० प्र०)
४. बेसनमोदक (लड्डू)	गुण-लघु, वीर्य-शीत, वल्य, पित्तशामक, कफहर।	यह ज्वर, रक्त-विकार का नाश करने वाला है। (भा० प्र०)	इससे किंचित् वात वृद्धि होती है तथा विष्टम्भि है (भा० प्र०)।

कृतान्न	गुणकर्म	उपयोग	विशेष निर्देष
५. दुग्धकुपिका	गुरु, शीत, बल्य, शुक्र-जनक, तर्पक, रुच्य, बृंहण वात-पित्तनाशक।	बृंहण हेतु उपयोगी है।	चिरकाल तक दूर दृष्टि की शक्ति आती है। (भा. प्र.)।
६. कुण्डलिनी (जलेबी)	पुष्टि, कान्ति, बल्य, धातु बढ़ाने वाली, वीर्यवर्धक, रुच्य, इन्द्रियों को तृप्त करने वाली।	—	—
७. शर्करोदक (सरबत)	गुण-लघु, सर, वीर्य-शीत शुक्रजनक, बल्य, वात-पित्तशामक।	मूर्च्छा, वमन, प्यास दाह, ज्वर में उपयोगी है।	—
८. इमली का पन्ना	वातशामक, अत्यन्त रोचक, जठराग्नि वृद्धिकर	—	पित्त-कफवर्धक है।
९. निम्बुपानक	रस-अति अम्ल, वातनाशक अग्निदीपक, रोचक।	सभी प्रकार के आहार पाचन के लिए उपयोगी है।	—
०१. काञ्जी	रुच्य, पाचक, अग्नि-दीपक।	शूल, अजीर्ण, विवन्ध को नष्ट करती है।	कोष्ठ शुद्धि हेतु उत्तम पेय है।
१२. बहुरी	रूक्ष, गुरु, देर से पचने वाली	प्रमेह, कफ व वमन में उपयोगी है।	इसके सेवन से प्यास बहुत लगती है।
१३. लाजा (खील)	रस-मधुर, गुण-लघु, वीर्य-शीत, अग्निदीपक, अल्प-मूत्रल, बल्य, पित्त-कफ शामक।	इसका उपयोग वमन, अतिसार, दाह, रक्त-विकार, प्रमेह, मेदो-रोग व तृषा रोग में होता है (भा० प्र०)।	—
१४. तिलकुट	गुरु, स्निग्ध, मलकारक, वीर्यवर्धक, वातनाशक, बृंहण (भा० प्र०)।	बहुमूत्रता में उपयोगी है।	पित्त व कफवर्धक है।

१२. आहारोपयोगिवर्ग

आहारोपयोगी वर्ग में ऐसे द्रव्यों का उल्लेख किया गया है, जो आहार द्रव्यों के विभिन्न संस्कारों में व्यवहृत होते हैं। विभिन्न आहार द्रव्यों के संस्कार हेतु व्यवहृत

होने वाले द्रव्यों को आहार का सहायक घटक मानकर उन्हें आहारोपयोगी कहा गया है। चरकसंहिता में आहारोपयोगी निम्न घटकों का उल्लेख किया गया है—

द्रव्य	गुणकर्म	उपयोग	विशेष निर्देश
१. तैल	रस-स्रोत द्रव्यानुसार, अनुरस-कषाय, मधुर, गुण-व्यवायि, वीर्य-उष्ण, वातशामक, मेध्य, अग्निदीपक, बल्य, मलमूत्रको बाँधने वाला है। (भा० प्र०)	यह अन्य द्रव्यों के संयोग व संस्कार से सभी रोगों को दूर करता है।	तैलसेवन से अतिशय बल की वृद्धि होती है। च० सू० २७।२८६-८८।
२. सरसों तैल	रस-कटु, वीर्य-उष्ण, वातकफ नाशक। च० सू० २७।२९०।	कण्डू और कोठ में इसका उपयोग होता है।	यह पित्त की वृद्धि तथा शुक्र का नाश करता है।
३. चिरौंजी तैल	रस-मधुर, गुण-गुरु, वीर्य-किंचित् उष्ण, वात-पित्त-शामक, कफवर्धक।	वात-पित्तज द्वन्द्वज विकारों में उपयोगी है--च० सू० २७।	—
४. अलसी तैल	रस-मधुर, अम्ल, विपाक-कटु वीर्य-उष्ण, वातशामक है।	—	इससे रक्तपित्त की उत्पत्ति होती है।
५. कुसुम्भ तैल	विपाक-कटु, वीर्य-उष्ण, गुरु	—	विदाही व त्रिदोष-कोपक है।
६. शुण्ठी तैल	स्निग्ध, विपाक-मधुर, वीर्य-उष्ण, हृद्य, रुच्य, वात कफ-शामक	वमन, श्वास, शूल, कास, हृद्रोग, श्लीपद शोथ, अर्श में उपयोगी भा० प्र०।	—
७. मरिच तैल	लघु; रुच्य, छेदन, शोषण, अग्निदीपक तथा कफवात शामक। च० सू० २७।	श्वास, शूल व कृमि रोग में उपयोगी है (भा० प्र०)	कच्ची मरिच पित्त-कारक है।
८. पीपर तैल	आर्द्र-रस-मधुर, गुरु व स्निग्ध शुष्क-रस-कटु, वीर्य-उष्ण, वृष्य।	शहद के साथ मेद, कफ, श्वासकास, ज्वर में उपयोगी है। गुड़ के साथ जीर्ण ज्वर व अग्निमांद्य में उपयोगी है। भा० प्र० नि०	पीपर तैल में गुड़ दुगुना मिलाना चाहिए।

द्रव्य	गुणकर्म	उपयोग	विशेष निर्देष
९. हींग	रस-कटु, वीर्य-उष्ण, गुण-लघु वात-कफशामक, विवन्ध-नाशक, रुच्य, पाचक, शूल प्रशामक । च० सू० २७।२९९	इसका उपयोग शूल, गुल्म, उदररोग, आनाह व कृमिरोग में होता है । (भा० प्र० नि०)	इससे किंचित् पित्त-वृद्धि होती है ।
१०. सैंधव लवण	किंचित् मधुर, रोचक, दीपक वृष्य, चक्षुष्य, त्रिदोषशामक	--	यह लवणों में सर्वोत्तम है ।
११. सोंचर नमक	गुण-सूक्ष्म, लघु, वीर्य-उष्ण सुगन्धित, रुचिकारक, विवन्धघ्न, हृद्य, उद्गार-शोधक । च० सू० २७ ।	इसका उपयोग विवन्ध, आनाह व शूल में होता है । (भा० प्र० नि०)	—
१२. विड-लवण	गुण-तीक्ष्ण, वीर्य-उष्ण, व्यवायि, जाठराग्निदीपक, शूल-प्रशमन, ऊर्ध्व व अधो वातानुलोमक । च० सू० २७ ।	इसका प्रयोग विवन्ध, आनाह, विष्टम्भ, हृदयरोग व शूल में होता है ।	भावमिश्र ने इसे कफ को ऊर्ध्वभाग में तथा वात को अधोभाग में संचारित करने वाला कहा है ।
१३. काला-नमक	लघु, उष्ण-वीर्य, भेदक, वात शामक, हृद्य, उद्गारशोधक	—	—
१४. समुद्र-नमक	रस-मधुर मिश्रित तिक्त, विपाक-मधुर, गुण-गुरु, वीर्य-किंचित् उष्ण, दीपक, पाचक, रुच्य, संस्रन वातशामक । (च० सू० २७ भा० प्र०)	—	—
१५. यवक्षार	गुण-लघु, स्निग्ध, सूक्ष्म, अग्निदीपक (भा० प्र० नि०) ।	यह हृदयरोग, पाण्डु-रोग, ग्रहणी, प्लीहा-विकार, आनाह, गल-ग्रह, कास व आनाह में उपयोगी है ।	—
१६. अन्यक्षार	अन्य सभी क्षार लघु, रूक्ष, तीक्ष्ण वीर्य-उष्ण, क्लेदोत्पा-	अर्श के मस्से के व कफ के छेदन हेतु	क्षार के विशेष गुण-कर्म द्रव्यानुसार

द्रव्य	गुणकर्म	उपयोग	विशेष निर्देष
	दक, पाचक, विदारक, दाहक, अग्निदीपक, छेदक व अग्नि सदृश (च० सु० २७)	उपयोगी है।	होते हैं।
१७. जीरक (तीनों जीरक) कुश्चिका (मंगरैला)	रस-कटु-गुण-लघु रूक्ष, वीर्य-उष्ण, अग्निदीपक, संग्राही, मेध्य, गर्भाशयशोधक, पाचक, वृष्य, बल्यरोचक, कफनाशक है। (भा० प्र०)	यह वायु, आध्मान, गुल्म, वमन व अतिसार का नाश करता है। (भा० प्र०)	इनके प्रयोग से शरीर के दुर्गंन्ध का नाश होता है। (च० सू० २७)
१८. धनियाँ	रस-कषाय तिक्त गुण-स्निग्ध, लघु वीर्य-उष्ण, अग्निदीपक, मूत्रजनक, पाचक, ज्वरहर, ग्राही, रोचक, त्रिदोषहर, तृषाहर। (भा० प्र०)	इसका प्रयोग दाह, वमन, श्वास, कास, कृशता व कृमिरोग में किया जाता है।	अधिक उपयोग करने पर अवृष्य होने से नपुंसकता आती है।
१९.अजवाइन	रस-कटु, गुण-लघु, तीक्ष्ण, वीर्य-उष्ण, पाचक, रोचक, शूलघ्न (भा० प्र०)	इसका प्रयोग वात, कफ, उदररोग, आनाह, गुल्म, प्लीहा और कृमिमें होता है	अवृष्य होने से इसका प्रयोग मात्रा-पूर्वक ही करना चाहिए।
२०. तुम्बुरु	रस-तिक्त, कटु, विपाक-कटु गुण-रूक्ष, वीर्यं-उष्ण, अग्नि-दीपक, रोचक, वातकफ-नाशक। (भा० प्र० नि०)	इसका उपयोग ऊर्ध्वजत्रुगत (नेत्र को छोड़कर) गौरव, कृमि, कुष्ठ, अरुचि, श्वास, प्लीहा व मूत्र-कृच्छ्र में होता है।	विदाही होने से इसका प्रयोग मात्रा-पूर्वक करना चाहिए

उपर्युक्त तालिका द्वारा यथासंभव आहारोपयोगी द्रव्यों का निर्देश दिया गया है। आहारोपयोगी या आहार द्रव्य अनेक हैं। सभी द्रव्यों का उल्लेख करना संभव नहीं है। इस सम्बन्ध में आचार्य चरक की उक्ति उचित ही है कि—'आहारयोगिनां भक्तिनिश्चयो न तु विद्यते।' च० सू० २७। अर्थात् आहार में व्यवहृत उपयोगी द्रव्यों का विभाग निश्चित नहीं है। क्षेत्र व देश के अनुसार विभिन्न द्रव्य आहारोपयोगी हैं अतः तदनुसार ही उनके गुण-कर्मों का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए।

अनुपान

'यदाहारगुणैः पानं विपरीतं तदिष्यते।
अन्नानुपानं धातूनां दृष्टं यन्न विरोधि च ॥' (च० सू० २७।३१९)।

अर्थात् जो पेय पदार्थ आहार के गुणों से विपरीत गुण वाला होता है एवं शरीरस्थ धातुओं के विपरीत नहीं होता है, उसे अनुपान रूप में व्यवहृत करना चाहिए। अनुपान हेतु जल व विभिन्न आसवों का उल्लेख किया गया है—

'आसवानां समुद्दिष्टामशीतिं चतुरुत्तराम्।
जलं पेयमपेयं च परीक्ष्यानुपिबेद्धितम्॥'

(च० सू० २७।३२०)

अनुपान के महत्त्व को प्रदर्शित करते हुए चरकसंहिता में कहा गया है कि—

'अनुपानं हितं युक्तं तर्पयत्याशु मानवम्।
सुखं पचति चाहारमायुषे च बलाय च॥'

(च० सू० २७।३२६)

अर्थात् उचित रूप से अनुपान सेवन करने से मनुष्य का सद्यःतर्पण होता है। आयु हेतु, बलसंरक्षण के लिए हितकारी तथा भोजन को पचाता है। अनुपान शरीर व आयु के लिए किस प्रकार उपादेय है, इसकी कार्मुकता को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि अनुपान—१. तर्पयति—तर्पण करता है। २. प्रीणयति—अनुपान द्रव रूप में होने से धातुओं का प्रीणन (Refresh) करता है। ऊर्जयति—ऊर्जा प्रदान करता है। ४. बृंहयति—इससे शरीर का बृंहण कर्म होता है। ५. पर्याप्तिमभि-निर्वर्तयति—शारीरिक धातुएँ इससे पूर्णता (पुष्टि) प्राप्त करती हैं। ६. भुक्तमव-सादयति—इसका पाठ आचार्य गंगाधर ने 'भुक्तमार्द्रयति' किया है तथा आचार्य शिवदास सेन ने 'भुक्तमवसादयति' का अर्थ 'आमाशयाधोभागं नयति' अर्थात् खाये हुए पदार्थ को अधो आमाशय में ले जाता है, ऐसा किया है। यहाँ 'भुक्तमवसादयति' से खाये गये तीक्ष्णादि गुण से क्षुभित आहार द्रव्यों को शिथिल करना अर्थ भी ग्रहण किया जा सकता है, जिससे सम्यक् रूपेण शरीरस्थ अग्नियों की क्रियायें भुक्त आहार पर हो सके। ७. अन्नसङ्घातं भिनत्ति—भुक्त आहार के संहत भाग (ठोसपन) को छोटे-छोटे टुकड़े में कर देता है। ८. मार्दवमापादयति—भुक्त आहार को मृदु बनाता है। ९. क्लेदयति—भुक्त आहार का क्लेदन करता है। १०. जरयति—आहार को पचाता है। ११. सुखपरिणामितामाशुव्यवायितां चाहारस्योपजनयतीति—सुखपरि-णामयति अर्थात् आहार को सुखपूर्वक पचने योग्य बना देता है तथा आशुव्यवायिता—अर्थात् शीघ्र ही भुक्त आहार को पूरे शरीर में फैलने योग्य बना देता है।

विशिष्ट अनुपान—चरकसंहिता में कतिपय अनुपान-विशेष का उदाहरणस्वरूप निर्देश दिया गया है, क्योंकि यह कहा गया है कि अनुपान ऐसा होना चाहिए जो शारीरिक धातुओं का अविरोधी तथा प्रधान आहार के गुणों के विरुद्ध हो। यथा—(च० सू० २७।२२१-२२४)।

१. वातजविकारों में—स्निग्ध उष्ण अनुपान।

२. पित्तज विकारों में—मधुर व शीतानुपान।

३. कफज विकारों में—रूक्ष, उष्ण, अनुपान।

४. धातुजन्य विकारों में—मांसरस का अनुपान।

५. उपवास किये हुए, मार्ग चलने से श्रांत, अधिक बोलने से श्रान्त, मैथुन श्रांत, मारुत, धूप व अन्य परिश्रमजन्य कर्मों से श्रांत व्यक्तियों में—दुग्धानुपान श्रेष्ठ है।

६. कृश व्यक्तियों में—सुरानुपान।

७. स्थूल व्यक्तियों में—मधु व जल का अनुपान।

८. मन्दाग्नि पीड़ित, अनिद्रा, तन्द्रा, शोक, भय व क्लम से पीड़ित व्यक्तियों में मद्य का अनुपान।

९. मांसाहारी व्यक्तियों में मद्य का अनुपान श्रेष्ठ होता है।

अनुपान में जलनिषेध—अनुपान रूप में जल का सेवन प्रशस्त कहा गया है, परन्तु कतिपय अवस्थाओं में जल का अनुपान रूप में सेवन करना वर्जित किया गया है। इस सम्बन्ध में तर्क दिया गया है कि—यदि निषेधावस्थाओं में व्यक्तिविशेष जल का सेवन अनुपान रूप में करता है तो वह जल कण्ठप्रदेश और उरःप्रदेश में रहने वाले आहारजन्य स्नेह को नष्ट कर देता है तथा दोषों को और बढ़ा देता है।

'पिबेयुरुदकं भुक्त्वा तद्धि कण्ठोरसि स्थितम्।
स्नेहमाहारजं हत्वा भूयो दोषाय कल्पते॥'

(च० सू० २७।३२८)

जल का अनुपान जिनमें वर्जित है वे अवस्थायें निम्न हैं—

१. नोर्ध्वाङ्गमारुताविष्टा—अर्थात् जिन व्यक्तियों में ऊर्ध्वजत्रुगत भाग में वात प्रकुपित हो।

२. न हिक्काश्वासकासिनः—जो व्यक्ति हिक्का रोग, श्वास रोग व कास से ग्रसित हों।

३. न गीतभाष्याध्ययनप्रसक्ता—अर्थात् जो व्यक्ति लगातार गीत गाने, भाषण करने या अध्ययन करने में लगा हो।

४. नोरसिक्षता—जो व्यक्ति उरःक्षत से पीड़ित हो। उपर्युक्त स्थिति वाले व्यक्तियों में जल का अनुपान वर्जित है।

उपर्युक्त तथ्यों से यह स्पष्ट होता है कि अनुपान का आहार विधि-विधान में महत्त्वपूर्ण व विशेष स्थान हैं।

आहार द्रव्यों व अनुपानादि के वर्णन के पश्चात् आहार ग्रहण करने के समय कतिपय परीक्ष्य विषय निर्धारित किये गये हैं, जिनकी परीक्षा कर ही आहार का निर्धारण करना चाहिए—

अन्नपानविषयक परीक्ष्य भाव

'चरः शरीरावयवाः स्वभावो धातवः क्रिया।
लिङ्गं प्रमाणं संस्कारो मात्रा चास्मिन् परीक्ष्यते ॥'

(च० सू० २७।३३१)

अर्थात् अन्नपान ग्रहण करते समय निम्न भावों की परीक्षा करनी चाहिए। ये भाव हैं—१. चर, २. शरीरावयव, ३. स्वभाव, ४. धातुएँ, ५. क्रिया, ६. लिङ्ग, ७. प्रमाण, ८. संस्कार तथा ९. मात्रा।

१. चर—यहाँ चर से तात्पर्य देश का है। अन्नपान में चरपरीक्षा में इस बात की परीक्षा की जाती है कि ग्रहण किये जाने वाला आहार किस देश में उत्पन्न हुआ है। क्योंकि द्रव्यों के देशानुसार (उत्पत्ति के आधार पर) गुण भिन्न होते हैं अर्थात् एक ही प्रकार का द्रव्य विभिन्न देशों में उत्पन्न होने के कारण भिन्न-भिन्न गुण वाले होते हैं। आचार्य ने मांस का उदाहरण देकर इसको स्पष्ट किया है। जैसे—जो जीव आनूप देश में या जल में उत्पन्न होते या रहते हैं या विचरण करते हैं, उनमें देशानुसार या स्थिति के अनुसार गुणाधान होता है, उनका मांस गुरु होता है। उसी प्रकार जो जीव लघु आहार लेते हैं या आकाश में विचरण करते हैं या जांगल प्रदेश में उत्पन्न होते हैं अथवा जांगल प्रदेश में विचरण करते हैं, उनका मांस प्रायः लघु होता है। अर्थात् आहार द्रव्यों के गुण उत्पत्ति व स्थिति के अनुसार होते हैं।

चरोऽनूपजला···· । गुरुभक्ष्याः··· । लघुभक्ष्या·· लघवो।

(च० सू० २७।३३२)

२. शरीरावयव—यह परीक्षा मांसाहारी व्यक्तियों के लिए है। शरीरावयव परीक्षा से तात्पर्य यहाँ जीवों के शरीर के विभिन्न अंगों की परीक्षा से है। शरीर के विभिन्न अंगों के मांस भिन्न-भिन्न गुण वाले होते हैं। इसी प्रकार विभिन्न शारीरिक धातुओं के गुण अलग-अलग हैं। अतः प्रथमतः यह परीक्षा करनी चाहिए कि व्यक्तिविशेष हेतु किस अवयव का मांस या किस धातु-विशेष का सेवन करना हितकर है। यथा—'सक्थिमांसाद् गुरुः स्कन्धस्ततः' अर्थात् सक्थि के मांस की अपेक्षा स्कन्ध का मांस गुरु होता है। 'स्कन्धस्ततः क्रोडस्ततः शिरः'—कन्धे के मांस की अपेक्षा वक्ष का व उदर का मांस, वक्ष व उदर की अपेक्षा शिर का मांस गुरु होता है। इसी प्रकार—'वृषणौ चर्म मेढ्रं च श्रोणी वृक्कौ यकृद् गुदम्। मांसाद् गुरुतरं विद्याद्यथास्वं मध्यमस्थि च।' च० सू० २७। अर्थात् मांस की अपेक्षा दोनों अण्ड, चर्म, मूत्रेन्द्रिय, श्रोणिप्रदेश, वृक्क, यकृत्, गुदा, मध्यदेह का मांस उत्तरोत्तर गुरु होता है। मांस से अस्थि गुरु होती है।

३. स्वभाव—स्वभाव से यहाँ द्रव्य-स्वभाव का तात्पर्य लिया जाता है। कतिपय द्रव्य स्वभावतः गुरु होते हैं, तो कतिपय द्रव्य स्वभावतः लघु होते हैं। गुरु द्रव्यों का

पाचन देर से होता है तथा लघु द्रव्य का पाचन शीघ्र हो जाता है। इस प्रकार द्रव्य के स्वाभाविक गुण-कर्मों की परीक्षा करके ही द्रव्य का सेवन करना चाहिए। आचार्य ने उदाहरण देकर स्वभाव परीक्षा को स्पष्ट किया है। यथा—'स्वभावाल्लघवो मुद्गाः'—मूंग स्वभाव से ही लघु है। 'तथा लावकपिञ्जलाः' – लावा व कपिञ्जल का मांस स्वाभावतः लघु होता है। 'स्वभावाद् गुरवो माषा वराहमहिषास्तथा'—अर्थात् उड़द, वाराह व भैंसे का मांस स्वभावतः गुरु होता है।

४. धातु-परीक्षा—धातु-परीक्षा से यहाँ तात्पर्य विभिन्न प्राणियों के शारीरिक धातुओं से है। यह परीक्षा मांसाहारी व्यक्तियों के लिए है। शरीरावयव परीक्षा के सम्बन्ध में कहा जा चुका है कि प्राणियों की धातुएँ उत्तरोत्तर गुरु होती हैं। अर्थात् रस से रक्त, रक्त से मांस, मांस से मेद, मेद से अस्थि, अस्थि से मज्जा व मज्जा से शुक्र गुरुतर है। अतः व्यक्ति को अपने शारीरिक अवस्था व दोषादि के अनुसार यह चयन करना चाहिए कि प्राणियों के किस धातुविशेष का सेवन किया जाय। सामान्यतः शरीर में जिस धातु का क्षय हो उसी धातु का सेवन करना चाहिए; क्योंकि सामान्यवादानुसार सामान्य द्रव्यों से तद्धातु की वृद्धि होती है।

५. क्रिया-परीक्षा—क्रिया-परीक्षा के अन्तर्गत इस बात की परीक्षा करनी चाहिए कि प्राणिविशेष की क्रिया किस प्रकार की है, क्योंकि उसके अन्दर कर्मानुसार गुणों का आधान होता है। यह परीक्षा भी मांसाहारी व्यक्तियों के लिए है। क्योंकि आचार्य ने कहा है—'अलसेभ्यो विशिष्यन्ते प्राणिनो ये बहुक्रियाः'। अर्थात् अलस यानि कम काम करने वाले प्राणियों की अपेक्षा बहुक्रिय अर्थात् बहुत कार्य करने वाले प्राणियों का मांस हल्का होता है। इस प्रकार जिस प्राणिविशेष के मांसादि का सेवन करना हो, उसकी क्रिया की परीक्षा कर लेनी चाहिए कि यह अलस या बहुक्रिय है।

६. लिङ्ग-परीक्षा—एक ही प्रकार के प्राणियों में लिङ्गानुसार गुणों में अन्तर होता है। जैसे एक ही प्रकार के जीव में पुरुष का मांस गुरु होता है तथा स्त्री जीव का मांस लघु होता है।

'गौरवं लिङ्गसामान्ये पुंसां स्त्रीणां तु लाघवम्।' (च० सू० २७)

७. प्रमाण—यह भी परीक्षा मांसाहारी व्यक्तियों के लिए ही है। प्रमाण से यहाँ प्राणि-विशेष के शरीर-प्रमाण से तात्पर्य है। प्रमाण परीक्षा के अन्तर्गत प्राणियों के शरीर के प्रमाण की परीक्षा की जाती है। एक ही जाति के स्थूलकाय जीव का मांस गुरु होता है तथा कृशकाय या छोटे का मांस लघु होता है—'महाप्रमाणः गुरवः स्वजातौ लघवोऽन्यथा।' आयुर्वेद में शरीर की बनावट भी दोषानुसार होती है, अतः गुण भी उसी तरह के होते हैं। जैसे—उत्तम बनावट वाले पुष्ट शरीरावयव वाले प्राणियों में कफ उत्कृष्टावस्था में होता है, अतः उसके धातु या अङ्ग-विशेष गुरु गुणयुक्त होते हैं

तथा कृशकाय प्राणियों में वायु की उत्कर्षावस्था के कारण उसके शरीरस्थ भाव लघु गुणयुक्त होते हैं।

८. **संस्कार**—संस्कार गुण परिवर्त्तनकारी होता है। अर्थात् किसी द्रव्य के गुण संस्कार के द्वारा परिवर्तित हो जाते हैं। अतः अन्नपान या आहार ग्रहण करते समय यह परीक्षा अवश्य कर लेनी चाहिए कि अमुक द्रव्य का किस प्रकार का संस्कार किया गया है। क्योंकि संस्कार से गुरु द्रव्य लघु हो जाते हैं तथा लघु द्रव्य भी गुरु हो जाते हैं। जैसे—ब्रीहि धान्य स्वभावतः गुरु द्रव्य है; परन्तु यदि उस ब्रीहि का संस्कार कर उससे लावा बना दिया जाता है तो वह लघु गुण वाला हो जाता है। इसी प्रकार सत्तू लघु गुण वाला है; परन्तु जब उसको किसी द्रव-विशेष के साथ पिण्ड रूप दे दिया जाता है, तो वह गुरु गुणयुक्त हो जाता है—

'गुरूणां लाघवं विद्यात् संस्कारात् सविपर्ययम्।
ब्रीहेर्लाजा यथा च स्युः सक्तूनां सिद्धपिण्डिकाः॥' (च० सू० २७)

९. **मात्रा-परीक्षा**—अन्नपान काल में आहार के मात्रा की परीक्षा अवश्य करनी चाहिए। यह आहार मात्रा अग्नि बल की अपेक्षा करती है अर्थात् व्यक्ति को अपनी अग्नि के अनुसार ही आहार मात्रा लेनी चाहिए। मात्रा का निर्धारण द्रव्य के स्वाभाविक या संस्कारित गुणों के आधार पर करनी चाहिए। जैसे—जो द्रव्य स्वभावतः गुरु है, उन्हें अल्पमात्रा में लेना चाहिए। इसी प्रकार जो द्रव्य स्वभावतः या संस्कारतः लघु है, उसका सेवन तृप्ति होने तक करना चाहिए। यदि गुरु द्रव्यों का सेवन भी अल्प मात्रा में किया जाता है तो लघुता होती है तथा लघु द्रव्यों का भी यदि अधिक मात्रा में सेवन किया जाता है तो उससे गुरुता की उत्पत्ति होती है। अतः आहार मात्रा की परीक्षा अवश्य करनी चाहिए। क्योंकि आहार द्रव्य मात्रा की अपेक्षा करते हैं एवं मात्रा अग्नि की अपेक्षा करती है। आहार मात्रा से सम्बन्धित उपर्युक्त तथ्यों को चरकसंहिता में निम्न रूप में प्रकाशित किया गया है—

'अल्पादाने गुरूणां च लघूनां चातिसेवने।
मात्रा कारणमुद्दिष्टं द्रव्याणां गुरुलाघवे॥
गुरूणामल्पमादेयं लघूनां तृप्तिरिष्यते।
मात्रां द्रव्याण्यपेक्षन्ते मात्रा चाग्निमपेक्षते॥'

(च० सू० २७।३४०-४१)

इस प्रकार उपर्युक्त तथ्यों से यह स्पष्ट हो जाता है कि अन्नपान विषयक परीक्ष्य भावों को मुख्यतः मांसाहार की दृष्टि से उल्लिखित किया गया है। क्योंकि उपर्युक्त नव परीक्ष्य भावों में से चर, अवयव, धातुएँ, क्रिया, लिङ्ग, प्रमाण ये छः भाव केवल मांसाहार के परीक्ष्य भाव हैं। शेष तीन स्वभाव, संस्कार व मात्रा शाकाहार व मांसाहार दोनों के लिए है। अतः यहाँ उपर्युक्त तथ्यों के आधार पर कहा जा सकता

है कि—सामान्यतः सभी व्यक्तियों को अन्नपान विषयक भावों की परीक्षा करनी चाहिए। पर मांसाहारी व्यक्तियों को उपर्युक्त नव परीक्षा करने के बाद ही आहार ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि ये अन्नपान विषयक परीक्ष्य भाव मांसाहार की दृष्टि से ही वर्णित हैं।

अन्नपान विधि-विधान की उपादेयता

आयुर्वेद का सिद्धान्त है कि—

'येषामेव हि भावानां संपत् संजनयेन्नरम्।
तेषामेव विपद्व्याधीन् विविधान् समुदीरयेत्॥'

अर्थात् जिन भावों की सम्पत्ति (गुण-श्रेष्ठता) से पुरुष की उत्पत्ति होती है, उन्हीं भावों की विपत्ति (गुणहीनता) से अनेक प्रकार के रोगों की उत्पत्ति होती है। इस शरीर की उत्पत्ति आहार से ही मानी गई है, अतः विभिन्न रोगों के कारण-रूप में आहार की विपत्ति (गुणहीनता) ही मान्य है। इस तथ्य को च० सू० २८। ४५ में निम्न रूप में स्पष्ट किया गया है—

'न रागान्नाप्यविज्ञानादाहारानुपयोजयेत्।
परीक्ष्य हितमश्नीयाद्देहो ह्याहारसंभवः॥' (च० सू० २८)

अर्थात् राग या अज्ञान से अहितकर आहार का सेवन नहीं करना चाहिए। परीक्षा करके हितकर आहार का ही सेवन करना चाहिए; क्योंकि इस शरीर की उत्पत्ति आहार से ही होती है। हिताहार ही पुरुष के वृद्धि का कारण है तथा अहिताहार रोगोत्पत्ति या रोगवृद्धि का कारण होता है—

'हिताहारोपयोग एक एव पुरुषवृद्धिकरो भवति।
अहिताहारोपयोगः पुनर्व्याधिनिमित्तमिति॥'
(च० सू० २५।३१)

इसलिए ऐसा निर्देश दिया गया है कि—

'तच्च नित्यं प्रयुञ्जीत स्वास्थ्यं येनानुवर्तते।
अजातानां विकाराणामनुत्पत्तिकरं च यत्॥' (च० सू० ५।१३)

अर्थात् नित्य प्रति स्वास्थ्य का अनुवर्त्तन करने वाले आहार-विहार का ही सेवन करना चाहिए जिससे स्वास्थ्य बना रहे तथा जिन रोगों की उत्पत्ति नहीं हुई है, उनकी उत्पत्ति भी नहीं हो सके। उपर्युक्त आर्ष वचन के आलोक में अन्नपान विधि-विधान की उपादेयता स्पष्ट हो जाती है। अन्नपान विधि-विधान में विशेष रूप से विभिन्न द्रव्यों का वर्णन कर आयुर्वेदीय दृष्टि से आहार घटकों पर प्रकाश डाला गया है। इसमें अन्न (ठोस आहार) व पान (द्रव आहार) की आवश्यकता व व्यक्ति-विशेष हेतु गुण-कर्मों पर प्रकाश डाला गया है। आहार घटकों का चयन व्यक्तिविशेष की प्रकृति, देश, कालादि के अनुसार किया जाता है।

मानव की प्रथम या प्राथमिक एषणा (primary motivation) चरकसंहिता के अनुसार प्राणरक्षा है। मानव प्रथमतः प्राणरक्षक क्रियायों हेतु उत्प्रेरित होता है। इस प्राणरक्षा का प्रथम साधन आहार ही है—'इष्टवर्णगन्धरसस्पर्शविधिविहित-मन्नपानं प्राणिनां प्राणिसंज्ञकानां प्राणमाचक्षते कुशला: ।'—च० सू० २७। अर्थात् मनोनुकूल आहार (गंध, वर्ण, रस, स्पर्श में जो मन के अनुकूल हो) जो विधिपूर्वक तैयार किया गया हो वह प्राणियों का प्राण होता है। इस कारण ही पूरा जनसामान्य अन्न की ओर ही दौड़ता है अर्थात् अन्न प्राप्ति हेतु उत्प्रेरित होता है—'प्राणा: प्राण-भृतामन्नमन्नं लोकोऽभिधावति' ।'—च० सू० २७। आयुर्वेद में स्पष्ट कर दिया गया है कि केवल विधिविहित अर्थात् विधि के अनुसार लिया गया आहार ही प्राणियों का प्राण है। क्योंकि उपर्युक्त गद्यांश में स्पष्ट निर्देश है कि—'विधिविहितमन्नपानं प्राणिनां···प्राणा:' । इस उक्ति के द्वारा अन्नपान विधि की उपादेयता को स्पष्ट कर दिया गया है।

विधिविहित अन्नपान	अविधि अन्नपान
१. तदिन्धना ह्यन्तरग्नेः (अन्तरग्नि को बनाये रखता है)।	विपरीतमहिताय—अन्तरग्नि नष्ट करता है।
२. तत् सत्त्वमूर्जयति (मन को ऊर्जा प्रदान करता है)।	विपरीतमहिताय—मनोक्लान्ति व मनोदोषकर।
३. तच्छरीरधातुव्यूहकर (धातुओं का व्यूहन करता है)।	,, —धातुविकृति।
४. बलवर्णकर (बल तथा वर्ण को बनाये रखता है)।	,, ---बलवर्ण नाश।
५. इन्द्रियप्रसादकर (इन्द्रियों की पुष्टि करता है)।	,, —इन्द्रियाँ दोषपूर्ण होती हैं।
यथोक्तमुपसेव्यमानं—विधिपूर्वक अन्नपान के उपर्युक्त गुण हैं।	अविधिपूर्वक गृहीत अन्नपान विपरीत गुण-कर्म वाले होते हैं।

इसके अतिरिक्त विभिन्न द्रव्यों का उदाहरण देकर, विधिपूर्वक सेवन किये गये अन्नपान के गुण-कर्म व अविधिपूर्वक अन्नपान के सेवन से होने वाले हानियों को स्पष्ट किया गया है। जिससे अन्नपान विधि-विधान की उपादेयता स्पष्ट हो जाती है। चरकसंहिता में विभिन्न आहार घटक वर्गों के द्रव्यों का उदाहरण प्रस्तुत किया गया है, जिसका उल्लेख निम्न तालिका में किया जा रहा है—

द्रव्य	अन्नपान विधि-विधान से सेवन करने पर गुण-कर्म	अविहित रूप से सेवन करने पर हानियाँ
१. जल	अन्न का क्लेदन करता है।	धातुओं को क्लेदित करता है।
२. लवण	कफादि के संघात का विष्यन्दन करता है।	सामान्य सान्द्र धातुओं का विष्यन्दन करता है।
३. क्षार	पाचन करता है।	सामान्य धातुओं का क्षरण (नाश) करता है।
४. घृत	स्नेहन करता है।	अतिस्नेहन का लक्षण उत्पन्न होता है।
५. दूध	जीवनीय है।	विरुद्ध अन्न के साथ दोषोत्पादक है।
६. मांस	बृंहण करता है।	दोषोत्पादक होता है।
७. सीधु	मेदादि का लेखन करता है।	सामान्य धातुओं का लेखन करता है।
८. फाणित	दोषों को एकत्र करता है।	दोषों को एकत्र कर कुपित करता है।
९. दधि	रुच्य, शुक्रल, अग्निदीपक है।	शोथ उत्पन्न करने वाला है।
१०. पिण्याक		शरीर में ग्लानि उत्पन्न करता है।
११. उड़द	वृष्य, बल्य है।	अतिमल-मूत्रोत्पादक, वातकोपक।
१२. अम्ल	हृदय का तर्पक है	प्रायः पित्त कुपित करता है।

उपर्युक्त तालिका चरकसंहिता के सू० २७।४ के आधार पर तैयार की गई है। सूलपाठ में एकपक्षीय हितकर या अहितकर प्रभाव का वर्णन है, परन्तु 'विपरीत-महिताय' के अनुसार तालिका में एक ही द्रव्य के विधिपूर्वक सेवन से और अविधि-पूर्वक सेवन से होनेवाले हितकर व अहितकर दोनों प्रभावों को दर्शाया गया है। इसका आधार मूलपाठ ही है, जिसमें क्षार के हितकर व अहितकर दोनों प्रभावों का उल्लेख है—'क्षारः पाचयति······दृष्टिशुक्रघ्नः क्षारः।'—च० सू० २७।४।

अब अन्नपान विधि में वर्णित विषयवस्तु के आधार पर इस सिद्धान्त की उपादेयता पर विचार किया जायेगा। अन्नपान विधि-विधान में आहार द्रव्यों को बारह वर्गों में विभाजित किया गया है, जिसमें दस विभागों का एक साथ एवं अन्तिम दो विभाग (कृतान्न व आहारोपयोगी) का अतिरिक्त रूप से ग्रहण कर बारह वर्गों का वर्णन है। जब इन वर्गों पर सूक्ष्म दृष्टिपात किया जाता है तो ये वर्ग आहार-घटक के रूप में प्रकाशित होते हैं। अन्नपानविधि में दो प्रमुख वर्ग हैं —अन्न व पान। अन्न से तात्पर्य अन्नादि से या अन्य द्रव्यों से तैयार ठोस द्रव्य व पान से विभिन्न द्रव द्रव्य का ग्रहण होता है। इस प्रकार शूकधान्य, शमीधान्य, मांस, शाक, फल, हरित, इक्षु ये सब अन्न के अन्तर्गत व मद्य, जल, गोरस पान के अन्तर्गत आते हैं। इसी प्रकार आहार को प्रमुख आहार व अनुपान भेद से वर्गीकृत किया जा सकता है।

उपयोगिता के आधार पर आहार घटक को निम्न रूप में व्यवस्थित किया जा सकता है—

आहार (प्रमुख आहार) रूप में	पान (अनुपान रूप में व्यवहृत)
१. अन्न—शूकधान्यवर्ग, शमीधान्यवर्ग	जल —जलवर्ग
२. मांस—मांसवर्ग	मद्य—मद्यवर्ग
३. शाक, फल, हरित—तीनों के वर्ग	दुग्ध—दुग्धवर्ग
४. गुड़ शर्करा—ईक्षुवर्ग	
५. अतिरिक्त घटक—आहारोपयोगी ।	

इस प्रकार आयुर्वेद में आहार घटकों में ५ (पाँच) अनिवार्य घटक माने गये हैं तथा अनुपान में जल व मद्य का उल्लेख किया गया है। कतिपय अवस्थाओं में दुग्ध का अनुपान रूप में विधान है। यदि चरकसंहिता के आधार पर आहार घटकों पर ध्यान दिया जाय तो वे निम्नवत् हो सकते हैं—

१. मुख्य या प्रधान आहार द्रव्य—धान्य, मांस ।
२. अतिरिक्त आवश्यक आहार द्रव्य —शाक, फल, हरित, मांस ।
३. सहायक आहार द्रव्य —आहारोपयोगी द्रव्य
४. अनुपान —जल, मद्य व दुग्ध ।

इस प्रकार चरकसंहिता में बारह वर्गों में चार प्रकार के द्रव्यों का वर्णन किया गया है। द्रव्यानुसार—

१. प्रमुख आहार—धान्य
२. अतिरिक्त —शाक फल हरित, मांस हरित
२. उपयोगी द्रव्य—दोनों के लिए
४. अनुपान —मद्य–मांसाहारी के निमित्त ।
—जल दुग्ध–शाकाहारी के निमित्त ।
५. आवश्यक घटक—शर्करा

प्रधान आहार धान्य को माना गया है। प्रथमतः शूकधान्य को मुख्य आहार माना गया है। इसके अन्तर्गत चावल, गेहूँ, जौ आदि से बने आहार आते हैं।

१. मुख्य आहार	चावल; गेहूँ, जौ आदि (प्रधान आहार)	शूकधान्य	अन्न (शाकाहारी व मांसाहारी दोनों के लिए)
	विभिन्न दालें	शमीधान्य	
२. अतिरिक्तद्रव्य (Additional)	विभिन्न सब्जियाँ	शाक वर्ग	
	विभिन्न फल	फलवर्ग	शाकाहारियों के निमित्त
	हरित (चटनी, अचार आदि के रूप में प्रयुक्त)	हरित वर्ग	
	मांस	मांसवर्ग	मांसाहारियों के निमित्त

३. सहायक द्रव्य	विभिन्न मसाले	आहारोपयोगी	शाकाहारी मांसाहारी दोनों के निमित्त
४. अनुपान	जल प्रमुख अनुपान	जलवर्ग	शाकाहारियों के निमित्त
	दुग्ध अतिरिक्त अनुपान	दुग्धवर्ग	
	मद्य अतिरिक्त अनुपान	मद्यवर्ग	आवश्यक अनुपान मांसाहारी के निमित्त
५. आवश्यक घटक	गुड़ शर्करा—इक्षुवर्ग (दोनों के लिए)		उचित, शाकाहारियों को आवश्यकतानुसार

इस प्रकार अन्नपान विधि में शरीर की आवश्यकता व उपयोगिता के आधार पर द्रव्यों का वर्णन किया गया है। इन वर्गों की उपादेयता यथास्थल दर्शायी गई है; यहाँ इनकी उपादेयता का आधार प्रस्तुत किया जा रहा है—

१. मुख्य आहार—मुख्य आहार में प्रायशः मधुर रस, मधुर-विपाक, शीत-वीर्य स्निग्ध, गुरु गुण वाले द्रव्यों को प्रशस्त कहा गया है। इसका तात्पर्य यह है कि मुख्य या प्रधान आहार सोम व पृथ्वी महाभूत की प्रधानता वाले द्रव्य हैं। क्योंकि कतिपय भिन्न विपाक वाले द्रव्यों (यव-कटु (सुश्रुत) व्रीहि धान्य (अम्ल, मधुर–भा० प्र०) का भी वीर्य शीत ही कहा गया है तथा मुख्य व्यवहार्य द्रव्य स्निग्ध गुण वाले हैं। इस प्रकार जो द्रव्य धातुओं की वृद्धि करने वाले हैं वे सोम व पृथ्वी प्रधान हैं, उन्हें प्रधान आहार माना गया है। कतिपय द्रव्य इसके अपवाद भी हो सकते हैं, पर अधिकतर द्रव्य उपर्युक्त गुण वाले ही हैं। अतः शूकधान्य को प्रधान घटक मानकर प्रथमतः उसका वर्णन किया गया है। शमीधान्य के द्रव्य भी प्रायः मधुर व कषाय रस वाले हैं। इनमें जल, पृथ्वी व वायु महाभूत की अधिकता होती है। इनका विपाक मधुर (अपवाद रूप में कुछ द्रव्यों को छोड़कर; जैसे—मूंग का रस कटु, वीर्य शीत; उड़द का उष्ण है ऐसे ही कुछ अन्य द्रव्य भी हो सकते हैं) है। इनका सेवन जब शूकधान्य के साथ किया जाता है तो ये शूकधान्य के स्निग्ध, स्थिरता आदि गुणों को कुछ कम करते हैं। क्योंकि कषाय रस में वायु महाभूत होने से अधिकतर शमीधान्य द्रव्य वात वृद्धि करते हैं। इस प्रकार पृथ्वी, जल व वायु महाभूत वाले धान्यों को प्रधान आहार माना गया है।

२. विभिन्न मांसों में प्रायः मधुर व कषाय रस हैं (कतिपय मांसों में कटु, अम्ल, रस भी है) विपाक व वीर्य में एकरूपता न होकर भिन्नता है अर्थात् कुछ मांस का विपाक मधुर तो कुछ का विपाक कटु है। वैसे ही कुछ मांस का वीर्य शीत है तो कुछ मांस का वीर्य उष्ण है। अतः मांस को मनुष्य के लिए अतिरिक्त आहार

द्रव्य के रूप में स्वीकार करना चाहिए। शारीरिक आवश्यकतानुसार इसका चयन करना चाहिए। तालिका में स्पष्ट कर दिया गया है कि आहार रूप में मांस का चयन स्वस्थावस्था में धातुओं की आवश्यकतानुसार तथा रुग्णावस्था में रोग के अनुसार करना चाहिए। विभिन्न शाकों के भी गुण-कर्म तालिका में प्रस्तुत किये गये हैं। प्राय: शाक वर्ग में छ: रसों वाले द्रव्यों का वर्णन किया गया है। इनके वीर्य, विपाकादि भी भिन्न हैं। इनके गुण-कर्मों का उल्लेख स्वस्थ व्यक्ति व रुग्ण दोनों की दृष्टि से किया गया है। अत: शाक को अतिरिक्त आहार कहा जा सकता है। इसका प्रयोग व्यक्तिविशेष, रोगविशेष, दोषविशेष आदि के आधार पर चयन कर किया जाता है। फलवर्ग में भी शाकवर्ग की तरह भिन्न-भिन्न रस, गुण, वीर्य, विपाकादि वाले द्रव्यों का संग्रह किया गया है। प्रत्येक फलों के गुण-कर्मों का निर्देश तालिका में प्रस्तुत किया गया है। इसका भी चयन व्यक्तिविशेष, दोषविशेष, रोगविशेष के अनुसार किया जाता है। इसी प्रकार हरितवर्ग में विभिन्न रस, गुण, वीर्य, विपाक वाले द्रव्यों का संग्रह है, जिसका चयन अवस्थानुसार किया जाता है। इस प्रकार मांस, शाक, फल, हरितवर्ग के द्रव्यों को अतिरिक्त आहार द्रव्य कहा जा सकता है।

३. आहारोपयोगी द्रव्यों को यहाँ सहायक आहार घटक कहा गया है। क्योंकि उपयोगी द्रव्य में विभिन्न मसाले व लवणों आदि का उल्लेख है। इन्हें सहायक आहार घटक इसलिए कहा जाता है कि ये मुख्य आहार या अतिरिक्त आहार को रुचिकारक बनाकर ग्रहण करने में सहायक होते हैं तथा आहार के पाचन आदि में प्रत्यक्षत: या परोक्षत: सहायता करते हैं। अत: इन्हें सहायक आहार-घटक कहा जा सकता है। जैसे—लवण, मरिच, शुण्ठी, लसुन, जीरक आदि। ये आहार द्रव्यों को रुच्य, मनोनुकूल बनाने से लेकर उनके पाचनादि तक किस प्रकार सहायता पहुँचा सकते हैं—यह तथ्य इनके गुणकर्मों से सम्बन्धित तालिका से स्पष्ट है।

४. **आवश्यक घटक शर्करा**—यहाँ विभिन्न ईक्षु विकारों व मधु को आवश्यक घटक कहा गया है। क्योंकि इसमें प्राय: सभी विकार मधुरता युक्त है। मुख्य आहार मधुर रस ही है, पर अतिरिक्त एवं सहायक द्रव्यों के अन्य रसों व नमक के आहार रूप में प्रयोग होने से स्वतंत्र रूप से मधुर की आवश्यकता होती है। क्योंकि लवण को 'सर्वरस प्रत्यनीकभूत:' कहा गया है। यदि बृंहणादि कर्म मुख्य आहार से ही पूर्ण होते हैं तो अलग से ईक्षु विकारों (शर्करादि) की आवश्यकता कम होती है। इसे आवश्यक घटक इस आधार पर कहा गया है कि इनमें विशेष गुण का चयन तो किया जा सकता है (जैसे—शहद का रूक्ष, चीनी-स्निग्ध आदि); पर इनमें मधुरता समान रूप से होती है।

५. अनुपान—जैसा कि शीर्षक से ही स्पष्ट होता है अनु व पान अर्थात् आहार के पश्चात् पान (पेय) लेना। पूर्व प्रकरण में अनुपान का भी विवेचन किया गया है। यह भी आहार का आवश्यक घटक है। जल सभी के लिए आवश्यक है। शाकाहारियों के लिए अतिरिक्त अनुपान दुग्ध तथा मांसाहारियों के लिए अतिरिक्त अनुपान मद्य उचित होता है।

उपर्युक्त विवेचन से अन्नपान विधि-विधान की उपादेयता की जानकारी प्राप्त होती है, जिससे कि जनसामान्य इसका अनुपालन करते हुये अपने स्वास्थ्य की रक्षा करने में समर्थ होते हैं।

अध्याय—१२

रस-द्रव्य-दोष व विकार-प्रभाववाद

रस-द्रव्य-दोष-विकार-प्रभाववाद का वर्णन चरकसंहिता, विमानस्थान के रस-विमानाध्याय में किया गया है। इस प्रकरण में आचार्य ने कहा है कि—'तस्माद्रस-प्रभावतश्च द्रव्यप्रभावतश्च दोषप्रभावतश्च तत्त्वमुपदेक्ष्यामः।'—च० वि० १।१२। अर्थात् रस-प्रभाव से, द्रव्य-प्रभाव से, दोष-प्रभाव से व विकार-प्रभाव से होने वाले तत्त्व का उपदेश करेंगे। इसके पूर्व आचार्य ने स्पष्ट किया है कि—'तथायुक्ते हि समुदये समुदायप्रभावतत्त्वमेवमेवोपलभ्य ततो द्रव्यविकारप्रभावतत्त्वं व्यवस्येत्'। अर्थात् इस प्रकार मिश्रित समुदाय में, समुदाय के प्रभाव के तत्त्व को जानकर बाद में द्रव्य व विकार-प्रभाव के तत्त्व को निश्चित करना चाहिए। इस प्रकार तत्त्व निश्चित करने के उद्देश्य से आचार्य ने चार प्रकार के प्रभाव का उल्लेख किया है। आयुर्वेद में कहा गया है कि—

'किंचिद्रसेन कुरुते कर्म वीर्येण चापरम्।
द्रव्यं गुणेन पाकेन प्रभावेण च किञ्चन'॥ (च० सू० २६।७१)

अर्थात् कुछ द्रव्य अपना कार्य रस द्वारा, कुछ द्रव्य वीर्य द्वारा, कुछ द्रव्य गुण द्वारा, कुछ द्रव्य विपाक द्वारा तथा कुछ प्रभाव द्वारा अपना कार्य करते हैं। प्रभाव शब्द का ग्रहण आयुर्वेद में विशिष्ट कर्म के रूप में किया गया है। परन्तु यहाँ रस-प्रभाव; द्रव्य-प्रभाव, दोष-प्रभाव व विकार-प्रभाव द्वारा तत्त्व-निर्णय का निर्देश दिया गया है। इसका तात्पर्य स्थूल रूप से यह समझा जा सकता है कि इन चारों के प्रभाव (अर्थात् विशिष्ट कर्म) क्या हैं तथा अपना प्रभाव किस रूप में प्रदर्शित करते हैं। रस-प्रभाव का वर्णन किया जा चुका है। रस-प्रभाव के अन्तर्गत रस व विपाक का ग्रहण किया जा सकता है; क्योंकि विपाक भी अग्नि क्रिया के उपरान्त रसों की अवस्था विशेष है; जिसका बिवेचन पूर्व में किया जा चुका है।

द्रव्य-प्रभाव—'द्रव्यप्रभावं पुनरुपदेक्ष्यामः। तैलसर्पिर्मधूनिवातपित्तश्लेष्मप्रशमनार्थानि द्रव्याणि भवन्ति।'—च० वि० २।१३। अर्थात् पुनः द्रव्य-प्रभाव का उपदेश करेगें। तैल, घृत व मधु क्रमशः द्रव्य-प्रभाव से वात, पित्त व कफ का शमन करते हैं। द्रव्य-प्रभाव का वर्णन द्रव्यगत गुणों के आधार पर किया गया है अर्थात् द्रव्य का प्रभाव द्रव्यगत गुणों के कारण कहा गया है। अतः गुण व वीर्य के क्रियाकर्तृत्व का समावेश द्रव्य-प्रभाव के अन्तर्गत किया जा सकता है। आचार्य द्वारा यहाँ तैल, घृत व मधु द्वारा वात, पित्त व कफ की प्रशमन प्रक्रिया वर्णित की गयी है। तथा द्रव्य-प्रभाव से सम्बन्धित सिद्धान्त प्रतिपादित किया गया है।

द्रव्य-प्रभाव सिद्धान्त—द्रव्य-प्रभाव सम्बन्धित सिद्धान्त प्रतिपादित करते हुए कहा गया है कि—'विरुद्धगुणसन्निपाते हि भूयसाऽल्पमवजीयते' अर्थात् विरुद्ध गुण वाले द्रव्यों का जब संयोग होता है या जब विरुद्ध गुणों का संयोग होता है तो जो अधिक शक्तिशाली होता है वह अल्प शक्ति पर विजय प्राप्त कर लेता है। इस सिद्धान्त के अनुसार—

तैल प्रभाव—'तत्र तैलं स्नेहौष्ण्यगौरवोपपन्नत्वाद्वातं जयति सततमभ्यस्यमानं, वातो हि रौक्ष्यशैत्यलाघवोपपन्नो विरुद्धगुणो भवति'''तस्मात्तैलं वातं जयति सततमभ्यस्यमानम्'। अर्थात् तैल में स्निग्धता, उष्णता, गुरुता आदि गुण होने के कारण जब इसका निरन्तर सेवन किया जाता है तो वायु का नाश इसके द्वारा होता है—क्योंकि वायु में रूक्ष, शीत व लघु गुण होता है। जब तैल का निरन्तर सेवन किया जाता है तो तैल की स्निग्धता से वायु की रूक्षता, उष्णता से शीतता व गुरुता से वायु के लघुता का शमन हो जाता है। इस प्रकार निरन्तर सेवन करने पर तैल के प्रभाव से वायु का शमन हो जाता है।

घृतप्रभाव—'सर्पि: खल्वेवमेव पित्तं जयति, माधुर्याच्छैत्यान्मन्दत्वाच्च, पित्तं ह्यमधुरमुष्णं तीक्ष्णं च'। अर्थात् घृत मधुर, शीतल व मन्द होने के कारण पित्त-शामक है क्योंकि पित्त अमधुर, उष्ण व तीक्ष्ण होता है। घृत की मधुरता से पित्त की अम्लता व कटुता का, घृत की शीतलता से पित्त की उष्णता का तथा घृत की मन्दता से पित्त की तीक्ष्णता का शमन हो जाता है। इसी प्रकार—

मधुप्रभाव—'मधुं च श्लेष्माणं जयति, रौक्ष्यात् तैक्ष्ण्यात् कषायत्वाच्च, श्लेष्मा हि स्निग्धो मन्दो मधुरश्च।' अर्थात् मधु द्वारा श्लेष्मा का शमन होता है; क्योंकि मधु रूक्ष, तीक्ष्ण व कषाय होता है जबकि श्लेष्मा स्निग्ध, मन्द व मधुर होता है। इस प्रकार मधु की रूक्षता श्लेष्मा की स्निग्धता का, मधु की तीक्ष्णता श्लेष्मा की मन्दता का एवं मधु की कषायता श्लेष्मा की मधुरता का नाश करने वाला होता है।

इस प्रकार आचार्य उपर्युक्त उदाहरणों द्वारा द्रव्य-प्रभाव को स्पष्ट करते हुए, उपसंहार रूप में कहते हैं कि—'यच्चान्यदपि किञ्चिद् द्रव्यमेवं वातपित्तकफेभ्यो गुणतो विपरीतं स्यात्तच्चैतान्जयत्यभ्यस्यमानम्।'—च० वि० २।१४। अर्थात् उपर्युक्त आधार पर (जिस प्रकार तैल, घृत, मधु के द्वारा वात, पित्त व कफ की शमन-प्रक्रिया बतलाई गई है) अन्य जो कोई भी द्रव्य वात, पित्त व कफ के गुणों से विपरीत गुण वाला होता है, उसका सतत अर्थात् निरन्तर अभ्यास करने पर वह द्रव्य वात, पित्त, कफ का शमन करता है। द्रव्य-प्रभाव का निर्देश देते हुए कहा गया है कि वात, पित्त कफ के गुणों के विपरीत गुण वाले द्रव्य का जब निरन्तर अभ्यास किया जाता है तो दोषों का शमन सम्पन्न होता है।

दोष-प्रभाव व विकार-प्रभाव—द्रव्य-प्रभाव में उन द्रव्यों को उदाहरणार्थ प्रस्तुत

किया गया है, जिनका लगातार सेवन करने से वात, पित्त, कफ की वृद्धि नहीं हो पाती है। ये तीनों अपने प्राकृतावस्था में रहकर अपने प्राकृत कर्मों द्वारा शरीर व शरीरगत भावों को धारण करते हैं। अतः उन द्रव्यों का सतत अभ्यास अर्थात् लगातार प्रयोग करने का निर्देश दिया गया है तथा दैनिक आहार में प्रायशः विभिन्न कल्पनाओं के माध्यम से इनका प्रयोग भी किया जाता है। कतिपय ऐसे द्रव्य हैं जिनका प्रयोग दैनिक जीवन में सतत किया जाता है, परन्तु उन द्रव्यों का शरीर पर दोष-प्रभाव या विकार-प्रभाव भी परिलक्षित होते हैं। अर्थात् ऐसे द्रव्यों के लगातार सेवन करने से शरीर व स्वास्थ्य पर हानिकर प्रभाव पड़ता है। जिस प्रकार सतत प्रयोग करने योग्य तीन द्रव्यों का दोषानुसार निर्देश दिया गया है, उसी प्रकार दोष व विकार-प्रभाव वाले तीन द्रव्यों को वर्जित किया गया है अर्थात् उदाहरणार्थ तीन वर्जित द्रव्यों का लगातार सेवन नहीं करना चाहिए। इन द्रव्यों के लगातार सेवन करने से किस प्रकार इनका दोष व विकार-प्रभाव परिलक्षित होता है, इसका भी निर्देश दिया गया है।

वर्जित द्रव्य—'अथ खलु त्रीणि द्रव्याणि नात्युपयुञ्जीताधिकमन्येभ्यो द्रव्येभ्यः, तद्यथा पिप्पली, क्षारः लवणमिति।'—च० वि० १।१५। अर्थात् अन्य द्रव्यों की अपेक्षा तीन द्रव्यों का अधिक मात्रा में प्रयोग नहीं करना चाहिए। ये तीन द्रव्य निम्न हैं—१. पिप्पली, २. क्षार, और ३. लवण। चूंकि इन द्रव्यों का प्रायः दैनिक जीवन में प्रयोग सतत रूप में किया जाता है परन्तु ये दोष व विकार-प्रभाव वाले होते हैं अतः कहा गया है कि इनका प्रयोग अधिक मात्रा में नहीं करना चाहिए। इसके बाद इन द्रव्यों के दोष व विकार-प्रभाव प्रक्रिया को स्पष्ट किया गया है।

१. पिप्पली की दोष-विकार-प्रभाव प्रक्रिया—आचार्य प्रथमतः पिप्पली का गुणात्मक व कर्मात्मक परिचय देते हुए कहते हैं कि—'पिप्पल्यो हि कटुकाः सत्यो मधुरविपाका गुर्व्यो नात्यर्थं स्निग्धोष्णाः प्रक्लेदिन्यो भेषजाभिमताश्च ताः सद्यः शुभाशुभकारिण्यो भवन्तिः, आपातभद्राः प्रयोगसमसादगुण्यात्'—अर्थात् पिप्पली रस में कटु होती है, परन्तु रस कटु होते हुए भी इसका विपाक मधुर तथा गुण गुरु होता है। यह अधिक स्निग्ध नहीं होती और न ही अति उष्ण गुण वाली होती है। अर्थात् यह किञ्चित् स्निग्ध व किञ्चित् उष्ण गुण वाली होती है। यह क्लेदोत्पादक होती है। वैद्य प्रायशः अपनी चिकित्सा में इसका प्रयोग करते हैं पिप्पली की विशेषता यह है कि इसका प्रयोग करने पर यह शीघ्र ही शुभ व अशुभ दोनों प्रकार के फल देने वाली है। यदि इसका सम्यक् रूपेण यथोचित मात्रा में प्रयोग किया जाता है तो यह शुभ फलदायक है तथा जब इसका प्रयोग अधिक व असम्यक् रूपेण किया जाता है तो यह अशुभ फल देने वाली होती है। क्योंकि 'प्रयोगसमसादगुण्यात्' की टीका करते हुए आचार्य चक्रपाणिदत्त ने कहा है कि—

'प्रयोगसमसाद्गुण्यादिति समस्यप्रयोगस्य सद्गुणत्वात्, समेऽल्पकालेऽल्पमात्रे च पिप्पल्यः प्रयोगे सद्गुणा भवन्तीत्यर्थः' । अर्थात् जब पिप्पली का प्रयोग अल्प काल तक अल्पमात्रा में किया जाता है तो इसके शुभ लक्षण परिलक्षित होते हैं। अधिक मात्रा में अधिक काल तक इसका प्रयोग करने से इसका दोष व विकार-प्रभाव परिलक्षित होता है । यह सिद्धान्त या निर्देश सामान्य व्यक्तियों के लिए है परन्तु जिन रोगों में पिप्पली सेवन का विधान जिस रूप में किया गया है, तदनुसार ही सेवन करना चाहिए । आचार्य चक्रपाणिदत्त का मत यही है कि अन्न संस्कार में सतत रूप में पिप्पली का प्रयोग नहीं करना चाहिए परन्तु स्वतंत्र रूप से पिप्पली का औषधीय प्रयोग किया जा सकता है । समसाद्गुण्य होने से अर्थात् अल्पकाल तक सममात्रा में या अल्पमात्रा में थोड़े समय तक प्रयोग करने से यह कुछ समय तक शुभ फल देती है । ज्यों ही हानिकर प्रभाव दृष्टिगत हो इसका प्रयोग रोक देना चाहिये ।

यदि पिप्पली का सेवन अधिक मात्रा में व सतत रूप में यानि निरन्तर किया जाता है तो शरीर में दोषों का संचय होना प्रारम्भ हो जाता है । इस सम्बन्ध में आचार्य का कथन है कि—'दोषसञ्चयानुबन्धः—सततमुपयुज्यमाना हि गुरुप्रक्लेदित्वाच्छ्लेष्माणमुत्क्लेशयन्ति, औष्ण्यात् पित्तं, न च वातप्रशमनायोपकल्पन्तेऽल्पस्नेहोष्णभावात्; योगवाहिन्यस्तु खलु भवन्ति; तस्मात् पिप्पलीर्नात्युपयुञ्जीत ।'—च० वि० २।१६ । अर्थात् यदि इसका निरन्तर सेवन किया जाता है तो शरीर में दोष का सञ्चय होता है । दोष-प्रभाव को स्पष्ट करते हुए आचार्य कहते हैं कि—पिप्पली के निरन्तर सेवन करने से व अधिक मात्रा में सेवन करने से, पाक में गुरु होने के कारण तथा क्लेदोत्पादक होने के कारण कफ का उत्क्लेश होता है तथा इसके उष्ण होने के कारण समान गुणधर्मी पित्त का उत्क्लेश होता है । चूंकि इसमें स्निग्धता व उष्णता किञ्चित् मात्रा में अर्थात् अल्प होती है अतः पिप्पली पूर्णरूपेण वात-शमन करने में भी समर्थ नहीं होती है । इस प्रकार पिप्पली का दोष-प्रभाव होकर कफ व पित्त का संचय होता है तथा वायु का भी शमन नहीं हो पाता है । अब प्रश्न यह है कि जब पिप्पली का इस प्रकार का दोष-प्रभाव होता है तो फिर इसका प्रयोग क्यों किया जाता है । इसके समाधान हेतु कहा गया है कि—'योगवाहिन्यस्तु खलु भवन्ति; तस्मात् पिप्पलीर्नात्युपयुञ्जीत'—अर्थात् पिप्पली योगवाहि होती है अर्थात् जिस द्रव्य में इसको मिश्रित किया जाता है, उस द्रव्य के गुण का वहन करने वाली होती है अतः पिप्पली का स्वतंत्र रूप में अर्थात् अकेले अधिक मात्रा में प्रयोग न कर किसी अन्य उपयोगी द्रव्य के साथ अल्प मात्रा में करना चाहिए ।

क्षार की दोष-विकार-प्रभाव प्रक्रिया—पिप्पली के बाद आचार्य ने क्षार के दोष व विकार-प्रभाव प्रक्रिया का वर्णन किया है । क्षार के सम्बन्ध में उनका कथन है कि—'क्षारः पुनरौष्ण्यतैक्ष्ण्यलाघवोपपन्नः क्लेदयत्यादौ पश्चाद्विशोषयति, स पचनदहन-

भेदनार्थमुपयुज्यते'—अर्थात् क्षार में उष्ण, तीक्ष्ण व लघु गुण होता है। यह अपने उष्णता, तीक्ष्णता व लघुता के कारण प्रथमतः क्लेद की उत्पत्ति करता है, परन्तु क्लेदोत्पादन के बाद शोषण कर्म करने वाला होता है। इन गुण-विशिष्टताओं के आधार पर चिकित्सा में इसका प्रयोग पाचन, दहन व भेदन कर्म के लिए किया जाता है। क्षार का प्रयोग बाह्य व आभ्यन्तर दो प्रकार से होता है पर उसकी कार्मुकता पाचन, दहनादि ही होती है। आभ्यन्तर रूप में या बाह्यरूप में प्रयुक्त क्षार पाचनादि कर्म करने वाला है। बाह्यरूप में प्रयुक्त क्षार व्रणादि का पाचन करता है तथा अन्तःप्रयुक्त क्षार दोष, आहारादि का पाचन करता है। यह दाहोत्पादक होता है। इसका चिकित्सा में प्रयोग दहनकर्म (दग्ध करने) हेतु किया जाता है। यह अपनी तीक्ष्णता से व्रणादि या दोषों का भेदन करता है; अतः चिकित्सा में इसका प्रयोग पाचन, दहन व भेदन कर्म करने के लिए किया जाता है।

यदि इसका प्रयोग सतत रूप में व अधिक मात्रा में किया जाता है तो—'सोऽतिप्रयुज्यमानः केशाक्षिहृदयपुंस्त्वोपघातकरः संपद्यते' अर्थात् वह केश, दृष्टि, हृदय और पुंस्त्वशक्ति का नाश करता है। क्षार अपनी उष्णता, तीक्ष्णता व लघुता के कारण हानिकर प्रभाव डालता है।

क्षार के अतिशय मात्रा में प्रयोग करने से उत्पन्न होने वाले विकारों के सम्बन्ध में आचार्य कहते हैं कि—'येह्येनं ग्रामनगरनिगमजनपदाः सततमुपयुञ्जते त आन्ध्य-पाण्ढ्यखालित्यपालित्यभाजो हृदयापकर्त्तिनश्च भवन्ति—तद्यथा—प्राच्याश्चीनाश्च; तस्मात् क्षारं नात्युपयुञ्जीत।'—च० वि० २।१७। अर्थात् जो ग्राम, नगर, निगम बासी क्षार का निरन्तर रूप में अधिक मात्रा में प्रयोग करते हैं वे प्राणी अन्धता, नपुंसकता, खालित्य-पालित्य से पीड़ित होते हैं तथा उनके हृदय में कैंची से काटने जैसी पीड़ा होती है। क्षार की उष्णता, तीक्ष्णता से पित्त का एवं लघुता से वात का सञ्चय होता है एवं कफ के विपरीत गुण वाला होने से कफ व कफवर्गीय द्रव्यों का क्षय होता है। इसलिए अधिक क्षार प्रयोग करने से पित्तज व वातज विकार उत्पन्न होते हैं। आहार में विशिष्ट द्रव्यों का प्रयोग ग्राम, नगर, निगम (नगर का विशेष भाग) व जनपद स्तर पर किया जाता है। जैसे—आधुनिक काल में भी दक्षिण भारत में अम्ल व कटु रस का, बङ्गाल में चावल व मछली का प्रयोग प्रदेश व क्षेत्र स्तर पर होता है। इसी परिप्रेक्ष्य में कहा गया है कि—जिस क्षेत्र के लोग क्षार का अधिक मात्रा में निरन्तर प्रयोग करते हैं, वे उपर्युक्त विकारों से ग्रसित होते हैं। यथा—प्राच्य देशवासी (आसाम, बङ्गाल आदि), चीन देशवासी आदि। अतः क्षार का प्रयोग निरन्तर व अधिक मात्रा में नहीं करना चाहिए।

लवण की दोष-बिकार-प्रभाव प्रक्रिया—लवण आहार घटकों में से एक आवश्यक आहार घटक है। दैनिक जीवन में इसका प्रयोग सतत रूप में अर्थात् निरन्तर किया

जाता है। परन्तु इसका प्रयोग अधिक मात्रा में नहीं करना चाहिए। आचार्य प्रथमतः लवण के गुण-कर्मों का उल्लेख करते हुए कहते हैं—'लवणं पुनरौष्ण्यतैक्ष्ण्योपपन्नम्; अनतिगुरु, अनतिस्निग्धम्, उपक्लेदि, विस्रंसनसमर्थम्, अन्नद्रव्यरुचिकरम्, आपातभद्रं प्रयोगसमसादगुण्यात्, दोषसंचयानुबन्धं, तद्रोचनपाचने विक्लेदनविस्रंसनार्थमुपयुज्यते'। अर्थात् लवण उष्ण व तीक्ष्ण गुण वाला होता है। वह अतिगुरु नहीं होता है और न ही अतिस्निग्ध होता है। अर्थात् यह किञ्चित् गुरु व स्निग्ध गुण वाला होता है। यह क्लेदोत्पादक होता है तथा स्रंसन कर्म करने वाला (दोषों को बाहर निकालने वाला) होता है। इसका प्रयोग दैनिक जीवन में सतत रूप में किया जाता है; क्योंकि यह अन्न द्रव्यों या आहार द्रव्यों में रुचि उत्पन्न करने वाला होता है। जब इसका प्रयोग अल्पकाल तक या अल्पमात्रा में किया जाता है तो तत्काल ही कल्याणकारक फल देने वाला होता है अर्थात् शरीर व स्वास्थ्य के लिए लाभदायक होता है तथा इसका अधिक मात्रा में अधिक काल तक प्रयोग किया जाता है तो दोषों का संचय करने वाला होता है। इसका दैनिक जीवन या चिकित्सा में प्रयोग रोचन (अन्नादि या आहारादि में रुचि उत्पन्न करने के लिए) कर्म हेतु, पाचन कर्म हेतु (अन्नादि के पाचन हेतु), उपक्लेदन व स्रंसन कर्म (दोषों को बाहर निकालने हेतु) के लिए किया जाता है।

'तदत्यर्थमुपयुज्यमानं ग्लानिशैथिल्यदौर्बल्यादिभिनिर्वृत्तिकरं शरीरस्य भवति'—अर्थात् जब अधिक मात्रा में लवण का सेवन किया जाता है तो शरीर व मन में ग्लानि की उत्पत्ति होती है। शरीर में शिथिलता आती है तथा दुर्बलता उत्पन्न होती है। आचार्य का लवणाधिक्य आहार सेवन से उत्पन्न विकारों के सम्बन्ध में कहना है कि—'ये ह्येतद्ग्रामनगरनिगमजनपदाः सततमुपयुञ्जते ते भूयिष्ठं ग्लास्नवः शिथिलमांसशोणिता अपरिक्लेशसहाश्च भवन्ति' अर्थात् जिस ग्राम या नगर या निगम या जनपद के वासी लवण का सेवन अत्यधिक काल तक या अत्यधिक मात्रा में करते हैं वे अत्यधिक रूप में ग्लानि से पीड़ित रहते हैं, उनके अन्दर कार्योत्साह अपेक्षाकृत कम होता है। उनके शरीर के अन्दर मांस व रक्त में शिथिलता होती है अर्थात् उनके मांस और रक्त शिथिल पड़ जाते हैं जिससे कि रक्त और मांस का शरीर में प्राकृत कर्म नहीं हो पाता। तथा वे क्लेश अर्थात् विभिन्न प्रकार के दुःखों को सहन करने में अक्षम होते हैं। इस प्रकार लवण रस के अत्यधिक सेवन करने से शारीरिक व मानसिक दोनों प्रकार की शिथिलता व्याप्त हो जाती है। शारीरिक रूप से शिथिलता का प्रभाव मांस और रक्त धातु पर विशेष रूप से पड़ता है। यहाँ 'अपरिक्लेशसहाश्च' से क्लेश सहन करने की अक्षमता अर्थ ग्रहण किया जाता है। परन्तु इसका अभिप्राय क्या समझा जाय यह विचारणीय है। यहाँ क्लेश का अर्थ शारीरिक या मानसिक विभिन्न प्रकार का दुःख है, परन्तु लोक व्यवहार में क्लेश

का अर्थ विभिन्न प्रकार के मानसिक दुःख का अनुभव करना लगाया जाता है। विभिन्न व्याधियों के कष्ट को सहन करने की शक्ति नहीं रह जाती है, अतः क्लेश का अर्थ विभिन्न प्रकार के कष्ट को ग्रहण किया जा सकता है। अधिक लवण सेवन करने से कष्ट सहने की क्षमता नहीं रह जाती है। विभिन्न प्रकार के कष्ट शरीर व मन को शीघ्र ही प्रभावित करते हैं तथा उससे विभिन्न प्रकार की व्याधियाँ उत्पन्न होती हैं।

पुनः आचार्य देश-विशेष के अनुसार अधिक लवण सेवन के दुष्परिणामों को इंगित करते हुए कहते हैं कि—'तद्यथा-बाह्लीकसौराष्ट्रिकसैन्धवसौवीरकाः, ते हि पयसाऽपि सह लवणमश्नन्ति। येऽपीह भूमेरत्यूषरा देशास्तेष्वोषधिवीरुदवनस्पति-वानस्पत्या न जायन्तेऽल्पतेजसो वा भवन्ति, लवणोपहतत्वात्। तस्माल्लवणं नात्युप-युञ्जीत। ये ह्यतिलवणसात्म्याः पुरुषास्तेषामपि खालित्यपालित्यानि वलयश्चाकाले भवन्ति।'—च० वि० २।१८।

अर्थात् बाह्लीक देश के निवासी, सौराष्ट्र (गुजरात) के निवासी, सिन्ध व सौवीर प्रदेश के निवासी लवण का सेवन अत्यधिक मात्रा में करते हैं। ये दुग्ध के साथ भी लवण का प्रयोग करते हैं। आचार्य अत्यधिक लवण-सेवन करने से होने वाली हानियों के सम्बन्ध में उदाहरण द्वारा स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि—इस संसार में जिस भूमि में लवणाधिक्य होता है वह भूमि ऊसर होती है। ऐसे भूमि वाले स्थान में लवण अधिक होने के कारण लवण से अपहत होने से औषध, वीरुध, वनस्पति या वानस्पत्य आदि उत्पन्न नहीं हो पाते हैं अर्थात् जिस भूमि में लवण अधिक रहता है, उस भूमि में किसी प्रकार की वनस्पतियों की उत्पत्ति नहीं होती। यदि वनस्पति आदि उत्पन्न होते भी हैं तो वे अल्प तेज वाले होते हैं अर्थात् उनकी क्रियाशीलता कम होती है। अतः लवण का अतिमात्रा में सेवन नहीं करना चाहिए। जो मनुष्य लवण का अधिक मात्रा में सेवन कर उसे अपनी प्रकृति के अनुकूल वना लिए हैं, उन्हें भी अकाल में खालित्य (बालों का झड़ना या गिर जाना), पालित्य (बालों का पकना), इन्द्रलुप्त आदि विकार उत्पन्न हो जाते हैं।

वर्जित द्रव्यों के त्याग की विधि—जिस द्रव्य को अभ्यास द्वारा अपनी प्रकृति के अनुकूल कर लिया जाता है अर्थात् सात्म्य कर लिया जाता है, उसका त्याग क्रमशः करना चाहिए। इस सम्बन्ध में आचार्य का स्पष्ट निर्देश है कि—'तस्मात्तेषां तत्सात्म्यतः क्रमेणापगमनं श्रेयः। सात्म्यमपि हि क्रमेणोपनिवर्त्यमानमदोषमल्पदोषं वा भवति'—अर्थात् पिप्पली, क्षार, लवणादि या अन्य कोई द्रव्य जिन व्यक्तियों में सतत रूप में सेवन करने के कारण सात्म्य हो गया है अर्थात् प्रकृति के अनुकूल हो गया है, उनके लिए इन सात्म्य द्रव्यों का क्रम से ही त्याग करना लाभदायक एवं कल्याणकारक होता है, क्योंकि सात्म्य हुई वस्तुओं का क्रम से त्याग करने पर अल्प

दोष ही उत्पन्न होते हैं। अतः सात्म्य वस्तुओं का त्याग क्रम से करना चाहिए। क्रमशः त्याग करने से सम्बन्धित नियम व विधि का उल्लेख च० सू० ७।३६-३७ में निम्न रूप में किया गया है—

'उचितादहिताद्धीमान् क्रमशो विरमेन्नरः।
हितं क्रमेण सेवेत क्रमश्चात्रोपदिश्यते ॥
प्रक्षेपापचये ताभ्यां क्रमः पादांशिको भवेत्।
एकान्तरं ततश्चोर्ध्वं द्व्यन्तरं त्र्यन्तरं तथा ॥'

(च० सू० ७।३६-३७)

अर्थात् बुद्धिमान् मनुष्यों के लिए लाभदायक यह होता है कि—जब किसी अहितकर द्रव्य का लगातार सेवन करने से वह सात्म्य यानि प्रकृति के अनुकूल हो जाय तो उस सात्म्य अहितकर वस्तु का क्रमशः त्याग करना चाहिए। उस अहितकर सात्म्य वस्तु के स्थान पर किसी हितकर वस्तु को सात्म्य करना चाहिए। जिस हितकर वस्तु को सात्म्य करना हो उसका सेवन भी क्रमशः ही करना चाहिए। इसके बाद अहितकर वस्तुजों के क्रमशः त्याग व हितकर वस्तुओं के क्रमशः सेवन करने के निर्देश दिये हैं। अहितकर वस्तुओं के अपचय अर्थात् त्याग करने में तथा हितकर वस्तुओं के सात्म्य करने के लिए पादांशिक क्रम अपनाना चाहिए। पादांशिक क्रम में वस्तुओं का सेवन व त्याग एक दिन बाद, दो दिन बाद व तीन दिनों बाद क्रमानुसार करना चाहिए। इस प्रकार अहितकर वस्तुओं का त्याग क्रमशः एक, दो व तीन दिन के अन्तर से करना चाहिए। पादांशिक क्रम के सम्बन्ध में कहा गया है कि—'पाद एव अंशः पादांशः, तस्य भावः पादांशिकः अथवा पादश्चतुर्थो भागस्तद्रूपषोडशः पादांशः; तेन कृतः क्रम पादांशिकाः।' अर्थात् अहितकर वस्तुओं के चौथाई भाग का क्रमशः त्याग करना चाहिए तथा हितकर वस्तुओं का चौथाई भाग शुरु कर क्रमशः बढ़ाते हुए सात्म्य करना चाहिए।

रस-द्रव्य-दोष-विकार-प्रभाववाद की उपादेयता

आयुर्वेद में द्रव्य की क्रिया प्रणाली के सम्बन्ध में कहा गया है कि द्रव्य कहीं रस से, कहीं वीर्य से, कहीं गुण से, कहीं विपाक से तथा कहीं प्रभाव से कार्य करते हैं। परन्तु विमान स्थान के रसविमानाध्याय में द्रव्य की विशिष्ट क्रिया प्रणाली का उल्लेख किया गया है। इसमें द्रव्य की विशिष्ट क्रिया प्रणाली को प्रभाव कहकर चार प्रकार से इसके विशिष्ट कर्मों की क्रिया विधि का विस्तृत वर्णन किया गया है। रस प्रभाव या रस की क्रिया प्रणाली की उपादेयता पर विचार पूर्व में ही रस प्रकरण में किया जा चुका है। द्रव्य प्रभाव द्वारा उनके गुणों द्वारा वात, पित्त, कफ की शमन प्रक्रिया को स्पष्ट किया गया है तथा यह निर्देश दिया गया है कि इन द्रव्यों (तैल, घृत, मधु) का सतत अभ्यास करना चाहिए ताकि स्वास्थ्य का अनु-

वर्त्तन होता रहे; क्योंकि कहा गया है कि—प्रतिदिन उन्हीं द्रव्यों का सेवन या अभ्यास करना चाहिए जो स्वास्थ्य का अनुवर्त्तन करे तथा जो रोग उत्पन्न नहीं हुए हैं; उनको उत्पन्न न होने दें —

'तच्च नित्यं प्रयुञ्जीत स्वास्थ्यं येनानुवर्त्तते ।
अजातानां विकाराणामनुत्पत्तिकरं च यत् ॥'

(च० सू० ५।१३)

द्रव्य प्रभाव की इस सन्दर्भ में उपादेयता यह है कि—द्रव्य प्रभाव द्वारा स्पष्ट किया गया है कि प्रतिदिन सतत रूप में उन द्रव्यों का सेवन करना चाहिए जो वात पित्त, कफ के विपरीत गुण वाले हैं—'यच्चान्यदपि किञ्चिद् द्रव्यमेवं वातपित्तकफेभ्यो गुणतो विपरीतं स्यात्तच्चैताञ्जयत्यभ्यस्यमानम् ।'—च० वि० १।१४ । इसी प्रकार दोष व विकार प्रभाव का ज्ञान भी अति उपादेय है । क्योंकि कतिपय ऐसे द्रव्य हैं, जिनके सतत प्रयोग करने से शरीर पर हानिकर प्रभाव होता है । अतः ऐसे द्रव्यों का प्रयोग अल्पकाल तक अल्पमात्रा में करना चाहिए जिससे उनके द्वारा उत्पन्न हानियों से बचा जा सके । ऐसे द्रव्यों द्वारा शरीर में किस प्रकार दोष का संचय या विकारोत्पत्ति होती है, इस तथ्य को उद्घाटित किया गया है । इस प्रकार इस अवधारणा की उपादेयता यह है कि ऐसे द्रव्यों को सात्म्य नहीं करना चाहिए जो अधिक काल तक या सतत रूप में सेवन करने से हानिकर प्रभाव करने वाले हों । तीन द्रव्यों का उदाहरण देकर इस तथ्य को स्पष्ट किया गया है । इसकी दूसरी उपादेयता यह है कि औषध द्रव्य का सेवन यथाकाल व यथोचित रूप में ही करना चाहिए ।

जनसामान्य में एक मान्यता है कि आयुर्वेद वर्णित-औषधियाँ निरापद होती हैं । यह मान्यता सत्य के निकट भी है, परन्तु—

'योगादपि विषं तीक्ष्णमुत्तमं भेषजं भवेत् ।
भेषजं चापि दुर्युक्तं तीक्ष्णं संपद्यते विषम् ॥

(च० सू० १।१२७)

अर्थात् सम मात्रा व यथोचित रूप से प्रयोग करने पर विष भी औषध सदृश कार्य करता है तथा अतिमात्रा में या असम्यक् रूप से प्रयोग करने पर औषध भी विष हो जाती है ।

इसके अतिरिक्त इस अवधारणा में यह भी स्पष्ट किया गया है कि अहितकर वस्तु सात्म्य कर लेने पर भी तत्काल तो हानिकर नहीं दिखाई पड़ती है, परन्तु सतत रूप से उसका सेवन करने पर उसके दोष व विकार-प्रभाव निश्चित रूप से परिलक्षित होते हैं । यथा—सात्म्य की गई पिप्पली, क्षार व लवण का दोष प्रभाव निश्चित रूप से परिलक्षित होता है । अतः इस तथ्य की जानकारी हो जाने पर अर्थात्

सात्म्य अहितकर वस्तुओं के दोष-प्रभाव विकार-प्रभाव जानकर उसका त्याग किया जा सकता है ।

इस अवधारणा में यह निर्देश दिया गया है कि अहितकर वस्तुओं का त्याग सहसा न कर क्रमशः करना चाहिए; अन्यथा इससे हानि होने की सम्भावना रहती है; क्योंकि अहितकर वस्तुओं के सहसा त्याग करये से असात्म्यज व्याधियाँ उत्पन्न हो जाती है—'असात्म्यजा हि रोगाः स्यु सहसा त्यागशीलनात्' । इस प्रकार यह अवधारणा अति उपादेय है ।

इस प्रकार रस-द्रव्य-दोष-विकार-प्रभाववाद का सिद्धान्त अति उपादेय है । यहाँ इसकी उपादेयता का निर्देश मात्र दिया गया है ।

अध्याय—१३
भिषग्वादमार्ग

ज्ञान विज्ञान की चरमोपलब्धि प्राप्त महर्षि आत्रेय के उपदेशों का संग्रह, अग्नि-विकारों के चिकित्सा-विशेषज्ञ ऋषि अग्निवेश ने किया, जिसका प्रसार व प्रचार आयुर्वेद के सम्यक् ज्ञान की चरम पराकाष्ठा को प्राप्त कर आचार्य चरक ने यत्र-तत्र भ्रमण करते हुये रोगपीड़ित जनसमुदाय के रोगों का निवारण करते हुये तज्जन्य अनुभवों के ज्ञानों का संकलन व उसका स्पष्टीकरण चरक-संहिता के रूप में प्रस्तुत किया है। इस ज्ञान, विज्ञान के माध्यम से ब्रह्मज्ञानी महर्षियों द्वारा ज्ञान प्राप्त करने के तीन उपाय बतलाये गये हैं। इसके द्वारा निर्देशित उपाय आयुर्वेद के सन्दर्भ में ही कहे गये हैं क्योंकि आयुर्वेद सुखी व हितकर जीवन से सम्बन्धित सभी विषयों का विज्ञान है। अतः वे उपाय आयुर्वेद के ज्ञान के चरम लक्ष्य को प्राप्त कराने वाले हैं। वे उपाय मात्र आयुर्वेद-ज्ञान के लिए ही नहीं, बल्कि अन्य सभी प्रकार के जनोपयोगी ज्ञान की उपलब्धि कराने वाले हैं। उन उपायों को प्रस्तुत करते हुए आचार्य चरक कहते हैं—

'तत्रोपायाननुव्याख्यास्यामः—अध्ययनम् अध्यापनं तद्विद्यसंभाषा चेत्युपायाः।' शास्त्रों का कुशलतापूर्वक ज्ञान प्राप्त करना अथवा शास्त्रों में दृढ़ता हेतु (यहाँ शास्त्र-दृढ़ता का तात्पर्य शास्त्र के विषयों की अवधारणा, अभिप्रायादि के स्पष्ट ज्ञान हेतु) तीन उपायों की व्याख्या की जा रही है। ये उपाय हैं—अध्ययन, अध्यापन तथा तद्विद्यसम्भाषा। इन ज्ञानोपायों में तद्विद्य सम्भाषा का चरकसंहिता में विस्तृत वर्णन किया गया है। इस सम्भाषा में विजय कामना से विद्वज्जन अधिकाधिक अध्ययन करके वादविवाद द्वारा ज्ञानार्जन करते हैं। आचार्य ने समाज मनोविज्ञान का व्यावहारिक स्वरूप प्रदर्शित करते हुए सम्भाषा में विजय प्राप्त करना ही चरम लक्ष्य निर्धारित किया है। सम्भाषा में विजय प्राप्त करना ज्ञान प्राप्त करने का उत्प्रेरक होता है, जबकि हार जाना नये-नये ज्ञान प्राप्त करने के प्रति उदासीनता उत्पन्न कर सकता है। सम्भवतः इन्हीं तथ्यों को दृष्टिगत रखते हुये परमयोगी आचार्य चरक ने भी सम्भाषा में विजय प्राप्त करने के विभिन्न उपायों का उल्लेख किया है। विजय प्राप्त करने हेतु आचार्य निर्देश देते हैं कि—'एवं प्रवृत्ते वादे कुर्याद'—अर्थात् वाद प्रारम्भ हो जाने पर ऐसा करें। इसके बाद 'वाद प्रारम्भ होने पर क्या करें, उसका निर्देश किये हैं 'प्रागेच तावदिदं कर्त्तुं यतेत्'—अर्थात् सभासदों को पहले से अनुकूल रखें। इसके बाद आचार्य वाद प्रारम्भ करने की घोषणा करने का निर्देश देते हैं। घोषणा का प्रारूप प्रस्तुत करते हुए आचार्य ने कहा है कि—वाद प्रारम्भ करते हुए

यह कहें कि—'एषैव ते परिषद्यथेष्टं यथायोगं यथाभिप्रायं वादं वादमर्यादां च स्थापयिष्यतीत्युक्त्वा तूष्णीमासीत् ।' अर्थात् वाद किस विषय पर होगा यह मैं नहीं कह सकता, यह सभा अपनी इच्छानुसार, योग्यता के अनुसार और अभिप्राय के अनुसार वाद और वादमर्यादा में निर्णय करेगी। यह कहकर चुप हो जाना चाहिए। परन्तु इस घोषणा करने से पूर्व ही वे निर्देश देते हैं कि—घोषणा करने के पूर्व व सभारम्भ से पूर्व ही प्रयत्न करके सभा में उपस्थित होने वाले प्रतिष्ठित व्यक्तियों को सन्धि द्वारा अपने पक्ष में कर लेना चाहिए। पक्ष में करने के बाद अपने बार-बार अभ्यास किये गये प्रकरण को अथवा जो विषय विपक्षी के लिए कठिन हो वही विषय अपने पक्ष में किये गये प्रतिष्ठित व्यक्तियों द्वारा वाद हेतु निर्धारित कराना चाहिए। यदि यह सम्भव नहीं हो सकता है तो फिर ऐसा कोई उपाय प्रयुक्त करना चाहिए, जिससे समस्त सभा विपक्षी के प्रतिकूल हो जाय तथा वे समस्त सभासद अपने पक्ष के अनुकूल हो जायँ।—च० वि० ८। २५। इस प्रकार आचार्य वाद में विजय प्राप्त करने के लिए हर प्रकार के उपायों का निर्देश देते हुए चिकित्सकों को यह निर्देश देते हैं कि—'इमानि तु खलु पदानि भिषग्वादमार्गज्ञानार्थमधिगम्यानि भवन्ति'—अर्थात् वैद्यविद्या या वैद्यों के वादमार्ग को जानने के मार्ग निम्न होते हैं। इस प्रकार चरकसंहिता में चिकित्सकों या वैद्यों को सम्भाषा या वाद में विजय प्राप्त करने के लिए कौन-सा उपाय या मार्ग है? उसको जानने के लिए मार्ग या साधन रूप कतिपय पद हैं, उन्हीं पदों का यहाँ उल्लेख करना प्रस्तुत शीर्षक का उद्देश्य है। यदि परिणाम की दृष्टि से देखा जाय तो ये पद ज्ञानवर्द्धन के उपाय या मार्ग हैं। इनकी संख्या ४४ (चौवालिस) है जो निम्नांकित हैं। (च० वि० ८। २७)

१. वाद, २. द्रव्य, ३. गुण, ४. कर्म, ५, सामान्य, ६. विशेष, ७. समवाय, ८. प्रतिज्ञा, ९. स्थापना, १०. प्रतिष्ठापना, ११. हेतु, १२. दृष्टान्त, १३. उपनय, १४. निगमन, १५. उत्तर, १६. सिद्धान्त, १७. शब्द, १८. प्रत्यक्ष, १९. अनुमान, २०. ऐतिह्य, २१. औपम्य, २२. संशय, २३. प्रयोजन, २४. सव्यभिचार, २५. जिज्ञासा, २६. व्यवसाय, २७. अर्थप्राप्ति, २८. सम्भव, २९. अनुयोज्य, ३०. अननुयोज्य, ३१. अनुयोग, ३२. प्रत्यनुयोग, ३३. वाक्यदोष, ३४. वाक्यप्रशंसा, ३५. छल, ३६. अहेतु, ३७. अतीत काल, ३८. उपालम्भ, ३९. परिहार, ४०. प्रतिज्ञाहानि, ४१. अभ्यनुज्ञा, ४२. हेत्वन्तर, ४३. अर्थान्तर और ४४. निग्रहस्थान।

१. वाद—वादमार्ग का प्रथम पद वाद को ही रखा गया है। यहाँ आचार्य चरक वादमार्ग या शास्त्र लेखन में उत्कृष्ट वैज्ञानिकता का परिचय देते हुए प्रथमतः पदाश्रित विषय या शीर्षक को ही स्पष्ट किये हैं कि जिसके मार्ग को हम समझने जा रहे हैं, वह क्या है? इसका ज्ञान प्रथमतः प्राप्त करना चाहिए। वाद को वे पारिभाषित करते हुए कहते हैं कि—'तत्र वादो नाम स यत् परेण सह शास्त्रपूर्वकं विगृह्य

कथयति।' जब दूसरे के साथ शास्त्र के अनुसार अपने-अपने पक्ष को रखते हुए विगृह्य सम्भाषा में बात-चीत या सम्भाषण किया जाता है, उसे वाद कहा जाता है। यहाँ वाद के दो भेदों का उल्लेख किया गया है—१. जल्पवाद, तथा २. वितण्डावाद। १. जल्पवाद–जल्पवाद के सम्बन्ध में कहा गया है कि–'तत्र पक्षाश्रितयोर्वचनं जल्पः'– अर्थात् अपने-अपने पक्षों को युक्तिपूर्वक जब उद्घाटित किया जाता है तो उसे जल्पवाद कहा जाता है। इसमें दोनों पक्ष अपने-अपने पक्ष को सप्रमाण या युक्तिपूर्वक उद्घाटित करते हैं—यथा–'एकस्य पक्षः पुनर्भवोऽस्तीति, नास्तीत्यपरस्य; तौ च स्वस्वपक्षहेतुभिः स्वस्वपक्षं स्थापयतः परपक्षमुद्भावयतः एष जल्पः।' यहाँ आचार्य उदाहरण देकर जल्पवाद को स्पष्ट किये हैं। जैसे वाद या सम्भाषा में जब एक पक्ष कहता है कि पुनर्जन्म होता है तथा दूसरा पक्ष कहता है कि पुनर्जन्म नहीं होता है। इस स्थिति में जब दोनों व्यक्ति विभिन्न प्रमाणों एवं युक्ति के द्वारा अपने-अपने पक्ष की पुष्टि करते हैं तथा प्रमाण व युक्ति की सहायता से ही दूसरे पक्ष में दोष दर्शाते हैं, अर्थात् दूसरे पक्ष का खण्डन करते हैं तो इस तरह के 'विभिन्न प्रमाण व युक्ति के साथ अपने पक्ष का उद्घाटन एवं प्रमाण व युक्ति के द्वारा पर-पक्ष के खण्डन रूपी वाद-विवाद को जल्पवाद कहा जाता है। २. वितण्डावाद—'जल्पविपर्ययो वितण्डा। वितण्डानाम परपक्षे दोषवचनमात्रमेव॥'—च० वि० २। २८। अर्थात् जल्प के विपरीत विधि के अनुसार जो वाद-विवाद किया जाता है, उसे वितण्डावाद कहा जाता है। इसमें अपने विषय का उद्घाटन करने में युक्ति की सहायता नहीं ली जाती अर्थात् इसमें विषय-उद्घाटन युक्तियुक्त नहीं किया जाता है। इसमें केवल परपक्ष में दोषान्वेषण ही किया जाता है अर्थात् वितण्डावाद में व्यक्ति अपना सिद्धान्त क्या है? इसको उद्घाटित नहीं करता; बल्कि उसका लक्ष्य मात्र परपक्ष के दोषों को ही प्रकट करना होता है।

२, ३, ४, ५, ६, ७ (पदार्थाः)—वाद में दूसरे स्थान पर द्रव्य, तीसरे पर गुण, चौथे पर कर्म, पाँचवें पर सामान्य, षष्ठ पर विशेष व सातवें स्थान पर समवाय का उल्लेख किया गया है। इन क्रमांक २ से ७ तक के पद ही आयुर्वेद के प्रतिपाद्य या विवेच्य विषय हैं। अतः इन्हें पदार्थ या षड्पदार्थ कहा गया है। पदार्थ का तात्पर्य यह होता है, कि जिस विषय का प्रतिपादन किया जा सके या पद के जो विषय हों या जिस विषय की विवेचना करनी है उसे पदार्थ कहते हैं। वादमार्ग में वाद को स्पष्ट करने के बाद आचार्य 'वाद में विवेच्य विषय' का उल्लेख किये हैं। यहाँ वादमार्ग चिकित्सकों के लिए दर्शाया गया है। अतः यहाँ वाद का विषय वही हो सकता है जो आयुर्वेद से सम्बन्धित हो। आयुर्वेद में मूलरूप से विवेच्य विषय द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष व समवाय ही हैं अतः दूसरे से सातवें वादमार्ग के रूप में आयुर्वेद के विवेच्य विषयों को रखा गया है। आयुर्वेद में मौलिक रूप से विवेच्य-

विषय यही छ हैं; इसको निम्न रूप से समझाया जा सकता है—आयुर्वेद में प्रथमतः सामान्य-विशेष वाद का उल्लेख किया गया है, जिसमें सामान्य सर्वदा वृद्धि का कारण होता है तथा विशेष ह्रास का कारण होता है। तुल्य विषयों को सामान्य कहते हैं व अतुल्य को विशेष कहते हैं। सामान्य को परिणाम की दृष्टि से एकत्व-कारक कहा जाता है तथा विशेष को पृथक्कारी। आयुर्वेद का लक्ष्य एक ही होना है—धातुओं को सम रखना। अतः क्षीण धातुओं को सामान्य सिद्धान्त से बढाकर व वृद्ध धातुओं को विशेष सिद्धान्त से कम करके धातुओं को सम भाव में रखा जाता है। गुण व कर्म द्रव्याश्रित होते हैं तथा द्रव्य के साथ गुण-कर्मों का जो सम्बन्ध होता है वह समवाय रूप से होता है। अतः जब आचार्य चरक आयुर्वेद को सूत्र स्थान के तीसवें अध्याय में पारिभाषित किये तब स्पष्ट रूप से कहते हैं कि—'यतश्चायुष्याण्य-नायुष्याणि च द्रव्यगुणकर्माणि वेदयत्यतोऽप्यायुर्वेदः। तत्रायुष्यानायुष्याणि च द्रव्यगुण-कर्माणि केवलेनोपदेक्ष्यन्ते तन्त्रेण॥'—च० सू० ३० २३। अर्थात् इस आयुर्वेद के द्वारा आयु के लिए हितकर व आयु के लिए अहितकर द्रव्य गुण-कर्म का ज्ञान होता है, अतः इसे आयुर्वेद कहा जाता है। आयु के लिए हितकारी व अहितकारी द्रव्य, गुण, कर्म का उपदेश ही सम्पूर्ण आयुर्वेद शास्त्र में स्थान-स्थान पर किया गया है। इस प्रकार हम पाते हैं कि आयुर्वेद के मूल विवेच्य विषय द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय को केन्द्रीकृत करके प्रतिपादित करना है। अतः भिषग्वादमार्ग में वाद-विवाद या सम्भाषा में विवेच्य विषय के रूप में इन्हीं छः को या इनके किसी भेदोपभेद या सम्बन्धित भाव को रखा जा सकता है, अतः आचार्य ने वाद को स्पष्ट करने के उपरान्त इनको विषयवस्तु के रूप में प्रारम्भ में ही परिगणित किया है। इन पदों का विस्तृत वर्णन पुस्तक के प्रथम भाग में किया जा चुका है, अतः पुनः उनका दुहराया जाना उचित नहीं है।

८. **प्रतिज्ञा**—'प्रतिज्ञानाम साध्यवचनम्' अर्थात् जिस वचन या विषय को सिद्ध करना है, उसे कह देना प्रतिज्ञा कहा जाता है। यथा—'नित्यः पुरुषः।' अर्थात् पुरुष नित्य है। यहाँ 'साध्यवचनम्' का तात्पर्य है किसी विशेष वचन को सिद्ध करना। वाद में जिस विषयविशेष को सिद्ध करना होता है, उसका उद्घाटन वाद के प्रारम्भ होते ही किया जाता है। प्रतिज्ञा से पूर्व आयुर्वेदोक्त षड्पदार्थों का उल्लेख किया गया है। उनसे सम्बन्धित किसी विषय का चयन कर जब वाद या संभाषा हेतु उसे रखा जाता है। उसे सिद्ध करने के लिए जब सभा में कहा जाता है कि—आज संभाषा में अमुक साध्य विषय है, तो इसी को प्रतिज्ञा कहा जाता है। आज भी विज्ञान के विभिन्न प्रयोगों द्वारा सिद्ध किये जाने वाले या ज्ञेय विषयों का उल्लेख जब प्रथमतः किया जाता है तो वह प्रतिज्ञा है। अनुसंधान में भी प्रथमतः प्रतिज्ञा ही की जाती है। जैसे—रक्तस्राव में शुभ्राभस्म का रक्तस्रावरोधक प्रभाव का अध्य-

यन आदि। इस प्रकार के वचन को प्रतिज्ञा कहते हैं; क्योंकि यही साध्य विषय होता है। वाद-विवाद में 'साध्यवचनं' इसलिए कहा गया है कि सम्भाषा में प्रतिज्ञा को सबके समक्ष (सभा के समक्ष) मौखिक रूप से रखा जाता है।

९. **स्थापना**—जब अपनी प्रतिज्ञा को हेतु, दृष्टान्त, उपनय, निगमन इनकी सहायता से सिद्ध किया जाता है तो अपनी प्रतिज्ञा को सिद्ध कर देने को स्थापना कहा जाता है—'स्थापना नाम तस्या एव प्रतिज्ञायाः हेतुदृष्टान्तोपनयनिगमनैः स्थापना।' प्रथमतः प्रतिज्ञा की जाती है तभी उस प्रतिज्ञा की स्थापना की जाती है। अतः स्थापना के पूर्व प्रतिज्ञा का उल्लेख किया गया है; क्योंकि जब प्रतिज्ञा ही नहीं की जायेगी तो फिर स्थापना किसकी होगी। इसको आचार्य ने स्पष्ट किया है कि—'पूर्वं हि प्रतिज्ञा, पश्चात् स्थापना; किं ह्यप्रतिज्ञातं स्थापयति।' आचार्य ने प्रतिज्ञा में उल्लिखित उदाहरण को ही स्थापना को समझाने के लिए ग्रहण किया है तथा उस उदाहरण के साथ स्थापना की प्रक्रिया को स्पष्ट किया है। जैसे—प्रतिज्ञा किया गया कि—पुरुष नित्य है। अब इस प्रतिज्ञा की स्थापना हेतु, दृष्टान्त, उपनय व निगमन की सहायता से करनी है तो प्रथमतः हेतु को स्पष्ट किया जाता है। प्रतिज्ञा है कि—पुरुष नित्य है। हेतु—पुरुष नित्य है, इसके हेतु में कहा जाता है कि—'अकृतकत्वादिति—' अर्थात् यह किसी के द्वारा निर्मित नहीं हैं। दृष्टान्त उदाहरण को कहा जाता है। पुरुष के नित्यत्व सिद्धि हेतु उदाहरण दिया जाता है कि—जैसे आकाश। अर्थात् आकाश भी किसी के द्वारा निर्मित नहीं है, जिससे वह नित्य कहा कहा जाता है। उपनय—जब उदाहरण के साथ साध्य विषय का तुलनात्मक रूप से साम्य प्रकट किया जाता है तो उसे उपनय कहा जाता है। यहाँ उदाहरण आकाश से तुलना करके पुरुष की नित्यता सिद्ध की जाती है। यथा—आकाश भी किसी से निर्मित न होने के कारण नित्य कहा जाता है। इसी प्रकार पुरुष भी किसी के द्वारा निर्मित नहीं है।

निगमन—प्रतिज्ञा की सिद्धि को निगमन कहा जाता है। जैसे—कहा जाता है कि—अतः पुरुष नित्य है। इस प्रकार स्थापना का तात्पर्य अपनी प्रतिज्ञा को सिद्ध करना होता है। जब तक उपर्युक्त विधियों या अवयवों के माध्यम से अपनी प्रतिज्ञा को सिद्ध नहीं किया जाता है तब तक प्रतिज्ञा स्थापित नहीं हो पाती है। समझने की दृष्टि से स्थापना से यह समझा जा सकता है कि—अपनी प्रतिज्ञा को सर्वमान्य बनाने व स्थायित्व देने के लिए हेतु, उदाहरण, उपनय, निगमन आदि की सहायता से जब उसे सिद्ध कर दिया जाता है तो उसे स्थापना कहा जाता है। वह प्रतिज्ञा सर्वमान्य होती है तथा लोकव्यवहार में 'सिद्धान्त रूप में स्थापित हो जाती है। आधुनिक काल में भी सम्भाषा या वाद में जब तक व्यक्ति अपनी प्रतिज्ञा की सिद्धि नहीं कर देता है, तब तक उसकी प्रतिज्ञा स्थापित नहीं हो पाती है। अपने द्वारा

किये गये अनुसंधान को स्थापित करने के लिए सम्भाषा परिषद् में उपर्युक्त अवयवों की सहायता ली जाती है, अन्यथा उस व्यक्ति की प्रतिज्ञा कपोलकल्पित मानकर उपेक्षित हो जाती है। यथा किसी व्यक्ति ने प्रतिज्ञा की कि—मकरध्वज हृद्य है या हृदयोत्तेजक है। इस प्रतिज्ञा की सिद्धि के लिए हेतु दिया जाता है कि—इसमें हृदय के लिए हितकारी द्रव्य पड़े हैं। तब उदाहरण दिया जाता है कि—जैसे अमुक हृदयोत्तेजक द्रव्य। क्योंकि उसको देने से हृदय की क्रिया बढ़ जाती है। तब उपनय की सहायता से यह कहा जाता है कि—जिस प्रकार अमुक हृदयोत्तेजक द्रव्य देने से हृदय की क्रिया बढ़ जाती है, उसी प्रकार जब मकरध्वज का भी प्रयोग किया जाता है तो हृदय की क्रिया बढ़ जाती है। निगमन या उपसंहार—अतः मकरध्वज हृदयोत्तेजक है। इस प्रकार किसी भी प्रतिज्ञा को जब उदाहरण के साथ तुलनात्मक साम्य दर्शाकर सिद्ध कर दिया जाता है तो उसे स्थापना कहा जाता है।

१०. प्रतिष्ठापना—'प्रतिष्ठापना नाम या तस्या एव परप्रतिज्ञाया विपरीतार्थ-स्थापना' अर्थात् जब विपक्षी के विपरीत अपनी प्रतिज्ञा को स्थापित किया जाता है तो उसे प्रतिस्थापना कहा जाता है। इसमें आचार्य ने पूर्वस्थापित प्रतिज्ञा के विपरीत प्रतिज्ञा का उदाहरण देकर विषय को समझाया है। पूर्व में 'पुरुष नित्य है' इस प्रतिज्ञा की सिद्धि हेतु हेतु, उदाहरण, उपनय, निगमन की सहायता या भूमिका दर्शायी गई है एवं प्रतिज्ञा की सिद्धि की गई है। प्रतिष्ठापना का तात्पर्य यह है कि इस प्रतिज्ञा के विपरीत प्रतिज्ञा कर उसे भी हेतु, दृष्टान्त, उपनय व निगमन के द्वारा स्थापित किया जाता है। पूर्वप्रतिज्ञा के विपरीत प्रतिज्ञा होने से इसे प्रतिष्ठापना कहा जाता है। यथा—'अनित्यपुरुषः इति प्रतिज्ञा, हेतु-ऐन्द्रियकत्वादिति; दृष्टान्त—यथा—घट इति; उपनय—यथा घट ऐन्द्रियकः स चानित्यः तथा चायमिति; निगमनं तस्मादनित्य इति।' अर्थात्—'पुरुष अनित्य है' यह पूर्वप्रतिज्ञा के विपरीत प्रतिज्ञा है। यहाँ पुरुष की अनित्यता में यह हेतु या कारण प्रदर्शित किया गया है कि—पुरुष अनित्य है; क्योंकि यह इन्द्रिय से दिखाई पड़ता है। उदाहरण—जैसे—घट। (यहाँ घट का उदाहरण हेतु के अनुसार दिया गया है अर्थात् पुरुष इन्द्रियों से दिखाई देता है जिस प्रकार घट इन्द्रियों से दिखाई पड़ता है)। उपनय—जैसे घट इन्द्रिय से दिखाई पड़ता है तो उसे इन्द्रिय से दिखाई देने के कारण अनित्य कहा जाता है, उसी प्रकार पुरुष भी इन्द्रिय से दिखाई पड़ता है। निगमन—अतः पुरुष अनित्य है। इस प्रकार पूर्व में स्थापित प्रतिज्ञा 'पुरुष नित्य है' के विपरीत यहाँ प्रतिज्ञा 'पुरुष अनित्य है' प्रतिस्थापित की गई है। प्रतिस्थापना में भी प्रतिज्ञा को उन्हीं अवयवों से सिद्ध किया जाता है (हेतु, दृष्टान्त, उपनय व निगमन) जिन अवयवों से प्रतिज्ञा सिद्ध हुई है। आधुनिक काल में भी पूर्व में स्थापित प्रतिज्ञाओं के विपरीत प्रतिज्ञायें प्रतिस्थापित की जाती हैं। जिन साधनों से पूर्व में प्रतिज्ञा की

सिद्धि हुई रहती है, उन्हीं साधनों के द्वारा विपरीत प्रतिज्ञा की सिद्धि की जाती है तभी वह प्रतिज्ञा सभासदों द्वारा मान्य या लोकमान्य होकर प्रतिस्थापित होती है, अन्यथा नहीं।

११. हेतु—उपलब्धि के साधनभूत कारण को हेतु कहा जाता है—'अथ हेतुः—हेतुर्नामोपलब्धिकारणं, तत् प्रत्यक्षम्, अनुमानम्, ऐतिह्यम्, औपम्यमिति, एभिर्हेतुभिर्यदुपलभ्यते तत् तत्त्वम्।' च० वि० ८।३३। अर्थात् उपलब्धि यानि ज्ञान के साधनभूत कारण को हेतु कहा जाता है। यहाँ उपलब्धि से ज्ञानोपलब्धि अर्थ लगाया जाता है। अतः कहा जा सकता है कि ज्ञान के साधनभूत कारण को हेतु कहा जाता है। हेतु को ज्ञान का साधन कहा गया है; अतः इस हेतु का ज्ञान प्रत्यक्ष, अनुमान, ऐतिह्य, औपम्य—इन चार हेतुओं से ज्ञात होता है। अर्थात् इनकी सहायता से हेतु के ज्ञान को सिद्ध किया जा सकता है, वह तत्त्व अर्थात् सत्य ज्ञान होता है। यहाँ आचार्य ने यथार्थ ज्ञान के साधनों को ही हेतु का साधन कहा है। अर्थात् ज्ञान के कारण की सिद्धि इन प्रमाणों से होती है। यहाँ आचार्य ने पूर्व उल्लिखित प्रमाण—प्रत्यक्ष, अनुमान के साथ-साथ दो अन्य शास्त्रों द्वारा प्रमाण रूप में उल्लिखित प्रमाणों—ऐतिह्य व उपमान का उल्लेख कर हेतु के ज्ञान में इनकी उपादेयता दर्शायी है। कतिपय विद्वान् ऐतिह्य को आप्तोपदेश स्वीकार करते हैं, उसका विवेचन आगे किया जायेगा परन्तु उपमान की उपादेयता हेतु ज्ञान हेतु प्रदर्शित की गई है।

१२. दृष्टान्त—दृष्टान्त की परिभाषा देते हुए इसको स्पष्ट करने की दृष्टि से कहते हैं कि—'अथ दृष्टान्तः—दृष्टान्तो नाम यत्र मूर्खविदुषां बुद्धिसाम्यं, यो वर्ण्यं वर्णयति। यथा—अग्निरुष्णः द्रवमुदकं, स्थिरा पृथिवी, आदित्यः प्रकाशक इति। यथा आदित्यः प्रकाशकस्तथा सांख्यज्ञानं प्रकाशकमिति।'—च० वि० ८।३४। अर्थात् जहाँ मूर्ख और विद्वान् दोनों की बुद्धि एक समान हो अर्थात् दोनों एक समान विषय का ग्रहण कर लेते हैं, उसे दृष्टान्त कहते हैं। यहाँ दृष्टान्त का तात्पर्य यह है कि विषय को इस तरह के विषयों के साथ प्रस्तुत किया जाता है कि मूर्ख और विद्वान् दोनों विषय का ज्ञान समान रूप से ग्रहण कर लें। दृष्टान्त में विषयों को उदाहरण बनाकर प्रस्तुत किया जाता है। दृष्टान्त को लोकव्यवहार में उदाहरण भी कहा जाता है। किसी विषय को जब उदाहरण के साथ प्रस्तुत किया जाता है तो मूर्ख व विद्वान् दोनों ही विषय को समझ जाते हैं। यदि विषय को बिना उदाहरण प्रस्तुत किया जाता है तो विद्वान् तो उसका ग्रहण कर लेते हैं परन्तु मूर्ख उस विषय को ग्रहण नहीं कर पाते। आचार्य ने व्यवहार में प्रस्तुत किये जाने वाले कतिपय दृष्टान्तों को प्रस्तुत कर विषय को बोधगम्य कर दिया है—यथा—अग्नि उष्ण है, जल द्रव है, पृथ्वी स्थिर है, सूर्य प्रकाशक है। अब यहाँ एक दृष्टान्त देकर आचार्य ने दृष्टान्त को किस प्रकार प्रस्तुत किया जाता है, इसका निर्देश देते हैं कि—जिस

प्रकार सूर्य संसार की वस्तुओं को प्रकाशित करता है, उसी प्रकार सांख्य वचन या आप्तोपदेश विषय को प्रकाशित करता है। यहाँ आचार्य अपने द्वारा प्रस्तुत किये गये 'सूर्य प्रकाशक है' दृष्टान्त का व्यावहारिक स्वरूप, प्रस्तुत किये हैं। इसी प्रकार व्यवहार में अन्य दृष्टान्तों का प्रयोग कर विषय को बोधगम्य बनाया जाता है। यथा—पृथ्वी को स्थिरता के रूप में, जल का दृष्टान्त द्रवता हेतु एवं अग्नि का दृष्टान्त उष्णता हेतु प्रस्तुत किया जाता है।

१३. उपनय—किसी उदाहरण को प्रस्तुत कर किसी साध्य को सिद्ध करने के लिए साध्य की तुलना जब उदाहरण से की जाती है तो उसे उपनय कहा जाता है। स्थापना की व्याख्या में 'यथा चाकृतकमाकाशं तथा पुरुषः' तथा प्रतिष्ठापना की व्याख्या में 'यथा—घटस्तथा पुरुष इति' को उपनय के अन्तर्गत उल्लिखित किया गया है। स्थापना में प्रतिज्ञा 'पुरुष नित्य है' कि सिद्धि के लिए आकाश का दृष्टान्त प्रस्तुत किया गया है तथा उपनय के अन्तर्गत पुरुष के हेतु व आकाश के हेतु 'अकृत-कत्वादिति' को तुलनात्मक रूप में प्रस्तुत किया गया है अर्थात् यहाँ कहा गया है कि जैसे आकाश का निर्माता कोई नहीं है, उसी प्रकार पुरुष का भी निर्माता कोई नहीं है। इसी प्रकार प्रतिष्ठापना की व्याख्या में भी पुरुष का दृष्टान्त घट के साथ तुलना-त्मक रूप में उपनय के अन्तर्गत प्रस्तुत किया गया है। इससे यह स्पष्ट होता है कि साध्य के साधर्म्य से उदाहरण पर रहने वाला 'यह भी वैसा ही है' इस प्रकार का वाक्य कहना उपनय कहा जाता है। इन दोनों उपनयों (स्थापना व प्रतिष्ठापना की व्याख्या में उल्लिखित) में पुरुष की नित्यता या अनित्यता इन प्रतिज्ञाओं की या साध्यों की तुल्यता (समानता) से आकाश और घट पर निर्भर 'तथा पुरुषः' इस प्रकार से कहकर वाक्य को यहीं पर समाप्त कर देना ही उपनय कहा जाता है। जब समान तुलना से सकारात्मक रूप में प्रतिज्ञा को सिद्ध किया जाता है तो उसे साधर्म्य उपनय कहा जाता है, तथा किसी प्रतिज्ञा की सिद्धि हेतु विपरीत उदाहरण के द्वारा तुलना कर कहा जाता है कि 'यह वैसा नहीं है' तथा वाक्य समाप्त कर दिया जाता है तो उसे वैधर्म्य उपनय कहा जाता है। यथा—प्रतिज्ञा की गई कि—शब्द अनित्य है। इसका हेतु 'क्योंकि इसकी उत्पत्ति होती है'। जो किसी से उत्पन्न नहीं होते वे नित्य हैं; जैसे—आत्मा। अब उपनय में कहा जाता है कि—जो किसी से उत्पन्न नहीं होते हैं वही नित्य होते हैं 'शब्द में ऐसा नहीं है'। इस प्रकार जब विपरीत उदाहरण के साथ तुलना कर यह कहा जाता है कि 'यहाँ वैसा नहीं है' तथा यही कहकर वाक्य समाप्त कर दिया जाता है, उसे वैधर्म्य उपनय कहा जाता है।

१४. निगमन—उपनयादि द्वारा अपनी प्रतिज्ञा को सिद्ध कर पुनः प्रतिज्ञा को सिद्ध रूप में प्रस्तुत करने को निगमन कहते हैं। जैसे—स्थापना में 'पुरुष नित्य है'

की सिद्धि हेतु; दृष्टान्त, उपनय के बाद पुनः इस प्रतिज्ञा को सिद्ध रूप में प्रस्तुत किया गया है। 'अतः पुरुष नित्य है' इसको निगमन कहा जाता है। 'अतः' को प्रतिज्ञा से पूर्व इसलिए व्यवहृत किया जाता है कि अपनी प्रतिज्ञा की सिद्धि हेतु, दृष्टान्त व उपनय द्वारा की जा चुकी है। इसी प्रकार प्रतिष्ठापना में पुरुष के अनित्यता की सिद्धि हेतु (ऐन्द्रियकत्वादिति) दृष्टान्त (यथा घटः) उपनय (यथा घट ऐन्द्रियकः स चानित्यः तथा चायमिति) द्वारा करने के बाद प्रतिज्ञा को सिद्ध रूप में पुनः कहना—'तस्मादनित्य इति' निगमन कहा जाता है।

१५. **उत्तर**—उत्तर को पारिभाषित करते हुए कहा गया है कि—'उत्तरं नाम साधर्म्योपदिष्टे हेतौ वैधर्म्यवचनं वैधर्म्योपदिष्टे वा हेतौ साधर्म्यवचनम्।' अर्थात् हेतु के समान धर्म कहने पर विपरीत धर्म वाला या विपरीत उपदेश करने पर समान धर्म कहना उत्तर कहा जाता है। आचार्य इसको एक उदाहरण द्वारा स्पष्ट किये हैं। 'हेतुसधर्माणो विकाराः शीतकस्य हि व्याधेर्हेतुभिः साधर्म्यं हिमशिशिरवातसंस्पर्शाः, इति ब्रुवतः परो ब्रूयात्—हेतुविधर्माणो विकाराः यथा शरीरावयवानां दाहौष्ण्यकोथ-प्रपचने हेतुवैधर्म्यं हिमशिशिरवातसंस्पर्शा इति। एतत् सविपर्ययमुत्तरम्।'—च० वि० ८।३६। अर्थात् यदि किसी ने कहा कि रोग का कारण समान धर्म वाले ही होते हैं। शीत की प्रधानता वाले अर्थात् शीतलता को लक्षण रूप में प्रकट करने वाले रोगों के कारण समान धर्म वाले बर्फ या वायु होते हैं; क्योंकि बर्फ व वायु—ये दोनों शीत गुण वाले होते हैं। जब इसके बाद कोई व्यक्ति यह कहता है कि—हेतु के विधर्मी रोग होते हैं। जैसे—शरीर में या शरीर के अवयवों में दाह, उष्णता, कोथ (सड़न) पाक होने में कारण के विपरीत बर्फ और शीतल वायु का स्पर्श होता है। इस तरह हेतु के समानधर्मी कहने पर विपरीतता का प्रदर्शन करना उत्तर कहा जाता है।

१६. **सिद्धान्त**—सिद्धान्त का विशद विवेचन पुस्तक के प्रथम भाग के विषय-प्रवेश में ही कर दिया गया है। अतः विस्तृत विवेचन हेतु वहाँ देखना चाहिए। यहाँ प्रसंगवश परिचयात्मक दृष्टि से सिद्धान्त का संक्षिप्त रूप में उल्लेख किया जा रहा है। सिद्धान्त को पारिभाषित करते हुए कहा गया है कि—'सिद्धान्तो नाम स यः परीक्षकैर्बहुविधं परीक्ष्य हेतुभिश्च साधयित्वा स्थाप्यते निर्णयः'—अर्थात् परीक्षकों के द्वारा अनेक बार या अनेक प्रकार से परीक्ष्य विषयों की परीक्षा करके और हेतुओं के द्वारा उन परीक्ष्य विषयों को सिद्धकर जो स्थायी निर्णय दिया जाता है, उसे सिद्धान्त कहा जाता है। अथवा कहा जा सकता है कि—जिस तथ्य को अनेक परीक्षकों के द्वारा अनेकविध परीक्षा करके उसका तर्कसंगत निर्णय स्थापित किया जाता है, वह सिद्धान्त है। इस प्रकार आचार्य चरक द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त सार्वकालिक, सार्वभौमिक तथा शाश्वत है। क्योंकि आधुनिक काल में वैज्ञानिक परीक्षणों से प्रतिपादित सिद्धान्त तर्कसंगत कारण-कार्य हेतु से घटित नहीं होते हैं, जबकि आचार्य चरक के

द्वारा वर्णित सिद्धान्त अनेकविध परीक्षणों के पश्चात् तर्कसंगत कारण-कार्य हेतु से घटित होते हैं, तभी ये प्रतिपादित किये गये हैं। अतः चरकोक्त परिभाषा के अनुसार प्रतिपादित सिद्धान्त स्थायी हैं। सिद्धान्त के सम्बन्ध में चरकोक्त परिभाषा के द्वारा दो तथ्य सामने आते हैं। प्रथम यह कि सिद्धान्त प्रतिपादित करने वाले व्यक्ति द्वारा अनेक बार या अनेक प्रकार के परीक्षणों द्वारा उस सिद्धान्त का स्वयं पुष्टि करना तथा दूसरा तथ्य यह है कि स्वयं पुष्टि के बाद हेतु, दृष्टान्त, उपनय, निगमनादि की सहायता से उसे लोक या समाज में सिद्ध कर उसकी स्थापना करना। अतः यहाँ यह कहा जा सकता है कि—जब किसी विषय या प्रतिज्ञा को अनेक बार परीक्षण कर अथवा अनेक विधियों से परीक्षण कर पुष्टि हो जाने के बाद अन्यों के समक्ष हेतु आदि अवयवों की सहायता से सिद्ध कर स्थापित कर दिया जाता है तो उसे सिद्धान्त कहते हैं। सिद्धान्त के चार भेद होते हैं—१. सर्वतन्त्र सिद्धान्त, २. प्रतितन्त्र सिद्धान्त, ३. अधिकरण सिद्धान्त तथा ४. अभ्युपगम सिद्धान्त।

१. **सर्वतन्त्र सिद्धान्त**—'तत्र सर्वतन्त्रसिद्धान्तो नाम तस्मिन् तस्मिन् सर्वस्मिन् तन्त्रे तत्तद् प्रसिद्धम्।'—च० वि० ८। अर्थात् जो सिद्धान्त एक शास्त्र में प्रसिद्ध होते हुए भी सभी शास्त्रों में प्रसिद्ध तथा व्यवहृत होता है, उसे सर्वतन्त्र सिद्धान्त कहा जाता है। यथा—रोग के कारण होते हैं। रोग का अपना लक्षण होता है। अथवा कुछ रोग साध्य होते हैं तथा कुछ रोग असाध्य होते हैं। ये सर्वतन्त्र सिद्धान्त हैं। इसका व्यवहार प्रत्येक चिकित्सा पद्धतियों में है। उसी प्रकार त्रिसूत्र सिद्धान्त (हेतु, लिङ्ग, औषध) सर्वतन्त्र सिद्धान्त है क्योंकि इसका व्यवहार प्रत्येक चिकित्सा पद्धतियों में होता है।

२. **प्रतितन्त्र सिद्धान्त**—प्रतितन्त्र सिद्धान्त का तात्पर्य उन सिद्धान्तों से होता है—जो कि किसी एक ही शास्त्र में प्रसिद्ध होते हैं तथा उनका व्यवहार भी उसी शास्त्र में होता है। यथा—आयुर्वेद का सिद्धान्त षड्रसवाद है। आयुर्वेद का सिद्धान्त है कि—इन्द्रियाँ भौतिक होती हैं। जबकि अन्य शास्त्र में इसे आहंकारिक कहा गया है। इस प्रकार एक विशेष शास्त्र अर्थात् आयुर्वेद में 'इन्द्रियों के भौतिकत्व का सिद्धान्त' प्रतितन्त्र सिद्धान्त का उदाहरण है।

३. **अधिकरण सिद्धान्त**—'अधिकरणसिद्धान्तो नाम स यस्मिन्नधिकरणे प्रस्तूयमाने सिद्धान्यन्यान्यप्यधिकरणानि भवन्ति। यथा—न मुक्तः कर्मानुबन्धिकम् कुरुते, निस्पृहत्वात्। इति प्रस्तुते सिद्धाः कर्मफलमोक्षपुरुषप्रेत्यभावा भवन्ति।'—च० वि० ८। अर्थात् जिस विषय का प्रकरण चलता हो अर्थात् जिस विषय का प्रकरण चलता हो या सम्भाषा आदि में बोलने में चलता हो, उसमें उसी से सम्बन्धित दूसरे सिद्ध किये गये अधिकरण का आ जाना अधिकरण सिद्धान्त कहा जाता है। जैसे—मुक्ति प्राप्त पुरुष शुभ-अशुभ फल देने वाले कर्मों को नहीं करते हैं; क्योंकि वह निष्काम होते हैं।

उन्हें किसी लौकिक या अलौकिक फल की आकांक्षा नहीं रहती; अतः ये निस्पृह होते हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि 'आसक्ति युक्त कर्म का कर्मफल होता है, कर्मफल को भोगना पड़ता है तथा कर्मफल शेष रह जाने पर पुनर्जन्म होता है। इस प्रकार के सिद्धान्त को अधिकरण सिद्धान्त कहते हैं।

४. अभ्युपगम सिद्धान्त—'अभ्युपगमसिद्धान्तो नाम स यमर्थमसिद्धमपरीक्षितमनुपदिष्टमहेतुकं वा वादकालेऽभ्युपगच्छन्ति भिषजः, यद्यथा—द्रव्यं प्रधानमिति कृत्वा वक्ष्यामः गुणाः प्रधानमिति कृत्वा वक्ष्यामः, वीर्यप्रधानमिति कृत्वा वक्ष्यामः।' अर्थात् अभ्युपगम सिद्धान्त उसे कहते हैं, जो किसी वस्तु के प्रस्तुत करने के समय यद्यपि असिद्ध, अपरिक्षित, अनुपदिष्ट तथा अहेतुक हो, फिर भी उनकी प्रधानता का उल्लेख किया जाता है। जैसे—द्रव्य की प्रधानता होती है, ऐसा कहेंगे, गुणों की प्रधानता होती है ऐसा कहेंगे, वीर्य की प्रधानता होती है ऐसा कहेंगे—आदि। इस प्रकार अभ्युपगम सिद्धान्त का अभिप्राय यह होता है कि—किसी वस्तु या विषय के वर्णन-काल में उसी वस्तु की या विषय की सारी विशेषताओं का उल्लेख कर प्रस्तुत वस्तु या विषय की प्रधानता स्थापित की जाय जिससे वक्ता व श्रोता का ध्यान उसी पर केन्द्रित रहे, जिससे उस वस्तु या विषय की महत्ता प्रतिपादित हो।

१७. शब्द—'अथ शब्दः—शब्दो नाम वर्णसमाम्नायः'—अर्थात् जो वर्णों को मिलाने के बाद वर्णसमूह होता है, उसे शब्द कहते हैं। अर्थात् वर्णों के समूह को शब्द कहते हैं। शब्द चार प्रकार के होते हैं—१. दृष्टार्थ, २. अदृष्टार्थ, ३. सत्य ४. अनृत। 'स चतुर्विधः—दृष्टार्थश्च अदृष्टार्थश्च सत्यश्च अनृतश्चेति'।।

१. दृष्टार्थ शब्द—'दृष्टार्थो नाम–त्रिभिहेतुभिर्दोषाः प्रकुप्यन्ति, षड्भिरूपक्रमैश्च प्रशामयन्ति, सति श्रोत्रादिसद्भावे शब्दादिग्रहणमिति।' अर्थात् तीन हेतुओं (कारणों) से दोष कुपित होते हैं (आयुर्वेद में रोग के तीन कारण माने गये हैं—असात्म्येन्द्रियार्थ संयोग, प्रज्ञापराध व परिणाम) छः उपक्रम से रोग शान्त होते हैं (आयुर्वेद में दोषों को शांत करने के लिए छः उपक्रम—लंघन-बृंहण, स्नेह-रूक्षण, स्वेदन-स्तम्भन आदि वर्णित है)। इस प्रकार आचार्य उदाहरण देने के बाद शब्द-ग्रहण हेतु कहते हैं कि—श्रोत्रादि इन्द्रियों के रहने पर ही शब्दादि विषयों का इन्द्रियों द्वारा ग्रहण होता है।

२. अदृष्टार्थ शब्द—'अदृष्टार्थः पुनः–अस्ति प्रेत्यभाव अस्ति मोक्ष इति।' अर्थात् यहाँ आचार्य अदृष्टार्थ शब्द को पारिभाषित नहीं किये हैं, परन्तु इसको स्पष्ट करने के लिए दृष्टान्त प्रस्तुत किये हैं कि मरने के बाद पुनर्जन्म होता है, मोक्ष होता है; आदि। इन दोनों वाक्यों का विषय किसी इन्द्रिय द्वारा ग्रहण नहीं होता बल्कि इसका ग्रहण शास्त्र को यथार्थज्ञान का साधन मानकर शास्त्र द्वारा किया जाता है कि मनुष्य का मरने के बाद पुनर्जन्म होता है या मरणोपरान्त मोक्ष होता है। इस प्रकार

प्रत्यक्षत: इन्द्रियों द्वारा ग्रहण-योग्य नहीं होने के कारण इसे अदृष्टार्थ शब्द कहते हैं; क्योंकि दृष्टार्थ के लिए कहा गया है कि—'सति श्रोत्रादिसद्भावे शब्दादिग्रहणमिति।' अर्थात् श्रोत्रादि इन्द्रियों द्वारा ग्रहण-योग्य विषय को दृष्टार्थ शब्द कहा जाता है।
३. सत्य शब्द—सत्य शब्द के बारे में कहा गया है कि—'सत्योनाम-यथार्थभूत:, सन्त्यायुर्वेदोपदेशा:, सति सिद्धयुपाया: साध्यानां व्याधीनां, सन्त्यारम्भफलानीति।' अर्थात् जो यथार्थ शब्द होता है उसे सत्य कहते हैं। जैसे—आयुर्वेद के उपदेश हैं कि साध्य रोगों की चिकित्सा का उपाय है। जो कार्य आरम्भ किया जाता है, उसका फल अवश्य प्राप्त होता है। ये दोनों उदाहरण यथार्थ हैं; क्योंकि जो रोग साध्य होते हैं, उन्हीं रोगों की चिकित्सा की जा सकती है। उसी प्रकार जिस कार्य का प्रारम्भ किया जाता है अर्थात् जब कोई कार्य किया जाता है तो उसका फल अवश्य ही होता है, अत: ये दोनों उदाहरण यथार्थ रूप में प्रस्तुत किये गये हैं अत: ये सत्य हैं।
४. अनृत शब्द—सत्य के विपरीत जो शब्द अयथार्थ रूप में कहा जाता है उसे अनृत शब्द कहते हैं। जैसे कहा जाय कि अमुक पशु या पक्षी नित्य है, तो इसे अनृत कहा जाता है; क्योंकि यह अयथार्थ शब्द है। जो भी वस्तु किसी के द्वारा उत्पन्न होती है, उसका विनाश होता है। अत: यह कहना कि अमुक पशु या पक्षी नित्य है, यह अनृत शब्द है।

१८. प्रत्यक्ष—'अथ प्रत्यक्षं नाम तद्यदात्मना चेन्द्रियैश्च स्वयमुपलभ्यते, तत्रात्मप्रत्यक्षा: सुखदु:खेच्छाद्वेषादय:, शब्दादयास्त्विन्द्रिय प्रत्यक्षा:॥' च० वि० ८। ३९। अर्थात् आत्मा, मन व इन्द्रियों के संयोग से जो स्वयं ज्ञान ग्रहण किया जाता है उसे प्रत्यक्ष कहते हैं। इसके पूर्व त्रिविधरोगविशेषविज्ञानीयवाद में एवं पुस्तक के प्रथम भाग में प्रत्यक्ष पर प्रकाश डाला जा चुका है। यहाँ आचार्य द्वारा दिये गये दोनों प्रकार के प्रत्यक्षों के परिप्रेक्ष्य में विचार करना है। इसके पूर्व सू० स्था० तथा वि० स्था० के त्रिविधरोग० में आचार्य ने प्रत्यक्ष को पारिभाषित करते हुए कहा है कि—जब विषयों का इन्द्रियों से, इन्द्रियों का मन से, मन का आत्मा से संयोग होता है तो उस समय तत्क्षण जो बुद्धि उत्पन्न होती है अर्थात् ज्ञानोपलब्धि होती है, उसे प्रत्यक्ष कहा जाता है (आत्मेन्द्रियमनोऽर्थानां सन्निकर्षात् प्रवर्तते। व्यक्तातदात्वे या बुद्धि: प्रत्यक्षं सा निरुच्यते।'—च० सू० ११।२०। यहाँ यह बतलाया गया है कि इन्द्रियसापेक्ष प्रत्यक्ष की प्रक्रिया क्या है? परन्तु विमान स्थान में प्रत्यक्ष के लिए कहा गया है कि जो मन व इन्द्रियों के द्वारा स्वयं ग्रहण किया जाता है। यहाँ विषय इन्द्रियादि के संयोग का उल्लेख इसलिए नहीं किया गया है कि इन्द्रियसापेक्ष प्रत्यक्ष में आत्मा, मन, इन्द्रिय तथा विषय का संयोग आवश्यक होता है; जिसे बाह्य प्रत्यक्ष कहा जाता है, जिसके लिए यहाँ 'शब्दादयस्त्विन्द्रियप्रत्यक्षा:' कहा गया है। आचार्य ने इस प्रत्यक्ष को यहाँ इन्द्रियप्रत्यक्ष कहा है परन्तु मन जब इन्द्रिय-

निरपेक्ष विषयों की ज्ञानोपलब्धि करता है तो उसमें इन्द्रियों व उनके विषयों का संयोग अपेक्षित नहीं होता। इसे आचार्य ने आत्मप्रत्यक्ष कहा है, जिसे मानस प्रत्यक्ष भी कहा जाता है यथा—सुख दुःख, इच्छा, द्वेष आदि इन्द्रियनिरपेक्ष प्रत्यक्ष हैं। इकी उपलब्धि में इन्द्रियों का विषयों से संयोग अनपेक्षित रहता है अर्थात् आवश्यक नहीं होता है।

१९. अनुमान—'अथानुमानम्—अनुमानं नाम तर्को युक्त्यपेक्षः; यथा—अग्निं जरणशक्त्या, बलं व्यायामशक्त्या, श्रोत्रादीनि शब्दादिग्रहणेनेत्येवमादि ॥'

(च० वि० ८। ४०)

अर्थात् युक्तिसापेक्ष तर्क को अनुमान कहा जाता है। जैसे—पाचन शक्ति को या पाचन प्रक्रिया को उचित रूप से होता हुआ देखकर पाचकाग्नि का अनुमान किया जाता है। व्यायाम शक्ति के द्वारा शारीरिक बल का अनुमान किया जाता है। शब्द-स्पर्शादि विषयों को इन्द्रियों द्वारा उचित रूप से ग्रहण होता हुआ देखकर इन्द्रियों की शक्ति का अनुमान किया जाता है। अनुमान का विस्तृत वर्णन पुस्तक के प्रथम भाग में तथा प्रस्तुत पुस्तक के त्रिविधरोगविशेषविज्ञानीयवाद में किया गया है; अतः वहाँ द्रष्टव्य है।

२०. ऐतिह्य—'ऐतिह्यं नामाप्तोदेशवेदादिः'—अर्थात् आप्तोपदेश या वेद आदि लोकमान्य शास्त्रों के उपदेश या वचनों को ऐतिह्य कहा जाता है। चरकसंहिता में आप्तोपदेश का स्वतंत्र वर्णन किया गया है तथा आप्त के लक्षण व पर्यायों का निर्देश दिया गया है। यहाँ आचार्य ने आप्तोपदेश को ऐतिह्य प्रमाण के विषय-वस्तु के रूप में प्रस्तुत किया है तथा आप्तोपदेशादि के साथ-साथ वेदादि शास्त्रों का भी उल्लेख किया है। यहाँ ऐतिह्य के अन्तर्गत आप्तोपदेश या वेदादि के उल्लेख का तात्पर्य यह है कि वाद में या सम्भाषा में जिस विषय पर बोला जा रहा है, उस विषय पर वाद से पूर्व आप्तों का उपदेश क्या है? अर्थात् इस विषय पर उनकी अवधारणा क्या है? वाद-विवाद के विषय में वाद से पूर्व के वेद, शास्त्र, पुराण या किसी विद्वान् द्वारा रचित ग्रन्थ आदि में इस विषय की अवधारणा क्या है? उस विषय पर पूर्व में किये गये कार्यों या अवधारणा को प्रस्तुत करना ऐतिह्य है। इसलिए आचार्य ने ऐतिह्य के अन्तर्गत आप्तोपदेश, वेद तथा आदि शब्द से पूर्ववर्ती विद्वानों द्वारा निर्धारित या स्थापित अवधारणा का उल्लेख किया है।

२१. उपमान–'अथौपम्यम्-औपम्यं नाम यदन्येनान्यस्य सादृश्यमधिकृत्य प्रकाशनं; यथा—दण्डेन दण्डकस्य, धनुषा धनुःस्तम्भस्य, इष्वासेनाऽऽरोग्यदस्येति। अर्थात् एक प्रसिद्ध वस्तु का सादृश्य देकर परस्पर में विभिन्न दूसरी अप्रसिद्ध वस्तु का जब ज्ञान कराया जाता है तो उसे उपमान कहा जाता है। जैसे—दण्ड से दण्डक रोग को समझाना, धनुष से धनुस्तम्भ रोग की, कुशल बाणचालक से आरोग्यदाता वैद्य की।

इन उदाहरणों के द्वारा उपमान को समझाया गया है। कुशल बाणचालक यदि मर्मस्थल पर हल्के बाण से भी प्रहार करता है अर्थात् उसकी बाण चलाने की कला सिद्ध होती है तो वह हल्के बाण से भी मर्मस्थान को वेध कर सफल हो जाता है परन्तु निशाना सही नहीं होने की स्थिति में तीक्ष्ण बाण से किसी को घायल तो कर सकता है परन्तु मार नहीं पाता। उसी प्रकार एक वैद्य यदि रोग के मर्म को जानता है तो वह मृदु औषधियों या साधारण औषधियों के प्रयोग से भी उसे ठीक कर देता है परन्तु रोग का सही ज्ञान नहीं होने पर उत्तम औषधियों के प्रयोग से भी आरोग्य नहीं दे पाता है। उसी प्रकार अन्य दो उदाहरणों में भी उपमा द्वारा दूसरे अप्रसिद्ध विषय का सादृश्य प्रस्तुत किया गया है। जिस रोग में शरीर दण्ड के समान हो जाता है उसे प्रसिद्ध वस्तु दण्ड की उपमा द्वारा दण्डक कहा जाता है। रोग-विशेष में जब शरीर इस तरह टेढ़ा हो जाता है कि उसका आकार धनुष की तरह हो जाता है तो प्रसिद्ध वस्तु धनुष की उपमा देकर इस रोग का परिचयपरक नाम धनुःस्तम्भ रखा गया है। इस नाम से रोग का इतना परिचय प्राप्त हो जाता है कि इस रोग-विशेष में शरीर धनुष की तरह स्तम्भित होकर वक्र हो जाता है। उपमान को आचार्य चक्रपाणिदत्त ने निम्न रूप में च० वि० ८।४२ की टीका में स्पष्ट किया है—'यदन्ये-नेत्यादौ अन्येनेति प्रसिद्धेन। अन्यस्येत्यप्रसिद्धस्य सादृश्यमधिकृत्येतिसादृश्यं प्रतिपाद्य संज्ञासंज्ञिसम्बन्धंप्रति कारणतया अधिकृत्य। यदा तु यद्यन्येन उपमानं व्याख्येयं तथा सादृश्यं प्रतिपाद्यतया अधिकृत्येति योजनीयम्। तेषां सादृश्यप्रतिपत्तिः उपमानार्थः। न्याये च संज्ञासंज्ञिसंबन्ध प्रतीति उपमानफलम् तच्च प्रथमव्याख्यानाद् भवति। उक्तं हि 'तत्र प्रसिद्धसाधर्म्यात् साध्यसाधनमुपमानम्।' अर्थात् जिस अन्य विषय का अन्य प्रसिद्ध विषय से सादृश्य ग्रहण कर समानता प्रतिपादित करके संज्ञा-संज्ञि सम्बन्ध के कारणता को ग्रहण करके उनको समानता का ज्ञान कराया जाता है वही उपमान का तात्पर्य है। न्यायशास्त्र में भी संज्ञा-संज्ञि सम्बन्ध की समानता से उपमान का तात्पर्य लिया जाता है; जैसाकि न्यायशास्त्र में कहा गया है कि 'प्रसिद्ध समानधर्मिता से साध्य को सिद्ध करना ही उपमान है।'

२२. **संशय**—संशय को पारिभाषित करते हुए आचार्य कहते हैं कि—'संशयो नाम सन्देहलक्षणासन्दिग्धेष्वर्थेष्वनिश्चयः।' अर्थात् सन्देह के लक्षणों से युक्त होने के कारण सन्देहयुक्त विषयों का अनिश्चित रूप से ज्ञान होना संशय कहा जाता है। आचार्य ने इसको और भी स्पष्ट करके लिए उदाहरण प्रस्तुत किया है। यथा—'दृष्टा ह्यायुष्मल्लक्षणैरुपेताश्चानुपेताश्च तथा सक्रियाश्चाक्रियाश्च पुरुषाशीघ्रभङ्गाश्चिर-जीविनश्च एतदुभयदृष्टत्वात् संशयः-किमस्ति खल्वकालमृत्युरुत नास्तीति।' अर्थात् देखा जाता है कि एक रोगी आयु के लिए हितकारी सभी लक्षणों से युक्त है और दूसरी तरफ दूसरा रोगी आयुष्य के लक्षणों से युक्त नहीं है और उचित चिकित्सा

नहीं होने पर या उचित चिकित्सा होने पर भी एक रोगी शीघ्र ही प्राण त्याग करता है तथा दूसरा रोगी बहुत दिनों तक जीवित रहता है। इन दोनों रोगियों को देखने पर यह संशय हो जाता है कि अकाल मृत्यु होती है या नहीं। यहाँ यह स्पष्ट किया गया है कि मृत्यु को चिकित्सा के द्वारा प्रभावित नहीं किया जा सकता। एक ही रोग के दो रोगियों की भी यदि चिकित्सा की जाती है तो एक मर जाता है तथा दूसरा जीवित रहता है। इस प्रकार निश्चित रूप से यह नहीं कहा जा सकता है कि किसकी मृत्यु होगी, किसकी नहीं। अतः यहाँ मृत्यु के सम्बन्ध में निश्चयात्मक ज्ञान का अभाव होना ही संशय उत्पन्न करता है तथा निश्चयात्मक ज्ञानाभाव में इस पर सन्देह करना संशय है।

२३. प्रयोजन—'अथ प्रयोजनं-प्रयोजनं नाम यदर्थमारभ्यन्ते आरम्भाः।' अर्थात् जिसके लिए कार्यों का प्रारम्भ किया है, उसे प्रयोजन कहा जाता है। आचार्य ने उदाहरण प्रस्तुत किया है। 'यथा—यद्यकालमृत्युरस्ति ततोऽहमात्मानमायुष्यैरुपचरिष्याम्यनायुष्याणि च परिहरिष्यामि, कथं मामकालमृत्युः प्रसहेतेति।'—च०वि० ८।४४। अर्थात् व्यक्तिविशेष सोचता है या जब उसे यह ज्ञान हो जाता है कि अकालमृत्यु होती है तो वह सोचता है कि मैं अपने लिए आयु को बढ़ाने वाले या आयु के लिए हितकर आहार-विहार सेवन करूँगा तथा आयु के लिए जो अहितकर आहार-विहार है, उन्हें मैं छोड़ दूँगा तब मुझे अकाल मृत्यु कैसे मार सकेगी। इस प्रकार व्यक्ति-विशेष द्वारा हितकर आहार ग्रहण करने की या अहितकर आहारादि के छोड़ने की क्रिया आरम्भ होती है, उसका विषय 'अकाल मृत्यु से बचना' है, इसी को प्रयोजन कहा जाता है। न्याय दर्शन के अनुसार—'यमर्थमधिकृत्य प्रवर्तते तत्प्रयोजनम्'—जिस अर्थ या उद्देश्य को लेकर कार्य में प्रवृत्ति होती है, उसे प्रयोजन कहा जाता है। इस सृष्टि में प्रत्येक व्यक्ति चाहे वह विद्वान् हो या मूर्ख, पर बिना प्रयोजन के किसी भी कार्य में प्रवृत्त नहीं होता है—'प्रयोजनमनुद्दिश्य मन्दोऽपि न प्रवर्तते' अर्थात् बिना प्रयोजन के मूर्ख भी किसी कार्य में प्रवृत्त नहीं होता। एक योगी भी योग साधना करता है तो उसका प्रयोजन मोक्षप्राप्ति होती है। बिना प्रयोजन कोई भी जन्तु कार्य में प्रवृत्त नहीं होता है। आयुर्वेद में कहा गया है कि—इस सृष्टि में मनुष्य ही नहीं, वरन् समस्त प्राणियों की प्रवृत्ति किसी अर्थ-विशेष के लिए (प्रयोजन के लिए) ही होती है तथा यह भी कहा गया है कि उसका प्रयोजन सुख होता है—'सुखार्थाः सर्वभूतानां मताः सर्वाः प्रवृत्तयः।'—च० सू० २८।

२४. सव्यभिचार—'अथ सव्यभिचारं-सव्यभिचारं नाम यद्-व्यभिचरणं यथा—भवेदिदमौषधमस्मिन् व्याधौ यौगिकमथवा नेति।'—च० वि० ८।४५। अर्थात् जिसका अभिचरण होता है उसे सव्यभिचार कहा जाता है। जैसे—यह औषध उस रोग में प्रयोग करने पर लाभकारी हो या न हो। अभिचरण का तात्पर्य यह है कि निश्चित

रूप से किसी एक बात को न बताया जाय; बल्कि यह कहा जाय कि ऐसा हो भी सकता है और नहीं भी हो सकता। जैसे—किसी चिकित्सक से परामर्श के बाद आतुर पूछता है कि महोदय क्या मैं इन औषधियों से स्वस्थ हो जाऊँगा ? तो चिकित्सक यह कहता है कि, इससे तुम स्वस्थ हो भी सकते हो या इन औषधियों से स्वस्थ नहीं भी हो सकते हो। इस प्रकार निश्चयात्मक कथन का अभाव अभिचरण है तथा इसे ही सव्यभिचार कहा जाता है। इसके तीन प्रकार हैं—

१. साधारण सव्यभिचार—साध्य के अभाव-स्थल में हेतु के रहने को साधारण सव्यभिचार कहते हैं—'साध्याभाववद्वृत्तिः साधारणोऽनैकान्तिकः।' जैसे—पर्वत अग्नि वाला है, क्योंकि यह प्रमेय है। इसमें प्रमेय हेतु अग्नि का अभाव-स्थल तालाब में भी पाया जाता है, अतः यह साधारण सव्यभिचार है। इस प्रकार साधारण सव्यभिचार वह हेतु है जो साध्य वस्तु के अभाव-स्थान में भी रहे।

२. असाधारण—'सर्वसपक्षविपक्षव्यावृत्तः पक्षमात्रवृत्तिरसाधारणः'—अर्थात् जो हेतु सभी सपक्ष-विपक्ष से पृथक् होकर केवल पक्षमात्र में रहे उसे असाधारण कहते हैं अर्थात् यह हेतु है जो किसी सपक्ष या विपक्ष में न रहकर केवल पक्ष में ही उपस्थित रहे। जैसे—शब्द नित्य है; क्योंकि उसमें शब्दत्व होता है। शब्दत्व तो केवल शब्द में ही होता है और किसी भी नित्य या अनित्य वस्तु में नहीं होता।

३. अनुपसंहारी—'अन्वयव्यतिरेकदृष्टान्तरहितोऽनुपसंहारी'—अर्थात् जो हेतु अन्वय, व्यतिरेक और दृष्टान्त इन तीनों से शून्य हो उसे अनुपसंहारी कहा जाता है। यह वह हेतु है जिसके साथ न कोई अन्वय रहता है, न व्यतिरेक रहता है और न ही इसके साथ किसी प्रकार का दृष्टान्त रहता है। जैसे—यदि कहा जाय कि—प्रमेय होने के कारण सब कुछ अनित्य है। यहाँ 'सब कुछ अनित्य है' कहा जाता है तो पक्ष या विपक्ष का कोई प्रश्न ही नहीं रह जाता है अतः यह अन्वय व व्यतिरेक दोनों से शून्य है तथा इस वचन का किसी प्रकार का दृष्टान्त भी नहीं है अतः यह दृष्टान्त-रहित है। इस प्रकार वह हेतु जो अन्वय, व्यतिरेक तथा दृष्टान्त से रहित होता है, उसे अनुपसंहारी सव्यभिचार कहा जाता है।

२५. जिज्ञासा—'अथ जिज्ञासा–जिज्ञासा नाम परीक्षा यथा भेषजपरीक्षोत्तरकाल-मुपदेक्ष्यते।' अर्थात् परीक्षा को जिज्ञासा कहा जाता है। जैसे—कहा जाता है कि भेषजपरीक्षा उत्तरकाल यानि बाद में करेंगे। जब विभिन्न प्रमाणों द्वारा विषय-निर्धारण किया जाता है या अवधारणात्मक ज्ञान प्राप्त किया जाता है तो उसे परीक्षा कहते हैं। जब किसी वस्तु की यथार्थता को जानने हेतु प्रवृत्ति होती है तो उसे जिज्ञासा कहते हैं। अतः यहाँ जिज्ञासा को परीक्षा कहा गया है। जैसे—भारतीय दर्शनों में जिस विषय की यथार्थता जानने की प्रवृत्ति होती है उसके लिए जिज्ञासा शब्द का व्यवहार किया जाता है। यथा–'अथातो धर्मजिज्ञासा, ब्रह्मजिज्ञासा' आदि। जिज्ञासा यथार्थ ज्ञान जानने की इच्छा या प्रवृत्ति के लिये व्यवहृत है।

२६. **व्यवसाय**—'व्यवसायो नाम निश्चयः; यथा—वातिक एवायं व्याधिः, इदमेवास्य भेषजं चेति।' अर्थात् किसी वस्तु के निश्चित कारण को व्यवसाय कहा जाता है। जैसे—जब निश्चित रूप से कहा जाता है कि यह वातजन्य व्याधि है तथा इस व्याधि का यही औषध है। इस प्रकार जब किसी वस्तु के हेतु को निश्चयात्मक रूप में प्रस्तुत किया जाता है तो उसे व्यवसाय कहा जाता है।

२७. **अर्थप्राप्ति**—अन्य कतिपय दर्शनों में अर्थप्राप्ति को प्रमाण रूप में ग्रहण किया गया है। परन्तु आयुर्वेद में इसे वादमार्ग माना गया है। अर्थप्राप्ति को परिभाषित करते हुए आचार्य चरक ने कहा है कि—'अर्थप्राप्तिर्नाम यत्रैकेनोक्तेनापरस्यार्थस्यानुक्तस्यापि सिद्धिः। यथा—नायं संतर्पणसाध्यो व्याधिरित्युक्ते भवत्यर्थप्राप्तिः-अपतर्पणसाध्योऽयमिति, नानेन दिवा भोक्तव्यमित्युक्ते भवत्यर्थप्राप्तिः—निशि भोक्तव्यमिति।'—च० वि० ८।४८। अर्थात् जहाँ एक अर्थ (विषय) कहने के बाद दूसरे न कहे गये अर्थ (विषय) का ग्रहण स्वयं यानि अपने-आप हो जाता है तो इसे अर्थप्राप्ति कहते हैं। अर्थ का तात्पर्य विषय होता है। इस प्रकार अर्थप्राप्ति का तात्पर्य विषय की प्राप्ति होता है। यहाँ एक विषय के ही कहने से दूसरे विषय की ज्ञानप्राप्ति हो जाती है, अतः इसे अर्थप्राप्ति कहा जाता है। जैसे—यदि यह कहा जाता है कि यह रोग अपतर्पण साध्य नहीं है, तो दूसरे विषय को बिना बतलाये ही उसका ज्ञान हो जाता है कि तब यह रोग सन्तर्पण द्वारा ठीक हो सकता है। इसी प्रकार जब कहा जाता है कि इसे दिन में भोजन नहीं करना चाहिए। इस प्रकार कहने पर बिना निर्देश के ही ज्ञान हो जाता है कि इसे रात्रि में भोजन करना चाहिए। मीमांसा व वेदान्ती आचार्य इसका ग्रहण अर्थापत्ति नाम के प्रमाण रूप में ग्रहण करते हैं। इसके द्वारा एक अज्ञात तथ्य की प्राप्ति होती है। जैसे—प्रातः यदि गीली जमीन को देखा जाता है तो इस ज्ञान की प्राप्ति होती है कि रात में वर्षा हुई होगी। नैयायिक इसको एक प्रकार का अनुमान ही स्वीकार करते हैं। आयुर्वेद में इसे वादमार्ग में माना गया है तथा इसका शास्त्र में व्यवहार भी किया गया है। जैसे—'न रात्रौ दधि भुञ्जीत।' रात में दधि का सेवन नहीं करना चाहिए। इससे अर्थप्राप्ति होती है कि दधि का सेवन दिन में करना चाहिए। इसी प्रकार यह कहा गया है कि—दिन में नहीं सोना चाहिए। इससे अर्थप्राप्ति होती है कि रात्रि में सोना चाहिए।

२८. **संभव**—'अथ संभवः-यो यतः संभवति स तस्य संभवः, यथा—षड्धातवो गर्भस्य व्याधेरहितं हितमारोग्यस्येति।'—च० वि० ८। अर्थात् जिसकी उत्पत्ति जहाँ से संभावित है, वह उसका सम्भव है। छः धातुओं से गर्भ संभव है। अहिताहार बिहार से रोग सम्भव है तथा हिताहार सेवन से आरोग्य संभव है। गर्भ की उत्पत्ति पंचमहाभूत व आत्मा—इन छः के द्वारा ही होती है; अतः गर्भोत्पत्ति इन्हीं से सम्भावित है (अर्थात् होने वाली है); अतः गर्भ का सम्भव षड्धातु है। इसी प्रकार व्याधि

की उत्पत्ति अहिताहारादि से होती है, अतः अहिताहार व्याध्युत्पादक होने से व्याधि के लिए सम्भव है। इसी प्रकार अन्य उदाहरणों को भी समझना चाहिए।

२९. अनुयोज्य—'अथानुयोज्यम्—अनुयोज्यं नामयद्वाक्यं वाक्यदोषयुक्तं तत्। सामान्यतो व्यपहृतेष्वर्थेषु वा विशेषग्रहणार्थं यद्वाक्यं तदप्यनुयोज्म्', अर्थात् अनुयोज्य उसे कहा जाता है जो वाक्य दोष से युक्त होता है अथवा सामान्य रूप से कहे गये अर्थों में विशेषरूप अर्थज्ञान के लिए जो दूसरा वाक्य प्रयोग किया जाता है उसे अनुयोज्य कहा जाता है। अनुयोज्य का शाब्दिक अर्थ जिसका बाद में योग किया जाय अर्थात् जोड़ा जाय उसे अनुयोज्य कहा जाता है—'अनुपश्चात् युज्यते इति अनुयोज्यः।' इसमें एक वाक्य के बाद दूसरे वाक्य का प्रयोग विशेष अर्थज्ञान हेतु किया जाय। उपर्युक्त परिभाषा में आचार्य ने दो प्रकार से इसको प्रस्तुत किया है। प्रथम के अनुसार वाक्य दोषयुक्त अनुयोज्य है और सामान्य अर्थ हेतु कहे गये वाक्य में विशेषार्थक वाक्य जोड़ा जाना दूसरा है। यहाँ अनुयोज्य को इस रूप में समझा जा सकता है कि यदि सामान्यार्थक वाक्य दोषयुक्त बोलने के दोष को दूर करने के लिए विशेषार्थक वाक्य जोड़ा जाता है तो उसे अनुयोज्य कहते हैं। जैसे—'संशोधन-साध्योऽयं व्याधिः, इत्युक्ते 'किं वा वमनसाध्योऽयं, किं वा विरेचनसाध्यः इत्यनुयुज्यते।'—च० वि० ८।५०। अर्थात् जब किसी के द्वारा यह कहा जाता है कि—यह रोग संशोधन-साध्य है। यह कहने के बाद जब उसके साथ ही पुनः कहा जाता है कि यह वमन-साध्य है या विरेचन-साध्य है तो यह कहना अनुयोज्य है। जब यह कहा गया कि—यह रोग संशोधन-साध्य है तो इससे यह स्पष्ट नहीं हो पाता कि कौन-सा कर्म उस रोग में करना चाहिए; क्योंकि संशोधन के अन्तर्गत वमन, विरेचन, निरुह, आस्थापन, अनुवासन आदि पाँच कर्म हैं। यहाँ संशोधन कहने से सामान्य अर्थ पञ्चकर्म का ग्रहण होता है। जब विशेष यानि पृथक् रूप में यह कहने के लिए कि विशेषरूपेण वमन या विरेचन साध्य है, प्रथम वाक्य में जोड़ा जाय तो इसी को अनुयोज्य कहते हैं।

३०. अननुयोज्य—अननुयोज्य अनुयोज्य के विपरीत होता है अर्थात् इसमें वाक्य-दोष नहीं होता है तथा इसमें विशेषार्थक वाक्य जोड़ने की आवश्यकता नहीं होती है। यथा—अयमसाध्यः। अर्थात् यह असाध्य है। यह वाक्य दोषरहित है तथा इसमें किसी प्रकार के विशेषार्थक वाक्य जोड़ने की आवश्यकता भी नहीं है।

३१. अनुयोग—अनुयोग को निम्न रूप में परिभाषित किया गया है कि—अनुयोगो नाम स यत् तद्विद्यानां तद्विद्यैरेव सार्धं तन्त्रे तन्त्रैकदेशे वा प्रश्नः प्रश्नैकदेशो वा ज्ञानविज्ञानवचनप्रतिवचनपरीक्षार्थमादिश्यते। यथा—नित्यः पुरुषः इति प्रतिज्ञाते यत् परः को हेतुः इत्याह, सोऽनुयोगः।'—च० वि० ८।५२। अर्थात् एक विद्या का विद्वान् जब उसी विद्या के विद्वान् से ज्ञान, विज्ञान, वचन, प्रतिवचन की परीक्षा के

लिए तन्त्र या तन्त्र के एक देश में या प्रश्न का एक भाग पूछे जैसे पुरुष नित्य है यह कहने पर दूसरा यह कहे कि इसमें हेतु क्या है। तो इसे अनुयोग कहा जाता है। अर्थात् प्रतिज्ञा में हेतु पूछे जाने वाला वाक्य अनुयोग कहा जाता है। अनुयोग का शाब्दिक अर्थ भी पीछे यानि बाद में जोड़ना है। परन्तु अनुयोज्य से यह इस अर्थ में भिन्न है कि—उसमें वाक्यदोष रहता है तथा सामान्यार्थक के बाद विशेषार्थक वाक्य की योजना की जाती है तथा अनुयोग में प्रश्न से वाक्य के पूरक विषयों को जोड़ा जाता है। अनुयोग तब होता है जब एक ही विषय के विद्वान् संभाषा या वाद-विवाद करते हैं (Departmental disucsson or Seminar); जैसे एक विद्वान् अपनी कोई प्रतिज्ञा प्रस्तुत करते हैं तो इसका तात्पर्य यह होता है कि वे अपने प्रतिज्ञा को स्थापित कर रहे हैं। प्रतिज्ञा की स्थापना उसी सभा में हो सकती है जहाँ उसी विषय के विद्वान् बैठे हों तथा उनकी प्रतिज्ञा उनके द्वारा मान्य हो जाय या कर्त्ता उसे हेतु, उदाहरण, उपनय, निगमन आदि के द्वारा सिद्ध करे। इसी क्रम में जब प्रस्तुतकर्त्ता अपनी प्रतिज्ञा 'पुरुष नित्य है' को प्रस्तुत करता है तो उस विषय के विशेषज्ञ परीक्षक या सम्भाषा सभासद (Expert or pnrticipant delegate of Seminar) उससे प्रतिज्ञा के हेतु को पूछता है। इस प्रकार पुरुष की नित्यता में हेतु पूछना अनुयोग है।

३२. प्रत्यनुयोग—'अथ प्रत्यनुयोग:—प्रत्यनुयोगो नामानुयोगस्यानुयोग:। यथा—अस्यानुयोगस्य पुन: को हेतुरिति।' अर्थात् अनुयोग के बाद पुन: अनुयोग करना प्रत्यनुयोग कहा जाता है। जैसे—प्रश्न किया गया कि पुरुष के नित्यता में हेतु क्या है ? तो प्रतिज्ञा करने वाला कहा कि —'अकृतत्वात्।' पुन: पूछा जाय कि— 'को हेतु: अकृतत्वात् इत्यस्य' तो इस प्रकार पुन: प्रश्न करने को प्रत्यनुयोग कहा जाता है।

३३. वाक्यदोष—वाक्यदोष के सम्बन्ध में कहा गया है कि—'अथ वाक्यदोष:—वाक्यदोषो नाम यथा खल्वस्मिन्नर्थे न्यूनम्, अधिकम्, अनर्थकम्, अपार्थकं, विरुद्धं चेति, एतानि ह्यन्तरेण न प्रकृतोऽर्थ: प्रणश्येत्।' अर्थात् कोई वाक्य किसी विषय में न्यून, अधिक, अनर्थक, असम्बद्ध अर्थ वाला या विरुद्ध अर्थ वाला रहता है तो इन दोषों से युक्त वाक्य को दोषयुक्त वाक्य कहते हैं। इस प्रकार वाक्य को दूषित करने वाले भाव न्यून, अधिक आदि वाक्यदोष कहे जाते हैं। क्योंकि वाक्यदूषण इन्हीं दोषों के द्वारा होता है। इन न्यूनाधिक वाक्यदोषों के कारण वाक्य का स्वाभाविक विषय या अर्थ प्रकट नहीं होता है। चरकसंहिता में निम्न पाँच वाक्य दोषों का वर्णन किया गया है—

१. न्यूनदोष—'तत्र न्यूनं-प्रतिज्ञा हेतूदाहरणोपनयनिगमनानामन्यतमेनापि न्यूनं न्यूनं भवति, यद्वा बहूपदिष्टहेतुकमेकेन हेतुना साध्यते तच्च न्यूनम्।' अर्थात् न्यून वाक्यदोष से यहाँ तात्पर्य यह है कि जब किसी वाक्य में प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण,

उपनय या निगमन में से किसी एक का भी अभाव हो। इन पंचावयवों में से एक अवयव के न्यून (कम) होने के कारण इस दोष को न्यूनदोष कहा जाता है। जैसे—कहा जाय कि—पुरुष नित्य है, यह किसी से निर्मित नहीं है, जैसे—आकाश। अत: पुरुष नित्य है। इस वाक्य में उपनय द्वारा प्रतिज्ञा को सिद्ध नहीं किया है; अत: इसमें उपनय के न होने से न्यून दोष है। पुन: न्यूनदोष के लिए कहा गया है कि—जो विषय अनेक हेतुओं से सिद्ध होने वाले हैं, उन्हें यदि किसी एक ही हेतु से सिद्ध किया जाता है तो इस दोष को भी न्यून दोष कहा जाता है।

२. अधिक दोष—'अधिकं नाम यन्न्यूनविपरीतं, यद्वाऽऽयुर्वेदे भाष्यमाणे बार्हस्पत्यमौशनसमन्यद्वा यत्किंचिदप्रतिसंबद्धार्थमुच्यते, यद्वा संबद्धार्थमपि द्विरभिधीयते तत् पुनरुक्तदोषत्वादधिकं···।' अर्थात् न्यून के विपरीत लक्षण वाले दोष को अधिक दोष कहा जाता है। अथवा अप्रासंगिक रूप से कहा जाय उसे अधिक दोष कहते हैं। जैसे—जहाँ आयुर्वेद का विषय कहना हो, वहाँ पर आयुर्वेद का विषय न कहकर दूसरे अप्रासंगिक बार्हस्पत्य या औशनस शास्त्र या अन्य किसी शास्त्र की बात कही जाती है तो इसे अप्रासंगिकता के कारण अधिक दोष कहा जाता है। जैसे—कोई आयुर्वेद का शिक्षक कक्षा में यह कहे कि—दिवास्वप्न व रात्रि-जागरण नहीं करना चाहिए। इससे इष्ट देवता नाराज हो जाते हैं, यश, धन की हानि होती है। यह यहाँ अप्रासंगिक है क्योंकि यहाँ यह कहना अपेक्षित है कि दिवा स्वप्न से कफ की तथा रात्रि-जागरण से वात की वृद्धि होती है जो कि प्रसंग के अनुरूप है। इसके अतिरिक्त यह भी कहा गया है कि प्रासंगिक विषयों को बार-बार कहने पर पुनरुक्त दोष होता है। यह भी अधिक दोष है। पुनरुक्त दोष के भी दो प्रकार बतलाये गये हैं—'पुनरुक्तम् द्विविधंअर्थपुनरुक्तं, शब्द पुनरुक्तं च, तत्रार्थपुनरुक्तं-भेषजमौषधं साधनमिति; शब्दपुनरुक्तं पुनर्भेषजं भेषजमिति।' अर्थात् अर्थ पुनरुक्त व शब्द पुनरुक्त भेद से पुनरुक्त दोष दो प्रकार के होते है। अर्थ पुनरुक्त उसे कहते हैं कि जब एक ही अर्थ वाले विभिन्न पदों का एक साथ ही प्रयोग किया जाता है। जैसे—भेषज, औषध, साधन ये तीनों पद एक ही अर्थ 'चिकित्सा' हेतु व्यवहृत होते हैं अर्थात् ये तीनों चिकित्सा के पर्याय हैं परन्तु यदि 'भेषजमौषधं साधनम्' कहा जाता है तो एकार्थक तीनों पदों का एक साथ व्यवहार करना अर्थ पुनरुक्त दोष कहा जाता है। जब 'भेषजं भेषजं' कहा जाय अर्थात् एक ही शब्द का बार-बार प्रयोग किया जाता है तो उसे शब्द पुनरुक्त दोष कहते हैं।

३. अनर्थक दोष—अनर्थक दोष से तात्पर्य यह है कि जब कोई वचन केवल विभिन्न अक्षरों का समुदाय हो तथा उस वर्ण या अक्षर समुदाय से किसी अर्थ या विषय का ज्ञान नहीं होता हो तो इस दोष को अनर्थक दोष कहा जाता है। जैसे किसी वर्ग के वर्णों का समूह कखगघ। इस वर्णसमूह का कोई अपना अर्थ नहीं है

अतः इसे अनर्थक दोष कहा जाता है—'अनर्थकं नाम यद्वचनमक्षरग्राममात्रमेव स्यात् पञ्चवर्गवन्न चार्थतो गृह्यते।'

४. अपार्थक दोष—अपार्थक दोष के सम्बन्ध में कहा गया है कि—'अपार्थकं नाम यदर्थवच्च परस्परेणासंयुज्यमानार्थकं, यथा चक्र न-क्र-वंश-वज्र निशाकरां इति।' अर्थात् जिसमें शब्द तो अर्थयुक्त हों, किन्तु परस्पर आपस में एक दूसरे से सम्बन्धित न हो तब उस सार्थक शब्द युक्त निरर्थक वाक्य को अपार्थक दोष युक्त माना जाता है। यथा—चक्र, नक्र, वंश, वज्र, निशाकर।

५. विरुद्ध दोष—विरुद्ध दोष के सम्बन्ध में कहा गया है कि–जो वाक्य दृष्टान्त, सिद्धान्त और प्रतिज्ञा के विपरीत होते हैं, उन वाक्यों में विरुद्ध दोष होता है। दृष्टान्त उदाहरण को कहा जाता है जिसके द्वारा मूर्ख व विद्वान् दोनों को समान रूप से बोध हो जाय। इसके विरुद्ध वाक्य में विरुद्ध दोष होता है। इसी प्रकार सिद्धान्त का विवेचन पूर्व में किया जा चुका है। इसके विरुद्ध वचनों में भी विरुद्ध दोष होता है। यदि कहा जाय कि—'विरेचनं वातहराणाम्' तो यह सिद्धान्तविरुद्ध है क्योंकि आयुर्वेद का सिद्धान्त यह है कि 'विरेचनं पित्तहराणां।' समयविरुद्ध वाक्य में भी विरुद्ध दोष होता है। यह तीन प्रकार का कहा गया है–'समयः पुनस्त्रिविधा भवति।' यथा आयुर्वेदिकसमयः याज्ञिकसमयः मोक्षशास्त्रिकसमयश्चेति। अर्थात् समय तीन प्रकार का होता है। १. आयुर्वेदिकसमय, २. याज्ञिकसमय, ३. मोक्षशास्त्रिक समय। इसे निम्नरूप से उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया गया है—'तत्रायुर्वेदिकसमय—चतुष्पादं भेषजमिति, याज्ञिकसमयः—आलंभ्यायजमानैः पशव इति। मोक्षशास्त्रिकसमयः—सर्वभूतेष्वहिंसेति। तत्र स्वसमयविपरीतमुच्यमानं विरूद्धं भवति।'–च० वि० ८।५४। अर्थात् आयुर्वेदिक समय चिकित्सा के चतुष्पाद (भिषक, द्रव्य, सेवक व रोगी) है। याज्ञिक समय में कहा गया है कि यजमानों को पशुओं का यज्ञ के निमित्त बध करना चाहिए। मोक्षशास्त्रिक समय में कहा गया है कि सभी प्राणियों में अहिंसा का व्यवहार करना चाहिए। इस प्रकार इन समयों के विरुद्ध वाक्य कहने पर उसे विरुद्ध दोष कहा जाता है।

३४. वाक्यप्रशंसा—वाक्यदोष के बाद आचार्य ने वाक्यप्रशंसा का उल्लेख किया है। वाक्यप्रशंसा के सम्बन्ध में उनका कहना है कि—'वाक्यप्रशंशा नाम यथा खल्वस्मिन्नर्थे त्वन्यूनम् अनधिक्यम्, अर्थवत्, अनपार्थकम्, अविरुद्धम्, अधिगतपदार्थं चेति तत्तद्वाक्यमननुयोज्यमिति प्रशस्यते।'—च० वि० ८। ५५। अर्थात् वाक्यप्रशंसा उसे कहते हैं जो वाक्य दोषयुक्त न हो अर्थात् उपर्युक्त वाक्य दोष रहित वाक्य श्रेष्ठ माना जाता है यही वाक्यप्रशंसा है। पुनः उदाहरण द्वारा इसको स्पष्ट करते हैं कि जब वाक्य में यह कहा जाय कि इस अर्थ में यह वाक्य न्यून नहीं है अर्थात् प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण उपनय व निगमन की दृष्टि से पूर्ण है। यह अधिक नहीं है अर्थात्

अप्रासंगिक तथ्यों से रहित है या इसमें पुनरुक्त दोष वाले वाक्य नहीं हैं या यह वाक्य विषय के अनुरूप है। इसमें अपार्थक दोष नहीं है। यह विरुद्ध दोषरहित है तथा यह कहा जाय कि इसके पदों का विषय स्पष्ट अर्थ वाला है आदि। इस प्रकार किसी वाक्य के लिए जब उसे दोषरहित कहकर उपर्युक्त पदों द्वारा उस वाक्य की प्रशंसा की जाती है तो प्रशंसा के साधनों को (अन्यूनम्, अर्थवत, अनधिकम्, अविरुद्धम् आदि) को वाक्यप्रशंसा कहा जाता है। ये वाक्यदोष के विपरीत होते हैं।

३५. छल—आचार्य चरक ने वादमार्ग में छल का भी उल्लेख किया गया है। सामान्यतया लोकव्यवहार में छल का तात्पर्य धोखा देना, ठगना आदि समझा जाता है। बादमार्ग में भी वर्णित छल इसी अर्थ में व्यवहृत होता है। छल को पारिभाषित करते हुए आचार्य ने कहा है कि—'छलं नाम परिशठमर्थाभासमनर्थकं वाग्वस्तुमात्रमेव।' अर्थात् छल उसे कहा जाता है जो वाक्य-परिशठ (वाक्य-परिशठ का तात्पर्य यहाँ उन वाक्यों से है जो दूसरे को धोखा देने या ठगने के अर्थ में प्रयुक्त किया जाता है) अर्थाभास अर्थात् सुनने पर किसी विषय से सम्बन्धित होने का केवल आभास होता है परन्तु उस वाक्य का कोई यथार्थ अर्थ न होता हो तथा बोला गया वाक्य अनर्थक (बिना प्रयोजन के) होता है। न्याय दर्शन में छल को परिभाषित करते हुए कहा गया है—'वचनविघातोऽर्थविकल्पोपपत्त्याच्छलम्।' अर्थात् अपने तर्क से किसी वाक्यादि या विषयादि के नये अर्थ की कल्पना कर दूसरे के वचनों का विघात (खण्डन) कर देने को छल कहा जाता है। चरक संहिता में इसके दो प्रकार बतलाये गये हैं—१. वाक्छल, सामान्य छल।

१. वाक्छल—आचार्य चरक ने वाक्छल को कतिपय उदाहरणों के माध्यम से स्पष्ट किया है। न्याय दर्शन में वाक्छल को परिभाषित करते हुए कहा गया है कि—'सामान्यशब्दोक्तेऽर्थे वक्तुरभिप्रायादर्थान्तरकल्पना वाक्छलम्।' अर्थात् सामान्य अर्थ में प्रयुक्त वाक्यों के वक्ता के अभिप्राय के विरुद्ध, अर्थ की कल्पना करना वाक्छल कहा जाता है। अर्थात् प्रयुक्त वाक्य का प्रयोग अन्य अभिप्राय से कहता है परन्तु उसके वाक्य का उसके अभिप्राय के विरुद्ध अर्थ निकालना या अपने वाक्य के नये अभिप्राय की कल्पना कर अभिप्राय के विरुद्ध अर्थ निकालना वाक्छल कहा जाता है। आचार्य चरक ने इसे निम्न उद्धरणों द्वारा स्पष्ट किया है—'कश्चिद् ब्रूयात्-नवतन्त्रोऽयं भिषगिति, अथ भिषग् ब्रूयात्—नाहं नवतन्त्रः एकतन्त्रोऽहमिति। परो ब्रूयात्……अनेकधाऽभ्यस्तं मया तन्त्रमिति, एतद्वाक्छलं।'—च० वि० ८।५६। जैसे—कोई व्यक्ति 'नये पढ़े हुए' के अभिप्राय से कहता है कि—यह वैद्य नवतन्त्र है तो वैद्य उस व्यक्ति के अभिप्राय के विरुद्ध इस वाक्य का नया अर्थ कल्पित कर कहता है कि—'नाहं नवतन्त्रः एकतन्त्रोऽहमिति।' अर्थात् मैं नवतन्त्र (नौ शास्त्र) का नहीं बल्कि एक ही शास्त्र का विद्वान् हूँ। पुनः पूर्वपक्ष वाला व्यक्ति उस व्यक्ति से यदि यह

कहता है कि मैं यह नहीं कह रहा हूँ कि तुम नवशास्त्र के विद्वान् हो, मेरे कहने का अभिप्राय यह है कि—'नवाभ्यस्तं हि ते तन्त्रम्' (अर्थात् शास्त्र में तुम्हारा अभ्यास नया है- यानि तुम नवाभ्यासी हो) तब वैद्य उसके द्वारा पूछे गये 'नवाभ्यस्तं' के अभिप्राय के विरुद्ध अपने कल्पित अभिप्राय के द्वारा प्रश्नकर्त्ता के वाक्य का विघात करता है तथा कहता है कि—तुम कहते हो कि मैंने नया ही शास्त्र का अभ्यास किया है तो मैंने नया ही शास्त्र का अभ्यास नहीं किया है बल्कि अनेक बार किया है। इस प्रकार जब किसी के द्वारा प्रयुक्त वाक्य के अभिप्राय के विरुद्ध नया अर्थ कल्पित कर उसके वाक्य का विघात किया जाता है तो उसे वाक्छल कहा जाता है।

२. सामान्य छल—चरकसंहिता में सामान्य छल को परिभाषित न करते हुए उदाहरण के माध्यम से ही स्पष्ट किया गया है। न्यायदर्शन में सामान्य छल को परिभाषित करते हुए कहा गया है कि—'सम्भवतोऽर्थस्यातिसामान्ययोगादसंभूतार्थ-कल्पनं सामान्यछलम्।'—न्या० द० १-२-१३। अर्थात् यथासम्भव सामान्य शब्द के द्वारा कहे गये अर्थ में अर्थान्तर का सामान्य योग होने से असम्भूत अर्थान्तर की कल्पना करना सामान्य छल कहा जाता है। चरक विमान, अ० ८ में इसे निम्न उदाहरण से स्पष्ट किया गया है। जैसे—एक वैद्य कहता है कि—'व्याधिप्रशमनार्थौषधमित्युक्ते'—अर्थात् व्याधियों के प्रशमन या शांन्ति के लिए औषधियाँ होती है तो विपक्षी उसके वाक्य के अर्थान्तर का असम्भूत अर्थान्तर की कल्पना कर कहता है कि—आप क्या कहते हैं ? सत् से सत् शान्त होता है। सत् (सत्ता वाली वस्तु) औषध व रोग दोनों होते हैं इसलिए सत्तात्मक रोग की शान्ति सत्तात्मक औषधि के द्वारा होती है। ऐसा है तो सत् कास से सत् क्षय का नाश हो जाना चाहिए। इस प्रकार का छल सामान्य छल कहा जाता है। न्यायदर्शन में एक तीसरा छल उपचारच्छल का भी उल्लेख किया गया है। जिसके बारे में यह कहा गया है—'धर्मविकल्पनिर्देशोऽर्थसद्भाव प्रतिषेध उपचारच्छलं।' अर्थात् किसी भी वाक्य का प्रयोग उचित अर्थ हेतु होता है तो इसको धर्म कहा जाता है। जब धर्म में विकल्प का प्रयोग करने पर यथार्थ की सत्ता का प्रतिषेध होता है तो इस धर्म के विकल्प को (अन्यत्र दृष्ट अर्थ का अन्यत्र प्रयोग करने को) उपचारच्छल कहा जाता है। आयुर्वेद में उपचारच्छल का उल्लेख किया गया है।

३६. अहेतु—'न हेतुः अहेतुः'—अर्थात् जो हेतु वाक्य का साधक नहीं होता है, उसे अहेतु कहा जाता है। न्याय में अहेतु को ही हेत्वाभास कहा गया है अर्थात् जो हेतु न हो परन्तु उसका आभास हेतु की तरह ही होता हो। आयुर्वेद में अहेतु तीन प्रकार के बतलाये गये हैं—१. प्रकरणसम, २. संशयसम, ३. वर्ण्यसम।

१. प्रकरणसम अहेतु—चरकसंहिता में इसको उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया गया है। न्याय में प्रकरणसम के लिए कहा गया है कि—'यस्मात् प्रकरणचिन्ता स एव

निर्णयार्थमुपदिष्ट: प्रकरणसम:' अर्थात् जिस प्रकरण का विचार हो रहा है वह निर्णय के लिए निमित्त अर्थात् हेतु मान लिया जाता है तो इस अहेतु या हेत्वाभास को प्रकरणसम कहा जाता है। आचार्य चरक ने एक उदाहरण द्वारा इसको स्पष्ट किया है। जैसे—एक व्यक्ति कहता है कि—शरीर से भिन्न आत्मा नित्य है। ऐसा कहने पर यदि दूसरा व्यक्ति कहता है कि—जिस कारण से शरीर से आत्मा भिन्न होता है, उसी कारण से नित्य है। यहां वह कहता है कि शरीर अनित्य होता है; अत: शरीर से भिन्न आत्मा को नित्य होना चाहिए। यहां यह सिद्ध करने के लिए कि—आत्मा नित्य है। अहेतु को हेतु (शरीर से भिन्न होने के कारण) रूप में प्रस्तुत किया गया है; क्योंकि जो पक्ष होता है उसे हेतु रूप में नहीं स्वीकार किया जा सकता। यहां आत्मा के नित्यत्व की सिद्धि के लिए शरीर से भिन्न होने के कारण को हेतु रूप में प्रस्तुत करने पर हेतु सदृश मात्र आभास होता है परन्तु यह अहेतु है तथा प्रकरणसम भी यही है।

२. संशयसम हेतु—च० वि० ८ में संशयसम को परिभाषित करने के लिए इसके लक्षण को निम्न रूप में प्रस्तुत किया गया है—'संशयसमो नामाहेतुर्य एव संशयहेतु स एव संशयच्छेदहेतु:, यथा—अयमायुर्वेदैकदेशमाह, किन्त्वयं चिकित्सक: स्यान्न वेति संशये परो ब्रूयात्—यस्मादयमायुर्वेदैकदेशमाह......न हि य एव संशय-हेतु, स एव संशयच्छेदहेतुर्भवति'—अर्थात् जो संशय का हेतु रहता है यदि वही संशय दूर करने का भी हेतु होता है तो इसे संशयसम कहा जाता है। जैसे—यदि कोई कहता है कि—यह आयुर्वेद के एक अंश को कहता है; अत: यहां यह संदेह उत्पन्न होता है कि यह व्यक्ति चिकित्सक है या नहीं। तब दूसरा व्यक्ति यह कहता है कि यह आयुर्वेद के एक देश को जानता है अत: चिकित्सक है। यहां पर संशय के उत्पत्ति का हेतु भी आयुर्वेद का एक देश जानना है तथा संशय को दूर करने का हेतु भी 'आयुर्वेद के एक देश ज्ञान' हेतु रूप में प्रस्तुत किया गया है; अत: इसे संशयसम अहेतु कहा जाता है। न्याय भाष्य में इसे—'यत्र समानोधर्म: संशयकारणं हेतुत्वेन उपादीयते स संशयसम:' कहा गया है। अर्थात् संशय का कारणभूत समानधर्म कारण रूप में यदि स्वीकृत किया जाता है तो वह संशयसम अहेतु होता है।

३. वर्ण्यसम अहेतु—जो हेतु वर्णन करने योग्य विशेषताओं से रहित होता है, उसे वर्ण्यसम अहेतु कहा जाता है। जैसे—कोई व्यक्ति कहता है कि—स्पर्शगम्य न होने से बुद्धि अनित्य है, शब्द की तरह। यहां पर शब्द, बुद्धि दोनों वर्णन करने योग्य हैं, इन दोनों वाक्यों में बुद्धि व शब्द वर्णन करने योग्य होने से परस्पर एक समान हैं; अत: यह वर्ण्यसम अहेतु है।

२७. अतीत काल—'अथातीतकालं—अतीतकालं नाम यत् पूर्वं वाच्यं तत् पश्चा-दुच्यते, तत् कालातीतत्वादग्राह्यं भवतीति पूर्वं वा निग्रहप्राप्तमनिगृह्य परिगृह्य पक्षान्त-

रितं पश्चान्निगृहीते, तत्तस्यातीतकालत्वन्निग्रहवचनमसमर्थं भवतीति ।'—च० वि० ८।५८। अर्थात् जिसको पहले कहना चाहिए उसे यदि बाद में कहा जाता है तो उसे कालातीत या अतीतकाल कहा जाता है। यह कालातीत या अतीतकाल अग्राह्य होता है क्योंकि यह दोषयुक्त होता है। यहाँ आचार्य ने निग्रह स्थान को उदाहरण रूप में प्रस्तुत कर विषय को स्पष्ट किया है। निग्रह स्थान में आये हुए को निग्रह न करके बाद में जब वह दूसरे पक्ष को लेकर शास्त्रार्थ करता है, ऐसा जानकर या निग्रह करता है तो उसका निग्रह वचन कालातीत होने से असमर्थ होता है।

३८. उपालम्भ—हेतु में दोषों को दीखाना या कहना उपालम्भ कहा जाता है। जैसे—पहले अहेतुस्वरूप हेत्वाभास को कहा गया है—'उपालम्भो नाम हेतुर्दोषवचनं, यथा—पूर्वमहेतवो हेत्वाभाषाः व्याख्याताः।'

३९. परिहार—परिहार को परिभाषित करते हुए कहा गया है कि—'परिहारो नाम तस्यैव दोषवचनस्य परिहरणं।' अर्थात् दोष-वचन का परिहरण करना अर्थात् निराकरण करना परिहार कहा जाता है। यथा—'नित्यमात्मनि शरीरस्थे जीवलिङ्गान्युपलभ्यन्ते तस्य चापगमान्नोपलभ्यन्ते, तस्मादन्यः शरीरादात्मा नित्यश्चेति।' अर्थात् जब कहा जाता है कि—आत्मा के शरीर में रहने पर जीव के लक्षण अर्थात् चैतन्यानुवृत्ति, सुख-दुःख-इच्छा-द्वेष-धर्म-अधर्म नित्य ही दिखलाई पड़ते हैं। जब आत्मा शरीर से निकल जाती है तो जीवन के लक्षण दिखलाई नहीं पड़ते हैं। अतः आत्मा शरीर से भिन्न है और नित्य है। यहाँ केवल आत्मा शरीर से भिन्न है कहने पर दोष वचन है क्योंकि आत्मा शरीर से भिन्न है। किस आधार या हेतु से? इसका निराकरण करने हेतु कहा गया है कि 'नित्यश्च' और नित्य है। जब 'आत्मा शरीर से भिन्न है और नित्य है' कहा जाता है तो दोष वचन का परिहरण हो जाता है।

४०. प्रतिज्ञाहानि—'अथ प्रतिज्ञाहानिः—प्रतिज्ञाहानिर्नाम या पूर्वपरिगृहीतां प्रतिज्ञां पर्यनुयुक्तो यत् परित्यजति, यथा प्राक् प्रतिज्ञां कृत्वा नित्यः पुरुषः इति; पर्यनुक्तस्त्वाह—अनित्य इति।' च० वि० ८।६१। प्रतिज्ञाहानि का तात्पर्य यह है कि—जब कोई व्यक्ति पूर्व में अपनी की गई प्रतिज्ञा का सम्भाषा या वाद में परास्त होने के बाद त्याग कर देता है या अपने द्वारा की गई प्रतिज्ञा को हेतु, दृष्टान्त, उपनय, निगमन के द्वारा स्थापित नहीं कर पाता है, तो इसको प्रतिज्ञाहानि कहा जाता है। जैसे—कोई व्यक्ति पूर्व में प्रतिज्ञा करता है कि पुरुष नित्य है। यदि वह परास्त होने के बाद अपनी प्रतिज्ञा का त्याग कर स्वीकार कर लेता है कि पुरुष अनित्य है, तो इसे प्रतिज्ञाहानि कहा जाता है। अथवा वह सभा में हेतु, दृष्टान्त, उपनय; निमगन के द्वारा पुरुष की नित्यता सिद्ध करने में सफल नहीं हो पाता है तो उसे प्रतिज्ञाहानि कहा जाता है। यदि किसी सिद्धान्त का खण्डन कर उसके स्थान पर नये वाद को स्थापित किया जाता है तो पूर्व के सिद्धान्त या प्रतिज्ञा का खण्डन होने के कारण इसे प्रतिज्ञाहानि कहा जाता है।

४१. अभ्यनुज्ञा—'अभ्यनुज्ञानाम सा य इष्टानिष्टाभ्युपगमः' अर्थात् जब इष्ट विषय के साथ अनिष्ट विषय को भी स्वीकार कर लिया जाता है तो उसे अभ्यनुज्ञा कहा जाता है। विपक्षी का दोष इष्ट व अपना दोष अनिष्ट कहा जाता है। यदि अपने पक्ष के दोष को विपक्षी कहता है तो विपक्षी द्वारा आरोपित दोष का खण्डन न करके, विपक्षी के दोष को कहा जाता है तो उसे अभ्यनुज्ञा कहा जाता है; क्योंकि इसमें अपने पक्ष के दोष को भी स्वीकार किया जाता है (क्योंकि विपक्षी द्वारा आरोपित दोष का जब खण्डन नहीं किया जाता तो इसका तात्पर्य यह होता है कि उस दोष को स्वीकार करने के साथ विपक्षी के दोष को भी स्वीकार कर लिया गया है। इस प्रकार यहाँ इष्ट व अनिष्ट दोनों को स्वीकार करना अभ्यनुज्ञा है।

४२. हेत्वन्तर—'हेत्वन्तरं नाम प्रकृतहेतौ वाच्ये यद्विकृत् हेतुमाह।'—च० वि० ८।६३। जहाँ पर प्रकृत हेतु कहना चाहिए वहाँ पर विकृत हेतु कहा जाता है तो इसे हेत्वन्तर कहा जाता है। न्याय दर्शन में इसको परिभाषित करते हुए कहा गया है कि—'अविशेषोक्ते हेतौ प्रतिषिद्धे विशेषमिच्छतो हेत्वन्तरम्'—अर्थात् अविशेष रूप से कहे गये हेतु के निषेध करने पर उसे विशेषतायुक्त बना देना हेत्वन्तर कहा जाता है। जैसे कहा जाय कि—'पर्वतो वह्निमान् उष्णत्वात्।' अर्थात् पर्वत अग्नि वाला है; उष्णता के कारण। यहाँ पर उष्णता को हेतु रूप में प्रस्तुत करना विकृत हेतु है; क्योंकि गर्मी में भी पर्वत सूर्यसंतप्त होकर उष्ण हो जाता है, अतः उष्णता से पर्वत को अग्नि वाला नहीं कहा जा सकता है, अतः यह प्रकृत हेतु न होकर विकृत हेतु है। इस प्रकार इसे हेत्वन्तर कहा जाता है।

४३. अर्थान्तर—'अर्थान्तरं नामैकस्मिन् वक्तव्येऽपरं यदाह। यथा—ज्वरलक्षणे वाच्ये प्रमेहलक्षणमाह।' अर्थात् जहाँ एक विषय का कहना उचित हो वहाँ दूसरा विषय कहना अर्थान्तर कहा जाता है। जैसे—जहाँ ज्वर का लक्षण कहना चाहिए वहाँ प्रमेह का लक्षण कहना।

४४. निग्रहस्थान—'निग्रहस्थानं नाम—पराजयप्राप्तिः।' पराजय प्राप्त करना निग्रह स्थान कहा जाता है। यह तीन प्रकार का कहा गया है—१. ज्ञानवती सभा में तीन बार कहे जाने पर भी वाक्य के विषय को न जानना। २. अननुयोज्य का अनुयोग, ३. अनुयोज्य का अननुयोग। न्याय में 'विप्रतिपत्तिरप्रतिपत्तिश्च निग्रहस्थानम्' अर्थात् विपरीत या निन्दित प्रतिपत्ति (अयथार्थ ज्ञान) को विप्रतिपत्ति कहते हैं। दूसरे के सिद्ध पक्ष का खण्डन न करना या अपने ऊपर आरोपित दोष का समाधान न करना अप्रतिपत्ति एवं विषय को नहीं समझना या समझकर भी उसकी उपेक्षा करना निग्रह स्थान कहा गया है। आयुर्वेद में पन्द्रह (१५) निग्रह स्थान माने गये हैं—१. प्रतिज्ञाहानि, २. अभ्यनुज्ञा, ३. कालातीत, ४. वचन, ५. अहेतु, ६. न्यून, ७.

अधिक, ८. व्यर्थ, ९. अनर्थक, १०. पुनरुक्त, विरुद्ध, हेत्वन्तर और अर्थान्तर तथा उपर्युक्त तीन प्रकार। इस प्रकार कुल १५ निग्रह स्थान होते हैं।

इसके अतिरिक्त वाद से सम्बन्धित निम्न तथ्यों का भी निर्देश दिया गया है—

१. 'वादस्तु खलु भिषजां प्रवर्त्तमानो प्रवर्तेतायुर्वेद एव नान्यत्र' अर्थात् वैद्यों को आयुर्वेद से सम्बन्धित विषयों पर ही वाद-विवाद करना चाहिए।

२. 'अत्र हि वाक्यप्रतिवाक्यविस्तरा: केवलाश्चोपपत्तय: सर्वाधिकरणेषु' आयुर्वेद के विषयों के वाक्य या प्रतिवाक्य सम्पूर्ण रूप से युक्तियुक्त हैं, अत: उन युक्तियों को ठीक से सोच-समझकर वाक्य कहना चाहिए—'ता: सर्वा: सम्यग्वेक्ष्यावेक्ष्य सर्वं वाक्यं ब्रूयात्।'

३. 'नाप्रकृतकमशास्त्रमपरीक्षितमसाधकमाकुलमव्यापकं वा'—अर्थात् अप्राकृतिक शास्त्रज्ञान से रहित, बिना परीक्षा किये हुए, हेतुशून्य (हेतुरहित) बुद्धि को व्याकुल करने वाले अथवा व्यापक अर्थ बतलाने में जो वाक्य असमर्थ हों, उन सभी वाक्यों को नहीं बोलना चाहिए।

४. 'सर्वं च हेतुमद् ब्रूयात्'—जो कुछ भी बोलना चाहिए वह हेतुयुक्त बोलना चाहिए। क्योंकि—

५. 'हेतुमन्तो ह्यकलुषा: सर्व एव वादविग्रहाश्चिकित्सिते कारणभूता: प्रशस्तबुद्धि-वर्धकत्वात्, सर्वारम्भसिद्धिमावहत्यनुपहता बुद्धि:।'—च० वि० ८।६७। अर्थात् हेतु-युक्त सभी वाद-विवाद दोषरहित होते हैं। वे चिकित्सा शास्त्र की सिद्धि में कारण होते हैं। सभी प्रकार से बुद्धि बढ़ाने वाले होते हैं। शुद्ध बुद्धि सभी कर्मों में सिद्धि देने वाली होती है।

भिषक्वादमार्ग की उपादेयता

आयुर्वेद के आकर ग्रन्थ चरकसंहिता के संपूरक आचार्य दृढ़बल चरकसंहिता के शेष अंशों को पूरा करने के पश्चात् ग्रन्थ के उपसंहार-स्वरूप निम्न श्लोक का उल्लेख करते हैं जिसका तात्पर्य प्रस्तुत ग्रन्थ को चिकित्सा शास्त्र के विश्वकोश के रूप में स्वीकार करने की अनुशंसा है।

चिकित्सा वह्निवेशस्य सुस्थातुरहितं प्रति।
यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत्क्वचित्॥

(च० सि० १२। ५४.)

अर्थात् यह अग्निवेश की चिकित्सा शास्त्र की संहिता स्वस्थ और आतुर दोनों प्रकार के व्यक्तियों के लिए हितकारी है। जो चिकित्सा सम्बधित ज्ञान इस संहिता में है, वही ज्ञान अन्य संहिताओं में भी है तथा चिकित्सा से सम्बन्धित या जीवन-विज्ञान से सम्बन्धित जो ज्ञान चरकसंहिता में नहीं है वह कहीं भी नहीं है। इस प्रकार चरकसंहिता जीवन-विज्ञान का विश्वकोष है (Charak samhita is an

encycopedia of Ayurveda (Science of life) अत: इस विश्वकोष में ज्ञान-वर्द्धन हेतु तीन उपाय बतलाये गये हैं—अध्ययन, अध्यापन व तद्विद्यसम्भाषा। इस प्रकार सम्भाषा या वाद-विवाद जिज्ञासुओं के ज्ञानवर्धन के लिए आवश्यक साधन रहा है जो कि चरकसंहिता के अध्ययन से पता चलता है। चरकसंहिता के अनुसार आयुर्वेद का अवतरण ही तद्विद्य सम्भाषा का परिणाम है। आयुर्वेद के मूल सिद्धान्त सामान्य विशेष वाद को भी बहुत ऋषि एक साथ बैठकर अपने ज्ञान चक्षु अर्थात् अन्त:प्रज्ञा पर स्थापित किये। आयुर्वेद के आधारभूत सिद्धान्त (Basic principles) त्रिदोष वाद (वातकलाकलीय अध्यायगत सम्भाषा) षड्रस वाद (आत्रेयभद्रकाप्यीय में वर्णित सम्भाषा) वीर्य, गुण, विपाक, प्रभाववाद, यज्ज:पुरुषीयवाद (यज्ज:पुरुषीयाध्याय में वर्णित सम्भाषा) गर्भविकासवाद (शारीरस्थान में वर्णित सम्भाषा) आदि भी विभिन्न सम्भाषा व वाद-विवाद के ही परिणाम हैं। आयुर्वेद में स्वभावोपरमवाद, सत्कार्यवाद आदि सिद्धान्त वादमार्ग की उपादेयता के ही हैं। चरकसंहिता के विमान अ० ८ के अध्ययन करने पर विभिन्न ऋषियों के वचन से सम्भाषा के परिणाम रूप में स्थापित आयुर्वेद के उच्चतम वैज्ञानिक स्वरूप का दिग्दर्शन होता है। उपर्युक्त विभिन्न वाद परिणामों को यहाँ उद्धृत करने का तात्पर्य यही है कि—भारतवर्ष संभवत: विश्व का प्रथम देश है जहाँ विश्व का प्रथम ज्ञान स्रोतरूपी वेदों का प्रणयन ऋषियों के द्वारा किया गया। चूंकि आयुर्वेद भी अथर्ववेद का उपवेद माना जाता है जिसमें विभिन्न वैज्ञानिकों, साधकों द्वारा एक साथ बैठकर युक्तिपूर्ण विचार कर सुखायु एवं हितायु को लक्ष्य कर सार्वदेशिक एवं सार्वकालिक सिद्धान्त स्थापित किया गया है। भारतवर्ष में प्राचीन काल से ही यह वैज्ञानिक परम्परा रही है कि किसी भी नये ज्ञान की स्थापना उस विषय के विद्वानों के बीच होती थी तथा अपनी प्रतिज्ञा को स्थापित करने के लिए वाद मार्गों की सहायता अथवा विभिन्न प्रमाणों से या पञ्चावयवों द्वारा उसे सिद्ध करना होता था। यदि प्रतिज्ञा या अपने सिद्धान्त को व्यक्ति विद्वत् समाज में स्थापित नहीं कर पाता था तो उसे दोषपूर्ण या विद्वत् समाज में अमान्य प्रतिज्ञा मानकर लोकमान्यता नहीं प्राप्त होती थी तथा उसे किसी प्रकार का व्यावहारिक स्वरूप नहीं दिया जाता था। इस प्रकार किसी भी प्रतिज्ञा की सिद्धि हेतु विद्वत् समाज में वाद-विवाद करना होता था। आधुनिक काल में भी ज्ञान या किसी भी विषय की स्थापना की यही पद्धति अपनाई जाती है। प्राचीन काल में अध्ययन का स्रोत संवाद-पद्धति थी। अर्थात् दूसरे के द्वारा प्रदत्त ज्ञान श्रोत्रेन्द्रिय से ग्रहण किया जाता था तथा पुन: उस ज्ञान को दूसरे को वाक् इन्द्रिय द्वारा दिया जाता था। नये विषयों की जब स्थापना करनी होती थी तो उसके दो साधन होते थे। प्रथम यह कि विद्वत् सभा में अपने विषय-ज्ञान को प्रस्तुत कर विभिन्न अवयवों के द्वारा उसे सिद्ध करना होता था। विषय सिद्ध हो जाने पर उसे लोकमान्यता प्राप्त होती थी। किसी विषय को स्थापित करने की

दूसरी पद्धति यह थी कि प्रतिज्ञायुक्त वचन को व्यक्ति अपने विषय के शीर्षस्थ विद्वानों के समीप घूम-घूमकर वाद-विवाद करता था। यदि वह सम्पूर्ण विद्वत् समाज में अपनी प्रतिज्ञा को स्थापित कर देता था तो वह प्रतिज्ञा लोकमान्य हो जाती थी। यदि वह अपनी प्रतिज्ञा को सिद्ध नहीं करता था तो या तो पुनः ज्ञानार्जन करता था या अपनी प्रतिज्ञा का त्याग कर देता था। जैसे—जगद्गुरु शंकराचार्य अपने ब्रह्मवाद विषय की स्थापना हेतु (अद्वैत सिद्धान्त) को भारत के वेदान्ती या ब्रह्मवादियों के समीप घूम-घूमकर वाद-विवाद करते थे तथा विजय प्राप्त करते थे, परन्तु जब वे मण्डन मिश्र की पत्नी से पराजित हुए तो पुनः किसी भी प्रकार से कामशास्त्र का अध्ययन कर विजय प्राप्त कर ब्रह्मवाद की स्थापना करने में सफल हुये। अर्थात् अपनी प्रतिज्ञा 'अद्वैतवाद' को स्थापित किये। उसके बाद अद्वैतवाद लोकमान्य हुआ। उपर्युक्त विवेचर से स्पष्ट होता है कि—किसी नये अनुसंधान किये गये विषय की स्थापना वाद-विवाद या सम्भाषा में सिद्ध करने के उपरान्त ही होती थी। भिषग्वाद-मार्ग में अपने विषय यानि प्रतिज्ञा को किस प्रकार स्थापित करना चाहिए तथा इसकी वैज्ञानिक पद्धति क्या होती है, इसका उल्लेख किया गया है। यदि उपर्युक्त विवेचन के आलोक में वादमार्ग को देखा जाता है तो 'यह विषय कितना उपादेय है' स्वतःसिद्ध हो जाता है। आधुनिक काल में अपने विषय की स्थापना दो तरह से की जाती है। एक सम्भाषादि में अपने विषय को प्रतिज्ञा वचन द्वारा स्थापित किया जाता है तथा दूसरी विधि से लेखन द्वारा अर्थात् अपने शोध को प्रकाशित कर स्थापित किया जाता है। वादमार्ग की उपादेयता यह है कि—इसमें यह बतलाया गया है कि किन-किन मार्गों या निर्देशों के अनुसरण करने से प्रतिज्ञा स्थापित होगी तथा किन-किन मार्गों से प्रतिज्ञा-हानि होती है।

१. वादमार्गों में प्रथमतः वाद को स्पष्ट किया गया है। वाद का तात्पर्य मात्र वाद-विवाद से ही नहीं वरन् लिखित रूप से भी अपने पक्ष को प्रस्तुत करना दूसरे पक्ष का खण्डन करना ही वाद है। दूसरे के पक्ष का खण्डन कर अपने पक्ष को स्थापित करना वाद (जल्पवाद) का उद्देश्य होता है। खण्डन व स्थापन युक्तियुक्त अर्थात् उचित मार्गों द्वारा होना चाहिए। इस प्रकार वाद स्वपक्ष स्थापन वा परपक्ष खण्डन हेतु आपसी वार्तालाप है। जिसे किसी भी माध्यम द्वारा मौखिक एवं लेख आदि के माध्यम से सम्पादित किया जा सकता है।

२. आयुर्वेदज्ञों के लिए या चिकित्सक के लिए ज्ञान के विषय क्या हैं अर्थात् वाद में आयुर्वेद के वैज्ञानिकों को किन-किन विषयों से सम्बन्धित विषय की स्थापना करनी चाहिए इसका निर्देश दूसरे क्रम के वादमार्ग द्रव्य से सातवें वादमार्ग समवाय तक दिया गया है जो कि आयुर्वेद के विवेच्य विषय षड्पदार्थ हैं।

३. सम्बन्धित विषयों का निर्देश देने के बाद आचार्य ने विषय-स्थापना की

प्रथम प्रक्रिया प्रतिज्ञा का उल्लेख किया है। यहाँ प्रतिज्ञा से तात्पर्य (Title of work, or Synopsis of Rescarch work which is presented as hypothesis) वार्ता के शीर्षक या विद्वान् द्वारा किये गये शोधकार्य के शीर्षक की घोषणा से है।

४. अपने शीर्षक या प्रतिज्ञा की घोषणा करने के बाद उसकी सिद्धि या स्थापना किस प्रकार करनी चाहिए। प्रतिज्ञा स्थापन में किन-किन मार्गों की सहायता लेनी चाहिए इसका वर्णन वादमार्ग ९ से मार्ग १५ तक किया गया है (स्थापना, प्रतिष्ठापना, हेतु, दृष्टान्त, उपनय, निगमन व उत्तर)।

५. जब प्रतिज्ञा की सिद्धि हो जाती है तो उस प्रतिज्ञा की लोकमान्यता सिद्धान्त के रूप में होती है, अतः वादमार्ग के सोलहवें बिन्दु पर सिद्धान्त का वर्णन किया गया है।

६. पूर्व में कहा गया है कि सिद्धि प्राप्त प्रतिज्ञा अर्थात् सिद्ध की गयी प्रतिज्ञा ही सिद्धान्त होती है। परन्तु सिद्धान्त वही होता है, जिसकी परीक्षा बहुत बार की गई हो। अतः इसके बाद आचार्य ने परीक्षा के साधनों का उल्लेख किया है।

७. वादमार्ग के बिन्दु १७ तक तथा वादमार्ग बिन्दु १८ से २१ तक परीक्षा के साधनों का उल्लेख किया है (शब्द, प्रत्यक्ष, अनुमान, ऐतिह्य व उपमान) को अपनी प्रतिज्ञा सिद्धि के लिए हेतु को कहने के लिए इन परीक्षा के साधनों का उपयोग किया जाता है तथा दूसरे के द्वारा स्थापित सिद्ध प्रतिज्ञा की परीक्षा इन साधनों से की जाती है कि वह सिद्धान्त रूप में मान्य है या नहीं।

८. किसी के द्वारा सिद्ध प्रतिज्ञा या अपने द्वारा सिद्ध प्रतिज्ञा में संशयात्मक दृष्टि रखनी चाहिए। यदि उसमें किसी प्रकार का संशय हो तो उस बिन्दु का विचारपूर्वक निराकरण करने के बाद ही उसे प्रस्तुत करना चाहिए। जब कोई विद्वान् अपनी प्रतिज्ञा की स्थापना करता है तो उसके निगमन के बाद उस सिद्ध प्रतिज्ञा में उसके सामने संशयात्मक भाव प्रस्तुत किया जाता है, जिसका वह निराकरण करता है। इसका उल्लेख आचार्य ने वादमार्ग २२ में परीक्षा साधनों के बाद किया है।

९. कोई भी कार्य बिना प्रयोजन नहीं होता है अतः सिद्ध प्रतिज्ञा अथवा अन्तिम रूप से सिद्ध प्रतिज्ञा (सिद्धान्त) को जनोपयोगी बताकर लोकमान्यता हेतु उसके प्रयोजन को सिद्ध करना चाहिए।

१०. वाद में या सम्भाषा परिषद आदि में या अपने विभागीय विद्वानों के बीच में सामान्यरूपेण अपनी विजय हेतु अथवा अपने पराजय या कमजोरी को छिपाने के लिए या अल्पज्ञ वैद्यों द्वारा, कतिपय मार्ग अपनाये जाते हैं, वे मार्ग अवैज्ञानिक होते हैं, फिर भी लोगों द्वारा अपनाये जाते हैं अतः उनका उल्लेख कर विद्वानों को सतर्क

किया गया है तथा यह भी निर्देश दिया गया है कि इनके व्यवहृत होने पर किस प्रकार बचना चाहिए। वादमार्ग २४ सव्यभिचार, मार्ग २९, (अनुयोज्य) ३० (अननुयोज्य), ३१ (अनुयोग), ३२. (प्रत्यनुयोग), ३३. वाक्यदोष, ३५. छल, ३६. अहेतु आदि (अन्त तक) का उल्लेख है।

११. जिज्ञासा (मार्ग २५), अर्थप्राप्ति (२७), व्यवसाय (मार्ग २६) व सम्भव (मार्ग २७)—ये ज्ञान की प्रवृत्ति व साधन से सम्बन्धित हैं। अपनी सिद्ध प्रतिज्ञा का प्रयोजन बतलाने के बाद (यदि अनुसंधान के विषय पर आगे शोधकार्य करने की आवश्यकता होती है, उस अवस्था में रोगविशेष से सम्बन्धित प्रतिज्ञा वचन की सिद्धि हो जाने पर तथा उसके प्रयोजन व उपादेयता को स्पष्ट करने के बाद यह कहना कि आगे चिकित्सापरक विषय को उत्तर काल में प्रस्तुत करूँगा—इस प्रकार के कथन से चिकित्सा परकविषय के उत्तरकालीन तथ्यों को जानने की जिज्ञासा होती है। जिज्ञासा का परिणाम व्यवसाय यानि हेतु का निश्चितकरण होगा। हेतु का निश्चितकरण प्रमाणों द्वारा किया जाता है। प्रमाणों द्वारा परीक्षा करने में अर्थप्राप्ति की विधि अपनानी चाहिए। जैसे—प्रत्यक्ष या अनुमान या उपमान से यह पता चलता है कि इसमें यह हेतु नहीं है तो अर्थप्राप्ति के अनुसार निर्णय लेना चाहिए। अर्थप्राप्ति द्वारा मार्ग-निर्धारण सम्भावना के आधार पर होता है, अतः आचार्य ने वादमार्ग २७ अर्थप्राप्ति के बाद वादमार्ग २८ के रूप में सम्भव का उल्लेख किया है।

१२. अन्त में आचार्य ने यह निर्देश दिया है कि किन-किन स्थितियों में प्रतिज्ञा सिद्धि नहीं हो सकती है एवं विद्वानों द्वारा प्रस्तुत की गई प्रतिज्ञा अमान्य कर दी जाती है। यथा—वाक्यदोष (वादमार्ग ३३) अहेतु (वादमार्ग ३६) अतीतकाल (वादमार्ग ३७) उपालम्भ (वादमार्ग ३८) प्रतिज्ञाहानि (वादमार्ग ४०) अभ्यनुज्ञा (वादमार्ग ४१) हेत्वन्तर (वादमार्ग ४२) अर्थान्तर (वादमार्ग ४३) आदि सभी वाद-बिन्दु प्रतिज्ञाहानि कराने वाले हैं।

१३. निग्रहस्थान में हार या पराजय घोषित करने की विधि का वर्णन किया गया है। जैसे—तीन बार लगातार विषय-प्रस्तुति का अर्थ न लगाना।

इस प्रकार हम पाते हैं कि आचार्य चरक ने वादमार्ग के माध्यम से ज्ञानार्जन प्रक्रिया, अनुसंधान प्रक्रिया तथा परिणाम की स्थापना-प्रक्रिया का वैज्ञानिक स्वरूप प्रस्तुत किया है। संभवतः आचार्य चरक द्वारा प्रस्तुत वादमार्ग पद्धति ज्ञानार्जन अनुसंधान के लिये विश्व की प्रथम वैज्ञानिक पद्धति प्रतीत होती है, जिसकी उपादेयता उपर्युक्त विवेचन से स्वतःसिद्ध है।

अध्याय—१४

कालाकालमृत्युवाद

कालाकालमृत्युवाद से यहाँ अकाल मृत्यु व कालमृत्यु का तात्पर्य है। आयु का काल अस्थिर माना गया है; अतः यहाँ इस तथ्य को स्पष्ट किया गया है कि अनिश्चित काल तक स्थिर आयु वाले पुरुषों की कालमृत्यु व अकाल मृत्यु किस प्रकार से होती है।

कालमृत्यु की अवधारणा—चरकसंहिता में कालमृत्यु की अवधारणा निम्न रूप में उपलब्ध है—'यथा यानसमायुक्तोऽक्षः प्रकृत्यैवाक्षगुणैरुपेतः स च सर्वगुणोपपन्नो बाह्यमानो यथा कालं स्वप्रमाणक्षयादेवावसानं गच्छेत्, तथाऽऽयुः शरीरोपगतं बलवत्प्रकृत्या यथावदुपचर्यमाणं स्वप्रमाणक्षयादेवावसानं गच्छति, स मृत्युकाले।'—च० वि० ३। ३८। अर्थात् जिस प्रकार गाड़ी में लगा हुआ धुरा सभी आवश्यक गुण से युक्त व सम्पन्न होते हुए भी स्वभावतः घीसने के कारण यथाकाल अर्थात् जितने समय तक वह चलता रहा है एवं कुछ कालोपरान्त घीस कर नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार शरीर से सम्बन्ध रखने वाली प्रकृति से बलवान आयु जब नियमतः दिनचर्या, रात्रिचर्या, ऋतुचर्या का पालन तथा हित-वस्तुओं का सेवन करने पर भी धीरे-धीरे क्षीण हो जाती है, तो इस प्रकार की मृत्यु को कालमृत्यु कहा जाता है। इस कालमृत्यु के सम्बन्ध में यहाँ आचार्य ने दो तथ्यों को प्रस्तुत किया है प्रथम स्वभाव या प्रकृत्यैवयानि प्रकृति के अनुसार तथा दूसरा आश्रय का नाश होना। आयुर्वेद में जरा, मृत्यु आदि को स्वाभाविक रोग कहा गया है। इसका उल्लेख स्वभावबल प्रवृत्त रोग में किया गया है। मृत्यु शारीरिक धातुओं व क्रियाक्षय के कारण होती है अथवा दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि शरीर जब कालानुसार स्वाभाविक क्षीणता को प्राप्त करता है तो वह आगे क्रियाक्षम होने में असमर्थ हो जाता है। परिणामतः आत्मासहित मन अपनी क्रियासंचालन हेतु दूसरा आश्रय ढूँढ़ता है तथा पूर्व के असक्षम शरीर का त्याग कर देता है। इस अवस्थाविशेष को मृत्यु कहा जाता है। इस प्रकार जब शरीर जीवन कालावधि में क्रिया हेतु स्वभावतः असमर्थ हो जाता है तो क्रियाकारक घटक (मन-आत्मादि) असक्षम शरीर का त्याग कर देते हैं; इस अवस्था को मृत्यु कहा जाता है। शरीर का क्षय स्वभावतः होता है। क्योंकि शरीर का तात्पर्य ही होता है कि—'शीर्यते अनेन इति शरीरम्' अर्थात् जिसका निरन्तर विनाश होता है, उसे शरीर कहा जाता है। यह विनाश स्वभावतः होता है; क्योंकि आयुर्वेद में स्वभावोपरमवाद के अनुसार किसी भाव की उत्पत्ति तो सकारण

होती है, पर उसका विनाश बिना किसी कारण के स्वभावतः होता है। इसी प्रकार शरीर की उत्पत्ति में तो विभिन्न घटक कारण होते हैं, पर उसके विनाश में कोई कारण नहीं होता।

अकालमृत्यु—कालमृत्यु के विपरीत जो मृत्यु होती है, उसे अकालमृत्यु कहते हैं। कालमृत्यु स्वाभाविक मृत्यु होती है जबकि अस्वाभाविक मृत्यु को अकालमृत्यु कहा जाता है। यहाँ अस्वाभाविक से तात्पर्य यह है कि—यदि शरीर क्रिया में सक्षम है, परन्तु किसी अन्य कारण से मृत्यु हो जाय या ऐसे आहार-विहारादि का सेवन किया जाय कि समय से पूर्व ही शारीरिक धातुएँ क्षीण हो जायँ जिससे शरीर की क्रिया-क्षमता समाप्त हो जाय। इन अवस्थाओं को अस्वाभाविक कहा जाता है। चरक-संहिता में कालमृत्यु की तरह ही गाड़ी का उदाहरण देकर अकालमृत्यु के तथ्य को समझाया गया है—'यथा च स एवाक्षोऽतिभाराधिष्ठितत्वाद्विषमपथादपथादक्षचक्रभङ्गाद्वाह्यवाहकदोषादणिमोक्षादनुपाङ्गात् पर्यसनाच्चान्तराऽवसानमापद्यते'। अर्थात् जिस प्रकार उत्तम गुणों से सम्पन्न धुरा भी गाड़ी पर अत्यन्त भार लादने से या गाड़ी के विषम रास्ते में चलने से या बिना किसी मार्ग के चलने से, गाड़ी के चलते समय धुरा व पहिया अलग-अलग हो जाने से या वाहक के असावधानी से या बैलों की उदण्डता से या तेल आदि स्नेह का धुरे में बिलकुल अभाव हो जाने से, उलट जाने या गिर जाने से, बिना समय पूर्ण किये बीच में ही गाड़ी नष्ट हो जाती है, उसी प्रकार—'तथाऽऽयुरप्ययथाबलमारम्भादयथाग्न्यभ्यवहरणाद्विषमाभ्यवहरणाद्विषमशरीरन्यासादतिमैथुनादसत्संश्रयादुदीर्णवेगविनिग्रहा......स मृत्युरकाले, तथा ज्वरादीनप्यातङ्कान्मिथ्योपचरितानमकालमृत्यून् पश्याम इति।'—च० वि० ३।३८। अर्थात् शरीर से जुड़ी आयु भी अपने बल या शक्ति से अधिक साहसजन्य कार्य करने से या अनुचित रूप से साहसजन्य कार्यों को आरम्भ करने से, बिना अग्नि के बल का विचार किये ही मात्रा से अधिक भोजन करने से या विषम भोजन करने से या अपने शरीर को विषम रूप में रखने से या विषम व्यायाम करने से, अतिमैथुन, दुर्जनों के साथ से, अधारणीय वेगों के धारण व धारणीय वेगों के न धारण करने से, विभिन्न प्रकार के भूत, विष, वायु आदि आगन्तुक कारणों से आघात होने से, व्याधि होने पर उचित चिकित्सा न लेने से जो मृत्यु हो जाती है, उसे अकालमृत्यु कहते हैं। ज्वरादि की चिकित्सा न करने से जो अकालमृत्यु होती है वह स्वतः प्रत्यक्ष होती है। इस प्रकार काल व अकालमृत्यु की आयुर्वेद में उपलब्ध अवधारणा अत्यन्त स्पष्ट है।

कालाकालमृत्युवाद की उपादेयता

कालाकालमृत्युवाद की उपादेयता आचार्य चरक ने जनसाधारण में एक लोकप्रिय व प्रचलित उदाहरण से स्पष्ट करने का प्रयास किया है जो कि सहज में ही सर्व-साधारण को ग्राह्य हो सके तथा उसका लाभ मानव समाज को उपलब्ध हो। लोक-

हित में प्रवृत्त और लोकानुग्रह की आकांक्षा रखने वाले महर्षियों की आयुर्वेद के लोकगत प्रचार-प्रसार की मूल भावना भी यही थी कि इसके विविध लोकोपकारी सिद्धान्तों के व्यवहार से जनसामान्य को स्वस्थ जीवन प्राप्त हो सके; जिससे कि मानव-मात्र पुरुषार्थ चतुष्टय की उपलब्धि कर अपने मानव जीवन को सार्थक कर सके।

आचार्य चरक के द्वारा निर्दिष्ट यान (बैलगाड़ी) के धुरा का उदाहरण मानव जीवन से तुलना के लिये प्रस्तुत करने में आचार्य का निहितार्थ अभिमत था कि यह विवरण सर्वसाधारण के लिये सहज ही बोधगम्य हो, जैसे कि यान के धुरे की रक्षा विविध प्रकार के सुरक्षात्मक उपायों से की जाती है जिसका विवरण उपर्युक्त अवतरणों में दिया गया है, उसी प्रकार यदि जीवन की रक्षा स्वस्थवृत्त का यथावत् पालन, हिताहार का सेवन, सद्वृत्त पालन, अधारणीय वेगों को धारण न करना, धारणीय वेगों का धारण करना तथा रसायन औषधियों का सेवन आदि उपायों से किया जाय तो जीवन का क्षय असमय में नहीं होता; व्यक्ति अपनी पूर्ण आयु का स्वस्थ रहते हुये सदुपयोग कर सकता है। इसी तथ्य को आचार्य ने यान के धुरे का उदाहरण देकर सर्वसाधारण को संकेतित किया है कि केवल भाग्यवाद पर ही निर्भर न रहकर अपने पुरुषार्थ से सम्पूर्ण जीवन को स्वस्थ व सुखी बनायें। जैसे कि धुरे की रक्षा सभी प्रकार के सुरक्षात्मक उपायों से दीर्घकाल तक होती है उसी प्रकार जीवन की रक्षा भी दीर्घकाल तक हो सकती है।

इसके विपरीत यदि सुरक्षात्मक उपायों का अवलम्बन नहीं किया जाता तो यान के धुरे का नाश शीघ्र ही असमय में हो जाता है उसी प्रकार मानव जीवन का भी नाश स्वस्थ वृत्त का यथावत् पालन न करने, अहिताहार के सेवन, अधारणीय वेगों का धारण, धारणीय वेगों का धारण न करना, सद्वृत्त का पालन न करना तथा रसायन औषधियों का सेवन न करना आदि से असमय में ही हो जाता है। इस प्रकार कालाकालमृत्युवाद की जानकारी से मनुष्य अपने को केवल भाग्यवाद के भरोसे ही न रखकर पुरुषार्थ के लिये प्रेरित होता है तथा तदनुसार हिताहार, सदाचार, स्वस्थ वृत्त का यथावत् पालन तथा सद्वृत्त पालन आदि का अवलम्बन कर स्वस्थ, सुखी व दीर्घजीवन प्राप्त कर सकता है।

आयुर्वेदशाश्वतिकवाद

यहाँ 'आयुर्वेदशाश्वतिकवाद' से तात्पर्य है कि, आयुर्वेद की शाश्वतिकता का सिद्धान्त या आयुर्वेद की शाश्वतिकता से सम्बन्धित वाद या विचार। प्रस्तुत शीर्षक के अन्तर्गत इस बात पर विचार करना है, कि आयुर्वेद शाश्वत है या अशाश्वत। यदि शाश्वत है तो इस सिद्धान्त की पुष्टि में किस तरह का प्रमाण प्रस्तुत किया जा सकता है।

आयुर्वेद पद की परिभाषा व व्याख्या पुस्तक के प्रथम भाग में प्रस्तुत की जा चुकी है, परन्तु इस सन्दर्भ में चरकसंहिता में आयुर्वेद की शाश्वतिकता सिद्ध करने से

पूर्व आयु एवं आयुर्वेद को परिभाषित किया गया है। सू० अ० १ में परिभाषित आयुर्वेद को पुनः व्यावहारिक रूप में पारिभाषित किया गया है ताकि आयुर्वेद का व्यावहारिक स्वरूप स्पष्ट होने से इसके शाश्वतिकता को सिद्ध किया जा सके। सू० अ० १ में आयु की संगठनात्मक परिभाषा दी गई है—जैसे—'शरीरेन्द्रिय-सत्त्वात्मकसंयोगोधारिजीवितम्' अर्थात् शरीर + इन्द्रिय + मन + आत्मा इन चारों के संगठन या संयोग को आयु कहा जाता है। परन्तु इस संदर्भ में आचार्य ने आयु को क्रियात्मक रूप में परिभाषित किया है। यथा—'तत्रायुश्चेतनानुवृत्तिर्जीवितमनुबन्धो धारि चेत्येकोऽर्थः।'—च० सू० ३०।२२। अर्थात् चेतना का अनुवर्त्तन (सातत्यभाव) आयु कहा जाता है। यहाँ चेतनानुवर्त्तन का अर्थ चेतना का लगातार बने रहना है। चैतन्य या चेतनता क्रिया है। जब तक मनुष्य चैतन्य यानि चेतनायुक्त रहता है तब तक उसे जीवित कहा जाता है। यदि संगठनात्मक परिभाषा पर ध्यान दिया जाय तो यह स्पष्ट हो जाता है कि चेतनानुवृत्ति चारों के संयोगावस्था में ही व्यक्त हो सकती है अर्थात् जब चारों भावों का संयोग होता है, तो उनके संयोग से जो क्रिया है, वही चेतना की उपस्थिति को व्यक्त करने वाला है। आत्मा चेतना का कारण है, पर क्रियाहीन है, अतः आत्मा की चेतना का ग्राही मन होता है (Receives conciousness from Atman) जब मन क्रियायुक्त होता है, तब शरीरस्थ इन्द्रियों से सम्पर्क करता है। जब इन्द्रियों का संयोग मन के साथ होता है तो इन्द्रियों के माध्यम से जीवन के लक्षण अभिव्यक्त होते हैं। अतः आचार्य ने आत्मा, इन्द्रिय, मन व शरीर के संयोग से होने वाले परिणाम 'क्रियाभिव्यक्ति' को आयु रूप में यहाँ परिभाषित किया है। जिस शास्त्र में—'यतश्चायुष्याण्यनायुष्याणि च द्रव्य-गुणकर्माणि वेदयत्यतोऽप्यायुर्वेदः।'—च० सू० ३०।२३। अर्थात् आयु के लिए हितकर आयु के लिए अहितकर द्रव्यों के गुणकर्मों का ज्ञान प्राप्त होता है; अतः इसे आयुर्वेद कहा जाता है।

आयुर्वेद वाङ्मय में आयुर्वेद को शाश्वत कहा गया है। शाश्वत का यहाँ तात्पर्य है कि सृष्टि के आरंभ से अभी तक लगातार अपनी स्थिति बनाये हुए है। आयुर्वेद को शाश्वत क्यों कहा गया है? इस प्रश्न के समाधान में आचार्य ने तीन हेतु प्रस्तुत किये हैं—'सोऽयमायुर्वेदः शाश्वतो निर्दिश्यते, अनादित्वात्, स्वभावसंसिद्धलक्षणत्वात्, भावस्वभावनित्यत्वाच्च।'—च० सू० ३०।२७। अर्थात् आयुर्वेद को शाश्वत इसलिये कहा जाता है क्योंकि यह (१) अनादि होने से (२) अपने लक्षणों द्वारा स्वभावतः सिद्ध होने से तथा (३) भावों के स्वभाव के नित्य होने से।

(१) अनादित्वात्—आयुर्वेद को अनादि कहा गया है। अनादि का अर्थ होता है जिसके प्रारम्भ का ज्ञान न हो। आयुर्वेद का प्रारम्भ कब हुआ, इसका ज्ञान नहीं है। आयुर्वेद की उत्पत्ति के सम्बन्ध में कहा गया है कि—'न ह्यायुर्वेदस्याभूत्वोत्पत्तिरुप-

लभ्यते, अन्यत्रावबोधोपदेशाभ्याम्, एतद्वै द्वयमधिकृत्योत्पत्तिमुपदिशन्त्येके ।'—च० सू० ३०।२७ । अर्थात् आयुर्वेद की उत्पत्ति सृष्टि की उत्पत्ति से पहले की नहीं है तथा यह भी बात नहीं है कि—इसकी उत्पत्ति सृष्टि-रचना के बाद हुई है, क्योंकि आयुर्वेद की या जीवन विज्ञान से सम्बन्धित ज्ञान एवं इससे सम्बन्धित उपदेश आदि तो उपलब्ध होते हैं, पर इसकी उत्पत्ति कब हुई, इसके बारे में किसी प्रकार का संकेत प्राप्त नहीं होता । आचार्य कहते हैं कि—'न हि नाभूत् कदाचिदायुषः सन्तानो बुद्धिसन्तानो वा, शाश्वतश्चायुषो वेदिता, अनादि च सुख-दुःखं सद्रव्यहेतुलक्षणमिति सद्रव्यचिकित्सितलिङ्गं, हेतुशब्दस्य हि द्रव्यशब्देनैव व्याधिकारणत्वेनोक्तत्वात् प्रशमहेतुत्वमाहुः । अपरापरयोगादिति संतानादित्यर्थः ।'—चक्रपाणिदत्त ।

अर्थात् आयु का सन्तान (प्रवाह, सातत्य स्थिति (Continuty) या बुद्धि का सन्तान न हो, ऐसा कभी नहीं हुआ है अर्थात् आयु व बुद्धि का प्रवाह निरन्तर होता है, अतः आयु का ज्ञान कराने वाला शास्त्र भी शाश्वत है । इसी प्रकार द्रव्य, लिङ्ग व हेतु के पर व अपर संयोग तथा सुख व दुःख भी नित्य हैं, अतः आयुर्वेद भी नित्य है । यहाँ स्पष्ट कर दिया गया है कि पर (श्रेष्ठ) द्रव्य का सेवन स्वास्थ्य या सुख का हेतु है । जब पर (श्रेष्ठ) द्रव्यों का संयोग होता है तो सुख के लिङ्ग (लक्षण) व्यक्त होते हैं तथा जब अपर द्रव्य (हीन गुण वाले) का संयोग होता है तो वह दुःख का हेतु बनता है तथा उसके संयोग से दुःख के लक्षण उत्पन्न होते हैं । इस प्रकार जब पर, श्रेष्ठ हेतु (द्रव्य) का संयोग होता है तो सुख के लिङ्ग व अपर संयोग से दुःख के लिङ्ग उत्पन्न होते हैं । यहाँ पर, अपर द्वारा सुख व दुःखोत्पत्ति कब से प्रारम्भ है, इसका ज्ञान किसी भी प्रकार संभव नहीं है, अर्थात् सुख-दुःख की प्रवृत्ति की परम्परा शाश्वत है, अतः आयुर्वेद भी शाश्वत है, क्योंकि आयुर्वेद की विषयवस्तु ही हितायु (पर) अहितायु (अपर) सुखायु (सुखी जीवन) तथा दुःखायु (दुःखी जीवन) है तथा इन भावों के शाश्वत होने से आयुर्वेद भी शाश्वत है । यहाँ आचार्य ने—'सद्रव्यहेतुलक्षणमपरापरयोगात्' इस हेतु के द्वारा इसके अनादित्व को सिद्ध करने की वैज्ञानिक पद्धति (Scientific method) अपनाई है, क्योंकि सू० अ० १।२४ में कहा गया है—'हेतुलिङ्गौषधज्ञानं स्वस्थातुरपरायणम् । त्रिसूत्रं शाश्वतं पुण्यं बुबुधे यं पितामहः' । अर्थात् स्वस्थ व आतुरों के लिए पर (उत्तम) मार्ग बतलाने वाला आयुर्वेद त्रिसूत्र वाला है । इसके त्रिसूत्र – हेतु, लिङ्ग व औषध है । इस आयुर्वेद को ब्रह्मा ने जाना था । यह आयुर्वेद शाश्वत है । प्रथम अध्याय आयुर्वेदावतरण के संदर्भ में त्रिसूत्रीय आयुर्वेद को पितामह यानि ब्रह्मा से अविप्लुतागम क्रम से क्रमशः प्रजापति, अश्विनी कुमार, इन्द्र, महर्षि भरद्वाज द्वारा भूलोक में लाया गया था । जब सृष्टिकर्त्ता ब्रह्मा ने भी इसे स्वयं जाना था तो फिर इसके प्रारम्भ के बारे में कैसे चर्चा की जा सकती है ? शाश्वत आयुर्वेद का स्वरूप त्रिसूत्र आयुर्वेद ही था,

अतः आचार्य आयुर्वेद के अनादित्व को सिद्ध करते हुये आयुर्वेद के शाश्वत स्वरूप (त्रिसूत्र आयुर्वेद) का उल्लेख 'सद्रव्यहेतुलक्षणमपरापरयोगात्' के रूप में किये हैं। अनादित्व का एक कारण आयु के प्रवाह को माना गया है। शरीरादि चार घटकों का संयोग सृष्टि-उत्पत्ति के साथ ही है। इस संयोग का प्रारम्भ कब हुआ ? इसके बारे में कुछ कहा नहीं जा सकता। इसका प्रवाह (Continuty) अभी भी विद्यमान है तथा आगे भी विद्यमान रहेगा। अतः इस आयु का प्रारम्भ कब से है, यह विषय अज्ञात है। इसका अर्थ यह हुआ कि आयु यानि चार घटकों का संयोग शाश्वत है, अतः इसका ज्ञान कराने वाला आयुर्वेद भी शाश्वत है। इसके हेतुरूप में 'बुद्धिसन्तानो वा' भी कहा गया है अर्थात् बुद्धि-प्रवाह भी सृष्टि के प्रारम्भ से ही विद्यमान है और यह कब तक रहेगा, कहा नहीं जा सकता। यहाँ महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि आचार्य ने 'बुद्धिसन्तानो वा' क्यों कहा है ? 'आयुसन्तानो वा' से जीवन प्रवाह का बोध होता है, जब जीवन-प्रवाह का उल्लेख कर ही दिया गया है तो फिर 'बुद्धि-प्रवाह' क्यों कहा गया है ? जीवन के घटकों में से आवश्यक घटक आत्मा की नित्यता बतलाई जा सकती थी, पर यहाँ बुद्धि-प्रवाह कहा गया है। यहाँ बुद्धि ज्ञान अर्थ में है। च० शा० अ० १ में विषयोपलब्धि के आधार पर बुद्धि का भेद किया गया है—

'या यदिन्द्रियमाश्रित्य जन्तोर्बुद्धि प्रवर्तते।
याति सा तेन निर्देशं मनसा च मनोभवा'॥ (च० शा० १।३२)

अर्थात् मनुष्य की जो बुद्धि जिस इन्द्रिय के माध्यम से कार्य करती है, उस बुद्धि को उसी इन्द्रिय के नाम से जाना जाता है। मन के साथ कार्य करने वाली बुद्धि को मनोभवा बुद्धि कहा जाता है। इस प्रकार इन्द्रियों द्वारा जब अपने-अपने विषयों को ग्रहण किया जाता है, तो उस विषयोपलब्धि (ज्ञान) को बुद्धि कहा जाता है। जिस दुःख-सुख को शाश्वत कहा गया है, उस सुख-दुःख का अनुभव विषयोपलब्धि के आधार पर ही होता है। क्योंकि—

'आत्मेन्द्रियमनोऽर्थानां सन्निकर्षात् प्रवर्तते।
सुखदुःखमनारम्भात्··· ···············॥' (च० शा० १।१३८)

अर्थात् आत्मा, इन्द्रिय, मन और विषय के संयोग से ही सुख और दुःख दोनों होते हैं और ये चारों—आत्मा, मन, इन्द्रिय और विषय जब संयोग करते हैं, तो इनके संयोग से बुद्धि की उत्पत्ति होती है। इनके संयोग द्वारा अनेक प्रकार की विषयोपलब्धि होने से बुद्धि के अनेक भेद बतलाये गये हैं—

'भेदात् कार्येन्द्रियार्थानां बह्वयो व बुद्धयः स्मृताः।
आत्मेन्द्रियमनोऽर्थानामेकैका सन्निकर्षजा॥

(च० शा० १।३३)

इस प्रकार सुख-दुःख का कारण आत्मेन्द्रियमनोऽर्थ संयोग ही है। इस सुख-दुःख का अनुभव मन, बुद्धि के अनुसार (विषय-ज्ञान के आधार पर) करता है। जैसे घ्राण बुद्धि दुर्गन्ध का ज्ञान उपलब्धि करती है तो मन दुःखी और सुगन्ध ग्रहण करने पर मन सुख का अनुभव करता है। इस प्रकार बुद्धि द्वारा गृहीत विषय ही सुख-दुःख का कारण होता है। अतः आचार्य ने 'बुद्धि सन्तानो वा' कहा है। इस प्रकार आयुर्वेद का अनादित्व सिद्ध करने के लिए आचार्य ने चार हेतु प्रस्तुत किया है—

१. आयुषः सन्तानो–	शरीर + इन्द्रिय + मन + आत्मा	इनके संयोग से जीवन-प्रवाह शाश्वत है। अनादि है।
२. बुद्धि सन्तानो वा–	आत्मा + मन + इन्द्रिय + विषय	इनके संयोग से बुद्धि-प्रवाह शाश्वत है। अनादि है।
३. सुख-दुःख —	जब प्रथम + द्वितीय (आयु, बुद्धि) का सम्मिलित संयोग होता है तो	सुख व दुःख का प्रवाह शाश्वत है। अनादि है।
४. त्रिसूत्र (द्रव्य, हेतु, लिङ्ग)	ब्रह्मा स्वयं इसको जानते हैं, जिन्होंने सृष्टि की रचना किया।	अतः त्रिसूत्र आयुर्वेद शाश्वत है। इस पर आधारित सम्पूर्ण आयुर्वेद अनादि है।

२. **स्वभावसंसिद्धलक्षणत्वं**–स्वभावसंसिद्धलक्षणत्व का तात्पर्य यह है कि आयुर्वेद के लक्षण स्वाभाविक रूप से सिद्ध हैं। 'स्वाभाविकं चास्य लक्षणमकृतकं, यदुक्तमिहाद्येऽध्याये च–यथा —अग्नेरौष्ण्यम् अपां द्रवत्वम् ॥'—च० सू० ३०। २७॥ अर्थात् आयुर्वेद के जो भी लक्षण हैं, उनकी उत्पत्ति स्वभावतः होती है अर्थात् वे किसी के द्वारा उत्पन्न नहीं किये जाते हैं। जैसे—अग्नि में उष्णता, जल में द्रवता आदि। स्वभावसंसिद्धलक्षणत्व के सम्बन्ध में आचार्य कहते हैं—'एष चार्थसंग्रहो विभाव्यते आयुर्वेदलक्षणमिति'—अर्थात् यही अर्थसंग्रह यानि विषयों का संग्रह (सुख-दुःखादि विषय जो अनादित्व सिद्धि में कहे गये हैं) आयुर्वेद के लक्षण को सिद्ध करते हैं— उपर्युक्त गद्यांश की टीका करते हुए आचार्य चक्रपाणि दत्त ने स्पष्ट विवेचन प्रस्तुत किया है—'स्वभावसंसिद्धलक्षणत्वं द्वितीयं हेतुमाह—एष चेत्यादि। एष इति सुखदुःखादिः, अर्थसंग्रहोऽभिधेयसंग्रहः, एतेन आयुरादिरायुर्वेदप्रतिपाद्य इति दर्शयति, अयं चायुरादिरत्रायुर्वेदलक्षणमिति विभाव्यते ज्ञायते, आयुरादिनाऽभिधेयेनायुर्वेदो लक्ष्यते'— चक्रपाणिदत्त। इस प्रकार आयुर्वेद का जो प्रथम लक्षण (हितायु व अहितायु का परिणाम क्रमशः सुखायु व दुःखायु) स्वभावतः शाश्वत सिद्ध है। पुनः आचार्य कहते हैं—'गुरुलघुशीतोष्णस्निग्धरूक्षादीनां द्रव्याणां सामान्यविशेषाभ्यां वृद्धिह्रासौ,' अर्थात् गुरु, लघु, शीत, उष्ण, स्निग्ध, रूक्षादि गुणों से सामान्य गुण वाले द्रव्यों से वृद्धि तथा विशेष (विपरीत गुणयुक्त) द्रव्यों से ह्रास होता है। द्रव्यों के लक्षण भी स्वभावतः होते हैं—जैसे पृथ्वी का खर लक्षण, जल का द्रव, अग्नि का उष्ण, आकाश

का अप्रतिघातादि। इस प्रकार द्रव्यों के लक्षण स्वभावसिद्ध हैं। यहाँ द्रव्यों के लक्षणों को स्वभावसंसिद्ध कह कर आयुर्वेद को शाश्वत बताया गया है, इसका कारण यह है कि आयुर्वेद का द्वितीय लक्षण—'स्वलक्षणतः सुखासुखतो हिताहिततः प्रमाणाप्रमाणतश्च यतश्चायुष्याण्यनायुष्याणि च द्रव्यगुणकर्माणि वेदयत्यतोऽप्यायुर्वेदः। तत्रायुष्याण्यनायुष्याणि च द्रव्यगुणकर्माणि केवलेनोपदेक्ष्यन्ते तन्त्रेण।'—च० सू० ३०।२३। अर्थात् जिस शास्त्र में द्रव्यों के गुण-कर्मादि का उल्लेख किया जाता है उसे आयुर्वेद कहा जाता है। इस प्रकार आयुर्वेद का लक्षण 'सुखदुःख के कारणरूप में हित-अहित द्रव्यों के गुण-कर्म का ज्ञान करना, कहा गया है। द्रव्यों के गुणादि लक्षण स्वभावतः सिद्ध हैं, इसलिए उनका ज्ञान कराने वाला आयुर्वेद भी स्वभावतः सिद्ध लक्षणों से युक्त हैं, अतः आयुर्वेद शाश्वत है।

३. भावस्वभावनित्यत्व—प्रत्येक भाव-पदार्थों का स्वभाव नित्य होता है। अर्थात् जितने उत्पत्तिशील पदार्थ हैं, उनका स्वभाव नित्य होता है; क्योंकि स्वभाव बदलता नहीं है और न ही स्वभाव में किसी प्रकार की क्रिया द्वारा परिवर्त्तन लाया जा सकता है। क्योंकि स्वभाव को 'स्वभावो निष्प्रतिक्रियः' कहा गया है। इस सम्बन्ध में कहा गया है कि—'गुरुभिरभ्यस्यमानैर्गुरूणामुपचयो भवत्यपचयो लघूनाम, एवमेवेतरेषामिति, एष भावस्वभावो नित्यः' स्वलक्षणं च द्रव्याणां पृथिव्यादीनां, सन्ति तु द्रव्याणि गुणाश्च नित्यानित्याः।'—च० सू० ३०।२७। अर्थात् गुरु द्रव्यों का लगातार अभ्यास करने से शरीर का उपचय होता है तथा लघु द्रव्यों के लगातार अभ्यास करने से शरीर का ह्रास होता है। यह स्वभावतः होता है। इस तथ्य को पुनः निम्न रूप में व्यक्त किया गया है—'भावस्वभावनित्यत्वमपि चास्य, यथोक्तं मुहुभिरभ्यस्यमानैर्गुरूणामुपचयो भवत्यपचयो लघूनामिति।'—च० सू० ३०।२७। इसके अतिरिक्त अग्नि में उष्णता, जल में द्रवता आदि स्वभावतः होते हैं। इस प्रकार सृष्टि में जितने भी भाव-पदार्थ (उत्पत्तिशील) है, उन सभी का स्वभाव नित्य है; अतः इनका ज्ञान कराने वाला आयुर्वेद भी नित्य है।

आयुर्वेद शाश्वतिकवाद की उपादेयता

आयुर्वेद को शाश्वत कहा गया है। इस शाश्वतिकवाद की पुष्टि में आयुर्वेद के सिद्धान्तों पर प्रकाश डाला गया है तथा 'स्वभाव' को स्पष्ट करते हुए उसके व्यावहारिक स्वरूप को प्रदर्शित किया गया है। इस वाद के द्वारा आयुर्वेद के क्षेत्र को अतिविस्तृत किया गया है। आयु की सन्तान परम्परा को शाश्वत कहा गया है। अतः इससे सम्बन्धित ज्ञान भी शाश्वत है। इस प्रकार जीवन का ज्ञान कराने वाले प्रत्येक भाव आयुर्वेद के ही विषय हैं तथा सुख की प्राप्ति हेतु जो भी उपाय हैं वे सभी आयुर्वेद के ही विषय हैं। आयुर्वेद ने अपना लक्ष्य अहित द्रव्योपयोग से प्राप्त दुःख से निवृत्ति व हित द्रव्यादि द्वारा सुख हेतु प्रवृत्ति को रखा है, जो कि शाश्वत भाव से

अभी तक विद्यमान है। इसी को आयुर्वेद का लक्षण भी कहा गया है; अतः जो भी ज्ञान दुःख से निवृत्ति व सुख प्राप्ति कराने वाला है, वे सभी आयुर्वेद के विषय हैं। इस प्रकार आयुर्वेद का क्षेत्र सीमित न होकर अतिविस्तृत है।

उपर्युक्त तथ्यों की जानकारी से व्यक्ति सुखी व हितकर जीवन की प्राप्ति के लिये उपादेय उपायों का अवलम्बन करते हुये दुःखी व अहितकर जीवन से बचने के लिये हेय भावों का परित्याग करके स्वास्थ्य को प्राप्त कर अपने जीवन को सुखी व सार्थक बना सकता है।

अध्याय—१५

रससमान-गुणसमान-गुणभूयिष्ठवाद

आयुर्वेद में रससमान-गुणसमान-गुणभूयिष्ठवाद के सम्बन्ध में कहा गया है कि—'रसदोषसन्निपाते तु ये रसाः यैर्दोषैः समानगुणाः समानगुणभूयिष्ठा वा भवन्ति ते तानभिवर्धयन्ति, विपरीतगुणाः विपरीतगुणभूयिष्ठा वा शमयन्त्यस्यमाना इति। एतद्-व्यवस्थाहेतोः षट्त्वमुपदिश्यते रसानां परस्परेणासंसृष्टानां, त्रित्वं च दोषाणां'।

(च० वि० १।७)

अर्थात् जब रसों का सेवन किया जाता है तो वे शरीर में जाकर दोषों से अपना सम्पर्क स्थापित करते हैं। जब आहारादि शरीर में ग्रहण किया जाता है तो पाचनादि कर्म दोषों द्वारा ही सम्पादित होता है। जैसे—जब आहार द्रव्य का जिह्वा से सम्पर्क होता है तो वहाँ स्थित बोधक कफ से उसका संयोग होता है। निगलने की क्रिया वायु द्वारा सम्पादित होती है तब उसका वायु से संयोग होता है, इसी प्रकार आमाशयादि अङ्गविशेषों में विभिन्न दोषों से आहारगत रसों का संयोग होता है। इस संयोग की अवस्था में जो रस जिस दोष के समान गुण वाला होता है अर्थात् उसके अनुकूल गुण वाला होता है अथवा रस व दोष-विशेष के अधिकतर गुण जब समान होते हैं, तो वह रस उस दोष-विशेष की वृद्धि करने वाला होता है। जो रस जिन दोषों के विपरीत गुण वाला होता है अथवा रसविशेष का अधिकतर गुण दोष-विशेष के गुण से विपरीत होता है तो वह रस उस दोष-विशेष का शमन करने वाला होता है। इस सिद्धान्त में एक विशेष नियम यह कहा गया है कि—रसों द्वारा दोषों के वृद्धि-क्षय सम्बन्धित यह नियम उसी अवस्था में सम्पादित होता है जब उस रस-विशेष का लगातार अभ्यास (सेवन) किया जाता है। इसी व्यवस्था के कारण परस्पर नहीं मिले हुए पृथक्-पृथक् रसों की संख्या छः तथा पृथक्-पृथक् दोषों की संख्या तीन मानी गयी है।

रसों के गुणों का आधार भौतिक संगठन होता है। यथा—जल व पृथ्वी महाभूत से मधुर रस का निर्माण होता है। अम्ल रस—पृथ्वी व अग्नि महाभूत से, लवण रस—जल व अग्नि से, कटु रस–वायु व अग्नि से, तिक्त–रस-वायु व आकाश से तथा कषाय रस की उत्पत्ति वायु व पृथ्वी महाभूत से होती है। रसों की तरह दोषों में भी भूतविशेष का उत्कर्ष होता है। इस प्रकार रसों व दोषों का कारण समान होता है। आयुर्वेद में कारण के सामान्य होने के आधार पर रसों द्वारा दोषों के वृद्धि-क्षय को निर्धारित किया गया है। तीन-तीन रस एक-एक दोष-विशेष की वृद्धि तथा दूसरे दोष-विशेष का क्षय करते हैं। यथा—कटु, तिक्त, कषाय इन तीनों रसों के भौतिक

संगठन में वायु महाभूत समान रूप से रहता है, अतः ये तीनों रस वात की वृद्धि या प्रकोप करने वाले होते हैं तथा वात के विपरीत गुण वाले कफ का शमन करने वाले होते हैं। मधुर, अम्ल, लवण रसों में जल व पृथ्वी महाभूत होते हैं। कफ दोष में भी जल व पृथ्वी महाभूत होता है, अतः ये तीनों रस, कफ-दोष को प्रकुपित या वृद्धि करने वाले होते हैं तथा कफ के विपरीत गुण वाले वात का शमन करने वाले होते हैं। अम्ल, लवण व कटु—इन तीनों रसों में अग्नि महाभूत के विद्यमान होने से ये पित्त दोष की वृद्धि करने वाले होते हैं तथा मधुर, तिक्त, कषाय—ये तीनों रस ऐसे होते हैं, जिसमें अग्नि महाभूत नहीं रहता है, अतः ये तीन रस पित्त का शमन करने वाले होते हैं। रसों के गुणों के सम्बन्ध में आचार्य सुश्रुत ने सूत्रस्थान अध्याय ४२ में विस्तृत वर्णन किया है—जैसे—'तत्र शैत्यरौक्ष्यलाघववैशद्यवैष्टम्भगुणलक्षणो वायुः, तस्य समानयोनिः कषायो रसः, सोऽस्य शैत्याच्छैत्यं वर्धयति, रौक्ष्याद्रौक्ष्यं, लाघवाल्लाघवं वैशद्याद्वैशद्यं वैष्टम्भ्याद्वैष्टम्भ्यमिति।'—सु० सू० ४२।८।१। इसमें कषाय रस द्वारा वात-वृद्धि की प्रक्रिया गुण के अनुसार स्पष्ट की गयी है। इसमें कहा है कि—वायु का गुण शैत्य, रूक्ष, लघु, विशद एवं विष्टम्भि होता है। कषाय रस वायु के समान गुण, समान योनि वाला है, जिससे अपने शीत गुण से वायु के शीतांश को बढ़ाता है, रूक्षांश रूक्ष भाव को, लघ्वंश लघु भाव को, विशदांश विशद भाव को, विष्टम्भी अंश विष्टम्भी भाव को बढ़ाता है। इसी प्रकार कटु रस द्वारा पित्त की तथा मधुर रस द्वारा कफ की वृद्धि की प्रक्रिया को गुणानुसार स्पष्ट किया गया है—'औष्ण्यतैक्ष्ण्यरौक्ष्यलाघववैशद्यगुणलक्षणं पित्तं तस्य समानयोनिः कटुको रसः, सोऽस्य औष्ण्यादौष्ण्यं वर्धयति, तैक्ष्ण्यात्तैक्ष्ण्यं, रौक्ष्याद्रौक्ष्यं, लाघवाल्लाघवं, वैशद्याद्वैशद्यमिति। माधुर्यस्नेहगौरवशैत्यपैच्छिल्यगुणः लक्षणः श्लेष्मा, तस्य समानयोनिर्मधुरो रसः, सोऽस्य माधुर्यान्माधुर्यं वर्धयति, स्नेहात् स्नेहं, गौरवात् गौरवं, शैत्याच्छैत्यं, पैच्छिल्यात् पैच्छिल्यमिति।'—सु० सू० ४२।८। अर्थात् उष्ण, तीक्ष्ण, रूक्ष, लघु, विशद गुण वाला पित्त होता है तथा कटु रस समान गुण वाला होता है, जिसके कारण कटु रस का औष्ण्य पित्त की उष्णता को, तैक्ष्ण्य तीक्ष्णता को, रौक्ष्य रूक्षता को, लाघव लघुता को तथा विशदता विशद गुण को बढ़ाने वाला होता है। इसी प्रकार मधुर रस व कफ के गुण समान होते हैं। इनके गुण मधुर, स्नेह, गुरु, शीत, पिच्छिल होते हैं। मधुर रस के मधुर भाव से माधुर्यांश, स्नेह भाव से स्नेहांश, गौरव भाव से गुर्वंश, शैत्य भाव से शीतांश तथा पैच्छिल्य भाव से पिच्छिलांश की वृद्धि होती है। इसका विस्तृत वर्णन पुस्तक के प्रथम भाग में रस-प्रकरण में किया गया है। विद्वान् पाठक कृपया वहाँ इसका अवलोकन करें। इन रस व दोषों का विकल्प-विस्तार अर्थात् अंशांश रूप से परस्पर मिलित होने पर तर-तम योग से इनकी संख्या अगणित हो जाती है। 'संसर्गविकल्पविस्तरो ह्येषामपरिसंख्येयो भवति,

विकल्पभेदापरिसंख्येयत्वात् ।'—च० वि० १।८। रस-गुणसमानगुणभूयिष्ठवाद के सम्बन्ध में आयुर्वेद में दो सिद्धान्त उल्लिखित हैं, जिसके सम्बन्ध में पुस्तक के प्रथम भाग में तथा इस द्वितीय भाग में भी पूर्व में वर्णन किया जा चुका है; परन्तु संदर्भानुसार संक्षिप्त रूप में उनका उल्लेख किया जा रहा है। वह सिद्धान्त है—१. प्रकृतिसमसमवेत सिद्धान्त तथा २. विकृतिविषमसमवाय सिद्धान्त।

१. प्रकृतिसमसमवेत सिद्धान्त—इस सिद्धान्त के सम्बन्ध में कहा गया है कि—'तत्र खल्वनेकरसेषु द्रव्येष्वनेकदोषात्मकेषु च विकारेषु रसदोषप्रभावमेकैकश्येनाभिसमीक्ष्य ततो द्रव्यविकारयोः प्रभावतत्त्वं व्यवस्येत् ।'—च वि० १।९। अर्थात् अनेक रस वाले द्रव्यों में और अनेक दोषों से उत्पन्न होने वाले रोगों में रस के और दोष के प्रभाव को अलग-अलग विचार कर द्रव्य और रोग के प्रभाव का तत्त्व-निश्चय करना चाहिए। उपर्युक्त गद्यांश की टीका में आचार्य चक्रपाणिदत्त ने स्पष्ट किया है कि—'रसानां दोषाणाञ्च प्रकृत्यनुगुणो यो मिलितानां प्राकृतगुणानुपमर्देन मेलको भवति, स प्रकृतसमसमवेतशब्देनोच्यते।' अर्थात् जब विभिन्न रसवाले द्रव्यों का संयोग होता है, तो जो गुण उन रसों के रहते हैं, वही गुण मिलित अवस्था में भी विद्यमान रहते हैं तथा दोषों पर उनका प्रभाव भी समुदाय रूप में उसी प्रकार विद्यमान रहता है। जब दो या अधिक द्रव्य-संयोग होता है, इस अवस्था में यदि मिलित द्रव्यों का पृथक्-पृथक् अपने गुणों का प्रभाव दोषादि पर परिलक्षित होता है, तो इस सिद्धान्त को प्रकृतसमसमवेत सिद्धान्त कहते हैं। जैसे—दुग्ध, जल, शर्करा को मिलाकर प्रयोग करने पर अपने-अपने माधुर्य का प्रभाव सभी द्रव्य शरीर पर डालते हैं। कतिपय द्रव्य ऐसे भी होते हैं, जिनमें एकाधिक रस होते हैं। यदि द्रव्यगत रस अपने पृथक्-पृथक् प्रभाव परिलक्षित करते हैं तो उसे प्रकृतिसमसमवेत सिद्धान्त कहते हैं। इसी प्रकार यदि किसी वात-कफज व्याधि में वात व कफ के गुण-प्रभाव पृथक्-पृथक् रूप से लक्षित होते हैं, तो उसे प्रकृतिसमसमवेत कहते हैं। जब इस तरह की स्थिति उत्पन्न होती है तो चिकित्सा में भी इसी सिद्धान्त के अनुसार रसादि का प्रयोग किया जाता है।

२. विकृतविषमसमवाय सिद्धान्त—इस सिद्धान्त के सम्बन्ध में कहा गया है कि—न त्वेवं खलु सर्वत्र। यतो हि विकृतिविषमसमवेतानां नानात्मकानां परस्परेण चोपहतानामन्यैश्च विकल्पनैर्विकल्पितानामवयवप्रभावानुमानेनैव समुदायप्रभावतत्त्वमध्यवसातुं शक्यम् ।'—च० वि० १।१०। अर्थात् 'न त्वेवं खलु सर्वत्र।' अर्थात् सभी जगह ऐसा नहीं होता है। क्योंकि सभी जगह इसी सिद्धान्त के अनुसार रस-दोष सम्बन्ध नहीं होता है, बल्कि कतिपय स्थान पर—विकृत रूप में मिले हुए एवं विषम रूप में मिले हुए अनेक प्रकार से आपस में उपघात किये हुए और दूसरे से भेद करने वाले उपायों से भिन्न हुए, रसों के अवयव के प्रभाव के अनुमान से ही समुदाय के

प्रभाव के तत्त्व का निश्चय होना संभव नहीं होता। विकृतविषमसमवाय के सम्बन्ध में आचार्य चक्रपाणिदत्त का कथन है कि—'विकृत्या हेतुभूतया विषमः प्रकृत्यननुगुणः समवेतो विकृतिविषमसमवेतः।' अर्थात् जब दो या अधिक द्रव्यों का एक साथ संयोग होता है तब ये विकृत होने में कारणभूत होकर अपने-अपने स्वाभाविक गुणों को छोड़ देते हैं। जैसे—शहद व घृत का जब समान मात्रा में मिश्रण किया जाता है तो ये दोनों ही द्रव्य अपने-अपने स्वाभाविक गुणों का परित्याग कर देते हैं एवं इनका प्रभाव विष-सदृश हो जाता है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि जब दो द्रव्यों का या रसों का संयोग होता है तो संयोग होते ही उसमें विकृतावस्था उत्पन्न हो जाती हैं। दोनों द्रव्य अपने-अपने स्वाभाविक गुणों का परित्याग कर एक अन्य प्रकार के विकृत प्रभाव वाले गुण को उत्पन्न कर देते हैं। इस प्रसंग में आचार्य चरक ने कहा है कि इस संयोग में द्रव्य वा रससंयोग विकृत रूप में होता है (अर्थात् जिसमें उनका संयोग जिस रूप में होना चाहिए उस रूप में नहीं होता)। उनका संयोग विषम रूप में होता है तो उन द्रव्यों में उपस्थित गुण एक-दूसरे गुण का उपघात कर देते हैं, जिसके कारण उनके भिन्न लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं एवं गुणों के उपघात के परिणामस्वरूप विकृत प्रभाव के लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं। इसी प्रकार जब किसी व्याधि में दो या अधिक दोषों का संयोग होता है तो उस व्याधि में वातादि दोषों के पृथक्-पृथक् लक्षण उत्पन्न न होकर अन्य लक्षण उत्पन्न होते हैं। कतिपय विद्वानों की मान्यता है कि कुछ द्रव्यों में एक से अधिक रस होते हैं, जब ये सम अवस्था में रहते हैं तो अपने-अपने गुण के अनुसार अपना प्रभाव परिलक्षित करते हैं परन्तु जब ये द्रव्य में विषम भाव में रहते हैं तो इनका प्रभाव विकृत रूप में होता है। जैसे—तिल में कषाय, कटु, तिक्त, मधुरादि समभाव में रहते हैं तो तिल कफ, पित्त या त्रिदोषशामक होता है, परन्तु तिल में यदि ये विषम भाव में रहें तो तिल का प्रभाव त्रिदोषकोपक के रूप में परिलक्षित होता है।

रससमान-गुणसमान-गुणभूयिष्ठवाद की उपादेयता

रससमान-गुणसमान-गुणभूयिष्ठवाद आयुर्वेद में अति उपादेय है। आयुर्वेद का प्रयोजन स्वस्थ व्यक्तियों के स्वास्थ्य की रक्षा और आतुरों के रोग का प्रशमन करना है। पुनः 'धातुसाम्यक्रिया चोक्ता तन्त्रस्यास्य प्रयोजनम्' कहकर आयुर्वेद का एकमात्र प्रयोजन 'धातुओं को सम रखना' कहा गया है। धातु-साम्य-प्रक्रिया में रस-समान गुण-समान गुणभूयिष्ठवाद अति उपादेय है। इस वाद में द्रव्यों की कार्मुकता को स्पष्ट कर दिया गया है। रस व दोषों की उत्पत्ति पञ्चमहाभूतों से होती है तथा यह शरीर भी पाञ्चभौतिक है। इस प्रकार रस व दोषों के गुणों की कारणता समान होती है। आयुर्वेद में वृद्ध दोषों को क्षीण करना तथा क्षीण दोषों को बढ़ाना ही चिकित्सा कहा गया है। दोषों की यह वृद्धि व क्षय उनके गुणों के आधार पर होती है। यदि समान

गुण वाले रस का सेवन किया जाता है तो दोष-गुणों की वृद्धि होती है तथा यदि विपरीत गुण वाले रस का अभ्यास किया जाता है तो दोष का ह्रास होता है। जैसे—किसी के शरीर में वात-वृद्धि होती है तो वृद्धि वात के गुणों में होती है। रूक्षता, लघुता, विशदतादि गुणों की वृद्धि से वात-वृद्धिजन्य लक्षण उत्पन्न होते हैं। जब मधुर रस का सेवन किया जाता है तो मधुर रस के स्निग्ध गुण से वात की रूक्षता, गुरु गुण द्वारा लघुता व पिच्छिल गुण द्वारा विशदता का शमन हो जाता है। जब लगातार मधुर रस का अभ्यास किया जाता है तो मधुर रस के समान गुण वाले कफ की स्निग्धता, शैत्य, पिच्छिलता, सान्द्रतादि गुणों की वृद्धि हो जाती है। इस प्रकार रसों के द्वारा इस सिद्धान्त के अनुसार ही दोष-शमन व प्रकोप की प्रक्रिया सम्पन्न होती है। अतः चिकित्सा व स्वास्थ्यरक्षण—दोनों ही दृष्टि से यह सिद्धान्त उपादेय है।

दोष चिकित्सा का मुख्य आधार रस-समान गुण-समान-गुणभूयिष्ठवाद ही है। दोषों की उनके गुणों के तर-तम भेद से बासठ विकल्पनायें होती हैं तथा रसों की भी तर-तम भेद से सत्तावन (५७), संयोग द्वारा तिरसठ (६३) विकल्पनायें होती हैं। दोष के एक-एक अंश की क्षय-वृद्धि रसों की विकल्पनाविशेष से क्षय-वृद्धि को प्राप्त होती है। इस प्रकार इस सिद्धान्त का उपयोग उच्चस्तरीय चिकित्सा (तर-तमादि अंशांश विकल्पना द्वारा) होता है। इसके दोनों सिद्धान्त (प्रकृतिसमसमवाय व विकृतविषमसमवाय) का व्यावहारिक उपयोग चिकित्सा में होता है। जब दो दोष संयुक्त रूप से व्याधि उत्पन्न कर अपने-अपने लक्षण को प्रकट करते हैं तो उनके शमन हेतु ऐसे रस वाले द्रव्यों का प्रयोग विशिष्ट रूप से कराया जाता है कि वे अपने-अपने पृथक् प्रभाव द्वारा रोग-शमन करें। औषधियों के संमिश्रण, चिकित्सा व्यवस्थापत्र, योग चिकित्सा (कतिपय औषधियों का समुदाय रूप में प्रयोग करना) आदि का आधार यही सिद्धान्त है। अतः आयुर्वेद में रससमान-गुणसमान-गुणभूयिष्ठ-वाद अति उपादेय है। इसकी उपादेयता पर पुस्तक के प्रथम भाग में तथा इस पुस्तक के भी पूर्व प्रकरण में विचार प्रस्तुत कर दिया गया है; अतः पुनः इसका विवरण देना पिष्टपेषण ही प्रतीत होता है; जो कि उचित नहीं है।

अध्याय—१६

आहारविधि-विशेषायतनवाद

आहारविधि-विशेषायतनवाद आयुर्वेद की विशिष्ट अवधारणा है। आयुर्वेद में आहार पर विशेष विचार कर इसका विस्तृत वर्णन किया गया है। इसी शृंखला में आहारविधि-विशेषायतनवाद भी है। आयुर्वेद में कहा गया है कि इन विशेषायतनों का विचार करके ही आहार ग्रहण करना चाहिए। ये विशेषायतन आठ प्रकार के बतलाये गये हैं—'खल्विमान्यष्टावाहारविधिविशेषायतनानि भवन्ति, तद्यथा—प्रकृति-करणसंयोगराशिदेशकालोपयोगसंस्थोपयोक्त्रष्टमानि।'—च० वि० १।२१। अर्थात् आहार-विधि के विशेष आयतन आठ होते हैं; जो निम्नवत् हैं—

१. प्रकृति, २. करण, ३. संयोग, ४. राशि, ५. देश, ६. काल, ७. उपयोग संस्था तथा ८. उपयोक्ता।

१. प्रकृति—यहाँ प्रकृति से स्वभाव अर्थ ग्रहण किया जाता है—'तत्र प्रकृति-रुच्यते स्वभावो यः'—अर्थात् जो द्रव्य, औषधादि का स्वभाव होता है, उसे यहाँ प्रकृति कहा गया है। 'स पुनराहारौषधद्रव्याणां स्वाभाविको गुर्वादिगुणयोगः—तद्यथा माषमुद्गयोः शूकरैणयोश्च।' यहाँ स्वभाव से आहार, औषध द्रव्यों में रहने वाले स्वाभाविक गुण का अर्थ ग्रहण किया गया है। अर्थात् आहार व औषध द्रव्यों के जो स्वाभाविक गुण होते हैं, उन्हें द्रव्य की प्रकृति या स्वभाव कहा गया है। जैसे—उड़द व मूंग की दाल, सूअर व मृग का मांस आदि। यहाँ गुरु व लघु के दो-दो उदाहरण प्रस्तुत कर द्रव्य-प्रकृति को स्पष्ट किया गया है। उड़द स्वभावतः गुरु होता है तथा मूंग स्वभावतः लघु। इसी प्रकार सूअर का मांस स्वभावतः गुरु होता है एवं मृग का मांस लघु होता है। आचार्य का निर्देश है कि आहारविधि-विशेषायतनों में प्रथमतः प्रकृति पर विचार करना चाहिए; क्योंकि जिस आहार या औषध-द्रव्य का सेवन करना हो, उसके स्वभाव पर विचार करना चाहिए कि अमुक द्रव्य स्वभाव से गुरु है या लघु। यदि अग्निमंद है तो लघु स्वभाव के द्रव्यों का तथा अग्नि तीव्र है तो गुरु स्वभाव वाले द्रव्यों का सेवन करना चाहिए। यहाँ आचार्य ने प्रकृति के अन्तर्गत गुरु व लघु दो ही स्वभाव का विशेष उल्लेख किया गया है; क्योंकि स्थूलतः दो प्रकार की चिकित्सा—सन्तर्पण व अपतर्पण का आयुर्वेद में उल्लेख है, जिसे बृंहण व लंघन चिकित्सा कहा गया है—

'सततं व्याधितावेतावतिस्थूलकृशौ नरौ।
सततं चोपचर्यौ हि कर्षणैर्बृंहणैरपि॥' (च० सू० २१।१६)

अर्थात् अतिस्थूल व अतिकृश—दोनों व्यक्ति रोगग्रस्त रहते हैं। इनकी चिकित्सा

कर्षण व बृंहण द्वारा करनी चाहिए। इसके लिए गुरु व लघु द्रव्यों का प्रयोग निम्न रूप में करने का निर्देश दिया गया है—

'गुरु चातर्पणं चेष्टं स्थूलानां कर्शनं प्रति।
कृशानां बृंहणार्थं च लघु संतर्पणं च यत्॥'

(च० सू० २१।२०)

अर्थात् अतिस्थूल व्यक्तियों को कृश करने के लिए गुरु आहार देना चाहिए तथा अतिकृश व्यक्तियों को स्थूल बनाने के लिए लघु व संतर्पक आहार देना चाहिए। इस प्रकार आयुर्वेद-वर्णित संतर्पण व अपतर्पण चिकित्सा में द्रव्य-प्रयोग का आधार गुरु-लघु हैं। अतः आहारविधि-विशेषायतन में प्रथमतः प्रकृति का उल्लेख किया गया है कि—आहार या औषध द्रव्यों के प्रकृति (स्वाभाविक गुण) पर विचार करने के उपरान्त ही उनका सेवन करना चाहिए।

२. करण--यहाँ करण का अर्थ संस्कार होता है—'करणं पुनः स्वाभाविकानां द्रव्याणामभिसंस्कारः'। अर्थात् स्वाभाविक गुण से युक्त द्रव्यों में जो संस्कार किया जाता है, उसे करण कहा जाता है। संस्कार को परिभाषित करते हुए कहा गया है कि—'संस्कारो हि गुणान्तराधानमुच्यते'। अर्थात् द्रव्यगत गुणों में जो परिवर्त्तन लाने वाला होता है, उसे संस्कार कहते हैं। इस प्रकार द्रव्यों के गुणों में जिस प्रक्रिया द्वारा परिवर्त्तन लाया जाता है, उसे करण या संस्कार कहा जाता है। संस्कार हेतु या गुण-परिवर्तन हेतु निम्न उपायों का उल्लेख किया गया है—'ते गुणास्तोयाग्निसन्निकर्षशौचमन्थनदेशकालवासनभावनादिभिः कालप्रकर्षभाजनादिभिश्चाधीयते।' —च० वि० १।२२। अर्थात् जल, अग्निसंयोग, शौच, मन्थन, देश, काल, वासना व भावना आदि तथा कालप्रकर्ष एवं विभिन्न पात्रों में रखने से द्रव्यों के गुण में परिवर्तन होता है। यहाँ करण को 'क्रियते यत्करणम्' अर्थ में ग्रहण किया गया है। आचार्य ने यहाँ संस्कार के विभिन्न उदाहरणों के साथ द्रव्य में परिवर्तन करने वाले उपायों का भी उल्लेख किया है। जैसे—१. द्रव्य का जब जल से संयोग कराया जाता है तो उसके गुण में परिवर्तन होता है। आयुर्वेद में अनेक औषधियों में जलसंयोग के द्वारा गुणान्तराधान किया जाता है। जैसे—क्वाथ, फाण्ट, हिम, आसव, अरिष्टादि का निर्माण जलसंयोग से ही होता है। विभिन्न आहार द्रव्यों की कल्पनायें ओदन-कृशरादि जलसंयोग से होती हैं। जल के कारण द्रव्य के गुणों में परिवर्तन हो जाता है। कठिन, खर गुणयुक्त द्रव्यों का संयोग जब जल से होता है तो उसकी खरता व काठिन्य गुण कम हो जाते हैं अथवा मृदु आदि गुणों का आधान हो जाता है।

२. अग्निसंयोग—आचार्य ने प्रथम संस्कार जलसंयोग के बाद अग्निसंयोग कहा है। अग्निसंयोग होने से द्रव्यगत गुणों में परिवर्तन होता है। अग्निसंयोग होने पर द्रव्यों में पाचनादि द्वारा गुण-परिवर्तन किया जाता है। जैसे—धान्य का

अग्निसंयोग द्वारा यदि लाज (लावा) बनाया जाता है तो वह लघु होता है, परन्तु उसी धान्य का चावल गुरु होता है। अग्निसंयोग होने से प्रायः द्रव्यों में न्यूनाधिक लघुगुण का आधान होता है। आहार द्रव्यों के विभिन्न संस्कारों में अग्निसंयोग अति-महत्त्वपूर्ण है। आहार द्रव्य को शरीर के अनुकूल एवं सुपाच्य बनाने के लिए अग्नि-संयोग कराया जाता है। औषधियों के भी विभिन्न संस्कार अग्निसंयोग से होते हैं। भस्मादि बनाकर जो द्रव्य के गुणों में परिवर्तन किया जाता है वह अग्निसंयोग से ही होता है।

३. **शौच**—शौच का अर्थ शुद्धता या पवित्रता ग्रहण किया जाता है। शौच से भी द्रव्यों के गुणों में परिवर्तन किया जाता है। अशौच (बिना धुले) चावल का ओदन गुरु होता है। जबकि शौच से संस्कारित चावल का ओदन लघु होता है। औषधादि में शौच के अन्तर्गत शोधन क्रियायें आती हैं। कतिपय औषधियों का शोधन कर उसके गुण में परिवर्तन किया जाता है। विषौषधियों का चिकित्सा में प्रयोग करने के लिए उनका शोधन किया जाता है, जिससे उन औषधियों के विषाक्त गुणों में परिवर्तन हो जाता है। रसौषधियों के निर्माणक्रम में प्रथम संस्कार शौच अर्थात् शोधन किया जाता है, जिससे उनके विषाक्त गुण समाप्त हो जाते हैं।

४. **मन्थन**—मन्थन का तात्पर्य यहाँ सान्द्रादि द्रव्यों की सान्द्रता कम करने वाले संस्कार से है। मन्थन प्रक्रिया के द्वारा विभिन्न प्रकार से द्रव्यों में गुण-परिवर्तन किया जाता है। जैसे—'शोथकृत् दधिशोथघ्नं सस्नेहमपि मन्थनात्'। अर्थात् दधि शोथोत्पादक है परन्तु यदि दधि का घृत के साथ मन्थन किया जाता है तो शोथनाशक हो जाता है। दधि में अभिष्यन्दि गुण होता है परन्तु दधि का जब मन्थन कर तक्र बनाया जाता है तो वह अभिष्यन्दि नहीं होता।

५. **देश**—देशानुसार भी द्रव्यों के गुणों में परिवर्तन होता है। एक ही द्रव्य का आनूप, जाङ्गल और साधारण देश के अनुसार गुण अलग-अलग होता है।

६. **काल**—काल के अनुसार द्रव्यों के गुणों में परिवर्तन होता है। जैसे—नव-धान्य (नया चावल) पाक में गुरु होता है परन्तु यदि वह चावल एक वर्ष पुराना होता है तो वह पाक में लघु हो जाता है। वैसे ही आसव, अरिष्ट जितने पुराने होते जाते हैं, उतने ही अनुपात में उसके अन्दर उत्कृष्ट गुणों का आधान होता है। यदि घृत एक सौ वर्ष पुराना हो जाता है तो उसमें इतनी उग्र गन्धता आ जाती है कि उसके गन्ध मात्र से उन्माद रोग में लाभ होता है। उसी प्रकार कालक्रम से एक ही द्रव्य कच्चे अवस्था में रस-गुण में कुछ और ही होता है तथा पक्वावस्था में उसके अन्दर अन्य गुण का आधान होता है। जैसे—बालमूलक (छोटी मूली) में अव्यक्त व तिक्त रस होता है, जिससे बालमूलक त्रिदोषशामक है, परन्तु बड़ी मूली कटु

रसयुक्त होती है एवं वह त्रिदोषकोपक होती है। यह परिवर्तन कालानुसार होता है।

७. **भावना**—किसी द्रव्य को किसी द्रवादि में डूबोकर कुछ काल तक रखने को व प्रक्षालनादि करने को भावना कहा जाता है। इससे द्रव्यों के गुण में परिवर्तन हो जाता है। विषयुक्त द्रव्य, जिसमें मारक गुण होता है यदि गोमूत्रादि में तीन या सात दिन तक डूबोकर भावना दिया जाता है तो विष द्रव्य की मारकशक्ति समाप्त होकर उसका औषधीय प्रयोग होता है। यह भावनाकरण का परिणाम है।

८. **कालापकर्ष**—कतिपय द्रव्यों में कालान्तर में गुण-परिवर्तन हो जाता है, वह कालापकर्ष है।

९. **भाजन**—यहाँ भाजन का अर्थ पात्र से है। जैसे—यदि कांस्य पात्र में १० दिनों तक घृत रख दिया जाता है तो घृत के गुण विष-सदृश हो जाते हैं। इसी आधार पर कतिपय औषधियों को पात्र-विशेष में रखने, पात्र-विशेष में रखकर सेवन करने का विधान है। जैसे—त्रिफला कल्क को प्रथमतः लौहपात्र में लेप कर दिया जाता है फिर जब उसका सेवन किया जाता है तो उसमें उत्कृष्ट रसायन के गुण आ जाते हैं। आयुर्वेद में विभिन्न आहार-द्रव्यों को रखने व सेवन करने हेतु पात्र-विशेष का निर्देश किया गया है।

आहार का यह आयतन एक विशिष्ट व मुख्य आयतन है। द्रव्यों को अपने अनुकूल बनाने हेतु विभिन्न संस्कार किये जाते हैं।

३. **संयोग**—तीसरा आहारायतन संयोग कहा गया है अर्थात् आहार सेवन करते समय संयोग पर विचार कर ही आहार-सेवन करना चाहिए। संयोग के सम्बन्ध में चरकसंहिता में कहा गया है कि—'संयोगः पुनर्द्वयोर्बहूनां वा द्रव्याणां संहतीभावः स विशेषमारभते, यं पुनर्नैकैकशो द्रव्याण्यारभते; तद्यथा—मधुसर्पिषोः, मधुमत्स्यपयसां च संयोगः।' अर्थात् दो या दो से अधिक द्रव्यों को एक में मिलाने को संयोग कहते हैं। संयोग द्वारा गुण-परिवर्तन के सम्बन्ध में आचार्य कहते हैं कि दो या अधिक द्रव्यों का संयोग विशेष कार्य करने वाला होता है। यहाँ विशेष कार्य का तात्पर्य यह है कि संयुक्त द्रव्यों के जो गुण होते हैं, उनको वह गुण स्वतंत्र या पृथक रूप से प्रभावित नहीं कर पाता, बल्कि संयुक्तावस्था में वे अपने गुणों से पृथक् गुणों के द्वारा अपना प्रभाव डालते हैं। अतः पृथक् गुण वाले होने से यहाँ कहा गया है कि संयोग द्वारा द्रव्य विशेष कार्य करने वाले होते हैं। जैसे—मधु व घृत का संयोग या मछली व दूध का संयोग। मधु व घृत पृथक् रूप में शरीर का पोषण व प्रीणन करने वाले होते हैं, परन्तु जब दोनों का संयोग होता है तो उनमें विष-तुल्य गुण का आधान होता है, जो उनके गुणों से पृथक् (विशेष) होता है। इसी प्रकार मछली व दूध पृथक्

रूप से कुष्ठोत्पादक नहीं होता है, परन्तु जब इनका संयोग होता है तो ये कुष्ठोत्पादक होते हैं।

४. राशि—यहाँ राशि का तात्पर्य आहार की मात्रा से है। राशि के सम्बन्ध में कहा गया है कि—'राशिस्तु सर्वग्रहपरिग्रहो मात्रामात्रफलविनिश्चयार्थः'। अर्थात् आहार की मात्रा व अमात्रा का फल-विनिश्चय करने के लिए दो प्रकार की राशियाँ होती हैं। जिसमें प्रथम राशि को सर्वग्रह राशि तथा द्वितीय राशि को परिग्रह राशि कहा जाता है।

१. सर्वग्रहराशि—'तत्र सर्वस्याहारस्य प्रमाणग्रहणमेकपिण्डेन सर्वग्रहः।' अर्थात् जब सभी आहार द्रव्यों का एक पिण्ड में प्रमाण ग्रहण किया जाता है तो उस राशि को सर्वग्रह राशि कहा जाता है।

२. परिग्रह राशि—जब आहार द्रव्यों का एक-एक करके पृथक्-पृथक् प्रमाण ग्रहण किया जाता है तो उस राशि को परिग्रह राशि कहा जाता है—'परिग्रहः पुनः प्रमाणग्रहणमेकैकश्येनाहारद्रव्याणाम्'। 'सर्वतश्च ग्रहः परिग्रह उच्यते।' यहाँ राशि का तात्पर्य आहार-मात्रा से है, जिसे दो प्रकार से निर्धारित किया गया है। सर्वग्रह राशि का तात्पर्य 'सर्वस्य हि ग्रहः सर्वग्रहः' अर्थात् कुल आहार द्रव्यों की मात्रा या राशि को सर्वग्रह राशि कहा गया है। जैसे—किसी व्यक्ति के कुल आहार द्रव्यों की मात्रा तीन सौ ग्राम निर्धारित की जाती है तो यह सर्वग्रह राशि कही जाती है। इसमें सम्पूर्ण आहार द्रव्यों की मिश्रित मात्रा तीन सौ ग्राम होनी चाहिए। जैसे—व्यक्तिविशेष चावल, दाल, शाकादि को आहार में ग्रहण करता है तो सम्पूर्ण खाद्य द्रव्यों का पिण्डित रूप (एक में मिलाकर) तीन सौ ग्राम होना चाहिए। यदि व्यक्ति एक ही द्रव्य का सेवन करता है (जैसे—सक्तुकादि का पिण्ड, हलवा आदि) तो भी वही राशि होती है, जो विभिन्न आहार द्रव्यों को मिलाकर होती है। इस प्रकार आहार की सर्वग्रह राशि का तात्पर्य आहार की कुल मात्रा से है। जब आहार में विभिन्न आहार द्रव्यों की पृथक्-पृथक् राशि निर्धारित की जाती है तो उस राशि को परिग्रह राशि कहते हैं। जैसे—किसी व्यक्ति की सर्वग्रह या सम्पूर्ण राशि चार सौ ग्राम निर्धारित की गई है। जब उसे यह निर्देश दिया जाता है कि इसमें चावल सौ ग्राम, आटा सौ ग्राम, दाल पचास ग्राम, शाक सौ ग्राम, अन्य द्रव्य पचास ग्राम लेना है तो इस प्रकार प्रत्येक आहार-द्रव्यों की मात्रा का पृथक्-पृथक् जब निर्धारण किया जाता है तो उस राशि को परिग्रह राशि कहते हैं।

५. देश—आहारायतनों में देश का भी उल्लेख किया गया है, क्योंकि देश का विचार करना अतिआवश्यक होता है। यहाँ देश के सम्बन्ध में कहा गया है कि—'देशः पुनः स्थानं, स द्रव्याणामुत्पत्तिप्रचारौ देशसात्म्यं चाचष्टे।'—च०वि० १।२१। अर्थात् यहाँ देश स्थान को कहा गया है। द्रव्यों की उत्पत्ति और उसका प्रचार देश-

सात्म्य को बतलाने वाला है। आहारायतन में देश-विचार से यह तात्पर्य है कि, यह विचार करना चाहिए कि जहाँ आहार सेवन किया जा रहा है वह देश कैसा है। जिस आहार-विशेष का सेवन किया जा रहा है वह किस देश में उत्पन्न हुआ है। आहार विशेष के सेवन करने का प्रचलन किस देश में है, आदि। आयुर्वेद में आनूप, साधारण व जांगल तीन प्रकार के देश माने गये हैं। एक ही द्रव्य विभिन्न देश में उत्पन्न होने के कारण अलग-अलग गुण वाले होते हैं। इसके अतिरिक्त किसी आहार-विशेष का प्रचलन देश-विशेष में होता है तो उससे तुलनात्मक विचार करना चाहिए कि—अमुक देश में अमुक आहार विशेष का प्रचलन क्यों है? यदि उस आहार-विशेष का प्रयोग अन्य देश के लिए भी सात्म्य हो तभी उस आहार का सेवन करना चाहिए। जैसे—जो आहार-विशेष आनूप देश में प्रचलित है वह जाङ्गल देश के लिए असात्म्य होगा तथा जो आहार-विशेष जाङ्गल देश में उत्पन्न होता है या प्रचलित है वह आनूप देशवासियों के लिए असात्म्य होता है। चरकसंहिता, सूत्रस्थान अध्याय २७ के अन्नपान विधि में आचार्य ने ऐसा निर्देश दिया है कि देशानुसार आहार द्रव्यों का प्रचलन होता है। उन आहार द्रव्यों पर विचार वहाँ के सेवन करने वाले व्यक्तियों द्वारा प्राप्त ज्ञान के आधार पर करना चाहिए।

'अन्नपानैकदेशोऽयमुक्तः प्रायोपयोगिकः।
द्रव्याणि न हि निर्देष्टुं शक्यं कार्त्स्न्येन नामभिः॥
यथा नानौषधं किंचिद्देशजानां वचो यथा।
'द्रव्यं तत्तथा वाच्यमनुक्तमिह यद्भवेत्॥'
(च० सू० २७।३२९-३३०)

आयुर्वेद में एक सिद्धान्त बहुप्रचलित है कि—जिस देश का जो प्राणि होता है, उसके लिए उसी देश की औषधियाँ या आहार अनुकूल (सात्म्य) होती है, क्योंकि जिस देश में प्रायशः जिन व्याधियों की उत्पत्ति होती है, उस व्याधि-विशेष की औषधि भी वहीं उत्पन्न होती है। हिमालय क्षेत्र में निवास करने वाले व्यक्तियों के लिए उष्णाहार सात्म्य होगा परन्तु उष्ण देशवासियों के लिए असात्म्य होगा। यदि हिमालय क्षेत्र में शीत प्रकोप रहता है तो भल्लातक सदृश उष्ण औषधियों की उत्पत्ति उसी क्षेत्र में होती है। यदि एक व्यक्ति-विशेष राजस्थान के जाङ्गल क्षेत्र में उत्पन्न होकर घृतादि स्नेह द्रव्यों का सेवन उत्तम मात्रा में करता है तो उस देश के लिए वह आहार सात्म्य होता है, परन्तु वही व्यक्ति जब आनूप देश में रहने लगता है परन्तु उसके आहार में स्नेह की मात्रा पूर्ववत् होती है तो या तो वह व्यक्ति स्थूलकाय हो जाता है या उसमें स्नेह व्याप्त हो जाता है। अतः देश का विचार करना अत्यावश्यक है।

६. काल—आहार के विशेषायतनों में काल का उल्लेख कर यह संकेत दिया गया है कि—आहार ग्रहण करने में काल पर विचार करना अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। काल के सम्बन्ध में कहा गया है कि—'कालो हि नित्यगश्चावस्थिकश्च, तत्रावस्थिको विकारमपेक्षते, नित्यगस्तु ऋतुसात्म्यापेक्षः।' अर्थात् काल दो प्रकार का होता है—नित्यग व आवस्थिक। यहाँ आहार के विशेषायतन के सन्दर्भ में आवस्थिक काल को विकार की अपेक्षा रहती है तथा नित्यग काल ऋतु-सात्म्य की अपेक्षा करता है। आवस्थिक काल का तात्पर्य अवस्थानुसार आहारादि के सम्बन्ध में विचार करने से है। जैसे—व्याधियों के चिकित्साक्रम में पथ्यापथ्य का निर्देश दिया जाता है, तब व्याधित अपने रोग के अवस्थानुसार आहार-सेवन पर विचार करता है। जैसे—गुल्म रोग में आलू व मधुर फलों के सेवन का निषेध किया गया है—'न खादेच्चालुकं गुल्म मधुराणि फलानि च।' यह विचार आवस्थिक काल के अनुसार किया गया है; क्योंकि गुल्म रोग से मुक्त होने के पश्चात् आतुर आलूक या मधुर फल का सेवन कर सकता है। यहाँ उक्त द्रव्यों का निषेध अवस्थाविशेष हेतु ही किया गया है। उसी प्रकार ज्वर में रक्तशालि व षष्टिक शालि प्रशस्त कहा गया है। यह भी आवस्थिक कालानुसार ही कहा गया है; क्योंकि ज्वरमुक्ति के बाद वह व्यक्ति-विशेष किसी भी प्रकार का आहार ले सकता है, परन्तु ज्वरावस्था में उसके लिए रक्तशालि का सेवन प्रशस्त होता है। नित्यग काल का विचार ऋतु के अनुसार किया जाता है। ऋतुविशेषानुसार जो आहार सात्म्य होता है, उस ऋतु में उसी आहार का सेवन करना चाहिए। जैसे—जिस ऋतु में अग्नि प्रबल रूप में रहती है, उस समय आहार-द्रव्य या आहार-मात्रा गुरु रहने पर भी उसका सम्यक्रूपेण पाचन हो जाता है तथा वह आहार शरीर के लिए सात्म्य होता है। जैसे हेमन्त ऋतु में अग्नि प्रबल होती है तो गुरु आहार भी सात्म्य होता है। जब आदान-काल होता है तो शरीर के जलीयांश का शोषण होने लगता है; अतः उस समय द्रवाहार या अधिक जलयुक्त शाक, फल (तरबूज आदि) सात्म्य होते है। इसी प्रकार अन्य ऋतुओं के अनुसार आहार द्रव्य, आहार-मात्रा तथा सेवन किये जाने वाले द्रव्य के रसादि पर विचार करके ही आहार-सेवन करना चाहिए।

७. उपयोग-संस्था—यहाँ उपयोग-संस्था का तात्पर्य आहार ग्रहण करने से सम्बन्धित नियम से है। आहार-ग्रहण विधि-विधान से ही करना चाहिए। उपयोग-संस्था को स्पष्ट करते हुए चरकसंहिता में कहा गया है कि—'उपयोगसंस्था तूपयोगनियमः, स जीर्णलक्षणापेक्षः।'—अर्थात् उपयोग संस्था भोजन करने के नियम को कहा जाता है। उपयोग संस्था विशिष्टरूपेण पचे हुए आहार के लक्षणों की अपेक्षा करने वाला है। आयुर्वेद में कहा गया है कि—पूर्व में लिए गये आहार का जब तक सम्यक् रूप से पाचन नहीं हो जाय, तब तक द्वितीय आहार काल के आहार

का ग्रहण नहीं करना चाहिए—'जीर्णेऽश्नीयात्' अर्थात् पूर्वगृहीत आहार के जीर्ण होने पर ही आहार-ग्रहण करना चाहिए। आयुर्वेद में कतिपय लक्षणों का उल्लेख किया गया है, जिसके आधार पर यह ज्ञान प्राप्त होता है कि भोजन जीर्ण हो गया है। यथा—'उद्गारशुद्धिरुत्साहो वेगोत्सर्गो यथोचितः। लघुता क्षुत् पिपासा च जीर्णाहारस्य लक्षणम्।'—अर्थात् उद्गारशुद्धि [शुद्ध डकार का आना, शुद्ध का यहाँ तात्पर्य यह है कि पूर्व में लिए गये आहार के गंधादि का अनुभव न हो], उत्साह का होना, शारीरिक वेगों का यथोचित रूप में प्रवृत्त होना, शरीर में लघुता अर्थात् हल्कापन का अनुभव होना, यथोचित काल में भूख का अनुभव होना, यथोचित रूप में प्यास का अनुभव होना आदि पचे हुए आहार के लक्षण हैं। जब इन लक्षणों की उत्पत्ति हो, भूख का अनुभव हो तभी आहार-ग्रहण करना चाहिए।

८. **उपयोक्ता**—आहार-द्रव्य का सेवन करने वाले व्यक्ति को उपयोक्ता कहते हैं। उपयोक्ता का विचार करने में ओक-सात्म्य व शरीर-सात्म्य को हेतु कहा गया है। उपयोक्ता के सम्बन्ध में कहा गया है कि—'उपयोक्ता पुनर्यस्तमाहारमुपयुङ्क्ते यदायत्तमोकसात्म्यम्।'—च० वि० १।२२। अर्थात् उपयोक्ता उसे कहते हैं, जो स्वयं आहार-द्रव्यों का सेवन करता है एवं जिसके आधीन शरीर-सात्म्य एवं ओक-सात्म्य रहता है। ओकसात्म्य के विषय में कहा गया है कि—'···यच्चेष्टाहारव्यपाश्रयम्। उपशेते यदौचित्यादोकसात्म्यं तदुच्यते।' अर्थात् जो आहार-विहार, चेष्टादि निरन्तर अभ्यास करने के कारण शरीर के लिए सुखावह (हितकारी) होते हैं, उसे ओकसात्म कहते है। सात्म्य के सम्बन्ध में कहा गया है—'सात्म्यार्थो ह्युपशयार्थः।' (च० चि० अ० १) अर्थात् जो उपशय (सुखानुबन्धी) होता है उसे सात्म्य कहते हैं। उपशय सुखावह होता है। इस प्रकार जो आहारादि सेवन से सुखकर परिणाम होता है, उसे सात्म्य कहा जाता है। सात्म्य के सम्बन्ध में च० सू० ६।५० में कहा गया है कि—'देशानामामयानां च विपरीतगुणं गुणैः। सात्म्यमिच्छन्ति सात्म्यज्ञाश्चेष्टितं चाद्यमेव च'। अर्थात् सात्म्य को जानने वाले विद्वान् देश व विभिन्न व्याधियों के गुणों से विपरीत गुण वाले विभिन्न प्रकार की चेष्टाओं अर्थात् विहारादि आद्य (आहार) आदि उस-उस देश व रोग के लिए सात्म्य होते हैं। यहाँ स्पष्ट किया गया है कि देश, रोगादि के विपरीत गुण वाले द्रव्यों का प्रयोग करना प्रायः सात्म्य होता है। इस तथ्य को आचार्य ने शरीर-सात्म्य के सम्बन्ध में प्रकृति के आधार पर निम्न रूप में प्रकाशित किया है—'विपरीतगुणास्तेषां स्वस्थवृत्तेर्विधिहितः। समसर्वरसं सात्म्यं समधातोः प्रशस्यते'।—च० सू० ७।४१। अर्थात् वातादि प्रकृति वाले व्यक्तियों को, स्वस्थ वृत्त-विधि के नियमानुसार अपने-अपने प्रकृति वाले दोष के अनुसार दोष के विपरीत गुण वाले द्रव्यों का सेवन करना चाहिए। अर्थात् जिस दोषविशेष को शमन करने वाले जो रस होते हैं, उस रसविशेष का सेवन करना

चाहिए। जो व्यक्ति समधातु प्रकृति वाले होते हैं उन्हें सर्वरस यानि सभी रसों का सेवन करना चाहिए तथा उन्हें सात्म्य बनाना चाहिए।

आहारविधि-विशेषायतनवाद की उपादेयता

आयुर्वेद की मान्यता है कि इस शरीर व रोग दोनों की वृद्धि में आहार ही कारण होता है। कहा गया है कि—'हिताहारोपयोग एक एव पुरुषवृद्धिकरो भवति, अहिताहारोपयोगः पुनर्व्याधिनिमित्तमिति' ।—च० सू० २५।३१ अर्थात् हितकर आहार पुरुष की वृद्धि व अहितकर आहार रोगवृद्धिकारक होता है। आहार-द्रव्यों के प्रयोग से सम्बन्धित व्यापक सिद्धान्त है कि—'तच्च नित्यं प्रयुञ्जीत स्वास्थ्यं येनानुवर्तते। अजातानां विकाराणामनुत्पत्तिकरं च यत्' । अर्थात् ऐसे आहार द्रव्यों का नित्य सेवन करना चाहिए जो स्वास्थ का अनुवर्त्तन करें तथा जो रोग उत्पन्न नहीं हुए हैं, उनकी उत्पत्ति भी न हो। परन्तु स्वास्थ्यानुवर्त्तन हेतु सेवन किये जाने वाले आहार-द्रव्य के अतिरिक्त अन्य ऐसे भी विचारणीय भाव होते हैं जिनके बारे में विचार करने के उपरान्त ही आहार का सेवन करना चाहिए, तभी वह आहार स्वास्थ्यानुवर्त्तन करने वाला होता है। उन विशेष विचारणीय भावों को विशेषायतन कहा गया है, जिनकी संख्या आठ होती है, अतः इन्हें 'अष्टौ आहारविधिविशेषायतन' भी कहा जाता है। इसकी उपादेयता पर प्रकाश डालते हुए आचार्य चरक ने कहा है कि—'एषां विशेषाः शुभाशुभफलाः परस्परोपकारका भवन्ति, तान् बुभुत्सेत, बुद्ध्वा च हितेप्सुरेव स्यात्, न च मोहात् प्रमादाद्वा प्रियमहितमसुखोदर्कमुपसेव्यमाहारजातमन्यद्वा किंचित्' ।—च० वि० १।२३। अर्थात् इस आठ आहारविधि विशेषायतनों से शुभ व अशुभ दोनों प्रकार के फल प्राप्त होते हैं। अर्थात् विधि के अनुसार आहार-सेवन करने से शुभ फल की प्राप्ति होती है एवं अविहित रूप से आहार सेवन से अशुभ फल की प्राप्ति होती है। ये विशेषायतन आपस में एक दूसरे का उपकार करने वाले होते हैं। इसका अर्थ है कि आठो विशेषायतन एक-दूसरे से सम्बन्धित होते हैं तथा एक-दूसरे की सहायता करते हैं। जैसे—द्रव्यप्रकृति देश व काल की अपेक्षा करती है। इसी प्रकार अन्य आयतन भी एक-दूसरे से सम्बन्धित रहते हैं। अतः इन आठ आयतनों पर आवश्यक रूप से विचार करना चाहिए। विचारोपरान्त विधि अनुसार हितकर भावों का सेवन करना चाहिए। पुनः आचार्य निर्देश दिये हैं कि मोह व प्रमादवश तत्क्षण प्रिय लगने वाले ऐसे आहारादि का सेवन नहीं करना चाहिए जो अहितकर हो तथा जिसका परिणाम अहितकर हो या असुखकर हो। इसी प्रकार अन्य किसी प्रकार के अहितकर आहार्य द्रव्यसमूह का सेवन नहीं करना चाहिए।

आहारविधि विशेषायतन का विचार कर आहार-सेवन करने पर सदैव शुभ फल प्राप्त होता है। यदि स्वप्रकृति के आधार पर द्रव्यप्रकृति पर विचार कर आहार सेवन किया जाता है तो वह शरीर के धातुओं का अनुवर्तन करने वाला होता है।

आहार-द्रव्य की प्रकृति गुरु-लघु आदि कही गई है, जिसके द्वारा सन्तर्पण व अपतर्पण कर्म होता है। आयुर्वेद में यही दो चिकित्सा मान्य व प्रचलित है। इसके अतिरिक्त स्थूल व कृश व्यक्तियों को कृश व स्थूल होने के लिए द्रव्यप्रकृति की परीक्षा अति-आवश्यक है। आहार की मात्रा भी द्रव्य की प्रकृति की अपेक्षा करती है। यथा गुरु प्रकृति वाले आहार-द्रव्य की मात्रा कम ली जाती है। रुग्णावस्था में पथ्य-पालनादि में द्रव्यप्रकृति के अनुसार ही निर्देश दिया जाता है। यथा—भस्मकादि रोग में गुरु द्रव्य व मन्दाग्नि आदि में लघु द्रव्यों का प्रयोग करना चाहिए। इस प्रकार विशेषायतन में द्रव्य की प्रकृति पर विचार करना उपादेय ही नहीं; वरन् आवश्यक भी है। अतः प्रकृति पर विचार कर ही आहार-सेवन करना चाहिए।

आहार सेवन में करण या संस्कार पर विचार करना अति उपादेय है। आहार-द्रव्यों का प्रयोग यथावत् रूप में न कर पाचनादि संस्कारोपरान्त ही किया जाता है। अपनी आवश्यकतानुसार विभिन्न संस्कारों के द्वारा आहार-द्रव्यों के गुणों में परिवर्तन कर उसका उपयोग किया जाता है। करण या संस्कार का उपयोग आहार या औषध दोनों के लिए समान रूप से उपादेय होता है। एक ही द्रव्य धान्य (चावल) का उपयोग विभिन्न व्यक्तियों के लिए विभिन्न संस्कारों द्वारा होता है। द्रव्य एक ही होता है परन्तु संस्कारवश मण्ड, पेया, विलेपी व ओदन के संस्कार के कारण उसके विभिन्न गुण होते हैं। भारतवर्ष में आहार-द्रव्यों का संस्कार स्वास्थ्यानुवर्त्तन हेतु बहु-प्रचलित है। यदि कोई आहार द्रव्य किसी दोष की वृद्धि करने वाला होता है तो तद् दोष का शमन करने वाले द्रव्यों द्वारा उनका संस्कार कर उनके दोष-प्रकोपक बल का शमन कर दिया जाता है। जैसे—प्रायः दालें (शिम्बी धान्य) वात बढ़ाने वाली होती हैं तथा विदाही भी होती हैं परन्तु जब उसे जीरक, हींग, लशुन, घृतादि से संस्कारित कर दिया जाता है तो उसके वात-वृद्धिकर गुण समाप्त हो जाते हैं। उसी प्रकार अभिष्यन्दि दधि के बारे में कहा गया है कि नित्यप्रति दधि सेवन नहीं करना चाहिए। परन्तु जब दधि का संस्कार किया जाता है; तब उससे बना तक्र अमृततुल्य कहा गया है। इसी प्रकार ज्वरादि रोग में सामान्य जल सेवन करने पर अग्निविकार में वृद्धि होती है, परन्तु ज्वर में अग्निसंयोग से संस्कारित उष्ण जल को पथ्य कहा गया है। क्योंकि उष्ण जल दोषों का पाचन करने वाला होता है। संस्कार की उपादेयता पर तो स्वतंत्र रूप से पुस्तक-रचना की जा सकती है। यहाँ जल के विभिन्न संस्कारों की उपादेयता चरकोक्त ज्वर प्रकरण के आधार पर उदाहरणार्थ प्रस्तुत की जा रही है। (च० चि० ३।१४३-१४४) में कहा गया है कि—'तृष्यते सलिलं चोष्णं दद्याद्वातकफज्वरे। मद्योत्थे पैत्तिके चाथ शीतलं तिक्तकैः शृतम्। दीपनं पाचनं चैव ज्वरघ्नमुभयं हि तत्'। अर्थात् वात-कफजन्य तथा वात-पित्तजन्य ज्वरों में उष्ण जल का प्रयोग करना लाभदायक है। मद्यजनित ज्वर में व पित्तजन्य

ज्वर में तिक्त रस से सिद्ध (संस्कारित) जल शीतल कर प्रयोग करना चाहिए। इस प्रकार संस्कारित जल दीपक, पाचक ज्वरनाशक आदि गुण वाला होता है। इसी प्रकार पेया, विलेपी, यवागू, मण्डादि विभिन्न संस्कारों का उपयोग दोषानुसार किया जाता है। अतः आहार विशेषायतन में संस्कार अति उपादेय है।

आहार विशेषायतन में संयोग का अतिमहत्त्वपूर्ण स्थान है। आहार रूप में अनेक द्रव्यों का प्रयोग मिश्रित रूप में किया जाता है। आहार ग्रहण करते समय यह विचार करना अति आवश्यक होता है कि अमुक-अमुक द्रव्यों का संयोग लाभदायक है व अमुक-अमुक द्रव्य का संयोग हानिकारक है। रसों व वीर्य के अनुसार भी द्रव्य-संयोग पर विचार किया जाता है। यदि विरुद्ध द्रव्यों का संयोग कराया जाता है तो उससे विभिन्न प्रकार की व्याधियाँ उत्पन्न होती हैं। जैसे—मछली व दूध का संयोग। इस प्रकार आहारविधि विशेषायतनों में संयोग पर विचार करना अति उपादेय है।

आहारविधि विशेषायतन में राशि पर विचार करना अति उपादेय ही नहीं, बल्कि अपरिहार्य भी है। आहार मात्रा अग्नि के बल की अपेक्षा करती है—'आहार-मात्रा पुनरग्निबलापेक्षिणी।'—च० सू० ५।३। इस प्रकार अग्नि के बल के अनुसार आहार-मात्रा ग्रहण करना चाहिए। अग्नि प्रवर रहने पर आहार की मात्रा प्रवर; मध्यमाग्नि की अवस्था में मध्यम मात्रा तथा मन्दाग्नि में अवर मात्रा ग्रहण करना चाहिए। आहार सेवन में दोनों प्रकार के सर्वग्रह व परिग्रह राशियों पर विचार करना आवश्यक है। अग्नि के अनुसार दोनों प्रकार की राशियाँ निर्धारित की जाती हैं। समधातु वाले व्यक्तियों में सर्वग्रह राशि पर विचार करते हुए परिग्रह पर विचार किया जाता है कि किन आहार द्रव्यों की मात्रा कितनी होनी चाहिए। जैसे—प्रधान दाहक (अन्नादि), अतिरिक्त घटक (शाक, फलादि), सहायक घटक (मसाले आदि) की मात्रा क्या होनी चाहिए। इसी प्रकार आतुरों के दोष-धातु के अनुसार आहार मात्रा निर्धारित की जाती है। जिस धातु का क्षय होता है, उसकी वृद्धि करने वाले आहार की मात्रा अपेक्षाकृत अधिक होती है। आधुनिक काल में सर्वग्रह व परिग्रह दोनों प्रकार की मात्रा का निर्धारण आवश्यक माना जाता है। अमात्रापूर्वक ग्रहण किया गया आहार विभिन्न व्याधियों का कारण होता है। कतिपय द्रव्य ऐसे हैं, जिन्हें न्यूनतम मात्रा में सेवन किया जाता है। रसानुसार भी राशि पर विचार करना चाहिए। यथा—मधुर रस प्रधान घटक के रूप में स्वीकृत है, अतः इसे प्रधान मात्रा में सेवन करना चाहिए। कटु-लवणादि रस को सहायक घटक माना जाता है अतः इनकी मात्रा इतनी ही होनी चाहिए कि प्रधान घटक का सम्यक् पाचनादि कर्म हो जाय। इस प्रकार आहार राशि की अपेक्षा करता है।

आहारविधि विशेषायतनों में देश-काल का महत्त्वपूर्ण स्थान है। स्वास्थ्यानुवर्त्तन हेतु आहार ग्रहण में देश-काल का विचार करना अति उपादेय है। देशानुसार आहार सेवन करना ही स्वास्थ्यानुवर्त्तक होता है अन्यथा वह आहार अनेक प्रकार के व्याधियों का कारण होता है। जिस देश में जो व्यक्ति रहता है; उसके लिए उस देश

में प्रचलित आहार ही लाभदायक होता है। शीत प्रदेश में रहने वाले व्यक्ति हेतु उष्णाहार उपयुक्त होता है। इसी प्रकार कालानुसार आहार ग्रहण करना ही उपादेय होता है। जिस काल में अग्नि प्रबल होती है, उस ऋतु में गुरु द्रव्य का प्रयोग बृंहण करने वाला होता है परन्तु यदि वही गुरु आहार वर्षाकाल में ग्रहण किया जाता है तो उसका हानिकारक प्रभाव होता है। काल विचार करते समय आवस्थिक व नित्यग दोनों प्रकार के कारणों पर विचार करना आवश्यक होता है। जैसे—ज्वरादि से पीड़ित व्यक्तियों में अग्निमांद्य रहता है, अतः आवस्थिक रूप से उसे ऐसे आहार की व्यवस्था करनी चाहिए जिससे स्वास्थ्यानुवर्त्तन, अग्नि स्थापना व रोग का नाश हो। इस आवस्थिक कालानुसार ही ज्वरादि रोगों में मण्ड, पेया, यवागू आदि का विधान किया गया है या विभिन्न व्याधियों में पथ्यापथ्य का निर्देश दिया जाता है। नित्यग काल के अनुसार ही भारतवर्ष में विशिष्ट आहार द्रव्यों का प्रयोग किया जाता है। यथा—तिल आदि के लड्डू का सेवन शीत ऋतु में किया जाता है। द्रव प्रधान आहार का सेवन ग्रीष्म ऋतु में किया जाता है। आधुनिक काल में कालानुसार आहार सेवन करने पर अवश्य विचार करना चाहिए। प्रकृति में उत्पन्न आहार द्रव्यों की उत्पत्ति काल के अनुसार ही होती है। परन्तु अधुना ये द्रव्य (कतिपय) सर्व-काल में उपलब्ध हैं। परन्तु उनका सेवन प्राकृत काल में ही (अर्थात् प्राकृत रूप से जिस ऋतु में उत्पन्न होने वाला हो) करना चाहिए। यथा—अधिक जलयुक्त व मूत्रल गुण वाले ककड़ी, खीरा आदि का सेवन ग्रीष्मकाल में लाभदायक होता है परन्तु जब इनका सेवन शीतऋतु में किया जाता है तो ये हानिकर प्रभाव उत्पन्न कर सकते हैं।

आहार ग्रहण करते समय आहार से सम्बन्धित नियमों का पालन करने पर ही वह आहार स्वास्थ्यानुवर्त्तक होता है अन्यथा अनेक अग्निविकारजन्य व्याधियाँ उत्पन्न होती हैं। अजीर्णावस्था में आहार सेवन करने से मारक आपातकालिक व्याधियाँ उत्पन्न होती हैं। आहार जीर्ण होने पर ही धातुओं की आवश्यकतानुसार पुष्टि होती है अन्यथा धातुओं का क्षय होता है। उपर्युक्त आयतनों पर विचार करने के साथ ही उपयोक्ता पर विचार करना अति आवश्यक होता है। उपयोक्ता के लिए वही आहार लाभदायक होता है, जो उसके लिए सात्म्य होता है। असात्म्य आहार के सेवन करने से अनेक प्रकार की व्याधियों का सेवन करना चाहिए। उपयोक्ता पर विचार कर उसके विपरीत गुण वाले द्रव्यों का सेवन कराना चाहिए तथा उसे सात्म्य बनाना चाहिए। विभिन्न रस वाले द्रव्यों का सेवन भी उपयोक्ता के सात्म्यता-असात्म्यता के आधार पर ही किया जाता है। उपर्युक्त प्रकृति देश-कालादि का विचार भी उपयोक्ता के आधार पर ही किया जाता है। इस प्रकार आहारविधि विशेषायतनों का विचार उपयोक्ता की दृष्टि से करने के बाद ही उपादेय होता है।

अध्याय—१७

दैवपुरुषकारवाद

आयुर्वेद एक आस्तिक चिकित्सा विज्ञान है। इसके सिद्धान्त विभिन्न दर्शनों के आधार पर स्थापित हैं। आयुर्वेद आत्मा-परमात्मा की अवधारणा का अनुसरण करने वाला शास्त्र है। भारतीय दर्शनकारों ने जीवन-सृष्टि के रहस्यों को समझा है। आयुर्वेद जीवनदर्शन है। अतः जीवन के रहस्यों को स्वभावतः आयुर्वेद में उद्घाटित किया गया है। आयुर्वेद में जीवन-चक्र का वर्णन कर जीवन के विभिन्न रहस्यों (मृत्यु-जन्म, प्रवृत्ति-निवृत्ति, बन्ध-मोक्ष आदि) को उद्घाटित किया गया है। इसमें परम आत्मा व जीवात्मा के रूप में आत्मा व परमात्मा के रहस्य को उद्घाटित किया गया है। दैववाद को इस जीवन-विज्ञान में आत्मसात् कर जीवन को प्रभावित करने वाला भाव स्वीकार किया गया है। यदि दैव का कोप होता है तो विभिन्न प्रकार की व्याधियाँ उत्पन्न होती हैं। उन व्याधियों को आधिदैविक या दैवबलप्रवृत्त रोग कहा जाता है तथा तज्जन्य कतिपय मानसिक व्याधियों के समूह को भूतविद्या के नाम से एक स्वतंत्र अङ्ग स्वीकार किया गया है। आयुर्वेद में यह अवधारणा स्थापित की गई है कि—कतिपय विशिष्ट उपायों या विशिष्ट क्रियायों के द्वारा देव-समूह को प्रसन्न किया जा सकता है, जिससे उनके द्वारा उत्पन्न की गई व्याधियों का शमन हो जाने की आशा करते हैं। इस विशिष्ट विधि को आयुर्वेद में दैवव्यापाश्रय चिकित्सा कहा गया है। मानव सभ्यता के प्रारम्भ में (वैदिक काल में) इस पर विचार किया गया कि सृष्टि-संचालन किसके द्वारा सम्पादित होता है। जैसे सृष्टि-संचालन में सूर्य की भूमिका होने से सूर्य को देव कहा गया है, वैसे ही वायु, अग्नि, जलादि को भी देव कहा गया है। दैववाद का आधार सृष्टि व जीवन-प्रक्रिया रही है। पुराकाल के ज्ञानस्रोत विभिन्न संहितायें, ब्राह्मण ग्रन्थ, उपनिषदादि में दैववाद की विशद व्याख्या की गई है या दूसरे शब्दों में यह भी कहा जा सकता है कि उन ज्ञानस्रोतों में 'दैववाद' को ही प्रमुख विषयवस्तु माना गया है। उपनिषद् काल में 'दैववाद' के सम्बन्ध में एक वैज्ञानिक अवधारणा विकसित हुई। वह अवधारणा यह थी कि—मुख्य शक्ति एक है। उसे सभी नित्य पदार्थों में मुख्य नित्य पदार्थ या मुख्यतम (Super eternal power) सभी चेतनों का चेतन (Supreme conciousness) माना गया है। यहाँ तात्पर्य यह है कि उस दैव या ईश्वर को चेतना व नित्यता का मुख्य कारण माना गया है; तभी कहा गया है कि—वह सभी चेतनों का चेतन है अर्थात् सभी चेतनों की चेतनता का मूल कारण है। सभी नित्य पदार्थों की नित्यता

उसी के कारण होती है। उसकी संख्या एक है पर बहुरूपीय अवस्था के कारण उसमें अनेकता का आभास होता है। सारे बन्धनों से मुक्ति देने वाला वही देव है—

नित्योनित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान् ।
तत्कारणं सांख्ययोगाधिगम्यं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ॥
(श्वे० ६।१६)

इस प्रकार अनेकरूपता में भी एक देव की अवधारणा पुष्ट हुई तथा इस एक देव का ही भूतविशेष के अनुसार अनेक स्वरूप स्वीकार किया गया है—

वायुर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव ।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च ॥
(कठ० २।५।१०)

एक एव तु भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः ।
एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत् ॥
(ब्रह्मबिन्दु उप० २२)

इस प्रकार भारतीय दर्शनों, उपनिषदादि ग्रन्थों के आधार पर दैववाद को आयुर्वेद में स्वतंत्र रूप से आत्मसात् कर आधिदैविक रोगों की दैवव्यापाश्रय चिकित्सा की आधारशिला रखी गई है। दैव के साथ ही 'पुरुषकार' पद चरकसंहिता में वर्णित दैवपुरुषकारवाद के आधार किया गया है। पुरुषकार का यहाँ तात्पर्य पुरुषविशेष (व्यक्तिविशेष) द्वारा किये गये कर्तव्य या पुरुषार्थ से है। यहाँ दैव का तात्पर्य देवता, ईश्वर तथा भाग्य अर्थ में है; क्योंकि भाग्य के रचनाकार (निर्माता) संचालक के रूप में दैव को ही माना जाता है। अतः यहाँ 'दैवपुरुषकारवाद' का अर्थ भाग्य व कर्त्तव्यवाद है। क्योंकि पूर्वकाल से लेकर आधुनिक काल तक सम्पूर्ण जन-समूह दो तरह की मान्यताओं का अनुयायी होता है। प्रथम समूह प्रत्येक प्रवृत्ति का कारण, जन्म-मृत्यु आदि का कारण भाग्य या दैव को मानता है। उसकी मान्यता है कि जो कुछ भी घटनायें घट रही हैं, वे सभी घटनायें ईश्वरेच्छा से, भाग्य से हो रही हैं। दूसरे जनसमूह की मान्यता है कि दैव या भाग्य से क्रिया या क्रियाफल नहीं प्राप्त होता, बल्कि क्रिया करने पर क्रियाफल अवश्य प्राप्त होता है। जिस प्रकार की क्रिया की जाती है, फल भी तदनुरूप ही प्राप्त होता है। इसे पुरुषकार कर्तव्यवाद या कर्मवाद कहा जाता है। इस प्रकार शीर्षक 'दैवपुरुषकारवाद' का तात्पर्य यहाँ 'भाग्य-कर्मवाद' है। चरकसंहिता में नियत व अनियत आयु के सन्दर्भ में इस प्रकरण पर विचार प्रस्तुत किया गया है। आचार्य ने दैववाद व पुरुषकारवाद दोनों मान्यताओं को समान रूप से स्वीकार करते हुए इनमें अत्यन्त वैज्ञानिक रूप से समन्वय स्थापित किया है—

इहाग्निवेश ! भूतानामायुर्युक्तिमपेक्षते ।
दैवे पुरुषकारे च स्थितं ह्यस्य बलाबलम् ॥
दैवमात्मकृतं विद्यात् कर्म यत् पौर्वदैहिकम् ।
स्मृतः पुरुषकारस्तु क्रियते यदिहापरम् ॥
बलाबलविशेषोऽस्ति तयोरपि च कर्मणोः ।
दृष्टं हि त्रिविधं कर्म हीनं मध्यममुत्तमम् ॥
तयोरुदारयोर्युक्तिर्दीर्घस्य च सुखस्य च ।
नियतस्यायुषो हेतुर्विपरीतस्य चेतरः ॥
मध्यमा मध्यमस्येष्टा कारणं शृणु चापरम् ।
दैवं पुरुषकारेण दुर्बलं ह्युपहन्यते ॥
दैवेन चेतरत् कर्म विशिष्टेनोपहन्यते ।
दृष्ट्वा यदेके मन्यन्ते नियतं मानमायुषः ॥
कर्म किंचित् क्वचित् काले विपाके नियतं महत् ।
किंचित्त्वकालनियतं प्रत्ययैः प्रतिबोध्यते ॥

(च० वि० ३।२९-३५)

अर्थात् प्राणिमात्र की आयु युक्ति की अपेक्षा करती है। इस आयु का बल (अधिक दिनों तक जीवित रहना), अबल (कम दिनों तक जीवित रहना)—यह दैव व पुरुषकार (भाग्य व कर्म) दोनों पर ही निर्भर करता है। दैव क्या है ? इस सम्बन्ध में आचार्य कहते हैं 'कर्म यत् पौर्वदैहिकं' अर्थात् पूर्वजन्म में किये गये कर्मों के अनुसार प्राप्त होने वाला फल दैव या भाग्य कहा जाता है तथा इस जन्म में जो कर्म किया जाता है, उसे पुरुषकार कहा जाता है। इन दैव व पुरुषकार कर्मों में प्रधानता और अप्रधानता की विशेषता होती है। कर्म तीन प्रकार के होते हैं—हीन, मध्य व उत्तम। जब दैव और पुरुषकार दोनों उत्तम होते हैं तो दोनों का संयुक्त परिणाम सुखदायक और दीर्घायु-प्रदाता होता है। यदि दैव व पुरुषकार दोनों ही हीन होते हैं एवं जब उनका संयुक्त फल प्राप्त होता है तो दुःखपूर्वक व्यतीत होने वाले अल्पायु की प्राप्ति होती है। जब दैव व पुरुषकार दोनों मध्यम होते हैं तो मध्यम सुख व मध्यम आयु की प्राप्ति होती है। पुनः कहा गया है कि—दुर्बल भाग्य को बलवान् पुरुषार्थ नष्ट कर देता है तथा दुर्बल पुरुषकार को बलवान् भाग्य नष्ट कर देता है। इस तथ्य के आधार पर कतिपय लोग आयु को नियत मानते हैं। किसी प्रबल कर्म का विपाककाल निश्चित होता है तथा कतिपय कर्मों का विपाककाल अनिश्चित रहता है। परन्तु उसे कारणों से फलोन्मुख किया जाता है।

यहाँ दैववाद व पुरुषकारवाद—दोनों का समन्वय अतिसुन्दर रीति से किया गया है। आचार्य की अवधारणा है कि क्रियाफल दैव व पुरुषकार दोनों के अनुसार ही

प्राप्त होते हैं, पर यह इस बात पर निर्भर करता है कि इनमें बली कौन है। जो बलवान् होता है, उसके अनुसार फल की प्राप्ति होती है। यदि दोनों समानरूपेण बलयुक्त या हीन होते हैं तो उनका मिश्रित फल प्राप्त होता है। यहाँ आचार्य ने परोक्ष रूप से कर्मवाद या पुरुषकारवाद की प्रधानता की ओर संकेत किया है। वह संकेत यह है कि उन्होंने दैववाद की अवधारणा की स्थापना भी अप्रत्यक्षरूप से कर्मवाद के परिप्रेक्ष्य में ही किया है।

दैववाद को स्पष्ट करते हुए आचार्य ने कहा है—'दैवमात्मकृतं विद्यात् कर्म यत् पौर्वदैहिकम्' अर्थात् पूर्व में स्वयं द्वारा किया गया कर्म ही दैव है। यहाँ स्पष्ट कर दिया गया है कि प्राणियों का भाग्य भी पूर्वजन्म के कर्मानुसार ही होता है। परन्तु इस जन्म में पूर्व जन्म के किये गये कर्मों की स्मृति नहीं रहती, इसीलिए मनुष्य समझता है कि यह दुःखद या सुखद फल दैव द्वारा या भाग्यवश प्राप्त हो रहा है। इस प्रकार यदि पूर्वजन्म का कर्म बलवान् होता है तो जो फल व्यक्तिविशेष को प्राप्त होता है वह उसे भाग्य या दैववश प्राप्त होना समझता है तथा जब इस जन्म का कर्म बलवान् होता है तो फल भी तदनुसार ही मिलता है। यथा—यदि कोई व्यक्ति पूर्वजन्म में तप, दान, दया तथा परोपकारपूर्ण कर्म किया है परन्तु इस जन्म में कदाचित् किसी को पीड़ा भी पहुँचाता है, तो उसे पूर्वकृत प्रबल पुण्यानुसार फलप्राप्ति होती है। इस स्थिति में जनसामान्य में यही अवधारणा बनती है कि ईश्वर (दैव) या भाग्यवश उसे यह फल प्राप्त हो रहा है, जबकि वस्तुस्थिति यह है कि उसे स्वयंकृत कर्मों (पूर्वजन्म के कर्मानुसार) का परिणाम प्राप्त हो रहा है। इसी प्रकार यदि पूर्वजन्म में कोई अनेक जघन्य अपराध किया है तथा इस जन्म में कुछ परोपकार भी कर रहा है, तो भी व्यक्तिविशेष को पूर्वजन्म के प्रबल अशुभ कर्मों के अनुसार ही दुःख व अल्पायु की प्राप्ति होती है। इन कर्मों का विपाक-काल निश्चित नहीं रहता। इसी तथ्य को च० शा० १ में और अधिक स्पष्ट करते हुए कहा गया है—

'निर्दिष्टं दैवशब्देन कर्म यत् पौर्वदेहिकम्।
हेतुस्तदपि कालेन रोगाणामुपलभ्यते॥
न हि कर्म महत् किञ्चित् फलं यस्य न भुज्यते।
क्रियाघ्नाः कर्मजा रोगाः प्रशमं यान्ति तत्क्षयात्॥

(च० शा० १।११७)

अर्थात् पूर्वजन्म में किये गये कर्मों को दैव कहा जाता है। यह भी काल की अपेक्षा करता है। अर्थात् पूर्व कर्म भी जब कालोपरान्त या कालानुसार विपाचित होते हैं तभी फलदायक होते हैं। कोई भी ऐसा बड़ा कर्म नहीं है, जिसका फल न भोगना पड़ता हो अर्थात् सभी बड़े कर्मों का फल या परिणाम अवश्य होता है। यह दैव या पूर्वकर्मज व्याधियाँ चिकित्सा को भी निष्फल कर देती हैं अर्थात् उचित

चिकित्सा करने पर भी शांत नहीं होतीं। जब इस जन्म में अन्यान्य कर्म किये जाते हैं तो उसका नाश हो जाता है। जैसे—पूर्वजन्म में कोई जघन्य अपराध किया हो तो उसका फल अवश्य होता है, परन्तु यदि इस जन्म में प्रबल रूप से श्रेष्ठ कर्मों को ही किया जाता है तो पूर्व के कर्मों के फल का नाश हो जाता है। पुनः आचार्य शा० अ० २ में रोग एवं आरोग्य प्रकरण में दैव व पुरुषकारवाद का उल्लेख निम्न रूप में प्रस्तुत करते हैं—

दैवं पुरा यत् कृतमुच्यते तत् पौरुषं यत्त्विह कर्मदृष्टम्।
प्रवृत्तिहेतुर्विषमः स दृष्टो निवृत्तिहेतुर्हि समः स एव॥

(च० शा० २।४४)

अर्थात् पूर्वजन्म में किये गये कर्मों को दैव कहा जाता है तथा इस जन्म में किये गये कर्मों को पौरुष कहा जाता है। दैव व पुरुषकार की विषमता होती है। यानि एक प्रबल व एक निर्बल हो तो रोगों की उत्पत्ति या प्रवृत्ति होती है तथा इन दोनों (दैव व पौरुष) का जब समयोग होता है तो रोगों की निवृत्ति होती है।

आचार्य ने निर्देश दिया है कि नियत व अनियत आयु के सम्बन्ध में या दैव-पुरुषकार के सम्बन्ध में एकपक्षीय अवधारणा को धारण नहीं करना चाहिए। इस सम्बन्ध में उन्होंने कतिपय दृष्टान्त (उदाहरण) प्रस्तुत किया है, जिसे स्पष्ट करते हुए उद्धृत किया जा रहा है। उनका कथन है कि 'आयु नियत है' यदि इस एक-पक्षीय अवधारणा को माना जाता है तो फिर जीवनरक्षक उपायों को अपनाने की कोई आवश्यकता ही नहीं होगी। परन्तु व्यवहार में देखा जाता है कि मानव सदैव प्राणरक्षा हेतु विभिन्न क्रियाओं को करता रहता है; यथा—

१. मन्त्र, औषध, मणिधारण, मङ्गलपाठ, बलि, नियम, प्रायश्चित, उपवास, स्वस्त्ययन, नम्रता-प्रकाशन, तीर्थ-गमनादि दैवव्यपाश्रित कर्म करता है।

२. विभिन्न जन्तुओं यथा—साँड़, हाथी, घोड़ा, रासभादि से अपनी रक्षा में तत्पर रहता है। इसी प्रकार विषैले पदार्थ, विषधर सर्प, बिच्छू आदि से अपनी रक्षा करता है।

३. विभिन्न प्रकार के उबड़-खाबड़, पर्वतादि युक्त मार्गों से, नशे में मस्त व्यक्तियों से तथा अग्नि आदि से अपनी रक्षा करता है।

४. मनुष्य स्वयं साहसजन्य कर्म, स्थान व अवस्था के विपरीत आचरण, राजा के क्रोध, कैद, वध आदि से बचने के लिए प्रयत्नशील रहता है।

५. यदि मृत्यु नियत ही मान ली जाती है तो अकालमृत्यु के प्रकरण का कोई औचित्य ही नहीं रह जाता। परन्तु ऐसा देखा जाता है कि अकालमृत्यु से रक्षा हेतु अनेक प्रकार से प्रयत्न किये जाते हैं। जैसे—ऋषियों द्वारा आयु बढ़ाने के लिए किये जाने वाले कर्म, रसायनादि का प्रयोग आदि।

६. आचार्य ने इस संदर्भ में एक तर्क दिया है कि यदि नियत आयु मान ली जाय तो अश्विनीकुमार भी किसी रोगाक्रान्त की चिकित्सा नहीं करते। महर्षि लोग तपस्यादि के द्वारा इच्छानुसार आयु प्राप्त नहीं करते, देवताओं के साथ रसायन औषधियों पर विचार नहीं करते, न उन औषधियों का उपदेश देते और न ही उसका सेवन करते; क्योंकि आयु के नियत होने पर इसकी आवश्यकता ही नहीं होती।

पुनः आचार्य कतिपय तुलनात्मक उदाहरण प्रस्तुत किये हैं—उनका कथन है कि निम्न स्थितियों में अतुल्य आयु देखी जाती है। जैसे—१. युद्ध करने वाले और न करने वाले, २. रोगों के होते ही चिकित्सा कराने वाले और न कराने वाले (जो शीघ्र चिकित्सा लेता है वह दीर्घायु, जो नहीं लेता वह अल्पायु होता है), ३. विषाक्त भोजन करने वाले और नहीं करने वाले आदि। इनकी आयु में इनके कर्म के अनुसार भिन्नता होती है। इसके अतिरिक्त 'समान रूप से जल पीने के घड़े व चित्र में रखे घड़े का योगक्षेम समान नहीं होता' ऐसे उदाहरणों को प्रस्तुत किया गया है। इसी प्रकार हिताहार से जीवन व अहिताहार से मृत्यु की प्राप्ति होती है। इसके अतिरिक्त अन्य कई प्रकार के आयु को बढ़ाने वाले उपदेश दिये जाते हैं—'तस्मादुभयदृष्टत्वा-देकान्तग्रहणमसाधु। निदर्शनमपि चात्रोदाहरिष्यामः—यदि हि नियतकालप्रमाणमायुः सर्वं स्यात्, तदाऽऽयुष्कामाणां न मन्त्रौ ·······आरोग्यानुवृत्तौ हेतुमुपलभामहे सम्यगुपदिशामः सम्यक् पश्यामश्चेति।' (च० वि० ३।३६)

दैवपुरुषकारवाद की उपादेयता

दैवपुरुषकारवाद समाज के लिए उपादेय ही नहीं वरन् आवश्यक भी है, क्योंकि आज भी समाज में एकान्त ग्रहण करने वाले अनेक लोग हैं। यथा कुछ लोग भाग्य मानकर स्वास्थ्यरक्षा के लिये विहित स्वस्थ वृत्त के कर्मादि को सम्यक्रूपेण नहीं कर पाते, परिणामतः अनेक प्रकार के जटिल रोगों से ग्रस्त हो जाते हैं। भाग्यवादी मनुष्य प्रायः आलसी हो जाते हैं। आलस्य को सभी विकारों का मूल कहा गया है। अतः दैवपुरुषकारवाद द्वारा यह निर्देश दिया गया है कि यदि इस वर्तमान जन्म में श्रेष्ठ कर्म किया जायेगा तो वह पूर्वकृत कर्मों का क्षय कर देगा। इस प्रकार पूर्णतः भाग्यवादी न बनकर कर्म भी करना चाहिए। यदि भाग्यवादी ही है तो चरकसंहिता में उनके लिए भी कहा गया है कि इस जन्म में किया गया कर्म ही आगामी जन्म में भाग्य होगा, अतः अपना विहित कर्म अवश्य करना चाहिए। इसके अतिरिक्त इस वाद की एक मुख्य विचारधारा है कि प्रत्येक बड़े कर्मों का फल अवश्य मिलता है। यह जनसामान्य के लिये अति उपादेय विचार है। यदि मनुष्य की समझ में यह बात आ जाय कि मेरे द्वारा किया गया कर्म अवश्य ही फल देने वाला है, तो मनुष्य द्वारा किये जाने वाले अहित कर्म कम हो जायेंगे। कर्मवादी व्यक्ति अपने कर्मों पर ही विश्वास करते हैं, भाग्य पर विश्वास नहीं करते। अतः वे अच्छे फल से तो

प्रसन्न हो जाते हैं परन्तु उचित परिणाम न मिलने पर अपने कर्मसामर्थ्य या लोक-समाज को दोषी ठहराते हैं। परिणामतः वे सदैव तनावयुक्त व विभिन्न मानसिक संवेगों से युक्त हो जाते हैं। कभी-कभी अतिशय हताश व विषादयुक्त हो जाते हैं। अतः आचार्य ने कहा है कि दैव व पुरुषकार में जो प्रबल होता है, तदनुसार ही फल प्राप्त होता है। यदि स्वकर्मों का उचित फल प्राप्त न करने वाला व्यक्ति उभयपक्षी (भाग्य व कर्मवादी दोनों) है तो वह वस्तुस्थिति को समझते हुए विपरीत परिस्थिति में भी सामंजस्य बैठा लेता है जिससे वह विभिन्न अनागत दुःखों से मुक्त रहता है। इस प्रकार प्रायः एकान्त-ग्रहण से दोनों स्थितियों में ही विकारोत्पत्ति होती है। यथा भाग्यवादी पक्ष से आलस्य, अकर्मण्यता आदि तथा कर्मवादी पक्ष से विषाद, चिन्ता आदि की उत्पत्ति होती है। अतः यदि उभय पक्ष को (भाग्यवाद व पुरुष-कारवाद) को प्रभावकारी मानते हुए जीवन में धारण किया जाता है तो सुख की प्राप्ति होती है। यदि थोड़े प्रयास से वांछित फल प्राप्त नहीं होता तो भाग्य मानकर उस कर्म का त्याग नहीं करना चाहिए; बल्कि उस कर्म को विहित विधान से प्रबल रूप में करना चाहिए। क्योंकि दोनों पक्षों में जो प्रबल होता है वह दूसरे के कर्मफल को क्षीण करता है। इस प्रकार विहित विधान से प्रबल रूप में किया गया कर्म भाग्य के प्रभाव को क्षीण कर देगा एवं कृत कर्म का अभीष्ट परिणाम प्राप्त होगा।

अध्याय—१८

आहार विधिविधानवाद

आहार से सम्बन्धित कतिपय ऐसे विधियों का विधान किया गया है जो स्वस्थ व आतुर दोनों के लिए समान रूप से उपयोगी है। इसी उद्देश्य से च० वि० १।२४ में आचार्य चरक ने आहार विधि का वर्णन करते समय निम्न घोषणा की है—'तत्रेदमाहारविधिविधानमरोगाणामातुराणां चापि केषांचित् काले प्रकृत्यैव हिततमं भुञ्जानानां भवति'। अर्थात् यह आहार विधि का विधान समय पर स्वभाव से ही हिताहारी स्वस्थ व आतुरों के लिए भी लाभदायक है। आचार्य चरक के मत में एक चिकित्सक को आहार के सम्पूर्ण ज्ञान से पूर्ण होना चाहिये—

रसान् द्रव्याणि दोषांश्च विकारांश्च प्रभावतः।
वेद यो देशकाले च शरीरं च स नो भिषक्॥

(च० वि० १।२६)

अर्थात् जो चिकित्सक रस, द्रव्य, दोष, विकार, देश, काल और इन सभी के शरीर पर प्रभाव को मानता है, वही वास्तव में हमारा चिकित्सक है।

आचार्य ने कतिपय आहार विधियों का निर्देश दिया है, जो निम्न है—'उष्णं, स्निग्धं, मात्रावत्, जीर्णे, वीर्याविरुद्धम्, इष्टे देशे, इष्टसर्वोपकरणं, नातिद्रुतं, नातिविलम्बितम्, अजल्पन्, अहसन्, तन्मना भुञ्जीत, आत्मानमभिसमीक्ष्य सम्यक्।'

(च० वि० १।२४)

अर्थात् १. आहार उष्ण, २. स्निग्ध, ३. मात्रापूर्वक, ४. भोजन के पचने पर, ५. वीर्य के अविरुद्ध, ६. मनोनुकूल स्थान पर, ७. अनुकूल सामग्रियों से युक्त, ८. न अति जल्दी, न अति देर से, ९. न बोलते हुए, न हँसते हुए, १०. मन लगाकर, ११. आत्मशक्ति के अनुसार ग्रहण करना चाहिए।

१. उष्णाहार—उष्ण आहार का सेवन करना चाहिए—'उष्णमश्नीयात्।' उष्ण आहार का सेवन करने से (१) 'उष्णं हि भुज्यमानं स्वदते'—अर्थात् उष्णाहार ग्रहण करने से भोजन का स्वाद अच्छा होता है या उस भोजन के यथावत् स्वाद का पता चलता है। उष्णाहार लेने से जिह्वा व मुखगत स्रोतों की शुद्धि हो जाती है तथा बोधक कफ यथावत् रूप से अपना कार्य करता है। परिणामतः भोजन के सम्यक् स्वाद का ज्ञान होता है। (२) 'भुक्तं चाग्निमौदर्यमुदीरयति'—अर्थात् उष्णाहार द्वारा उदरस्थ अग्नि तीव्र होती है। अग्नि में उष्णता रहती है। अतः जब उष्णाहार ग्रहण किया जाता है तो आहार का उष्णत्व अग्नि की वृद्धि करता है; क्योंकि 'सर्वदा सर्वभावानां सामान्यं वृद्धिकारणम्' कहा गया है। इस प्रकार उष्णाहार व अग्नि में

उष्णता समान होने से अग्नि की वृद्धि हो जाती है। (३) 'क्षिप्रं जरां गच्छति'—अर्थात् उष्णाहार के सेवन करने से आहार का शीघ्र ही पाचन हो जाता है। (४) 'वातमनुलोमयति'—उष्णाहार लेने से वायु का अनुलोमन होता है। वात का गुण शीत होता है, अतः उष्णाहार से उसका अनुलोमन होता है। (५) 'श्लेष्माणं च परिह्रासयति'—उष्णाहार के द्वारा कफ का शोषण हो जाता है। (६) आचार्य वृद्ध वाग्भट उष्णाहार के सम्बन्ध में कहते हैं कि—'उष्णं पुनर्जनयति रुचिमुपशोषयति श्लेष्माणम्'—अर्थात् उष्णाहार सेवन करने से भोजन में रुचि उत्पन्न होती है तथा कफ का शोषण होता है। इसलिए 'तस्मादुष्णमश्नीयात्'—उष्ण भोजन ही करना चाहिए।

उष्णाहार का तात्पर्य ताजे आहार से समझना चाहिए; क्योंकि अति उष्ण आहार सेवन करने से भी अनेक प्रकार की हानियाँ होती हैं। जैसाकि आचार्य वाग्भट ने कहा है—'अत्युष्णमन्नं मददाहतृष्णाबलप्रणाशभ्रमरक्तपित्तम्'—अर्थात् अत्युष्ण आहार से मद, दाह, तृष्णा, बल का नाश, चक्कर आना तथा रक्तपित्त में विकार उत्पन्न होता है।

२. स्निग्धाहार—आहार विधि में विधान किया गया है कि—'स्निग्धमश्नीयात्' अर्थात् स्निग्धाहार का सेवन करना चाहिए। स्निग्धाहार सेवन करने से निम्न गुण प्राप्त होते हैं—(१) 'स्निग्धं हि भुज्यमाणां स्वदते'—स्निग्ध आहार स्वादु होता है। यह आहार स्वादिष्ट तो होता ही है, साथ-साथ स्वादोत्पादक (स्वादु) भी होता है। (२) 'भुक्तं चानुदीर्णमग्निमुदीरयति'—अर्थात् स्निग्धाहार सेवन करने पर प्रज्वलित या उद्दीप्त उदराग्नि और तीव्र होती है। स्निग्ध आहार अग्निदीपक होता है। (३) 'क्षिप्रं जरां गच्छति'—ग्रहण किये गये आहार का शीघ्र ही पाचन हो जाता है। (३) 'वातमनुलोमयति'—स्निग्धाहार सेवन करने से वायु का अनुलोमन होता है। वात का गुण रूक्ष, लघु, विशद, रूक्ष आदि होता है। स्नेह वायु के गुणों से विपरीत गुण वाला होता है। अतः स्निग्धाहार का स्निग्ध गुण रूक्षता का, गुरु गुण लघुता का, पिच्छिल गुण विशदता का शमन करता है; परिणामतः वातानुलोमन होता है। (५) 'शरीरमुपचिनोति'—स्निग्धाहार से शरीर का उपचय होता है। स्नेह उपचय-कारक, उपलेपकृत् व मार्दवकृत् होता है। अतः स्निग्धाहार सेवन से शरीर का उपचय होता है। (६) 'दृढीकरोतीन्द्रियाणि'—स्निग्धाहार सेवन करने से इन्द्रियाँ दृढ़ होती हैं। यहाँ दृढ़ता का अर्थ उनके क्रियाकर्तृत्व-सामर्थ्य को ग्रहण करना चाहिए। स्निग्धाहार से इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों का ग्रहण दृढ़तापूर्वक करती हैं। (७) 'बलाभिवृद्धिमुपजनयति'—स्निग्धाहार सेवन करने से शरीर में बल की वृद्धि होती है। आयुर्वेद में सामान्यतया बलवृद्धि से शक्तिवृद्धि अर्थ ग्रहण किया जाता है, परन्तु आयुर्वेद में बल का विशिष्ट अर्थ 'बलं ह्यलं निग्रहाय रोगाणां' या 'त्रिविधं

बलमुच्यते' के अनुसार बल से व्याधि-क्षमता होती है। व्याधि-क्षमता का कारण शारीरिक भाव—ओज को कहा गया है। स्निग्धाहार ओजोवर्द्धक होता है। अत: यहाँ बल से दोनों अर्थों का ग्रहण किया जाता है। स्निग्धाहार से शारीरिक व मानसिक दोनों प्रकार के बल की वृद्धि होती है। (८) 'वर्णप्रसादं चाभिनिर्वर्तयति'—अर्थात् स्निग्धाहार वर्ण में स्वच्छता उत्पन्न करता है। (९) आचार्य वाग्भट के अनुसार स्निग्धाहार १. इन्द्रियों को दृढ़ करता है, २. शरीर को पुष्ट करता है, ३. वृद्धावस्था को दूर करता है, ४. बल को बढ़ाता है तथा ५. वर्ण को निर्मल करता है—यथा—'स्निग्धं दृढीकरोतीन्द्रियाण्युपचिनोति, शरीरमुपचिनोति, जरां दूरीकरोति, बलमभिवर्धयति, वर्णप्रसादमभिनिर्वर्तयति।'—अ० सं० सू० १०। स्निग्धाहार में यह ध्यान देना चाहिए कि आहार यथोचित रूप से ही स्निग्ध हो; क्योंकि यदि आहार अति स्निग्ध होता है तो—'स्निग्धं त्वतिश्लेष्मचयप्रसेकहृद्गौरवालस्यरुचिप्रणाशम्।'—अ० सं० सू० १०। अर्थात् कफ का संचय होता है, मुख से लालास्राव होता है, हृदय प्रदेश में भारीपन का अनुभव होता है, आलस्योत्पत्ति होती है तथा रुचि का नाश होता है। इसलिए यथोचित रूप से—'तस्मात् स्निग्धमश्नीयात्'—स्निग्ध आहार का सेवन करना चाहिए।

३. **मात्रा**—आहार का सेवन मात्रापूर्वक करना चाहिए। आयुर्वेद में मात्रापूर्वक आहार सेवन हेतु बारम्बार निर्देश दिया गया है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि मात्रापूर्वक सेवन किया गया आहार ही स्वस्थ्यानुवर्त्तन करता है। चरकसंहिता में मात्रापूर्वक आहार के सम्बन्ध में कहा गया है कि—(१) 'मात्रावद्धि भुक्तं वातपित्ताकफानपीडयदायुरेव विवर्धयति केवलम्'। अर्थात् मात्रापूर्वक सेवन किया गया आहार वात, पित्त व कफ को पीड़ित न करते हुए पूर्णरूप से आयु को बढ़ाता है। यहाँ वात-पित्त-कफ को पीड़ित न करता हुआ—से यह तात्पर्य यह है कि मात्रापूर्वक लिया गया आहार स्वास्थ्य का अनुवर्त्तन करते हुए यानि स्वस्थ रखते हुए व्यक्ति की आयुवृद्धि करता है। (२) 'सुखं गुदमनुपर्येति'—अर्थात् आसानी से गुदा तक पहुँच जाता है अर्थात् मात्रापूर्वक किये गये आहार का सम्यक् पाचनादि कर्म हो जाता है। प्रसाद किट्ट भाग का निर्माण यथोचित रूप से होता है, जिससे मल (पुरीष) का निष्क्रमण सम्यक् रूप से होता है। (३) 'न चोष्माणमुपहन्ति'—मात्रापूर्वक लिया गया आहार अग्नि का उपघात नहीं करता है। (४) 'अव्यथं च परिपाकमेति'—बिना किसी प्रकार के कष्ट या उपद्रव उत्पन्न किये ही आसानी से पच जाता है। अत: 'तस्मान्मात्रावदश्नीयात्'—मात्रापूर्वक आहार का सेवन करना चाहिए। आहार की मात्रा अग्नि के बल के अनुसार ही लेनी चाहिए। अग्निबल से कम मात्रा में या अधिक मात्रा में लिया गया आहार शरीर व अग्नि दोनों के लिए हानिकारक होता है।

अमात्रा में लिया गया आहार अनेक मारक व्याधियों को उत्पन्न करता है, जिसका उल्लेख आगे किया जायेगा ।

४. जीर्ण होने पर आहार-सेवन—आयुर्वेद में कहा गया है—'जीर्णेऽश्नीयात्' अर्थात् पूर्व में लिए गये आहार के जीर्ण हो जाने पर ही आहार का सेवन करना चाहिए । क्योंकि—'अजीर्णे हि भुञ्जानस्याभ्यवहृतमाहारजातं पूर्वस्याहारस्य रसमपरिणतमुत्तरेणाहाररसेनोपसृजत् सर्वान् दोषान् प्रकोपयत्याशु'—अर्थात् पूर्व में लिया गया आहार यदि सम्यक् रूप से जीर्ण न हुआ हो, फिर भी यदि पुनः आहार ग्रहण किया जाता है तो लिया गया आहारसमूह, पूर्वगृहीत आहार के अपक्व (बिना पूर्ण पचे हुए) रस के साथ बाद में सेवन किये आहार के साथ मिल जाता है तथा इस मिश्रित रस द्वारा सभी दोष प्रकुपित हो जाते हैं । अतः पूर्वगृहीत आहार जीर्ण होने पर ही अगला आहार ग्रहण करना चाहिए । इसके लिए आचार्य ने कतिपय लक्षणों का उल्लेख किया है । उन लक्षणों के द्वारा यह ज्ञात हो जाता है कि पूर्व में लिया गया आहार सम्यक् रूपेण जीर्ण हो चुका है । यथा—(१) 'जीर्णे तु भुञ्जानस्य स्वस्थानस्थेषु दोषेष्वग्नौ चोदीर्णे' अर्थात् भोजन जीर्ण हो जाने पर जब दोष अपने-अपने स्थान पर स्थित हों (जब आहार का सम्यक्रूपेण पाचन हो जाता है तो दोष अपने-अपने स्थान पर ही रहते हैं तथा अपने-अपने कर्मों का सम्पादन यथोचित रूप से करते हैं); (२) अग्नि जब प्रदीप्त हो, (३) 'जातायां च बुभुक्षायां'—अर्थात् जब भोजन करने की इच्छा उत्पन्न हो अर्थात् क्षुधा का अनुभव हो । (४) 'विवृतेषु च स्रोतसां मुखेषु'—अर्थात् जब स्रोतों का मुख खुल जाय । स्रोत स्रवण कराने वाले होते हैं । कतिपय कारणों से जब इनका अवरोध होता है तो स्रवण क्रिया सम्यक्रूपेण नहीं होती है; परन्तु जब अवरोध दूर हो जाता है तो स्रोतगत क्रियायें सम्यक्रूपेण सम्पादित होने लगती हैं । यहाँ स्रोतों के मुख खुल जाने से यही तात्पर्य है । (५) 'विशुद्धे चोद्गारे'—अर्थात् जब उद्गार शुद्ध आने लगे, (६) 'हृदये विशुद्धे'—जब हृदय शुद्ध हो जाय, (७) 'वातानुलोम्ये'—जब वातानुलोमन हो जाय, (८) 'विसृष्टेषु च वातमूत्रपुरीषवेगेष्वभ्यवहृत'—अर्थात् जब वात (अपान वायु), मूत्र, पुरीष आदि अपने सामान्य वेग से सम्यक्रूपेण उत्सर्जित हो गये हों—इस अवस्था में आहार ग्रहण करना चाहिए; क्योंकि उपर्युक्त लक्षण के आ जाने पर जो आहार ग्रहण किया जाता है वही आहार लाभदायक होता है । 'आहारजातं सर्वशरीरधातूनप्रदूषयदायुरेवाभिवर्धयति केवलम्' अर्थात् उपर्युक्त लक्षणों की उत्पत्ति होने पर सेवन किया गया आहारसमूह शरीरस्थ सम्पूर्ण धातुओं को दूषित न करता हुआ आयु को सम्पूर्ण रूप से बढ़ाता है । यहाँ धातुओं को दूषित न करने से तात्पर्य यह है कि पूर्वगृहीत आहार के जीर्ण हो जाने पर लिया गया आहारसमूह (विभिन्न प्रकार के खाद्य, पेय आदि) स्वास्थ्य का अनुवर्त्तन करते हुए आयुवर्द्धक होता है । अतः कहा गया है कि—'तस्माज्जीर्णेऽश्नीयात्' आहार जीर्ण होने पर ही भोजन करना चाहिए ।

५. **वीर्याविरुद्धमश्नीयात्**—यहाँ निर्देश दिया गया है कि जो आहार परस्पर वीर्यविरुद्ध न हो, उस आहार का ही सेवन करना चाहिए। अविरुद्ध वीर्य वाले (आहार द्रव्यों में परस्पर एक-दूसरे के विरुद्ध वीर्य वाले द्रव्य न हों) द्रव्यों का जब आहार रूप में सेवन किया जाता है तब—'अविरुद्धवीर्यमश्नन् हि विरुद्धवीर्याहारजैर्विकारैर्नोपसृज्यते'—अर्थात् वीर्य अविरुद्ध आहार से उत्पन्न होने वाली व्याधियाँ नहीं होती है। अतः—'तस्माद्वीर्याविरुद्धमश्नीयात्'—वीर्य विरुद्ध आहार का सेवन नहीं करना चाहिए। आयुर्वेद में विरुद्धाहार का विस्तृत वर्णन किया गया है। वैरोधिक आहार के सम्बन्ध में कहा गया है कि—'यत् क्रिमिद्दोषमास्त्राव्य न निर्हरति कामतः। आहारजातं तत् सर्वमहितायोपपद्यते।'—च० सू० २६।८५। अर्थात् जो आहार या औषधि दोषों को अपने स्थान से स्रवित करा दे, उभाड़ दे परन्तु शरीर से बाहर न निकाल पाये, उस आहार को अहिताहार या विरुद्धाहार कहा जाता है। वैरोधिक आहार घटकों में 'वीर्यविरुद्ध आहार' को भी एक घटक माना गया है। आहार या औषध की क्रियाकर्तृत्व शक्ति को वीर्य कहा गया है। जब दो विभिन्न विरुद्ध वीर्ययुक्त द्रव्य का सेवन किया जाता है तो स्वास्थ्यानुवर्तन न होकर रोगोत्पत्ति होती है। उसी तथ्य को यहाँ प्रकाशित किया गया है कि अविरुद्ध वीर्य वाले आहार का सेवन करने से विरुद्ध वीर्यजन्य व्याधियों से रक्षा होती है। जैसे—मछली व दूध को वीर्यविरुद्ध कहा गया है। विरुद्धवीर्य होने के कारण इनका सेवन करने से रक्त दूषित होता है, तज्जन्य अनेक व्याधियाँ उत्पन्न होती हैं—'न मत्स्यान् पयसा सहाभ्यवहरेत्''''''शीतोष्णत्वाद्विरुद्धवीर्यविरुद्धवीर्यत्वाच्छोणितप्रदूषणाय ''।'—च० सू० २६।८२। इसी प्रकार मधु स्वभावतः शीत होता है, यदि उसका संयोग उष्ण द्रव्यों के साथ होता है तो वह वीर्यविरुद्ध हो जाता है—'उष्णैर्विरुध्यते सर्वं विषान्वयतया मधु। उष्णार्तमुष्णैरुष्णैर्वा तन्निहन्ति यथा विषम्।'—सु० सू० अ० ४५। शीत वीर्य वाले द्रव्यों को उष्ण वीर्य वाले द्रव्यों के साथ मिलाकर सेवन करना वीर्यविरुद्ध कहा जाता है—'तत् संयोज्योष्णवीर्येण द्रव्येण सह सेव्यते।'—च० सू० २६। अतः वीर्यविरुद्ध आहार का सेवन यहाँ निषेधित किया गया है।

६. **इष्टे देशे इष्टसर्वोपकरणं चाश्नीयात्**—यहाँ 'इष्टे देशे इष्टसर्वोपकरणं चाश्नीयात्' के द्वारा यह निर्देश दिया गया है कि—अनुकूल स्थान पर और सभी प्रकार के मनोनुकूल सामग्रियों के साथ आहार ग्रहण करना चाहिए। यहाँ अनुकूल स्थान से मन के अनुकूल स्थान का अर्थ ग्रहण किया जाता है; क्योंकि अनुकूल स्थानादि पर आहार-ग्रहण से होने वाले लाभ में आचार्य ने स्पष्ट कर दिया है कि—'इष्टे हि देशे भुञ्जानो नानिष्टदेशजैर्मनोविघातकरैर्भावैर्मनोविघातं प्राप्नोति'। अर्थात् मन के अनुकूल स्थान पर भोजन करने से अप्रिय स्थान में मन के विघात करने वाले भावों के द्वारा होने वाले मानसिक विकार प्राप्त नहीं होते हैं। इसी

प्रकार—'यथैवेष्टै: सर्वोपकरणै:' अर्थात् मन के अनुकूल सभी भोजन की सामग्रियों के रहने पर मन में विकार नहीं उत्पन्न होता है। उपर्युक्त पाँच विधियों में भोजन विधि शारीरिक स्थिति के अनुसार वर्णित है। उन विधियों का पालन करने से शारीरिक धातुओं की साम्यावस्था बनी रहती है। जिसके फलस्वरूप शारीरिक व मानसिक रूप से व्यक्ति स्वस्थ रहता है। आयुर्वेद में स्वस्थावस्था व विकारावस्था दोनों में जितनी शारीरिक भावों की भूमिका स्वीकार की गई है उतनी ही मानसिक भावों की भूमिका भी स्वीकार की गई है। आचार्य ने भोजन विधि में कतिपय ऐसे विधियों का निर्देश दिया है, जिससे आहार द्वारा स्वास्थ्यानुवर्तन होता है। आहार ग्रहण करते समय मन के अनुकूल स्थिति का होना अत्यावश्यक है; क्योंकि उस काल में भोक्ता को सुखानुभव होना आवश्यक है। भोजन के जीर्ण होने के लिए मन की सुखानुभूति आवश्यक है। मानसिक रूप से प्रसन्न रहने पर शरीर की क्रियायें अबाध रूप से सम्पादित होती हैं। मन को प्रभावित करने वाले भाव—भोजन ग्रहण करने का स्थान, भोजन व भोजनोपयोगी अन्य सामग्रियाँ हैं। यदि स्थान मनोनुकूल नहीं रहता तो मन का उपघात होता है, जिसके कारण (१) व्यक्ति सम्यक्रूपेण यथावत् मात्रा में आहार ग्रहण नहीं कर पाता, (२) आहार ग्रहण अविधि रूप से (अति शीघ्रादि) करता है। (३) गृहीत आहार का सम्यक् पाचन नहीं होता। (४) जिसके कारण अजीर्ण व आमजन्य अनेक प्रकार की व्याधियाँ उत्पन्न होती हैं। यदि भोजन-स्थान पवित्र तथा मनोनुकूल रहता है और भोजन की सभी सामग्रियाँ मनोनुकूल रहती हैं तो—(१) मनोविघातकर भाव नहीं आ पाते हैं। यहाँ मनोविघातकर भावों से तात्पर्य काम, क्रोधादि मनोवेगों से है (मनोविघातकरैर्भावैरिति त्रिविध कुक्षीये वक्ष्यमाणै: कामादिभिश्चोपतापकरैश्चित्तविकारैरित्यर्थः)। (२) व्यक्ति आहार ग्रहण यथावत् रूप से करता है। (३) मनोनुकूल वर्ण, गन्धादि (भोजन सामग्रियों के गंध वर्णादि) द्वारा शरीर में जठराग्नि प्रदीप्त होती है तथा वातादि दोष समभाव में रहकर अपनी क्रियायें करते हैं। परिणामत: (१) आहार शीघ्र जीर्ण होता है। जिससे (२) स्वास्थ्यानुवर्त्तन होता है। अत:—'तस्मादिष्टे देशे तथेष्टसर्वोपकरणं चाश्नीयात्'—अर्थात् मन के अनुकूल स्थान व सामग्रियों के रहने पर आहार ग्रहण करना चाहिए।

७. नातिद्रुतमश्नीयात्—यहाँ 'नातिद्रुतमश्नीयात्' के द्वारा यह निर्देश दिया गया है कि अति शीघ्रता से भोजन नहीं करना चाहिए। क्योंकि—

(१) 'अतिद्रुतं हि भुञ्जानस्योत्स्नेहनमवसादनं'—अर्थात् अति शीघ्र भोजन करने से आहार द्रव्य उन्मार्ग में चले जाते हैं।

(२) आहार द्रव्यों का अवसादन होता है। यहाँ अवसादन का तात्पर्य शिथिलता से है। भोजन में शिथिलता आ जाने से उनमें पाचन हेतु यथोचित गति नहीं हो पाती।

(३) 'भोजनास्याप्रतिष्ठानं च'— अर्थात् अतिद्रुत गति से भोजन करने से भोजन का अप्रतिष्ठान होता है। यहाँ अप्रतिष्ठान का अर्थ यह है कि—भोजन अपने प्रतिष्ठान (जहाँ उसके रुकने का स्थान है। भोजन का प्रतिष्ठान आमाशय होता है) में रूक नहीं पाता, बल्कि उसकी गति द्रुत होने से बिना रूके या यथोचित रूप से न रूक-कर शीघ्र ही आगे गतिशील हो जाता है। इसके अतिरिक्त—

(४) भोज्यदोषसाद्गुण्योपलब्धिश्च न नियता:—अर्थात् आहार द्रव्य के दोष या उत्तम गुण की प्राप्ति निश्चित रूप से नहीं होती है। यदि लिया गया आहार दोष-कारक है तो अतिद्रुत रूप से आहार ग्रहण करने पर यह निश्चित नहीं रहता कि उसके दोष का प्रभाव शरीर पर होगा ही। उसका दोषकारक प्रभाव हो भी सकता है और नहीं भी हो सकता। इसी प्रकार यदि भोजन उत्तम गुणों से युक्त है अथवा उत्तम फलदायक है तो भी अतिद्रुतगृहीत भोजन के बारे में यह नहीं कहा जा सकता कि, शरीर पर इस आहार का परिणाम निश्चित रूप से होगा। फल प्राप्त हो भी सकता है व नहीं भी हो सकता—'तस्मान्नातिद्रुतमश्नीयात्'। अत: अतिद्रुतगति से आहार ग्रहण नहीं करना चाहिए। आचार्य वाग्भट अतिद्रुत रूप से ग्रहण किये गये आहार पर अपना विचार निम्न रूप से प्रकट किये हैं—'अतिद्रुतं तु भुञ्जानस्य जल्पतो हसतोऽन्यमनसो वा भवेदुत्स्नेहनमवसादनं भोजनस्याप्रतिष्ठानं गुणदोषा-विभावनं च।'—अ० सं० सू० १०। अर्थात् अतिद्रुतगति से आहार ग्रहण करने पर भोजन ग्रहण करते समय व्यक्ति अन्य लोगों के साथ वार्त्तालापादि करता है। जिससे उसका मन भोजन की ओर केन्द्रित न होकर अन्य विषयों की ओर चला जाता है। इससे भोजन की स्निग्धता नष्ट हो जाती है, आहार के गुणों का अवसादन हो जाता है अर्थात् उसके गुण शिथिल हो जाते हैं और भोजन अपने स्थान पर प्रतिष्ठित नहीं हो पाता है। अत: अतिद्रुत रूप में भोजन ग्रहण नहीं करना चाहिए।

८. **नातिविलम्बितमश्नीयात्**—अतिविलम्बित रूप से आहार का सेवन नहीं करना चाहिए। यहाँ विलम्बित आहार का अर्थ अति शनै:-शनै:—ज्यादा देर तक ठहर-ठहर कर भोजन करना है। यहाँ निर्देश दिया गया है कि बहुत देर तक रूक-रूक कर भोजन नहीं करना चाहिए। विलम्बित आहार सेवन से होने वाली हानियों के सम्बन्ध में कहा गया है कि—'अतिविलम्बितं हि भुञ्जानो न तृप्तिमधिगच्छति, बहुभुङ्क्ते, शीतीभवत्याहारजातं, विषमं च पच्यते, तस्मान्नातिविलम्बितमश्नीयात्।'—च० वि० १।२४८। 'विलम्बितं तु भुञ्जानो न तृप्तिमधिगच्छति, बहु च भुङ्क्ते, शीतीभवति चान्नजातं विषमपाकं च भवति।'—अ० सं० सू० १०। अर्थात् विलम्बित रूप से आहार सेवन करने से।

(१) अधिक विलम्बित अर्थात् धीरे-धीरे भोजन करने से तृप्ति नहीं हो पाती।

(२) आहार की मात्रा अधिक हो जाती है। यहाँ मात्राधिक्य का तात्पर्य यह है

कि रूक-रूक कर अधिक देर तक भोजन करने से भोजन की मात्रा सामान्य आहार-मात्रा से अधिक हो जाती है।

(३) देर तक भोजन करने से भोजन शीत हो जाता है।

(४) देर तक आहार ग्रहण करने से भोजन का पाचन विषम रूप से होता है। अर्थात् कभी तो भोजन का पाचन हो जाता है, परन्तु कभी नहीं भी होता है।

९. तन्मनाभुञ्जीत—'तन्मना भुञ्जीत' का अर्थ है कि मन लगाकर भोजन करना चाहिए। इस सम्बन्ध में आचार्य चरक ने कहा है कि—अजल्पन्नहसन् तन्मना भुञ्जीत; जल्पतो हसतोऽन्यमनसो वा भुञ्जानस्य त एव हि दोषा भवन्ति य एवातिद्रुतमश्नतः तस्मादजल्पन्नहसंस्तन्मना भुञ्जीत।'—च० वि० १।२४।९। अर्थात् वार्तालाप न करते हुए और न हँसते हुए मन लगाकर भोजन करना चाहिए। पुनः आचार्य कहते है कि—बातचीत करते हुए, हँसते हुए या अमनस्क होकर आहार ग्रहण करने से वही दोष उत्पन्न होते हैं जो अतिद्रुतगति से आहार ग्रहण करने से दोष या विकार उत्पन्न होते हैं। अतः बिना वार्तालाप करते हुए व बिना हँसते हुए मन लगाकर भोजन करना चाहिए। आचार्य चरक ने हँसते हुए या वार्त्तालाप करते हुए आहार ग्रहण करने से अतिद्रुत भोजन से उत्पन्न दोष का ही प्रादूर्भूत होना कहा है। सम्भवतः इसी आधार पर आचार्य वाग्भट ने 'तन्मना भुञ्जीत' का स्वतंत्र रूप से उल्लेख नहीं किया है, परन्तु 'तन्मना भुञ्जीत' में वर्णित तथ्यों का उल्लेख (अजल्पन्, अहसन्) अतिद्रुत भोजन ग्रहण के अन्तर्गत किया है; क्योंकि दोनों में समान रूप से दोष कुपित होते हैं—'अतिद्रुतं तु भुञ्जानस्य जल्पतो हसतोऽन्यमनसो भवेदुत्स्नेहनमवसादनं भोजनस्याप्रतिष्ठानं गुणदोषविभावनं च।' इस प्रकार अतिद्रुत आहार ग्रहण प्रकरण में ही आचार्य ने निर्देश दिया है कि—अमनस्क होकर वार्त्तालाप करते हुए व हँसते हुए आहार ग्रहण नहीं करना चाहिए।

आयुर्वेद में शरीर व मन की क्रियाओं पर स्वतन्त्र रूप से विचार करते हुए भी दोनों को एक-दूसरे से सम्बन्धित माना गया है। इस प्रकार आयुर्वेद की व्याख्यान परम्परा मनोदैहिक है। अमनस्क रूप से गृहीत आहार का सम्यक् रूपेण पाचन नहीं हो पाता। समनस्क ग्रहण किया आहार ही धातुओं का पोषण करने वाला होता है। यहाँ इस विषय पर नातिसंक्षेप नातिविस्तृत विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है। चरक व सुश्रुत दोनों आचार्यों ने स्पष्ट निर्देश दिया है कि—

'कामक्रोधलोभमोहेर्ष्याह्रिशोकमानोद्वेगभयोपतप्ते मनसा वा यदन्नपानमुपयुज्यते तदप्याममेव प्रदूषयति। भवन्ति चात्र—मात्रयाऽप्यभ्यवहृतं पथ्यं चान्नं न जीर्यति। चिन्ताशोकभयक्रोधदुःखशय्याप्रजागरैः।'—च० वि० २।११-१२।

'ईर्ष्याभयक्रोधपरिप्लुतेन लुब्धेन रुग्दैन्यनिपीड़ितेन।
प्रद्वेषयुक्तेन च सेव्यमानमन्नं न सम्यक्परिपाकमेति॥' (सु० सू० ४६)

इस प्रकार स्पष्ट कर दिया गया है कि—काम, क्रोध, लोभ, मोह, ईर्ष्या, लज्जा, गर्व, उद्वेग, भय, चिन्ता, दैन्य, द्वेष, निद्रादि की स्थिति में जब आहार ग्रहण किया जाता है तो रस का पूर्णतः पाचन (परिपाक) नहीं हो पाता तथा इससे दोष प्रकुपित होकर शरीर में अनेक प्रकार की व्याधियाँ उत्पन्न करते हैं। आयुर्वेद में मनोवेगों को धारण करने का निर्देश दिया गया है। यदि इन वेगों को धारण नहीं किया जाता तो इसका प्रभाव शरीर की दैनिक क्रियाओं पर पड़ता है। शोकादि वेगों के कारण शरीर का पोषण क्षीण हो जाता है, जिससे शारीरिक बल के साथ-साथ मनोबल भी क्षीण हो जाता है, बुद्धि भी क्षीण हो जाती है और मन की अन्यमनस्कता निरन्तर बनी रहती है। इस तथ्य का प्रकाशन आचार्य चरक ने विमान स्थान अ० २ में किया है—मनोविघातकरैर्भावैरिति त्रिविधकुक्षीये वक्ष्यमाणैः कामादिभिश्चित्तोपतापकरैश्चित्त विकारैरित्यर्थः।··· ··· ···मनोविघातं न प्राप्नोतीति योजना। अनिष्टभोजनादिना मनोविघातो भवति।' आचार्य सुश्रुत का कथन है कि—शोकादि वेगों से युक्त होकर भोजन करने से अजीर्ण रोग की उत्पत्ति होती है तथा अन्यमनस्कता की निरन्तरता से भोजन के प्रति अरुचि उत्पन्न हो जाती है।

(सु० सू० ४६)

'चिन्तयित्वा तु मनसा दृष्ट्वा स्पृष्टवा तु भोजनम्।
द्वेषमायाति यो जन्तु··· ··· ···॥
कुपितस्य भयार्तस्य तथा भक्तविरोधिनः।
यत्र नान्ने भवेच्छ्रद्धा सोऽभक्तछन्द उच्यते॥ (भा० प्र०)

उपर्युक्त पंक्तियों के द्वारा आचार्य भावमिश्र ने भी इसी तथ्य की पुष्टि की है। इन मानसिक संवेगों से युक्त होकर आहार ग्रहण करने से किस प्रकार विकारोत्पत्ति होती है, इसका वैज्ञानिक विवेचन योगवाशिष्ठ में निम्न रूप में उल्लिखित किया गया है—

चित्ते विधुरिते देहः संक्षोभमनुयात्यलम्।
संक्षोभात्साम्यमुत्सृज्य बहन्ति प्राणवायवः॥
असमं बहति प्राणे नाड्यो याति विसंस्थितम्।
काश्चिन्नाड्यः प्रपूर्णत्वं यान्ति काश्चिच्च रिक्तताम्॥
कुजीर्णत्वमजीर्णत्वमतिजीर्णत्मेव वा।
दोषायैव प्रयात्यन्नं प्राणसंचारदुष्क्रमात्॥
एवमाधेर्भवेद् व्याधिस्यतास्याभावाच्च विनश्यति।

अर्थात् शोकादि संवेगों से प्रथमतः मानसिक क्षोभ होता है। मानसिक संक्षोभ से विक्षुब्धता सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त हो जाती है। सम्पूर्ण शरीरगत विक्षुब्धता से प्राणवायु में विषमता आ जाती है। विषमता के कारण कतिपय नाड़ियों में प्राणवायु का संवहन सम्यक्रूपेण नहीं हो पाता तथा कतिपय नाड़ियों में संवहन विषम रूप में

होने लगता है। जिसके परिणामस्वरूप उस व्यक्ति को अजीर्ण, विषमाजीर्ण या अतिजीर्ण की अवस्था प्राप्त हो जाती है। इस प्रकार आहार या अन्न के प्रत्ययभूत दोष अनेक व्याधियों को उत्पन्न कर प्राणसंचार की क्रिया को अर्थात् शरीर की सामान्य क्रिया (Normal fnnction) को दूषित कर देते हैं' तथा व्याधियों के कारण सम्पूर्ण शरीर रुग्ण हो जाता है। इस प्रकार अमनस्कता से उत्पन्न व्याधि-प्रक्रिया को निम्न रूप में दर्शाया जा सकता है—

शोकादि वेग से मन का संयोग→मानसिक विक्षोभ→मानसिक विक्षोभ के कारण सम्पूर्ण शरीर में विक्षोभ→प्राणवायु की विषमता→नाड़ियों में वायु का विषमरूप से संवाहित होना→अजीर्ण, अतिजीर्ण या विषमाजीर्ण→दोषों का प्रकुपित होना→कुपित दोषों द्वारा विभिन्न प्रकार के व्याधियों का उत्पन्न होना→प्राणसंचार की क्रिया का दूषित होना।

समनस्क अर्थात् मन लगाकर आहार ग्रहण करने से शारीरिक व मानसिक बल की वृद्धि होती है, शरीर की पुष्टि होती है, मानसिक उत्साह बढ़ता है, हर्षोत्पत्ति तथा सुखानुभूति होती है—'सौमनस्यं बलं पुष्टिमुत्साहं हर्षणं सुखं।'—सु० सू० ४६। मन लगाकर मनोनुकूल आहार का सेवन करने से मन आहार में रुचि रखता है। मन लगाकर भोजन करने व मन के अनुकूल आहार से शरीर की पुष्टि होती है तथा इन्द्रियादि की तृप्ति होती है—

'अन्नमिष्टं ह्रुदयहितमिष्टैर्गन्धादिभिः पृथक्।
देहे प्रीणाति गन्धादीन् घ्राणादीन्द्रियाणि च ।।' (च० चि० १५।११)

मनोनुकूल आहार द्रव्य को प्रिय-कल्पना करते हुए ग्रहण करना चाहिए; क्योंकि हितकर द्रव्य जब मन को प्रसन्न करने वाले स्वरूप में ग्रहण किया जाता है तो मन भी उसमें प्रवृत्ति के कारण संतुष्ट हो जाता है। मन के सन्तुष्ट होने के कारण शरीर की तुष्टि, ऊर्जा की प्राप्ति, रुचि, शारीरिक व मानसिक बल की वृद्धि होती है। सुख की प्राप्ति होती है। व्याधि व बलक्षय का नाश होता है। चरकसंहिता में उपर्युक्त तथ्य को निम्नरूप में प्रस्तुत किया गया है—

मनसोऽर्थानुकूल्याद्धि तुष्टिरूर्जा रुचिर्बलम्।
सुखोपभोगता च स्याद्व्याधेश्चातो बलक्षयः ।।
(च० चि० ३०।३२९)

सौमनस्य या शुद्ध मन से ग्रहण किए गये आहार का सम्यक् रूप से पाचन होता है। शुद्ध मन से पाचन प्रक्रिया किस प्रकार होती है, इसका उल्लेख योगवाशिष्ठ में निम्न रूप में किया गया है—

आनन्दो वर्धते देहे शुद्धे चेतसि राघव।
सत्त्वशुद्ध्यावहन्त्येते क्रमेण प्राणवायवः ।।
जीर्यन्ति तथान्नानि व्याधिस्तेन विनश्यति। (यो० वा०)

अर्थात् सौमनस्य या शुद्ध मन की स्थिति में प्राणवायु का संवहन सम्यक् रूप से होता है, जिसके फलस्वरूप अन्न का पाचन सम्यक् रूप से होकर व्याधियाँ विनष्ट हो जाती हैं। अतः 'तन्मना भुञ्जीत'—एकाग्र मन से भोजन का ग्रहण करना चाहिए।

१०. **आत्मानमभिसमीक्ष्य भुञ्जीत**—यहाँ 'आत्मानमभिसमीक्ष्य भुञ्जीत' का अर्थ है कि अपने आत्मा की अर्थात् अपनी पूर्णरूपेण समीक्षा कर (भलीभाँति समझकर) आहार ग्रहण करना चाहिए। यहाँ आचार्य ने स्पष्ट किया है कि आत्मसमीक्षा का तात्पर्य क्या है ? आत्मसमीक्षा में यह देखना चाहिए कि—'इदं ममोपशेते, इदं नोपशेते'—अर्थात् यह आहार द्रव्य मेरे लिए लाभकारी है, इसका सेवन करना चाहिए तथा यह आहार द्रव्य मेरे लिए हानिकारक है, इसका सेवन नहीं करना चाहिए। 'इत्येवं विदितं ह्यस्यात्मन आत्मसात्म्यं भवति'—इस प्रकार से अपनी आत्मा का सात्म्य अपनी आत्मा से विदित होता है। 'तस्मादात्मानमभिसमीक्ष्य भुञ्जीत सम्यगिति'। अतः अपनी आत्मा की भलीभाँति समीक्षा कर ही आहार का ग्रहण करना चाहिए। आचार्य वाग्भट भी आत्मसमीक्षोपरान्त ही आहार ग्रहण करने का निर्देश देते हैं। वे आत्मसमीक्षा में सात्म्य-असात्म्य परीक्षा का निर्देश करते हैं, जिसे आचार्य चरक ने भी 'उपशेते-नोपशेते' शब्दों द्वारा व्यक्त किया है—'समीक्ष्य सम्यगात्मनमिति ममेदं सात्म्यमिदमसात्म्यमिति नित्यमप्रमत्तं प्रत्यवेक्षेत्।' आचार्य वाग्भट ने आत्मसमीक्षा हेतु सात्म्यासात्म्य का लक्षण प्रस्तुत किया है, जिसके आधार पर आत्मसमीक्षा कर आहार ग्रहण करना चाहिए। सात्म्य के सम्बन्ध में आचार्य ने कहा है कि—'तत्र सात्म्यं नाम सहात्मना भवत्यभ्यस्तं तदौचित्यादुपशेते इत्येके'—अर्थात् सात्म्य उसे कहा जाता है जो जन्म से लेकर अपनी आत्मा के साथ अभ्यास करने से सुखकारी यानि सुखदायक हो जाता है। कभी-कभी अत्यल्प काल में भी आहार-विहारादि सात्म्य हो जाता है—'स्वल्पकालाभ्यस्तमपि सात्म्यमेव।'—इन्दु। कतिपय विद्वानों का मत है कि सात्म्य किया गया आहार ही समुचित रूप से प्रयोग करने से सुखावह होता है। पुनः आचार्य वाग्भट ने कतिपय अन्य विद्वानों द्वारा अनुमोदित सात्म्य के लक्षण को उद्धृत करते हुए कहा है कि—कतिपय विद्वान् प्रकृति, वय, देश, ऋतु, दोष, व्याधि के आधार पर अनेक प्रकार के सात्म्य को स्वीकार करते हैं—'अन्ये पुनः प्रकृतिवयोदेशर्तुदोषव्याधिवशेन सात्म्यं बहुविधमिच्छन्ति।'—अ० सं० सू० १०। आचार्य ने संकेत दिया है कि वे विद्वान् जन्म से अभ्यास द्वारा सात्म्य की अपेक्षा नहीं करते, बल्कि प्रकृति-देश-वय-ऋतु आदि के अनुसार शरीरसंवर्धक द्रव्य-गुणों से विपरीत गुण वाले पदार्थ को भी सुख का कारण होने से सात्म्य मानते हैं—

इति ह्युपशयमात्रमङ्गीकृत्य विपरीतगुणमप्युपचारेण सात्म्यमाचक्षते।

(अ० सं० सू० १०)

जो व्यक्ति सर्वरससात्म्य होते हैं, उस सात्म्य को प्रवर सात्म्य या सर्वश्रेष्ठ सात्म्य माना जाता है। सर्वरससात्म्य व्यक्तियों में प्रकृति व वातादि दोष सम अवस्था में रहते हैं। जिसमें मात्र कोई एक रस सात्म्य रहता है, उस सात्म्य को हीन सात्म्य माना जाता है। ऐसे व्यक्तियों में प्रकृति व दोष विषम रूप में रहते हैं। जिन व्यक्तियों में दो या दो से अधिक, परन्तु छः रसों से कम रससात्म्य होता है उसे मध्यम सात्म्य कहा जाता है। मध्यम सात्म्य व्यक्तियों की प्रकृति व दोष मध्यम अर्थात् स्वस्थ व विकार सामान्यरूपेण रहते हैं। इस प्रकार मनुष्य को आत्म-समीक्षा द्वारा अपने लिए सात्म्य-असात्म्य का विचार करके ही आहार ग्रहण करना चाहिए।

आहारविधि-विधानवाद की उपादेयता

आहार के महत्त्व को पूर्व में प्रतिपादित किया जा चुका है। आहार रूप में प्रयुक्त द्रव्यादि, आहारायतन आदि पर विचार करने के उपरान्त आहार ग्रहण करने से सम्बन्धित नियमों का उल्लेख किया गया है। आहार-विधि विधान के अन्तर्गत भोजन ग्रहण-काल में ध्यातव्य नियमों का उल्लेख किया गया है। क्योंकि आहार में प्रयुक्त द्रव्यों के गुण-दोष, आहार सम्बन्धी विचारणीय विषय (आयतन), कृतान्नों के गुण-दोष का ज्ञान प्राप्त हो जाने पर भी आहार ग्रहण-काल में कतिपय ऐसे भाव होते हैं, जिनकी उपेक्षा करने पर आहार ग्रहण के उद्देश्य की पूर्ति नहीं होती; बल्कि मानव अनेक प्रकार की व्याधियों से ग्रस्त हो जाता है। अतः आहार-विधि विधान की उपादेयता स्वतःस्पष्ट हो जाती है। शरीर व मन का आरोग्य आहार (भोजन) के आधीन होता है—'आरोग्यं भोजनाधीनम्।'—का० सं०। आचार्य चरक के अनुसार मानसिक ऊर्जा की प्राप्ति भी आहार द्वारा ही होती है—'सत्त्वमूर्जयति'। इस प्रकार भोजन काल के कुछ ऐसे नियमों का उल्लेख किया गया है, जिनके पालन करने पर आरोग्य की प्राप्ति होती है। आहार विधि-विधानों में दोनों प्रकार के नियम बतलाये गये हैं। कुछ नियम ऐसे हैं, जिनका सम्बन्ध शारीरिक भावों से है अर्थात् प्रथमतः वे शारीरिक भावों को प्रभावित करते हुए शारीरिक व मनोव्यापार को प्रभावित करते हैं, यथा उष्णाहार, स्निग्धाहार, आहार मात्रा, जीर्णाजीर्ण, अविरुद्ध वीर्यादि। चरकोक्त दश विधि-विधानों में आधा विधान यदि शारीरिक भावों से सम्बन्धित है तो शेष नियम प्रथमतः मन को प्रभावित करते हैं। पुनः उनका प्रभाव शरीर व मन पर होता है। इस प्रकार आहार विधि-विधान में दोनों पक्ष से सम्बन्धित नियम निर्देशित हैं। आहार विधि-विधान में ही पृथक्-पृथक् रूप से प्रत्येक नियमों की उपादेयता स्पष्ट कर दी गई है। जैसे—उष्णाहार से अग्नि दीप्त होती है, जिससे सम्यक् रूपेण पाचनादि कर्म होता है, उसी प्रकार स्निग्धाहार

से शरीर का उपचय व बलवर्णादि की वृद्धि होती है। आहार विधि में मात्रा का भी उल्लेख किया गया है; क्योंकि मात्रापूर्वक लिया गया आहार ही आयु को बढ़ाने वाला होता है। वैसे ही पूर्वगृहीत आहार जीर्ण होने पर लिया गया आहार ही स्वास्थानुवर्त्तक होता है। आहार विधि-विधान के अन्तर्गत ही आहार ग्रहण से पूर्वगृहीत आहार के जीर्णाजीर्ण के लक्षण प्रस्तुत किये गये हैं जो आहार ग्रहण हेतु अतिउपादेय है; क्योंकि उन लक्षणों के आधार पर ही नियम का अनुपालन किया जाता है। वीर्यविरुद्ध आहार का निषेध कर इससे उत्पन्न होने वाली व्याधियों से रक्षा के उपाय का भी उल्लेख किया गया है। इस प्रकार विधि विधान की उपादेयता उपर्युक्त तथ्यों से स्वतःस्पष्ट हो जाती है।

आहार विधि विधान के अन्तर्गत उन मानसिक स्थितियों से बचने के लिये सावधान किया गया है, जो विशेषकर आहार ग्रहण करते समय हानिकर होती हैं। यही नहीं, उनके हानिकर प्रभावों का उल्लेख कर जनसामान्य को सावधान भी किया गया है कि—आहार ग्रहण करते समय इन स्थितियों से बचना चाहिए।

आधुनिक काल में आयुर्वेद-वर्णित आहार विधि-विधानों की उपादेयता और भी बढ़ जाती है; क्योंकि औसत व्यक्ति अपने-आप को स्वस्थ अनुभव नहीं कर पा रहा है। विभिन्न व्याधियों से ग्रस्त मानव अपने उदर को औषधि भंडार बनाता जा रहा है। इसका कारण यह है कि व्यक्तियों के आहार-बिहार पर ध्यान नहीं दिया जा रहा है। यदि आहार सम्बन्धित आयुर्वेद-वर्णित विधि-विधानों पर ध्यान दिया जाय तो अधिकतर व्याधियों से मुक्त रहा जा सकता है। आधुनिक काल में विशेषकर नगरीय वातावरण में दश प्रतिशत व्यक्ति भी ऐसे नहीं मिल पायेंगे जिनकी पाचन क्रिया सुचारु रूप में चल रही हो। कारण आहार के विधि-विधानों का पालन नहीं किया जाना है। जैसे—आयुर्वेद में कहा गया है कि आहार ग्रहण करते समय 'अजल्पन्…' अर्थात् वार्तालाप या प्रहसन नहीं करना चाहिए। आधुनिक काल में वार्तालाप का समय डिनर व लंच में ही निर्धारित किया जाता है। भोजन के समय नृत्यादि देखते हुए आहार ग्रहण करना विधि-विरुद्ध है। इससे अमनस्क व अतिबिलम्बत आहार-जन्य दोष उत्पन्न होते हैं। आज वीर्यविरुद्ध आहार की अवधारणा समाप्त सी होती जा रही है। परिणामतः असात्म्यज व्याधियाँ समाज में व्याप्त हो गई हैं। आहार मात्रा पर इस समय ध्यान दिया जा रहा है, परन्तु अन्य देश, काल, अग्नि के आधार पर नहीं। बल्कि औसत मात्रा के आधार पर ही निर्धारित किया जाता है। डार्यटिंग कराने की प्रक्रिया में हीन मात्रा का प्रयोग हो रहा है तथा तज्जन्य व्याधियाँ भी उत्पन्न हो रही हैं। आयुर्वेद में स्निग्धाहार को तर्पक, बल्य, पुष्टिकर कहा गया है। अज वसा तत्त्व (Fat) के नाम पर आहार में घृत की उपेक्षा की जा रही है। परन्तु घृत की अति आमावस्था मक्खन का सेवन लवण के साथ किया जा रहा है,

परिणामतः लवण के कारण मक्खन सद्यः सम्पूर्ण शरीर में आमरूप में प्रसृत होकर उसका स्नेह उच्च रक्तचाप व हृदय रोग का कारण बन रहा है । इस प्रकार आधुनिक काल में आहार सम्बन्धी नियमों की उपेक्षा की जा रही है । आयुर्वेद में कहा गया है कि—'नातिद्रुतं भुञ्जीत' परन्तु आज का आधुनिकतम फैशन फास्ट फूड है । परिणामतः नई-नई व्याधियाँ समाज को अभिशप्त करती जा रही हैं । अतः आधुनिक समाज को स्वस्थ रखने हेतु आयुर्वेद-वर्णित आहार विधि-विधान का पालन करना अत्यन्त उपादेय है ।

अध्याय—१९

त्रिविध कुक्षीय सिद्धान्त

त्रिविध कुक्षीय सिद्धान्त आयुर्वेद का विशिष्ट सिद्धान्त है। त्रिविध कुक्षीय सिद्धान्त का सम्बन्ध आहार-ग्रहण (भोजन-सेवन) से सम्बन्धित है। अभी तक आहार से सम्बन्धित विभिन्न सिद्धान्त; यथा—रसवाद, रस व दोष से सम्बन्धित सिद्धान्त, विपाकादि से सम्बन्धित सिद्धान्त, द्रव्य-रस-दोष-विकार-प्रभाव, विभिन्न आहार द्रव्य, वैरोधिक आहार सिद्धान्त, आहार के विशेषायतन, आहार विधि आदि विषयों पर विचार किया गया है। आहार का जब विधि के अनुसार सेवन किया जाता है तो आमाशय में जाता है जहाँ से उस पर अग्निक्रिया प्रारम्भ होती है। आमाशय में पाचन प्रक्रिया हेतु आहार की मात्रा कितनी और किस रूप में होनी चाहिए; इसी से सम्बन्धित यह सिद्धान्त है। यहाँ कुक्षि से सामान्यतया 'उदर' का ग्रहण किया गया है। सामान्य रूप से उदर का लोक-व्यवहार में प्रयोग आमाशय के लिए होता है। यहाँ कुक्षि से आयुर्वेदोक्त आमाशय का ग्रहण करना उचित प्रतीत होता है; क्योंकि लोक-व्यवहार में उदर पूर्त्ति (पेट भरना आदि) पद आमाशय-पूर्ति हेतु व्यवहृत होता है। यहाँ उसी को कुक्षि मानकर प्रस्तुत सिद्धान्त स्थापित किया है। जिस आहार का हमलोग सेवन करते हैं वह आमाशय में जाता है, जहाँ इस पर पाक-क्रिया होती है। इसका स्पष्ट निर्देश प्रस्तुत सन्दर्भ में ही दिया गया है—

नाभिस्तनान्तरं जन्तोरामाशय इति स्मृतः।
अशितं खादितं पीतं लीढं चात्र विपच्यते॥

(च० वि० २।१७)

आमाशयगतः पाकमाहारः प्राप्य केवलम्।
पक्वः सर्वाशयं पश्चाद्धमनीभिः प्रपद्यते॥

(च० वि० २।१८)

अर्थात् मनुष्य के शरीर में नाभि व स्तन के बीच में आमाशय होता है। यहीं पर अशित, खादित, पीत, लीढ—इन चार प्रकार के सेवन किये गये आहार का पाक होता है। जब आमाशय में गया हुआ आहार पूर्णरूप से पच जाता है तो विपक्व आहार रस धमनियों द्वारा सम्पूर्ण शरीर में प्राप्त होता है। इस प्रकार यहाँ कुक्षि का तात्पर्य आमाशय समझा जाता है।

त्रिविध कुक्षीय सिद्धान्त—त्रिविध कुक्षीय सिद्धान्त स्थापित करते हुए कहा गया है कि—'त्रिविधं कुक्षौ स्थापयेदवकाशांशमाहारस्याहारमुपयुञ्जानः; तद्यथा—एक-

मवकाशांशं मूर्तानामाहारविकाराणां, एकं द्रवाणाम्, एकं पुनर्वातपित्तश्लेष्माणाम्, एतावतीं ह्याहारमात्रामुपयुञ्जानो नामात्राहारजं किंचिदशुभं प्राप्नोति ।—च० वि० २।३ । अर्थात् आहार सेवन करने वाले व्यक्तियों को अपने कुक्षि के तीन विभाग करने चाहिए अर्थात् आहार सेवन करते समय अपने कुक्षि को तीन भागों में विभक्त मानना चाहिए । यहाँ विभक्त करने का तात्पर्य है कि कुक्षि के अवकाश के तीन विभाग की परिकल्पना करनी चाहिए । जिसमें एक अवकाश भाग को मूर्त्त आहार द्रव्यों से भरना चाहिए । पुनः $\frac{1}{3}$ तिहाई भाग द्रवाहार के लिए रखना चाहिए । तथा एक भाग को वात, पित्त, कफ के संचरण व क्रियायों के लिए रिक्त छोड़ देना चाहिए । इस प्रकार सम्पूर्ण कुक्षि के तीन भागों में—

१. $\frac{1}{3}$ भाग मूर्त्त आहार द्रव्यों के लिए (For Solid alit)

२. $\frac{1}{3}$ भाग द्रव आहार द्रव्यों के लिए (For liquid materials)

३. $\frac{1}{3}$ भाग रिक्त छोड़ना चाहिए—वात-पित्त-कफ के संचरण व क्रिया हेतु ।

इस प्रकार कुक्षि के तीन विभाग कर उपर्युक्त रूप से आहार सेवन करने वाला व्यक्ति अमात्राजन्य विकार से ग्रसित नहीं होता है । इस प्रकार त्रिविध कुक्षीय सिद्धान्त का सम्बन्ध आहार-मात्रा से है । आधुनिक काल में मात्रा से सम्बन्धित विचार औसत के आधार पर किया जाता है, परन्तु आयुर्वेद का सिद्धान्त है कि—शरीर में अग्नि का बल व्यक्तिविशेष के अनुसार भिन्न-भिन्न होता है तथा उनके लिए आहार-मात्रा भी व्यक्तिविशेष के लिए भिन्न होती है । आयुर्वेद पूर्णतः व्यावहारिक विज्ञान है; अतः आयुर्वेद में व्यवहृत भावों का सीधे रूप में पर्यवेक्षण किया गया है । सामान्य रूप में लोकव्यवहार में प्रचलित उदरपूर्ति (पेट भरना) को मानक मानकर कहा गया है कि—मनुष्य की जितनी आहार-ग्रहण की क्षमता है (जिसे लोकव्यवहार में आकण्ठ आहार-सेवन कहा जाता है) उसे तीन भागों में विभक्त मानकर $\frac{1}{3}$ भाग ही मूर्त्त आहार द्रव्य से भरना चाहिए । फिर $\frac{1}{3}$ भाग द्रवाहार से भरना चाहिए तथा $\frac{1}{3}$ भाग रिक्त छोड़ना चाहिए । इस प्रकार मात्रापूर्वक आहार ग्रहण करने से आरोग्य बना रहता है । आचार्य वाग्भट आहार ग्रहण करते समय कुक्षि से सम्बन्धित निम्न सिद्धान्त के पालन का निर्देश देते हैं, जो चरक के सिद्धान्त से किंचित् भिन्न है—

अन्नेन कुक्षेर्द्वावंशौ पानेनैकं प्रपूरयेत् ।
आश्रयं पवनादीनां चतुर्थमवशेषयेत् ॥
मन्दानलबलारोग्यतृप्तेश्वरसुखात्मसु ।
योज्यः क्रमोऽयं सततं नावश्यमितरेषु च ॥

(अ० सं० सू० १०)

इस प्रकार वाग्भट ने कुक्षि का चार विभाग किया है । जिसमें आधा भाग

(५०%) मूर्त्त आहार द्रव्य (अन्न) से, एक चौथाई (२५%) द्रवाहार से पूर्ण करना चाहिए तथा एक चौथाई भाग (२५%) रिक्त छोड़ना चाहिए; ताकि वात, पित्त, कफ का संचरण व क्रिया सुचारु रूप से हो । परन्तु आचार्य ने यह आहार योजना मात्र मन्दाग्नि वाले, निर्बल व्यक्ति-आतुर-राजा-धनवान व सुखी व्यक्तियों के लिए की है, जिसका उल्लेख उपर्युक्त श्लोक में स्पष्टतया है । यह योजना जनसामान्य के लिए नहीं कही गयी है । आचार्य वाग्भट ने सामान्य व्यक्तियों के लिए गुरु पदार्थों का सेवन तीन चौथाई (७५%) या आधी (५० %) कुक्षि पूर्ण होने तक करने को कहा है तथा लघु पदार्थों के सम्बन्ध में केवल इतना ही कहा है कि -- लघु आहार भी अति तृप्तिरूप अर्थात् आकण्ठ नहीं ग्रहण करना चाहिए—'त्रिभागसौहित्यमर्धसौहित्यं वा गुरूणां समुपदिश्यते । लघुनामपि नातिसौहित्यं ।'—अ० सं० सू० । इस प्रकार आचार्य वाग्भट ने त्रिविध कुक्षीय सिद्धान्त का अनुसरण नहीं किया है। अष्टांग हृदय में भी अष्टांगसंग्रह की तरह ही अवधारणा प्रस्तुत की गई है । मूलपाठ निम्नवत् है—

'मात्राशी सर्वकालं स्यान्मात्रा ह्यग्नेः प्रवर्तिका ।
मात्रां द्रव्याण्यपेक्षन्ते गुरूण्यपि लघून्यपि ।।
गुरूणामर्धसौहित्यं लघूनां नातितृप्तता ।
मात्राप्रमाणं निर्दिष्टं सुखं यावद्विजीर्यति ।।

(अ० हृ० ८।१-२)

इस प्रकार कहा जा सकता है कि आहार मात्रा से सम्बन्धित त्रिविध कुक्षीय सिद्धान्त चरकसंहिता में वर्णित आत्रेय परम्परा की विशिष्ट अवधारणा (Special concept) है । चरकसंहिता में पुनः स्पष्ट किया गया है कि इस सिद्धान्त का प्रतिपाद्य विषय आहार की मात्रा व अमात्रा है—'तत्रायं तावदाहारराशिमधिकृत्य मात्रामात्राफलविनिश्चयार्थः प्रकृतः । एतावानेव ह्याहारराशिविधिविकल्पो यावन्मात्रावत्त्वामात्रावत्त्वं च ।'—च० वि० २।५ । अर्थात् यहाँ पर आहार राशि को लेकर यह मात्रा तथा अमात्रा के फल के निश्चय-स्वरूप प्रयोजन का प्रसङ्ग है और मात्रापूर्वक व अमात्रापूर्वक भोजन करना आहारराशि के भेद हैं । इस प्रकार त्रिविध कुक्षीय सिद्धान्त का सम्बन्ध आहार की मात्रा व अमात्रा से है ।

आयुर्वेद में औसत मात्रा का निर्धारण न कर व्यक्तिविशेष की कुक्षि के अनुसार निर्धारित की गई है । इस बात का पता किस प्रकार लगाया जा सकता है कि आहार (जो सेवन किया गया है) कुक्षि के तृतीयांश है या उससे कम है या अधिक है ? आयुर्वेद में इस पर गहन विचार किया गया है तथा मात्रा व अमात्रापूर्वक ग्रहण किये गये आहार के लक्षण प्रस्तुत किये गये हैं । उन लक्षणों के आधार पर यह निर्धारित किया जाता है कि—सेवन किया गया आहार मात्रापूर्वक सेवन किया गया है या अमात्रापूर्वक । यथा—

मात्रापूर्वक सेवन किये गये आहार के लक्षण—मात्रापूर्वक सेवित आहार के लक्षण के सम्बन्ध में चरकसंहिता, विमान अ० २।६ में कहा गया है कि—'तत्र मात्रावत्त्वं पूर्वमुद्दिष्टं कुक्ष्यंशविभागेन, तद्भूयो विस्तरेणानुव्याख्यास्यामः'—अर्थात् कुक्षि का अंश-विभाग कर तदनुसार लिए गये आहार की मात्रा (सम्यक् मात्रा) के लक्षणों का उल्लेख किया जा रहा है। मात्रापूर्वक आहार के निम्न लक्षण होते हैं, जिसके आधार पर अपनी आहार-मात्रा निर्धारित करनी चाहिए। यथा—१. 'कुक्षेर-प्रपीडनमाहारेण।' अर्थात् जिस आहार मात्रा द्वारा कुक्षि (उदर) पर किसी प्रकार का दबाव न पड़े अर्थात् किसी तरह के दबाव का अनुभव न हो, वह मात्रा है। २. 'हृदयस्यानवरोधः'—अर्थात् जिस आहार मात्रा से हृदय-गति प्रभावित न हो, उसकी क्रिया सम्यक् रूपेण यथावत् रूप से चलती रहे। ३. 'पार्श्वयोरविपाटनम्'—अर्थात् पार्श्व में फटने जैसी पीड़ा न हो। ४. 'अनतिगौरवमुदरस्य'—अर्थात् उदर प्रदेश में भारीपन का अनुभव न हो अर्थात् आहार सेवनोपरान्त उदर भारी न लगे। ५. 'प्रीणनमिन्द्रियाणां'—अर्थात् इन्द्रियाँ तृप्त हो जायँ (आहार ग्रहण काल में जब आहार का विभिन्न इन्द्रियों द्वारा गन्ध, वर्णादि का प्रत्यक्षीकरण हो जाता है तो अग्नि प्रदीप्त होती है। जब मात्रापूर्वक आहार ग्रहण कर लिया जाता है तो इन्द्रियाँ तृप्त हो जाती हैं अर्थात् अब आहार के गन्ध-वर्णादि विषयों के ग्रहण करने की इच्छा नहीं रह जाती है)। ६. क्षुत्पिपासोपरमः'—क्षुधा व तृषा की शान्ति हो जाय। ७. 'स्थाना-सनशयनगमनोच्छ्वासप्रश्वासहास्यसंकथासु सुखानुवृत्तिः'—अर्थात् भोजन करने के बाद स्थान, आसन (बैठने पर), शयन, गमन (चलने या टहलने पर), श्वास लेने व श्वास छोड़ने पर, हँसने पर, किसी के साथ वार्तालाप करने पर सुख का अनुभव हो अर्थात् भोजनोपरान्त उक्त क्रियायों को करने पर किसी तरह की बाधा या कष्ट का अनुभव न हो। ८. 'सायंप्रातश्च सुखेन परिणमनं'—अर्थात् सायंकाल व प्रातः-काल में आहार का सुखपूर्वक पाचन हो जाय (सायंकाल में सेवन किये गये आहार का प्रातःकाल में व प्रातः सेवन किये गये आहार का सायंकाल तक बिना किसी बाधा के सम्यक्रूपेण पाचन हो जाना चाहिए)। ९. 'बलवर्णोपचयकरत्वं च'—अर्थात् जिस आहार द्वारा बल, वर्ण की प्राप्ति व शरीर का उपचय हो। इस प्रकार जब उक्त लक्षण, जिस आहार मात्रा से प्राप्त होते हैं, उस मात्रा को व्यक्तिविशेष के लिए निर्धारित करना चाहिए। आचार्य वृद्ध वाग्भट ने चरकोक्त लक्षणों को यथावत् रूप में स्वीकार किया है तथा जिस रूप में चरकसंहिता में वर्णित है, उसी रूप में अष्टांग संग्रह, सूत्रस्थान अ० ग्यारह में उल्लिखित है। 'मात्राशी स्यात्। मात्रापुन-रग्निबलाहारद्रव्यापेक्षिणी। कुक्षेरप्रतिपीडनमाहारेण, हृदयस्यासंरोधः पार्श्वयोर-विपाटनमनतिगौरवमुदरस्य प्रीणनमिन्द्रियाणां क्षुत्पिपासोपरतिः स्वस्थानासनशयन-

गमनोच्छ्वासप्रश्वासहास्यसंकथासु सुखानुवृत्तिः सायंप्रातश्च सुखेन परिणमनं बलवर्णोपचयकरत्वं चेति मात्रायाः लक्षणम् ।'—अ० सं० सू० ११ ।

अमात्रापूर्वक सेवन किये गये आहार के लक्षण—अमात्रापूर्वक आहार से हीनमात्रा व अतिमात्रा का ग्रहण किया जाता है । 'अमात्रावत्त्वं पुनर्द्विविधमाचक्षते-हीनं अधिकं च ।' अमात्रापूर्वक सेवन किये गये आहार का शरीर पर हानिकर प्रभाव पड़ता है । उन हानिकर प्रभावों के द्वारा यह ज्ञान प्राप्त किया जाता है कि अमुक व्यक्ति में अमुक लक्षण या विकार उत्पन्न हुआ है तो यह अमात्रापूर्वक आहार के सेवन से हुआ होगा। सम्यक् मात्रा में लिये गये आहार के लक्षणों के विपरीत जब लक्षण उत्पन्न हो तो समझना चाहिए कि—आहार अमात्रापूर्वक सेवन किया गया है । यथा—जब आहार सेवन करने पर तृप्ति न हो, भूख-प्यास की शान्ति न हो पाये, आहार सेवन काल व जीर्णकाल (सायं गृहीत आहार का जीर्णकाल प्रातः व प्रातः सेवित आहार का जीर्णकाल सायं है) के मध्य में ही क्षुधा की प्रवृत्ति हो जाय, इन्द्रियाँ पूर्णरूपेण तृप्त न हों तो समझना चाहिए कि आहार का सेवन हीनमात्रा में किया गया है । इसी प्रकार जब आहार सेवन करने के बाद कुक्षि में दबाव का अनुभव हो, हृदय की गति प्रभावित हो जाय, उदर प्रदेश में भारीपन का अनुभव हो, भोजन करने के बाद गमन करने, उठने-बैठने, श्वास लेने व छोड़ने पर, हँसते समय, किसी से वार्तालाप करते समय कष्ट का अनुभव हो या बाधा उत्पन्न हो जाय, प्रातः व सायं भोजन का पाचन सम्यक रूप से न हो पाता हो तो इन लक्षणों के आधार पर यह समझना चाहिए कि भोजन की मात्रा अधिक हो गई है । इस प्रकार सम्यक् आहार सेवन से उत्पन्न लक्षणों को मानक मानकर ही मात्रा व अतिमात्रा का निर्धारण लक्षणों के आधार पर करना चाहिए ।

अमात्रापूर्वक लिए गये आहार से होने वाली हानियाँ व विकार

१. हीनमात्राजन्य—हीनमात्रा में आहार ग्रहण करने से उत्पन्न विकार व हानियों के सम्बन्ध में च० वि० २।७ में कहा गया है कि—'तत्र हीनमात्रमाहारराशि बलवर्णोपचयक्षयकरमतृप्तिकरमुदावर्त्तकरमनायुष्यवृष्यमनौजस्यं शरीरमनोबुद्धीन्द्रियोपघातकरं सारविधमनमलक्ष्म्यावहमशीतेश्च वातविकाराणामायतनमाचक्षते ।

तत्र हीनमात्रमशनं बलवर्णोपचयमनोबुद्धीन्द्रियोपघातकरं बिबन्धकृदवृष्यमनायुष्यमनोजस्यं सारविघ्मापनमलक्ष्मीजननमशीतेश्च वातविकाराणामायतनम् ।'

(अ० सं० सू० ११)

भोजनं हीनमात्रं तु न बलोपचयौजसे ।
सर्वेषां वातरोगाणां हेतुतां च प्रपद्यते ॥

(अ० हृ० सू० ८।३)

अर्थात् हीनमात्रा में सेवन किये गये आहार से १. शरीर के बल, वर्ण का क्षय होता है। २. शरीरोपचय नहीं हो पाता है। ३. शरीर-इन्द्रियादि की तृप्ति नहीं हो पाती है। ४. हीन मात्रा में आहार ग्रहण करने से उदावर्त रोग की उत्पत्ति होती है। ५. आयु की हानि होती है। ५. वीर्य का क्षय हो जाता है। ७. ओज का नाश होता है। ८. शरीर, मन, बुद्धि व इन्द्रियों का नाश होता है, ९. शरीर के सार का नाश होता है। १०. शरीर में अशोभा की उत्पत्ति होती है। ११. अलक्ष्मी अर्थात् दरिद्रता उत्पन्न होती है तथा १२. ८० प्रकार के वात रोगों की उत्पत्ति होती है।

इस शरीर का अनुवर्तन आहार के द्वारा होता है। इस आहार द्वारा शरीर के धातुओं की आवश्यकताएँ पूर्ण होती हैं। जिस धातु को जिस भाव की आवश्यकता होती है वह आहार रस द्वारा प्राप्त कर लेती है। जैसे—किसी धातु को अप् भाव की, किसी धातु-विशेष को पार्थिव भाव की आवश्यकता होती है तो वह धातु आहार रस से आवश्यकतानुसार अपना पोषण प्राप्त करती है। जब धातुओं को उनके आवश्यकतानुसार पोषण की प्राप्ति हो जाती है तो उसे तृप्त हो जाना कहते हैं। जब आहार यथोचित मात्रा से कम ग्रहण किया जाता है तो धातुओं को उनके आवश्यकतानुसार पोषण नहीं प्राप्त हो पाता, जिसके परिणामस्वरूप उनकी आवश्यकता बनी रहती है। इस अवस्थाविशेष को अतृप्तावस्था कहते हैं। जब शरीरस्थ धातुएँ अतृप्त ही रह जाती हैं तो कालक्रम में उनका क्षय प्रारम्भ हो जाता है। वर्णादि का प्रकाशन सम्यक् रूप से नहीं हो पाता है। अतः आहार की हीनमात्रा बल, वर्ण-क्षयकारक होती है तथा शरीर का उपचय नहीं हो पाता है। जब शरीरस्थ धातुओं का क्षय होता है अथवा उपचयात्मक प्रक्रिया का क्षय होता है तो विपरीत गुण वाले वायु की वृद्धि होती है, परिणामतः प्रकुपित वायु स्थानानुसार ८० प्रकार के अर्थात् अपने किसी भी लक्षण को उत्पन्न कर सकता है। उदावर्त्त आदि विकारों की उत्पत्ति होती है। हीनमात्रा में गृहीत आहार से धातुक्षय होता है जिससे तज्जन्य सार का भी नाश हो जाता है।

२. अतिमात्राजन्य विकार या दोष—अतिमात्राजन्य विकारोत्पत्ति से पूर्व आचार्य ने अतिमात्रा को परिभाषित किया है या दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि आचार्य ने स्पष्ट किया है कि अतिमात्रा से तात्पर्य क्या है? हालांकि पूर्व में कहा जा चुका है कि सम्यक् मात्रा के लक्षणों को मानक मानकर उसी आधार पर हीनमात्रा व अतिमात्रा का तात्पर्य समझना चाहिए। परन्तु अतिमात्राजन्य आत्यधिक स्थितियों से प्रतिबन्धन के लिए कुछ इस प्रकार के लक्षणों का उल्लेख किया गया है, जिसके द्वारा उस काल में यह ज्ञान हो जाय कि आहार की मात्रा अधिक हो गई है तथा उससे बचा जा सकता है। क्योंकि आहार के हीन मात्रा में ग्रहण करने से तो

विशेष रूप से वायु प्रकुपित होती है परन्तु अतिमात्रा में आहार ग्रहण करने से सभी दोषों का प्रकोप होता है—'अतिमात्रं पुनः सर्वदोषप्रकोपणमिच्छन्ति कुशलाः ।'

अतिमात्रा का प्रारम्भिक लक्षण—अतिमात्रा में ग्रहण किये जाने वाले आहार के प्रारम्भिक लक्षण का उल्लेख करते हुए आचार्य ने कहा है कि—'यो हि मूर्तानामाहारजातानां सौहित्यं गत्वा द्रवैस्तृप्तिमापद्यते ।'—च० वि० २।७ । अर्थात् जब व्यक्ति त्रिविधकुक्षीय सिद्धान्त का पालन न करते हुए पूर्ण तृप्ति तक यानि दो-तिहाई कुक्षि का भाग मूर्त्त आहार (अन्न, ठोस आहार) से ही पूर्ण कर लेता है तथा शेष भाग को द्रवाहार से पूर्ण कर लेता है तो इस प्रकार की आहारमात्रा को आहार की अतिमात्रा कहा जाता है । आचार्य ने कुक्षि के तीन भाग कर एक भाग ठोस से, एक भाग द्रव से पूर्ण कर शेष एक भाग रिक्त रहने के लिए निर्देश किया है । इस प्रकार दो-तिहाई भाग जब ठोस व द्रवाहार से पूर्ण होता है तो सम्यक् मात्रा कहा गया है, जिसके लक्षणरूप में तृप्ति का उल्लेख किया गया है । अतः यहाँ चरकोक्त तृप्ति व सौहित्य का अर्थ ठोस आहार से दो-तिहाई पूर्ण करना तथा शेष भाग को द्रवाहार से पूर्णकर पूर्णतः तृप्त (आकण्ठाहार) को अतिमात्रा कहा गया है ।

अतिमात्रा में लिए गये आहार द्वारा विकार प्रक्रिया—'भूयस्तस्यामाशयगता वातपित्तश्लेष्माणोऽभ्यवहारेणातिमात्रेणातिप्रपीड्यमानाः सर्वे युगपत् प्रकोपमापद्यन्ते, ते प्रकुपितास्तमेवाहारराशिमपरिणतमाविश्य कुक्ष्येकदेशमन्नाश्रिता विष्टम्भयन्तः सहसा वाऽप्युत्तराधराभ्यां मार्गाभ्यां प्रच्यावयन्तः पृथक् पृथगिमान् विकारानभिनिर्वर्तयन्त्यतिमात्रभोक्तुः ।'—च० वि० २।७ । अर्थात् जब अतिमात्रा में आहार ग्रहण कर लिया जाता है तो कुक्षि में वात, पित्त, कफ के संचरण के लिए रिक्त स्थान नहीं मिल पाता, जिसके कारण आमाशय में स्थित वात, पित्त, कफ पीड़ित होकर एक ही साथ प्रकुपित हो जाते हैं । प्रकुपित दोष कुक्षि के एक भाग में (आमाशय के एक भाग में) जाकर अन्न के साथ आश्रित हो जाते हैं । अन्नाश्रित होकर उस आहार राशि को विष्टम्भित करते (रोकते) हुए या सहसा मुख मार्ग या गुदा मार्ग से उस आहार को निकालते हुए अतिमात्रा में आहार सेवन करने वाले व्यक्ति में पृथक्-पृथक् रूप से व्याधियाँ उत्पन्न करते हैं । आचार्य वाग्भट ने भी अतिमात्रा में सेवन किये गये आहार द्वारा व्याधि प्रक्रिया की उत्पत्ति ही माना है, परन्तु इसी सन्दर्भ में उन्होंने विष्टम्भ को अलसक व मुख-गुदा से निकलने वाले आहार द्रव्य को विसूचिका से सम्बोधित किया है; जिसे आचार्य चरक ने भी इसी सन्दर्भ में आम अवधारणा में उल्लिखित किया है—

पीड्यमाना हि वाताद्या युगपत्तेन कोपिताः ।
आमेनान्नेन दुष्टेन तदेवाविश्य कुर्वते ॥

विष्टम्भयन्तोऽलसकं च्यावयन्तो विसूचिकाम् ।
अधरोत्तरमार्गाभ्यां सहसैवाजितात्मनः ।।
(अ० हृ० सू० ८।४-५)।

अतिमात्राजन्य विकार—चरकसंहिता में अतिमात्राजन्य विकारों का उल्लेख दोषानुसार किया गया है। अतिमात्रा में ग्रहण किये गये आहार द्वारा तीनों दोष प्रकुपित होकर विकार उत्पन्न करते हैं। जिसमें वायु द्वारा—'तत्र वातः शूलानाहाङ्गमर्दमुखशोषमूर्च्छाभ्रमाग्निवैषम्यपार्श्वपृष्ठकटिग्रहसिराकुञ्चनस्तम्भनानि करोति'—अर्थात् शूल (शूल से प्रायः आयुर्वेद में उदरशूल का ग्रहण किया जाता है।), आनाह, अङ्गमर्द (सम्पूर्ण शरीर में वेदना), मुख का सूखना, मूर्च्छा, चक्कर आना, अग्नि की विषमता, पार्श्व, पृष्ठ और कटि प्रदेश में जकड़ाहट होती है, सिराओं में आकुञ्चन व सिरास्तम्भन यानि सिराओं की जकड़ाहट या स्तम्भन होता है।

२. **पित्त द्वारा**—'पित्तं पुनर्ज्वरातीसारान्तर्दाहतृष्णामदभ्रमप्रलपनानि'—अर्थात् अतिमात्रा में आहार सेवन करने से पित्त के द्वारा ज्वर, अतिसार, अन्तर्दाह, प्यास, मद, भ्रम और प्रलाप की उत्पत्ति होती है।

३. **कफ द्वारा**—'श्लेष्मा तु च्छर्द्यरोचकाविपाकशीतज्वरालस्यगात्रगौरवाणि'—अर्थात् प्रकुपित कफ द्वारा वमन, भोजन में अरुचि, अपचय, शीतज्वर, आलस्य और शरीर में गुरुता की उत्पत्ति होती है।

आहार की आमावस्था व तज्जन्य विकार

चरकसंहिता में प्रस्तुत त्रिविधकुक्षीय अध्याय में अतिमात्रा में सेवन किये गये आहार द्वारा व्याध्युत्पत्ति प्रक्रिया में दो प्रकार के मुख्य विकारों का उल्लेख किया गया है, जिसमें प्रथम है विष्टम्भजन्य तथा दूसरा मुख व गुदा से च्यवनजनित। इसी को क्रमशः अलसक व विसूचिका कहा गया है, परन्तु रोगोत्पादक आहार की एक विशिष्ट संज्ञा 'आम' दी गई है। 'आम' का विवेचन पूर्व में दोषसामनिरामवाद के अन्तर्गत किया जा चुका है, अतः पुनः विवेचन करना पिष्टपेषण ही है। आचार्य का कथन है कि आहार की अतिमात्रा से तो आमोत्पत्ति होती है तथा तज्जन्य विसूचिका व अलसक व्याधियाँ उत्पन्न होती हैं (तं द्विविधमामप्रदोषमाचक्षते भिषजः-विसूचिकाम्, अलसकं च ।; च० वि० २।१०)—परन्तु अतिमात्रा के अतिरिक्त कतिपय अन्य कारण भी हैं जिनसे आमोत्पत्ति होकर तज्जन्य व्याधियाँ उत्पन्न होती हैं। यथा—

१. 'अपितु खलु गुरुरूक्षशीतशुष्कद्विष्टविष्टम्भिविदाह्यशुचिविरुद्धानामकाले चान्नपानानामुपसेवनं'—अर्थात् गुरु, रूक्ष, शीत, शुष्क, अप्रिय, विष्टम्भि, विदाही, अपवित्र, विरुद्ध अन्नपान का अकाल में सेवन करने से आमोत्पत्ति होती है।

२. 'कामक्रोधलोभमोहेर्ष्याह्रीशोकमनोद्वेगभयोपतप्तमनसा वा यदन्नपानमुपयुज्यते,

तदप्याममेव प्रदूषयेत्'—अर्थात् काम, क्रोध, मोह, ईर्ष्या, लज्जा, शोक, मनोद्वेग, मान व भय से उपतप्त अर्थात् आक्रान्त होने पर यदि अन्नपान ग्रहण किया जाता है तो वह आमोत्पादक होता है।

३. 'मात्रयाऽप्यभ्यवहृतं पथ्यं चान्नं न जीर्यति। चिन्ताशोकभयक्रोधदुःखशय्या-प्रजागरैः।' अर्थात् चिन्ता, शोक, भय, क्रोध, दुःख, शय्या और जागरण से सम्यक् मात्रा में भी ग्रहण किये गये आहार का सम्यक् रूप से पाचन नहीं होता है, जिसके कारण आमोत्पत्ति होती है।

इस आम को आमविष की संज्ञा दी गई है। इसके बारे में कहा गया है कि—'विरुद्धाध्यशनाजीर्णाशनशीलिनः पुनरामदोषमामविषमित्याचक्षते भिषजः विषसदृशलिङ्गत्वात्, तद् परमसाध्यम्, आशुकारित्वाद् विरुद्धोपक्रमत्वाच्चेति।'

(च० वि० २।१२)

विरुद्धाध्यशनाजीर्णशीलिनो विषलक्षणम्।
आमदोषं महाघोरं वर्जयेद्विषसंज्ञकम्॥
विषरूपाशुकारित्वाद्विरुद्धोपक्रमत्वतः।

(अ० हृ० सू० ८।१४)

अर्थात् विरुद्धाहार करने वाले, अध्यशन करने वाले और अजीर्णाशन करने वाले व्यक्तियों में आहार का सम्यक् पाचन न होने के कारण आमोत्पत्ति होती है। इस आम दोष का प्रभाव शरीर पर विष के समान होता है अर्थात् इस आमदोष द्वारा विषसदृश लक्षण उत्पन्न होते हैं। विषसदृश लक्षणों के उत्पन्न होने के कारण इसे आम विष कहा जाता है। इसका स्वभाव आशुकारी होता है अर्थात् शीघ्र ही व्यक्ति-विशेष को मारने वाला होता है तथा विरुद्ध चिकित्सा होने के कारण असाध्य होता है। यहाँ विरुद्धोपक्रम विष की तुलना में कहा गया है कि आमदोष के लक्षण तो विष-सदृश होते हैं, परन्तु चिकित्सा विष-चिकित्सा के विपरीत होती है। विष की चिकित्सा शीत होती है तो आम की चिकित्सा उष्ण औषधादि से की जाती है। अतः आम के लिए विरुद्धोपक्रम कहा गया है।

आमदोष की चिकित्सा—'आमप्रदोषजानां पुनर्विकाराणामपतर्पणेनैवोपरमो भवति, सति त्वनुबन्धे कृतापतर्पणानां व्याधीनां निग्रहे निमित्तविपरीतमपास्यौषधमातङ्क-विपरीतमेवावचारयेद्यथास्वम्। सर्वविकारणामपि च निग्रहे हेतुव्याधिविपरीतमौषध-मिच्छन्ति कुशलाः तदर्थकारि वा।'—च० वि० २।१३।

आमदोष की चिकित्सा में अपतर्पण करने का उल्लेख है, जिसका वर्णन विसूचिका विलम्बिका में किया गया है। परन्तु यहाँ आचार्य का कहना है कि आमदोष से होने वाले रोगों की चिकित्सा अपतर्पण द्वारा करने के बाद भी आमजन्य रोग का सम्बन्ध बना रहता है। इसलिए आचार्य ने यहाँ निर्देश किया है कि—आमदोष का

सम्बन्ध दूर करने के लिए हेतुविपरीत चिकित्सा को छोड़कर व्याधिविपरीत चिकित्सा करनी चाहिए। सामान्यतया रोगों की चिकित्सा में कुशल चिकित्सक हेतु-विपरीत, व्याधि-विपरीत, हेतुव्याधि-विपरीत अथवा, हेतुविपरीतार्थकारी, व्याधि-विपरीतार्थकारी चिकित्सा व हेतुव्याधि-विपरीतार्थ चिकित्सा करते हैं। यहाँ आचार्य ने सम्पूर्ण चिकित्सा विधियों का उल्लेख करते हुए व्याधि के अनुसार चिकित्सा-निर्देश देकर यह स्पष्ट किया है कि कोई भी एक ही चिकित्सा सम्पूर्ण रोगों में उपादेय नहीं हो सकती। अतः आचार्य ने छः चिकित्सा विधियों का उल्लेख कर कहा है कि सम्पूर्ण रोगों में ये छ चिकित्सा-विधियाँ उपादेय होती हैं। अवस्थाविशेष व रोग-विशेष के अनुसार चिकित्सा विधि का चयन करना चाहिए। आहार की आमावस्था में जो विकार उत्पन्न होते हैं वे आशुकारी अर्थात् शीघ्र मारक होते हैं। यदि इस अवस्था में हेतुविपरीत चिकित्सा की जाती है तो हेतुशमन से पूर्व ही व्याधि प्राण-नाश कर सकती है। जैसा कि पूर्व में उपशय प्रकरण में स्पष्ट किया जा चुका है कि जब शरीरस्थ धातुओं का सीधे रूप से क्षय होता हो या ऐसी व्याधि उत्पन्न हो गई हो, जो शरीरस्थ धातुओं का नाश करने वाली हो अथवा प्राणनाशक व्याधि उत्पन्न हो—इस स्थिति में हेतुविपरीत चिकित्सा के स्थान पर व्याधिविपरीत चिकित्सा की उपादेयता अधिक होती है। अतः आमजन्य विकारों में जो स्वभाव से आशुकारी होते हैं उनमें व्याधिविपरीत चिकित्सा का निर्देश किया गया है। प्रस्तुत सन्दर्भ में आचार्य ने व्याधिविपरीत चिकित्सा हेतु आतङ्कविपरीत चिकित्सा का नामोल्लेख किया है; जो चिकित्सकों के लिए दिशानिर्देश है कि जो व्याधि आतङ्क रूप में (शीघ्र ही प्राण नाश का भय उत्पन्न करने वाली अथवा तत्काल में अतिशय रूप में भयोत्पा-दक) उत्पन्न होती है वहाँ व्याधिविपरीत चिकित्सा विशेष रूप से उपादेय है।

आमदोष में आहार—आमदोष उत्पन्न होने पर आहारादि के सम्बन्ध में आचार्य निर्देश देते हैं कि—१. 'आमप्रदोषेषु त्वन्नकाले जीर्णाहारं······पाययेद्दोषपाचनार्थ-मौषधमग्निसंधुक्षणार्थं च'—अर्थात् आमदोषजन्य विकारों में जब पूर्व में गृहीत आहार का पाचन हो जाय एवं दूसरा अन्नकाल उपस्थित हो गया हो अर्थात् दूसरा अन्नकाल वर्तमान हो, तब यदि रोगी का आमाशय अभी भी दोषों से लिप्त हो तो ऐसे रोगियों को बचे हुए दोषों का पाचन करने के लिए व अग्नि-संधुक्षण के लिए औषध पान कराना चाहिए। दोष लिप्त होने के लक्षण के सम्बन्ध में आचार्य कहते हैं कि जब कोष्ठ व आमाशय गुरु व स्तिमित हों तथा भोजन करने की इच्छा दूसरे अन्नकाल में भी न हो तो समझना चाहिए कि आमाशय में अभी भी दोष लिप्त है। २. पुनः आचार्य कहते हैं कि—'न त्वेवाजीर्णाशनम् आमप्रदोषदुर्बलो ह्यग्निर्न युगपद्दोष-मौषध आहारजातं च शक्तः पक्तुम्। अपि चामप्रदोषाहारौषधविभ्रमोऽतिबलत्वादु-परतकायाग्निं सहसैवातुरमबलमति पातयेत्।'—च० वि० २। अर्थात् यदि दूसरे अन्न-

काल तक भी भोजन का पाक न हो पाया हो तब इस स्थिति में औषध का प्रयोग कदापि नहीं करना चाहिए, क्योंकि आमदोष के कारण दुर्बलता को प्राप्त अग्नि दोष, आहार व औषध—इन तीनों का एक ही साथ पाचन करने में असमर्थ रहती है। आमदोष, आहार व औषध इनके बिभ्रम इतने बलवान् होते हैं कि यदि दुर्बल जाठराग्नि हो तो उस दुर्बल जाठराग्नियुक्त दुर्बल रोगी को शीघ्र मार देते हैं।

आमदोष से बिमुक्त व्यक्ति की चिकित्सा—जब व्यक्ति आमदोष से मुक्त हो जाय अर्थात् उसके आम का पाचन हो जाय तथा उसकी जाठराग्नि प्रदीप्त हो जाय तब उसकी विधिपूर्वक चिकित्सा करनी चाहिए। विधिपूर्वक चिकित्सा का यहाँ तात्पर्य यह है कि—दोष, औषध, देश, काल, बल, शरीर, आहार, सात्म्य, सत्त्व, प्रकृति, वय आदि का प्रथमतः पूर्ण विचार कर इनकी विभिन्न अवस्थाओं और भेदों का निर्धारण करते हुए रोग का यथोचित विचार करना चाहिए अर्थात् रोग-ज्ञान हेतु उससे सम्बन्धित देश, काल, सत्त्व, बल आदि पर पूर्णतः विचार करना चाहिए कि कौन-सा देश, काल है? रोगी का प्रवर मध्यावर में कौन-सा सत्त्व, सात्म्य व बल है। इसी प्रकार अन्य भावों पर विचार करने के उपरान्त ही चिकित्सा करनी चाहिए। चिकित्सा से सम्बन्धित निर्देश देते हुए आचार्य का कथन है कि रोग पर विधिपूर्वक विचार कर रोगी की चिकित्सा अभ्यङ्ग, निरुहबस्ति, अनुवासन बस्ति और स्नेहपान के द्वारा विधिपूर्वक करनी चाहिए।—'विमुक्तामप्रदोषस्य पुनः परिपक्व-दोषस्य दीप्ते चाग्नावभ्यङ्गास्थापनानुवासनं विधिवत् स्नेहपानं च युक्त्या प्रयोज्यं प्रसमीक्ष्य दोषभेषजदेशकालबलशरीराहारसात्म्यसत्त्वप्रकृतिवयसामवस्थान्तराणि विकारांश्च सम्यगिति।'—च० वि० २।१३।

इस प्रकार आचार्य ने अतिमात्रापूर्वक सेवित आहारजन्य वा अन्य कारणों से सेवित आहारजन्य आम की चिकित्सा का पूर्णतः निर्देश किया है।

आमदोषजन्य विकार—विसूचिका व अलसक

विसूचिका—आमदोष अथवा अतिमात्रा में लिए गये आहार द्वारा विकारोत्पत्ति प्रक्रिया में आचार्य ने कहा है कि आम द्वारा दो प्रकार के विकार उत्पन्न होते हैं—एक विष्टम्भजन्य तथा दूसरा मुख व गुदा से च्यवनजन्य। विसूचिका का सम्बन्ध मुख व गुदा से च्यवन से सम्बन्धित है। विसूचिका को परिभाषित करते हुए आचार्य ने कहा है कि—'तत्र विसूचिकामूर्ध्वं चाधश्च प्रवृत्तामदोषां यथोक्तरूपां विद्यात्'—अर्थात् जब आमदोष की प्रवृत्ति ऊर्ध्व मार्ग (वमन द्वारा) तथा अधोमार्ग (गुदा द्वारा) दोनों ओर से होती है एवं आमजन्य या अतिमात्रा में गृहीत आहार-जन्य वात, पित्त, कफज विकार भी साथ-साथ उपस्थित रहते हैं तो उस व्याधि को विसूचिका कहा जाता है। यहाँ वातज, पित्तज, कफज लक्षणों का तात्पर्य पूर्ववर्णित

इनके शूल, आनाह, मूर्च्छा, ज्वर, प्रलाप, गौरव आदि लक्षणों से है। सुश्रुतसंहिता में विसूचिका के लक्षणों का स्पष्ट वर्णन किया गया है। यथा—

'सूचीभिरिवगात्राणि तुदन् संतिष्ठतेऽनिलः।
यत्राजीर्णेन सा वैद्यैर्विसूचीति निगद्यते॥
मूर्च्छातिसारो वमथुः पिपासा शूलभ्रमोद्वेष्ठन जृम्भदाहाः।
वैवर्ण्यकम्पौ हृदये रुजश्च भवन्ति तस्यां शिरसश्च भेदः॥' (सु० सं०)

अर्थात् विसूचिका रोग में वायु के कारण सम्पूर्ण शरीर में सूई चुभोने जैसी पीड़ा होती है, अतः इसे विसूचिका कहा जाता है। इसमें मूर्च्छा, अतिसार, वमन के साथ-साथ पिपासा (तृषाधिक्य), शूल, भ्रम (चक्कर आना), उद्वेष्ठन, जृम्भा, दाह (शरीर में जलन का अनुभव होना) विवर्णता (शरीर का वर्ण बदल जाना), कम्पन, हृदय रोग या हृदय में कष्टानुभव या हृदयशूल होता है एवं शिर में भेदनवत् पीड़ा होती है। आचार्य वाग्भट विसूचिका के लक्षण के सम्बन्ध में कहते हैं कि—

विविधैर्वेदनोद्भेदैर्वाय्वादि भृशकोपतः।
सूचीभिरिव गात्राणि विध्यतीति विसूचिका॥

(अ० हृ० सू० ८।७)

अर्थात् अतिशय रूप में कुपित वातादि दोष विभिन्न प्रकार की वेदनाओं को उत्पन्न करके सम्पूर्ण शरीर में व अङ्गों में सूई चुभोने जैसी पीड़ा उत्पन्न करते हैं। इस प्रकार—'विविधानां विकाराणां सूचिका अथवा विविधसूचीतुल्यत्वाद् विसूचिका' के अनुसार इसे विसूचिका कहा गया है। इस प्रकार विसूचिका का निरुक्तिपरक लक्षण देते हुए आचार्य ने दो प्रकार का पक्ष प्रस्तुत किया है। प्रथम पक्ष में उन्होंने कहा है कि—वातादि दोषों के द्वारा अनेक प्रकार की वेदनायें उत्पन्न की जाती हैं। अतः विभिन्न प्रकार की वेदनाओं की सूचिका होने से यह विसूचिका है तथा दूसरे पक्ष के द्वारा इनका कथन है कि—सम्पूर्ण शरीर में सूचिका-वेधनवत् पीड़ा होती है, अतः सूचीतुल्य वेदनोत्पत्ति के कारण इसे विसूचिका कहते हैं।

विसूचिका रोग में आचार्यों ने वातादि दोषों द्वारा उत्पन्न होने वाले अन्य लक्षणों का दोषानुसार पृथक्-पृथक् निर्देश दिया है। यथा—वातजन्य लक्षण—'तत्र शूलभ्रमानाहकम्पस्तम्भादयोऽनिलात्।' अर्थात् वात द्वारा शूल, भ्रम, आनाह, कम्प, स्तम्भ आदि लक्षण उत्पन्न होते हैं।

पित्त द्वारा—'पित्ताज्ज्वरातिसारान्तर्दाहतृट्प्रलयादयः।'—ज्वर, अतिसार, अन्तर्दाह तृषाधिक्य व मूर्च्छा आदि लक्षण पित्त द्वारा उत्पन्न होते हैं।

कफ द्वारा—'कफाच्छर्द्यङ्गगुरुतावाक्सङ्गष्ठीवनादयः'—अर्थात् कफ द्वारा वमन, अङ्गों में भारीपन, वाणी का अवरोध, थूक का बार-बार आना आदि लक्षण उत्पन्न होते हैं।

विसूचिका की चिकित्सा—चरकसंहिता में विसूचिका की चिकित्सा से सम्बन्धित दिशानिर्देश निम्न रूप में दिया गया है—'विसूचिकायां तु लङ्घनमेवाग्रे विरिक्तवच्चानुपूर्वी ।' च० वि० २ । अर्थात् विसूचिका में सर्वप्रथम लङ्घन कराना चाहिए । बाद में विरेचनोपरान्त वर्णित संसर्जन क्रम पेया, विलेपी आदि का क्रमानुसार सेवन कराना चाहिए । इसके बाद आमदोष चिकित्सा में वर्णित पाचन, व्याधिविपरीत चिकित्सा का यथोचित प्रयोग करना चाहिएं । जब आम पाचन हो जाय तब विधिपूर्वक चिकित्सा करनी चाहिए । आचार्य वाग्भट ने प्रबल विसूचिका रोग में दाहकर्म का निर्देश दिया है । उनका कथन है कि विसूचिका रोग में पार्ष्णियों (एड़ी) में दाह कर्म करना चाहिए—

विसूच्यामतिवृद्धायां पार्ष्ण्योर्दाहः प्रशस्यते ।
तदहश्चोपवास्यैनं विरिक्तवदुपाचरेत् ॥ (अ० हृ० ८।७)

असाध्य विसूचिका—

यः श्यावदन्तोष्ठनखोऽल्पसंज्ञोवम्यर्दितोऽभ्यन्तरगात्रनेत्रः ।
क्षामस्वरः सर्वविमुक्तसन्धिर्यायान्नरोऽसौ पुनरागमाय ॥
(अ० सं० सू० ११)

अर्थात् जिस विसूचिकाग्रस्त आतुर के दन्त, ओष्ठ, नख आदि के वर्ण श्याव (किंचित् कालापन लिए हुए) हो गये हों, जिनकी संज्ञा अल्प हो अर्थात् संज्ञा का पूर्णतः नाश न होकर भी अधिक नाश हो गया हो, आतुर किंचित् रूप में संज्ञायुक्त हो, जिसे बारम्बार अतिशय रूप में वमन की प्रवृत्ति हो, जिसके नेत्र अन्दर की ओर चले गये हों, जिसका कण्ठ धीमा पड़ गया हो (कण्ठ धीमा पड़ने का यहाँ तात्पर्य स्वरहीनता से है । आतुर चाहकर भी स्वर नहीं निकाल पाता । जो स्वर निकलता है वह अत्यन्त धीमा होता है, जिसे आचार्य ने क्षाम स्वर कहा है) तथा जिसकी सन्धियाँ ढीली पढ़ गई हों, वह मनुष्य संसार में पुनर्जन्म हेतु जाता है अर्थात् उसकी मृत्यु हो जाती है । अतः इस अवस्था में (असाध्य लक्षण) आतुर की चिकित्सा नहीं करनी चाहिए । यदि चिकित्सा करनी हो तो अभिभावक से असाध्यता की घोषणा करके चिकित्सा करनी चाहिए ।

अलसक व दण्डालसक

सम्प्राप्ति व लक्षण—जब दुर्बल अग्नि वाला व्यक्ति (दुर्बल अग्नि का तात्पर्य अग्नि में पाक क्रियादि करने हेतु आवश्यक बल की कमी से है) या अल्प जाठराग्नि वाला व्यक्ति (यहाँ अल्प अग्नि का तात्पर्य क्षीण अग्नि अथवा पित्त की मात्रा कम होने से है) या अधिक कफ से युक्त व्यक्ति या वह व्यक्ति जो वात-मूत्र-पुरीष आदि अधारणीय वेगों को धारण करता है, जब स्थिर, गुरु, अतिरूक्ष, शीतल (पर्युषित

या आधुनिक काल में फ्रीज आदि में रखा गया अति शीत आहार) व शुष्क आहार का सेवन करता है तो वह आहार या अन्न अपान वायु द्वारा पीड़ित होता है एवं कफ द्वारा उसका मार्ग विबद्ध यानि रोक दिया जाता है, जिसके कारण वह आहार अतिमात्रा में लीन होकर अलसीभूत हो जाता है। अलसीभूत आहार की गति बाहर की ओर नहीं हो पाती। इस स्थिति में गति बाहर की ओर न होने के कारण वमन अतिसार—इन दो लक्षणों को छोड़कर आमविष के शेष सभी लक्षण विद्यमान हो जाते हैं। अधिक मात्रा में दूषित दोष अतिशय रूप में दुष्ट आमदोष के द्वारा उत्पन्न मार्गावरोध के कारण स्वमार्ग-गमन न कर शरीर में तिर्यक् गति प्रारम्भ कर देते हैं। तिर्यक् गति के कारण दूषित दोष उस व्यक्ति के सम्पूर्ण शरीर को दण्ड के समान जकड़ देते हैं। इस अवस्था को दण्डालसक कहा जाता है जो असाध्य होता है। आचार्य वाग्भट ने अलसक व दण्डालसक का उल्लेख चरकवत् ही किया है। यथा—अलसक—

विशेषाद् दुर्बलस्याल्पवह्नेर्वेगविधारिणः।
पीडितं मारुतेन्नानं श्लेष्मणा रुद्धमन्तरा॥
अलसं क्षोभितं दोषैः शल्यत्वेनेव संस्थितम्।
शूलादीन् कुरुते तीव्रांश्छर्द्यतीसारवर्जितान्॥
सोऽलसोऽत्यर्थदुष्टास्तु दोषा दुष्टामबद्धखाः।
यान्तस्तिर्यक्तनुं सर्वां दण्डवत्स्तम्भयन्ति चेत्॥
दण्डकालसकं नामं तं त्यजेदाशुकारिणम्।

(अ० हृ० सू० ८।१०-१३)

अलसक की चिकित्सा—अलसक की चिकित्सा का निर्देश देते हुए आचार्य का कथन है कि—'तत्र साध्यमामं प्रदुष्टमलसीभूतमुल्लेखयेदादौ पाययित्वा सलवणमुष्णं वारि, ततः स्वेदनवर्त्तिप्रणिधानाभ्यामुपाचरेदुपवासयेच्चैनम्।'—च० वि० २। अर्थात् अलसक रोग में सर्वप्रथम आतुर को सैंधव लवण व उष्ण जल पिलाकर वमन कराना चाहिए, जिससे अलसीभूत आमदोष बाहर आ जाय। वमनोपरान्त स्वेदन कराना चाहिए व गुदवर्त्ति प्रयोग कर मल को प्रवृत्त कराना चाहिए। इसके बाद आमपीड़ित आतुर को उपवास कराना चाहिए। इस चिकित्सा के बाद आमदोष चिकित्सा में वर्णित उपायों द्वारा चिकित्सा करनी चाहिए। जब आमदोष का पाचन हो जाय तब विधिपूर्वक चिकित्सा करनी चाहिए।

आमदोषजन्य अलसक रोग में प्रथम उद्देश्य शिथिल व अलसीभूत आम को शरीर से बाहर निकालना होता है। अतः प्रथमतः वमन कराकर आम को बाहर निकाल दिया जाता है; क्योंकि वमन से पक्वाशय के दोष पर प्रभाव नहीं होता वरन् आमाशयस्थ अपक्वावस्था में स्थित दोष बाहर निकल जाता है। आचार्य वाग्भट ने स्पष्ट निर्देश किया है कि तीव्र अजीर्ण की अवस्था में किसी भी मुख द्वारा

सेवन की जाने वाली औषधि का प्रयोग नहीं करना चाहिए; क्योंकि दुर्बल अग्नि उसका (औषध, दोष, आहारादि का एक साथ) पाचन करने में असमर्थ होती है। अत: इस अवस्थाविशेष में वामक औषधि का ही एकमात्र प्रयोग किया जा सकता है; क्योंकि वामक औषधि पाचनादि की अपेक्षा न करते हुए आमाशयस्थ दोष व आहार को बाहर कर देती है। अत: वाग्भट भी अलसक की चिकित्सा का निर्देश देते हुए कहते हैं कि—

'अथाममलसीभूतं साध्यं त्वरितमुल्लिखेत् ।
पीत्वा सोग्रापटुफलं वार्युष्णं योजयेत्तत: ।।
स्वेदनं फलवर्ति च मलवातानुलोमनीम् ।
नम्यमानानि चाङ्गानि भृशं स्विन्नानि वेष्टयेत् ।।

(अ० हृ० सू० ८।१५-१६)

इस प्रकार आचार्य वाग्भट ने भी चरक का ही अनुसरण करते हुए चिकित्सा निर्देश किया है। कुछ द्रव्य-भिन्नता है यथा—वाग्भट ने वमन हेतु वचा, नमक व मदनफल के साथ उष्ण वारि का प्रयोग बताया है। संकुचित अङ्गों को स्वेदनोपरान्त वस्त्र द्वारा लपेटने का निर्देश दिया है। वर्त्ति में फलवर्त्ति का निर्देश दिया है, जिसकी कार्मुकता उन्होंने अनुलोमन बतलाया है।

त्रिविध कुक्षीय सिद्धान्त की उपादेयता

जैसा कि पूर्व में कहा जा चुका है कि त्रिविध कुक्षीय सिद्धान्त चरकसंहिता की विशिष्ट देन है। हालांकि आचार्य वाग्भट-द्वय (वाग्भट व वृद्ध वाग्भट) ने भी इस सिद्धान्त का उल्लेख किया है परन्तु उनका सिद्धान्त त्रिविध न होकर चतुर्विध है अर्थात् वे कुक्षि का चार विभाग कर आहार मात्रा से सम्बन्धित सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हैं। हालांकि चतुर्विध कुक्षि में उद्देश्य उनका भी त्रिविध (ठोस व द्रवाहार व शेषरिक्त) ही है परन्तु कुक्षि के चतुर्विध के कारण मात्रा में भिन्नता हो जाती है, यथा—

	चरकसंहिता	अष्टांगसंग्रह	अष्टांगहृदय
१. ठोस आहार (अन्न)	$\frac{1}{3}$ भाग ३३·३३%	$\frac{2}{4}$ भाग ५०%	$\frac{2}{4}$ भाग ५०%
२. द्रव आहार	$\frac{1}{3}$ भाग ३३·३३%	$\frac{1}{4}$ भाग २५%	$\frac{1}{4}$ भाग २५%
३. रिक्त स्थान	$\frac{1}{3}$ भाग ३३·३३%	$\frac{1}{4}$ भाग २५%	$\frac{1}{4}$ भाग २५%

इस प्रकार आचार्य चरक ने कुक्षि का तीसरा भाग (३३·३३%) रिक्त रखने का निर्देश दिया है जबकि वाग्भट-द्वय ने कुक्षि का चौथाई भाग (२५%) रिक्त रखने को कहा है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि त्रिविध कुक्षीय सिद्धान्त आचार्य चरक द्वारा उद्घाटित विशिष्ट सिद्धान्त है।

त्रिविध कुक्षीय सिद्धान्त आहार मात्रा से सम्बन्धित सिद्धान्त है। आहार की मात्रा अग्निबल की अपेक्षा करती है। आहार मात्रा का तात्पर्य क्या समझा जाय ? अथवा आहार की कितनी मात्रा को उचित मात्रा कहा जाय ? इन विषयों को चरक-संहिता में व्यावहारिक रूप में प्रस्तुत करते हुए कहा गया है कि—'यावदध्यस्याशन-मशितमनुपहत्य प्रकृतिं यथाकालं जरां गच्छति तावदस्य मात्राप्रमाणं वेदितव्यं भवति।'—च० सू० ५।४। अर्थात् आहार की जो मात्रा भोजन करने वाले व्यक्ति की प्रकृति में बाधा न पहुँचाते हुए यथाकाल पच जाय वह मात्रा उस व्यक्ति के लिए निर्धारित करनी चाहिए। यहाँ 'प्रकृति में बाधा न पहुँचाते हुए' का तात्पर्य यह है कि आहार ग्रहण करने पर शरीर की क्रियायों पर किसी प्रकार का बाधाजनक प्रभाव न पड़े। 'यथा कालं जरां' का तात्पर्य यह है कि—प्रातःकाल में सेवित आहार का पाचन सायं तक एवं सायंकाल में सेवित आहार का पाचन प्रातःकाल तक होना चाहिए। मात्रापूर्वक लिए गये आहार लक्षणों का उल्लेख किया जा चुका है। वे लक्षण शरीर में तभी प्रादुर्भूत होते हैं जब आहार का सेवन कुक्षि के दो तिहाई तक (ठोस व द्रवाहार दोनों को मिलाकर) किया जाता है। इस प्रकार त्रिविध कुक्षीय सिद्धान्त की प्राथमिक उपादेयता यह है कि—इस सिद्धान्त के अनुसार मनुष्य आहार की उचित मात्रा को ग्रहण करता है, जिसके कारण या फलस्वरूप—'मात्रावद्ध्यशन-मशितमनुपहत्य प्रकृतिं बलवर्णसुखायुषा योजयत्युपयोक्तारमवश्यमिति।'—च० सू० ५।८। अर्थात् मात्रापूर्वक आहार ग्रहण करने वाले व्यक्ति की प्रकृति में बाधा न पहुँचाते हुए वह आहार मात्रा निश्चित रूप से बल, वर्ण, सुख व आयु से युक्त करती है। अर्थात् यथोचित मात्रा में लिया गया आहार ही बल, वर्ण, सुख व पूर्ण आयु प्रदान करने वाला होता है। यह आहार मात्रा त्रिविध कुक्षि की अपेक्षा करती है; अतः इस सिद्धान्त की उपादेयता स्वतःस्पष्ट होती है। इसीलिए त्रिविध कुक्षीय सिद्धान्त की उपादेयता स्पष्ट करते हुए आचार्य कहते हैं कि—'तत्रायं तावदाहार-राशिमधिकृत्य मात्रामात्राफलविनिश्चयार्थः प्रकृतः।'

इस सिद्धान्त के प्रकरण में अमात्राजन्य विकारों का उल्लेख कर जनसामान्य को सावधान किया गया है कि—अमात्रा में आहार सेवन नहीं करना चाहिए अन्यथा अमात्रा में सेवित आहार ही मृत्यु का कारण बन जाता है। इस सिद्धान्त की उपा-देयता लोकव्यवहार में प्रचलित एक उदाहरण द्वारा स्पष्ट करने का प्रयत्न किया जा रहा है। जिस प्रकार लोक व्यवहार में ओदनादि पाचन प्रक्रिया है वही प्रक्रिया अन्दर मानकर आहार ग्रहण करना चाहिए। ओदन पाक-कल्पना हेतु पात्र के अनुसार ही उसमें चावल व जल की मात्रा रखी जाती है तथा कम से कम पात्र का $\frac{1}{3}$ भाग रिक्त रखा जाता है। जब अग्नि द्वारा पाचन प्रक्रिया प्रारम्भ होती है तो अग्नि-संयोग से जल व अन्न रिक्त स्थान में गति करते हैं, जिसे उफान आना कहा जाता

है। यदि पात्र को पूर्णरूपेण जल व चावल के मिश्रण से भरकर अग्निसंयोग कराया जाता है तो जल व अन्न, अग्नि व वायु के संचरण हेतु रिक्त स्थान न मिलने के कारण उफान आने पर जलपात्र से बाहर निकलकर अग्नि को बुझा देता है अथवा अतिमन्द कर देता है तथा पात्र में अपक्व अन्न शिथिल होकर पड़ा रहता है। इसी प्रकार कुक्षि को यहाँ पात्र मानकर कहा गया है कि कुक्षि में दो तिहाई ठोस व द्रव आहार भरना चाहिए तथा एक तिहाई भाग वात, पित्त, कफ के संचरण के लिये छोड़ देना चाहिए, अन्यथा ओदन पाचनसदृश प्रक्रिया अन्दर होकर आमोत्पत्ति होती है। उस आम का प्रभाव शरीर पर विषसदृश होता है एवं अनेक प्रकार के आत्ययिक विकार उत्पन्न होते हैं। इस सिद्धान्त से सम्बन्धित पाक प्रक्रिया व आमोत्पत्ति प्रक्रिया को शिक्षार्थियों को समझाने के लिए ओदन न्याय (ओदन-पाक-प्रक्रिया) कहा जा सकता है।

त्रिविध कुक्षीय सिद्धान्त की स्थापना में अमात्राजन्य आम विकार चिकित्सा में जो निर्देश दिये गये हैं वे चिकित्सकों के लिए अति उपादेय हैं। किसी भी आतङ्क रूप में उत्पन्न व्याधि में प्रथमतः व्याधिविपरीत चिकित्सा करनी चाहिए। जब व्याधि शमन हो जाय तब हेतुविपरीत या अन्य चिकित्सा विधि का विधिपूर्वक प्रयोग करना चाहिए। यदि अमात्रापूर्वक या अन्य किसी कारण से आहार आमाशयादि में आमावस्था में हो तो प्रथमतः पात्र को रिक्त करना चाहिए अर्थात् आमाशय से उस आम आहारादि को वमन द्वारा बाहर निकाल देना चाहिए। यदि पूर्ण रूप से भरे पात्र में (कुक्षि में) अग्निसंयोग से प्रबल वेग आकर कुक्षिगत आहार वमन विरेचन द्वारा बाहर निकल जाता है तो कुक्षि शोधन हेतु लङ्घन करना चाहिए। जब कुक्षि का शोधन हो जाय तो पुनः अग्नि संधुक्षण करना चाहिए। अग्निवृद्धि क्रमानुसार होती है, अतः कुक्षि में प्रथमतः द्रव, अर्द्धघन फिर घन ठोस आहार द्वारा (मण्ड, पेया, विलेपी, ओदनादि से) अग्निबल की परीक्षा कर आहार मात्रा निर्धारित करनी चाहिए।

इस प्रकार त्रिविध कुक्षीय सिद्धान्त जनसामान्य व चिकित्सक दोनों के लिए सामान्य रूप से उपादेय है। यहाँ इसकी उपादेयता संक्षिप्त रूप में प्रदर्शित की गई है अर्थात् इसकी उपादेयता का निर्देश-मात्र दिया गया है। विद्वान् पाठक स्वयं इस तथ्य से परिचित हैं कि आयुर्वेद में आहार उसकी मात्रा व उसके पक्व व अपक्व रूप का ज्ञान कितना उपादेय है? क्योंकि इन सिद्धान्तों के आधार पर ही आयुर्वेद व इसकी चिकित्सा का स्वरूप निर्धारित किया गया है।

अध्याय—२०

व्याधितरूपीयवाद

व्याधित का अर्थ व्याधिपीड़ित होता है, जो रोगी या आतुर के लिए कहा गया है। रूप का तात्पर्य यहाँ यह है कि आतुर अपने रोग को किस रूप में प्रकट करता है। इस सम्बन्ध में चरकसंहिता में कहा गया है कि—'इह खलु द्वौ पुरुषौ व्याधितरूपौ भवतः—गुरुव्याधितः लघुव्याधितश्च'। अर्थात् रोगी या व्याधित पुरुष अपने व्याधिरूप को प्रकट करने की दृष्टि से दो प्रकार के होते हैं—प्रथम गुरुव्याधित एवं दूसरा लघुव्याधित पुरुष। यहाँ दो प्रकार के व्याधित पुरुषों से तात्पर्य यह है कि एक ही रोग से ग्रसित दो विभिन्न व्यक्तियों द्वारा अपने रोग की प्रतिक्रिया दो प्रकार से प्रकट की जाती है।

१. गुरुव्याधित—'तत्र गुरुव्याधित एक सत्त्वबलशरीरसंपदुपेत्वाल्लघुव्याधित इव दृश्यते'—च० वि० ७।३ अर्थात् गुरुव्याधित उन पुरुषों को कहा जाता है जो बड़ी व्याधि से युक्त होते हैं परन्तु सत्त्व, बल, और शरीर की उत्तम स्थिति रहने के कारण उनकी व्याधि लघु या छोटी जान पड़ती है। आयुर्वेद में व्याधित रूप के अनुसार सत्त्व के तीन प्रकार माने गये हैं—प्रवर सत्त्व, मध्य सत्त्व तथा अवर सत्त्व। प्रवर सत्त्व के लक्षण में कहा गया है कि—ये व्यक्ति सत्त्वसार वाले होते हैं, जिसके कारण 'स्वल्प-शरीरा ह्यपि ते निजागन्तुजनिमितासु महतीष्वपि पीडास्वव्यथा दृश्यन्ते सत्त्वगुण-वैशेष्यात्।'—च० वि० ८। अर्थात् ये व्यक्ति छोटा शरीर होते हुए भी सत्त्वगुण की अधिकता के कारण निज व आगन्तुज बड़ी से बड़ी व्याधियों को सहन करने की उनमें क्षमता होती है। इसी अर्थ में आचार्य ने सत्त्व के उत्तम रहने पर अर्थात् प्रवर सत्त्व रहने पर गुरु व्याधि को लघुरूप में प्रकट करने को कहा है। उत्तम या प्रवर सत्त्व वाले व्यक्तियों में स्मरण शक्ति, भक्ति, कृतज्ञता, बुद्धि, पवित्रता; उत्साह, दक्षता, व धीरता विद्यमान रहती है, जिसके कारण वे विवादरहित होते हैं। उनकी गतियाँ स्थिर होती हैं। बुद्धि व चेष्टायें गम्भीर होती हैं। इस प्रकार के व्यक्तियों में कष्ट सहने की अत्यधिक क्षमता होती है। अतः गम्भीर व्याधियों से पीड़ित होने पर भी उत्तम सत्त्व वाले व्यक्ति अपनी वेदनाओं को लघुरूप में ही प्रकट करते हैं। इसी प्रकार उत्तम बलयुक्त व्यक्तियों में गम्भीर रोग के लक्षण भी लघुरूप में प्रकट होते हैं। उत्तम बल रहने पर व्यक्ति में विभिन्न आयासों व वेदनाओं को सहने की क्षमता अधिक होती है। अतः वे गुरु व्याधि से पीड़ित होने पर भी लघुरूप में लक्षण प्रकट करते हैं। इसी प्रकार उत्तम शारीरिक संगठन होने पर गम्भीर व्याधियों

के लक्षण भी अल्परूप में प्रकट होते हैं। यहाँ उत्तम या 'शरीर ठीक रहने पर' का तात्पर्य उत्तम संहनन से है। उत्तम संहनन वाले व्यक्ति बलयुक्त होते हैं—'तत्र सुसंहतशरीराः पुरुषः बलवन्तः।' चरक सूत्र स्थान अ० २१ में कहा गया है कि—

'सममांसप्रमाणस्तु समसंहननो नरः।
दृढ़ेन्द्रियो विकाराणां न बलेनाभिभूयते ॥ (च० सू० २१।१८)

अर्थात् जिस व्यक्ति में मांस समप्रमाण में रहता है, प्रत्येक अङ्गों पर उपलेप यथोचित रूप में रहता है, इन्द्रियाँ जिसकी दृढ़ होती हैं, वे व्यक्ति रोगों की उग्रता से अधिक कष्ट नहीं पाते अर्थात् विभिन्न रोगों के लिए इनके अन्दर सहनशक्ति होती है; अतः इनमें होने वाली गुरु व्याधि भी लघु रूप में प्रकट होती है।

२. लघुव्याधित—'लघुव्याधितोऽपरः सत्त्वादीनामधमत्वाद्गुरुव्याधित इव दृश्यते'—च० वि० ७।३ अर्थात् लघुव्याधित से तात्पर्य उन व्यक्तियों से है, जोल घु अर्थात् छोटी व्याधि से ग्रसित होते हैं, परन्तु सत्त्व, बल व शरीर की हीन स्थिति होने के कारण वे व्याधि के रूप को गुरु व्याधि के रूप में प्रकट करते हैं। अवर सत्त्व वाले व्यक्तियों के लिए कहा गया है कि—'हीनसत्त्वास्तु नात्मना नापि परैः सत्त्वं बलं प्रति शक्यन्ते उपस्तम्भयितुं, महाशरीरा ह्यपि ते स्वल्पानामतिवेदनानामसहा दृश्यन्ते, सन्निहित-भयशोकलोभमोहमाना रौद्रभैरवद्विष्टबीभत्सविकृतसंकथास्वपि च पशुपुरुषमांसशोणि-तानि चावेक्ष्य विषादवैवर्ण्यमूर्च्छोन्मादभ्रमप्रपतनानामन्यतममाप्नुवन्त्यथवा मरण-मिति।'—च० वि० ८। अर्थात् अवर सत्त्व वाले पुरुष न स्वयं, न दूसरे को उदाहरण स्वरूप देखकर, न दूसरे के समझाने पर अपने रोग-वेग को रोक पाते हैं। इसका अर्थ यह है कि अवर सत्त्व वाले व्यक्ति किसी प्रकार के कष्ट की अवस्था में सान्त्व-नादि देने पर भी आश्वस्त नहीं हो पाते। यदि किसी अन्य व्यक्ति द्वारा प्राप्त कष्ट की सहनशक्ति का उदाहरण देकर भी आश्वासन दिया जाता है तो भी वे अधीरता-वश संवेगयुक्त ही रहते हैं। यदि इनका शरीर बड़ा या स्थूल भी रहता है तो भी इनकी सहनशक्ति लघु होती है और ये लघु व्याधि होने पर भी गम्भीर रूप में अपनी वेदना प्रकट करते हैं। ये सदैव भय, शोक, लोभ, मोह और मान से प्रभावित होते रहते हैं। ये रौद्र, भैरव आदि भयानक कथाओं को सुनकर, पशुओं के मांस, रक्तादि को देखकर, विषाद, वैवर्ण्य, मूर्च्छा, पागलपन, भ्रम आदि से पीड़ित हो जाते हैं। सत्त्व की ही तरह अवर बल वाले व्यक्तियों में कष्ट सहने की क्षमता अल्प रूप में रहती है। यदि उनको किञ्चित् कष्ट का अनुभव होता है तो उनका कष्ट भयंकर रूप में परिलक्षित होता है। लघु व्याधियों से पीड़ित होने पर भी उनके अन्दर गम्भीर रूप में व्याधि प्रकट होती है। इसी प्रकार शरीर का संगठन जब अवर होता है तो उस व्यक्ति में लघु व्याधियों के लक्षण भी गम्भीर रूप में प्रकट होते हैं।

व्याधितरूपीयवाद की उपादेयता

व्याधितरूपीयवाद की उपादेयता नैदानिक दृष्टिकोण से है। आचार्य चरक ने इस वाद की उपादेयता पर उदाहरण के साथ विस्तृत रूप से प्रकाश डाला है। उनका कथन है कि—

'सत्त्वादीनां विकल्पेन व्याधिरूपमथातुरे।
दृष्ट्वा विप्रतिपद्यन्ते बाला व्याधिं बलाबले॥
ते भेषजमयोगेन कुर्वन्त्यज्ञानमोहिताः।
व्याधितानां विनाशाय क्लेशाय महतेऽपि वा॥
प्राज्ञास्तु सर्वमाज्ञाय परीक्ष्यमिह सर्वथा।
न स्खलन्ति प्रयोगेषु भेषजानां कदाचन॥

(च० वि० ७।५-७)

अर्थात् अल्पज्ञान वाले चिकित्सक रोगियों में सत्त्व, बल, शरीरादि की भिन्नता के कारण रोग के बलाबल का ज्ञान नहीं प्राप्त कर पाते अर्थात् धोखा खा जाते हैं। वे रोग के बल का सम्यक् निदान नहीं कर पाते हैं, जिससे मोहवश लघु व्याधियों की चिकित्सा गम्भीर रोगों के लिए निर्देशित औषधियों द्वारा करते हैं तथा गम्भीर रोगों की चिकित्सा अल्प बलयुक्त औषधियों से करते हैं, परिणामतः आतुर की मृत्यु तक हो जाती है। जो चिकित्सक प्रज्ञावान् या बुद्धिमान् होते हैं, वे रोग के बल का सम्यक् परीक्षण कर ही उसकी चिकित्सा में प्रवृत्त होते हैं, अतः वे चिकित्सा में सफलता प्राप्त कर लेते हैं। यहाँ आचार्य ने व्याधितरूपीयवाद की उपादेयता को स्पष्ट कर दिया है। व्याधितरूपीयवाद का ज्ञान रखने वाला चिकित्सक चिकित्सा में धोखा नहीं खा सकता है। आधुनिक काल में व्याधितरूपीयवाद की उपादेयता भारतवर्ष में और भी अधिक है। जिन स्थानों पर निदानादि के आधुनिकतम तकनीकी साधन उपलब्ध नहीं है वहाँ अधिकतर रोगों का एवं उसके बलाबल का निर्धारण अनुमान द्वारा ही किया जाता है, उस अनुमान का एक आधार व्याधित द्वारा प्रकट किया गया रूप है। जैसे—कोई आतुर शूल की चिकित्सा हेतु चिकित्सक के पास आता है तो उसके शूल के बलाबल की परीक्षा आतुर पर ही निर्भर होती है। यदि अल्प कारण व अल्प बल का शूल है परन्तु आतुर का सत्त्व, बल व शरीर हीन होने के कारण वह चिकित्सक के पास रोते-चिल्लाते हुए आता है और चिकित्सक यदि गुरु-लघु व्याधितरूपीय की अवधारणा नहीं जानता है तो वह रोग की आत्ययिकता समझकर तीव्र बल वाली औषधियों का प्रयोग करता है। इससे अनेक प्रकार के प्रतिक्रियात्मक प्रभाव (Side effects) या Adverse effect सामने आते हैं। आधुनिक चिकित्सा में औषधि जितनी अधिक बलयुक्त होती है, उसका प्रतिक्रियात्मक प्रभाव या विपरीत प्रभाव उतना ही भयंकर होता है। इस प्रकार अल्पबलयुक्त रोग

में तीक्ष्ण या उत्तम बलयुक्त औषध हानिकर प्रभाव वाली होती है। इसी प्रकार चिकित्सक के पास कतिपय इस तरह के आतुर होते हैं जो भयंकर व अतिबलयुक्त व्याधि से पीड़ित होते हैं। परन्तु यदि वैद्य या चिकित्सक व्याधितरूपीयवाद से अपरिचित रहता है तो उस व्यक्ति द्वारा लघु रूप में वेदना व लक्षण प्रकट करने के कारण उसकी चिकित्सा में अल्पबल वाली औषधियों का प्रयोग करता है; परिणामतः वह गम्भीर या गुरु व्याधि उस आतुर के जीवन का हरण कर लेती है। अतः आधुनिक काल में जहाँ आधुनिक औषधियाँ रोग-शमन के साथ-साथ भयंकर प्रतिक्रियात्मक प्रभाव व विपरीत प्रभाव वाली होती हैं; ऐसी स्थिति में व्याधितरूपीयवाद की उपादेयता और भी बढ़ जाती है। इस तथ्य को उदाहरण के साथ आचार्य चरक ने अधिक स्पष्ट किया है। आचार्य चरक का कथन है कि—

'नहि ज्ञानावयवेन कृत्स्ने ज्ञेये विज्ञानमुत्पद्यते। विप्रतिपन्नास्तु खलु रोगज्ञाने उपक्रमयुक्तिज्ञाने चापि विप्रतिपद्यन्ते।'—च० वि० ७।४। अर्थात् जो ज्ञान या विज्ञान सम्पूर्ण रूप से जानने योग्य विषयों वाला होता है—उसका सम्यक् रूपेण ज्ञान किसी एक अंश द्वारा नहीं हो पाता। यहाँ यह व्याधिविशेष के निदान-हेतु कहा गया है। रोग या व्याधि सम्पूर्ण रूप से जानने योग्य विषयों वाला होता है, जिसका विवेचन पञ्चनिदान व त्रिविध रोग विशेष विज्ञानीयवाद में किया जा चुका है। सम्पूर्ण ज्ञेय विषयों से युक्त रोग का ज्ञान एक अंश द्वारा नहीं होता है। इस अवस्था में चिकित्सक रोग के ज्ञान में धोखा तो खाता ही है, साथ-साथ युक्तियुक्त चिकित्सा में भी धोखा खा जाता है। फिर आचार्य उदाहरण के साथ समझाते हुए कहते हैं कि—'ते यदा गुरुव्याधितं लघुव्याधितरूपमासादयन्ति, तदा तमल्पदोषं मत्वा संशोधनकालेऽस्मै मृदुसंशोधनम् प्रयच्छन्तो भूय एवास्य दोषानुदीरयन्ति, यदा तु लघुव्याधितरूपमासादयन्ति, तदा तं महादोषं मत्वा संशोधनकालेऽस्मै तीक्ष्णं संशोधनं प्रयच्छन्तो दोषानतिनिर्हृत्य शरीरमस्य क्षिण्वन्ति।'—च० वि० ७।४। अर्थात् जब व्याधितरूपीय ज्ञान से अनभिज्ञ चिकित्सक या वैद्य किसी गम्भीर, गुरु व्याधि से पीड़ित आतुर को लघु-व्याधित समझ लेता है (रोगी के सत्त्व, बल व शरीर के प्रवर होने के कारण आतुर गुरु व्याधि की शिकायत भी लघु रूप में करता है तथा वैद्य अज्ञानवश उसे लघु व्याधि मान लेता है) तब इस स्थिति में वह चिकित्सक या वैद्य उस आतुर को अल्प दोष वाला व व्याधि को अल्प बलयुक्त मानकर उसे संशोधनार्थ (वमन, विरेचन, निरुह-अनुवासन बस्ति व नस्य कर्म हेतु) मृदु संशोधक द्रव्यों का प्रयोग करते हुए मृदु संशोधन कर्म करता है। इसके परिणामस्वरूप वह गुरु व्याधि वा बलयुक्त दोष शांत नहीं हो पाते, बल्कि मृदु औषधियों के प्रयोग करने से और भी कुपित होकर अन्य विकारों की भी उत्पत्ति कर देते हैं या उसी रोग की वृद्धि करते हैं। इसी प्रकार यदि वैद्य के पास लघु रोग से पीड़ित आतुर आता है, परन्तु वह सत्त्व, बल, शरीर की हीनता के

कारण अपने कष्ट का वर्णन बढ़ा-चढ़ाकर करता है, रोता है, चिल्लाता है तो वैद्य इस आतुर को गुरु व्याधि से ग्रसित समझ लेता है। इस स्थिति में वह आतुर व उसके रोग को अधिक बलयुक्त दोष वाला समझकर संशोधन करने के लिए तीक्ष्ण औषधियों का प्रयोग करता है तथा उस आतुर का संशोधन गुरुव्याधित समझकर प्रवर रूप में करता है। तीक्ष्ण औषधियों के प्रयोग व प्रवर संशोधन के कारण उसके शरीर से दोषों का अधिक रूप में निष्क्रमण हो जाता है, परिणामतः आतुर का शरीर क्षीणतर व क्षीणतम हो जाता है। अतः आचार्य चरक व्याधितरूपीयवाद की उपादेयता दर्शाते हुए कहते हैं कि—'एवमवयवेन ज्ञानस्य कृत्स्ने ज्ञेये ज्ञानमभिमन्यमानाः परिस्खलन्ति। विदितवेदितव्यास्तु भिषजः सर्वं सर्वथा यथासम्भवं परीक्ष्य परीक्ष्याध्यवस्यन्तो न क्वचिदपि विप्रतिपद्यन्ते; यथेष्टमर्थमभिनिर्वर्तयन्ति चेति'।

(च० वि० ७।४)

अर्थात् यदि कोई चिकित्सक या वैद्य सम्पूर्ण रूप से ज्ञेय विषयों वाले रोग का ज्ञान यदि एक अंश से प्राप्त करता है तो वह उस रोग के विनिश्चय अर्थात् निश्चयात्मक ज्ञान प्राप्त करने में धोखा खा जाता है; परिणामतः उस रोग की यथोचित रूप से चिकित्सा नहीं कर पाता है अथवा रोग-विनिश्चय करने में और चिकित्सा करने में संदेहयुक्त हो जाता है। जो चिकित्सक या वैद्य रोग का ज्ञान सम्पूर्ण विषयों सहित करता है (तथा रोगी की भी सत्त्वतः सारतः संहननतः आदि रूप में परीक्षा करता है), जितने भी विषय उस रोग से सम्बन्धित जानने योग्य होते हैं (जैसे—अनुमान, प्रत्यक्ष व आप्तोपदेश से ज्ञेय विषय)—उन सभी बातों को भलीभाँति जानता है वह चिकित्सक जानने योग्य विषयों की यथासम्भव सभी प्रकार की परीक्षा करने के बाद ही रोग का विनिश्चय करता है। वह चिकित्सक रोग-विनिश्चय में धोखा नहीं पाता तथा मनोनुकूल सफलता प्राप्त करता है।

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचनों से व्याधितरूपीयवाद की उपादेयता स्पष्ट हो जाती है। व्याधितरूपीयवाद की अवधारणा में प्रमुख आधार सत्त्व को बनाया गया है अर्थात् इस वाद का विवेचन मुख्य रूप से सत्त्व के आधार पर तथा सहायक रूप से बल व शरीर-संगठन के आधार पर किया गया है। प्रवर-मध्य व अवर भेद से तीन सत्त्वों का वर्णन किया गया है, जिसमें मध्य सत्त्व वाला व्यक्ति ही व्याधि को यथावत् रूप में प्रकट करता है तथा प्रवरसत्त्व वाला व्यक्ति लघु रूप में एवं अवर सत्त्व वाला व्यक्ति व्याधि को गुरु रूप में प्रकट करता है। इसी प्रकार जिस व्यक्ति में बल प्रवर होता है, उसमें व्याधिक्षमत्व उत्तम बलयुक्त होता है; अतः उसमें गुरु व्याधियों के लक्षण अपने पूर्ण रूप में प्रकट नहीं हो पाते हैं। जिन व्यक्तियों में बल हीन होता है उसमें अल्प बल वाली व्याधियाँ भी गंभीर लक्षणों के साथ प्रकट होती हैं। इसलिए आयुर्वेद में बल-प्रमाण जानने की विधियों का विस्तृत रूप से वर्णन किया गया है

तथा दशविध परीक्षा का उद्देश्य बलप्रमाण का ज्ञान कहा गया है। इसी प्रकार व्याधितरूपीयवाद में तीसरा आधार शरीर को माना गया है। उत्तम संहनन अर्थात् बनावट वाले शरीर में व्याधि बल का सम्यक् ज्ञान प्राप्त करना कठिन हो जाता है; क्योंकि उत्तम संगठन वाले शरीर में गुरु व्याधियों के लक्षण अपने बलानुसार प्रकट न होकर लघु रूप में प्रकट होते हैं। यदि एक उत्तम संहनन वाले व्यक्ति में तीव्र मांस-शोष होगा तो भी वह सम्यक् रूपेण प्रकट न होकर लघु रूप में दीखता है; परन्तु यदि एक कृशकाय व्यक्ति में अल्प रूप में भी होता है तो वह गुरु रूप में प्रकट होता है। आतुर को देखने से ऐसा ज्ञात होता है कि वह गुरु व्याधि से ग्रसित हैं। अतः चिकित्सक को आतुर के सत्त्व, बल व शरीर के अनुसार प्रथमतः यह निश्चय कर लेना चाहिए कि आतुर गुरुव्याधित है या लघुव्याधित।

इस प्रकार व्याधितरूपीयवाद सभी चिकित्सा-पद्धति के चिकित्सकों के लिए समान रूप से उपादेय है। चिकित्सकों को इसका सम्यक् ज्ञान प्राप्त कर चिकित्सा कर्म में लाभ उठाना चाहिए।

अध्याय—२१

त्रिविधरोगविशेषविज्ञानीयवाद

चरकसंहिता में रोगों की विशेष रूप से जानकारी प्राप्त करने के लिए तीन प्रकार के साधन बतलाये गये हैं, जिसे त्रिविधरोगविशेषविज्ञान कहा गया है। यहाँ त्रिविध अर्थात् तीन प्रकार के रोग-निदान के विशिष्ट ज्ञानोपाय होते हैं—

'त्रिविधं खलु रोगविशेषविज्ञानं भवति, तद्यथा—आप्तोपदेशः, प्रत्यक्षम्, अनुमानं चेति।'—रोग विशेष का ज्ञान तीन प्रकार से होता है—१. आप्तोपदेश, २. प्रत्यक्ष और ३. अनुमान।

यहाँ त्रिविध 'रोगविशेषविज्ञानम्' में 'विशेष' का तात्पर्य यह है कि अन्य उपायों से पृथक् ये तीन उपाय हैं। यथा—रोगज्ञान के पाँच उपायों का उल्लेख पञ्चनिदान सिद्धान्त के अन्तर्गत किया गया है—

'तस्माद्व्याधीन् भिषगनुपहतसत्त्वबुद्धिर्हेत्वादिभिर्भावैर्यथावदनुबुद्ध्येत्।'
(च० नि० १।१२)

निदानं पूर्वरूपाणि रूपाण्युपशयस्तथा।
सम्प्राप्तिश्चेति विज्ञानं रोगाणां पञ्चधास्मृतम्॥' (मा० नि० १)

इस प्रकार अन्य स्थान पर रोग के बारे में ज्ञान प्राप्त करने के निदान, पूर्वरूप, रूप, उपशय, सम्प्राप्ति ये पाँच उपाय कहे गये हैं तथा रोगी-परीक्षा हेतु त्रिविध परीक्षा—'दर्शनस्पर्शनप्रश्नैः परीक्षेताथ रोगिणम्' षड्विध परीक्षा—'पञ्चभिर्ज्ञानेन्द्रियैः परिप्रश्नेन च' अष्टविध परीक्षा 'रोगाक्रान्तशरीरस्य स्थानान्यष्टौ परीक्षेत्। नाड़ी-मूत्रं मलं जिह्वा शब्दस्पर्शं दृगाकृतिः।' और दशविध परीक्षा आदि उपाय का उल्लेख किया गया है। परन्तु यहाँ इन उपायों से पृथक् ज्ञान के तीन साधनों का वर्णन किया गया है। चूंकि 'विशेष' पृथक् करने वाला होता है—'विशेषस्तु पृथक्त्वकृत्'। इसलिए यहाँ त्रिविध रोगविशेष विज्ञान कहा गया है। यदि विशेष को रोग के साथ जोड़ा जाय तो रोगविशेष के ज्ञान हेतु तीन उपाय होते हैं। इस प्रसंग में इसका तात्पर्य यह है कि रोगों के बारे में सामान्य ज्ञान तो पञ्चनिदानादि द्वारा होते हैं परन्तु सभी रोगों के बारे में विशेष ज्ञान हेतु तीन प्रकार के ज्ञान-साधन होते हैं, जैसा कि आचार्य ने अपने अध्याय-वर्णन के उपसंहार में कहा है—

'सर्वरोगविशेषाणां त्रिविधं ज्ञानसंग्रहम्।
यथा चोपदिशन्त्याप्ताः प्रत्यक्षं गृह्यते यथा॥
ये यथा चानुमानेन ज्ञेयास्तांश्चाप्युदारधीः।
भावांस्त्रिरोगविज्ञाने विमाने मुनिरुक्तवान्॥ (च० वि० ४।१३-१४)

अर्थात् सभी रोगों के विशेष ज्ञान के लिए—आप्तोपदेश, प्रत्यक्ष व अनुमान—ज्ञानसंग्रह तीन प्रकार के हैं। जिस प्रकार आप्त पुरुष उपदेश करते हैं कि—प्रत्यक्ष के द्वारा यह ज्ञान होता है, जैसे—अनुमान के द्वारा ज्ञान होता है। इन सभी विषयों का उपदेश आचार्य आत्रेय ने विमानस्थान में किया है। इस प्रकार उपर्युक्त पंक्तियों के आधार पर शीर्षक का तात्पर्य यह हुआ कि—सभी रोगों के बारे विशेष जानकारी देने वाले तीन साधन हैं—आप्तोपदेश, प्रत्यक्ष तथा अनुमान।

इन 'तीन रोगविशेष विज्ञान' को आचार्य ने स्पष्ट किया है तथा पुन: कहा है कि—'त्रिविधे त्वस्मिन् ज्ञानसमुदये पूर्वमाप्तोपदेशाज्ज्ञानं, ततः प्रत्यक्षानुमानाभ्यां परीक्षोपपद्यते। किं ह्यनुपदिष्टं पूर्वं यत्तत् प्रत्यक्षानुमानाभ्यां परीक्षमाणो विद्यात्। तस्माद् द्विविधा परीक्षा ज्ञानवतां प्रत्यक्षम् अनुमानं च, त्रिविधा वा सहोपदेशेन।' च० वि० ४।५। अर्थात् इन तीन परीक्षाओं में आप्तोपदेश का सर्वप्रथम उल्लेख क्यों किया गया है? इसको स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि—इन तीन परीक्षाओं में सबसे पहले आप्तोपदेश से ज्ञान होता है। उसके बाद प्रत्यक्ष व अनुमान के द्वारा परीक्षा की जाती है और रोग के बारे में ज्ञान प्राप्त किया जाता है। यदि प्रथमत: किसी विषय के बारे में ज्ञान का उपदेश न किया जाय तो फिर परीक्षा किसकी की जायेगी? इसलिए जो ज्ञानसम्पन्न व्यक्ति हैं उनके लिए परीक्षा दो प्रकार की होती है—प्रत्यक्ष और अनुमान। अथवा आप्तोपदेश लेकर तीन परीक्षायें होती है। इस त्रिविध-रोगविशेष विज्ञानीय की चरकोपस्कार टीका में इस तथ्य को स्पष्ट किया गया है—'त्रिविधमिति–उपदेशस्य प्रागभिधानं प्रत्यक्षानुमानयो: प्रवृत्तिनिमित्ततया ज्यायस्त्वात्। न ह्यनुपदिष्टं किंचित् प्रत्यक्षानुमानाभ्यां अवबुध्यते। अनुमानात् प्राक् प्रत्यक्षम्। प्रत्यक्षपूर्वत्वादनुमानस्य'। अर्थात् इन तीनों में सर्वप्रथम आप्तोपदेश का उल्लेख किया गया है; क्योंकि प्रत्यक्ष व अनुमान-परीक्षा में प्रवृत्ति का आधार ज्ञान ही होता है। अनुमान से पहले प्रत्यक्ष द्वारा ज्ञान प्राप्त किया जाता है; क्योंकि अनुमान-परीक्षा हेतु पूर्व में उस विषय का प्रत्यक्ष होना आवश्यक होता है। त्रिविधरोगविशेषविज्ञानीय की व्याख्या आचार्य चक्रपाणिदत्त ने निम्न रूप में किया है—'रोगाणां विशेषो यथा वक्ष्यमाणो ज्ञायते येन तद् रोगविशेषविज्ञानमुपदेशप्रत्यक्षानुमानरूपं प्रमाणत्रयम्। अत्र तु युक्तेरनुमानान्तर्गतत्वादेव न पृथक्करणम्। एतच्च प्रमाणत्रयं क्वचित् रोगे मिलितं क्वचिद् द्वयम् क्वचिदेकम् परीक्षायां वर्तते। येन नान्तरे वह्निमान्द्यादौ प्रत्यक्षमवश्यं व्याप्रियते।' अर्थात् रोगों के बारे में विशेष ज्ञान प्राप्त करने हेतु यहाँ आप्तोपदेश, प्रत्यक्ष, अनुमान—इन तीन प्रमाणों का उल्लेख किया गया है। युक्ति का अन्तर्भाव अनुमान के अन्तर्गत हो जाता है; अतः युक्ति का उल्लेख यहाँ नहीं किया गया है। रोग-परीक्षा में कहीं एक प्रमाण, कहीं दो, कहीं तीन प्रमाण एक साथ उपयोग में लाये जाते हैं।

१ आप्तोपदेश—'तत्राप्तोपदेशो नाम आप्तवचनम् । आप्ता ह्यवितर्कस्मृतिविभाग-विदो निष्प्रीत्युपतापदर्शिनश्च । तेषामेवंगुणयोगाद्यद्वचनं तत् प्रमाणं । अप्रमाणं पुनर्मत्तोन्मत्तमूर्खरक्तदुष्टादुष्टवचनमिति ।'—च० वि० ४।४ ।

अर्थात् आप्त पुरुष के वचनों या उपदेश को आप्तोपदेश कहा जाता है । यहाँ आप्त पुरुषों का लक्षण बतलाते हुए आचार्य कहते हैं कि—आप्त पुरुष वे हैं जो—१. तर्करहित ज्ञान वाले हों अर्थात् उनका ज्ञान निश्चित हो, उसमें किसी प्रकार का तर्क नहीं किया जा सके । २. जो स्मरण-शक्ति से सम्पन्न हो । ३. जो विभागविद हों अर्थात् कार्य-अकार्य के विभाग को जानने वाले हों, ४. जो किसी भी प्राणी के प्रति अथवा किसी अन्य भाव के प्रति प्रीति व उपताप से रहित हों अर्थात् राग-द्वेष से रहित हों । इस प्रकार इन लक्षणों से युक्त जो पुरुष होते हैं, उन्हें आप्तपुरुष कहते हैं । इन गुणों से युक्त जो पुरुष होते हैं, उन्हीं के वचनों को प्रमाण माना जाता है । इसके विपरीत उन्मत्त व्यक्ति (मानसिक रूप से विकृत, पागल), मूर्ख व्यक्ति के वचनों को; चाहे व दुष्ट प्रकृति का व्यक्ति हो या अदुष्ट प्रकृति का उसके वचनों को प्रमाण नहीं माना जा सकता । उपर्युक्त पंक्तियों की टीका करते हुए उपस्कार टीकाकार कहते हैं—'आप्तानां वचनं आप्तवचनम् । आप्ता हि अवितर्कः यथा तथा स्मृतीनां शास्त्राणां विभागं विध्यर्थवादानुवादवचनरूपं विदन्ति, ये ते तथोक्ताः । शास्त्रतत्त्वे निःसंशयितज्ञानसम्पन्ना इत्यर्थः । निष्प्रीत्युपतापदर्शिनः—नस्तः प्रीत्युपतापौ यत्र तत् यथा तथा द्रष्टुं भूतानि शीलमेषां ते निष्प्रीत्युपतापदर्शिनः भूतेषु रागद्वेषशून्या एवंभूताः भवन्ति । एवं गुणयोगात् तेषां—आप्तानां यद्वचनं तत्प्रमाणम्' । इस प्रकार यो० ना० सेन के वचनों का भावार्थ भी वही है जो उपर्युक्त पंक्तियों में किया गया है । आचार्य चक्रपाणि दत्त ने अपनी आयुर्वेददीपिका टीका में कहा है कि जिस व्यक्ति का ज्ञान तर्करहित हो अर्थात्—जो निश्चित ज्ञान वाले विषयों का उपदेश करते हैं । जो स्मरण शक्ति-सम्पन्न स्थिति में हो, जो विभाग (एक देश) अर्थात् सम्बन्धित विषय के विशेषज्ञ हों । इसके विपरीत गुण वाले व्यक्तियों के वचनों को प्रमाण नहीं माना जा सकता । आचार्य ने अवितर्क, स्मृति, विभागादि की व्याख्या विस्तृत रूप से किया है । उनका वचन यथावत् रूप में विज्ञ पाठकों के सामने रखा जा रहा है—'अवितर्केत्यादि । वितर्कः कथन्ताऽनिश्चितज्ञान-मिति यावत् । स्मृतिः—स्मरणज्ञानं । विभागः—एकदेशः । एतद्विपर्ययान्निश्चयेनानु-भवेन च कार्त्स्न्येन च ये भावान् जानीते तेऽवितर्कस्मृतिविभागविदः, वितर्कवेदी तु नाप्तः प्रतिपाद्यवस्त्वविशेषविशेषाविज्ञानात् । स्मृतिज्ञानं च यद्यपि प्रमाणमूलमेव, तथापि वर्त्तमानलक्षणे स्मृतिज्ञानविषयार्थस्य नावश्यं विद्यमानतेति न तत् प्रमाणमिति-भावः । किं वा स्मृतिज्ञानं-स्मृतिशास्त्रजं ज्ञानं गणितज्ञानं च । एतच्च ज्ञानद्वयं साक्षादर्थदर्शकं दुखबोधेन मिथ्याज्ञानत्वसंभवात् अप्रमाणमपि इति नोपदेयम् । अथ

सम्यग्ज्ञानवन्तोऽपि रागादिवशादन्यथा व्याहरन्तीत्याह—निष्प्रीत्युपतापदर्शिनः इति। निष्प्रीत्यानिरुपतापेन च द्रष्टुं शीलं येषां ते तथा, एतेन यथार्थदर्शी निर्दोषश्चाप्तो भवतीति उक्तं भवति।'

च० सू० अ० ११ में आप्त के लक्षण के सम्बन्ध में कहा गया है कि—

'रजस्तमोभ्यां निर्मुक्तास्तपो ज्ञानबलेन ये।
येषां त्रिकालममलं ज्ञानमव्याहतं सदा॥
आप्ताः शिष्टा विबुद्धास्ते तेषां वाक्यमसंशयम्।
सत्यं वक्ष्यन्ति ते कस्मान्नीरजस्तमसो मृषा॥' (च० सू० ११।१८-१९)

जो व्यक्ति रज व तम से मुक्त हो, तप के बल से यथावत ज्ञान वाला हो तथा जिनके ज्ञान में किसी प्रकार का संशय न किया जा सके, जो सदैव सत्य बोलते हों अर्थात् जिनके वचन सदैव सत्य होते हैं, जिनका उपदेश निश्चयात्मक होता है, उन व्यक्तियों को आप्त कहा जाता है। शिष्ट, विबुद्ध—ये सब आप्त के लिए ही प्रयुक्त होता है। (विभिन्न प्रमाणों का विस्तृत वर्णन 'आयुर्वेद' के मूलभूत सिद्धान्त अर्थात् प्रस्तुत पुस्तक के प्रथम भाग में किया गया है, अतः विद्वान् पाठकगण से विवेदन है कि—प्रमाणों के विस्तृत विवरण हेतु पुस्तक के प्रथम भाग के तिस्रैषणीयवाद का अवलोकन करें। यहाँ प्रमाणों का वर्णन मात्र प्रसङ्गानुसार किया जायेगा)।

आप्तोपदेश द्वारा रोगपरीक्षा—आप्तोपदेश के द्वारा रोग के ज्ञेय अर्थात् जानकारी करने वाले निम्न भाव होते हैं—'रोगमेकैकमेवंप्रकोपणमेवंयोनिमेवमुत्थानमेवमात्मानमेमवधिष्ठानमेवंवेदनमेवंसंस्थानमेवं शब्दस्पर्शरूपरसगन्धमेवमुपद्रवमेवंवृद्धिस्थानक्षयसमन्वितमेवमुदर्कमेवंनामानमेवंयोगं विद्यात्; तस्मिन्नियं प्रतीकारार्था प्रवृत्तिरथवा निवृत्तिरित्युपदेशाज्जायते।'—च० वि० ४।६। अर्थात् (१) प्रत्येक रोग ऐसे प्रकोपण वाला है, एक-एक रोग का पृथक्-पृथक् रूप में ज्ञान २. प्रत्येक रोग की प्रकृति के बारे में ज्ञान अर्थात् रोग की प्रकृति क्या है? ३. प्रत्येक रोग का कारण ४. प्रत्येक रोग के स्वरूप का ज्ञान, ५. प्रत्येक रोग के स्थान का ज्ञान कि यह रोगविशेष ऐसे स्थान वाला है। ६. प्रत्येक रोग में होने वाले वेदना का ज्ञान अर्थात् इस रोगविशेष में किस प्रकार की वेदना होती है, ७. प्रत्येक रोग के लक्षण का ज्ञान। इसके पूर्व रोग के स्वरूप का ज्ञान कहा गया है। रोग के स्वरूप व लक्षण पृथक् होते हैं। यहाँ रोग के लक्षणों के ज्ञान का निर्देश दिया गया है। ८. प्रत्येक रोग में इस प्रकार का शब्द, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श आदि होता है; इसका ज्ञान आप्तोपदेश द्वारा करना चाहिए। अर्थात् किन-किन रोगों में किस-किस प्रकार का शब्द होता है। यथा हृदय रोगों के किस रोग में किस प्रकार की शब्दोत्पत्ति होती है। किस प्रकार की मर्मरादि ध्वनि किस रोगविशेष या अवस्थाविशेष में होती है। इसी प्रकार आन्त्रगत शब्द, वक्षगत शब्द (फुफ्फुसगत) कण्ठगत आदि अङ्गविशेष के विभिन्न रोगों में किस तरह के

शब्दविशेष की उत्पत्ति होती है, इसका ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। इसी प्रकार स्पर्श द्वारा ज्ञेय भावों का ज्ञान; यथा—खर, कठिन आदि स्पर्श किस रोग में होते हैं, अथवा किस रोग में किस प्रकार का स्पर्श होता है, इसका ज्ञान प्राप्त कर लेना चाहिए। इसी प्रकार रूप, रस, गन्धादि द्वारा रोग के परीक्ष्य भावों का ज्ञान आप्तोपदेश द्वारा करना चाहिए। ९. प्रत्येक रोग के उपद्रवों का ज्ञान, १०. प्रत्येक रोग में दोष-विशेष की वृद्धि, क्षय व स्थान का ज्ञान अर्थात् किस रोग-विशेष में किस दोष की वृद्धि, किस दोष का क्षय व कौन दोष स्वस्थानगत होता है—इसका ज्ञान; ११. प्रत्येक रोग के भविष्य का ज्ञान अर्थात् किस रोग-विशेष की अवस्था भविष्य में यानि आगे किस प्रकार की हो सकती है। यथा—किस रोग की विकृति आगे किस रूप में होती है, उसके किस प्रकार के उपद्रव हो सकते हैं, कितने दिनों बाद यह शान्त होता है अथवा कितने दिनों बाद दुःसाध्य या अनुपक्रम हो जाता है—आदि भावों का ज्ञान, १२. प्रत्येक रोग के नाम का ज्ञान, १३. प्रत्येक रोग के योग का ज्ञान, १४. इस रोग की चिकित्सा किस प्रकार की होगी—इसका ज्ञान, १५. प्रत्येक व्याधि में 'यह विकृति है'—इसका ज्ञान आदि आप्तोपदेश द्वारा प्राप्त किया जाता है।

इस प्रकार आचार्य ने आप्तोपदेश द्वारा ज्ञेय रोग के भावों को निर्देशित कर रोग से सम्बन्धित भावों को प्रकट किया है कि—सामान्यरूपेण रोग के बारे में पञ्च-निदानादि का ज्ञान प्राप्त किया जाता है; परन्तु जब किसी रोग के बारे में विशेष ज्ञान करना हो तो, आप्तोपदेश के द्वारा अर्थात् विभिन्न शास्त्रों व आप्त-सदृश पुरुषों से रोग के प्रकोपण, प्रकृति, कारण, स्वरूप, स्थान, वेदना, लक्षण, शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध, उपद्रव, वृद्धि-स्थान-क्षय, भविष्य, नाम, योग, चिकित्सा, विकृति आदि भावों का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए।

२. प्रत्यक्ष—प्रत्यक्षं तु खलु तद्यत् स्वयमिन्द्रियैर्मनसा चोपलभ्यते।

(च० वि० ४।५)

आत्मेन्द्रियमनोर्थानां सन्निकर्षात् प्रवर्तते।
व्यक्ता तदात्वे या बुद्धिः प्रत्यक्षं सा निरुच्यते॥

(च० सू० ११)

इन्द्रिय व विषयों के संयोग से प्राप्त ज्ञान को प्रत्यक्ष कहा जाता है। जब विषयों का इन्द्रिय से, इन्द्रिय का मन से व मन का आतमा से संयोग होता है तो इस संयोग के चलते, उस काल में अर्थात् संयोग होने के साथ ही, बुद्धि जो ज्ञान प्राप्त करती है; उसे प्रत्यक्ष कहा जाता है।

च० वि० ८ में प्रत्यक्ष के सम्बन्ध में कहा गया है कि—'अथ प्रत्यक्षं—प्रत्यक्षं नाम तद्यदात्मना चेन्द्रियैश्च स्वयमुपलभ्यते। तत्रात्मप्रत्यक्षाः सुखदुःखेच्छाद्वेषादयः; शब्दा-

दयस्त्विन्द्रियप्रत्यक्षाः'—अर्थात् जो आत्मा, मन और पञ्च इन्द्रियों से जाना जाता है, उसे प्रत्यक्ष कहते हैं। सुख-दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न आदि का मन से प्रत्यक्ष होता है। शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध का इन्द्रियों से प्रत्यक्ष होता है। यहाँ प्रत्यक्ष के दो प्रकारों का संकेत प्राप्त होता है। मानस प्रत्यक्ष व इन्द्रियादि द्वारा प्राप्त ज्ञान (प्रत्यक्ष)। हालाँकि बिना मन के संयोग के किसी प्रकार का प्रत्यक्ष नहीं होता है। इन्द्रियों द्वारा भी विषय-ग्रहण तभी सम्भव होता है, जब इन्द्रियों का मन के साथ संयोग होता है; परन्तु मन किसी भी विषय का ज्ञान दो प्रकार से करता है। एक इन्द्रिय-सापेक्ष अर्थात् इन्द्रियों का विषय से व मन का इन्द्रियों से जब संयोग होता है तब प्राप्त ज्ञान तथा दूसरा इन्द्रिय-निरपेक्ष अर्थात् मन कतिपय विषयों का ज्ञान बिना इन्द्रियों के संयोग के ही करता है। अतः मन द्वारा ज्ञान प्राप्त करने की क्रिया-विधि के अनुसार आचार्य चरक ने प्रत्यक्ष को दो स्वरूपों में स्पष्ट किया है—एक सुख-दुःख, इच्छा, द्वेषादि तथा दूसरा इन्द्रियों के माध्यम से प्राप्त शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्धादि का ज्ञान। प्रत्यक्ष सविकल्पक व निर्विकल्पक भेद से दो प्रकार का होता है। जिस प्रत्यक्ष में यह ज्ञान हो जाता है कि प्रत्यक्षीकृत् अमुक वस्तु है, उसे सविकल्पक प्रत्यक्ष कहते हैं तथा जिसमें यह मालूम नहीं हो पाता कि, यह क्या वस्तु है तो उसे निर्विकल्पक प्रत्यक्ष कहते हैं। सविकल्पक के पुनः दो भेद किये गये हैं—१. लौकिक व २. अलौकिक। १. लौकिक प्रत्यक्ष भी दो प्रकार का कहा गया है–१. बाह्येन्द्रिय द्वारा अर्थात् जब पञ्चेन्द्रियों द्वारा विषयोपलब्धि होती है तो उस प्रत्यक्ष को बाह्येन्द्रियजन्य लौकिक प्रत्यक्ष कहा जाता है तथा जब २. आभ्यन्तर प्रत्यक्ष होता है अर्थात् जब मन द्वारा इन्द्रिय-निरपेक्ष विषयों की उपलब्धि होती है तो उसे आभ्यन्तर प्रत्यक्ष या मानस प्रत्यक्ष कहते हैं। बाह्येन्द्रियों के आधार पर प्रत्यक्ष पाँच व एक मानस प्रत्यक्ष मिलाकर लौकिक प्रत्यक्ष छः माने गये हैं; जिसका उल्लेख च० वि० ८ के गद्यांश में किया गया है। अलौकिक प्रत्यक्ष १. सामान्यलक्षण-प्रत्यासत्ति (जिसमें जाति या विषय के सम्पूर्ण वर्ग का ग्रहण हो), २. ज्ञानलक्षण-प्रत्यासत्ति (जिसके द्वारा हमें विषय के गुणों का साक्षात् ज्ञान होता है, परन्तु उस विषय के गुणों से उसको ग्रहण करने वाली इन्द्रिय का संयोग नहीं होता है तथा ३. योगज प्रत्यक्ष—यह एक तरह का सामान्य प्रत्यक्ष है जो जनसामान्य को न होकर योगियों द्वारा किया जाता है। इसे अलौकिक प्रत्यक्ष इसलिए कहा जाता है कि—'न चास्य सूक्ष्मं व्यवहितविप्रकृष्टस्य वस्तुनो लोकप्रत्यक्षेण ग्रहणम्'। अर्थात् सूक्ष्म (परमाणु स्तर की वस्तुओं का) व्यवहित (दीवार, पर्वतादि से अवरोधित या आवरित वस्तुओं का) विप्रकृष्ट (देश, कालादि रूप में दूरस्थ वस्तु का) प्रत्यक्ष लोकप्रत्यक्ष (जनसामान्य द्वारा) द्वारा कदापि सम्भव नहीं है। अतः इस योगज प्रत्यक्ष को अलौकिक प्रत्यक्ष कहा गया है। इसके युक्त व युञ्जान दो भेद होते हैं। युक्त-योगज प्रत्यक्ष का सर्वदा भान होता रहता है तथा जब चिन्तनादि द्वारा प्रत्यक्ष होता है तो उसे युञ्जान प्रत्यक्ष कहते हैं।

प्रत्यक्ष द्वारा रोग के ज्ञेय विषय—'प्रत्यक्षतस्तु खलु रोगतत्त्वं बुभुत्सुः सर्वैरिन्द्रियैः सर्वानिन्द्रियार्थानातुरशरीरगतान् परीक्षेत्, अन्यत्र रसज्ञानात्'–च० वि० ४।७। अर्थात् सभी ज्ञानेन्द्रियों द्वारा उनके विषयानुसार शरीरगत भावों का ज्ञान प्रत्यक्ष द्वारा करना चाहिए; परन्तु रसनेन्द्रिय द्वारा ज्ञेय विषय का ज्ञान प्रत्यक्षतः न कर अनुमान द्वारा किया जाता है।

१. श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा शब्द-ज्ञान—आप्तोपदेश द्वारा प्राप्त रोगविशेष में उत्पन्न होने वाले शब्दज्ञान के आधार पर श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा विभिन्न शरीरगत भावों के शब्द का ज्ञान प्राप्त किया जाता है। यथा—'अन्त्रकूजनम्, सन्धिस्फुटनमङ्गुलीपर्वाणां च; स्वरविशेषांश्च, ये चान्येऽपि केचिच्छरीरोपगताः शब्दाः स्युस्ताञ्छ्रोत्रेण परीक्षेत्।' अर्थात् आन्त्रकूजन (आन्त्र में होने वाले शब्द—गुड़गुड़ाहट, पुरीषजन्य शब्द (Bowel Sound) आदि), सन्धि व अंगुली स्फुटन (कतिपय अवस्थाओं में चलने, बैठने, खड़े होने पर सन्धि में होने वाले शब्दादि), विभिन्न प्रकार के स्वर (स्वरभेद, कास में निकलने वाले फूटे कांस्यवत् स्वर, कर्कश स्वर, क्षाम स्वर आदि) का ज्ञान श्रोत्रेन्द्रिय प्रत्यक्ष द्वारा होता है। यहाँ यह नहीं समझना चाहिए कि मात्र उपर्युक्त भाव ही श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा ज्ञेय हैं, बल्कि 'ये चान्येऽपि केचिच्छरीरोपगता'। अर्थात् शरीरगत अङ्गविशेष या अन्य भावों की शब्द-परीक्षा भी श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा की जाती है। यथा हृदय के विभिन्न शब्द, फुफ्फुसगत शब्द, कण्ठगत स्वर (कपोत कूजनादि) आदि का ज्ञान भी श्रोत्रेन्द्रिय प्रत्यक्ष द्वारा होता है।

२. चक्षु द्वारा परीक्ष्य विषय—'वर्णसंस्थानप्रमाणच्छायाः शरीरप्रकृतिविकारौ चक्षुर्वैषयिकाणि यानि चान्यान्यनुक्तानि तानि चक्षुषा परीक्षेत्'—अर्थात् शरीरगत वर्ण (विभिन्न प्रकार के श्याव, अरुण, पाण्डु, पीत, नील आदि वर्ण); आकार (शरीराकृति, शरीराङ्गों की विभिन्न आकृति, अर्दित आदि रोगों में मुखाकृति आदि); प्रमाण (शरीर व शरीराङ्गों का प्रमाण, छाया, शरीर की स्वाभाविक अवस्था, शरीर की विकृत अवस्था आदि की परीक्षा चक्षुरीन्द्रिय से करनी चाहिए। इसके अतिरिक्त चक्षुरीन्द्रिय द्वारा ज्ञेय अन्य विषयों की भी परीक्षा की जाती है।

३. घ्राणेन्द्रिय द्वारा ज्ञेय विषय—'गन्धास्तु खलु सर्वशरीरगतानातुरस्य प्रकृतिवैकारिकान् घ्राणेन परीक्षेत्'—अर्थात् आतुर के सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त हुए स्वाभाविक या विकृत गन्धों की परीक्षा घ्राणेन्द्रिय द्वारा करनी चाहिए। यथा—आमगन्ध, लोहगंध आदि विभिन्न गंधों की परीक्षा रोगानुसार की जाती है।

४. स्पर्श द्वारा ज्ञेय विषय—'स्पर्शं च पाणिना प्रकृतिविकृतियुक्तम्'। अर्थात् शरीर व शरीराङ्गों की स्पर्श द्वारा परीक्षा करनी चाहिए। स्पर्श के द्वारा ही खरता, रूक्षता, मृदुता, कठिनता, उष्णता, शीततादि की परीक्षा की जाती है।

इस प्रकार रस को छोड़कर बाकी चार शब्द, स्पर्श, रूप व गंध का ज्ञान इन्द्रियों

की सहायता से किया जाता है। आतुर में रोगों के उत्पन्न लक्षणों की प्रत्यक्षतः परीक्षा इन इन्द्रियों के द्वारा ही सम्पन्न होती है।

३. अनुमान—'अनुमानं खलु तर्को युक्त्यपेक्ष।'—च० वि० ४।४ अर्थात् युक्ति की अपेक्षा रखने वाले तर्क को अनुमान कहा जाता है। पुनः कहा जाता है कि—

प्रत्यक्षपूर्वं त्रिविधं त्रिकालं चानुमीयते।
वह्निर्निगूढो धूमेन, मैथुनं गर्भदर्शनात्॥
एवं व्यवस्यन्त्यतीतं बीजात् फलमनागतम्।
दृष्ट्वा बीजात् फलं जातमिहैव सदृशं बुधाः॥ (च० सू० ११)

अर्थात् पूर्व में प्रत्यक्षीकृत् विषय के लिङ्ग को देखकर उससे सम्बन्धित लिङ्गी का जो दोषरहित ज्ञान प्राप्त किया जाता है, उसे अनुमान कहा जाता है। जैसे—धूम लिङ्ग को देखकर लिङ्गोत्पादक लिङ्गी का ज्ञान होता है, गर्भलिङ्ग को देखकर लिङ्गोत्पादक लिङ्गी—मैथुन का ज्ञान प्राप्त होता है, बीज को देखकर फलादि का ज्ञान प्राप्त किया जाता है। यह अनुमान तीनों काल में किया जाता है तथा तीन प्रकार का होता है। इसके तीन प्रकार—१. पूर्ववत्, २. शेषवत् व ३. सामान्यतोदृष्ट होते हैं। जब कारण के द्वारा कार्य का अनुमान किया जाता है तो उसे पूर्ववत् अनुमान कहते हैं। जैसे—बीजरूपी कारण को देखकर उसके द्वारा उत्पन्न होने वाले फल का अनुमान किया जाता है। जब किसी कार्य को देखकर उसके कारण का अनुमान किया जाता है तो उसे शेषवत् अनुमान कहा जाता है। जैसे—गर्भरूपी कार्य को देखा जाता है तो उस गर्भ के कारण मैथुन का ज्ञान प्राप्त होता है। तथा जब कार्य व कारण से भिन्न ज्ञान प्राप्त किया जाता है तो उसे सामान्यतोदृष्ट कहा जाता है। यथा—धूम को देखकर अग्नि का अनुमान। इसमें पूर्ववत् अनुमान (बीज को देखकर भविष्य में होने वाले फल का अनुमान) अनागत या भविष्य काल का ज्ञान (अनुमान) है। शेषवत् (गर्भ को देखकर पूर्व या अतीत में किये गये मैथुन का ज्ञान) अतीत या भूतकाल का अनुमान है तथा सामान्यतोदृष्ट (जब धूम है तो अग्नि है) वर्तमान काल का अनुमान है। इस प्रकार अनुमान तीन प्रकार का तथा तीनों काल का ज्ञान कराने वाला होता है।

अनु का अर्थ 'पश्चात्' होता है तथा मान का तात्पर्य 'ज्ञान करना' होता है। अतः तर्कसंग्रह में कहा गया है कि—'अनुमितिकरणमनुमानम्'—अर्थात् अनुमिति का साधकतम कारण अनुमान है। व्याप्ति सहित पक्षधर्मता का ज्ञान परामर्श है तथा परामर्शजनित ज्ञान को अनुमिति कहा जाता है। साहचर्य या साथ-साथ रहने के नियम को व्याप्ति कहा जाता है। इस साहचर्य रूप में पक्षधर्मता-ज्ञान के साधकतम कारण को अनुमान कहा जाता है—'परामर्शजन्यं ज्ञानमनुमितिः। व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मताज्ञानं परामर्शः। यथा वह्निव्याप्यधूमवानयं पर्वत इति ज्ञानम्। यत्र यत्र धूमस्तत्रतत्राग्निरिति साहचर्यनियमो व्याप्तिः। व्याप्यस्य पर्वतादिवृत्तित्वं पक्षधर्मता।'—तर्कसंग्रह।

अनुमान के पुनः दो भेद किये गये हैं—१. स्वार्थानुमान तथा २. परार्थानुमान। जब अपने समझने की दृष्टि से अनुमिति का हेतु होता है तो उसे स्वार्थानुमान कहते हैं। जैसे—एक व्यक्ति प्रतिदिन गृह के महानस में अग्नि के साथ-साथ धूमावलोकन करता है। जब कभी वह धूम देखता है तो समझ जाता है कि यहाँ अग्नि है। इस प्रकार जब स्वयं अनुमान किया जाता है तो उसे स्वार्थानुमान कहा जाता है तथा जब कोई व्यक्ति स्वानुमान कर दूसरे को पञ्चावयवों के द्वारा समझाता है तो उसे परार्थानुमान कहा जाता है। ये पाँच अवयव—१. प्रतिज्ञा, २. हेतु, ३. उदाहरण, ४. उपनय व ५. निगमन होते हैं। इनकी सहायता से दूसरे को समझाया जाता है। यथा—पर्वत पर आग है। यह प्रतिज्ञा कहा जाता है। वहाँ अग्नि इसलिए है, क्योंकि धूमोत्पत्ति हो रही है। इस प्रकार का कथन हेतु है। जहाँ-जहाँ धूम होता है वहाँ अग्नि होती है। इस प्रकार के कथन को उदाहरण कहते हैं। यहाँ भी वैसी ही स्थिति है। इसको उपनय कहा जाता है। इसलिए यहाँ अग्नि है—इसको निगमन कहते हैं। इस प्रकार स्वार्थानुमान स्वज्ञान हेतु व परार्थानुमान दूसरे व्यक्ति को विषय-ज्ञान कराने वाला होता है।

अनुमान द्वारा ज्ञेय विषय—इन्द्रियों द्वारा ग्राह्य विषय को प्रत्यक्ष कहा जाता है। परन्तु रसनेन्द्रिय द्वारा ग्राह्य विषय रस की परीक्षा प्रत्यक्षतः न कर अनुमान द्वारा की जाती है—'रसं तु खल्वातुरशरीरगतमिन्द्रियवैषयिकमप्यनुमानादवगच्छेत्, न ह्यस्य प्रत्यक्षेण ग्रहणमुपपद्यते'—अर्थात् आतुर के शरीर में उत्पन्न रसनेन्द्रिय के विषय—रस का ज्ञान अनुमान के द्वारा करना चाहिए, इसका ज्ञान प्रत्यक्षतः अर्थात् रसनेन्द्रिय के द्वारा नहीं किया जाता। अतः इसका ज्ञान विभिन्न प्रश्न व प्रयोगों के आधार पर किया जाता है। 'तस्मादातुरपरिप्रश्नेनैवातुरमुखरसं विद्यात्। यूकापसर्पणेन त्वस्य शरीरवैरस्यं, मक्षिकोपसर्पणेन शरीरमाधुर्यं, लोहितपित्तसंदेहे तु किं धारिलोहितं लोहितपित्तं वेति श्वकाकभक्षणाद्धारिलोहितमभक्षणाल्लोहितपित्तमित्यनुमातव्यम्, एवमन्यानप्यातुरशरीरगतान् रसाननुमिमीतः।'—च० वि० ४।७। अर्थात् आतुर से प्रश्न करना चाहिए कि मुख का स्वाद कैसा है? इस प्रकार आतुर द्वारा प्रश्न कर उसके मुख के रस का ज्ञान अनुमान द्वारा किया जाता है। यथा—मुखमाधुर्यं, कषायास्यता, तिक्तास्यता, अम्लास्यता आदि अथवा मुखवैरस्यादि का ज्ञान प्रश्न कर अनुमान द्वारा किया जाता है। जब यूकादि (जू, लीख) शरीर से अलग होने लगें तो यह अनुमान करना चाहिए कि शरीर का रस विकृत हो गया है। इसी प्रकार यदि किसी व्यक्ति के शरीर पर मक्खियाँ अधिक बैठने लगती हैं तो इसको देखकर यह अनुमान किया जाता है कि, उस व्यक्ति के शरीर का रस मधुर हो गया है। जब किसी व्यक्ति के शरीर से रक्त निर्गम होता है तो रक्त-पित्त का संदेह उत्पन्न होता है। तब इस ज्ञान की आवश्यकता होती है कि, शरीर से निर्गत होने वाला

रक्त निर्गम शुद्ध या रक्तपित्तजनित है ? इस स्थिति में प्रयोग के द्वारा अनुमान किया जाता है । इसके लिए निर्गत रक्त को अन्न के साथ मिलाकर कुत्ते या कौवा को खाने के लिए दिया जाता है । यदि कुत्ता या कौवा उस रक्तमिश्रित अन्न को खा लेता है तो यह अनुमान किया जाता है कि —शरीर से निकलने वाला रक्त शुद्ध है, परन्तु जब कुत्ता या कौवा उसे नहीं खाता है तो रक्तपित्त रोग का अनुमान किया जाता है । इसी प्रकार शरीरगत अन्य भावों की परीक्षा जो रसनेन्द्रिय द्वारा ज्ञेय है, उसकी परीक्षा अनुमान के द्वारा ही की जाती है । यथा —मधुमेह में मूत्र की रसनेन्द्रिय द्वारा प्रत्यक्ष रूप से परीक्षा न कर अनुमान द्वारा की जाती है । यदि किसी व्यक्तिविशेष के मूत्र में चीटियों का समूह दृष्टिगत होता है तो अनुमान किया जाता है कि इस व्यक्ति के मूत्र में मधुरता है ।

इसके अतिरिक्त आचार्य ने अनुमान द्वारा ज्ञेय विषयों का विस्तृत वर्णन किया है । 'इमे तु खल्वन्येऽप्येवमेव भूयोऽनुमानज्ञेया भवन्ति भावा:' । अर्थात् अन्य भावों की भी परीक्षा अनुमान द्वारा की जाती है । यथा (१) 'अग्निजरणशक्त्या परीक्षेत'— अर्थात् पाचन शक्ति से अग्नि का अनुमान किया जाता है । पाचन शक्ति का अनुमान दो प्रकार से किया जा सकता है । प्रथमत: स्वभावत: गुरु-लघु द्रव्य या द्रव्य की मात्रा के अनुसार तथा दूसरा जीर्ण कालानुसार । यदि जीर्णकाल तक (सायं-गृहित आहार का प्रात:काल तक एवं प्रात: गृहित आहार का सायंकाल तक) आहार नहीं पचता है तो मन्दाग्नि, यदि समय से पूर्व पच जाता है तो तीक्ष्णाग्नि, यदि यथाकाल पच जाता है तो समाग्नि अथवा विषमरूप में पाचन होता है तब विषमाग्नि का अनुमान किया जाता है । (२) 'बलं व्यायामशक्त्या'—शरीरगत बल का अनुमान उस व्यक्ति द्वारा किये जाने वाले व्यायाम के द्वारा किया जाता है । (३) श्रोत्रादीनि शब्दाद्यर्थग्रहणेन—विषयोपलब्धि के आधार पर इन्द्रियों का ज्ञान किया जाता है अर्थात् श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा शब्द ग्रहण सम्यक हो रहा है या असम्यक्, चक्षुरीन्द्रिय द्वारा रूप-ग्रहण किस प्रकार का हो रहा है, इसी प्रकार त्वगिन्द्रिय द्वारा स्पर्शज्ञान सम्यक्-रूपेण हो रहा है अथवा नहीं आदि । (४) 'मनोऽर्थाव्यभिचरणेन'—अर्थात् मन की स्थिति का अनुमान, उसके द्वारा ग्रहण किये जाने वाले विषयों—चिन्त्य; विचार्य आदि की उपलब्धि के आधार पर किया जाता है अथवा इन्द्रिययुक्त ज्ञान (प्रत्यक्षादि) के द्वारा किया जाता है । (५) 'विज्ञानं व्यवसायेन'—व्यवसाय के आधार पर विज्ञान का अनुमान किया जाता है । (६) 'रज: सङ्गेन मोहमविज्ञानेन'—रजो गुण का अनुमान सङ्ग के आधार पर तथा तम का अनुमान अविज्ञान के द्वारा किया जाता है । (७) 'क्रोधमभिद्रोहेण'—अभिद्रोह के द्वारा क्रोध का अनुमान किया जाता है अर्थात् यदि व्यक्ति अभिद्रोहित (द्वेष भाव रखता) है तो, इसका तात्पर्य यह है कि उसके अन्दर क्रोध की उत्पत्ति हुई है तथा जब उसके अन्दर अभिद्रोह भावना नहीं

है तो वह क्रोधमुक्त है। (८) 'शोकं दैन्येन' अर्थात् मनोदैन्य के द्वारा शोक का अनुमान किया जाता है। यदि किसी के अन्दर दैन्य भाव परिलक्षित होते हैं तो अनुमान किया जाता है कि वह व्यक्ति शोकयुक्त है। (९) 'हर्षमामोदेन'—आमोद-प्रमोद के द्वारा हर्ष का अनुमान किया जाता है। यदि कोई व्यक्ति विभिन्न प्रकार के आमोद-प्रमोद में संलग्न रहता है अथवा जब आमोद-प्रमोद करता है तो इसके द्वारा अनुमान लगाया जाता है कि व्यक्ति हर्षित है। (१०) 'प्रीतिं तोषेण'—तुष्टि या सन्तोष से प्रीति का अनुमान किया जाता है। चरकसंहिता के हिन्दी व्याख्याकार डा० शास्त्री व डा० चतुर्वेदी ने 'तोषेण' का अर्थ सन्तोष लगाया है। तोषेण यहाँ तुष्टि अर्थ का द्योतक है तथा 'सन्तोषं परमं सुखम्' का कारण है। तुष्टि द्वारा ही प्रीति का अनुमान किया जा सकता है। (११) 'भयं विषादेन'—विषाद के द्वारा भय का अनुमान किया जाता है। (१२) 'धैर्यं अविषादेन'—अविषाद के द्वारा धैर्य का अनुमान किया जाता है अर्थात् जो व्यक्ति विषादमुक्त होते हैं तो उन्हें देखकर यह अनुमान लगाया जाता है कि वह व्यक्ति धैर्ययुक्त है। (१३) 'वीर्यमुत्थानेन'—कतिपय विद्वान् इस पद का पाठ 'वीर्यमुत्साहेन' करते हैं अर्थात् उत्साह के द्वारा किसी व्यक्ति के वीर्य का अनुमान किया जाता है। आचार्य चक्रपाजिदत्त 'वीर्यमुत्था-नेन' पाठ को स्वीकार करते हुए इसकी व्याख्या में कहते हैं कि—'वीर्यमारब्धदुष्कर-कार्येष्वपि प्रवृत्तिर्मनसः, उत्थानेनेति क्रियारम्भेण'—अर्थात् किसी दुष्कर कार्य को करने पर अथवा जब किसी दुष्कर कार्य को करने के लिए मानसिक प्रवृत्ति होती है तथा मनुष्य उस कार्य हेतु क्रियारम्भ करता है, तो इस प्रक्रिया को देखकर उस व्यक्ति के वीर्य का अनुमान किया जाता है। (१४) 'अवस्थानमविभ्रमेण'—किसी प्रकार का भ्रम न होने से मन की स्थिरता का या स्थिर मन का अनुमान किया जाता है। यदि किसी व्यक्ति का मन भ्रमयुक्त है तो यह अनुमान किया जाता है कि उसका मन स्थिर नहीं है, परन्तु जब व्यक्ति किसी प्रकार के भ्रम से मुक्त रहता है तो यह अनुमान लगाया जाता है कि वह व्यक्ति स्थिर मन वाला है। (१५) 'श्रद्धामभि-प्रायेण'—किसी वस्तु की इच्छा के ज्ञान के द्वारा श्रद्धा का अनुमान किया जाता है कि अमुक व्यक्ति की श्रद्धा किस प्रकार की है। (१६) 'मेधां ग्रहणेन'—विषय-ग्रहण के आधार पर मेधा का अनुमान किया जाता है। यथा—एक कक्षा में शिक्षक जब पढ़ाता है तो उस कक्षा में बहुत विद्यार्थी रहते हैं, परन्तु शिक्षक द्वारा पढ़ाये गये विषय का ग्रहण सभी विद्यार्थी समानरूप से नहीं करते। जो विद्यार्थी विषय-ग्रहण कर लेते हैं, उनमें यह अनुमान किया जाता है कि वह विद्यार्थी मेधावी है। (१७) 'संज्ञानामग्रहणेन'—नाम-ग्रहण से संज्ञा का अनुमान किया जाता है। (१८) 'स्मृतिं स्मरणेन'—स्मरणशक्ति के आधार पर स्मृति का अनुमान किया जाता है। (१९) ह्रियमपत्रपणेन'—लज्जा करने से लज्जा का अनुमान किया जाता है। (२०) 'शील-

मनुशीलनेन'—लगातार अनुशीलनता के द्वारा शील का अनुमान, किया जाता है अर्थात् कोई व्यक्ति जिस भाव का लगातार अनुशीलन यानि आचरण करता है, उस अनुशीलन या आचरण के आधार पर उसके शील के बारे में अनुमान किया जाता है। (२१) 'द्वेषं प्रतिषेधेन'—प्रतिषेधात्मक प्रवृत्ति के द्वारा (किसी वस्तु या भाव-विशेष के लिए प्रतिषेध अर्थात् मना करने के द्वारा) द्वेष का अनुमान किया जाता है। जब कोई व्यक्ति किसी वस्तुविशेष, आहारविशेष या अन्य भावविशेष का प्रति-षेध करता है तो यह अनुमान लगाया जाता है कि उस व्यक्ति को अमुक वस्तु या अमुक आहार या अमुक भावविशेष से द्वेष है। (२२) 'उपधिमनुबन्धेन'—परिणाम के द्वारा कपट या छल का अनुमान किया जाता है। आचार्य चक्रपाणिदत्त ने इसकी व्याख्या में स्पष्ट किया है—'उपेत्य धीयत इति उपधिः छद्मेत्यर्थः अनुबन्धेनेत्युत्तर-कालं हि भ्रात्रादिबधेन फलेन ज्ञायते'—अर्थात् उपेत्य धीयत से उपधि शब्द बनता है, जिसका अर्थ छद्म या कपट होता है। अनुबन्धेन का अर्थ लगाते हुए उन्होंने कहा है कि छद्म द्वारा उत्तर काल में भ्राता आदि का वध किया जाता है, यही उसका फल (Result) होता है। अतः परिणाम या फल के आधार पर ही कपट का अनुमान लगाया जाता है। जब तक कपट या छद्म का परिणाम ज्ञात नहीं होता है तबतक छद्म के बारे में अनुमान नहीं लगाया जा सकता। (२३) 'धृतिमलौल्येन'—लोभ के अभाव द्वारा धृति का अनुमान किया जाता है। यदि व्यक्ति धृतियुक्त होता है तो उसके अन्दर लोभोत्पत्ति नहीं होती। (२४) 'वश्यतां विधेयतया'—आज्ञा मानने से वश्यता का अनुमान किया जाता है। (२५) 'वयोभक्तिसात्म्यव्याधिसमुत्थानानि कालदेशोपशयवेदनाविशेषेण'—अर्थात् काल, देश, उपशय, वेदनादि के द्वारा वय, भक्ति, सात्म्य, रोग और रोग के कारण का अनुमान किया जाता है। यहाँ 'विशेषेण' का अर्थ पृथक्-पृथक् समझना चाहिए; क्योंकि 'विशेषस्तु पृथक्त्वकृत्' कहा गया है। यहाँ पृथक्-पृथक् का तात्पर्य यह है कि काल के द्वारा वय का, देश के द्वारा भक्ति का, उपशय के द्वारा सात्म्य का, वेदना के द्वारा रोग का अनुमान करना चाहिए। (२६) 'गूढ़लिङ्गंव्याधिमुपशययानुपशयाभ्याम्'—अर्थात् उपशय व अनुपशय के द्वारा गूढ़ लक्षण वाले व्याधि का अनुमान किया जाता है। जब किसी व्याधिविशेष में इस प्रकार के लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं कि उस रोग का निदान करना कठिन हो जाता है, ऐसी स्थिति में उपशय व अनुपशय के द्वारा उस व्याधि के बारे में अनुमान करना चाहिए। उपशय से व्याधि शान्त हो जाती है तथा अनुपशय से व्याधि के लक्षणों या व्याधि में वृद्धि हो जाती है। (२७) 'दोषप्रमाणविशेषमपचारविशेषेण'—अपचार के आधार पर दोषों की अंशांश मात्रा का अनुमान करना चाहिए। (२८) 'आयुषः क्षयमरिष्टैः'—अर्थात् अरिष्ट के द्वारा आयुक्षय का अनुमान करना चाहिए। निश्चित-रूप से मृत्युकारक लक्षणों को अरिष्ट कहा जाता है। किसी व्यक्ति की आयु कितनी

है अथवा आयु का पूर्ण क्षय (मृत्यु) कब होगा—इसका अनुमान अरिष्ट के द्वारा किया जाता है। (२९) 'उपस्थितश्रेयस्त्वं कल्याणाभिनिवेशेन'—अर्थात् कल्याणकारी मार्ग पर चलने से कल्याणयुक्त होने का अनुमान किया जाता है। जब कोई व्यक्ति कल्याणकारी मार्ग का अनुसरण करता है या चलता है, तो इसके द्वारा यह अनुमान किया जाता है कि परिणामतः यह व्यक्ति कल्याणयुक्त होगा अर्थात् उसे अच्छे सुखदायक फल की प्राप्ति होगी। (३०) 'अमलं सत्त्वमविकारेण'—किसी प्रकार के विकार नहीं होने से अर्थात् अविकार के द्वारा यह अनुमान किया जाता है कि व्यक्ति-विशेष का मन मलरहित है।

इसके अतिरिक्त आचार्य ने कहा है कि—'ग्रहण्यास्तु मृदुदारुजत्वं स्वप्नदर्शनमभिप्रायं द्विष्टेष्टसुखदुःखानि चातुरपरिप्रश्नेनैव विद्यादिति'—ग्रहणी की मृदुता या कठिनता, स्वप्न देखना, किसी वस्तुविशेष में इच्छा रखना, किसी वस्तु से द्वेष करना तथा सुख व दुःखानुभूति आदि का अनुमान आतुर से किये गये प्रश्न के उत्तर के आधार पर करना चाहिए। अर्थात् उपर्युक्त भावों के सम्बन्ध में आतुर से प्रश्न करना चाहिए। आतुर इससे सम्बन्धित जो उत्तर देता है, उस उत्तर के आधार पर अनुमान द्वारा ज्ञेय विषयों का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए।

त्रिविधरोगविशेषविज्ञानीयवाद की उपादेयता

त्रिविधरोगविशेषविज्ञानीयवाद की उपादेयता व आवश्यकता पर प्रकाश डालते हुए चरकसंहिता में कहा गया है कि—'त्रिविधेन खल्वनेन ज्ञानसमुदायेन पूर्वं परीक्ष्य रोगं सर्वथा सर्वमथोत्तरकालमध्यवसानमदोषं भवति, न हि ज्ञानावयवेन कृत्स्ने ज्ञेये ज्ञानमुत्पद्यते।'—च० वि० ४।५।

अर्थात् यदि इन तीन प्रकार के (आप्तोपदेश, प्रत्यक्ष, अनुमान) रोग-ज्ञान कराने वाले उपायों की सहायता से सावधानीपूर्वक सर्वप्रथम रोगों की सभी तरह से (प्रत्येक दृष्टिकोण से) परीक्षा कर निश्चय कर लिया जाता है तो भविष्य में चिकित्सा करते समय चिकित्सक कभी भी असफल नहीं होता, बल्कि सदैव सफल होता है। इन प्रमाणों के द्वारा प्राप्त रोग-ज्ञान सदैव सत्य होता है। परीक्षा करने की बतायी हुई इन तीन विधियों में से यदि किसी एक विधि से परीक्षा की जाती है तथा परीक्ष्य विषय तीनों परीक्षाओं से ज्ञेय होता है तो इस स्थिति में रोग-ज्ञान यथोचित रूप से नहीं हो पाता; क्योंकि ज्ञान के अंश या अवयव-ज्ञान से सम्पूर्ण ज्ञेय ज्ञान प्राप्त नहीं होता है।

यहाँ आचार्य ने रोग-ज्ञान के विशेष उपाय या रोग के बारे में विशेष ज्ञान के तीन उपाय बतलाये हैं। इन तीनों को प्रमाण या परीक्षा विधि कहा गया है। प्रमा अथार्थ ज्ञान को कहा जाता है तथा जिसके द्वारा यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति होती है, उसे

प्रमाण कहा जाता है। चरकसंहिता में इसे परीक्षाविधि कहा गया है। आचार्य गंगाधर ने 'परीक्ष्यते यया बुद्धया सा परीक्षा' तथा आचार्य चक्रपाणिदत्त ने 'परीक्ष्यते व्यवस्थाप्यते वस्तुस्वरूपमनयेति परीक्षा' के द्वारा परीक्षा को परिभाषित किया है, जिसका तात्पर्य यह है कि किसी वस्तु की बुद्धि की सहायता से यथावत् स्वरूप-निर्णय प्रक्रिया को परीक्षा कहते हैं। वात्सायन ने 'प्रमाणैरर्थावधारणं परीक्षा' कहा है। अर्थात् विभिन्न प्रमाणों के द्वारा किसी विषय की अवधारणा या निर्धारण किया जाता है तो उसे परीक्षा कहा जाता है। इस प्रकार प्रमाण व परीक्षा समानार्थक हैं। आयुर्वेद में कहा गया है कि—'रोगमादौ परीक्षेत' अर्थात् प्रथमतः रोग-परीक्षा करनी चाहिए फिर उसकी चिकित्सा व्यवस्था तदनुसार करनी चाहिए। रोगपरीक्षा हेतु पञ्चनिदानादि की ही सहायता ली जाती है, परन्तु उन पंचनिदानादि द्वारा यथावत् या सत्य ज्ञान प्राप्त करने की ये तीन विधियाँ हैं। बिना इन तीनों की सहायता लिए रोग-ज्ञान सम्भव नहीं हैं। दर्शन, स्पर्शन, प्रश्नादि त्रिविध, षडविध आदि रोगी-परीक्षा का लक्ष्य भी रोग-परीक्षा ही है। रोगी परीक्षा के आधार पर ही रोग-ज्ञान होता है, परन्तु यहाँ आप्तोपदेश, प्रत्यक्ष व अनुमान—ये तीनों परीक्षा की विधियाँ हैं। इन विधियों की सहायता से ही रोग का यथावत् ज्ञान होता है। यहाँ आचार्य ने 'त्रिविधविशेषविज्ञानीय' में इन विधियों के साथ विज्ञान शब्द जोड़ा है; क्योंकि सत्य सदा विज्ञानात्मक होता है अर्थात् विज्ञान सत्य का स्वरूप होता है। प्रमाण, यथार्थ या सत्य का ज्ञान कराने वाले होते हैं। अतः यहाँ तीन प्रकार की परीक्षा-विधियों के साथ विज्ञान को सम्बन्धित किया गया है। इस प्रकार इस वाद की उपादेयता स्वतः स्पष्ट हो जाती है कि—रोगों के बारे में यथार्थ या सत्य-ज्ञान इन तीन परीक्षा विधियों द्वारा ही सम्भव है। यहाँ सत्य-ज्ञान या यथार्थ-ज्ञान का तात्पर्य है कि जिस रोग में जैसा है, उसी प्रकार या रूप में ज्ञान का होना; जो बिना प्रमाणों की सहायता के सम्भव नहीं है। तत्त्वचिन्तामणि में इस तथ्य को स्पष्ट कर दिया गया है—'यत्र यदस्ति तत्र तस्यानुभवः प्रमा, तद्वत् तत्प्रकाराकानुभवो वा'।

इन त्रिविध प्रमाणों द्वारा रोग के बारे में यथावत् ज्ञान की आवश्यकता व इसके द्वारा रोग-ज्ञान की उपादेयता पर चरकसंहिता में अति वैज्ञानिक ढंग से प्रकाश डाला गया है—

आप्ततश्चोपदेशेन प्रत्यक्षकरणेन च ।
अनुमानेन च व्याधीन् सम्यग्विद्याद्विचक्षणः ॥
सर्वथा सर्वमालोच्य यथासंभवमर्थवित् ।
अथाध्यवस्येत्तत्त्वे च कार्ये च तदनन्तरम् ॥
कार्यतत्त्वविशेषज्ञः प्रतिपत्तौ न मुह्यति ।
अमूढः फलमाप्नोति यदमोहनिमित्तजम् ॥

ज्ञानबुद्धिप्रदीपेन यो नाविशति तत्त्ववित्।
आतुरस्यान्तरात्मानं न स रोगांश्चिकित्सति ॥

(च० वि० ४। ९-१२)

अर्थात् विद्वान् चिकित्सकों को आप्तोपदेश, प्रत्यक्ष, अनुमान—इन तीनों के द्वारा रोगी की परीक्षा यथोचित रूप से करनी चाहिए। यहाँ यथोचित का तात्पर्य क्रमिक रूप से ग्रहण करना चाहिए; क्योंकि क्रमिक रूप से ज्ञान प्राप्त करना ही वैज्ञानिक पद्धति है। (अधुना क्रमिक ज्ञान को ही विज्ञान कहा जाता है। यहाँ आचार्य ने इनके साथ विज्ञान शब्द का भी प्रयोग किया है। इन तीनों के द्वारा परीक्षा करने की पद्धति पर पूर्व में भी प्रकाश डाला जा चुका है। यथा—प्रथमतः आप्तोपदेश के द्वारा रोग के बारे में हर प्रकार से ज्ञान प्राप्त किया जाता है। पुनः उस प्राप्त ज्ञान के आधार पर आतुर में प्रत्यक्ष करने योग्य विषयों का प्रत्यक्षीकरण किया जाता है। पुनः प्रश्न व आतुर की शिकायत व अन्य ज्ञेय भावों के बारे में अनुमान किया जाता है या आप्तोपदेश के आधार पर प्रत्यक्षीकृत विषयों का अनुमान के द्वारा विनिश्चय किया जाता है। इस प्रकार रोग-परीक्षा क्रमानुसार की जाती है। इसी यथोचित रूप से परीक्षा हेतु 'सम्यग्विद्याद्विचक्षणः' कहा गया है।) इसके बाद पुनः आचार्य चरक कहते हैं कि—विषय (अर्थ) को ठीक समझने वाले विद्वान् वैद्य को सभी प्रकार से यथासंभव विचार कर रोग-विनिश्चय करना चाहिए। रोग-विनिश्चय करने के उपरान्त चिकित्सा करने के लिए अपनी बुद्धि में निश्चय करना चाहिए। कार्य के तत्त्व को विभागशः (पृथक् २ रूप में) जानने वाला पुरुष किसी विषय को निश्चित करने में कभी असफल नहीं होता तथा वह मोहरहित पुरुष मोह से उत्पन्न होने वाले फल को प्राप्त नहीं करता है। जो विद्वान् तत्त्व को जानने वाला होता है वह ज्ञान और बुद्धिरूपी दीपक को लेकर अपने कार्यक्षेत्र में या रोगी की आत्मा में प्रवेश नहीं करता, वह चिकित्सा में भी सफल नहीं होता है।

इस प्रकार आचार्य ने यहाँ इन त्रिविध प्रमाणों को रोग-ज्ञान हेतु उपादेय ही नहीं; बल्कि अत्यावश्यक भी कहा है तथा जो व्यक्ति कार्य-तत्त्व-विशेषज्ञ (यहाँ कार्य-तत्त्व-विशेषज्ञ का तात्पर्य रोग व उसके यथावत् स्वरूप के तत्त्व का विशेष रूप से ज्ञान रखने वाले से है, क्योंकि यहाँ प्रसंगानुसार कार्य का अर्थ रोग (कार्यरूप होने से) ग्रहण किया जा सकता है) होना चाहते हैं, उनके लिए सर्वोत्तम पद्धति 'त्रिविध-रोगविशेषविज्ञानीयवाद' ही है।

इस 'त्रिविधरोगविशेषविज्ञानीयवाद' की उपादेयता रोग के निदानात्मक व चिकित्सात्मक परिप्रेक्ष्य में तो देखी जा चुकी है। अब इसके उपादेयतापरक विशेषज्ञता व अनुसंधान के परिप्रेक्ष्य में विचार किया जायेगा, क्योंकि कार्यतत्त्व-विशेषज्ञ व सर्वरोगविशेषाणां के द्वारा चरकसंहिता में इसकी अनुसंधानात्मक उपादेयता का संकेत दिया गया है। यहाँ अनुसंधान की व्याख्या न कर मूल विषय (इनकी उपा-

देयता पर ही) विचार किया जायेगा। वैसे तो अनुसंधान में चतुर्विध प्रमाणों की उपादेयता होती है, परन्तु रोगविज्ञान के क्षेत्र में त्रिविध प्रमाण अति उपादेय हैं। आयुर्वेद में अनुसंधान पद्धति (Methodology) इन्हीं पर आधारित है। जब मनुष्य के अन्दर किसी विषय के ज्ञान की जिज्ञासा होती है तब वह यथार्थज्ञान हेतु प्रवृत्त होता है। इस प्रकार जिज्ञासावश प्रवृत्ति प्राप्त व्यक्ति को ही प्रमाता कहा जाता है—'तत्र यस्येप्सा जिज्ञासा प्रयुक्तस्य प्रवृत्तिः स प्रमाता।'—वात्स्यायन। प्रमाता को वात्स्यायन की इस परिभाषा के आधार पर अनुसन्धानकर्त्ता या अन्वेषक कहा जा सकता है। तथा इस प्रमाता के यथार्थज्ञान के साधन प्रमाण ही होते हैं—'येनार्थं प्रमिणोति तत्प्रमाणम्'–वात्स्यायन। यहाँ अनुसंधान की पद्धति के रूप में इन प्रमाणों की उपादेयता निम्न रूप से दर्शायी जा सकती है।

१. आप्तोपदेश—इसकी उपादेयता साहित्य व ज्ञान के स्रोत के रूप में है, जो कि अनुसंधान का प्रथम व आवश्यक आधार है। अनुसंधान का आधार Source of litrature or source of knowledge होता है जो कि—On essential and primary bases for research होता है। आयुर्वेद में यह भी संकेत दिया गया है कि आप्तोपदेश द्वारा अनुसंधान हेतु रोग से सम्बन्धित किन-किन भावों का साहित्य से संग्रह करना चाहिए—(Collection of facts related to disease from various litratures) यथा—प्रकोपण, प्रकृति (Nature of disease) कारण (Etiological factor) स्थान (Site) वेदना (Type of pain) लक्षण (Signs & Symptoms) उपद्रव (Complications) प्रत्यक्षतः ज्ञेयभाव (Perceptablefactors) आदि। अन्य भावों का विस्तृत विवेचन इस अध्याय में किया जा चुका है।

२. प्रत्यक्ष—अब रोग की स्थिति का आतुर में सीधे रूप से परीक्षण प्रत्यक्षतः किया जाता है (Direct observation of signs in patient), इसके लिए शब्द-परीक्षा (Examination of different sounds originited in body or in a particular system or in particular organ by auditory perception appratus including the instrumental auditory appliancas) घ्राणज प्रत्यक्ष (Olfactory perception) त्वाची प्रत्यक्ष (Tactile perception) चाक्षुष प्रत्यक्ष (Visual perception) को आधार बनाया जाता है। उपर्युक्त चारों प्रकार के प्रत्यक्ष परीक्षा द्वारा आतुर के भौतिक-शारीरिक तथा आंगिक स्थिति का ज्ञान प्राप्त होता है (Physical changes and conditiou of body, organ, etc and signe present in patient may be examined with help of above four types of perceptions. The biophysical test or bio-physical observation & may be done with these above mentiened four perceptions)।

रसनाप्रत्यक्ष (Gustatong Perception) को आचार्य ने प्रत्यक्ष होते हुए भी अनुमान द्वारा ज्ञेय कहा है, क्योंकि आतुर के शरीर, मुख, मूत्रादि का रसनेन्द्रिय द्वारा परीक्षा करना संभव नहीं है। आचार्य द्वारा रस की परीक्षा प्रयोगों के आधार पर कहा गया है। अत: रसनेन्द्रिय परीक्षा के द्वारा ज्ञेय विषयों की परीक्षा विभिन्न रासायनिक या जैवरासायनिक प्रयोगों के आधार पर करनी चाहिए। (Clienical lab-innestigation and bio- chemical lab-investigations may be aeecp-ted as (रसनेन्द्रिय परीक्षा) Rashanendriya pariksha or Gustatory perception)।

३. अनुमान (Inference)—आतुर की शिकायतों को किये गये प्रश्नों, पूर्व में प्रत्यक्षीकृत विषयों, रसनेन्द्रिय के ज्ञेय विषयों (प्रयोगशाला द्वारा किये गये परीक्षणों) आदि के आधार पर अनुमान किया जाता है। अनुमान हेतु प्रत्यक्ष आवश्यक होता है। विभिन्न प्रत्यक्षीकृत विषयों के आधार पर अनुमान द्वारा रोग-विनिश्चय किया जाता है। प्रत्यक्षीकरण प्रक्रिया में लिङ्गोपलब्धि ही विशेष होती है। उस लिङ्ग की पुष्टि व लिङ्ग के साथ उत्पन्न अन्य भावों का ज्ञान प्रत्यक्ष द्वारा होता है। (Bio-physical obserbation and Bio-chemical investigation confirms the related and orginated signs in patient which conncet inferrela-tion between signst Symptoms alongwith its eliological factors) प्रत्यक्ष ज्ञान के आधार पर ही रोग के कारण, दोषादि की स्थिति का अनुमान किया जाता है। इसके अतिरिक्त मानस रोगों की परीक्षा का आधार मुख्यत: अनुमान ही होता है।

इस प्रकार त्रिविधरोगविशेषविज्ञानीयवाद की उपादेयता रोग-विनिश्चय कर चिकित्सा हेतु, रोग की विशेषज्ञता हेतु व रोगानुसंधान हेतु समान रूप से है।

अध्याय—२२

जनपदोद्ध्वंसनीयवाद

जनपदोद्ध्वंसनीयवाद आयुर्वेद की विशिष्ट अवधारणा है। जनपदोद्ध्वंस का अर्थ होता है कि जनपद का विनाश। जब एक ही प्रकार की व्याधि से सम्पूर्ण जनपद की विनाश-प्रक्रिया प्रारम्भ हो जाती है तो इस विनाश-प्रक्रिया को जनपदोध्वंस कहा जाता है। इस अवधारणा का उल्लेख चरकसंहिता के विमान स्थान में किया गया है। प्रथमतः इस अवधारणा का उद्घाटन कहाँ हुआ—इसके सन्दर्भ में भी वर्णन किया गया है। पाञ्चाल क्षेत्र के (कतिपय विद्वान् पाञ्चाल क्षेत्र को पंजाब प्रान्त मानते हैं) जनपद मण्डल की श्रेष्ठ, द्विजाति वर्गों से सुशोभित, काम्पिल्य नामक राजधानी में आषाढ़ माह में गङ्गा नदी के तट पर जंगलों में घूमते शिष्य समुदाय से घिरे हुए भगवान् पुनर्वसु ने अपने शिष्य अग्निवेश को सम्बोधित करते हुए जनपदोद्ध्वंसवाद की घोषणा की। आचार्य चक्रपाणिदत्त जनपदोद्ध्वंस को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि—'बहुजनसाधारणं वातजलदेशकालरूपं साधारण-रोगकारणमभिधातुं जनपदोद्ध्वंसनीयोऽभिधीयते'। अर्थात् बहुजन (जनसामान्य) में समानभाव से विनाशक कारण के रूप में व्याप्त, रोगों के सामान्य कारण—वात, जल, देश, काल आदि का प्रतिपादन करने के लिए इस अवधारणा का यहाँ उपदेश किया गया है। आयुर्वेद के दो प्रयोजन बतलाये गये हैं—प्रथम—स्वस्थ व्यक्तियों के स्वास्थ्य की रक्षा करना तथा द्वितीय—आतुरों के विभिन्न विकारों का प्रशमन करना। यहाँ जनपदोद्ध्वंसनीयवाद का वर्णन स्वास्थ्यरक्षण हेतु किया गया है। चरकसंहिता के उपदेष्टा भगवान् पुनर्वसु आत्रेय ने अध्याय के प्रारम्भ में ही रोग-प्रतिबन्धक उपाय का उल्लेख करते हुए अध्याय का प्रारम्भ किया है। आयुर्वेद में व्याधियों के तीन कारण कहे गये हैं—असात्म्येन्द्रियार्थसंयोग, प्रज्ञापराध व परिणाम। परिणाम काल को कहा जाता है। काल का समभाव में रहना ग्रह-नक्षत्रादि पर निर्भर करता है। काल का आदान-विसर्गादि रूप में विभाजन भी सूर्य-चन्द्रमा के बलाबल के आधार पर किया गया है। अतः इन ग्रह-नक्षत्रों के द्वारा काल-विपर्यय होता है। काल-विपर्यय होने से औषधियों में विकृति आ जाती है; क्योंकि औषधियों के रसादि भाव काल की अपेक्षा करते हैं। इसी तथ्य का उद्घाटन पुनर्वसु आत्रेय ने अपने शिष्य अग्निवेश से निम्न रूप में किया है—

१. 'दृश्यन्ते हि खलु सौम्य ! नक्षत्रग्रहगणचन्द्रसूर्यानिलानलानां दिशां चाप्रकृति-भूतानामृतुवैकारिका भावाः'। पुनर्वसु आत्रेय अपने शिष्य अग्निवेश से कहते हैं कि—हे सौम्य ! नक्षत्र, ग्रहगण, चन्द्रमा, सूर्य, वायु, अग्नि, दिशाओं व ऋतु-विकार उत्पन्न

करने वाले भाव दिखाई देते हैं। यहाँ ग्रहादि में विकारजन्य लक्षण का होना कहा गया है। फिर आचार्य कहते हैं, यदि ग्रहादि में विकारजन्य लक्षण दिखाई दें तो—

२. 'अचिरादितो भूरपि च न यथावद्रसवीर्यविपाकप्रभावमोषधीनां प्रतिविधास्यति, तद्वियोगाच्चातङ्कप्रायता नियता'। अर्थात् ग्रहादि के उक्त लक्षण से व कालादि के विपर्यय से बहुत शीघ्र ही भूमि यथोचित रूप से रस, वीर्य, विपाक व प्रभाव वाली औषधियों को उत्पन्न नहीं कर पायेगी। जब औषधियों में यथोचित रूप से रस, वीर्य, विपाक, प्रभावादि उत्पन्न नहीं होंगे तो व्याधियों की उत्पत्ति निश्चित है अर्थात् जब इन नक्षत्र, कालादि विपर्यय का प्रभाव भूमि व औषधियों पर पड़ता है तो इनसे मनुष्यों का प्रभावित होना निश्चित है। अतः—

३. 'तस्मात् प्राग्ध्वंसात् प्राक् च भूमेर्विरसीभावादुद्धरध्वं सौम्य! भैषज्यानि यावन्नोपहतरसवीर्यविपाकप्रभावाणि भवन्ति'। अर्थात् हे सौम्य! विनाश-प्रक्रिया प्रारम्भ होने से पहले ही और भूमि रसरहित न हो जाय—इससे पूर्व ही औषधियों को उखाड़ कर उनका संग्रह कर लो; क्योंकि भूमि के रसरहित होने पर औषधियाँ भी रस, वीर्य, विपाक, प्रभावादि से रहित हो जाती हैं। अतः जब तक औषधियाँ रस, वीर्य, विपाक, प्रभावादि से युक्त हों तब तक ही इनके यथाशीघ्र संग्रह का निर्देश दिया गया है।

४. 'वयं चैषां रसवीर्यविपाकप्रभावानुपयोक्ष्यामहे ये चास्माननुकाङ्क्षन्ति, यांश्च वयमनुकाङ्क्षामः'। अर्थात् हम लोग इन रस, वीर्य, विपाक, प्रभाव का प्रयोग उन लोगों के विषय में करेंगे जो हम लोगों से इन औषधियों के द्वारा चिकित्सा कराना चाहेंगे अथवा जिनकी चिकित्सा हमलोग स्वयं करना चाहेंगे। इसकी टीका करते हुए आचार्य चक्रपाणिदत्त कहते हैं कि—'ये चास्मानभिकाङ्क्षन्ति ये चास्मान् भिषजोऽनुकाङ्क्षन्तीत्यर्थः, यांश्च वयमनुकाङ्क्षामश्चिकित्स्यत्वेन। एतेन ये वैद्यमनुकाङ्क्षन्ति ते वैद्यप्रियत्वेन साध्याः, असाध्या हि वैद्यद्विष उक्ताः। वैद्याश्च यानिच्छन्ति ते साध्यरोगा एव, असाध्यान् हि वैद्या नेच्छन्ति'। अर्थात् 'जो हमें चाहते हैं' का तात्पर्य यह है कि—जो हम वैद्यों को चाहते हैं। 'जिन्हें हम चाहते हैं'—इसका तात्पर्य यह है कि जिन्हें हम चिकित्सारूप में चाहते हैं या जिसकी चिकित्सा करना चाहते हैं। जो वैद्य को चाहते हैं, वे वैद्यप्रेमी होने से साध्य होते हैं तथा जो वैद्य से द्वेष करते हैं, वे असाध्य होते हैं। दूसरा पक्ष—वैद्य जिन्हें चाहते हैं, वे साध्य होते हैं। असाध्य रोगियों की चिकित्सा करना वैद्य नहीं चाहते हैं। अतः यहाँ पुनर्वसु आत्रेय ने अग्निवेश से कहा है कि इन औषधियों से उनकी चिकित्सा की जायेगी जो हमें चाहते हैं या जिनको हम चाहते हैं।

५. पुनः आचार्य कहते हैं कि—'न हि सम्यगुद्धृतेषु सौम्य! भैषज्येषु सम्यग्विहितेषु सम्यक् चावचारितेषु जनपदोद्ध्वंसकराणां विकाराणां किंचित् प्रतीकारगौरवं

भवति'—अर्थात् हे सौम्य ! औषधियों के उचित रूप से उखाड़ लेने पर, उचित रूप से बना लेने पर तथा यथोचित रूप से रस, वीर्य, विपाक, प्रभावादि पर विचार कर प्रयोग किये जाने पर जनपदोद्ध्वंसक व्याधियों की चिकित्सा करने में किसी प्रकार की कठिनाई नहीं होती।

इस प्रकार आचार्य ने जनपदोद्ध्वंसक प्रक्रिया व उससे बचने के उपाय का संकेत-मात्र देते हुए प्रस्तुत प्रकरण का प्रारम्भ किया है। पुनर्वसु आत्रेय के उपर्युक्त उपदेश सुनने के बाद आचार्य अग्निवेश ने भगवान् आत्रेय के समक्ष अपना प्रश्न प्रस्तुत किया—मान लिया जाय कि, जनपदोद्ध्वंसक प्रक्रिया प्रारम्भ होने से पूर्व औषध उखाड़ ली गयी, उनकी विभिन्न कल्पनायें भी उचित रूप से की गई हैं, उनका प्रयोग भी सम्यक् रूपेण किया गया है परन्तु एक ही काल में भिन्न-भिन्न प्रकृति, आहार, बल, सात्म्य, मन व आयु के मनुष्यों में एक ही जनपदोद्ध्वंसक व्याधि की उत्पत्ति कैसे होती है? आयुर्वेद में त्रिदोष को रोग का मूल कहा गया है। विभिन्न व्यक्तियों में प्रकृति-भिन्नता, बल-भिन्नता, आहार-भिन्नता आदि होती है; अतः उन्हें कारणानुसार भिन्न-भिन्न व्याधियों से ग्रस्त होना चाहिए; परन्तु इस जनपदोद्ध्वंसक व्याधि की व्याप्तता एक ही काल में, एक ही रूप में भिन्न-भिन्न प्रकृति, देश व सात्म्य आदि भावों वाले व्यक्तियों में क्यों होती है? अग्निवेश की इस शंका का समाधान भगवान् आत्रेय ने निम्न रूप में किया है—'प्रकृत्यादिभिर्भावैर्मनुष्याणां येऽन्ये भावाः सामान्यस्तद्वैगुण्यात् समानकालाः समानलिङ्गाश्च व्याधयोऽभिनिर्वर्तमाना जनपदमुद्ध्वंसयन्ति। ते खल्विमे भावाः सामान्या जनपदेषु भवन्ति; तद्यथा—वायुः, उदकं, देशः काल इति।'—च० वि० ३।६। अर्थात् प्रकृति आदि भावों से भिन्न होते हुए भी मनुष्यों में कतिपय अन्य भाव ऐसे भी होते हैं, जो सामान्य होते हैं। उन सामान्य भावों के विकृत हो जाने से एक ही समय में, एक ही समान लक्षण वाले रोग उत्पन्न होकर जनपद का विनाश कर देते हैं। पुनः उन सामान्य भावों का निर्देश देते हुए कहते हैं कि, ये भाव निम्न हैं—१. वायु, २. जल, ३. देश तथा ४. काल। जब इन भावों में विकृति होती है तो जनपदोद्ध्वंसक व्याधियाँ उत्पन्न होती हैं।

१. विकृत वायु के लक्षण—निम्नलिखित लक्षणों से युक्त वायु व्याधियाँ उत्पन्न करने वाली होती हैं—'यथर्तुविषममतिस्तिमितमतिचलमतिपरुषमतिशीतमत्युष्णमति-रूक्षमत्यभिष्यन्दिनमतिभैरवारावमतिप्रतिहतपरस्परगतिमतिकुण्डलितमसात्म्यगन्धवाष्प-सिकतापांशुधूमोपहतमिति'—अर्थात्—१. ऋतु के विपरीत बहने वाली वायु, २. अतिनिश्चल वायु अर्थात् स्थिरता को प्राप्त वायु, ३. अत्यन्त वेगवती वायु, ४. अत्यन्त कर्कश वायु, ५. अतिशीत या अति उष्ण वायु, ६. अत्यन्त रूक्ष वायु, ७. अत्यन्त अभिष्यन्दि वायु, ८. अत्यन्त भयंकर शब्दों के साथ बहने वाली वायु, ९. आपस में परस्पर टकराती हुई वायु, १०. कुण्डलीयुक्त वायु अर्थात् ऐसी वायु जो गोलाकार

रूप में चक्कर काटती हुई गति करती है। ११. बुरे गन्ध वाली वायु तथा १२. वाष्प, बालू, धूलि से युक्त वायु।

२. विकृत जल के लक्षण—'उदकं तु खल्वत्यर्थविकृतगन्धवर्णरसस्पर्शक्लेदबहुलमपक्रान्तजलचरविहङ्गमुपक्षीणजलेशयमप्रीतिकरमपगतगुणं विद्यात्।' अर्थात् जो जल १. अत्यन्त विकृत गन्ध, वर्ण, रस व स्पर्श वाला हो, २. अत्यन्त क्लेदयुक्त हो, ३. जिस जलाशय या जल को छोड़कर जलचर जन्तु व जलचर पक्षी चले गये हों, ४. जिस जलाशय में सूखने के कारण थोड़ा-सा ही जल शेष रह गया हो, ५. जिसके पीने से किसी प्रकार के स्वाद का अनुभव न होता हो, ६. जो जल पीने में अप्रिय हो—इन लक्षणों से युक्त जल को दूषित या नष्ट गुण वाला समझना चाहिए।

३. विकृत देश के लक्षण—जब किसी देश यानि क्षेत्रविशेष में निम्न लक्षण उत्पन्न होते हैं या परिलक्षित होते हैं तो उस देश को दूषित समझना चाहिए।

१. 'देशः पुनः प्रकृतिविकृतवर्णगन्धरसस्पर्शः—अर्थात् जिस देश में स्वाभाविक वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श आदि विकृतावस्था को प्राप्त कर परिवर्तित हो गये हों।

२. 'क्लेदबहुलं'—जो देश अतिशय रूप से क्लेदयुक्त हो गया हो अर्थात् उस देश में आर्द्रता अत्यधिक रूप में बढ़ गई हो।

३. 'उपसृष्टं सरीसृपव्यालमशकशलभमक्षिकामूषकोलूकश्माशानिकशकुनिजम्बूकादिभिस्तृणोलूपोपवनवन्तं'—अर्थात् जो देश विभिन्न प्रकार के प्राणियों जैसे—सर्प, अनेक प्रकार के हिंसक जन्तु, मच्छड़, टिड्डी, मक्खियाँ, चूहा, उल्लू, गीध, शृगाल आदि से व्याप्त हो। इसके अतिरिक्त अनेक प्रकार के तृण व फूस से युक्त उपवन वाला हो।

४. 'प्रतानादिबहुलम्'—जिस देश में तृण व अनेक प्रकार के फूसयुक्त उपवन के साथ विस्तृत लताओं से युक्त उपवन हो या जिस देश में चारों तरफ लतायें इस प्रकार फैली हों कि विभिन्न क्षुद्रजन्तुओं का आश्रय हो गया हो।

५. 'अपूर्ववदवपतितशुष्कनष्टशस्यं धूम्रपवनम्'—अर्थात् जो देश, अपूर्ववत् (अर्थात् जैसा पहले कभी भी नहीं हुआ हो) अतिशुष्क, नष्ट शस्य वाले तथा गिरे हुए वनस्पतियों या धान्य से युक्त हो तथा पहले कभी नहीं हुआ हो, इस तरह के धूम से जो देश युक्त हो गया हो।

६. 'प्रध्मातपतत्रिगणमुत्क्रुष्टश्वगणमुद्भ्रान्तव्यथितविविधमृगपक्षिसङ्घमुत्सृष्टनष्टधर्मसत्यलज्जाचारशीलगुणजनपदम्'—अर्थात् जिस देश या क्षेत्र-विशेष में पक्षियों के समूह लगातार शब्द करते हों या कोलाहल करते हों, जिस देश में कुत्ते जोर से शब्द करते हों या चिल्लाते हों, अनेक प्रकार के मृग (चौपाये जानवर), पक्षी या अन्य जीव-जन्तु घबड़ाकर या दुःखी होकर इधर-उधर दौड़ते हों अर्थात् बेचैनी की अवस्था में हो गये हों या घबड़ाकर उस देश को छोड़ रहे हों या छोड़ दिये हों, जिस देश-विशेष या क्षेत्र-विशेष के निवासियों का धर्म, सत्य, लज्जा, आचार, स्वभाव और

गुण नष्ट हो गये हों, अर्थात् जिस देश के जनपद के लोग अधर्मी, असत्यवादी, निर्लज्ज, दुराचारी, अस्वाभाविक यानि पाशव प्रवृत्ति वाले हों; उस देश को दूषित समझना चाहिए।

७. 'शश्वत्क्षुभितोदीर्णसलिलाशयं प्रततोल्कापातनिर्घातभूमिकम्पमतिभयाराव-रूपम्'—अर्थात् जिस देश में जलाशय क्षुभित हो गये हों, क्षोभ के कारण उन जलाशयों में बड़ी-बड़ी लहरें उत्पन्न होती हों, जिस देश या क्षेत्र में लगातार उल्का-पात होता हो, जिस देश में लगातार बिजली गिरती हो अथवा बारम्बार भूकम्प होता हो, जिस देश में अनेक प्रकार के भयंकर शब्द सुनाई पड़ते हों, उस देश को विकृत हुआ या प्रदूषित समझना चाहिए।

८. 'रूक्षताम्रारुणसिताभ्रजालसंवृतार्कचन्द्रतारकमभीक्ष्णं ससंभ्रमोद्वेगमिव सत्रास-रुदितमिव सतमस्कमिव गुह्यकाचरितमिवाक्रन्दितशब्दबहुलं चाहितं विद्यात्'—अर्थात् जिस देश में रूक्ष, ताम्रवर्णीय, अरुण, श्वेत, मेघजाल से घिरे हुए अर्थात् काले जल-युक्त बादलों से घिरे हुए सूर्य, चन्द्रमा व अन्य तारागण दिखलाई पड़ते हों, जिस देश में प्राणी लगातार बारम्बार घबड़ा रहे हों या लगातार घबड़ाये हुए स्थिति में रहते हो, भ्रमयुक्त होकर लगातार डरे हुए हों या लगातार भ्रमयुक्त डर की स्थिति में रहते हों या रोते हुए स्थिति में ही लगातार रहते हों, जहाँ के निवासियों को यह प्रतीत होता हो कि वे सदैव अन्धकार से घिरे हुए हैं अथवा उन्हें ऐसा प्रतीत होता हो कि उस देशविशेष पर गुह्यक का आक्रमण हो गया है, अर्थात् वह देश गुह्यका-क्रान्त प्रतीत होता हो, जिस देश या क्षेत्रविशेष में चारों तरफ से रोने की आवाजें आती हो, उस देश या क्षेत्रविशेष को विकृत समझना चाहिए।

४. **विकृत काल के लक्षण**—'कालं तु खलु यथर्तुलिङ्गाद्विपरीतलिङ्गं हीनलिङ्गं चाहितं व्यवस्येत्'। अर्थात् ऋतु के स्वाभाविक लक्षणों के विपरीत लक्षण वाले या अधिक लक्षण वाले या कम लक्षण वाले ऋतु को विकृत या दूषित समझना चाहिए।

उपर्युक्त चार सामान्य भाव—वायु, जल, देश व काल जब दोषयुक्त हो जाते हैं तो जनपद का उद्ध्वंस (विनाश) होता है तथा जब ये चारों सामान्य अवस्था में होते हैं तो हितकारी होते हैं।

काल की प्रधानता—पुनः आचार्य का कथन है कि इन चारों में यह देखना चाहिए कि विशेष रूप से इन चारों में प्रधानता किसकी है। पुनः आचार्य निर्देश देते हैं कि स्वभावतः दुष्परिहार्य होने के कारण वायु से जल, जल से देश, देश से काल विशेष रूप से प्रधान होते हैं। इस प्रकार विशेष रूप से प्रधान व मुख्य जानने का उद्देश्य यह बतलाया गया है कि—इससे उपर्युक्त दोषों की चिकित्सा में सहायता मिलती है—

'वैगुण्यमुपपन्नानां देशकालानिलाम्भसाम् ।
गरीयस्त्वं विशेषेण हेतुमत् संप्रवक्ष्यते ॥
वाताज्जलं जलाद्देशं देशात् कालं स्वभावतः ।
विद्यात् दुष्परिहार्यत्वाद्गरीयस्तरमर्थवित् ॥
वाय्वादिषु यथोक्तानां दोषाणां तु विशेषवित् ।
प्रतिकारस्य सौकर्ये.....................' ॥

(च० वि० ३।९-११)

वातादि के विकृत होने का कारण

अग्निवेश द्वारा वातादि दोषों के दूषित होने का कारण पूछे जाने पर भगवान् आत्रेय ने कहा कि—इन वातादि के दूषित होने का मूल कारण अधर्म होता है। अधर्म से वायु-जलादि की दूषण प्रक्रिया को आचार्य ने अपने शिष्य को निम्न रूप में समझाया है—'वाय्वादीनां यद्वैगुण्यमुत्पद्यते तस्य मूलमधर्मः, तन्मूलं वाऽसत्कर्मपूर्वकृतं तयोर्योनिः प्रज्ञापराध एव'— अर्थात् वायु, जल, देश, काल की जो विकृति होती है, उसका मूल अधर्म होता है या उसका मूल पूर्वजन्म में किये गये पापकर्म होते हैं। इन दोनों अर्थात् अधर्म व पूर्वजन्म में किये गये पापकर्म की उत्पत्ति का कारण प्रज्ञापराध ही है। इसके बाद प्रज्ञापराध के कारण अधर्म द्वारा जनपदोद्ध्वंस किस प्रकार होता है, इसको स्पष्ट करते हुए आचार्य कहते हैं कि—'तद्यथा यदा वै देशनगरनिगमजनपदप्रधाना धर्ममुत्क्रम्याधर्मेण प्रजां वर्तयन्ति, तदाश्रितोपाश्रिताः पौरजनपदा व्यवहारोपजीविनश्च तमधर्ममभिवर्धयन्ति, ततः सोऽधर्मः प्रसभं धर्ममन्तर्धत्ते, ततस्तेऽन्तर्हितधर्माणो देवताभिरपि त्यज्यन्ते, तेषां तथाऽन्तर्हितधर्माणामधर्मप्रधानानामपक्रान्तदेवतानामृतवो व्यापद्यन्ते, तेन नापो यथाकालं देवो वर्षति, न वा वर्षति विकृतं वा वर्षति, वाता न सम्यगभिवान्ति, क्षितिर्व्यापद्यते, सलिलान्युपशुष्यन्ति, ओषधयः स्वभावं परिहायापद्यन्ते विकृतिं, तत उद्ध्वंसन्ते जनपदाः स्पृश्याभ्यवहार्यदोषात्'। (च० वि० ३।२०)

अर्थात् जब देश, नगर, निगम और जनपद के प्रधान धर्म का त्याग कर देते हैं तथा प्रजाओं के साथ अपना व्यवहार अधर्मपूर्वक करते हैं, तब इस प्रधान के आश्रित और उपाश्रित (कर्मचारी, सेवक या अन्य कार्य करने वाले), नगर और गाँव के लोग या व्यापार द्वारा जीवन निर्वाह करने वाले व्यापारीगण, उस अधर्म को और भी अधिक रूप में बढ़ाते हैं। इस प्रकार वह अधर्म सहसा इतना बढ़ जाता है कि धर्म को ही तिरोहित कर देता है। जब धर्म तिरोहित हो जाता है तो लुप्त धर्म वाले वे, देवताओं से भी छोड़ दिये जाते हैं। उसी प्रकार लुप्त धर्म वाले, अधर्म की प्रधानता वाले, देवताओं का त्याग करने वाले, उस नगरविशेष में ऋतुयें भी विकृत हो जाती हैं। जब ऋतुओं में विकृति आ जाती है तो इन्द्र उचित समय से

जल नहीं बरसाते। वायु यथोचित रूप से गति नहीं करती। पृथ्वी में भी विकृति आ जाती है। जल सूख जाता है। औषधियाँ अपने स्वाभाविक गुणों को छोड़ देती हैं तथा विकृति को प्राप्त कर लेती हैं। इसके बाद स्पृश्य और खाद्य-पदार्थों के दोष से जनपद नष्ट हो जाते हैं।

इस प्रकार यहाँ जनपदोद्ध्वंस प्रक्रिया का मूल कारण—अधर्म से जनपदोद्ध्वंस तक का विवरण प्रस्तुत किया गया। इसे संक्षिप्ततः निम्न रूप में दर्शाया जा सकता है— प्रज्ञापराध→अधर्म→राजा, प्रशासक या प्रधान + अधर्म→प्रजा के साथ अधर्म-व्यवहार →कर्मचारी द्वारा अधर्म-वृद्धि→व्यापारी वर्ग व जनसामान्य द्वारा अधर्म को बढ़ावा→ अधर्म द्वारा सहसा बढ़कर धर्म को तिरोहित करना→धर्मनाश→देवताओं द्वारा प्रजा-जनों का त्याग→ऋतु-विपर्यय→वर्षाभाव या विकृत रूप से वर्षा होना→वायु, पृथ्वी, जलादि का विकृत हो जाना→औषधियों द्वारा स्वाभाविक गुण छोड़ना→औषधियों की विकृति→स्पृश्य व खाद्य-दोष होना→(अन्तिम परिणाम) जनपदोद्ध्वंस।

इसके बाद आचार्य जनपदोद्ध्वंस के अन्य कारणों का उल्लेख करते हुए कहते हैं कि—अन्य जितने भी जनपदोद्ध्वंसक कारण हैं, वे सभी अधर्ममूलक ही हैं। अर्थात् उन कारणों का भी मूलकारण अधर्म ही है। यथा—युद्ध, भूतादि का आक्रमण तथा सत्पुरुषों का शाप।

युद्ध को भी आचार्य ने अधर्ममूलक कहा है अर्थात् युद्ध का भी मूल कारण अधर्म ही है। आचार्य का कथन है कि—'शस्त्रप्रभवस्यापि जनपदोद्ध्वंसस्याधर्म एव हेतु-र्भवति'। अर्थात् युद्ध में शस्त्र व अस्त्र के द्वारा होने वाले जनपदोद्ध्वंस का भी मूल कारण अधर्म ही है। इसको स्पष्ट करते हुए आचार्य कहते हैं कि—'येऽतिप्रवृद्धलोभ-क्रोधमोहमानास्ते दुर्बलानवमत्यात्मस्वजनपरोपघाताय शस्त्रेण परस्परमभिक्रामन्ति, परान् वाऽभिक्रामन्ति, परैर्वाऽभिक्राम्यन्ते।'—च० वि० ३।२१। अर्थात् जिन व्यक्तियों में लोभ, क्रोध, मोह व अहंकार बढ़ जाता है, वे दुर्बल व्यक्तियों को दबाकर अपने भाई-बन्धु और दूसरे के नाश के लिए शस्त्रों से परस्पर लड़ते हैं या दूसरे पर आक्रमण करते हैं या दूसरे लोग उन पर आक्रमण करते हैं।

इसी प्रकार अधर्म या अन्य किसी कारणों से अपवित्र रहने पर राक्षस आदि से या नाना प्रकार के भूत-प्रेतादि के समूह से जनपद नष्ट हो जाते हैं—'रक्षोगणादि-भिर्वा विविधैर्भूतसङ्घैस्तमधर्ममन्यद्वाऽप्यपचारान्तरमुपलभ्याभिहन्यन्ते'।

इसी प्रकार आचार्य का कथन है कि अभिशापादि द्वारा भी जनपदोद्ध्वंस होता है, उसका भी मूलकारण अधर्म ही होता है। इसको निम्न रूप में स्पष्ट किया गया है—'तथाऽभिशापप्रभवस्याप्यधर्म एव हेतुर्भवति। ये लुप्तधर्माणो धर्मादपेतास्ते गुरुवृद्ध-सिद्धर्षिपूज्यानवमत्याहितान्याचरन्ति, ततस्ताः प्रजा गुर्वादिभिरभिशप्ता भस्मतामुप-यान्ति प्रागेवानेकपुरुषकुलविनाशाय नियतप्रत्ययोपलम्भादनियताश्चापरे।'—च० वि०

३।२३।—जिन व्यक्तियों में धर्म का लोप हो जाता है अर्थात् जिन व्यक्तियों में धर्म हीनावस्था में रहता है तथा अधर्म की वृद्धि रहती है, वे गुरु, वृद्ध, सिद्ध, ऋषि और पूज्यों का तिरस्कार कर अहित आचरण करते हैं। जब वे इन पूज्य व्यक्तियों का अपमान करते हैं तो पूज्य व्यक्तियों द्वारा दिये गये शाप के कारण प्रजायें शीघ्र ही भस्म हो जाती हैं अर्थात् प्रजा का नाश हो जाता है तथा दूसरे पुरुष, जो नियत आयु आदि वाले होते हैं वे भी प्रत्यय अर्थात् शापरूपी कारण को प्राप्त करते हैं, जिससे उनका अनियत काल में ही नाश हो जाता है। इस प्रकार आचार्य ने यहाँ शाप का भी कारण अधर्म को ही माना है। हालाँकि आधुनिक काल में शाप द्वारा जनपदोद्ध्वंस की अवधारणा प्रचलित नहीं है; क्योंकि उस स्तर के गुरु, सिद्ध पुरुषों की कमी होती जा रही है। गुरु, सिद्धादि पुरुष के पास अतिशय रूप में अचिन्त्य शक्ति होती है, अतः उनके कोपजनित शाप से पूर्व में जनपदोद्ध्वंस होता रहा है। यदि आधुनिक काल में भी अतिशक्तिशाली व्यक्तियों का अपमान किया जाता है तो वह अपमान जनपदोद्ध्वंस का कारण बन सकता है।

अधर्मोत्पत्ति प्रक्रिया—चरकसंहिता में जनपदोद्ध्वंस का मूलकारण अधर्म को ही माना गया है। अतः अधर्म की उत्पत्ति किस प्रकार होती है, इस प्रक्रिया को भी स्पष्ट किया गया है अथवा इसे दूसरे रूप में इस प्रकार कहा जा सकता है कि अधर्म के परिप्रेक्ष्य में सामाजिक मनोविकार प्रक्रिया (Social psychic illness pathogenesis) का उद्घाटन किया गया है। इस प्रक्रिया में काल की भूमिका भी स्वीकार की गई है कि कालक्रम के साथ सामाजिक मनोविकार का गहरा सम्बन्ध होता है। इस प्रक्रिया का आचार्य चरक ने विस्तृत रूप से वर्णन किया है, जो निम्नवत् है—

१. आचार्य चरक ने एक अवधारणा उद्घाटित किया है कि—'प्रागपि चाधर्मादृते नाशुभोत्पत्तिरन्यतोऽभूत्'—अर्थात् प्राचीन काल में सम्पूर्ण अथवा सभी प्रकार के रोगों की उत्पत्ति अधर्म के कारण ही होती थी। इस प्रकार यहाँ स्पष्ट किया गया है कि, पूर्वकाल में समस्त रोग का कारण अधर्म ही माना जाता था।

२. **आदिकाल (कृतयुग) में स्वास्थ्य का कारण धर्म**—जैसा कि आचार्य ने कहा है—पूर्वकाल में सभी रोगों का कारण अधर्म माना जाता था तथा उत्तम स्वास्थ्य का कारण धर्म माना जाता था। इसके स्पष्टीकरण में आचार्य कहते हैं कि—'**आदिकाले ह्यदितिसुतसमौजसोऽतिविमलविपुलप्रभावाः प्रत्यक्षदेवदेवर्षिधर्मयज्ञविधविधानाः शैलसारसंहतस्थिरशरीरः प्रसन्नवर्णेन्द्रियः पवनसमबलजवपराक्रमाश्चारुस्फिचोऽभिरूपप्रमाणाकृतिप्रसादोपचयवन्तः सत्यार्जवानृशंस्यदानदमनियमतप-उपवासब्रह्मचर्यव्रतपरा व्यपगतभयरागद्वेषमोहलोभक्रोधशोकमानरोगनिद्रातन्द्राश्रमक्लमालस्यपरिग्रहाश्च पुरुषा बभूवुरमितायुषः**'। अर्थात् आदिकाल (कृतयुग) में मनुष्य देवताओं के समान ओज

वाले, अतिनिर्मल (अर्थात् किसी प्रकार के बाह्य व आभ्यन्तर मल से रहित) विपुल प्रभाव वाले होते थे। वे देव, देवर्षि-तुल्य होते थे। वे सदैव धर्म, यज्ञ, विधि (उनके पालन करने वाले व्यक्तिगत नियम व समाज-कल्याण हेतु बनाये गये सामाजिक नियम) एवं विधान को प्रत्यक्ष रखने वाले होते थे। जिसके कारण वे पर्वत की तरह संघटित एवं दृढ़ शरीर वाले, प्रसन्न वर्ण व इन्द्रिय युक्त, वायु की तरह बलवान्, वेग व पराक्रम वाले (वायु को अत्यन्त बलवान्, वेगवान् व पराक्रमी माना जाता है, इस तथ्य को वातकलाकलीय अध्याय में स्पष्ट किया गया है। यथा वायु अपने बल, पराक्रम व वेग से पेड़ आदि को भी तोड़ देता है या उखाड़ देता है। इसी कारण यहाँ बल, वेग व पराक्रम हेतु वायु का उदाहरण दिया गया है), सुन्दर नितम्ब वाले, सुन्दर आकृति, सुन्दर शारीरिक गठन वाले होते थे। वे सदैव प्रसन्न रहते थे। उनके अन्दर सत्य, सरलता, दया (अक्रूरता) दान, दम, नियम, तप, उपवास, ब्रह्मचर्य के नियमों का पालन करने वाले गुणों की प्रचुरता थी। वे भय, राग, द्वेष, मोह, लोभ, शोक, क्रोध, मान, रोग, निद्रा, तन्द्रा, श्रम, क्लम, आलस्य एवं परिग्रह से रहित तथा दीर्घायु होते थे। इस प्रकार यहाँ आचार्य ने एक स्वस्थ पुरुष का आदर्श प्रस्तुत करते हुए, स्वास्थ्य की प्राप्ति हेतु उत्तम मौलिक कारणों का स्पष्ट संकेत दिया है तथा आदिकाल के मनुष्यों को उदाहरण के रूप में प्रस्तुत करते हुए यह दर्शाया है कि आदिकाल के मनुष्य किन-किन सदाचरणों के सेवन करने से स्वस्थ रहते थे।

३. 'तेषामुदारसत्त्वगुणकर्मणामचिन्त्यरसगुणवीर्यविपाकप्रभावगुणसमुदितानि प्रादुर्बभूवुः शस्यानि सर्वगुणसमुदितत्वात् पृथिव्यादीनां कृतयुगस्यादौ'—अर्थात् कृतयुग के प्रारम्भ में जब जनसामान्य धर्माचरण करते हुए यज्ञादि कर्म करते थे तो पृथ्वी जल आदि सभी गुणों से सम्पन्न थी; जिसके परिणामस्वरूप उदार मन व गुण कर्म वाले पुरुषों के लिए अचिन्त्य, रस, वीर्य, विपाक, प्रभाव व गुणयुक्त शस्य अर्थात् विभिन्न धान्य (अन्न) उत्पन्न होते थे।

४. 'भ्रश्यति तु कृतयुगे केषांचिदत्यादानात् सांपन्निकानां सत्त्वानां शरीरगौरवमासीत्, शरीरगौरवाच्छ्रमः श्रमादालस्यम्, आलस्यात् संचयः, संचयात् परिग्रहः परिग्रहात् लोभः प्रादुरासीत् कृते। ततस्त्रेतायां लोभादभिद्रोहः, अभिद्रोहादनृतवचनम्, अनृतवचनात् कामक्रोधमानद्वेष पारुष्याभिघातभयतापशोक चिन्तोद्वेगादयः प्रवृत्ताः'। अर्थात् कृतयुग का जब कुछ समय व्यतीत हो गया तब कुछ धनवान् लोग भोजनादि में रुचि लेकर अधिक भोजन करने लगे। अधिक भोजन करने से उनके शरीर में भारीपन आने लगा। शरीर में भारीपन आने के कारण उनके अन्दर थकावट की उत्पत्ति हो गई। उस थकावट से आलस्य, आलस्य से धनादि के संचय की प्रवृत्ति, संचय प्रवृत्ति से धन, सामग्री, परिवार आदि का परिग्रह हुआ तथा

परिग्रह से लोभ की उत्पत्ति हुई। इस प्रकार कृतयुग के अन्त तक लोभ की उत्पत्ति हुई, तब तक काल-परिवर्तन हुआ और कृतयुग के बाद त्रेतायुग का प्रारम्भ हुआ। जब त्रेतायुग का प्रारम्भ हुआ तो मानव में व्याप्त लोभ से द्रोह की उत्पत्ति हुई, द्रोह से अनृतवचन (झूठ बोलने की) की प्रवृत्ति हुई। जब मनुष्य में अनृतवचन की प्रवृत्ति व्याप्त हो गई तो इस अनृत वचन से सभी प्रकार के मानसिक विकारों का मनुष्य में प्रादुर्भाव हुआ। ये मानसिक विकार—काम, क्रोध, अहंकार, द्वेष, कठोरता, अभिघात, भय, ताप (विभिन्न प्रकार के शारीरिक व मानसिक कष्ट से संतप्त होने को ताप कहा गया है), शोक, चिन्ता, उद्वेग आदि हुए। इस प्रकार यदि सामाजिक या व्यक्तिगत मनोविकार प्रक्रिया के परिप्रेक्ष्य में इसे देखा जाय तो—धनी व्यक्तियों द्वारा अधिक भोजन करना—शरीरगौरव—श्रम—आलस्य—संचय-प्रवृत्ति—परिग्रह—लोभ—द्रोह—अनृतवचन—काम, क्रोध, अहंकार, द्वेष, कठोरता, अभिघात, भय, ताप, शोक, चिन्ता, उद्वेग आदि का प्रादुर्भाव हुआ।

५. 'ततस्त्रेतायां धर्मपादोऽन्तर्धानमगमत्। तस्यान्तर्धानाद् युगवर्षप्रमाणस्य पादह्रासः, पृथिव्यादेश्च गुणपादप्रणाशोऽभूत्। तत्प्रणाशकृत् शस्यानां स्नेहवैमल्यरसवीर्यविपाकप्रभावगुणपादभ्रंशः। ततस्तानि प्रजाशरीराणि हीयमानगुणपादैराहारविहारैरयथापूर्वमुपष्टभ्यमानान्यग्निमारुतपरीतानि प्राग्व्याधिभिर्ज्वरादिभिराक्रान्तानि। अतः प्राणिनो ह्रासमवापुरायुषः क्रमशः इति।'—च० वि० ३।२४। अर्थात् उपर्युक्त लोभादि कारणों से त्रेता में धर्म के एक पाद अर्थात् चतुर्थांश का लोप हो गया। धर्म के एक पाद के लुप्त हो जाने के कारण मानव की आयु का भी एक पाद यानि चतुर्थांश कम हो गया। पृथ्वी आदि महाभूतों के गुणों में भी चतुर्थांश की कमी आ गई। पंचमहाभूतों के गुणों में पाद-ह्रास के कारण धान्यों में स्निग्धता, निर्मलता, रस, वीर्य, विपाक और प्रभाव में भी चौथाई रूप से कमी आ गई। इसके कारण चतुर्थांश कम गुण वाले आहार-विहारों से पहले की तरह (कृतयुग आदि की तरह) अग्नि व वायु अपने गुणों में चतुर्थांश भाग से हीन हो गये। इस चतुर्थांश गुणहीन अग्नि व वायु से युक्त प्रजा का शरीर ज्वरादि व्याधियों से आक्रान्त हो गया, जिसके परिणामस्वरूप मनुष्य की आयु का क्रमशः ह्रास होने लगा।

इस प्रकार आचार्य ने इस अवधारणा को प्रस्तुत किया है, जिसमें कहा गया है कि—प्रत्येक युग में धर्म के एक-एक पाद के नाश होने के साथ आयु आदि का भी ह्रास होता है—

'युगे युगे धर्मपादः क्रमेणानेन हीयते।
गुणपादश्च भूतानामेवं लोकः प्रलीयते॥
संवत्सरशते पूर्णे याति संवत्सरः क्षयम्।
देहिनामायुषः काले यत्र यन्मानमिष्यते॥
इति विकाराणां प्रागुत्पत्तिहेतुरुक्तो भवति।' (च० वि० ३।२५-२७)

अर्थात् प्रत्येक युग में क्रमानुसार धर्म का एक-एक पाद कम होता है। जैसे—कृतयुग में धर्म के चार पाद होते हैं। त्रेतायुग में धर्म का एक पाद कम हो जाता है। द्वापर में धर्म का दो पाद कम हो जाता है, जिससे धर्म व अधर्म दोनों समान रूप से रहते हैं। कलियुग में धर्म का तीन पाद कम हो जाता है। इसी प्रकार युग के अनुसार पंचमहाभूतों के गुणों में भी एक-एक पाद कम होता जाता है। आचार्य योगीन्द्रनाथ सेन ने 'हीयते' की टीका करते हुए इसको और भी स्पष्ट किया है—'हीयमानानि हीयमानगुणपादैर्हीयमानगुणैश्चाहारविहारैरयथापूर्वमुपष्टभ्यमानाग्निमारुतपरीतानि'। इसी प्रकार एक-एक पाद के नष्ट होने से संसार का प्रलय हो जाता है। जिस युग में मनुष्यों की या अन्य प्राणिविशेष की जितनी आयु बतलाई गई है, उसमें उस युग का सौंवा हिस्सा समाप्त होने पर मनुष्य की आयु एक वर्ष कम हो जाती है। इसको आचार्य गङ्गाधर ने निम्न रूप में स्पष्ट किया है---

'संवत्सराणां शते शतकृत्यो विभक्तानामेकैकभागे संपूर्णे जाते तद्युगोत्पन्नानां देहिनां तत्तत्परिमितस्यायुषः एकैकः संवत्सरः क्षयं याति।' जिस युग में मनुष्य रहता है, उस युग के सौवें भाग के समाप्त होने पर मनुष्य की आयु एक वर्ष कम होती है। जैसे—कलियुग में मनुष्य की आयु एक सौ वर्ष तथा इस युग की आयु ४ लाख बत्तीस हजार वर्ष मानी गई है। इस युग के आयु का सौंवां भाग अर्थात् चार हजार तीन सौ बीस वर्ष जब-जब पूर्ण होंगे मनुष्य की आयु भी क्रमशः एक-एक वर्ष कम होगी। इस प्रकार कलियुग के अन्त में आयु के अभाव में प्रलय हो जायेगा।

जनपदोद्ध्वंस की प्रतिबन्धक चिकित्सा—जनपदोद्ध्वंसक भाव— वायु, जल, देश व काल जिस समय विकृति प्राप्त कर रहे हों उस समय यदि यथोचित रूप से औषधियों का प्रयोग किया जाता है तो जनपदोद्ध्वंसक व्याधियों द्वारा आक्रान्त होने का भय नहीं रहता। 'विगुणेष्वपि खल्वेतेषु जनपदोद्ध्वंसकरेषु भावेषु भेषजेनोपपाद्यमानानामभयं भवति रोगेभ्य इति।'—च० वि० ३।८।

जनपदोद्ध्वंस की सामान्य चिकित्सा

जनपदोद्ध्वंस की सामान्य चिकित्सा से सम्बन्धित निम्न चिकित्सा का निर्देश दिया गया है—

१. येषां न मृत्युसामान्यं सामान्यं न च कर्मणाम्।
कर्म पञ्चविधं तेषां भेषजं परमुच्यते॥

(च० वि० ३।१३)

रोग उत्पन्न होने पर जिन व्यक्तियों में मृत्युजनक दैव की समानता नहीं है और न ही उस व्यक्ति में मृत्युजनक कर्म की समानता है अर्थात् जिन आतुरों में मृत्युजनक लक्षण उपस्थित न हों एवं उसकी क्रियायें भी इस प्रकार की न हों, जिससे यह समझा जाय कि इस व्यक्ति की मृत्यु होने वाली है तो इन रोगियों के लिए

सर्वोत्तम चिकित्सा—पञ्चकर्म (वमन, विरेचन, निरुहबस्ति, अनुवासन बस्ति व शिरो विरेचन) का प्रयोग होता है।

२. 'रसायनानां विधिवच्चोपयोग: प्रशस्यते'—इस स्थिति में विधिपूर्वक रसायन का प्रयोग करना अतिलाभदायक होता है।

३. 'शस्यते देहवृत्तिश्च भेषजैः पूर्वमुद्धृतैः'—जनपदोद्ध्वंसक व्याधियों के उत्पन्न होने से और जनपदोद्ध्वंसक भावों (वायु, जल, देश, काल) के दूषित होने से पूर्व में उखाड़ी गई या संग्रह की गई औषधियों का प्रयोग शरीर की रक्षा करने के लिए करना चाहिए।

४. इन उपर्युक्त चिकित्साओं के अतिरिक्त चरकसंहिता में कतिपय अद्रव्यभूत चिकित्सा का भी निर्देश दिया गया है, जिसके सम्बन्ध में कहा गया है कि इन चिकित्सा विधियों से अनिश्चित मृत्यु काल वाले आतुरों की रक्षा होती है; जो कि निम्न हैं—

सत्यंभूते दयादानं बलयोर्देवतार्चनम् ।
सद्वृत्तस्यानुवृत्तिश्च प्रशमो गुप्तिरात्मनः ॥
हितं जनपदानां च शिवानामुपसेवनम् ।
सेवनं ब्रह्मचर्यस्य तथैव ब्रह्मचारिणाम् ॥
संकथाधर्मशास्त्राणां महर्षीणां जितात्मनाम् ।
धार्मिकैः सात्त्विकैर्नित्यं सहास्या वृद्धसंमतैः ॥
इत्येतद्भेषजं प्रोक्तमायुषः परिपालनम् ।
येषामनियतो मृत्युस्तस्मिन् काले सुदारुणे ॥

(च० वि० ३।१४-१८)

अर्थात् सत्य बोलना (सत्य बोलना, सत्याचरण करना व व्यवहारादि में सत्यता का ध्यान रखना), प्राणियों पर दया-भाव रखना (मनुष्य या मनुष्येत्तर सभी जीव-जन्तुओं पर दया-भाव रखना), दान (उचित पात्र को अर्थात् अभावग्रस्त व्यक्तियों को दान देना), बलि (विभिन्न खाद्य द्रव्य, वस्त्र या अन्य वस्तुओं की शास्त्रानुसार बलि प्रदान करना), देवताओं की पूजा-अर्चनादि करना, सद्वृत्त का पालन करना (आयुर्वेद-वर्णित सद्वृत्त या अन्य मान्य शास्त्रों में वर्णित व्यक्तिगत, सामाजिक नियमों का पालन करना), शान्ति रखना (जनपदोद्ध्वंसक व्याधियों के उत्पन्न होने पर घबड़ाहट, भय, आतङ्कादि व्याप्त हो जाते हैं; अतः 'शान्ति' इसकी चिकित्सा कही गई है), अपने शरीर की रक्षा में तत्पर रहना अर्थात् स्वास्थ्यकर भावों के सेवन करने व अस्वास्थ्यकर भावों के त्याग के लिए सदैव सावधान रहना, कल्याणकारी ग्राम व जनपद का सेवन करना (इसका तात्पर्य यह लगाया जा सकता है कि जिस जनपद या क्षेत्रविशेष में जनपदोद्ध्वंसक व्याधि का प्रकोप हुआ हो, उस स्थान का त्याग कर ऐसे क्षेत्रविशेष या जनपद में जाकर रहना जो जनपदोद्ध्वंसक व्याधि से

आक्रान्त न हो तो यह स्वास्थ्य के लिए लाभदायक होगा), ब्रह्मचर्य का पालन करना (ब्रह्मचर्ये वीर्यलाभाः—ब्रह्मचर्य से वीर्य की रक्षा होती है, जिसके कारण शरीर व मन दोनों में व्याधिक्षमता की वृद्धि होती है। क्योंकि वीर्यवर्ग के ओज द्वारा ही व्याधिक्षमता यथोचित रूप से बनी रहती है तथा शुक्र से धैर्य की वृद्धि होती है जिसके कारण मानसिक व्याधिक्षमता यथोचित रूप में विद्यमान रहती है), ब्रह्मचारियों की सेवा करना, धर्मशास्त्रों की कथा सुनना (कथाश्रवण द्वारा सामूहिक मनोचिकित्सा (Group psychotherapy) होती है तथा कथा-श्रवणोपरान्त आत्मविश्लेषण करने पर अपने अधर्मजन्य कर्मों के परित्याग की प्रवृत्ति होती है), जितेन्द्रिय महर्षियों की सेवा करना, सदैव सात्त्विक, धार्मिक और वृद्धों द्वारा प्रशंसित व्यक्तियों के साथ रहना (इन व्यक्तियों के साथ रहने पर मानसिकता में परिवर्तन होकर मन को शान्ति प्राप्त होती है तथा मनुष्य द्वारा किसी प्रकार के प्रज्ञापराध होने से रक्षा होती है)—इस प्रकार उपर्युक्त प्रकार की चिकित्सा अद्रव्यभूत होते हुए भी आयु की रक्षा करने वाली होती है। यहाँ यह निर्देश दिया गया है कि जिन व्यक्तियों की आयु अनियत होती है, उनके आयु की इससे रक्षा होती है। इसका तात्पर्य यह है कि नियत आयु वाले की तो मृत्यु निश्चित रूप से होती है, अतएव उनके आयु की रक्षा नहीं की जा सकती, परन्तु जिन व्यक्तियों की आयु अनियत या अनिश्चित होती है अर्थात् मृत्यु हो भी सकती है या नहीं भी हो सकती, ऐसे व्यक्तियों के आयु की रक्षा इसके द्वारा होती है।

जनपदोद्ध्वंसवाद की उपादेयता

जनपदोद्ध्वंसवाद की उपादेयता का वर्णन करना इस अर्थ में कुछ अन्यथा-सा प्रतीत हो रहा है कि—आज इस वाद की उपादेयता से सम्पूर्ण विश्व पूर्ण परिचित है। जनसामान्य में इस वाद की उपादेयता प्रचलित है। परन्तु आयुर्वेदोक्त जनपदोद्ध्वंसवाद की अपनी विशिष्टता है, अतः यहाँ आयुर्वेदवर्णित जनपदोद्ध्वंसवाद का संक्षिप्त विवेचन व इसकी उपादेयता पर प्रकाश डालना अत्यावश्यक है।

जनपदोद्ध्वंस की आयुर्वेदीय अवधारणा अपने कतिपय मौलिक विशिष्टताओं पर आधारित है। आयुर्वेद का सिद्धान्त—'पुरुषं पुरुषं वीक्ष्य' का है, क्योंकि प्रत्येक पुरुष में प्रकृति, देश, काल, दोषादि के आधार पर भिन्नता होती है तथा उनमें होने वाली व्याधियाँ भी भिन्न होती हैं। परन्तु आयुर्वेद के मूल सिद्धान्त सामान्यवाद के 'सामान्यं एकत्वकरं' के अनुसार कतिपय ऐसे भाव हैं, जो मनुष्य ही नहीं, वरन् सभी प्राणियों के लिए भी सामान्य हैं—यथा—वायु, जल, देश, काल आदि। आयुर्वेद ही विश्व का एक ऐसा चिकित्सा-विज्ञान है जो प्राणिविशेष को सृष्टि की इकाई मानता है—'पुरुषोऽयं लोक सम्मितः। यावन्तो हि लोके मूर्त्तिमन्तो भावविशेषास्तावन्तः पुरुषे यावन्तः पुरुषे तावन्तो लोके इति।'—च० शा० ४।१३। पुनः—'षड्धातवः

समुदिताः पुरुषः इति शब्दं लभन्ते, तद्यथा—पृथिव्यापस्तेजो वायुराकाशं ब्रह्म चाव्यक्तमिति, एत एव च षड्धातवः समुदिताः पुरुषः इति शब्दं लभन्ते।'—च० शा० ५। इस प्रकार जितने भी भाव बृहत्तम स्तर पर लोक में होते हैं, वे सम्पूर्ण भाव सूक्ष्म स्तर पर पुरुष में भी होते हैं या यह कहा जा सकता है कि प्राणिविशेष में होते हैं। इस प्रकार कहा जा सकता है कि मनुष्य लोक की एक सूक्ष्म इकाई है (According to Indian science individual is the unit of universe)। इससे लोकगत भावों का प्रभाव भी मनुष्य पर पड़ता है। लोक व पुरुष में संयोग कराने वाला भाव है—वायु। वायु द्वारा ही संयोग-विभाग की क्रिया सम्पन्न होती है। जनपदोद्ध्वंसवाद में पुराकालीन आयुर्वेदज्ञों ने लोक व पुरुष के विकृत साहचर्य को प्रतिपादित किया है। लोक-पुरुष के साहचर्य को अभी तक पाश्चात्य वैज्ञानिक भी स्थापित नहीं कर पाये हैं।

जनपदोद्ध्वंस का प्रकरण प्रारम्भ करते हुए भगवान् आत्रेय सर्वप्रथम अपने शिष्यों को अन्तरिक्ष की तरफ देखने का निर्देश देते हैं तथा कहते हैं कि लोकगत भाव अन्तरिक्ष की तरफ देखो। सृष्टि के धारक भावों (सूर्य, चन्द्रमा; नक्षत्रादि) में अस्वाभाविकता आ रही है; जिसके कारण ऋतु-विकार होने वाला है। नक्षत्रादि की गतियाँ काल की अपेक्षा करती हैं, अतः इनके अस्वाभाविक स्थिति में सर्वप्रथम काल (ऋतुओं) में विकारोत्पत्ति होती है। काल-विपर्यय का प्रभाव लोकगत वनस्पतियों व अन्न पर पड़ता है। जब ये दूषित होंगे तो निश्चित रूप में व्याधियों की उत्पत्ति होगी। इस प्रकार जनपदोद्ध्वंस प्रकरण को नक्षत्रादि से प्रारम्भ करने का तात्पर्य यह है कि—अन्तरिक्षगत भावों का सृष्टिगत रचनाओं से साहचर्य का सिद्धान्त (Cosmo universal relation) को प्रतिपादित किया गया है। इस प्रकार इस प्रकरण में अन्तरिक्षगत भावों का सृष्टिगत भावों पर किस प्रकार प्रभाव पड़ता है, इसको स्पष्ट किया गया है। शिष्यों को निर्देश दिया गया है कि काल की विकृति का प्रभाव वनस्पतियों, मनुष्य या प्राणियों पर, भूमि आदि पर पड़े, इसके पूर्व ही औषधियों का संग्रह कर लेना चाहिए। अतः जनपदोद्ध्वंसवाद की प्रथम उपादेयता यह है कि काल आदि के विकृत लक्षण का आभास होते ही स्वास्थ्यरक्षण हेतु सावधान हो जाना चाहिए।

जनपदोद्ध्वंसक सामान्य भाव—वायु, जल, देश व काल—ये चार माने गये हैं। इनके दूषित होने के लक्षण भी पृथक्-पृथक् बतलाये गये हैं। इनमें अर्थात् चारों में वायु व जल-प्रदूषण को लघु कहा गया है। इसका तात्पर्य यह है कि किञ्चित् व्यवस्था वायु-प्रदूषण को समाप्त किया जा सकता है। वायु की अपेक्षा जलप्रदूषण को समभाव में करना कुछ कठिन अवश्य है परन्तु कुछ प्रयत्न कर जल-प्रदूषण भी समाप्त किया जा सकता है (Air pollutiou and water pollution may be managed with

some special methods)। परन्तु वायु व जल की अपेक्षा दूषित देश अर्थात् प्रदूषित देश को समभाव में लाना कठिनतर होता है। यदि दूषित देश के लक्षणों पर ध्यान दिया जाता है तो ऐसा अनुभव होता है कि इसके अन्तर्गत वातावरण प्रदूषण (Atmospheric pollution, climatic pollution) तथा सामाजिक मनोप्रदूषण (Social-psychic pollution) का उल्लेख किया गया है। इन लक्षणों पर सूक्ष्म रूप से दृष्टिपात किया जाता है तो ऐसा अनुभव होता है कि देश-प्रदूषण सामाजिक दुर्व्यवस्था (Social mismanagement) का परिणाम है। इसको समभाव में करना वायु व जल से कठिन होता है, परन्तु काल की अपेक्षा आसान है। दूषित देश को समभाव में लाने का उपक्रम समाज की दूषित मानसिकता को परिवर्तित करके किया जा सकता है—

(Atmospheric and climatic pollution may be managed by social psychic normalacy or social changes in attitude and mentality)।

जनपदोद्ध्वंस का चतुर्थ कारण काल को माना गया है। जब काल दूषित होता है तो जनपदोद्ध्वंस होता है। यहाँ काल-प्रदूषण का तात्पर्य काल के स्वाभाविक लक्षणों के विपरीत लक्षण, हीन-लक्षण या अतिलक्षण होने से है। चारो जनपदोद्ध्वंसक भावों में काल को ही प्रधान माना गया है। अतः जब कालविपर्यय होता है तो उसको समभाव में लाना कठिनतम होता है; क्योंकि स्वभावतः काल सभी भावों में अधिक दुष्परिहार्य है। अतः जनपदोद्ध्वंसवाद की दूसरी उपादेयता यह है कि जब भी वायु, जल, देश, कालादि के दूषित होने के लक्षण उत्पन्न हों, उसके परिहार हेतु शीघ्र ही उपक्रम करना चाहिए। इन भावों के परिहार पर विचार करने से पूर्व जनपदोद्ध्वंस का मूलकारण व वात, जलादि के प्रदूषित होने के कारण अधर्म पर विचार करना अत्यावश्यक समझा जा रहा है; क्योंकि मूल कारण के स्पष्ट हो जाने पर इस वाद की उपादेयता स्वयमेव स्पष्ट हो जायेगी।

वातादि की विकृति का मूल कारण अधर्म माना गया है। कहा गया है कि अधर्म के कारण वायु, जल, देश, काल प्रदूषित होते हैं। सर्वप्रथम धर्म-अधर्म पर संक्षिप्त रूप में विचार करना अपेक्षित है, क्योंकि मूलकारण अधर्म को ही कहा गया है; अतः अधर्म को समझना आवश्यक प्रतीत होता है। 'धारणात् धर्मः'—जिसे धारण किया जाय वह धर्म है। वैशेषिक दर्शन के अनुसार—'यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः'—अर्थात् धर्म अभ्युदय और निःश्रेयस (मोक्ष) की सिद्धि का हेतु है। इस प्रकार कहा गया है कि—अभ्युदय व निःश्रेयस प्राप्ति हेतु जिन भावों को धारण किया जाता है, उसे धर्म कहा जाता है। अभ्युदय व निःश्रेयस प्राप्ति हेतु किन भावों को धारण किया जाय, इसका स्पष्ट उल्लेख च० सू० ११।२७ में किया गया है—'दानतपो-

यज्ञसत्याहिंसाब्रह्मचर्याण्यभ्युदयनिःश्रेयसकराणीति।' अर्थात् दान, तपस्या, यज्ञ, सत्य बोलना, अहिंसा व ब्रह्मचर्य का पालन करना—ये अभ्युदय व निःश्रेयस प्रदान करने वाले हैं। अभ्युदय का अर्थ सामान्यतया भौतिक उन्नति लगाया जाता है। इस प्रकार इहलोक में मनुष्य को उन्नति प्रदान करने वाली तथा मोक्ष की प्राप्ति (परलोक में) कराने वाली जो वृत्तियाँ मनुष्य द्वारा धारण की जाती है, उसे धर्म कहते हैं। धर्म सदैव सुख देने वाला होता है—

सुखार्थाः सर्वभूतानां मताः सर्वाः प्रवृत्तयः।
सुखं च न विना धर्मात् तस्मात् धर्मपरो भवेत्॥

(अ० हृ० सू० अ० १)

इस प्रकार सुख का मूल धर्म होता है तथा दुःख का मूल अधर्म। अतः इस वाद में जनपदोद्ध्वंस का मूल कारण अधर्म को माना गया है। अब एक शंका उत्पन्न होती है कि—अधर्मयुक्त व्यक्ति भी अपनी प्रवृत्ति का लक्ष्य सुख को ही रखता है तथा आत्मोन्नति हेतु ही किसी भाव को धारण करता है। जैसे—जनपदोद्ध्वंस प्रकरण में कहा गया है कि प्रथमतः अधर्मी प्रधान होता है फिर उसके आश्रित व उपाश्रित भी अधर्मी हो जाते हैं। यदि एक व्यक्ति या प्रशासक रिश्वत लेता है तो रिश्वत लेने का भाव अपनी भौतिक उन्नति के लिए ही धारण करता है। प्रत्येक व्यक्ति अपनी उन्नति के लिए किसी-न-किसी भाव का धारण करता है तो फिर धर्माधर्म का निर्णय कैसे होगा? इसका समाधान श्रीमद्भगवद् गीता में अतिसुन्दर रीति से किया गया है—सात्त्विक व्यक्ति प्रवृत्ति-निवृत्ति, कार्य-अकार्य, भय-अभय, बन्धन-मोक्ष आदि का विचार कर ही किन्हीं वृत्तियों को धारण करते हैं। इन व्यक्तियों द्वारा धारण की गई वृत्तियाँ ही मानव धर्म का आदर्श होती हैं—

'प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये।
बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी'॥

(भ० गी० १८।५०)

राजस व्यक्ति यह समझ नहीं पाते कि धर्म-अधर्म क्या है? कार्य-अकार्य क्या है? धर्म व अधर्म को वे अयथावत् रूप से जानते हैं अर्थात् धर्म व अधर्म को जैसा होता है, वैसा समझ नहीं पाते हैं। इस प्रकार वे अपनी उन्नति का उचित मार्ग नहीं अपना पाते हैं—

'यया धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च।
अयथावत् प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी'॥

(भ० गी० १८।३७)

इसका परिणाम कभी सुख, कभी दुःख दोनों प्रकार का होता है तथा तमोगुण से

युक्त व्यक्ति अधर्म को ही अपना धर्म मानकर जीवन में उस वृत्ति को धारण कर लेते हैं तथा उनके समस्त व्यवहार धर्म के विपरीत होते हैं—

'अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता।
सर्वार्थान् विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी' ॥

(भ० गी० १८।३१)

उपर्युक्त उद्धरणों से इतना तो स्पष्ट हो गया कि तमोगुण के कारण व्यक्ति अधर्म को ही धर्म समझ कर उसको धारण करता है। आचार्य चरक ने दूषित देश के लक्षण में कहा है कि जिस देश के लोग धर्म, सत्य, आचार, लज्जा, आदि को छोड़ दिये हों वह देश दूषित होता है। ये लक्षण अधर्म के हैं, क्योंकि सत्य, अहिंसादि धर्म के लक्षण कहे गये हैं। प्रस्तुत प्रकरण में (जनपदोद्ध्वंस प्रकरण में) ही कहा गया है कि कृतयुग में धर्म के चारों पाद, त्रेता में तीन पाद, द्वापर में दो पाद तथा कलियुग में एक पाद ही रहता है। वर्तमान काल में पचीस प्रतिशत ही धर्म रहता है तथा शेष पचहत्तर प्रतिशत अधर्म को ही धर्म मानकर धारण किया जाता है। तात्पर्य यह है कि आधुनिक काल में धर्म के नाम पर अधर्म का ही प्रचार व प्रसार किया जा रहा है, जैसाकि भ० गी० में 'अधर्मं धर्ममिति' कहा गया है। यदि मानवधर्म अहिंसा है तो तमोगुण की अधिकता के कारण धर्म के नाम पर हिंसादि किये जा रहे हैं। साम्प्रदायिक हिंसा, दंगा अपने धर्म को श्रेष्ठ व दूसरे के धर्म के प्रति हीन-भावना रखना सामूहिक नरसंहार, आतङ्कवाद आदि अधर्म ही हैं। जनपदोद्ध्वंस प्रकरण में इसको और भी स्पष्ट किया गया है। युद्धादि में शस्त्रप्रयोग कर नरसंहार करना अधर्म है। जब मनुष्य के अन्दर लोभ, क्रोध, अहंकार, मोह बढ़ जाता है तो उसकी प्रवृत्ति अधार्मिक होती है, जिसे वह अपना धर्म मानकर उसमें प्रवृत्त होता है। लोभ-वश दुर्बल व्यक्तियों को दबाकर उसकी सम्पत्ति आदि छिन लेना, लोभ व अहंकार से युक्त होकर एक देश का दूसरे देश में नरसंहार व जनपदोद्ध्वंस करना आदि अधर्म ही है; परन्तु लोभ, अहंकारयुक्त आक्रामक यह समझता है कि युद्ध हमारा धर्म है। आचार्य ने वायु, जल आदि के दूषित होने का कारण अधर्म को कहा है—'सर्वेषा-मप्यग्निवेश। वाय्वादीनां यद्वैगुण्यमुत्पद्यते तस्य मूलमधर्मः'। आज लोभवश नगर के समीप या नगर में इस तरह के कल-कारखाने स्थापित किये जा रहे हैं, जो थोड़ी-सी असावधानीवश जनपदोद्ध्वंसक होते हैं। भोपाल गैस काण्ड जैसा नरसंहार तथा जनसमूह की विकलांगता जनपदोद्ध्वंस का ज्वलन्त उदाहरण है। आज वायु-प्रदूषण, जल-प्रदूषण का कारण क्या अधर्म नहीं कहा जा सकता? नगरीय वातावरण विषाक्त हो चुका है। आज प्रदूषित वायु से सम्पूर्ण विश्व परेशान है। भौतिक सुख के साधन आध्यात्मिक सुख के बाधक बनते जा रहे हैं। विभिन्न प्रकार के सामूहिक नरसंहार, बम-विस्फोट, आतङ्कवाद, हिंसादि में वृद्धि होती जा रही है। एक व्यक्ति-

विशेष की हत्या हेतु पूरे जनपद का विनाश किया जा रहा है। ये सब अधर्मजन्य ही हैं, जिसका संकेत भारतीय आचार्यों ने प्राचीनकाल में ही दे दिया है कि तमोगुणयुक्त मानव अधर्म को ही अपना धर्म समझता है। तामस धर्मी अपनी उन्नति अधिकाधिक हिंसा करने में, तस्करी में, माफियागिरी आदि किसी प्रकार के अनुचित रीति से धनवान् होने में ही समझता है। वह नित्य अपने लक्ष्य की ओर अग्रसर होता रहता है। यह वृत्ति तत्क्षण तो सुखदायक प्रतीत होती है, परन्तु इसका परिणाम दुःखद ही होता है। आचार्य चरक द्वारा वर्णित अधर्म से जो जनपदोद्ध्वंसक प्रक्रिया बतलाई गई है, वह इतना स्पष्ट है कि आधुनिक संदर्भ में यह कहा जा सकता है कि धार्मिक व्यक्ति त्रिकालदर्शी होता है। परम धार्मिक आचार्य चरक ने अधर्म-प्रधान काल में निम्नतम स्तर तक के अधर्म को ही धर्म मानकर व्यवहार करने की प्रक्रिया व उसके परिणाम का यहाँ (प्रस्तुत प्रकरण में) बहुत सुन्दर वर्णन किया है—जब नगर, निगम, जनपद के प्रधान (मंत्री, मेयर, चेयरमैन, प्रशासक वर्ग आदि) धर्म का त्याग कर प्रजाओं से अधार्मिक व्यवहार करते हैं तो उनके आश्रित व उपाश्रित (अधिकारी, कर्मचारी, भृत्य, सेवक आदि), नागरिक (जनसाधारण), व्यापारी उस अधर्म को और बढ़ावा देते हैं। जैसे—किसी नगर में जब कोई नया प्रशासक या प्रधान आता है तो अधर्ममार्गी सर्वप्रथम इस बात का पता लगाते हैं कि प्रशासक धार्मिक है या अधार्मिक। यदि प्रशासक धार्मिक प्रवृत्ति का होता है तो जनसामान्य में अधर्म के प्रति प्रवृत्ति कम होती जाती है; परन्तु जब प्रधान सत्य, लज्जादि धर्म को छोड़ देता है तो जनसामान्य व व्यापारी उसे उपहार, रिश्वत आदि देकर अधर्म को बढ़ावा देते हैं, जिसका परिणाम प्रतिदिन समाचार पत्रों के सनसनीखेज भरे शीर्षकों के रूप में देखा जाता है। यथा—प्रान्तविशेष में पेड़ा खाकर चालीस मरे, अमुक स्थान पर आटा खाकर इतने मरे, अमुक जगह पर जहरीली शराब पीकर मरे आदि। जब अधर्म सहसा बढ़कर धर्म को तिरोहित कर देता है तो वायु, जल, देश, काल सभी विकृत होकर जपपदोद्ध्वंस करते हैं। यदि दूषित देश के लक्षण देखें तो स्पष्ट हो जाता है कि इसका मूल कारण कुव्यवस्था है। मच्छर, चूहे आदि जन्तुओं की अधिकता व उनसे होने वाले जनपदोद्ध्वंस का कारण क्या है? सूरत में हुए जनपदोद्ध्वंस का कारण क्या है? क्षेत्र-विशेष में मारक मलेरिया के प्रकोप का कारण क्या है? इन तथ्यों से सभी परिचित हैं। चरकोक्त कारण के संदर्भ में देखा जाय तो इनका मूल कारण अधर्म ही है। दूषित देश के लक्षण में यह भी कहा गया है कि जिस क्षेत्र के लोग धार्मिक प्रवृत्ति का त्याग कर चुके हैं वह देश दूषित है। क्या आज क्षेत्रविशेष में सामूहिक नरसंहार की प्रवृत्ति नहीं है? प्रान्तविशेष में द्रुतगति से होने वाले नरसंहार का कारण प्रधान शासक की अधार्मिकता ही स्वीकार की जायेगी। दूषित देश के लक्षण में कहा गया है कि—वहाँ के समस्त प्राणी लगातार

रोने की स्थिति में रहते हैं, सदैव उनमें भय व्याप्त रहता है आदि। क्या आज आतङ्क फैले हुए प्रान्तविशेष में ये लक्षण नहीं मिलते हैं? क्या ये जनपदोद्ध्वंसक प्रवृत्तियाँ सामाजिक विकास व परिवर्तन के नाम पर अधार्मिकता को नहीं बढ़ा रही हैं?

इस प्रकार उपर्युक्त संक्षिप्त विवरण के आधार पर कहा जा सकता है कि आधुनिक काल में जनपदोद्ध्वंसवाद की उपादेयता और अधिक हो गई है, क्योंकि इस वाद में वर्णित अधर्म के सभी दुष्परिणाम आजकल विद्यमान हैं। इस वाद के अध्ययन से इसके मूलकारण अधर्म के दुष्परिणामों का ज्ञान हो जाता है। यदि मूल कारण अधर्म को छोड़ दिया जाय तो जनपदोद्ध्वंसक व्याधियाँ रुक जायेंगी, अन्यथा नहीं। भारतवर्ष में अरबों रुपये मच्छर मारने में खर्च हो जाता है; परन्तु मलेरिया व्याप्त है तथा मच्छर आनन्द विभोर होकर सम्पूर्ण रात्रि गुनगुनाते रहते हैं। जब तक जनपदोद्ध्वंस के मूल कारण का परित्याग नहीं किया जायेगा तब तक जनपदोद्ध्वंस का क्रम समाप्त नहीं होगा, वरन् द्रुतगति से बढ़ता ही जायेगा।

अब जनपदोद्ध्वंस में वर्णित सामाजिक मनोविकृति प्रक्रिया पर (Social psychic illness pathogenesis) पर संक्षिप्त विचार किया जायेगा कि मनुष्य धर्म का त्याग कर अधार्मिक कैसे होता है। इस पर पहले भी विचार किया जा चुका है, परन्तु इसकी उपादेयता की दृष्टि से संक्षिप्त रूप में इस पर विचार किया जा रहा है। सर्वप्रथम अधिक आहार लेने से शरीर-गौरव फिर श्रम अर्थात् थकावट की उत्पत्ति होती है। थकावट से आलस्य की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार प्रारम्भिक मनोविकृति आलस्य होती है जिसके कारण संचय की प्रवृत्ति होती है, संचय से→ परिग्रह→लोभ→द्रोह—अनृत वचन-काम-क्रोधादि मनोविकार क्रमशः होते हैं। मानसिक वेगों की उत्पत्ति अनृत वचन से होती है, अतः जब मनुष्य सत्य का त्याग करता है तो उसमें समस्त अथवा एक या एकाधिक मनोविकार उत्पन्न होते हैं। इन मनोविकारों के कारण मनुष्य अधर्म का आचरण करने लगता है, जो कि जनपदोद्ध्वंस का कारण होता है।

जनपदोद्ध्वंस की चिकित्सा में शरीर-शोधन को महत्त्व दिया गया है, इसके लिए पञ्चकर्म चिकित्सा का उपयोग किया जाता है। इसके अतिरिक्त पूर्व में संगृहीत औषधियों एवं रसायन औषधियों के प्रयोग का विधान निर्दिष्ट किया गया है। द्रव्यभूत चिकित्सा में मात्र पञ्चकर्म व रसायन औषधियाँ ही लाभदायक कही गई हैं। जनपदोद्ध्वंस में अद्रव्यभूत चिकित्सा का वर्णन विस्तृत रूप में किया गया है, जिसका उद्देश्य अधर्म के स्थान पर मानव में धर्म की स्थापना करना है। चरकोक्त जनपदोद्ध्वंस की अद्रव्यभूत चिकित्सा विशिष्ट चिकित्सा है, जिसकी उपादेयता एक स्वस्थ समाज के निर्माण में बहुत महत्त्वपूर्ण है। इस विशिष्ट चिकित्सा द्वारा ही पूर्णतः स्वस्थ समाज की कल्पना की जा सकती है। यथा—सत्य बोलना व सत्याचरण

करना। जैसाकि पूर्व में हम कह चुके हैं—समस्त मनोविकार का सन्निकृष्ट कारण अनृत-वचनादि है। सत्य बोलने से सात्त्विक प्रवृत्ति बढ़ती है; परिणामतः किसी भी विषय का यथावत् रूप से यथार्थ ज्ञान होता है। सत्य बोलने से अन्ततः सुख की प्राप्ति होती है। सत्याचरण करने से ही अधिकतर सामाजिक समस्याओं का समाधान हो जाता है। हम आम रूप से सत्य के प्रति नकारात्मक भाव रखते हैं। हमारा आचरण सत्य से हटकर होता है, वही दुःख का कारण है। यथा—यह सत्य है कि धूम्रपान स्वास्थ्य के लिए अहितकर है, परन्तु चेतावनी व परिणाम जानते हुए भी सत्य के प्रति नकारात्मक मानसिकता रखते हुए लोग धूम्रपान करते हैं। किसी व्यक्ति विशेष 'अ' की आर्थिक स्थिति कमजोर है। वह समाज में अपना सत्य जाहिर न करते हुए वाह्य आडम्बरों से अपनी हीनावस्था को छिपाता है। इस आडम्बर के साथ ही वह अनेक प्रकार के झूठ बोलता है। इसके कारण वह सदैव भय, चिन्तादि मनोवेग से ग्रसित रहता है। वह बाद में अपने प्रदर्शित आडम्बर व आचरण को यथावत् प्रदर्शित करने हेतु अधर्मजन्य (हिंसा, चोरी, बम-विस्फोट आदि तक) कर्म करने लगता है। इस प्रकार एक व्यक्ति—'अ' के सत्याचरण न करने के कारण समाज प्रदूषित हो जाता है। इसका परिणाम दूषित देश के लक्षण के रूप में उत्पन्न होते हैं। यदि वह व्यक्ति सत्याचरण—(जैसी उसकी स्थिति है, तदनुसार आचरण) करता है तो स्वयं भी संतुष्ट तथा सुखी रहता है तथा समाज को दूषण से बचा लेता है। इस प्रकार सत्याचरण मात्र से जनपदोद्ध्वंस से बचा जा सकता है। आधुनिक काल में सत्याचरण का अभाव ही जनपदोद्ध्वंस का कारण है। लौकिक भाषा में जिसे ईमानदारी कहा जाता है वह सत्याचरण का ही एक रूप है। यहाँ यह सत्याचरण को समझने की दृष्टि से कहा गया है। वैसे ही सभी प्राणियों पर दया-भाव रखना, देवार्चनादि भी अति उपादेय है। देवताओं की पूजा, अर्चना आदि करने से मनोनिग्रह होता है। इससे पवित्रता विद्यमान रहती है जो कि जनपदोद्ध्वंसक व्याधियों का प्रमुख प्रतिबन्धक उपक्रम है। दान देना जनपदोद्ध्वंसक व्याधियों का प्रतिबन्धक उपाय है दान देना। यहाँ 'दान' पर कुछ विचार करना आवश्यक प्रतीत होता है। क्योंकि पाठकगण को—'दान' चिकित्सा है—इस तरफ ध्यानाकर्षित करना इसकी उपादेयता स्पष्ट करना ही उद्देश्य रखकर इस पर संक्षिप्त विचार प्रस्तुत किया जा रहा है। किसी को कुछ देने को प्रायशः दान कहा जाता है। दान चिकित्सा भी है व जनपदोद्ध्वंस का कारण भी। इसी तथ्य को यहाँ स्पष्ट कर देने से दान का तात्पर्य स्पष्ट हो जायेगा। यदि दान की अवधारणा हेतु श्रीमद्भगवद् गीता पर दृष्टिपात किया जाता है तो, पाया जाता है कि दान तीन प्रकार का होता है। जनपदोद्ध्वंस-प्रतिकार हेतु जिस दान का निर्देश दिया गया है वह मात्र सात्त्विक दान ही है, जो जनकल्याण की भावना से दिया जाता है—

दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे ।
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम् ।।
(भ० गी० १७।२०)

अर्थात् दान देना ही कर्तव्य है—ऐसी भावना से जो दान देश, काल और पात्र के प्राप्त होने पर उपकार न करने वाले के प्रति दिया जाता है, उस दान को सात्त्विक कहा जाता है। यहाँ देश का तात्पर्य है कि देश-विशेष में जीवनोपयोगी आहार-औषधादि का अभाव ही उस देश-विशेष के लोगों को दान देना। यथा किसी देश-विशेष में जनपदोद्ध्वंसक व्याधि उत्पन्न हो गई है; वहाँ के लोगों की कल्याण-कामना से दान देने पर व्याधि-प्रतीकार में सहायता होती है। यदि भूकम्प, बाढ़ आदि से जनपदोद्ध्वंस है तो उस देश के लोगों को दिया गया दान उस जनपदोद्ध्वंस के प्रतीकार-स्वरूप होता है। इसी प्रकार उचित काल में दिया गया दान; यथा—महामारी की स्थिति में जब जनपदोद्ध्वंस हो रहा हो उस काल में दिया गया दान चिकित्सात्मक रूप में उपादेय है। उपर्युक्त श्लोक में उल्लिखित पात्र का तात्पर्य यहाँ भूखे, अनाथ, दुःखी, रोगी, असमर्थ व्यक्तियों आदि से है। इस प्रकार सात्त्विक दान द्वारा जनपदोद्ध्वंस के चिकित्सात्मक स्वरूप का वर्णन किया गया है।

राजसिक दान के सम्बन्ध में कहा गया है कि—

यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः ।
दीयते च परिक्लिष्टं तद्दानं राजसं स्मृतम् ।।
(भ० गी० १७।२१)

अर्थात् जो दान क्लेशपूर्वक अर्थात् दुःखी मन से तथा प्रत्युपकार के प्रयोजन से अथवा मान, प्रतिष्ठा, यश, स्वर्गादि फल प्राप्ति हेतु दिया जाता है, वह राजसिक दान है। इस दान की भी उपादेयता जनपदोद्ध्वंस में चिकित्सार्थं होती है। आधुनिक काल में भी जनपदोद्ध्वंस की स्थिति में दान के चिकित्सात्मक स्वरूप से जनसामान्य व विद्वान् पाठक भलीभाँति परिचित है। परन्तु यदि दान तामसिक स्वरूप में दिया जाता है तो वह दान जनपदोद्ध्वंसक होता है—

अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते ।
असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम् ।। (भ० गी० १७)

अर्थात् सात्त्विक दान के विपरीत जो दान अयोग्य देश, अयोग्य काल, अयोग्य पात्र, असत्कार या तिरस्कारपूर्वक दिया जाय, वह तामसिक है। किसी शासक, मंत्री आदि को भयवश या रिश्वत रूप में दिया गया दान, किसी को बम विस्फोट हेतु दिया गया दान, व्यापारियों द्वारा अयोग्य पात्र (मंत्री, शासक अधिकारियों को दिया गया दान) जनपदोद्ध्वंसक होता है। प्रत्युपकारार्थ राजसिक दान भी दुःखप्रदाता या जनपदोद्ध्वंसक होता है। यहाँ प्रत्युपकारार्थ का तात्पर्य रिश्वत, कमीशन हेतु

दिया गया दान है। तामसिक दान सदैव अधर्म का वृद्धिकारक व जनपद का विनाशक होता है।

इस प्रकार आधुनिक काल में चरकोक्त जनपदोद्ध्वंस के अद्रव्यभूत चिकित्सा की उपादेयता बहुत ज्यादा है। उदाहरणार्थ सत्याचरण, दानादि पर प्रकाश डाला गया है। जनपदोद्ध्वंस का कारण सदैव सामाजिक अधर्म (Social irreligiousness) होता है तथा इसकी चिकित्सा सामाजिक धर्मपरायणता अर्थात् विहित मार्ग द्वारा कर्तव्यपरायणता ही है।

अध्याय—२३

स्रोतस् सिद्धान्त

स्रोतस् सिद्धान्त आयुर्वेद का एक विशिष्ट सिद्धान्त है। स्रोतस् का सामान्य अर्थ कुल्या प्रणाली या प्रणालिका माना जाता है। चरक संहिता में स्रोतस् की निरुक्ति में कहा गया है कि—'स्रवणात् स्रोतांसि' (च० सू० ३०।१२)। स्रोतस् शब्द की निष्पत्ति स्रुन् स्रवणे धातु से हुई है। जिसका अर्थ निःसरण (Exudation), निश्च्यवन (oozing), पावन (Filtration), अतिवेधन (Permeation) होता है (डा० सी० द्वारकानाथ—काय चिकित्सा परिचय। आचार्य चरक के अनुसार—जिन शरीर-गत रचनाओं से स्रवण की क्रिया होती है वह स्रोतस् हैं। आयुर्वेद का सिद्धान्त है कि—'यावन्तः पुरुषे मूर्तिमन्तो भावविशेषास्तावन्त एवास्मिन् स्रोतसां प्रकारविशेषाः। सर्वे हि भावाः पुरुषेनान्तरेण स्रोतांस्यभिनिर्वर्तन्ते, क्षयं वाऽप्यभिगच्छन्ति। स्रोतांसि खलु परिणाममापद्यमानानां धातूनामभिवाहीनि भवन्त्ययनार्थेन।'—च० वि० ५।३। अर्थात् पुरुष में जितने भी मूर्तिमन्त भाव हैं उतने ही इस शरीर में स्रोतों के प्रकार या भेद होते हैं। पुरुष में सभी भाव बिना स्रोतों के न तो उत्पन्न होते हैं और न ही क्षीण होते हैं; क्योंकि स्रोत, परिणामप्राप्त धातुओं को अन्यत्र ले जाने वाले या वहन करने वाले होते हैं। इन उक्तियों से निम्न तात्पर्य प्रकट होते हैं—१. पुरुष में जितने भावविशेष हैं उतने प्रकार के स्रोतस् हैं अर्थात् प्रत्येक भावविशेष के अपने-अपने स्रोतस् हैं। २. पुरुष के अन्दर प्रत्येक भाव की उत्पत्ति व उनका क्षय स्रोतस् के माध्यम से होता है। ३. परिणामप्राप्त धातुओं का गमनागमन इन स्रोतसों के माध्यम से ही होता है।

कतिपय विद्वान् पुरुष को स्रोतसों का समुदाय मानते हैं परन्तु आचार्य चरक इससे सहमत नहीं है। उनका कथन है कि—जिससे स्रोतस् का निर्माण होता है, जिसका इनके द्वारा वहन होता है, जिसका आवहन होता है तथा ये स्रोतस् जहाँ स्थित हैं, यह सब पुरुष से भिन्न है; अतः स्रोतसों के समुदाय को पुरुष नहीं माना जा सकता।

स्रोतस् को समझने के लिए चरकसंहिता में इसके विभिन्न नामों को स्पष्ट किया गया है—'स्रोतांसि, सिराः धमन्यः रसायन्यः रसवाहिन्यः नाड्यः, पन्थानः, मार्गाः, शरीरच्छिद्राणि, संवृतासंवृतानि, स्थानानि, आशयाः, निकेताश्चेति शरीरधात्ववकाशानां लक्ष्यालक्ष्याणां नामानि भवन्ति।'—च० वि० ५।९। अर्थात् स्रोतस्, सिरा, धमनी, रसायनी, रसवाहिनी, नाडी, पंथ, मार्ग, शरीर के छिद्र, शरीरगत ऐसा मार्ग जिसका मूल में बंद व बाहर की ओर खुला या दोनों तरफ खुले मुखवाली नाड़ी वा

मार्ग, आशय, निकेत, शरीरस्थ धातुओं के बीच का अवकाश जो दिखाई पड़ता है या नहीं भी दिखाई पड़ता है। उपर्युक्त पर्यायों के द्वारा अनुमान लगाया जाता है कि शरीर में जहाँ भी किसी प्रकार का अवकाश है या मार्ग है या ऐसा रिक्त स्थान है जहाँ से कोई द्रव्य निर्गत या आगत होता है उन्हें स्रोतस् माना गया है। स्थूलतः किसी भी भाव के आवागमन के मार्ग को स्रोतस् कहा गया है। आवागमन हेतु अवकाश या रिक्त स्थान की आवश्यकता होती है। अतः शरीर में सूक्ष्मतम से बृहत्तम (आशयादि) रिक्त स्थान या अवकाश को स्रोतस् माना गया है। आचार्य चरक इसी आधार पर सिरा व धमनी को भी स्रोतस् मानते हैं, परन्तु शल्य परम्परा के विद्वान् शल्य के आचार्य सुश्रुत सिरा व धमनी को स्रोतस् नहीं मानते; बल्कि वे इन्हें स्रोतसों से भिन्न मानते हैं—

मूलात् खादन्तरं देहे प्रसृतं त्वभिवाहि यत्।
स्रोतस्तदिति विज्ञेयं सिराधमनिवर्जितम्॥

(सु० शा० ९।१३)

इस प्रकार आचार्य सुश्रुत ने स्रोतस् का व्यवहार इसकी निष्पत्ति के अनुसार स्रवण या निश्च्यवन रूप में ही किया है, अतः वे स्पष्टतः सिरा व धमनी को स्रोतस् से भिन्न मानते हैं। आचार्य डल्हण 'मूलात् खादिति हृदयादिछिद्रात्' कहकर मूल में रिक्त स्थान होने का निर्देश देते हैं यथा—हृदय आदि के छिद्र। आचार्य सुश्रुत की भी अवधारणा है कि जिस प्रकार कमलनाल में अत्यन्त सूक्ष्म छिद्र होते हैं, उसी प्रकार धमनियों में भी सूक्ष्मतम छिद्र होते हैं, जिनके द्वारा वे सम्पूर्ण शरीरस्थ अङ्गों को रस प्रदान करती हैं—

यथा स्वभावतः खानि मृणालेषु विसेषु च।
धमनीनां तथा खानि रसो यैरुपचीयते॥

(सु० शा० ९।१०)

यहाँ खानि की टीका करते हुए आचार्य डल्हण ने उन सूक्ष्म छिद्रों को स्रोतस् कहा है—'खानि स्रोतांसि'। आचार्य वाग्भट की अवधारणा भी कुछ इनसे मिलती-जुलती ही है—

'विसानामिव सूक्ष्माणि दूरात् प्रविसृतानि च।
द्वाराणि स्रोतांसि देहे रसो यैरुपचीयते'॥

(अ० हृ० शा० ६।४६)

अर्थात् रस का सम्पूर्ण शरीर में प्रसरण स्रोतों के अत्यन्त सूक्ष्म द्वारों (छिद्रों) द्वारा होता है, जो शरीर में सभी जगह अर्थात् सम्पूर्ण शरीर में सर्वत्र प्रभूत संख्या में उपस्थित रहते हैं। इन स्रोतसों की समता या तुलना कमलनाल से की जा सकती है। जिस प्रकार कमलनाल में अनेकों सूक्ष्मातिसूक्ष्म छिद्र होते हैं; उसी प्रकार

स्रोतसों में भी सूक्ष्मातिसूक्ष्म अनेकों छिद्र होते हैं, जिनके द्वारा रसादि का च्यवन होकर अङ्ग-विशेष को रस प्राप्त होता है। इस प्रकार स्रोतस् की अवधारणा में आचार्यों में बहुत मत-भिन्नता नहीं है, बल्कि आचार्य अपने-अपने विषयानुसार (काय चि०, शल्य) इसको स्पष्ट किये हैं।

स्रोतसों का स्वरूप—

स्वधातुसमवर्णानि वृत्तस्थूलान्यणूनि च।
स्रोतांसि दीर्घाण्याकृत्या प्रतानसदृशानि च ॥

(च० वि० ५।२५)

जिस धातु के जो स्रोत होते हैं, वे उस धातु के समान ही वर्ण वाले होते हैं। अर्थात् स्रोतसों का वर्ण धात्वनुसार ही होता है। इनकी संरचना गोल, स्थूल या सूक्ष्मातिसूक्ष्म रूप में होती है तथा इनकी आकृति लम्बी लताओं के सदृश होती है। जिस प्रकार लतायें प्रसरित होती हैं, उसी प्रकार ये स्रोतस् सम्पूर्ण शरीर में फैले रहते हैं। आचार्य डल्हण ने सु० शा० ९।३ की टीका में तन्त्रान्तर वचन को उद्धृत किया है—

आकाशीयावकाशानां देहे नामानि देहिनाम्।
सिराः स्रोतांसि मार्गाः खं धमन्यः ॥

उक्त वचन के आधार पर स्रोत का मूलस्वरूप आकाश-भूत की प्रधानता वाला है। उक्त वचन के आधार पर स्रोतस् का तात्पर्य आकाश-भूत प्रधान अर्थात् अन्दर से अवकाशयुक्त दृश्य या अदृश्य शरीराङ्ग अथवा शरीरावयवगत रचना से है। इस प्रकार शरीरगत विभिन्न धातुओं के घटकों हेतु जो उनके बीच अवकाशीय भाग है, वह स्रोतस् है। उसकी रचना धातुओं की स्थिति के अनुसार होती है तथा जिन धातुओं का मार्ग बनता है, वहाँ का मार्ग उस धातु के अनुसार ही रचना व वर्ण वाला होगा। इसी प्रकार शरीरगत अन्य भावों के स्रोतस् तद् अवयव या अङ्ग-विशेष की स्थिति के अनुसार वृत्त, प्रतान, अणुस्वरूप वाले होते हैं।

शरीर में स्रोतस् की भूमिका—पुरुष के प्रत्येक मूर्त्तिमान भाव हेतु स्रोतस्-विशेष की मान्यता आयुर्वेद में है। आयुर्वेद के मौलिक सिद्धान्तों में स्रोतस्वाद की अपनी विशिष्ट मौलिकता है, क्योंकि आयुर्वेद के सिद्धान्तों का व्यवहार, यथा—धातुपोषण, शरीर की विभिन्न क्रियायों का सिद्धान्त, विकारोत्पत्ति का सिद्धान्त आदि स्रोतस्वाद पर ही आधारित हैं। इस प्रकार स्रोतस्वाद बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। परन्तु दुःख के साथ कहना पड़ता है कि आधुनिक काल में स्रोतस् की अवधारणा क्या है? यह स्पष्ट नहीं हो पाया। इसका व्यावहारिक स्वरूप क्या है? विद्वान् वैद्यों द्वारा यह स्पष्ट करना अपेक्षित है। स्रोतस् प्रकरण में एक संकेत स्रोतस् की भूमिका के सम्बन्ध में मुख्य रूप से प्राप्त होता है, वह है—'धातु पोषण में स्रोतस् की भूमिका।' प्रायः

चरक, सुश्रुत, वाग्भट आदि सभी आचार्यों ने स्रोतस् को स्पष्ट करते हुए धातुपोषण में इसकी भूमिका का उदाहरण दिया है। 'स्रोतांसि खलु परिणाममापद्यमानानां धातूनामभिवाहीनि भवन्त्ययनार्थेन।'—च० वि० ५।३। 'स्रोतसां च यथास्वेन धातुः पुष्यति धातुतः।'—शुच० चि० ८।३९। आचार्य सुश्रुत व वाग्भट ने कमलनाल का उदाहरण देकर इस तथ्य को स्पष्ट किया है, जिसका पूर्व में उल्लेख किया जा चुका है। शरीर के अन्दर सभी भावों का वहन स्रोतस् के माध्यम से ही होता है, अतः दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि—स्रोतस् शरीर में पोषण-क्रिया का मार्ग है; क्योंकि शरीर में आदान, विसर्ग, विक्षेपादि क्रियाओं का मार्ग स्रोतस् ही होता है। जब किसी भाव का ग्रहण किया जाता है तो उस भाव के आदानकर्ता तक पहुँचने का मार्ग, विसर्ग क्रिया द्वारा विसर्जित भाव का यथास्थान पहुँचने का मार्ग सुनिश्चित होता है तथा गति या गमन तो स्रोतस् के बिना सम्भव ही नहीं है। इस प्रकार शरीर में जब स्रोतस् सामान्य अवस्था में रहते हैं तो शरीर की क्रिया अबाध रूप से चलती रहती है तथा शरीर स्वस्थ रहता है।

रोगोत्पत्ति में स्रोतस् की भूमिका—जिस प्रकार शरीर को स्वस्थ रखने में स्रोतस् की महत्त्वपूर्ण भूमिका है, उसी प्रकार रोगोत्पत्ति में भी स्रोतस् की भूमिका होती है। आचार्य चरक ने स्रोतसों के द्वारा स्वस्थ रहने व विकारोत्पत्ति होने से सम्बन्धित संकेत निम्न रूप में दिया है—'वातपित्तश्लेष्मणां पुनः सर्वशरीरचराणां सर्वाणि स्रोतांस्ययनभूतानि, तद्वदतीन्द्रियाणां पुनः सत्त्वादीनां केवलं चेतनावच्छरीरमयनभूतमधिष्ठानभूतं च। तदेतत् स्रोतसां प्रकृतिभूतत्वान्न विकारैरुपसृज्यते शरीरम्।'—च० वि० ५।६। अर्थात् सम्पूर्ण शरीर में चलने वाले वात, पित्त, कफ के लिए सभी स्रोत अयनभूत अर्थात् गमनागमन के मार्ग होते हैं। इसी प्रकार अन्य भाव, जिनका प्रत्यक्ष इन्द्रियों की सहायता से नहीं हो पाता, उन भावों—मन आदि का मार्ग आत्मा से युक्त सम्पूर्ण शरीर होता है। जब ये स्रोतस् अपनी स्थिति में रहते हैं तो शरीर स्वस्थ रहता है, परन्तु जब—'तेषां प्रकोपात् स्थानस्थाश्चैव मार्गगाश्च शरीरधातवः प्रकोपमापद्यन्ते इतरेषां प्रकोपादितराणि च। स्रोतांसि स्रोतांस्येव, धातवश्च धातूनेव प्रदूषयन्ति प्रदुष्टाः। तेषां सर्वेषामेव वातपित्तश्लेष्माणः प्रदुष्टाः दूषयितारो भवन्ति, दोषस्वभावादिति।'—च० वि० ५।९। अर्थात् स्रोतसों के कुपित होने से अपने स्थान में रहने वाली अथवा मार्गाश्रित (मार्ग में चलने वाली या मार्ग का अनुसरण करने वाली) धातुएँ भी प्रकुपित हो जाती हैं। उस स्रोतस् व तदाश्रित धातुओं के प्रकुपित होने के कारण दूसरे स्रोतस् व तदाश्रित धातुएँ भी प्रकुपित हो जाती हैं। इसका तात्पर्य यह है कि जब एक स्रोतस् व तदाश्रित धातुओं का प्रकोप होता है तो अन्य स्रोतस् व धातुओं का प्रकोप हो जाता है। स्रोतस् दुष्ट होकर दूसरे स्रोतस् को दूषित करता है तथा एक धातु प्रकुपित होकर दूसरे धातु को प्रकुपित करता है। इन

सभी प्रकार के स्रोतसों व तदाश्रित धातुओं को प्रदूषित करने वाले वात, पित्त व कफ ही होते हैं, क्योंकि धातुओं को दूषित करने का स्वभाव वातादि का ही होता है। उपर्युक्त चरकोक्त तथ्यों (गद्यांश) की टीका करते हुए आचार्य चक्रपाणिदत्त ने इसको स्पष्ट किया है—'स्थानस्थाः इत्याशस्थाः। मार्गगाश्चैवेति धमनीभिर्गच्छन्तः। इतरेषां चेत्यादिनोक्तमार्गः स्रोतांसि चेत्यादिना विवृणोति। स्रोतांसि धातवश्च दुष्टाः प्रत्यासन्नानि स्रोतांसि धात्वन्तराणि च स्वदोषसंक्रान्त्या दूषयन्तीत्यर्थः दोषस्वभावादिति दोषाणामेवायं स्वभावो यद्दूषकत्वं, न धात्वन्तराणां; तेन धातुना दुष्टिर्धातुदुष्टिर्धातुगतदोष कृतैव ज्ञेया।' यहाँ चक्रपाणिदत्त ने यह स्पष्ट किया है कि धातु स्वदोष से आक्रान्त होती है, तब आक्रान्त धातुगत दोष ही अन्य धातुओं को दूषित करते हैं, क्योंकि धातुएँ जब भी प्रकुपित होती हैं तो उनके प्रकोप का कारण ये वातादि दोष ही होते हैं। आचार्य वाग्भट इस प्रक्रिया को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि—'ते चावकाशाः प्रकुपिताः स्वस्थान् मार्गस्थांश्च धातून् प्रकोपयन्ति। तेऽपि तान् स्रोतांसि च। स्रोतांसि धातवश्च धातून्। तेषां सर्वेषामेव दूषयितारो दुष्टा दोषाः।'—अ० सं० शा० ६। उपर्युक्त गद्यांश का भाव यह है कि, सभी प्रकार के दूषण का स्वभाव दोषों का ही होता है, अतः प्रथमतः दोष अवकाशयुक्त मार्ग का अनुसरण कर प्रकुपित होते हैं, जिससे तदाश्रित धातुएँ दूषित हो जाती हैं। आचार्य चरक ने इस प्रक्रिया को निम्न रूप में प्रकट किया है—

आहारश्च बिहारश्च यः स्याद्दोषगुणैः समः।
धातुभिर्विगुणश्चापि स्रोतसां स प्रदूषकः॥

(च० वि० ५।२३)

जो आहार-विहार दोषों के गुणों के समान होते हैं तथा धातुओं के गुणों से विपरीत गुण वाले होते हैं, वे आहार-विहार समान गुण वाला होने के कारण दोषों की वृद्धि कर उन्हें प्रकुपित करते हैं, इसी प्रकार धातुविरुद्ध गुण वाले आहार-विहार भी दोष प्रकुपित कर स्रोतसों को दूषित करते हैं। इसकी टीका में आचार्य चक्रपाणिदत्त ने कहा है कि—'आहारश्चेत्यादिना सामान्येन सर्वस्रोतोदुष्टिमाह। दोषगुणैः सम इत्यनेन दोषातिवर्धकत्वं दर्शयति। क्षीणांश्च दोषाः नान्यदुष्टिं कुर्वन्ति, किन्तु स्वयमेव क्षीणस्वलिङ्गा भवन्तीत्यादि वेदितव्यम्। धातुभिर्विगुण इति धातुविरोधकस्वभाव इत्यर्थः, न तु धातुविपरीतगुणो विगुणः; दिवास्वप्नमेद्यादयो हि मेदसा समानगुणा एव मेदोदूषका उक्ताः।'

दूषित स्रोतसों द्वारा रोगोत्पत्ति प्रक्रिया

उपर्युक्त विवेचन में यह स्पष्ट किया गया है कि स्रोतस् की शरीर में जहाँ स्वरूप में रहकर शरीर को स्वस्थ रखने में महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है, वहीं दूसरी तरफ जब स्रोतस् दूषित होते हैं तो अनेक प्रकार की विकारोत्पत्ति करते हैं। यहाँ यह समझने

का प्रयास किया जायेगा कि दूषित स्रोतसों द्वारा विकारोत्पत्ति किस प्रकार होती है अर्थात् इनके द्वारा रोगोत्पत्ति की प्रक्रिया क्या है ? स्रोतसों द्वारा विकारोत्पत्ति से सम्बन्धित आचार्य सुश्रुत का सिद्धान्त बहु-प्रचलित है कि—

कुपितानां हि दोषाणां शरीरे परिधावताम् ।
यत्र संगः खवैगुण्याद् व्याधिस्तत्रोपजायते ॥
(सु० सू० २४।१०)

अर्थात् प्रकुपित दोष शरीर में भ्रमण करते हैं । जहाँ भी खवैगुण्य रहता है (यहाँ खवैगुण्यता का अर्थ स्रोतोदुष्टि या स्रोतोवैगुण्य से है, क्योंकि खवैगुण्य की व्याख्या में डल्हणाचार्य ने स्पष्ट किया है कि—'खवैगुण्यात् स्रोतोवैगुण्यादित्यर्थः) । इस प्रकार मिथ्याहार-बिहारादि से कुपित दोष शरीर में भ्रमण करते रहते हैं परन्तु उनके द्वारा व्याधि वहीं पर उत्पन्न किया जाता है जहाँ पर पूर्व से ही स्रोतोदुष्टि होती है अथवा दोष कुपित करने वाले कारणों के द्वारा स्रोतस्-विशेष की भी दुष्टि होती है । चरक-संहिता के चिकित्सा स्थान में ग्रहणी रोग के प्रसङ्ग में धातुपोषण क्रम में इसको अत्यन्त स्पष्ट रूप से प्रकट किया गया है—

क्षिप्यमाणः खवैगुण्याद्रसः सज्जति यत्र सः ।
करोति विकृतिं तत्र खे वर्षमिव तोयदः ॥
दोषाणामपि चैवं स्यादेकदेशप्रकोपणम् ॥
(च० चि० १५।३७-३८)

जब आहार के पाचनोपरान्त आहार रस को व्यान वायु सम्पूर्ण शरीर में एक ही बार विक्षेपित करता है तो वह रस धातु अपने मार्ग द्वारा गमन करते हुए सभी धातुओं को तृप्त करता है । जब रस धातु विक्षेपित होकर भ्रमण करता है, उस समय जिस धातु या भाव के स्रोतस् में दुष्टि या विकृति रहती है, वहीं पर रस धातु रुक जाता है । रस धातु के वहाँ रुक जाने के कारण दुष्ट स्रोतस् होने से विकारोत्पत्ति भी उसी स्थान पर होती है । इस तथ्य को एक उदाहरण के द्वारा स्पष्ट किया गया है कि—आकाश में मेघ यत्र-तत्र भ्रमण करते रहते हैं तथा जहाँ पर ये मेघ रुक कर एकत्र हो जाते हैं वहीं पर ये जल बरसाते हैं । उसी तरह व्यान वायु द्वारा विक्षेपित आहार रस शरीर में भ्रमण करते हुए, स्रोतोदुष्टि के कारण जहाँ रोक लिया जाता है, उसी स्थानविशेष पर रोगोत्पत्ति होती है । चरक संहिता में राजयक्ष्मा चिकित्सा प्रकरण में वर्णित तथ्य के आधार पर इसको और स्पष्टरूप से समझा जा सकता है—

विविधान्यन्नपानानि वैषम्येण समश्नतः ।
जनयन्त्यामयान् घोरान् विषमान् मारुतादयः ॥

स्रोतांसि रुधिरादीनां वैषम्याद्विषमङ्गताः ।
रुद्ध्वारोगाय कल्पन्तेपुष्यन्ति न च धातवः ॥
(च० चि० ८।२८-२९)

पूर्वाहार के जीर्ण होने के पूर्व ही अर्थात् पूर्वगृहीत आहार के बिना जीर्ण हुए ही, विभिन्न प्रकार के अन्नपान ग्रहण करने से अथवा विभिन्न अन्नपान से विषमता को प्राप्त अग्नि द्वारा रोग की उत्पत्ति होती है तथा वातादि दोष भयंकर रूप में कुपित होते हैं। फलतः इनके द्वारा विभिन्न व्याधियाँ उत्पन्न होती हैं। इन प्रकुपित दोषों द्वारा स्रोतावरोध कर दिया जाता है। स्रोतावरोध के कारण रस धातु अन्य रुधिर आदि धातुओं की पुष्टि नहीं कर पाता तथा इस अवरोध के कारण ही विषमाशनजन्य राजयक्ष्मा के विविध लक्षण उत्पन्न होते हैं एवं पोषणाभाव में धातुओं का क्षय होता है (विषममुन्मार्गेण गताः सन्तो रुधिरादीनां स्रोतांसि रुद्ध्वा रोगाय यक्ष्मरूपाय कल्पन्त इति योजना)। इस प्रकार आयुर्वेद में रोगोत्पत्ति क्रम में स्रोतोदुष्टि द्वारा व्याध्युत्पत्ति प्रक्रिया बतलाई गयी है।

स्रोतोदुष्टि के लक्षण—चरकसंहिता में स्रोतोदुष्टि के चार प्रमुख लक्षणों का उल्लेख किया गया है—

'अतिप्रवृत्तिः सङ्गो वा सिराणां ग्रन्थयोऽपि वा ।
विमार्ग गमनं चापि स्रोतसां दुष्टि लक्षणम् ॥ (च० वि० ५।२४)

अर्थात् १. अतिप्रवृत्ति २. सङ्ग ३. सिराओं में ग्रन्थी का होना तथा ४. विमार्गगमन—ये चार स्रोतोदुष्टि के लक्षण होते हैं। अतिप्रवृत्ति का तात्पर्य यह है कि जिस धातु के स्रोतस् में दुष्टि हुई है उस धातु का अधिक रूप में प्रवृत्त होना या निकलना। सङ्ग का तात्पर्य स्रोतस् द्वारा गमन करने वाले धातु या भाव के रुक जाने से है। जब स्रोतोदुष्टि के कारण दुष्ट स्थान पर भ्रमण करते हुए धातुविशेष या शरीरगत अन्य भाव रुक जाते हैं तो उसे सङ्ग कहते हैं। जब स्रोतावरोध या स्रोतोदुष्टि के कारण तदाश्रित धातु वा दोष द्वारा मार्गान्वेषण क्रम में ग्रन्थी-स्वरूप रचना हो जाती है तो उसे सिरा-ग्रन्थी कहते हैं। जब धातु या अन्य भाव स्रोतों द्वारा आवागमन की क्रिया करते हैं, परन्तु स्रोतोदुष्टि वा स्रोतावरोध के कारण उनका मार्ग रोक लिया जाता है तो वे स्वमार्ग को छोड़कर अन्य मार्ग का अनुसरण करते हैं, इस अवस्था या स्थितिविशेष को विमार्गगमन कहा जाता है।

स्रोतों के भेद—स्रोतों के भेद का वर्णन करते हुए आचार्य चरक कहते हैं कि—'तेषां तु खलु स्रोतसां यथास्थूलं कतिचित्प्रकारान्मूलतश्च प्रकोपविज्ञानतश्चानुव्याख्यास्यामः, ये भविष्यन्त्यलमनुक्तार्थज्ञानाय ज्ञानवतां, विज्ञानाय चाज्ञानवताम्'—अर्थात् उन स्रोतों के स्थूलरूप से कुछ भेदों की (तात्पर्य यह है कि जो भेद यहाँ दिये जा रहे हैं वे उदाहरण रूप में ही मुख्य-मुख्य स्रोतस् प्रस्तुत किये गये हैं, इनके अतिरिक्त

शरीर में प्रत्येक भावों के अपने स्रोतस् हैं) मूल व प्रकोपक लक्षणों द्वारा व्याख्या किया जा रहा है। ज्ञानसम्पन्न वैद्यों के लिए वहीं कहे गये स्रोतोविषयक ज्ञान हेतु पर्याप्त है तथा अल्पज्ञ वैद्य के ज्ञान के लिए निर्दिष्ट स्रोत ही पर्याप्त है। इस प्रकार चरकसंहिता में निम्न तेरह स्रोतों का निर्देश दिया गया है—'तद्यथा—प्राणोदकान्नरसरुधिरमांसमेदोऽस्थिमज्जशुक्रमूत्रपुरीषस्वेदवहानिति। अर्थात् ये १. प्राणवह स्रोतस् २. उदकवह स्रोतस् ३. अन्नवह स्रोतस् ४. रसवह स्रोतस् ५. रक्तवह स्रोतस् ६. मांसवह स्रोतस् ७. मेदोवह स्रोतस् ८. अस्थिवह स्रोतस् ९. मज्जवह स्रोतस् १०. शुक्रवह स्रोतस् ११. मूत्रवह स्रोतस् १२. पुरीषवह स्रोतस् तथा १३. स्वेदवह स्रोतस् हैं।

आचार्य सुश्रुत ने ग्यारह स्रोतों का नामोल्लेख किया है तथा प्रत्येक स्रोतस् की संख्या दो मानी है, इस प्रकार उनके अनुसार स्रोतसों की कुल संख्या बाइस हो जाती है—'अत ऊर्ध्वं स्रोतसां मूलविद्धलक्षणमुपदेक्ष्यामः, तानि तु प्राणान्नोदकरसरक्तमांसमेदोमूत्रपुरीषशुक्रार्तवयवहानि, येष्वधिकारः। एकेषां विशेष बहवः।'—सु० शा० ९।१२। अर्थात् स्रोतों की संख्या अधिक होते हुए भी, जिनके मूल स्थानों का वेध हो जाने पर गम्भीर लक्षण उत्पन्न हो जाने की सम्भावना अधिक रहती है, उन ग्यारह स्रोतों का यहाँ उल्लेख किया गया है। ये ग्यारह निम्न हैं—

१. प्राणवह स्रोतस् २. अन्नवह स्रोतस् ३. उदकवह स्रोतस् ४. रसवह स्रोतस् ५. रक्तवह स्रोतस् ६. मांसवह स्रोतस् ७. मेदोवह स्रोतस् ८. मूत्रवह स्रोतस् ९. पुरीषवह १०. शुक्रवह तथा ११. आर्त्तववह स्रोतस्।

दोनों आचार्यों के स्रोतों की संख्या में भिन्नता का कारण यह है कि आचार्य चरक द्वारा कायचिकित्सा की दृष्टि से स्रोतों की गणना की गई है व नामोल्लेख किया गया है जबकि आचार्य सुश्रुत ने शल्यतंत्र (येष्वनधिकारः) की दृष्टि से इनकी संख्या निर्धारित की है।

१. **प्राणवहस्रोत**—आचार्य चरक ने प्राणवह स्रोतस् का मूल हृदय व महास्रोत माना है—'तत्र प्राणवहानां स्रोतसां हृदयं मूलं महास्रोतश्च।' जब कि आचार्य सुश्रुत ने प्राणवह स्रोत का मूल हृदय एवं रसवाहिनी धमनियों को माना है। प्राणवह स्रोत के मूल रूप में हृदय का उल्लेख आचार्यद्वय ने किया है।

दुष्टि के लक्षण—'प्रदुष्टानां तु खल्वेषामिदं विशेषविज्ञानं भवति; तद्यथा—अतिसृष्टमतिबद्धं कुपितमल्पाल्पमभीक्ष्णं वा सशब्दशूलमुच्छ्वसन्तं दृष्ट्वा प्राणवहान्यस्य स्रोतांसि प्रदुष्टानीति विद्यात्।'—च० वि० ५।७। अर्थात् प्राणवह स्रोत के दुष्ट होने पर निम्न विशेष लक्षण उत्पन्न होने हैं—अधिक श्वास का निकलना, अधिक बँधा हुआ, कुपित, थोड़े-थोड़े, बार-बार शब्द और शूल के साथ श्वास का लेना, आदि विशेष लक्षण प्राणवह स्रोत के दुष्टि के उत्पन्न होते हैं।

आचार्य सुश्रुत ने प्राणवह स्रोत-दुष्टि में 'आतुर का चिल्लाना, उसके शरीर का झुकना, मूर्च्छा की उत्पत्ति, मोह, कम्पन का उल्लेख किया है तथा यह भी कहा है कि प्राणवह स्रोतस् की दुष्टि में मृत्यु भी हो सकती है।

चिकित्सा—प्राणवह स्रोतस् की दुष्टि में श्वास रोग की चिकित्सा करनी चाहिए।

२. **उदकवह स्रोतस्**—उदकवह स्रोतस् का मूल आचार्य चरक ने तालु और क्लोम बतलाया है—'उदकवहानां स्रोतसां तालुमूलं क्लोमं च।' आचार्य सुश्रुत ने भी उदकवह का मूल तालु व क्लोम ही कहा है।

दुष्टि के लक्षण—'प्रदुष्टानां तु खल्वेषामिदं विशेषविज्ञानं भवति; तद्यथा—जिह्वा-ताल्वोष्ठकण्ठक्लोमशोषपिपासां चातिप्रवृद्धां दृष्ट्वोदकवहान्यस्य स्रोतांसि प्रदुष्टानीति विद्यात्।'—च० वि० ५। अर्थात् उदकवह स्रोतस् के दुष्ट हो जाने पर निम्न विशेष लक्षण उत्पन्न होते हैं—जिह्वा, तालु, ओष्ठ, कण्ठ व क्लोम सूखने लगते हैं, तथा अत्यधिक पिपासा की उत्पत्ति होती है। आचार्य सुश्रुत ने उदकवह स्रोतस् के दुष्ट होने पर पिपासाधिक्य व सात दिनों के अन्दर मृत्यु कहा है। इस प्रकार उदकवह स्रोतस् की दुष्टि आत्ययिक स्थिति उत्पन्न करती है। शरीरगत जल वहन करने वाली विशेष प्रणालियों को उदकवह कहा गया है। इसका मूल तालु व क्लोम कहा गया है। क्लोम से क्या अर्थ ग्रहण किया जाय? यह आज भी अनिर्णीत है। कतिपय विद्वान् श्वास प्रणाली से तो कतिपय अग्न्याशय आदि का ग्रहण क्लोम अर्थ में ग्रहण करने का निर्देश देते हैं। शरीर में अधिकतर भाग जलीयांश का हैं, परन्तु वह जल शरीर में अनेक रूपों में है। व्यावहारिक दृष्टि से देखा जाता है कि जब भी शरीर में जलाभाव होता है तो जिह्वा, तालु, कण्ठ में शुष्कता व्याप्त हो जाती है जो कि शरीर में जलाभाव होने का एक मुख्य लक्षण है। आचार्य सुश्रुत ने इस स्रोतस् की दुष्टि में सात दिनों में मृत्यु की बात कहकर इसकी आत्ययिकता की ओर ध्यान आकर्षित किया है। जब जिह्वा, कण्ठ, तालु आदि में आर्द्रता यथोचित रूप में बनी रहती है तो यह अनुमान किया जाता है कि शरीर में जल यथोचित रूप में है। अब प्रश्न यह है कि उदकवह स्रोतस् दुष्टि से मात्र शरीर में जलाभाव का अर्थ ग्रहण किया जाय? तो इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि शरीर में जलाभाव को दुष्टि के एक प्रकार के रूप में ग्रहण किया जा सकता है। जैसे—स्रोतस् की दुष्टि में अतिप्रवृत्ति होकर शरीर में जलाभाव हो सकता है। इसके अतिरिक्त यदि स्रोतावरोध होता है तो उदर रोगादि, जलोदर की उत्पत्ति होती है; जिसमें उपर्युक्त लक्षण न्यूनाधिक रूप में उत्पन्न होते हैं—'रुद्ध्वा स्वेदाम्बुवाहीनि दोषाः स्रोतांसि संचिताः। प्राणाग्न्यपानात्·········तृणाम्। इस प्रकार स्रोतावरोधजन्य व्याधि का जलोदर

स्पष्ट उदाहरण है कि जब शरीरगत जल शरीर में एक स्थानविशेष पर संग्रह कर दिये जाने से उपर्युक्त लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं।

उदकवह स्रोतस् की दुष्टि-प्रक्रिया चरक चि० के तृष्णाचिकित्सा में वर्णित है—

'पित्तानिलौ प्रवृद्धौ सौम्यान् धातूंश्च शोषयतः।
रसवाहिनीश्च नाड़ीर्जिह्वामूलगलतालुक्लोम ॥

जब शरीर में वायु व पित्त की वृद्धि होती है तो जलीय धातुओं का शोषण होने लगता है। जिस स्थान पर जलीयांश अधिक रहता है वहाँ शोषण प्रक्रिया तीव्र होती है तथा उन स्थानों को ही जल दुष्टि व अदुष्टि का मानक माना जाता है, यथा–रसवाहिनी, नाड़ी, जिह्वामूल, गला, तालु, क्लोमादि। यहाँ के जलीयांश का पित्त व वायु द्वारा शोषण होने के कारण उस अङ्गविशेष में शुष्कता व्याप्त हो जाती है। यदि शरीर में पित्त की वृद्धि होती है तो पित्त की उष्मा के कारण जल का शोषण होता है। यदि शरीर में वात की वृद्धि होती है तो वायु की रूक्षता के कारण जल का शोषण हो जाता है; जब दोनों दोष प्रवृद्ध होते हैं तो शुष्कता अत्यधिक हो जाती है। कतिपय मानसिक विकारों में अचानक वात या पित्त की वृद्धि होकर उदकवह स्रोतस् की दुष्टि हो जाती है। यथा—क्रोधावस्था में पित्त की वृद्धि द्वारा, चिन्ता, शोक, भय की अवस्था में वायु की वृद्धि होकर उदकवह स्रोतोदुष्टि होती है, जिसके फलस्वरूप उपर्युक्त लक्षण उत्पन्न होते हैं।

चिकित्सा—उदकवह स्रोतोदुष्टि में तृष्णा रोग चिकित्सा में कहे गये उपक्रम करना चाहिए। अर्थात् उदकवह स्रोतोदुष्टि में तृष्णा रोग की चिकित्सा करनी चाहिए।

२. अन्नवहस्रोत—अन्नवह स्रोतस् का मूल चरक के अनुसार आमाशय व वामपार्श्व है—'अन्नवहानां स्रोतसामामाशयो मूलं वामं च पार्श्वं।'–च० वि० ५। आचार्य सुश्रुत अन्नवह स्रोतस् का मूल आमाशय व अन्नवह धमनियों को स्वीकार करते हैं।

दुष्टि के लक्षण व कारण[1]—'प्रदुष्टानां तु खलु एषामिदं विशेषविज्ञानं भवति; तद्यथा—अनन्नाभिलषणमरोचकाविपाकौ छर्दिं च दृष्ट्वाऽन्नवहान्यस्य स्रोतांसि प्रदुष्टानीति विद्यात्।'

अर्थात् अन्नवह स्रोतस् दुष्टि में निम्न लक्षण उत्पन्न होते हैं—अन्न सेवन करने

---

१. अतिमात्रस्य चाकाले चाहितस्य च भोजनात्।
अन्नवाहीनि दुष्यन्ति वैगुण्यात् पावकस्य च ॥
(च० वि० ५।१२)

अर्थात् अकाल में भोजन करने से अधिक मात्रा में भोजन करने से, जाठराग्नि के विकृत हो जाने पर अन्नवह स्रोतस् की दुष्टि होती है।

की इच्छा उत्पन्न न होना, अरुचि (अन्न सेवन करने पर उस अन्न में किसी प्रकार की रुचि न होना), अविपाक (सेवन किये गये आहार का परिपाक सम्यक् रूपेण नहीं होना) तथा वमन होना—ये सब अन्नवहस्रोतस् दुष्टि के विशेष लक्षण हैं। इसके अतिरिक्त अन्य दुष्टियों द्वारा विभिन्न प्रकार की मूलगत व्याधियाँ होती हैं।

चिकित्सा—अन्नवह स्रोतोदुष्टि के लक्षण होने पर आमदोष की चिकित्सा करनी चाहिए।

४. **रसवहस्रोत**—रसवह स्रोतस् का मूल हृदय व दस धमनियाँ होती हैं—'रसवहानां स्रोतसां हृदयं मूलं दश च धमन्यः।'—च० वि० ५। आचार्य सुश्रुत भी रसवह स्रोत का मूल हृदय एवं दस रसवह धमनियों को स्वीकार करते हैं।

दुष्टि के लक्षण—रसरक्तादि धातुओं की स्रोतोदुष्टि के लक्षण में आचार्य ने कहा है कि—'यान्येव हि धातूनां प्रदोषविज्ञानानि तान्येव यथास्वं प्रदुष्टानां धातुस्रोतसाम्।'—च० वि०। अर्थात् जो धातुओं के प्रदुष्ट होने के लक्षण बतलाये गये हैं, वे ही उन धातुओं के स्रोतों के विकृत होने पर उनके अपने-अपने लक्षण होते हैं। क्योंकि वहाँ भी आचार्य ने कहा है कि—'तेषां तु मलप्रसादाख्यानां धातूनां स्रोतांस्ययनमुखानि। तानि यथाविभागेन यथास्वं धातूनापूरयन्ति। एवमिदं शरीरमशितपीतलीढखादितप्रभवं। अशितपीत......शरीरे व्याधयो भवन्ति।'—च० सू० २८।५। अर्थात् मल व प्रसाद-स्वरूप धातुओं का मुख स्रोतों का मार्ग होता है। इन स्रोतों द्वारा आवश्यकतानुसार धातुओं की पूर्त्ति होती रहती है। आहाररूप में ग्रहण किये गये आहार अशित, पीत, लीढ, खादित—इन चार प्रकार के आहार से ही विभिन्न प्रकार की व्याधियाँ उत्पन्न होती हैं। रसप्रदोषज निम्न विकारों का उल्लेख किया गया है—

अश्रद्धा चारुचिश्चास्य वैरस्यमरसज्ञता।
हृल्लासो गौरवं तन्द्रा साङ्गमर्दो ज्वरस्तमः॥
पाण्डुत्वं स्रोतसां रोधः क्लैब्यं सादः कृशाङ्गता।
नाशोऽग्नेरयथाकालं बलयः पलितानि च॥
रसप्रदोषजविकाराः... ... .।

(च० सू० २८।९-१०)

अर्थात् रस के दुष्ट होने पर अश्रद्धा (भोजनादि में अश्रद्धा); अरुचि, मुखवैरस्य (मुख में किसी आहार-द्रव्य का यथोचित रूप में रसज्ञान न होना), रसनेन्द्रिय द्वारा रस का ज्ञान न होना, हृल्लास, शरीर में भारीपन होना, तन्द्रा, अङ्गमर्द (पूरे शरीर में वेदना का होना), ज्वर, आँखों के सामने अन्धकार व्याप्त हो जाना, पाण्डुरोग, स्रोतावरोध होना, नपुंसकता, शरीर का शिथिल हो जाना, अङ्गविशेष का या अङ्गों का कृश हो जाना, अग्नि का नाश हो जाना, बिना उचित काल या अवस्था

के ही शरीर में झुर्रियों का पड़ना, असमय अर्थात् बिना समय आये ही बालों का पक जाना—ये सब लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं।

रसवहस्रोतस् दुष्टि के कारण—

गुरुशीतमतिस्निग्धमतिमात्रं समश्नताम्।
रसवाहीनि दुष्यन्ति चिन्त्यानां चातिचिन्तनात्॥

अर्थात् अतिगुरु, अतिशीत, अतिस्निग्ध तथा अतिमात्रा में भोजन करने से और अत्यधिक चिन्तन (विचार करने योग्य विषयों पर अधिक विचार करने से) करने से रसवाही स्रोत दूषित हो जाते हैं, जिसके फलस्वरूप उपर्युक्त लक्षण उत्पन्न होते हैं।

रसवह स्रोतोदुष्टि की चिकित्सा—

विविधाशितपीतीये रसादीनां यदौषधम्।
रसादि स्रोतसां कुर्यात्तद्यथा स्वमुपक्रमम्॥ (च० वि० ५)

अर्थात् रसादि धातुओं के स्रोतोदुष्टि की चिकित्सा इन धातुओं के दोषजन्य चिकित्सा के अनुसार की जाती है, जिसका उल्लेख विविधाशितपीतीयाध्याय में किया गया है। वहाँ रसप्रदोषज विकारों की चिकित्सा हेतु कहा गया है कि—

रसजानां विकाराणां सर्वलङ्घनमौषधम्।

रसज व्याधियों की सर्वोत्तम चिकित्सा लङ्घन है।

५. रक्तवहस्रोत—रक्तवह स्रोत का मूल आचार्य चरक ने यकृत व प्लीहा कहा है। 'शोणितबहानां स्रोतसां यकृन्मूलं प्लीहा च।' आचार्य सुश्रुत ने भी यही माना है।

दुष्टि का कारण—

विदाहीन्यन्नपानानि स्निग्धोष्णानि द्रवाणि च।
रक्तवाहीनि दुष्यन्ति भजतां चातिपानलौ॥
(च० वि० ५।१२)

अर्थात् विदाही अन्नपान के सेवन करने से (विदाही अन्नपान का तात्पर्य ऐसे अन्नपान से है जो शरीर में दाहोत्पत्ति करते हैं) स्निग्ध, उष्ण व द्रवाहार का अधिक सेवन करने से, अधिक धूप व अधिक वायु का सेवन करने से रक्तवह स्रोतस् दूषित होता है।

दुष्टि के लक्षण—

वक्ष्यन्ते रक्तदोषजाः।
कुष्ठवीसर्पपिडकारक्तपित्तमसृग्दरः॥
गुदमेढ्रास्यपाकश्च प्लीहा गुल्मोऽथ विद्रधिः।
नीलिका कामलाव्यङ्गः पिप्लवस्तिलकालकाः॥

दद्रुश्चर्मदलं श्वित्रम् पामा कोठास्रमण्डलम् ।
रक्तप्रदोषाज्जायन्ते.................... ॥

अर्थात् रक्तप्रदोषजन्य या रक्तवह स्रोतोदुष्टिजन्य निम्न व्याधियाँ होती हैं—कुष्ठ (विभिन्न प्रकार के क्षुद्र व महाकुष्ठ), वीसर्प, पिडका (शरीर पर निकलने वाली पीडिकायें वा फोड़े), रक्तपित्त (शरीर के उर्ध्वमार्ग मुखनासिकादि या अधोमार्ग गुदा योनि आदि द्वारा रक्त की अतिप्रवृत्ति), रक्तप्रदर, गुदा में पाक, मेढ्रपाक, मुखपाक, प्लीहावृद्धि वा प्लीहोदर, गुल्म, विद्रधि, नीलिका, कामला, व्यङ्ग (चेहरे पर होने वाला दाग), पिप्लु, तिलकालक, दद्रु, चर्मदल, श्वित्र (शरीर पर होने वाला सफेद दाग या धब्बा। इसे श्वेत कुष्ठ भी लोक व्यवहार में कहा जाता है, परन्तु इसका पाठ स्वतंत्र किया गया है, अतः सामाजिक व मनोवैज्ञानिक दृष्टि से श्वित्र को सफेद दाग या धब्बा कहना ही उचित होगा), पामा, कोठ तथा रक्तमण्डल—ये उपर्युक्त विकार रक्त या रक्तवह स्रोतोदुष्टि से उत्पन्न होते हैं।

आचार्य सुश्रुत ने रक्तवह स्रोतोदुष्टि में पाण्डुता, श्यावता, ज्वर, दाह, शरीर से अत्यधिक मात्रा में रक्तस्राव या रक्तनेत्रता आदि लक्षणों का उल्लेख किया है। आचार्य ने मूलरूप से होने वाली विकृति का उल्लेख किया है।

चिकित्सा—'विधिशोणितिकेऽध्याये रक्तजानां भिषज्जितम् ।' अर्थात् रक्तवह स्रोतोदुष्टि में विधिशोणिताध्याय में वर्णित चिकित्सा करनी चाहिए। यथा—विरेचन कराना, उपवास अथवा रक्तविस्रावण कराना—'विरेकमुपवासं च स्रावणं शोणितस्य च ।

६. मांसवह स्रोतस्—मांसवह स्रोतस् का मूल आचार्य चरक ने स्नायु व त्वक् कहा है। 'मांसवहानां च स्रोतसां स्नायुर्मूलं त्वक् च ।'—च० वि० ५। आचार्य सुश्रुत ने भी मांसवह स्रोतस् का मूल स्नायु व त्वक् ही कहा है, परन्तु इनके साथ रक्तवह धमनियों को भी मांसवह स्रोतस् का मूल कहा है।

दुष्टि के कारण—

अभिष्यन्दीनि भोज्यानि स्थूलानि च गुरुणि च ।
मांसवाहीनि दुष्यन्ति भुक्त्वा च स्वपतां दिवा ॥

(च० वि० ५।१५)

अर्थात् अभिष्यन्दि आहार, स्थूलाहार, गुरु आहार का सेवन करना, भोजन करने के बाद तत्काल दिवास्वप्न करना अर्थात् दिन में भोजन करने के तुरंत बाद सो जाना आदि कारण मांसवह स्रोतस् को दूषित करने वाले होते हैं।

दुष्टि के लक्षण—'शृणु मांसप्रदोषजान् । अधिमांसार्बुदं कीलं गलशालूकशुण्डिके। पूतिमांसालजीगण्डगण्डमालोपजिह्विका। विद्यान्मांसाश्रयान्'—अर्थात् मांस धातु की दुष्टि या मांसवह स्रोतस् की दुष्टि से निम्न लक्षण उत्पन्न होते हैं—१. अधिमांस,

२. अर्बुद, ३. मांसकील, ४. गलशालूक, ५. गलशुण्डी, ६. पूतिमांस, ७. अलजी, ८. गलगण्ड, ९. गण्डमाला, १०. उपजिह्विका। ये सब दूषित मांस के कारण होते हैं। आचार्य सुश्रुत ने मांसवह स्रोतस् के दुष्ट होने पर शोथ, मांसशोष (मांसपेशियों का क्षय अर्थात् मांसपेशियों का सूखना), सिराग्रन्थि एवं मृत्यु का उल्लेख किया है।

चिकित्सा—'मांसजानां तु संशुद्धिः शस्त्रक्षाराग्निकर्म च।'—च० सू० २८।३६। अर्थात् मांस प्रदोषज या मांसवह स्रोतोदुष्टिजन्य व्याधियों में संशोधन अर्थात् वमन, विरेचन, निरुहवस्ति, अनुवासन वस्ति, शिरोविरोचनादि पञ्चकर्म के द्वारा शरीर का शोधन करना चाहिए। व्याधि के अनुसार शस्त्रकर्म (यहाँ शस्त्रकर्म का तात्पर्य छेदन, भेदन, आहारादि अष्टविध शस्त्रकर्म से है), क्षारकर्म (क्षार की कार्मुकता क्षरण होती है। अधिमांस, मांसकील आदि में क्षार प्रयोग करने से वृद्धि प्राप्त दूषित भाग क्षरण द्वारा अर्थात् गलकर समाप्त हो जाता है) तथा अग्निकर्म करना चाहिए।

७. अस्थिवह स्रोतस्—अस्थिवह स्रोतस् का मूल मेद व जघन कहा गया है—'अस्थिवहानां स्रोतसां मेदोमूलं जघनं च।' आचार्य सुश्रुत ने अस्थिवह स्रोतस् का उल्लेख नहीं किया है।

दुष्टि के कारण—

व्यायामादतिसंक्षोभादस्थ्नामतिविघट्टनात्।
अस्थिवाहीनि दुष्यन्ति विरुद्धानां च सेवनात्॥
(च० वि० ५।१७)

अर्थात् अत्यधिक व्यायाम करने से, अत्यधिक क्षोभ होने से (क्षोभ विभिन्न आहारादि द्वारा भी हो सकता है अथवा बाह्यरूपेण अभिघातादि के द्वारा भी क्षोभ हो सकता है, किसी भी कारण से क्षोभ होने से) अस्थियों में अधिक टक्कर या अभिघात होने से अथवा वातल रूक्ष, लघु आदि आहार-विहार के सेवन करने से अस्थिवह स्रोतोदुष्टि होती है।

दुष्टि के लक्षण—

अध्यस्थिदन्तौ दन्तास्थिभेदशूलं विवर्णता।
केशलोमनखश्मश्रुदोषाश्चास्थिप्रदोषजाः॥ (च० सू० २८।१६)

अर्थात् जब अस्थिधातु प्रदूषित होती है अथवा अस्थिवह स्रोतस् की दुष्टि होती है तो—अध्यस्थि (अध्यस्थि का अर्थ होता है कि एक अस्थि के ऊपर अन्य अस्थियों का उत्पन्न होना अथवा अस्थि की वृद्धि होने के कारण ऊपर उभार के रूप में प्रकट होना), अधिदन्त (एक दाँत के ऊपर अन्य दूसरे दाँत का उत्पन्न हो जाना), दन्त-भेद, दन्तशूल, अस्थिभेद, अस्थिशूल, अस्थि व दाँत में विवर्णता अर्थात् अस्थि व दाँत

के रंग का परिवर्तित हो जाना, केश, लोम, श्मश्रु, नख आदि का विकृत हो जाना, आदि लक्षणों की या व्याधियों की उत्पत्ति होती है।

चिकित्सा—

अस्थ्याश्रयाणां व्याधीनां पञ्चकर्माणि भेषजम्।
बस्तयः क्षीरसर्पींषि तिक्तकोपहितानि च॥

(च० सू० २८।२७)

अर्थात् अस्थिधातु दुष्टिजन्य अथवा अस्थिवह स्रोतोदुष्टिजन्य व्याधियों की चिकित्सा पञ्चकर्म (वमन, विरेचन, निरुह व आस्थापन बस्ति तथा शिरोविरेचन) है। इसमें विशेषकर बस्तियों का प्रयोग या तिक्त वर्ग की औषधियों से सिद्ध क्षीर व घृत का प्रयोग प्रशस्त होता है।

८. मेदोवह स्रोत—आचार्य चरक ने मेदोवह स्रोत का मूल दोनों वृक्क और वपावहन माना है—'मेदोवहानां स्रोतसां वृक्कौमूलं वपावहनं च।' आचार्य सुश्रुत ने मेदोवहस्रोतस् का मूल वृक्कों को तो माना है, परन्तु वपावहन के स्थान पर कटि माना है।

दुष्टि के कारण—

अव्यायामाद्दिवास्वप्नान्मेद्यानां चातिभक्षणात्।
मेदोवाहीनि दुष्यन्ति वारुण्याश्चातिसेवनात्॥

(च० वि० ५।१६)

अर्थात् अव्यायाम (व्यायाम नहीं करने से अथवा अन्य थकावट उत्पन्न करने वाले शारीरिक चेष्टाओं के न करने से), दिन में सोने से, वसायुक्त मांस का अधिक मात्रा में सेवन करने से तथा वारुणी नामक मद्य के अत्यधिक सेवन करने से मेदोवह स्रोतस् की दुष्टि होती है।

दुष्टि के लक्षण—'मेदः संश्रयांस्तु प्रचक्ष्महे। निन्दितानि प्रमेहाणां पूर्वरूपाणि यानि च।'—च० सू० २८।१५। अर्थात् मेदोदुष्टिजन्य या मेदोवह स्रोतोदुष्टिजन्य विकार वही होते हैं, जिनका उल्लेख प्रमेह के पूर्वरूप प्रसंग में अष्टौनिन्दित प्रसङ्ग में कहा गया है। यथा—

मेदस्यतीव संवृद्धे सहसैवानिलादयः।
विकारान् दारुणान् कृत्वा नाशयन्त्याशु जीवितम्॥
मेदोमांसातिवृद्धत्वाच्चलस्फिगुदरस्तनः।
अयथोपचयोत्साहो नरोऽतिस्थूल उच्यते॥
इति मेदस्विनो दोषा हेतवो रूपमेव च॥

(च० सू० २१।८-९)

अर्थात् मेद धातु के बढ़ जाने पर सहसा वात, पित्त, कफ प्रकुपित होकर भयंकर रोगों को उत्पन्न करते हैं एवं स्थूल पुरुष का जीवन नष्ट कर देते हैं। मेद के बढ़

जाने पर नितम्ब, उदर व स्तन स्थूल होने के कारण लटक जाते हैं तथा चलते समय हिलते रहते हैं। अन्य अङ्ग-प्रत्यङ्ग की वृद्धि यथोचित रूप में नहीं हो पाती तथा कार्योत्साह नहीं रहता। इसके अतिरिक्त प्रमेह के पूर्वरूप में केश का जटारूप में होना, मुख की मधुरता, हाथ पैर में शून्यता व दाह, तृषाधिक्य, मुख तालु आदि का सूखना, शरीर का मलयुक्त होना, सदैव निद्रा-तन्द्रादि का होना आदि लक्षण कहे गये हैं (च० नि० ४।४७) आचार्य सुश्रुत ने मेदोवह स्रोतस् दुष्टि में स्वेदाधिक्य, अङ्गों का स्निग्ध हो जाना (अधिक स्निग्ध हो जाना), तालुशोष (तालु का सूखना या तालु की आर्द्रता का शोषण हो जाना परिणामतः तालु में शुष्कता व्याप्त होना); शोथ व तृषाधिक्यतादि लक्षणों का उल्लेख किया है।

चिकित्सा—मेदोवह स्रोतस् दुष्टि में मेदोरोग की चिकित्सा की जाती है। यथा—१. 'वातघ्नान्यन्नपानानि श्लेष्ममेदोहराणि च'—वात-कफ मेद को नष्ट करने वाले अन्नपान का सेवन, २. 'रूक्षोष्णा बस्तयस्तीक्ष्णा रूक्षाण्युद्वर्तनानि च'—अर्थात् तीक्ष्ण, उष्ण, रूक्ष बस्तियों का प्रयोग; तीक्ष्ण, रूक्ष औषधियों का उद्वर्तन करना। ३. 'गुडूचीभद्रमुस्तानां प्रयोगस्त्रैफलस्तथा।······शिलाजतुप्रयोगश्च साग्निमन्थरसः।' अर्थात् गुडूची, नागरमोथा, त्रिफला, तक्रारिष्ट और शहद का प्रयोग करना चाहिए। विडंग, शुण्ठी, क्षार, तीक्ष्ण, लौहभस्म, मधु, जौ का आटा अथवा आमलकी चूर्ण का प्रयोग करना चाहिए अथवा बृहत्पंचमूल का शहद के साथ प्रयोग करना चाहिए अथवा शिलाजतु का प्रयोग अग्निमन्थ के रस से करना चाहिए। ४. 'प्रजागरं व्यवायं च व्यायामं चिन्तनानि च'—प्रजागरण अर्थात् अधिकतर समय जगे हुए स्थिति में व्यतीत करना, मैथुनादि कर्म करना, व्यायाम करना, चिन्तन आदि मानसिक श्रम करना आदि।

९. मज्जवह स्रोतस्—मज्जवह स्रोतस् का मूल आचार्य चरक ने अस्थियों व सन्धियों को कहा है—'मज्जवहानां स्रोतसामस्थीनि मूलं सन्धयश्च।' आचार्य सुश्रुत ने मज्जवह स्रोतस् का उल्लेख नहीं किया है।

दुष्टि के कारण——

उत्पेषादत्यभिष्यन्दादभिघातात् प्रपीडनात्।
मज्जवाहीनि दुष्यन्ति विरुद्धानां स सेवनात्॥

(च० वि० ५।१८)

अर्थात् कहीं किसी कारण कुचल जाने से, कफ बढ़कर स्रोतस् में भर जाने के कारण, अभिघात से (चोट लगने से), पीडनादि होने से (कहीं किसी भारी वस्तु या दीवार आदि से दब जाने से) तथा विरुद्धाहार-बिहार के सेवन करने से मज्जवह स्रोतस् की दुष्टि होती है।

दुष्टि के लक्षण—मज्जवह स्रोतस् दुष्टि में भी वही लक्षण या बिकार उत्पन्न

होते हैं जो विकृत मज्जा के कारण उत्पन्न होते हैं। यथा—'रुक् पर्वणां भ्रमो मूर्च्छा दर्शनं तमसस्तथा। अरुषां स्थूलमूलानां पर्वजानां च दर्शनम्। मज्जप्रदोषात्।'—च० सू० २७।१७। अर्थात् शरीर की सन्धियों में वेदना होना (संधिशूल), भ्रम (चक्कर आना), मूर्च्छा, तमप्रकोप (आँखों के सामने अन्धेरा न रहते हुए भी अंधेरा छा जाना), शरीर की सन्धियों में बड़े मूल वाली फुंसियों की उत्पत्ति—ये सब मज्जप्रदोष विकार या मज्जवह स्रोतोदुष्टिजन्य विकार है।

चिकित्सा—

मज्जशुक्रसमुत्थानामौषधं स्वादुतिक्तकम्।
अन्नं व्यवायव्यायामौ शुद्धिकाले च मात्रया॥

(च० सू० २८।२८)

अर्थात् मज्जा व शुक्रगत विकार में मधुर व तिक्त रस वाले आहार-विहार का सेवन कराना चाहिए। आतुर को व्यायाम अथवा शारीरिक चेष्टायें करनी चाहिए। मैथुन करना मज्जादुष्टि की चिकित्सा निर्देशित है। कालानुसार यथोचित रूप में संशोधन चिकित्सा (वमन, विरेचनादि) करना चाहिए।

१०. शुक्रवह स्रोतस्—शुक्रवह स्रोतस् का मूल आचार्य चरक ने वृषण और शेफ (मूत्रेन्द्रिय) कहा है—'शुक्रवहानां वृषणौ मूलं शेफश्च।' आचार्य सुश्रुत शुक्रवह स्रोतस् का मूल दोनों वृषण और स्तन को स्वीकार करते हैं।

दुष्टि के कारण—

अकालयोनिगमनान्निग्रहादतिमैथुनात्।
शुक्रवाहीनि दुष्यन्ति शस्त्रक्षाराग्निभिस्तथा॥

(च० वि० ५।१९)

अर्थात् शुक्र के वेग को धारण करने से (शुक्र के वेग को रोकने से), अकाल में मैथुन करने से (यहाँ अकाल का अर्थ दो दृष्टियों से ग्रहण किया जा सकता है। अकाल-मैथुन का अर्थ शास्त्रविहित काल के अतिरिक्त काल, यथा प्रातः-काल या ब्राह्म मुहूर्त, सन्ध्याकालादि ग्रहण किया जाता है तथा अकाल का अर्थ ऋतुकाल के अतिरिक्त दिनों में किया गया मैथुन होता है। प्रत्येक मास में मासिक रजस्राव शुरू होने से सोलह दिनों तक को या आर्त्तव स्रावकाल को छोड़कर बारह दिनों तक को ऋतुकाल कहा जाता है। इसके अतिरिक्त अन्यकाल में योनिसेवन अकालयोनि है अथवा आर्त्तव काल (ऋतुस्राव के समय) में मैथुन करना भी अकाल योनिसेवन है), अयोनिगमन से (यहाँ अयोनि से गुदमैथुन, मुखमैथुनादि योनि के अतिरिक्त अन्य भागों से मैथुन तथा मनुष्येत्तर योनि-सेवन; यथा जानवरों के साथ मैथुनादि), अत्यधिक मैथुन करने से तथा शुक्रवाही स्रोतस् पर शस्त्र-क्षार या अग्नि से दग्ध अभिघात से शुक्रवाही स्रोत दूषित होते हैं।

दुष्टि के लक्षण—शुक्रवह स्रोत के दूषित होने पर उन्हीं लक्षणों की उत्पत्ति होती है जो शुक्र प्रदोषज लक्षणों से उत्पन्न होते हैं। यथा—

शुक्रस्य दोषात् क्लैब्यमहर्षणम् ।
रोगि वा क्लीबमल्पायुर्विरूपं वा प्रजायते ।।
न चास्य जायते गर्भः पतति प्रस्रवत्यपि ।
शुक्रं हि दुष्टं सापत्यं सदारं बाधते नरम् ।।

(च० सू० २८ । १८–१९)

अर्थात् नपुंसकता, अहर्षणम् (अहर्षण का तात्पर्य यह है कि हर्षोत्पत्ति का अभाव अर्थात् पूर्णरूपेण मैथुन हेतु उत्तेजना न होना), मैथुन में उत्साह का अभाव होना, शुक्र-दुष्टि की अवस्था में मैथुन करने से सन्तानोत्पत्ति नहीं हो पाती है (संतानोत्पत्ति हेतु आयुर्वेद में शुद्ध शुक्र व शोणित का संयोग आवश्यक कहा गया है; अतः दुष्ट शुक्र द्वारा गर्भ की उत्पत्ति न होने से सन्तानोत्पत्ति नहीं होती है)। यदि गर्भ-निर्माण हो भी जाता है तो गर्भस्राव या गर्भपात हो जाता है। यदि गर्भ का स्राव या पात नहीं होता है तो जो सन्तान उत्पन्न होती है, वह सन्तान अल्पायु, रोगी, नपुंसक अथवा कुरूप होती है। दुष्ट हुआ शुक्र स्त्री व सन्तान के साथ-साथ जिस व्यक्ति का शुक्र दुष्ट होता है, उसको भी बाधा पहुँचाता है। आचार्य सुश्रुत ने शुक्रवह स्रोत के दुष्ट होने पर नपुंसकता, शुक्र का देर तक मैथुन करने के उपरान्त क्षरण होना अथवा शुक्र-क्षरण के साथ रक्तप्रवृत्ति (रक्तशुक्रता) होना आदि लक्षण कहा है।

चिकित्सा—आचार्य चरक ने मज्जा व शुक्र दोषजन्य व्याधियों की चिकित्सा समान रूप में करने का निर्देश दिया है—'मज्जशुक्रसमुत्थानामौषधं स्वादुतिक्तकम्। अन्नं व्यवायव्यायामौ शुद्धिकाले च मात्रया'—अर्थात् शुक्रवहस्रोतोदुष्टिजन्य विकारों में अथवा शुक्रप्रदोषज विकारों में—मधुर रस व तिक्त रस वाले आहार द्रव्यों का भोजन करना चाहिए। व्यायाम कराना चाहिए। विशेष रूप से शुक्रवह स्रोतोदुष्टि में मैथुन कर्म कराना चाहिए। उचित काल में अर्थात् ऋतु के अनुसार वमन, विरेचनादि कर्म कराना चाहिए।

११. मूत्रवहस्रोत—आचार्य चरक ने मूत्रवहस्रोत का मूल बस्ति और वङ्क्षण माना है—'मूत्रवहानां स्रोतसां बस्तिर्मूलं वङ्क्षणौ च।' आचार्य सुश्रुत ने मूत्रवह स्रोतस् का मूल बस्ति व मेढ्र माना है।

मूत्रवह दुष्टि के कारण—

मूत्रितोदकभक्ष्यस्त्री सेवनान्मूत्रनिग्रहात् ।
मूत्रवाहीनि दुष्यन्ति क्षीणस्याभिक्षतस्य च ।।

(च० वि० ५ । २०)

अर्थात् मूत्र का वेग आने पर मूत्र का वेग रोककर जल पीने से अथवा मूत्र-वेग

को रोककर भोजन करने से, अथवा आये हुए मूत्र-वेग को रोककर मैथुन करने से; बार-बार मूत्र के वेग को रोकने से, शरीर के अत्यधिक रूप में क्षीण हो जाने से, मूत्र-वह स्रोत पर आघात लगने से या उस स्रोतस् के विद्ध हो जाने से मूत्रवह स्रोतस् की दुष्टि हो जाती है। मूत्रवह स्रोतस् दुष्टि का मुख्य कारण यहाँ मूत्रवेग का धारण ही कहा गया है, अतः इसमें वही लक्षण उत्पन्न हो सकते हैं जो मूत्र वेगधारण करने के होते हैं।

दुष्टि लक्षण—'बस्तिमेहनयोः शूलं मूत्रकृच्छ्रं शिरोरुजा। विनामो वङ्क्षणानाहः स्याल्लिङ्गं मूत्रनिग्रहे। अर्थात् जब मूत्रवेग को धारण किया जाता है तो मूत्रवह स्रोतस् की दुष्टि होकर बस्ति व मेढ्र में शूलोत्पत्ति, मूत्रकृच्छ्रता, शिरःशूल, विनाम (अर्थात् शूलोत्पत्ति के समय शरीर का नीचे की ओर झुक जाना), वंक्षणनाह आदि लक्षण उत्पन्न होते हैं। इसके अतिरिक्त स्रोतोदुष्टिजन्य लक्षण मूत्र की अतिप्रवृत्ति या मूत्रसङ्ग अथवा बार-बार थोड़ी मात्रा में मूत्र आना—आदि लक्षण उत्पन्न हो सकते हैं। आचार्य सुश्रुत ने मूत्रवह स्रोतोदुष्टि के लक्षणों में—मूत्रनिरोध, आनद्धबस्तितता, बस्ति एवं मूत्रमार्ग में रक्तस्राव का होना, लिङ्ग का स्तब्ध हो जाना एवं प्रजननाङ्गों की सुप्तता आदि का उल्लेख किया है।

चिकित्सा—इसकी चिकित्सा मूत्रकृच्छ्रवत् करनी चाहिए। इसके अतिरिक्त मूत्र-वेग धारणजन्य व्याधियों हेतु उल्लिखित चिकित्सा का प्रयोग करना चाहिए। यथा—

स्वेदावगाहनाभ्यङ्गान् सर्पिषश्चावपीडकम्।
मूत्रे प्रतिहते कुर्यात्त्रिविधं बस्तिकर्म च॥

(च० सू० ७।७)

इस प्रकार उपर्युक्त विकारों में स्वेदन, अवगाहन, अभ्यङ्ग, घृत द्वारा अवपीडन करना चाहिए। इसके अतिरिक्त निरुह, अनुवासन व उत्तरबस्ति का प्रयोग करना चाहिए।

१२. पुरीषवहस्रोत—पुरीषवह स्रोत का मूल चरकसंहिता में पक्वाशय और गुद कहा गया है—'पुरीषवहानां स्रोतसां पक्वाशयो मूलं स्थूल गुदं च।'—च० वि० ५। आचार्य सुश्रुत भी पुरीषवह स्रोतस् का मूल पक्वाशय और गुद ही बतलाते हैं।

दुष्टि के कारण—

संधारणादत्यशनादजीर्णाध्यशनात्तथा।
वर्चोवाहीनि दुष्यन्ति क्रोधशोकभयैस्तथा॥

(च० वि० ५।२२)

अर्थात् मलवह स्रोतस् की दुष्टि, मल के वेग को धारण करने से अत्यधिक भोजन करने से, भोजन के अजीर्ण होने से, भोजन करने के बाद बिना पचे ही पुनः भोजन करने से, अग्नि के मन्द हो जाने से तथा शरीर की कृशता के कारण होती है।

दुष्टि के लक्षण—चरकसंहिता में स्वतंत्र रूप से पुरीषवह स्रोतोदुष्टि के लक्षणों का उल्लेख किया गया है। पुरीषवह स्रोतोदुष्टि के लक्षण कारण के अनुसार उत्पन्न होते हैं। पुरीषवेग धारण से जब पुरीषवह स्रोत की दुष्टि होती है तो वेग धारणजन्य लक्षण उत्पन्न होते हैं। यथा—पक्वाशय व शिर में वेदना, अपान वायु व मल का अवरोध, जंघा की पिण्डलियों में ऐंठन होना, आध्मान आदि लक्षण हो सकते हैं। इसके अतिरिक्त स्रोतस् दुष्टिजन्य अन्य लक्षण उत्पन्न हो सकते हैं। यथा—पुरीष की अतिप्रवृत्ति, पुरीषजन्य अवरोध या स्रोतस् के विकृत होने पर मल का अन्य मार्गों से निकलना आदि लक्षण उत्पन्न हो सकते हैं। चरक के अनुसार पुरीषवह स्रोतस् दुष्टि के सामान्य लक्षण के रूप में कष्टपूर्वक थोड़ा-थोड़ा शूलयुक्त अत्यन्त पतला, दुर्गन्धित, अत्यधिक गाँठयुक्त या प्रभूत मात्रा में मल का त्याग होता है। आचार्य सुश्रुत ने पुरीषवह स्रोतस्दुष्टि के लक्षणों में मलबंधता, आनाह, मल का दुर्गन्धित होना, ग्रथितान्त्रता आदि का उल्लेख किया है।

चिकित्सा—आचार्य चरक ने पुरीषवह स्रोतोदुष्टि की चिकित्सा अतिसार रोग के समान करने को कहा है। लंघन, पाचनादि द्वारा चिकित्सा करनी चाहिए। यदि मल की अतिप्रवृत्ति हो रही हो तो पाचनादि के साथ स्तम्भक औषधियों का प्रयोग करना चाहिए। अतिप्रवृत्ति की चिकित्सा अतिसारवत् करना आवश्यक है परन्तु यदि स्रोतोदुष्टि के कारण संग हो गया है अर्थात् मलावरोध, आनाह आदि वेगधारणजन्य लक्षण उपस्थित हों तो इस स्थिति में पुरीषवेगावरोधजन्य रोगों के सदृश चिकित्सा की जा सकती है, क्योंकि पुरीषवह स्रोतोदुष्टि के कारणों में भी पुरीषवेग संधारण का सर्वप्रथम उल्लेख किया गया है। अतः इसके लिए—स्वेदन, अभ्यङ्ग, अवगाहन, वर्ति प्रयोग, बस्तियों का प्रयोग करना लाभदायक होता है—

स्वेदाभ्यङ्गावगाहश्च वर्त्तयो बस्तिकर्म च। (च० सू० ७।९)

१३. स्वेदवह स्रोतस्—स्वेदवह स्रोतस् का मूल मेद व रोमकूप माने गये हैं—

'स्वेदवहानां स्रोतसां मेदोमूलं लोककूपाश्च'॥ (च० वि० ५)

दुष्टि के कारण—

व्यायामादतिसंतापाच्छीतोष्णाक्रमसेवनात्।
स्वेदवाहीनि दुष्यन्ति क्रोधशोकभयस्तथा॥
(च० वि० ५।२२)

अर्थात् अधिक व्यायाम करने, अधिक देर तक धूप में रहने, अनुचित रूप से शीत व उष्ण के सेवन करने से, शीत, उष्ण गुण वाले द्रव्यों का अनुचित रूप से आहाररूप में सेवन करने से, क्रोध, शोक, भय से स्वेदवह स्रोतस् की दुष्टि होती है।

दुष्टि के लक्षण—'प्रदुष्टानां तु खल्वेषामिदं विशेषविज्ञानं भवति; तद्यथा—अस्वेदनमतिस्वेदनं पारुष्यमतिश्लक्ष्णतामङ्गस्य परिदाहं लोमहर्षं च दृष्ट्वा स्वेदवहा-

न्यस्य स्रोतांसि प्रदुष्टानीति विद्यात् ।'—च० वि० ५।८ । अर्थात् स्वेदवह स्रोतस् की दुष्टि होने पर निम्न लक्षण उत्पन्न होते हैं—स्वेद का नहीं निकलना अथवा स्वेद का अधिक मात्रा में निकलना, शरीर में अत्यधिक कठिनता का होना, शरीर में अधिक चिकनापन, त्वचा में दाह होना, रोमों का खड़े हो जाना आदि लक्षण स्वेदवह स्रोतो दुष्टि में होते हैं।

चिकित्सा—इसकी चिकित्सा ज्वर के समान करनी चाहिए।

१४. आर्तववह स्रोत—इसका मूल आचार्य सुश्रुत ने गर्भाशय और आर्तववह धमनियों को कहा है।

इसकी दुष्टि होती है तो बंध्यत्व की उत्पत्ति होती है। आर्तववह स्रोतोदुष्टि में आर्तव का नाश हो जाता है तथा मैथुनासहिष्णुता अर्थात् मैथुन करने पर असह्य शूल की उत्पत्ति होती है।

उपर्युक्त स्रोतसों के अतिरिक्त शरीरगत प्रत्येक भावों के अपने-अपने स्रोतस् हैं। यहाँ आचार्य ने मुख्य स्रोतसों का उदाहरणार्थ उल्लेख किया है।

स्रोतस् सिद्धान्त की उपादेयता

आयुर्वेद में स्रोतोवाद अति उपादेय सिद्धान्त है। आयुर्वेद का यह सिद्धान्त है कि—शरीरगत प्रत्येक भावों के गमनागमन हेतु अपने-अपने निर्धारित मार्ग हैं, उन भावों की गमनागमन प्रक्रिया अबाध रूप में चलती रहती है तो शरीर व मन स्वस्थ रहते हैं। जब उन मार्गों में किसी प्रकार की विकृति उत्पन्न हो जाती है, तो अनेक प्रकार की व्याधियाँ उत्पन्न होती हैं। स्रोतस् की भूमिका स्वास्थ्य-रक्षण व विकारोत्पत्ति में समान रूप से होती है। हमारे जीवन में जो भूमिका मार्ग की होती है, शरीर में वही भूमिका स्रोत की होती है।

आयुर्वेद में स्रोतस् के महत्त्व को रचनात्मक व क्रियात्मक दोनों दृष्टि से प्रदर्शित किया गया है। क्रिया के माध्यम स्रोत ही होते हैं। रचनात्मक विकृति व तज्जन्य विकारों से सम्बन्धित तथ्य का उद्घाटन आचार्य सुश्रुत ने किया है। क्रियात्मक विकृति से सम्बन्धित सिद्धान्तों पर आचार्य चरक ने प्रकाश डाला है। आयुर्वेद में स्रोतस् सिद्धान्त की उपादेयता धातुपोषण क्रम में विस्तृत रूप से दर्शायी गयी है।

स्रोतस् सिद्धान्त की उपादेयता के संदर्भ में यदि संक्षिप्ततः स्रोतोवाद को समझ लिया जायेगा तो इसकी उपादेयता स्वतः स्पष्ट हो जायेगी। आयुर्वेद में शरीर को पांचभौतिक कहा गया है अर्थात् इसका निर्माण पंचमहाभूतों द्वारा होता है, जिसमें आद्य महाभूत आकाश होता है। आकाश महाभूत की शरीर-निर्माण में भूमिका पर प्रकाश डालते हुए कहा गया है कि—गर्भनिर्माण काल में शब्द, श्रोत्रेन्द्रिय, लघुता, सूक्ष्मता, विवेकादि—ये सब आकाशीय भाव होते हैं—'तत्रास्याकाशात्मकं शब्दः श्रोत्रं लाघवं सौक्ष्म्यं विवेकश्च ।'—च० शा० ४।१२ । जब पूर्ण शरीर का निर्माण हो जाता है तो

शरीर में—'यद्विविक्तं यदुच्यते महान्ति चाणूनि स्रोतांसि तदान्तरीक्षं शब्दः श्रोत्रं च।'—च० शा० ७।१६। अर्थात् विविक्त (शरीरगत सभी प्रकार के छिद्रादि। यहाँ विविक्त का तात्पर्य अवकाशयुक्त (Vacuam place) रचना से है कहा जाता है कि बड़े और छोटे स्रोत, शब्द व श्रोत्रेन्द्रिय आकाश महाभूत की अधिकता से होते हैं। इस प्रकार आचार्य चरक ने यहाँ आकाश महाभूत से रचित रचना को स्रोत कहा है। आकाश महाभूत से रचित छिद्रों को ही स्रोत कहा गया है। आचार्य सुश्रुत ने शरीरगत नौ स्थूल छिद्रों को स्रोत कहा है—'श्रवणनयनवदनघ्राणगुदमेढ्राणि नव स्रोतांसि नराणां बहिर्मुखानि। एतान्येव स्त्रीणामपराणि च त्रीणि, द्वे स्तनयोरधस्तादार्तववहं च।'—सु० २९। आचार्य काश्यप ने स्थूल व सूक्ष्म छिद्रों को ही स्रोतस् की संज्ञा देते हुए उदाहरण के साथ इसको स्पष्ट किया है—स्रोतांसि द्विविधान्याहुः सूक्ष्माणि च महान्ति च। महान्ति नव जानीयाद् द्वे चाधः सप्त चोपरि। नाभिश्च रोमकूपाश्च सूक्ष्मस्रोतांसि निर्दिशेत्।' इस प्रकार शरीर में जितने भी अवकाश हैं, उन्हें स्रोत कहा गया है। शरीरगत रचनाओं में जो सुषिरता है वह स्रोत है। विभिन्न शारीरिक रचनाओं की स्थिति भी अवकाश में है तथा उनके अन्दर का सुषिर भाग स्रोत है। जिस प्रकार की रचना होती है उसी के अनुरूप उस रचना में रिक्त स्थान होता है। आकाश की विविक्तता से यह ग्रहण करना चाहिए कि दो विभिन्न रचनाओं के बीच में जो सूक्ष्मातिसूक्ष्म सुषिरता होती है वह स्रोत है। अथवा एक ही धातु की रचना में जो अवयवों के बीच सुषिरता होती है वह भी स्रोत ही है। इस प्रकार आचार्यों ने सूक्ष्म से सूक्ष्म व स्थूल से स्थूल रचनाओं की रिक्तियों को स्रोत कहा है। चाहे वह रचना स्थूल हो या वह सूक्ष्म। उनके भीतर मार्ग सभी में सामान्य रूप से रहता है; अतः 'सामान्यमेकत्वकरं' के आधार पर सबको स्रोतस् कहा गया है। यहाँ स्रोतस् सिद्धान्त की सबसे बड़ी उपादेयता यह है कि, प्रत्येक स्रोतस् की पृथक्-पृथक् विकृतियों का अध्ययन करना सम्भव नहीं है, अतः स्रोतस् सामान्य होने से उनकी विकृति प्रक्रिया भी समान होती है। अतः समान विकृति प्रक्रिया के आधार पर चिकित्सा करना व रोगनिदान प्रक्रिया समझना बहुत आसान हो जाता है।

आयुर्वेद की विशिष्टता है कि, इस पद्धति द्वारा रोग की समूल चिकित्सा की जाती है, जिसमें स्रोतस् सिद्धान्त की मुख्य भूमिका होती है। आयुर्वेद में षड्क्रिया काल वर्णित है, जिसमें दोष की तीन अवस्थायें हैं (संचय, प्रकोप, प्रसर) तथा तीन (स्थानसंश्रय व्यक्तिभेद) व्याधि अवस्थायें हैं। जब व्याध्युत्पत्ति प्रक्रिया प्रारम्भ होती है तो प्रथम विकृति स्रोतस् से ही प्रारम्भ होती है। स्थानसंश्रय या रोगोत्पत्ति प्रक्रिया से सम्बन्धित एक सिद्धान्त है—'खवैगुण्य'। इसका उल्लेख दोनों सम्प्रदाय के आचार्यों ने किया है। 'ख' आकाश को कहा जाता है। स्रोतस् आकाशीय होते हैं। अतः एक ओर 'ख' एक रचनात्मक रूप स्रोतस् का द्योतक है तो दूसरी ओर क्रियात्मक

सिद्धान्त 'वहन' का माध्यम है। खवैगुण्य में दोनों अर्थों का ग्रहण होता है। 'ख' वैगुण्य से तात्पर्य है—स्रोतस् का वैगुण्य। क्योंकि स्रोतस् व 'ख' (आकाश) इतने घनिष्ठ रूप में सम्बन्धित हैं कि इनका व्यवहार पर्याय रूप में होता है। स्रोतस् व ख मेरी समझ से समवाय रूप से सम्बन्धित दो भाव हैं अथवा दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि ये एक भाव की दो अवस्थायें हैं। ख अर्थात् आकाश जब दो मूर्त्तिमान् भावों द्वारा अथवा एक भाव द्वारा वृत्ताकार रूप में घेर दिया जाता है तब उस मूर्त्तिमान् भावों से आवृत आकाश को या ख को स्रोतस् कहा जाता है। इस प्रकार स्रोतों के अन्दर के सुषिर भाग को ख कहा जाता है। आकाश का निकटतम सम्बन्धित उत्तर महाभूत वायु है। वायु गति-अर्थपरक है। वाधु या वात का अर्थ ही गति है। अतः इस आकाशीय भाग में गति होती है। यह गति स्वयं वायु की अथवा इसकी प्रेरणा से अग्नि, जल व पृथ्वी महाभूत वाले द्रव्यों की होती है, जिसे वहन कहा जाता है, जो स्रोतसों की मुख्य क्रिया है। जब इस आकाशीय भाग में किसी तरह की गति में बाधा उत्पन्न होती है या विकृति होती है तो उसे ख वैगुण्यता कहते हैं। जब खवैगुण्यता होती है हो शारीरिक धातुओं तक उनका आवश्यक पोषण नहीं पहुँच पाता; जिस धातु के पास वह पोषण रुक जाता है वहाँ उसके लिए आवश्यक घटक के अतिरिक्त अन्य घटक या उस धातु के विपरीत गुण वाले घटक संगृहित हो जाते हैं, जिससे विभिन्न व्याधियों की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार इस सिद्धान्त की उपादेयता यह है कि सम्पूर्ण निज व्याधियों की उत्पत्ति-प्रक्रिया मात्र एक सिद्धान्त 'खवैगुण्य' के आधार पर मानी जाती है, चाहे वह प्रक्रिया अणु स्तर पर हो या स्थूल स्तर पर। इसके अतिरिक्त वर्णित स्रोतसों (प्राणोदकादि) के दो मूल माने गये हैं। एक उत्पत्ति के आधार पर तथा दूसरा च्यवन के आधार पर। यथा—पुरीषवह स्रोतस् का मूल पक्वाशय व स्थूल गुद है। पक्वाशय में पुरीषोत्पत्ति (अन्तिम रूप से पुरीष का पृथक् होना) होती है तथा इसका निष्क्रमण गुदा से होता है। इसी प्रकार शुक्रवह स्रोत का मूल वृषणी व मेढ्र को माना गया है। इसका तात्पर्य यह है कि वृषण में शुक्र की उत्पत्ति होती है तथा मेढ्र से च्यवन होता है। इस प्रकार वृषण से मेढ्र तक तथा पक्वाशय से गुद तक की रचनात्मक व क्रियात्मक में विकृति का ज्ञान खवैगुण्य के आधार पर प्राप्त होता है। जिससे इन स्रोतसों की विकृति के कारण होने वाले व्याधियों की चिकित्सा सरल हो जाती है।

स्रोतस् सिद्धान्त की उपादेयता चिकित्सा में भी बहुत है। आयुर्वेदीय चिकित्सा में दोष के साथ स्रोतस् दुष्टि प्रक्रिया पर ध्यान देकर रोगों का समूल नाश किया जाता है। बिना स्रोतस् विशोधन के रोग का चिकित्सा के द्वारा समूल नाश नहीं किया जा सकता। अतः आयुर्वेद में प्राथमिक रूप में स्रोतो-विशोधन ही किया जाता

है, फिर उसके बाद व्याधि के अनुसार उसकी शमन-चिकित्सा की जाती है। आयुर्वेद में स्रोतसों के शोधन के लिए एक विशिष्ट चिकित्सा का विकास किया गया है, जिसे संशोधन चिकित्सा कहा जाता है। इस विधि में पाँच कर्मों का प्रयोग होने के कारण इसे पञ्चकर्म चिकित्सा कहते हैं। व्याधिशमन हेतु मात्र संशोधन चिकित्सा करके रोग का समूल नाश तब तक नहीं किया जा सकता, जब तक कि संशोधन चिकित्सा द्वारा स्रोतोशोधन नहीं किया जाता है। इसी आशय से आचार्य चरक ने कहा है कि—

दोषाः कदाचित् कुप्यन्ति जिता लङ्घनपाचनैः।
जिताः संशोधनैर्ये तु न तेषां पुनरुद्भवः॥

(च० सू० १६।२०)

अर्थात् दोष की शमन-चिकित्सा से पुनः रोगोत्पत्ति का भय रहता है परन्तु शोधन द्वारा व्याधि का समूल नाश हो जाता है। व्याधि का मूल अर्थात् व्याध्युत्पत्ति का प्रारम्भ स्रोतों की विकृति से ही प्रारम्भ होता है। अतः जब स्रोतों-विशोधन हो जाता है तो रोग का समूल नाश हो जाता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि आयुर्वेद चिकित्सा का मूल स्रोतोवाद ही है तथा रोग का समूल नाश स्रोतोवाद सिद्धान्त पर ही किया जाता है।

आत्ययिक अवस्थाओं या व्याधिविपरीत चिकित्सा में भी स्रोतस् सिद्धान्त अति उपादेय है। यथा—रक्तवहस्रोतस् की दुष्टि में रक्तस्राव कराना कहा गया है। रक्तस्राव किसी भी मार्ग व कारण से होता है परन्तु स्रोतस् सिद्धान्त के अनुसार उसे रक्तवहस्रोतस् दुष्टिजन्य विकार ही माना जाता है। चंदन, उशीर, शुभ्रा आदि औषध किसी भी प्रकार के रक्तस्राव में लाभदायक होते है। रक्तस्राव को रक्तवह स्रोतस् का अतिप्रवृत्ति दोष माना जाता है।

आधुनिक युग में जब मानव के आहार-बिहार का वैश्वीकरण हुआ है (Globalisation) तो स्रोतोवाद की उपादेयता और भी बढ़ जाती है। उच्च रक्तचाप, कतिपय हृदय रोग प्रत्यक्षतः स्रोतोवैगुण्य के उदाहरण हैं। स्रोतोवाद के अनुसार आयुर्वेदीय चिकित्सा द्वारा यह प्रयत्न किया जाता है कि स्रोतावरोध दूर हो जाय, जिससे व्याधि स्वयमेव नष्ट हो जायेगी। मात्र व्याधिशामक चिकित्सा का परिणाम यह होता है कि आतुर को आयुपर्यन्त औषधि का सेवन करना पड़ता है, किन्तु जब स्रोतोशोधन कर दिया जाता है तो आतुर को रोग से मुक्ति मिल जाती है।

इस प्रकार हमें ज्ञात होता है कि स्रोतस् सिद्धान्त आयुर्वेदीय चिकित्सा का आधार है और आधुनिक काल में यह मात्र उपादेय ही नहीं, वरन् रोगों के समूल नाश के लिए अनिवार्य भी है। स्रोतस् सिद्धान्त की उपादेयता पर एक स्वतन्त्र ग्रन्थ की रचना हो सकती है। यहाँ संक्षिप्त रूप में कतिपय उदाहरणों द्वारा इसकी उपादेयता का निर्देश-मात्र दिया गया है।

अध्याय—२४

दोषसामनिरामवाद

प्रस्तुत शीर्षक के अन्तर्गत साम व निराम दोषों का अवधारणात्मक विवेचन किया जायेगा। साम का तात्पर्य आमयुक्त व निराम का तात्पर्य आमरहित होता है। अतः सर्वप्रथम 'आम' की अवधारणा क्या है? इसको समझने का प्रयत्न किया जायेगा। 'आम' शब्द से प्रायः कच्चा या अपाचित अर्थ ग्रहण किया जाता है। आयुर्वेद में आम की अवधारणा दो रूप में उपलब्ध है—एक आम-अन्न व दूसरा आम-रस। आम-अन्न द्वारा महास्रोतगत सद्यः प्राणहर आपातकालिक व्याधियाँ उत्पन्न होती हैं तथा आम-रस के कारण सार्वदैहिक व्याधियाँ उत्पन्न होती हैं, जो चिरकालिक स्वभाव के होते हैं। यहाँ 'दोषसामनिरामवाद' में आम रस से ही तात्पर्य है, अतः उसी का उल्लेख किया जा रहा है। 'आम' शब्द को परिभाषित करते हुए कहा गया है कि—

उष्मणोऽल्पबलवत्वेन धातुमाद्यमपाचितम् ।
दुष्टमामाशयगतं रसमामं प्रचक्षते ॥
अन्य दोषेभ्य एवातिदुष्टेभ्योऽन्यमूर्च्छनात् ।
कोद्रवेभ्यो विषस्येव वदन्त्यामयसंभवः ॥

(वा० सू० १३। २५-२६)

तात्पर्य यह है कि अग्नि में जब उष्मा की कमी हो जाती है अर्थात् अग्नि का बल जब कम हो जाता है तो प्रथमतः धातु-रस का निर्माण या आहार-रस का निर्माण पाचित रूप में न होकर अपाचित रूप में होता है। जब वह अपाचित रस आमाशय में जाता है, तो इस अवस्था को आम कहा जाता है। दुष्ट वातादि दोष परस्पर मिलकर आमदोष को उत्पन्न करते हैं। आचार्य विजयरक्षित ने आम के हेतु में कहा है कि—'सोऽन्नजो रस इत्यामः अन्नरसस्यैवापक्वस्य तन्त्रान्तरे आमव्यपदेशात्।' अपाचित अन्न-रस को आम कहते हैं। अर्थात् यदि अन्नरस का पूर्ण पाचन न होकर अन्नरस अपाचित ही रह जाता है तो उसे आम कहा जाता है। आचार्य विजयरक्षित ने आमवात प्रकरण में अनेक विद्वानों द्वारा स्थापित आम की परिभाषा को प्रस्तुत किया है।

१. अन्यैरप्युक्तम्—

आमाशयस्थः कायाग्नेदौर्बल्यादविपाचितः।
आद्य आहारधातुर्यः स आम इति कीर्तितः॥

(मा० नि० में विजयरक्षित)

अर्थात् कुछ विद्वानों का मत है कि आमाशय में जब जाठराग्नि की दुर्बलता के के कारण आहारादि का सम्यक् पाचन नहीं हो पाता तो उस आहार के द्वारा रस का निर्माण अपाचित रूप से होता है, उस अपाचित आहार को ही आम कहा जाता है। यहाँ आम की उत्पत्ति जाठराग्नि की दुर्बलता से कही गई है। आमोत्पत्ति का स्थान आमाशय कहा गया है। परन्तु इस श्लोक में रस धातु को सीधे न कहकर 'आद्य आहारधातु' कहा गया है। यहाँ आद्य आहार धातु से आहार द्वारा बनने वाले रस धातु का ग्रहण किया जा सकता है। इस प्रकार आमाशय में अग्नि बल के कम होने से आहार रस का जब पूर्ण पाचन नहीं हो पाता तो उस आहार रस को आम कहते हैं।

२. अपरे त्वाहुः—

अविपक्वं संयुक्तं दुर्गन्धं बहुपिच्छिलम्।
सदनं सर्वगात्राणामाम इत्यभिधीयते ॥

(मधुकोष मा० नि० २५।२ पर)

अर्थात्—कतिपय आचार्यों का मत है कि जब अपाचित आहार रस (हालांकि यहाँ अविपक्वं आहारं या आहाररसं आदि नहीं कहा गया है परन्तु अविपक्व कहने से प्रसंगानुसार लेखक का अभिप्राय अविपक्व आहार या आहार रस ग्रहण किया जा सकता है।), जो दुर्गन्धित व अतिपिच्छिलतायुक्त होता है तथा सम्पूर्ण शरीर व शरीरावयव में जो साद (अवसाद) उत्पन्न करता है, उसे आम कहा जाता है। उपर्युक्त श्लोक में आम के स्वरूप व शरीर पर होने वाले इसके सामान्य प्रभाव का उल्लेख किया गया है। आम का स्वरूप एक अतिचिपचिपाहट वाले पदार्थ के रूप में उल्लिखित है, जो अति दुर्गन्धित होता है। इसके शारीरिक प्रभाव के बारे में कहा गया है कि इससे शरीर व शरीरावयवों की क्रियायें अवसादित होती हैं।

३. आचार्य विजयरक्षित पुनः अन्य आचार्यों के मत को उद्धत करते हुए कहते कि—अन्येस्त्वाहुः—

आहारस्य रसः शेषो यो न पक्वोऽग्निलाघवात्।
समूलं सर्वरोगाणामाम इत्यभिधीयते ॥ (मधुकोष)

अर्थात् अग्नि के लघु यानि अल्प बलयुक्त होने के कारण लिए गये आहार के पाचनोपरान्त आहार रस अपक्व ही रह जाता है, अर्थात् जिस प्रकार का पाचन अपेक्षित होता है, उस तरह का पाचन नहीं हो पाता। इस अपाचित शेष यानि बचे हुए आहार रस को आम कहा जाता है। इस आम को सम्पूर्ण व्याधियों का मूल कहा गया है। यहाँ सभी व्याधियों से तात्पर्य उन व्याधियों से है, जो अग्नि-विकार के कारण उत्पन्न होते हैं। काय-चिकित्सा के अन्तर्गत वर्णित रोग प्रायशः अग्नि-विकारजन्य ही होते हैं।

४. 'आममन्नरसं केचित् केचित्तु मलसंचयम् ।'—मधुरोग ।

यहाँ आचार्य विजयरक्षित ने दो मतों को एक साथ प्रस्तुत किया है। उनका कथन है कि कुछ लोगों के अनुसार-जिस आहार का भलीभांति पाचन नहीं हुआ है वह आम कहा जाता है तथा कुछ विद्वानों के अनुसार शरीर में मलों का जब संचय होता है तो उसे आम कहा जाता है।

इसके अतिरिक्त आचार्य ने एक और भी मत प्रस्तुत किया है कि दोष-दुष्टि की प्रथम अवस्था को आम कहते हैं—'प्रथमां दोषदुष्टिं च केचिदामं प्रचक्षते ।'—मधु० । यहाँ यदि दोषों की प्रथम दुष्टि का अभिप्राय आम समझा जाता है तो यह कहा जा सकता है कि कुछ विद्वान् दोषों की संचयावस्था को ही आम कहते हैं, क्योंकि दोष की प्रथम दुष्टि दोष-संचयावस्था ही होती है।

इस प्रकार 'आम' शब्द से आयुर्वेद में अपक्व अर्थ ग्रहण किया गया है। जिसमें दो प्रकार की अवधारणायें प्रचलित हैं। एक अपक्व आहार तथा दूसरा अपक्व आहार रस। अपाचित या आम आहार द्वारा महास्रोतगत विसूचिका, अलसक आदि व्याधियाँ उत्पन्न होती है। इसमें जाठराग्नि का बल अतिन्यून होता है, जिससे वह आहार की परिणति विकृत रस के रूप में करती है, इसी को आम विष भी कहा जाता है। इस सम्बन्ध में अवधारणा यह है कि—अग्नि की मंदता के कारण लिए गये आहार का पाचन नहीं होता है। वह अपाचित आहार शुक्तभाव को प्राप्त करता है तथा इसकी क्रिया विष के सदृश होती है—

दुष्यत्यग्निः स दुष्टोऽन्नं न तत्पचति लघ्वपि ।
अपच्यमानं शुक्तत्वं यात्यन्नं विषरूपताम् ॥

(च० चि० १५ । ४२)

आचार्य वाग्भट्ट ने इसको निम्न रूप में प्रस्तुत किया है—

विरुद्धाध्यशनाजीर्णशीलिनां विषलक्षणम् ।
आमदोषं महाघोरं वर्जयेद् विषसंज्ञकम् ।
विषरुपाशुकारित्वात् विरुद्धोपक्रमत्वतः ॥

(वा० सू० ५ । १३-१४)

इस प्रकार से उत्पन्न आम विसूचिकादि रोगोत्पादक होता है—

अजीर्णमामं विष्टब्धं विदग्धं च यदीरितम् ।
विसूच्यलसकौ तस्माद्भवेच्चापि विलम्बिका ॥ (सु० उ०)

परन्तु दोषसामनिरामवाद अपाचित आहार रसजन्य आम से सम्बन्धित है। आचार्य विजयरक्षित द्वारा दिये गये आम के अनेक मतों द्वारा यह स्पष्ट हो जाता है कि---अग्नि की मन्दता के कारण जब अपक्व आहार रस की उत्पत्ति होती है तो उसे आम कहा जाता है। आहार का प्रथमतः पाचन आमाशय में होता है। लिए

गये आहार पर अग्नि की क्रिया होती है। जब जाठराग्नि मंद हो जाती है तो वह आहार को सम्यक् पाचित नहीं कर पाती है। उस आहार का जो रस बनता है वह अपक्व होता है। अपक्व होने के कारण वह रस दुर्गन्धित तथा अति पिच्छिल होता है। आमाशय के ऊर्ध्वभाग में कफ का स्थान है, वहाँ कफ द्वारा आहार का क्लेदन होता है फिर उसका पाचन होता है। जब क्षीण अग्नि द्वारा आहार का पाचन होता है तो कफज भाव पृथ्वी भूत वाले भावों का विघटन नहीं हो पाता है; क्योंकि प्रबल अग्नि अपनी उष्णता से उसका पाचन कर धातुओं के अनुकूल बना देती है, परन्तु अग्नि की मंदता से कफज भाव बढ़ जाते हैं, जिससे उस अपक्व आहार में अति-पिच्छिलता दोष हो जाता है तथा उससे दुर्गन्ध आने लगता है।

दोषों का साम-निराम होना—साम का अर्थ आम से युक्त होना है। जब दोष आम रस के साथ युक्त होते हैं तो उसे साम कहते हैं। साम को माधवनिदान में निम्न रूप में स्पष्ट किया गया है—

आमेन तेन संयुक्ता दोषा दूष्याश्च दूषिताः।
सामा इत्युपदिश्यन्ते ये च रोगास्तदुद्भवाः॥

अर्थात् जब तीनों दोष (वात, पित्त, कफ) दूष्य (सप्त धातुएँ) मलादि आमाशयोत्पन्न आम से संयुक्त होते हैं, तब उस अवस्था को साम कहा जाता है। दोषों के साम होने या दूष्यों के साम होने से व्याधियाँ उत्पन्न होती हैं, उन्हें भी साम कहा जाता है।

इस प्रकार आमाशय में उत्पन्न आम रस किसी भी दोष, दूष्यादि से संयुक्त हो जाता है। जिसके साथ वह संयुक्त होता है, उसे साम कहा जाता है।

आचार्य सुश्रुत के वचन को माधवनिदान में संग्रहित कर उपर्युक्त तथ्य की पुष्टि की गई है कि—

यत्रस्थमामं विरुजेत्तमेव देशं विशेषेण विकारजातैः।
दोषेण येनावततं शरीरं तल्लक्षणैरामसमुद्भवैश्च॥
(मा० नि० अग्निमांद्य)

अर्थात् आमदोष शरीर के जिस भाग में (या अङ्ग-विशेष अवयव-विशेष में) अवस्थित रहता है, उस विशिष्ट भाग में रहने वाले दोष के साथ मिलकर दोष व आमजन्य लक्षणों के साथ व्याधियाँ उत्पन्न करता है। इस प्रकार इस श्लोक के द्वारा दोष-साम्यता का निर्देश दिया गया है। मधुकोष टीकाकार ने इसकी व्याख्या करते हुए कहा है कि—'आमं कर्तृ यत्रस्थं तमेव देशं विशेषेण रुजेत्, एतेनान्यदेशेऽपि किंचिद्रुजं करोतीति बोधयति। यत्रेति सर्वनामशब्देन कुपितवातादिनामिवानियत-मेव स्थानमामस्येति दर्शितम्। कैरुजेदित्याह-विकारजातैर्विकारसमूहैः। किंभूतैरित्याह-दोषेण येन स्वकारणकुपितेन वातादिनाऽवततं व्याप्तं शरीरं, तल्लक्षणैः तल्लिङ्गैस्तोद-

दाहगौरवादिभिः।' ···मधु०। अर्थात् सभी वातादि दोषों के अपने-अपने नियत स्थान हैं। जब शरीरस्थ दोष कुपित होते हैं (अर्थात् आम के साथ संयुक्त होते हैं) तो उनके उपस्थित अपने लक्षण भी आम के लक्षण के साथ व्यक्त होते हैं। जैसे वात प्रकोप से तोंद, पित्ताधिक्य से दाह व चोष एवं कफाधिक्य से गौरवादि लक्षण उत्पन्न होते हैं तथा इन लक्षणों के साथ आमजन्य लक्षण भी उत्पन्न होते हैं।

इस प्रकार उपर्युक्त श्लोक से यह स्पष्ट होता है कि—१. आम रस शरीर में भ्रमण करता है। २. किसी स्थानविशेष पर या अवयवविशेष में रुककर अवस्थित हो जाता है। ३. वह उसी स्थान पर अवस्थित होता है, जहाँ उस आम रस के संवहन में अवरोध होता है। ४. उस स्थान के दोष के साथ मिल जाता है। ५. तब उस दोष को साम कहते हैं। आम रस का संवहन व स्थान संश्रित होने की प्रक्रिया चरकसंहिता के निम्न श्लोक द्वारा स्पष्ट रूप से समझी जा सकती है—

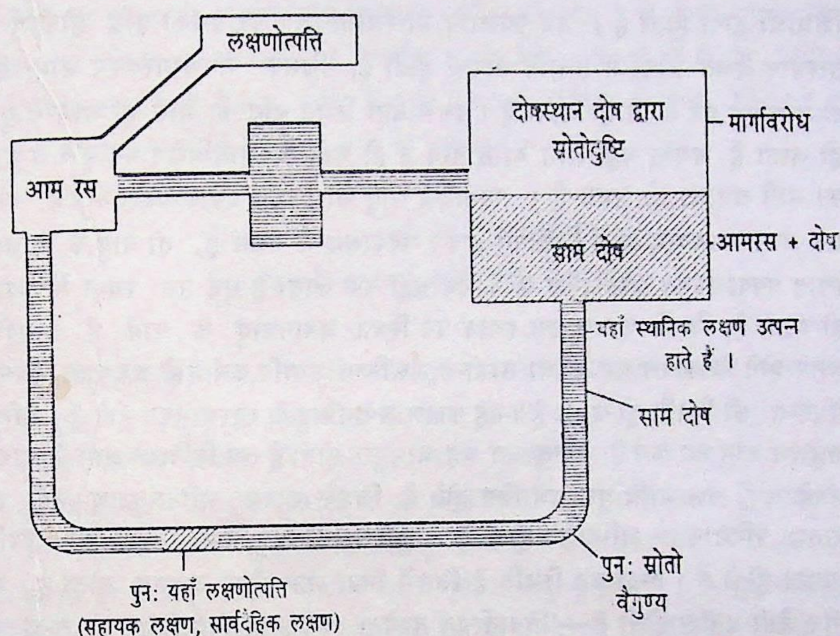
व्यानेन रसधातुर्हि विक्षेपोचितकर्मणा।
युगपत् सर्वतोऽजस्त्रं देहे विक्षिप्यते सदा॥
क्षिप्यमाणः खवैगुण्याद्रसः सज्जति यत्र सः।
करोति विकृतिं तत्र खे वर्षमिव तोयदः॥
दोषाणामपि चैवं स्यादेकदेशप्रकोपणम्।

(च० चि० १५।३६-३८)

अर्थात् व्यानवायु के द्वारा रस धातु (इस सन्दर्भ में यहाँ रस धातु से आम रस समझना चाहिए; क्योंकि रस का निर्माण जिस पक्व या अपक्व रूप में भी रहे उसकी संज्ञा रस ही होती है) पूरे शरीर में विक्षेपित किया जाता है अर्थात् संवाहित किया जाता है। जब व्यान वायु रस को एक स्थान से दूसरे-तीसरे आदि स्थानों पर ले जाती है, तो उसके मार्ग (स्रोतों) में जहाँ कहीं भी विकृति होती है, वहीं पर रुक जाती है अर्थात् अवस्थित हो जाती है। जिस स्थान पर रस धातु रुकती है, वहीं पर विकारोत्पत्ति होती है। जिस प्रकार आकाश में गमन करते हुए मेघ जिस स्थान पर रुकते हैं, वहीं जल बरसाते हैं। साम दोष के सम्बन्ध में इसे इस रूप में समझा जा सकता है—आमरस व्यानवायु द्वारा संवाहित होता है। जिस स्थान पर स्रोतों की विकृति रहती है, वहीं वह रुक जाता है तथा वहाँ के कुपित दोष के साथ संयुक्त होकर व्याधि उत्पन्न करता है तथा जब सामदोष शरीर के अन्य भागों में भ्रमण करता है, तो अन्य लक्षण उत्पन्न करता है। इसे इस रूप में रेखांकित किया जा सकता है।

(यहाँ का चित्र पृष्ठ ४८१ पर देखें)

इस प्रकार दोष व आम अवस्थित स्थान पर मुख्य व्याधि उत्पन्न करते हैं, पुनः सामदोष 'कुपितानां हि दोषाणां शरीरे परिधावताम्। यत्र सङ्गः खवैगुण्याद् व्याधिस्तत्रोपजायते' के अनुसार पुनः संवाहित होते हुये सर्वाङ्ग या अन्य एकदेशीय लक्षण उत्पन्न करते हैं।



१. सामवायु के लक्षण—

> वायुः सामो विबन्धाग्निसादतन्द्राऽन्त्रकूजनैः ।
> वेदनाशोफनिस्तोदैः क्रमशोऽङ्गानि पीडयन् ॥
> विचरेद्युगपच्चापि गृह्णाति कुपितोभृशम् ।
> स्नेहाद्यैर्वृद्धिमाप्नोति सूर्यमेघोदये निशि ॥
>
> (अ० हृ० सू० १३।२७-२८)

अर्थात् जब आमदोष का संयोग वायु से होता है तो साम वायु से विबन्ध अग्निमान्द्य, तन्द्रा, आन्त्रकूजन, वेदना, शूल, शोथ, तोद आदि की उत्पत्ति होती है । जब वृद्धि प्राप्त करता है तो शरीर में विचरण करता है तथा जहाँ पहुँचता है वहाँ अपने अनुरूप लक्षण उत्पन्न करता है, अथवा एक ही काल में सार्वदैहिक लक्षण उत्पन्न करता है । स्नेहादि कर्मों द्वारा लक्षणों में वृद्धि होती है । प्रातःकाल, मेघोदय व रात्रि में इसका प्रकोप होता है ।

वायु तो अमूर्त द्रव्य है तथा अव्यक्त है, अतः शंका उत्पन्न हो सकती है कि, अमूर्त वातदोष का संयोग किस रूप में आम के साथ होता है तथा सामवायु की अवधारणा क्या है ? जबकि आम अपक्व रस के रूप में मूर्त्त भाव है । यदि आम का स्वरूप श्लेष्मवत् है तो फिर आम के पिच्छिल गुण से विपरीत गुण वाले वायु से इसका संयोग होकर इसमें किस प्रकार का क्रियाकर्तृत्व हो सकता है ? इसके समाधान में कहा जा सकता है कि वातदोष गतिपरक है । शरीर में इसकी अभिव्यक्ति इसके

क्रियाओं द्वारा होती है। जब स्वस्थान या स्थानविशेष पर इसकी वृद्धि होती है तो तत्स्थान स्थित स्रोतों में विकृति उत्पन्न होती है, जिसके परिणामस्वरूप आम उस स्थानविशेष पर व्याप्त हो जाता है। इससे वहाँ स्थित वायु का मार्ग भी आम से युक्त हो जाता है अर्थात् वहाँ आम व्याप्त होने से ही वात के स्थानविशेष पर होने से वायु का मार्ग अवरूद्ध हो जाता है। पक्वाशय वायु का विशेष स्थान माना गया है, अतः जब आम व्यानवायु द्वारा विक्षेपित होकर पक्वाशय में आता है, तो वायु के विशिष्ट स्थान पक्वाशयगत स्रोतोदुष्टि के कारण वहीं रुक जाता है एवं उस स्थान में व्याप्त हो जाता है, जिसके कारण उस स्थान पर स्थित अपानवायु के मार्ग में आमदोष व्याप्त होने के कारण वह अपना सामान्य मलनिष्कासनादि कर्म नहीं कर पाता, जिससे 'विबन्ध' की स्थिति हो जाती है। यह लक्षण अपानवायु के स्वस्थानगत होते हैं। अग्नि-संधुक्षण वायु का कर्म है, परन्तु जब वह आमयुक्त होता है तब पिच्छिल आम के कारण उसके लघु, चल आदि गुण प्रभावित होते हैं, जिसके कारण अग्निसंधुक्षण नहीं हो पाता; परिणामतः अग्निसाद होता है। कुपित सामवायु द्वारा तन्द्रा की स्थिति उत्पन्न होती है। तन्द्रा वह स्थिति है जिसमें निद्रा आने जैसा अनुभव होता है, या नींद जैसी प्रवृत्ति होती है—'निद्रार्तस्येव यस्येहा तस्य तन्द्रा विनिर्दिशेत्।' तन्द्रा न पूर्ण जागृतावस्था (यहाँ जागृतावस्था का तात्पर्य उत्साहपूर्वक अपने कर्म में प्रवृत्ति से है) है, न ही निद्रा अवस्था। यह दोनों के मध्य की स्थिति है। मनुष्य जागृत रहता है परन्तु उसके शरीर में शिथिलता व्याप्त होती है तथा नींद की-सी स्थिति बनी रहती है। निद्रा तमोभवा होती है। आम के कारण निद्रा की प्रवृत्ति होती है परन्तु कुपित वायु के कारण निद्रा आ नहीं पाती; अतः सामवायु द्वारा दोनों के मध्य की स्थिति—तन्द्रा की उत्पत्ति होती है। आम के अवरोध के कारण वायु आन्त्र में मार्गान्वेषण करती है, परन्तु आम रस के व्याप्त होने से जब वायु गति करती है तो आन्त्रकूजन होने लगता है। वायु स्वलक्षण उत्पन्न कर वेदना की उत्पत्ति करती है। वायु व आम दोनों के संयुक्त रूप से मार्गावरोध के कारण देश-विशेष में या सर्वाङ्ग में शोथ की उत्पत्ति हो जाती है। जब सामवायु मार्गान्वेषण हेतु गति करती है तो पिच्छिल आम के कारण मार्ग नहीं मिलता; तब अपने सूक्ष्म गुण द्वारा गति कर मार्गान्वेण करती है। जिससे सूक्ष्मातिसूक्ष्म स्थान पर वेग के साथ मार्ग पाने हेतु गमन करती है तो वहाँ तोंद की उत्पत्ति होती है; ऐसा अनुभव होता है कि वहाँ सूई चुभोया जा रहा है। जब सामवायु सम्पूर्ण शरीर में संचरित होती है तो सर्वाङ्ग-गत व्याधि उत्पन्न होती है।

सामवायु की परीक्षा—'स्नेहाद्यैर्वृद्धिमाप्नोति सूर्यमेघोदये निशि।'

यदि उपर्युक्त लक्षण उत्पन्न होते हैं तो वायु साम है या निराम—इसकी परीक्षा करनी चाहिए; क्योंकि उपर्युक्त लक्षणों से अन्य वात-कफजन्य व्याधि का अनुमान

किया जा सकता है अथवा उपर्युक्त लक्षण अधिकतर वात के हैं अतः वातव्याधि का अनुमान किया जा सकता है। उपर्युक्त लक्षण यदि—१. स्नेहन से बढ़ जाता है। २. प्रातःकाल बढ़ते हैं। ३. रात्रि में बढ़ते हैं या ४. आकाश में बादल आने पर बढ़ते हैं तो समझना चाहिए कि वायु आम से युक्त है।

२. निरामवायु—

निरामो विशदो रूक्षो निर्विबन्धोऽल्पवेदनः।
विपरीतगुणैः शान्तिर्स्निग्धैर्याति विशेषतः॥

(अ० हृ० सू० १३)

निरामवायु विशद, रूक्ष, विबन्धरहित तथा अल्पवेदनायुक्त होती है। यहाँ निराम से तात्पर्य है—वायु का आमरहित हो जाना। सामवायु में वायु तथा आम दोनों के संयुक्त लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं; यथा तन्द्रा, अग्निसाद आदि। सामवायु आमजन्य लक्षण से युक्त होता है। जब आम की चिकित्सा की जाती है तो आम की बहुपिच्छिलता समाप्त होकर विशदता हो जाती है। इसी प्रकार आम के अन्य लक्षण समाप्त हो जाते हैं। शेष कतिपय लक्षण कुपित वायु के होते हैं। सामदोष-चिकित्सा में प्रयुक्त पाचनादि कर्म द्वारा आमदोष का पाचन होकर वातप्रकोप के लक्षण अल्प उग्रता को प्राप्त हो जाते हैं, जिसके कारण अल्पवेदना रह जाती है तथा विबन्ध का नाश हो जाता है; परन्तु रूक्षता व्याप्त रहती है। विशदता के कारण मुख में शुष्कता रहती है। ऐसी स्थिति में इस वायु की चिकित्सा वातनाशक उपायों द्वारा की जाती है।

निरामवायु की परीक्षा—१. विपरीत गुणों के सेवन से शान्त हो जाता है।
२. स्निग्ध चिकित्सा व स्नेह द्रव्यों से शांत होता है।

३. सामपित्त—

दुर्गन्धिहरितं श्यावं पित्तमम्लं घनं गुरु।
अम्लीकाकण्ठहृद्दाहकरं सामं पित्तं विनिर्दिशेत्॥

अर्थात् दुर्गन्धयुक्त, हरे या नीले वर्ण वाले, अम्लरसयुक्त, स्थिर, गुरु एवं अम्लपित्त तथा कण्ठ और हृत्प्रदेश में दाहोत्पत्ति करने वाला पित्त सामपित्त होता है।

जब आम रस से पित्त का संयोग होता है तो पित्त की तीक्ष्णता तथा अम्लादि भाव के कारण अतिपिच्छिल आम में कोथादि की उत्पत्ति होने लगती है, जिससे पित्त दुर्गन्धित हो जाता है। पित्त का वर्ण पीत, हरित होने से वह जब आम के साथ मिलता है तो उसका वर्ण हरित श्याव हो जाता है। पित्त की अम्लता बढ़ जाती है। हालाँकि पित्त द्रव होता है, परन्तु पिच्छिल आम के संयोग से वह घना व भारी (गुरु) हो जाता है। इस प्रकार सामपित्त हरित या श्याववर्ण का घन व गुरु रूप में हो जाता है। शुक्तभाव से उसकी अम्लता बढ़ जाती है। इस सामपित्त के द्वारा

अम्लपित्त रोग की उत्पत्ति होती है। (यहाँ अम्लपित्त से अम्लपित्त रोग में वर्णित लक्षणोत्पत्ति अर्थ ग्रहण किया जाता है या अम्लिका से अम्लोद्गार आना, धूमोद्गार होना, दाहादि का अनुभव होना ग्रहण किया जा सकता है) कण्ठ प्रदेश व हृदय प्रदेश में दाह की उत्पत्ति होती है। जब पित्त के साथ आम का संयोग पित्त-स्थान (अधो आमाशय) में होता है तो उस स्थानविशेष पर विकारोत्पत्ति होती है। उस स्थान पर 'अम्लपित्त' की उत्पत्ति होती है परन्तु जब वह सामपित्त अन्य स्थान पर वायु द्वारा विक्षेपित किया जाता है तो जहाँ उसके लिए अनुकूल स्थान प्राप्त होता है वहाँ भी विकारोत्पत्ति (लक्षण) होती है। जब सामपित्त कण्ठप्रदेश में आश्रित होता है तो कण्ठदाह एवं उसके हृदय प्रदेश में आश्रित होने पर हृदयदाह की उत्पत्ति होती है।

४. **निरामपित्त**—निरामपित्त के सम्बन्ध में कहा गया है कि—

आताम्रं पीतमत्युष्णं रसे कटुकमस्थिरम्।
पक्वं विदग्धं विज्ञेयं रुचिपक्तृबलप्रदम्॥

अर्थात् सामपित्त की अवस्था में जब आमपाचन हो जाता है तो भी कुछ लक्षण रह जाते हैं जो निराम पित्त के होते हैं। यथा—पित्त का वर्ण ताम्राभ पीला होता है; अत्यन्त उष्ण गुण से युक्त होता है, रस कटु हो जाता है तथा उसमें अस्थिरता आ जाती है। निराम पित्त गन्धरहित, रुचिप्रद तथा पाचन शक्ति को बढ़ाने वाला होता है। इस प्रकार आम पाचन द्वारा आम होने से पित्त के स्वकर्मजनित लक्षण होते हैं, परन्तु पित्त के कतिपय अल्प विकार रह जाते हैं। जैसे—पित्त का वर्ण ताम्राभ होना, सामान्यावस्था से अधिक उष्ण होना आदि; जो सामान्य चिकित्सा से भी समभाव में आ जाता है।

५. **साम कफ**—जब कफ स्वस्थान में कुपित होकर वहाँ के स्रोतों को दूषित करता है तो शरीर में भ्रमण करता हुआ आम रस कफ के स्थान पर रुककर कफ के साथ मिल जाता है। इस आम-मिश्रित कफ को साम कफ कहा जाता है। इस साम कफ के सम्बन्ध में कहा गया है—

आविलस्तन्तुलः स्त्यानः कण्ठदेशेऽवतिष्ठते।
सामो बलासो दुर्गन्धः क्षुदुद्गार विघातकृत्॥

(अ० हृ० सू० १३।२८)

अर्थात् साम कफ अस्वच्छ (अर्थात् आम से युक्त होने के कारण गंदला-सा) तन्तुओं से युक्त, सान्द्र (गाढ़ा) अथवा जमे हुए रूप में होता (मूलपाठ में स्त्यान) दिया गया है। आचार्य रणजीत देशाई इसका अर्थ सान्द्र लगाते हैं। कफ का गुण सान्द्र है, जब वह अतिपिच्छिल आम से युक्त हो जाता है तो पिच्छिलता के कारण कफ कुछ जमे हुए रूप में हो जाता है) साम कफ अतिपिच्छिलता के कारण कण्ठ-

प्रदेश में चिपक कर अवस्थित हो जाता है। यह कफ दुर्गन्धित होता है। साम कफ के कारण क्षुधा व उद्गार रुक जाता है। इस प्रकार साम कफ के लक्षण में भी दो प्रकार के लक्षणों का उल्लेख किया गया है—एक साम कफ के स्वरूपात्मक लक्षण तन्तुलादि का होना तथा दूसरे वे लक्षण जिसके द्वारा यह ज्ञान हो कि अमुक व्यक्ति में सामकफ की अवस्था है। यथा—कण्ठ प्रदेश में साम कफ का चिपकना, क्षुधा की रुकावट अर्थात् क्षुधा का रुक जाना, उद्गारावरोध (अर्थात् ऐसा अनुभव होता है कि उद्गार का वेग होगा परन्तु साम कफ के व्याप्त रहने के कारण उद्गार में रुकावट हो जाती है) आदि। आचार्य वाग्भट ने कफाजीर्ण का जो लक्षण प्रस्तुत किया है वह अप्रत्यक्षतः कफ की ओर इंगित करता है—

अजीर्णं च कफादामं तत्र शोफोऽक्षिगण्डयोः।
सद्योयुक्त इवोद्गारः प्रसेकोत्क्लेश गौरवम्॥
(अ० हृ० ८। २५)

अर्थात् कफ के कारण अजीर्ण रस आम है। (कफ-वृद्धि के कारण अजीर्ण रस वहीं रुकता है, जहाँ स्रोतोविगुणता रहती है। चूँकि कफजन्य अजीर्ण में कफ की विकृति रहती है तथा कफ का स्थान भी अपना ही रहता है, अतः कफजन्य आम की अवस्था में साम कफ के लक्षण होते हैं) इस आम के लक्षण में कहा गया है कि—अक्षि व गण्डप्रदेश में शोथ, उद्गारावरोध, मुख से लालास्राव, शरीर में भारीपन आदि लक्षण होते हैं।

६. **निराम कफ**—जब साम कफ की अवस्था में आम का पाचन कर दिया जाता है तो जो लक्षण शेष होते हैं, उन्हें निराम कफ का लक्षण कहा जाता है। इसके सम्बन्ध में कहा गया है कि—

फेनवान् पिण्डितः पाण्डुर्निःसारोऽगन्ध एव च।
पक्वः स एव विज्ञेयश्छेदवान् वक्त्रशुद्धिकृत्॥

अर्थात निराम कफ के निम्न लक्षण होते हैं—फेनयुक्त, पिण्डित (यानि कफ का पिण्ड रूप में या गाँठदार होना), पाण्डु वर्ण का होना, निःसार व गन्धरहित कफ का होना निराम कफ के लक्षण हैं। यह मुख में बिना चिपके ही बाहर निकल जाता है। इससे मुख की शुद्धि हो जाती है, अतः इसे छेदवान् कहा जाता है।

दोषसामनिरामवाद की उपादेयता

आयुर्वेद का सिद्धान्त है—'दोषधातुमलमूलं हि शरीरम्'—अर्थात् दोष, धातु व मल ही शरीर के मूल हैं। इनमें शरीरस्थ सप्त धातुएँ शरीर को रचनात्मक रूप से धारण करती हैं। ये सप्तधातुएँ पांचभौतिक होती हैं। अतः इनको अपने धारणात्मक स्वरूप में रखने के लिए आहार की आवश्यकता होती है। आहार भी पाँचभौतिक होता है—

पंचभूतात्मके देहे ह्याहारः पाँचभौतिकः ।
विपक्वः पञ्चधा सम्यक् गुणान् स्वानभिवर्धयेत् ।।

(सु० उ० ४६ । ५२४)

इस प्रकार शरीर व आहार दोनों पाञ्चभौतिक हैं। इस आहार पर जठराग्नि पञ्चभूताग्नियों की जब क्रिया होती है तो विपक्व होकर आहार अपने-अपने गुणों के द्वारा धातुओं की पुष्टि करता है।

इस प्रकार आहारादि के द्वारा शरीरस्थ रचनात्मक धातुओं व शरीरस्थ अन्य भावों का धारणात्मक स्वरूप बना रहता है। इन धातुओं की पुष्टि मधुरादि रसों से युक्त द्रव्यों द्वारा होती है। ये क्रियायें वात, पित्त, कफ द्वारा सम्पादित होती हैं। जब आहार विपक्व होकर धातुरूप में परिणत होता है तो सार भाग तो धातु निर्माण प्रक्रिया में समायोजित हो जाता है; परन्तु आहार का वह भाग, जो निःसार होता है एवं शरीर में रहकर शरीर को मलिन करता है, उसे शरीर के बाहर विक्षेपित कर दिया जाता है। इस प्रकार शरीर का मूल यही है कि—शरीरस्थ सप्तधातुओं का धारणात्मक स्वरूप बनाये रखने के लिए तीन प्रकार की क्रियायें—आदान, विसर्ग व विक्षेप होती हैं. जिसके परिणामस्वरूप शरीर के अनावश्यक तत्त्व बाहर कर दिये जाते हैं। यही जीवित शरीर की मौलिकता है, अतः कहा गया कि—

दोषधातुमलमूलं हि शरीरम्' ।

यहाँ संक्षिप्ततः शरीर की मौलिकता बतलाने की आवश्यकता यह थी कि इससे साम-निरामवाद की उपादेयता स्पष्ट करने में सहायता प्राप्त होगी। जब शरीरस्थ अग्नि मंद या विषम हो जाती है तो आहार का पाचन सम्यक् नहीं हो पाता, जिससे आहार रस अपक्वावस्था में ही रहता है। जब आहार रस ही पूर्णरूपेण पाचित नहीं होता तो उससे पुष्ट होने वाले धातुओं, दोषों व मलों पर भी प्रभाव पड़ता है। आमोत्पत्ति भी दो प्रकार की बतलाई गई है। एक आम अन्न, जिसके कारण महास्रोत में अत्यधिक व्याधियां उत्पन्न होती है। यदि आम का ज्ञान नहीं रहेगा तो फिर उनकी चिकित्सा कैसे की जायेगी।

दूसरा आम रस कहा गया है, जो यहाँ विवेच्य विषय था। यह आम जब दोषों के साथ मिलता है तो दोषों को साम कहा जाता है। शरीर की क्रियायें इन दोषों के द्वारा सम्पन्न होती हैं। यदि दोष ही साम हो जाते हैं तो शरीर में अनेक प्रकार की व्याधियाँ उत्पन्न होती हैं; अतः दोषों की सामता व निरामता का ज्ञान आवश्यक है। आम को अतिपिच्छिल कहा गया है। जब वह अन्य दोषों के साथ संयोग करता है तो अपना लक्षण प्रकट करता है; अतः प्रथमतः आम की चिकित्सा की जाती है, तत्पश्चात् दोष की चिकित्सा की जाती है। यदि वातदोष आमयुक्त होता है तो कुछ आम के लक्षण व वात के लक्षण उत्पन्न होते हैं। यदि वहाँ वातदोष की चिकित्सा

स्नेहनादि द्वारा की जाती है तो रोग में वृद्धि हो जाती है। इस स्थिति में यह निश्चित करना कठिन हो जाता है कि यहाँ वात के शमन हेतु किस प्रकार की चिकित्सा की जाय, क्योंकि वातदोष की चिकित्सा करने से रोगवृद्धि हो जाती है। यदि साम वायु का ज्ञान रहता है तो यह ज्ञान हो जाता है कि दोष आमयुक्त है; अतः प्रथमतः पाचनादि कर्म द्वारा आम पाचन किया जाता है। जब आम दोष का पाचन हो जाता है तो आमपाचन का ज्ञान निराम वायु के लक्षणों द्वारा ही ज्ञात होता है। जब निरामवायु के लक्षण का ज्ञान रहता है तो निरामवायु को वायु के गुणों से विपरीत गुण वाले द्रव्यों के प्रयोग द्वारा शमन कर दिया जाता है तथा शरीरस्थ अग्नि भी अपने सामान्य स्वरूप में आ जाती है। इसी प्रकार आम दोष का सम्बन्ध अन्य दोषों पित्त व कफ के साथ भी होता है। आम का स्वरूप श्लेष्मल (अतिपिच्छिल) कहा गया है। यदि आम कफ के साथ संयुक्त होता है, तो प्रथमतः आम-पाचनादि कर्म करके पुनः कफशामक चिकित्सा की जाती है। इसी प्रकार पित्त की सामावस्था में अम्लपित्त, कण्ठ-दाह, हृदय प्रदेश में दाहादि के पित्तजन्य लक्षण मानकर यदि पित्त-शामक शीत, स्थिरादि चिकित्सा की जाती है या मन्दशीत गुण वाली औषधियाँ प्रयुक्त की जाती हैं तो रोगवृद्धि हो जाती है; परन्तु यदि यह ज्ञात रहता है कि अम्लपित्त पित्त की सामावस्था का परिणाम है तो प्रथमतः आम का पाचन किया जाता है फिर पित्तदोष का शमन किया जाता है।

दोषसामनिरामवाद की सबसे मुख्य उपादेयता यह है कि इसी के आधार पर अग्नि की स्थिति का संज्ञान होता है। यदि साम दोषों में दोषानुसार चिकित्सा की जाती है, तो रोग-वृद्धि के साथ शरीर में अनेक व्याधियाँ उत्पन्न होती हैं। अतः सामवाद द्वारा वैकारिक अग्नि एवं निरामवाद से अग्नि के प्राकृत स्वरूप का ज्ञान होता है। आयुर्वेद में कहा गया है कि—सभी व्याधियों का मूल अग्नि की मन्दता ही है। अतः दोषों का सामनिरामवाद व्याधियों की चिकित्सा का मौलिक आधार है। यदि मात्र दोष की चिकित्सा की जाय व अग्नि की साम्य-स्थापना न की जाय तो लक्षणोपशम नहीं हो पाता। इसके अतिरिक्त सामावस्था में दोषविपरीत गुण द्रव्य, कर्म भी दोष-शमन न कर आमवृद्धि कर विषवत् प्रभाव उत्पन्न करते हैं। जैसे—घृत पित्त का शमन करने वाला होता है परन्तु चरकसंहिता में स्पष्टरूपेण 'सामपित्त' की अवस्था में घृत सेवन का निषेध किया गया है।

अध्याय—२५

दशविधपरीक्ष्यवाद

दशविधपरीक्ष्यवाद आयुर्वेद के मूल उद्देश्य की समष्टिमूलक अवधारणाओं का केन्द्रविन्दु है। दशविधपरीक्ष्यवाद में आयुर्वेद के समस्त अभिधेय समाहित हैं। त्रिसूत्र ज्ञान या त्रिस्कंध ज्ञान, जो कि आयुर्वेद का मूलाधार है उसी का विस्तृत रूप दशविधपरीक्ष्यवाद में विशद रूप से सूत्रात्मक स्वरूप में विवेचित किया गया है। चरक संहिता के विमान स्थान में आयुर्वेद के विशिष्ट वैज्ञानिक अवधारणाओं का उल्लेख किया गया है। उसमें दशविध-परीक्ष्यभाव भी चरकसंहिता की विशिष्ट अवधारणा है। आचार्य का कथन है कि—दशविधपरीक्ष्यवाद का उल्लेख वैद्यों की ज्ञानबृद्धि हेतु किया गया है, क्योंकि कुशल व्यक्ति ज्ञानपूर्वक कार्य करने की प्रशंसा करते हैं। दशविध परीक्ष्य विषयों का उल्लेख आचार्य ने निम्न रूप में प्रस्तुत किया है—'ज्ञात्वा हि कारण-करण-कार्ययोनिकार्य-कार्यफलानुबन्ध-देश-कालप्रवृत्युपायान् सम्यगभिनिर्वर्तमान: कार्याभिनिर्वृत्ताविष्टफलानुबन्धं कार्यमभिनिर्वर्तयत्यनतिमहता यत्नेन कर्त्ता।'—च० वि० ८।१८। अर्थात् १. कारण, २. करण, ३. कार्ययोनि, ४. कार्य, ५. कार्यफल, ६. अनुबन्ध, ७. देश, ८. काल, ९. प्रवृत्ति, १०. उपाय। ये दशविध परीक्ष्य भाव हैं। इनका ज्ञान यथोचित रूप में प्राप्तकर कार्योत्पत्ति में प्रवृत्त कर्त्ता अल्प प्रयास के द्वारा ही कार्य की सिद्धि में मनोनुकूल फल की प्राप्ति कर लेता है। उपर्युक्त दशविध परीक्ष्य भावों के प्रत्येक भावों का स्पष्टीकरण निम्न अवतरणों में प्रस्तुत किया गया है।

१. कारण—'तत्र कारणं नाम तद् यत् करोति, स एव हेतु:, स कर्त्ता।' अर्थात् जो कार्य करने वाला है, उसे कारण कहते हैं। इसे ही कर्त्ता व हेतु भी कहते हैं। चिकित्सा में वैद्य कारण होता है (इह कार्यप्राप्तौ कारणं भिषक) यहाँ कार्यप्राप्ति में कारण भिषक् अर्थात् वैद्य होता है। दशविध परीक्ष्य विषयों में आचार्य ने सर्वप्रथम वैद्य का ही उल्लेख किया है; क्योंकि चिकित्सा कार्य का सम्पादन वैद्य द्वारा ही होता है। अत: सर्वप्रथम वैद्य की परीक्षा का ही उल्लेख किया गया है। आचार्य कारण-परीक्षा में एक आदर्श वैद्य का लक्षणों द्वारा स्वरूप प्रस्तुत करते हुए वैद्य को निर्देश देते हैं कि सर्वप्रथम वैद्य को अपनी ही परीक्षा करनी चाहिए—'स च सर्वधातुसाम्यं चिकिर्षन्नात्मानमेवादित: परीक्षेत् गुणिषु गुणत: कार्याभिनिर्वृत्ति पश्यन् कच्चिदहमस्य कार्यस्याभिनिर्वर्तने समर्थो न वेति।' अर्थात् सभी धातुओं को साम्यावस्था में रखने का लक्ष्य रखने वाले वैद्य या चिकित्सक को सर्वप्रथम अपनी परीक्षा करनी चाहिए।

गुणवान् वस्तुओं में गुण से कार्य की उत्पत्ति को देखते हुए अपनी परीक्षा करनी चाहिए कि हम इस कार्य में सफल होंगे या नहीं। यहाँ आचार्य का 'गुणिषु गुणतः' कहने का अर्थ यह है कि किसी गुणवाले वस्तु या द्रव्य में गुण के द्वारा कार्योत्पत्ति होती है उसी प्रकार वैद्य को अपने में विद्यमान गुणों के आधार पर विचार कर लेना चाहिए कि मेरे अन्दर विद्यमान गुणों द्वारा वांछित कार्य की उपलब्धि होगी या नहीं अर्थात् चिकित्सा में मैं सफल हो पाऊँगा या नहीं। पुनः आचार्य चिकित्सक या भिषक् का गुण बतलाते हैं —'भिषङ्नाम यो भिषज्यति, यः सूत्रार्थप्रयोगकुशलः, यस्य चायुः सर्वशो विदितं यथावत् —' अर्थात् भिषग् या चिकित्सक उसे कहा जाता है, जो चिकित्साकर्म करता है अर्थात् चिकित्सा द्वारा रोग-प्रशमन करता है। वह चिकित्सक आयुर्वेद के सूत्रों का अर्थ जानने वाला तथा उसके प्रयोग करने में कुशलता प्राप्त होता है, जिसे यथोचित रूप में आयु का ज्ञान होता है। इस प्रकार आयु का ज्ञान रखने वाले आयुर्वेद के विषयों को यथोचित रूप से समझ कर उनका प्रयोग करने में कुशलता प्राप्त कर चिकित्सा कर्म करने वाले को भिषग् या चिकित्सक कहा जाता है। इसके बाद आचार्य एक आदर्श भिषक् का गुणों के आधार पर स्वरूप प्रस्तुत किये हैं। उनका कथन है कि एक आदर्श चिकित्सक में निम्न गुण रहना चाहिए—१. पर्यवदात-श्रुतता—अर्थात् शास्त्रों का परिष्कृत ज्ञान होना। चिकित्सक में प्रथम गुण शास्त्रों का ज्ञान होना चाहिए, बिना ज्ञान चिकित्सा संभव ही नहीं है तथा चिकित्सा कर्म की विधि, सूत्र, निर्देशादि व आप्तोपदेश द्वारा ज्ञेय विषय सभी शास्त्र ज्ञान पर ही निर्भर होते हैं, अतः चिकित्सक में प्रथमतः शास्त्र का परिष्कृत ज्ञान चिकित्सक के गुण के रूप में होना चाहिए। २. परिदृष्टकर्मता—अर्थात् चिकित्सा कर्म के सभी कर्मों को करते हुए बार-बार देखा हो। केवल शास्त्र-ज्ञान से ही चिकित्सा कर्म संभव नहीं है, बल्कि चिकित्सा कर्म को बार-बार देखने या विशिष्ट चिकित्सा के तकनीक को बार-बार देखने पर कुशलता प्राप्त होती है। ३. दाक्ष्यं —उसे दक्ष यानि कुशल होना चाहिए। ४. शौचं–अर्थात् पवित्र रहना। चिकित्सक को अपनी स्वच्छता व पवित्रता की भी परीक्षा करनी चाहिए। यहाँ पवित्रता को चिकित्सक का गुण कहा गया है। इसका अर्थ यह है कि चिकित्सा की सिद्धि अथवा असिद्धि में चिकित्सक के पवित्रता की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। अतः इस पक्ष पर भी ध्यान देना चाहिए। ५. जित-हस्तता–चिकित्सक के गुणों में एक गुण जितहस्तता भी कहा गया है, जिसका तात्पर्य चिकित्सक के हाथों का यशस्वी होंना होता है। ६. उपकरणवत्ता —इसका अर्थ सभी चिकित्सकीय सामग्रियों से युक्त होना होता है। चिकित्सक का यह एक गुण है। चिकित्सक को चिकित्सा कर्म प्रारम्भ करने से पूर्व ही यह परीक्षा कर लेनी चाहिए कि जिस रोग की चिकित्सा करनी है, उसके चिकित्सा कर्म में प्रयुक्त होने वाले सभी उपकरण है या नहीं है। उपकरणों के अभाव में चिकित्सा प्रारम्भ नहीं

करनी चाहिए। सभी उपकरणों से युक्त चिकित्सक चिकित्सा में सिद्धि प्राप्त करता है। ७. सर्वेन्द्रियोपपन्नता—चिकित्सक को सभी इन्द्रियों से युक्त होना चाहिए अर्थात् उसकी इन्द्रियाँ यथोचित रूप में अपने-अपने विषयों का ग्रहण करती हों। ८. प्रकृतिज्ञता—चिकित्सक देह-प्रकृति, रोग-प्रकृति आदि को समझने वाला हो। ९. प्रतिपत्तिज्ञता—रोग में उपद्रव उत्पन्न होने पर शीघ्रता से उसके उपचार का यथोचित ज्ञान होना चाहिए।

२. **करण**—'करणं पुनस्तद् यदुपकरणायोपकल्पते कर्तुः कार्याभिनिर्वृतौ प्रयतमानस्य।'— च० वि० ८।७०। अर्थात् किसी कार्य का सम्पादन करने के लिए कर्त्ता जिस साधन का उपयोग करता है, उसे करण कहा जाता है। इस प्रकार यहाँ करण से क्रिया-सिद्धि हेतु कर्त्ता द्वारा प्रयुक्त साधन का अर्थ ग्रहण होता है। करण भेषज को कहा गया है—'करणं पुनर्भेषजं' चिकित्सा कार्य में तत्पर वैद्य का चिकित्सा कार्य करने का साधन औषध ही है; अतः भेषज को करण कहा जाता है। यहाँ भेषज से केवल औषध द्रव्यों का ही नहीं, बल्कि चिकित्सा कर्म में उपयोगी अन्य साधनों को भी भेषज कहा जाता है। च० चि० १ रसायन चिकित्सा में 'साधन' का उल्लेख भेषज के पर्यायरूप में किया गया है; अतः भेषज शब्द से चिकित्सोपयोगी सभी साधनों का ग्रहण होता है। यहाँ व्यपाश्रय (आश्रय) भेद से दो प्रकार की चिकित्सा का उल्लेख किया गया है—(१) दैवव्यपाश्रय (२) युक्तिव्यपाश्रय।

१. **दैवव्यपाश्रय चिकित्सा**—'तत्र दैवव्यपाश्रयं-मन्त्रौषधिमणिमङ्गलबल्युपहार-होमनियमप्रायश्चितोपवासस्वस्त्ययनप्रणिपातगमनादीनि'—अर्थात् दैवव्यपाश्रय चिकित्सा वह है, जिसके अन्तर्गत चिकित्सा हेतु निम्न कर्मों को किया जाता है—**१. मन्त्रप्रयोग, २. औषधिधारण या मणिधारण ३. मङ्गल पाठ करना, ४. बलि, ५. उपहार, ६. होम, ७. नियम, ८. प्रायश्चित, ९. उपवास, १०. स्वस्त्ययनपाठ, ११. प्रणिपात (प्रणिपात का अर्थ देवताओं को प्रणाम करना, उनकी अर्चना पूजा करना आदि अर्थ लगाया जाता है), १२. गमन (गमन का तात्पर्य यहाँ लम्बी दूरी तक पैदल चलकर तीर्थयात्रा करने से है, जैसे कतिपय मानसिक व्याधियों में तीर्थादि पर जाने का निर्देश है। पूर्वकाल में तीर्थयात्रा प्रायः पैदल चलकर की जाती थी।**

२. **युक्तिव्यपाश्रय चिकित्सा**—इसके अन्तर्गत निम्न कर्मों का यहाँ दिग्दर्शन कराया गया है—'युक्ति व्यपाश्रय—संशोधनोपशमने चेष्टाश्च दृष्टफलाः।—अर्थात् **संशोधन (वमन, विरेचन, निरुह, आस्थापन व नस्य) उपशमन (विभिन्न प्रकार की दीपक, पाचक, लंघन, बृंहण, रूक्षणादि चिकित्सा) तथा अन्य ऐसी क्रियायें जो प्रत्यक्ष फलदायक हों, उन्हें युक्तिव्यपाश्रय कहते हैं। पुनः भेषज के दो प्रकार बताकर इसके विस्तृत क्षेत्र को प्रकाशित किया गया है। भेषज अङ्गभेद से भी दो प्रकार का होता है—१. द्रव्यभूत, २. अद्रव्यभूत।**

अद्रव्यभूत चिकित्सा—'तत्र यदद्रव्यभूतं तदुपायाभिप्लुतम् । उपायो नाम भयदर्शनविस्मापनविस्मारणक्षोभणहर्षणभर्त्सनवधबन्धनस्वप्नसंवाहनादिरमूर्त्तो भावविशेषो यथोक्ताः सिद्ध्युपायाश्चोपायाभिप्लुता इति ।'—अर्थात् उपायों के द्वारा जो चिकित्सा की जाती है उसे अद्रव्यभूत चिकित्सा कहते हैं । पुनः आचार्य ने उपाय को स्पष्ट करने के लिए कतिपय उदाहरण प्रस्तुत किया है कि इस तरह की चिकित्सा के साधन उपाय कहे जाते हैं; यथा—१. भयदर्शन—किसी को भय दिखाना, २. विस्मापन—किसी से इस तरह की बात कह देना, जिससे उसके अंदर आश्चर्योत्पत्ति हो जाय, ३. विस्मारण—विस्मारण का अर्थ किसी बात की या व्यक्तिविशेष की याद को भुला देना होता है, जिसकी स्मृति-मात्र से व्यक्ति रोगग्रस्त हो जाता है, ४. क्षोभण—शरीर या मन में क्षोभ उत्पन्न करना, ५. हर्षण—विभिन्न उपायों द्वारा हर्ष उत्पन्न करना, ६. भर्त्सन—निंदा करना या फटकार लगाना, ७. वध—मारने की धमकी देना, ८. बन्धन, ९. शयन कराना, १०. संवाहन—हाथों द्वारा शरीर दबाना आदि अमूर्त्त क्रियायों को (अमूर्त्त का अर्थ जिसका कोई अपना स्वरूप न हो ।) या अन्य इसी तरह के साधनों को उपाय कहा जाता है ।

द्रव्यभूत चिकित्सा—वमन-विरेचन में प्रयुक्त विभिन्न द्रव्यों के द्वारा की जाने वाली चिकित्सा को द्रव्यभूत चिकित्सा कहते हैं ।

इस प्रकार यहाँ करण से तात्पर्य भेषज का है जो द्रव्यभूत व अद्रव्यभूत दोनों प्रकार का है । द्रव्यभूत चिकित्सा में द्रव्य का प्रयोग होता है । अतः यहाँ आचार्य निर्देश देते हैं कि भेषज (द्रव्य) की परीक्षा कैसे करनी चाहिए—'तस्यापीयं परीक्षा-इदमेवं प्रकृत्येवं गुणमेवं प्रभावमस्मिन् देशे जातमस्मिन्नृतावेवं गृहीतमेवं निहितमेव-मुपस्कृतमनया च मात्रया युक्तमस्मिन् व्याधावेवंविधस्य पुरुषस्यैव तावन्तं दोषमपकर्षत्युपशमयति वा, यदन्यदपि चैवंविधं भेषजं भवेत्तच्चानेन विशेषेण युक्त-मिति ।'—च० वि० ८।८७ । अर्थात् द्रव्य में निम्न परीक्षा करनी चाहिए । १. द्रव्य की प्रकृति (द्रव्य किस स्वभाव वाला है ।) २. गुण, ३. प्रभाव अर्थात् इस द्रव्य का विशिष्ट कर्म क्या है । ४. देश—अर्थात् द्रव्य किस देश में उत्पन्न हुआ है । ५. काल—द्रव्य किस ऋतु में उत्पन्न हुआ है तथा किस ऋतु में इसका सेवन किया जा रहा है । ६. स्थान—स्थान से यहाँ तात्पर्य द्रव्य के संग्रह-स्थान से है कि द्रव्य आर्द्र, शुष्कादि किस स्थान पर रखा गया है । ७. संस्कार—द्रव्य में यह देखना चाहिए कि इसमें किस प्रकार का संस्कार किया गया है तथा संस्कारोपरान्त इसमें किस प्रकार के गुण का आधान हुआ है । ८. मात्रा—द्रव्य की मात्रा का विचार सम्यक् रूपेण रोगी के वय, बल, देश, कालादि के अनुसार मात्रा का निर्धारण करना चाहिए । इस प्रकार आचार्य ने करण या द्रव्य में उपर्युक्त आठ परीक्षाओं का उल्लेख किया है—

३. कार्ययोनि—'कार्ययोनिस्तु सा या विक्रियमाणा कार्यत्वमापद्यते ।'—च० वि०

८।७१। अर्थात् जो भिन्न-भिन्न रूप में परिवर्त्तित होते हुए कार्य में परिणत हो जाता है, उसे कार्ययोनि कहा जाता है। आयुर्वेद में कार्ययोनि धातुओं की विषमता को कहा गया है (कार्ययोनिधातुवैषम्यम्) 'तस्य लक्षणं विकारागमः'—कार्ययोनि का तात्पर्य व्याधियों का उत्पन्न होना है। इसकी परीक्षा किस प्रकार करनी चाहिए, इस पर आचार्य ने अपना विचार निम्न रूप में प्रकट किया है—'परीक्षा त्वस्य विकार-प्रकृतेश्चैवोनातिरिक्तलिङ्गविशेषावेक्षणं विकारस्य च साध्यासाध्यमृदुदारुणलिङ्ग-विशेषावेक्षणमिति।'—च० वि० ८।८८। अर्थात् कार्ययोनि की परीक्षा निम्न रूप में करनी चाहिए—१. रोगप्रकृति (रोग किस प्रकृति का है), २. लक्षण—अधिक लक्षणों से युक्त है या कम लक्षणों वाला है अथवा शास्त्रवर्णित सम्पूर्ण लक्षणों से युक्त है, ३. साध्यासाध्यता—अर्थात् रोग सुखसाध्य, कृच्छ्रसाध्य, याप्य या प्रत्याख्येय है। कार्ययोनि के लक्षण में व्याध्युत्पत्ति कही गई है। यहाँ आचार्य ने चिकित्सकीय दृष्टि से रोग की प्रकृति तथा अतिरिक्त लक्षणों का विशेष रूप से व लक्षणों का और उनकी साध्यासाध्यता पर विचार करने का निर्देश किया है।

४. **कार्य**—'कार्यं तु तद्यस्याभिनिर्वृत्तिमभिसन्धाय कर्त्ता प्रवर्तते।'—च० वि० ८।७३। जब कर्त्ता यह निश्चित कर लेता है कि मुझे यही कार्य करना है तो इस प्रकार विचार कर जिस प्रयोजन या लक्ष्य-प्राप्ति हेतु क्रिया करता है, उसे कार्य कहा जाता है। आयुर्वेद में कार्यरूप में धातु-साम्य को स्वीकार किया जाता है (कार्यं धातुसाम्यं)। इसका लक्षण विकार का उपशम अर्थात् शांत हो जाना कहा गया है—'तस्य लक्षणं विकारोपशमः।' आचार्य ने कार्य की परीक्षा अर्थात् धातु-साम्य की परीक्षा में किन-किन भावों पर विचार करना चाहिए—इसका निर्देश किया है। यथा १. 'रुगुपशमनं'—वेदना का शमन हो जाना अर्थात् जिस वेदना हेतु आतुर चिकित्सक से सम्पर्क करता है, उस वेदना का उपशम हो जाना, २. 'स्वरवर्णयोगः'—स्वर व वर्ण का समयोग अर्थात् सामान्य (Normal) होना, ३. 'शरीरोपचय'—शरीर का उपचित होना अर्थात् पुष्ट होना, ४. 'अभ्यवहार्याभिलाषः'—अर्थात् भोजन करने की इच्छा उत्पन्न होना, ५. 'रुचिराहारकाले'—भोजन करते समय आहार में रुचि का उत्पन्न होना, ६. 'अभ्यवहृतस्य चाहारस्य काले सम्यग्जरणं'—समय पर ग्रहण किये गये आहार का यथोचित काल में पाचन हो जाना अर्थात् प्रातः ग्रहण किये गये आहार का सायंकाल तक तथा सायंकाल में ग्रहण किये गये आहार का पाचन प्रातः काल तक हो जाना चाहिए, ७. 'निद्रालाभो यथाकालं'—उचित काल में (रात्रि काल में) सम्यक् रूप में निद्रा का आ जाना, ८. 'वैकारिकाणां च स्वप्नानामदर्शनं'—अर्थात् किसी प्रकार के विकृत स्वप्न (भयानक डरावने स्वप्न या किसी प्रकार के अनिष्टसूचक स्वप्न या इस प्रकार के स्वप्न जिसका प्रभाव जीवन पर पड़ता हो) का न देखना, ९. 'सुखेन च प्रतिबोधनं'—सुखपूर्वक समय से निद्रा से जाग जाना;

१०. 'वातमूत्रपुरीषरेतसां मुक्तिः'—अर्थात् अपान वायु, मूत्र, मल तथा शुक्र का बिना कष्ट के सम्यक् रूप से निकलना अर्थात् इनका निष्क्रमण उचित काल में और उचित रूप में होना तथा ११. 'सर्वाकारैर्मनोबुद्धीन्द्रियाणां चाव्यापत्तिरिति ।'—च० वि० ८।८९। अर्थात् मन, बुद्धि और इन्द्रियों का कष्टरहित होना अर्थात् इनका अपने कार्यों को सम्यक् रूप से सम्पादित करना ।

इस प्रकार आचार्य ने यहाँ कार्य-परीक्षा हेतु उपर्युक्त लक्षणों का उल्लेख किया है। कार्य-परीक्षा में इन लक्षणों को मानक मानकर कार्य-परीक्षा करनी चाहिए। उपर्युक्त लक्षणों द्वारा शरीर की सम्पूर्ण क्रियाओं का निर्देश दे दिया गया है। इन परीक्षाओं के उपरान्त ही यह निर्धारित करना चाहिए कि व्यक्ति स्वस्थ हो गया है या नहीं।

५. **कार्यफल**—'कार्यफलं पुनस्तद् यत्प्रयोजनार्थं कार्याभिनिर्वृत्तिरिष्यते ।'—च० वि० ८। अर्थात् जिस प्रयोजन के निमित्त कार्य प्रारम्भ किया जाता है, उसे कार्यफल कहा जाता है। आयुर्वेद में कार्यफल के रूप में 'सुखप्राप्ति' की मान्यता है (कार्यफलं सुखावाप्तिः) अर्थात् चिकित्सारूपी जो कार्य किया जाता है, उसके फलस्वरूप विकार शांत होकर सुख की प्राप्ति होती है; अतः आयुर्वेद में सुख-प्राप्ति को ही कार्यफल कहा जाता है। यहाँ आचार्य ने कार्यफल-परीक्षा हेतु एक ही पंक्ति में संपूर्ण परीक्ष्य भावों को समायोजित कर दिया है। यथा—'मनोबुद्धीन्द्रियशरीरतुष्टीः ।'—च० वि० ८।९०। अर्थात् मन, बुद्धि, शरीर व इन्द्रिय की तुष्टी होना सुख का लक्षण है। आयुर्वेद में आरोग्य को सुख तथा विकार को दुःख कहा गया है। आरोग्य के लक्षण में कहा गया है कि—

'समदोषः समाग्निश्च समधातुमलक्रियः ।
प्रसन्नात्मेन्द्रियमनः स्वस्थ इत्यभिधीयते ॥' (सु० सू० १५।४१)

इस प्रकार जिसका दोष, अग्नि, धातु समभाव में हो तथा मलों की निर्गमन क्रियायें सम्यक् रूप से होती हों तथा जिसके मन-इन्द्रिय में प्रसन्नता हो उसे स्वस्थ कहते हैं। उपर्युक्त श्लोक में प्रथमतः शारीरिक स्वास्थ्य व बाद में मानसिक स्वास्थ्य का उल्लेख किया है। आचार्य चरक ने यहाँ शारीरिक सुखानुभव हेतु—शरीरतुष्टि तथा मानसिक सुखानुभव हेतु मन, इन्द्रियादि की तुष्टि कहकर इन्हें सुख का मानक माना है। शरीर-तुष्टि का तात्पर्य यह है कि शरीरधारक धातुओं की आवश्यकतायें जब पूर्ण हो जाती है तब उसे शरीर-तुष्टि कहा जाता है, यह तभी संभव है जब शरीरस्थ दोष व अग्नि समभाव में हों। जब शरीर की तुष्टि यथोचित रूप में होती है तो मलों की निर्गमन क्रिया भी अबाध रूप से चलती रहती है। अतः यहाँ आचार्य ने शारीरिक रूप से सुख का मानक शरीर-तुष्टि को (Proper nutrition of body tissues) माना है। इसी प्रकार जब इन्द्रियों द्वारा सम्यक् विषय ग्रहण हो जाता है

तो इन्द्रिय-तुष्टि तथा बुद्धि द्वारा उचित निर्णय लेने पर बुद्धि-तुष्टि तथा मन का स्थिर चित्त हो जाना मानसिक तुष्टि मानी जाती है।

६. **अनुबन्ध**—'अनुबन्धः खलु स यः कर्त्तारमवश्यमनुबध्नाति कार्यादुत्तरकालं कार्यनिमित्तः शुभो वाऽप्यशुभो भावः।'—च० वि० ८।७४। अर्थात् जो कार्य करने के बाद, कार्य के ही द्वारा अच्छा या बुरा फल कर्त्ता को अवश्य भोगना पड़ता है, उसे अनुबन्ध कहते हैं। कार्य-फल के बाद आयु का ठीक रहना ही अनुबन्ध कहा जाता है (अनुबन्धः खल्वायुः) अर्थात् आयु की निरन्तरता को ही अनुबन्ध कहा जाता है। इसका लक्षण प्राणों के साथ मन, बुद्धि व शरीर का संयोग होना कहा गया है।

७. **देश**—देशस्त्वधिष्ठानम्—अर्थात् रोग या द्रव्यमात्र का जो अधिकरण होता है उसे देश कहते हैं। देश दो तरह का माना गया है—भूमि व आतुर को देश कहा गया है (देशो भूमिरातुरश्च)। भूमि रूप देश तीन प्रकार का कहा गया है, जिनका विस्तृत विवेचन पुस्तक के प्रथम भाग में नवद्रव्यवाद के अन्तर्गत किया गया है, अतः यह विषय वहाँ द्रष्टव्य है। यहाँ भूमिरूप में देश का विवरण दिया जा रहा है। भूमिरूप देश का आतुर के साथ क्या सम्बन्ध है तथा उस भूमि देश का व्यक्ति के स्वास्थ्य में किस प्रकार की भूमिका है? इन सभी तथ्यों की जानकारी के लिए निम्न परीक्ष्य भावों के द्वारा परीक्षा करनी चाहिए—१. 'अयं कस्मिन् भूमिदेशे जातः संवृद्धो व्याधितो वा' अर्थात् इस तथ्य का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए कि, यह आतुर किस देश में उत्पन्न हुआ है? किस देश में इसका पालन हुआ है? तथा किस देश में व्याधि-ग्रस्त हुआ है। २. 'तस्मिंश्च भूमिदेशे मनुष्याणामिदमाहारजातम्'—अर्थात् यह परीक्षा करनी चाहिए कि आतुर के उत्पन्न होने वाले, पालन करने वाले व व्याधिग्रस्त होने वाले देश में किस प्रकार का आहार सेवन किया जाता है। ३. 'इदम् विहारजातम्'—अर्थात् उस देश में इस प्रकार का बिहार किया जाता है। ४. 'इदमाचारजातम्'—इस प्रकार का आचार उस देश में प्रचलित है। ४. 'एतावच्च बलं'—अर्थात् उस देश-विशेष में इस प्रकार का बल होता है। ५. 'एवंविधं सत्त्वम्'—अर्थात् उस देश-विशेष के लोगों का सत्त्व अर्थात् मन कैसा होता है। ६. एवंविधं सात्म्यम्—अर्थात् उस देश के लोगों के लिए किस प्रकार के आहार, बिहार, औषधि आदि सात्म्य हैं। ७. 'एवंविधो दोषः'—इस देश में किस दोष की वृद्धि होती है तथा किस दोष का क्षय होता है। ८. 'भक्तिरियम्'—अर्थात् यहाँ के लोगों की इच्छा इस प्रकार की होती है। ९. 'इमे व्याधयः'—यहाँ पर इस प्रकार की व्याधि उत्पन्न होती है तथा १०. 'हित-मिदम् अहितमिति प्रायो ग्रहणेन'—अर्थात् देश-विशेष के लिए अर्थात् उस देश के लिए क्या हितकर है? क्या अहितकर है? आदि की परीक्षा करनी चाहिए।

भूमि देश से सम्बन्धित दश परीक्षाओं का उल्लेख करते हुए अब इसके बाद आचार्य आतुररूप देश का वर्णन करते हैं तथा आतुररूप देश की परीक्षा किस

प्रकार करनी चाहिए या आतुर में कौन-कौन से परीक्ष्य भाव हैं तथा आतुर की परीक्षा द्वारा किसका ज्ञान प्राप्त होता है, इसका उल्लेख भी किया गया है। आतुर को कार्यं देश कहा जाता है अर्थात् चिकित्सा कर्म करने की भूमि या क्षेत्र आतुर का मन व शरीर होता है, अतः यहाँ आतुर को ही कार्य देश कहा गया है। आतुर देश की परीक्षा द्वारा तीन भावों की जानकारी प्राप्त होती है—'तस्य परीक्षा आयुषः प्रमाणज्ञानहेतोर्वा स्याद्, बलदोषप्रमाणज्ञानहेतोर्वा: ।' अर्थात् आतुर देश परीक्षा द्वारा १. आयु के प्रमाण का २. दोष के प्रमाण का तथा ३. बल के प्रमाण का ज्ञान होता है। आचार्य ने दोष व बल-प्रमाण ज्ञान की उपादेयता पर विस्तृत विवरण दिया है, जिसका वर्णन आगे 'दशविध परीक्ष्यवाद की उपादेयता' प्रकरण में प्रस्तुत किया जायेगा। आतुर में—

१. दोषबल प्रमाण का ज्ञान पञ्चनिदान के आधार पर तथा हेतु, दोष इत्यादि साध्यासाध्यता पर विचार करके प्राप्त किया जाता है।

२. बलप्रमाण का ज्ञान—'प्रकृतितश्च विकृतितश्च सारतश्च संहननतश्च प्रमाणतश्च, सात्म्यतश्च सत्त्वतश्चाहारशक्तिश्च, व्यायामशक्तिश्च, वयस्तश्चेति बलप्रमाणविशेषग्रहणहेतोः।' अर्थात् बल-प्रमाण का ज्ञान उपर्युक्त इन दश परीक्षाओं के द्वारा होता है। उन दश परीक्षाओं का वर्णन आगे एक स्वतंत्र अध्याय में किया जायेगा। अतः यहाँ मात्र इनका नामोल्लेख कर दिया गया है।

३. आयु-प्रमाण का ज्ञान—विभिन्न प्रकार के वर्णित अरिष्ट के लक्षणों के द्वारा होता है। आयु-प्रमाण के ज्ञान हेतु ज्योतिर्लक्षण, सामुद्रिक लक्षण, शारीरिक लक्षण व अरिष्ट लक्षण की परीक्षा करनी चाहिए। आयुर्वेद में कतिपय सामुद्रिक लक्षणों के आधार पर भी आयु-प्रमाण का उल्लेख किया गया है। इसके अतिरिक्त कतिपय शारीरिक लक्षणों के आधार पर भी आयु-प्रमाण का उल्लेख किया गया है। (चरकसंहिता, शारीर स्थान के जातिसूत्रीयाध्याय में सामुद्रिक व शारीरिक लक्षणों के आधार पर आयु-प्रमाण का उल्लेख किया गया है। इसी प्रकार काश्यपसंहिता में भी आयु-प्रमाण के लक्षणों का उल्लेख किया गया है) इसके अतिरिक्त इन्द्रियस्थान में वर्णित अरिष्ट लक्षणों से परीक्षा करने पर भी आयु के प्रमाण का ज्ञान होता है।

८. काल—'कालः पुनः परिणामः'—अर्थात् ऋतु, मास, अयन, वर्ष आदि में जो स्वयं परिणामशील (परिवर्तनशील) है उसे काल कहा जाता है। 'कालः पुनः संवत्सरश्चातुरावस्था च।—अर्थात् काल के सम्बन्ध में दो प्रकार की ज्ञान प्राप्ति करनी चाहिए—प्रथम, संवत्सर, ऋतु आदि का तथा द्वितीय, आतुर की अवस्था के अनुसार। इसमें संवत्सर काल का विभाग दो (आदान व विसर्गकाल), छः (षड्ऋतुओं के अनुसार), बारह (महीनों के आधार पर) किया जाता है (तत्र संवत्सरो द्विधा ······समीक्ष्य।—च० वि० ८)। प्रस्तुत संदर्भ में आचार्य ने ऋतुओं के आधार पर

काल का छः विभाग कर इससे सम्बन्धित तथ्यों का उल्लेख किया है। उनका कथन है कि—'हेमन्तो ग्रीष्मो······तस्यानुबन्धो हि वर्षाः। एवमेते संशोधनमधिकृत्य षड्भिर्विभज्यन्ते ऋतवः।' अर्थात् छः ऋतुओं में तीन ऋतुएँ—१. हेमन्त ऋतु शीत लक्षण वाली, २. ग्रीष्म ऋतु उष्ण लक्षण वाली तथा ३. वर्षाऋतु वर्षा लक्षण वाली है; अतः इसे क्रमशः लोक-व्यवहार में जाड़ा, गर्मी व बरसात कहा जाता है। इनके बीच में प्रावृट्, शरद् व वसन्त साधारण ऋतुएँ कही जाती हैं। जैसे—प्रावृट् में उष्णता कम हो जाती है, शैत्य भी अधिक नहीं रहता तथा वर्षा भी कम या नहीं होती है; अतः इसे साधारण ऋतु कहा गया है। इसी प्रकार अन्य साधारण ऋतुओं के लक्षण भी समझना चाहिए। इस प्रकार दोषों के संशोधन के आधार पर काल का छः विभाग किया गया है; क्योंकि संशोधन कर्म—वमनादि साधारण ऋतुओं में कराया जाता है तथा तीन हेमन्त, ग्रीष्म व वर्षाऋतु में संशोधन कर्म नहीं कराया जाता। आचार्य ने यह स्पष्ट किया है कि साधारण ऋतुओं में ही संशोधन क्यों कराया जाता है? इसके लिए उन्होंने निम्न कारण प्रस्तुत किया है—१. 'मन्दशीतोष्णवर्षत्वात्'—इन ऋतुओं में शीत, उष्णता व वर्षा मन्दरूप में रहते हैं। २. 'भवन्त्यविकल्पकाश्च शरीरौषधानाम्'—शरीर व औषध-प्रयोग में इन ऋतुओं में किसी प्रकार के उपद्रव उत्पन्न नहीं होते हैं। ३. 'इतरे पुनरत्यर्थं शीतोष्णवर्षत्वात् दुःखतमाश्च भवन्ति विकल्पकाश्च शरीरौषधानां'—अर्थात् इन साधारण ऋतुओं से भिन्न तीन ऋतुएँ—हेमन्त, ग्रीष्म व वर्षा क्रमशः अधिक शैत्य, उष्णता व वर्षा के कारण दुःखदायक होते हैं तथा शरीर व औषधियों के लिए उपद्रव उत्पन्न करने वाले होते हैं। इसके बाद हेमन्त, ग्रीष्म व वर्षा ऋतु क्यों दुःखदायक है? इसका स्पष्टीकरण प्रस्तुत किया है तथा इसी परिप्रेक्ष्य में उन ऋतुओं के लक्षणों का विस्तृत वर्णन भी किया गया है। यहाँ उन ऋतुओं का ग्रन्थ में उपलब्ध विस्तृत विवरण न प्रस्तुत कर संक्षिप्त रूप से विवरण दिया जा रहा है। विद्वान् पाठकों के लिए च० वि० ८।१२० द्रष्टव्य है।

१. हेमन्त ऋतु—शैत्याधिक्य के कारण शरीर दुःखी रहता है। शरीर में दोष बँधे रूप में और कठोर होते हैं। यदि इस समय उष्ण औषधियों का प्रयोग किया जाता है तो शैत्य के कारण वे मंद पड़ जाती है, जिससे आतुर में संसोधन के अयोग के लक्षण उत्पन्न होते हैं। इस ऋतु में वातज रोग होते हैं।

२. ग्रीष्म ऋतु—इसमें व्यक्ति अधिक उष्णता से दुःखी रहता है। अधिक उष्णता व धूप से शरीर शिथिल हो जाता है तथा दोष शरीर में लीन हो जाते हैं। उष्ण ओपधियों का प्रयोग करने पर उष्ण संशोधन व उष्ण काल के संयोग से वे औषधियाँ तीक्ष्ण हो जाती हैं। अतः इस ऋतु में जब संशोधन कर्म किया जाता है तो आतुर में अतियोग के लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं।

३. वर्षा ऋतु—इस ऋतु में बादलों के कारण अन्तरिक्षगत भावों का पृथ्वी के

जीवों से विषम रूप में संयोग होता है। मानव शरीर व वातावरण क्लेदयुक्त होता है। औषधियाँ भी क्लेदयुक्त हो जाती हैं तथा दूषित वायु के कारण उनकी क्रियाशीलता नष्ट हो जाती है। इस ऋतु में वमनादि कराने पर सम्यक् रूप से संशोधन नहीं हो पाता तथा शरीर गुरु गुण समुत्थ हो जाता है। अंत में आचार्य निर्देश देते हैं कि--यदि इन ऋतुओं में संशोधन कर्म आवश्यक ही हो तो सर्वप्रथम आतुर में ऋतु के विपरीत गुण उत्पन्न कर लेना चाहिए फिर देश, काल आदि का विचार कर उचित मात्रा द्वारा संशोधन कर्म कराना चाहिए।

काल के अन्तर्गत आचार्य ने ओषध काल तथा अकाल का भी उल्लेख किया है। क्योंकि पूर्व में ही कहा गया है कि एक काल का ग्रहण संवत्सर की दृष्टि से किया गया है तथा दूसरे का आतुर की अवस्था के अनुसार है। यहाँ आचार्य आतुर की अवस्थानुसार काल पर प्रकाश डालते हुए कहते हैं कि आतुर में यह काल दो प्रकार का होता है—(१) काल तथा (२) अकाल। जैसे—किसी औषध के लिए कहा जाता है कि अमुक समय इसको ग्रहण करने का काल है तथा अमुक समय इसका काल नहीं है। आचार्य इसी को अवस्था-विशेष का फल बतलाते हैं तथा अन्त में निर्देश देते हैं कि—न ह्यतिपतितकालमप्राप्तकालं वा भेषजमुपयुज्यमानं यौगिकं भवति, कालो हि भैषज्यप्रयोगपर्याप्तिमभिनिर्वर्तयन्ति। च० वि० ८।१२८। अर्थात् औषध काल से पूर्व या उसके बाद प्रयोग की गई औषध लाभदायक नहीं होती, जो औषध समय पर प्रयुक्त होती है, वही औषधि लाभदायक होती है।

९. प्रवृत्ति—'प्रवृत्तिस्तु खलु चेष्टा कार्यार्था: सैव क्रिया, कर्म, यत्नः कार्यसमारम्भश्च।' अर्थात् कार्य करने के लिए जो चेष्टा की जाती है, उसे प्रवृत्ति कहा जाता है, वही क्रिया, कर्म, यत्न एवं कार्य-समारम्भ कहा जाता है। 'प्रवृत्तिः कर्मसमारम्भः।'—च० वि० ८। अर्थात् चिकित्सादि कर्म का प्रारम्भ करना ही प्रवृत्ति है। इसके लक्षण में कहा गया है कि—'तस्य लक्षणं भिषगौषध'तुरपरिचारकाणां क्रियायोग:।' अर्थात् चिकित्सा के चतुष्पाद वैद्य, औषध, आतुर व परिचारक की क्रियायों का उचित रूप से संयोग होना ही प्रवृत्ति कहा गया है।

१०. उपाय—उपाय: पुनस्त्रयाणां कारणादीनां सौष्ठवमभिविधानं च सम्यक् कार्यकार्यफलानुबन्धवर्ज्यानां, कार्याणामभिनिर्वर्तक इत्यतस्तूपाय: कृते नोपायार्थोऽस्ति, न च विद्यते तदात्वे, कृताच्चोत्तरकालं फलं, फलाच्चानुबन्ध इति।'—च० वि० ८।७८। अर्थात् कारण, करण व कार्ययोनि का सौष्ठव (यहाँ सौष्ठव का तात्पर्य चिकित्सा कर्म की उत्तमता है) और अभिविधान (कार्योत्पादक अवस्थिति) का सम्यक् रूपेण होना उपाय कहा जाता है। पुन: कहा गया है कि—कार्य, कार्यफल व अनुबंध को छोड़कर करण, कारण और कार्ययोनि का कार्योत्पादक होना अर्थात् उनके द्वारा कार्य की उत्पत्ति करना ही उपाय कहा जाता है, क्योंकि कारण आदि तीनों का सौष्ठव और

अभिविधान कार्य का उत्पादक होता है। अतः इसे उपाय कहा जाता है। उपाय की आवश्यकता कार्योत्पत्ति तक ही होती है तथा कार्योत्पत्ति के समय भी इसकी आवश्यकता नहीं होती। कार्योत्पन्नता की स्थिति में इसका फल होता है, उसके बाद अनुबंध होता है। इसलिए कारण, करण, कार्ययोनि—इन तीनों का यथोचित सम्पादन उपाय कहा जाता है। इस प्रकार वैद्य, औषध व कार्ययोनि—इन तीनों की कार्य-तत्परता ही उपाय है (उपायस्तु भिषगादीनां सौष्ठवमभिविधानं च सम्यक्। च० वि० ८।८४)। इसके लक्षण के सम्बन्ध में आचार्य कहते हैं कि—'भिषगादीनां यथोक्तगुणसंपद् देशकालप्रमाणसात्म्यक्रियादिभिश्च सिद्धिकारणैः सम्यगुपपादितस्यौषधस्यावचारणमिति।' अर्थात् वैद्य आदि चिकित्सा के चतुष्पाद का अपने-अपने गुणों से युक्त होना तथा देश, काल, प्रमाण, सात्म्य और क्रिया आदि सिद्धि के कारणों से उचित रूप में बताई गयी औषधियों का सम्यक् रूपेण प्रयोग करना उपाय का लक्षण कहा गया है।

दशविध परीक्ष्य विषयवाद की उपादेयता

दशविध परीक्ष्यवाद आयुर्वेद की विशिष्ट देन है। आयुर्वेद मानव-जीवन-विज्ञान (Science of human life) है। अतः इस शास्त्र ने अपने विषय-वस्तु के रूप में सम्पूर्ण मानव-जीवन के व्यवहार को ग्रहण किया है। आतुर-परीक्षा व रोग-परीक्षा करने का तात्पर्य आतुर को होने वाले वेदना या कष्ट की जानकारी एवं उस वेदनोत्पादक कारण की जानकारी प्राप्त करना होता है। आतुर की आयु का ज्ञान कर तदनुसार व्यवस्था की जाती है। आयुर्वेद में निदानादि, आतुर परीक्षादि तथा रोग-विशेष-विज्ञान का वर्णन किया गया है। त्रिविध, षड्विध, अष्टविध, दशविध रोगी-परीक्षा का निर्देश दिया गया है। इतनी परीक्षाओं के बाद भी आयुर्वेद में चिकित्सा सिद्धि हेतु अन्य विशिष्ट परीक्षाओं का उल्लेख किया गया है। इन्हीं विशिष्ट परीक्षाओं में एक 'दशविधपरीक्ष्यवाद' भी है।

परीक्षा का प्रयोजन क्या होता है? इसको स्पष्ट करते हुए आचार्य ने कहा है कि—'परीक्षायास्तु खलु प्रयोजनं प्रतिपत्तिज्ञानम्। प्रतिपत्तिर्नाम यो विकारो यथा प्रतिपत्तव्यस्तस्य तथाऽनुष्ठानज्ञानम्।'—च० वि० ८।१३२। अर्थात् परीक्षा का प्रयोजन प्रतिपत्ति-ज्ञान है। फिर उन्होंने स्पष्ट किया है कि—प्रतिपत्ति क्या है? किसी रोग-विशेष का आयुर्वेद में जिस प्रकार से उत्पत्ति लक्षण आदि का वर्णन किया गया है, उसे उसी प्रकार जानकर शास्त्र में बताये गये निर्देशानुसार चिकित्सा का अनुसरण करते हुए उसी प्रकार चिकित्सा करना प्रतिपत्ति कहा जाता है। यहाँ आचार्य का तात्पर्य यह है कि जब व्यक्ति या वैद्य निदान व चिकित्सा में यथावत् रूप से शास्त्र-निर्देशों का अनुसरण करते हैं, इसको प्रतिपत्ति कहते हैं। यहाँ प्रतिपत्ति का व्यावहारिक अर्थ चिकित्सा कर्म में उचित मार्ग का अनुसरण करना है (To follow

the right way of management)। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि परीक्षा का महत्त्व या उपादेयता क्या है। अब दशविध परीक्षा की उपादेयता पर विचार करना है। दशविधपरीक्ष्यवाद की उपादेयता का संकेत प्रसंग प्रारम्भ करते समय निम्न रूप में दिया गया है जो संक्षिप्त होते हुये भी सूत्रवत् विस्तृत अर्थ को समाविष्ट किये हुये है।

१. दशविधपरीक्ष्यवाद ज्ञानवर्द्धक होता है। (इमानि खलु तावदिह कानिचित् प्रकरणानि भिषजां ज्ञानार्थमुपदेक्ष्यामः)।

२. दशविधपरीक्ष्य का अनुसरण करते हुए कर्म में प्रवृत्त होने पर अल्प प्रयास से ही मन के अनुकूल सिद्धि प्राप्त होती है अर्थात् चिकित्सा कार्य करने पर कार्यसिद्धि हो जाती है—(सम्यगभिनिर्वर्तमानः कार्याभिनिर्वृत्ताविष्टफलानुबन्धं कार्यमभिनिर्वर्तयत्यनतिमहता यत्नेन कर्ता)।

इस प्रकार आचार्य इसकी उपादेयता दो रूपों में बतलाते हैं। प्रथम ज्ञानवर्द्धन व द्वितीय चिकित्सा-सिद्धि। चरकसंहिता के विमान स्थान में आयुर्वेद के उच्चतम चिकित्सा सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है, जिसमें एक यह भी है। दशविधपरीक्ष्य भावों का वर्णन चिकित्सा कर्म से सम्बन्धित सभी विषयों का समष्टिमूलक संक्षिप्त सूत्र रूप में किया गया है। यह परीक्षा चिकित्सा कार्य प्रारम्भ करने के पूर्व की जाती है। आयुर्वेद में रोग, रोगी एवं औषध की परीक्षा का विधान है। चिकित्सा सिद्धि हेतु चतुष्पाद का वर्णन किया गया है। आयु-ज्ञान हेतु अरिष्ट आदि का वर्णन किया गया है, परन्तु उन समस्त परीक्षाओं का संग्रह करने के बाद यह प्रश्न उठता है कि किस परीक्षा को महत्त्व दिया जाय। इन संगृहीत परीक्षाओं में से किस विधि का चयन किया जाय? प्रथमतः कौन-सी परीक्षा की जाय? औषधि प्रयोग योजना कैसे की जाय? आदि। इन सब तथ्यों को ध्यान में रखकर कि, कौन-सा ऐसा सिद्धान्त परीक्षा से सम्बन्धित अपनाया जाय कि चिकित्सा-क्रम में सिद्धि अल्प प्रयास से ही प्राप्त हो जाय।

दशविध परीक्ष्य विषयों में कारण (वैद्य), करण (भेषज), कार्ययोनि (धातु वैषम्य), कार्य (धातुसाम्य), कार्यफल (सुखावाप्ति), अनुबन्ध (आयु), देश (भूमि व आतुर), काल (संवत्सर, ऋतु तथा आतुरावस्था), प्रवृत्ति (कर्म समारम्भ) उपाय आते हैं।

इस प्रकार दशविध परीक्ष्य विषयों में सर्वप्रथम १—वैद्य अपने गुण की परीक्षा करें कि हम आये हुए आतुर को स्वस्थ कर पायेगें या नहीं अथवा यह रोग मेरी समझ में आ रहा है या नहीं। रोग-ज्ञान के आधार पर आतुर का चिकित्सा हेतु चयन करना चाहिए। अतः प्रथम परीक्षा आतुर-चयन के लिए उपादेय है; क्योंकि आतुर-चयन अपने ज्ञान के आधार पर होता है। अतः कारण की उपादेयता रोगी-

चयन (Selcction of patients on the baris of self knowledge and experience)—द्वितीय परीक्ष्य विषय करण को निर्धारित किया गया है, जिसका तात्पर्य भेषज व चिकित्सा कार्य में आने वाले उपकरण होते हैं। इसके निर्देश का तात्पर्य (To examine the medicine and medical equipments)—इसके बाद कार्ययोनि अर्थात् धातुवैषम्य अर्थात् रोग व उसके उत्पादक प्रक्रिया की परीक्षा करनी चाहिए। यह परीक्षा पञ्चनिदानादि के द्वारा की जाती है। इसके लिए अन्य परीक्षायें—देश-परीक्षा—आतुर अर्थात् रोगी की परीक्षा करनी चाहिए। जिसके लिए दशविध परीक्षा (प्रकृतितः विकृतितः) आदि से अनुबन्ध-परीक्षा करनी चाहिए। उसके बाद प्रवृत्ति यानि चिकित्सा कार्य के प्रारम्भ की परीक्षा करनी चाहिए। इसमें चिकित्सा के चारो पादों का समावेश होता है। अर्थात् चिकित्सा कर्म प्रारम्भ किया जाता है-- इसके बाद चिकित्सा कार्य की परीक्षा करनी चाहिए अर्थात् जो चिकित्सा दी जा रही है, उसके परिणामस्वरूप रोग-शमन क्रिया हो रही है या नहीं—इसके बाद यानि व्याधि के लक्षण-शमन पर कार्य-फल देखना चाहिए कि आतुर सुखानुभव कर रहा है या नहीं। इस प्रकार दशविध परीक्ष्यभाव के अन्तर्गत सम्पूर्ण चिकित्सा कर्म को क्रमिक क्रम (Systemetic manner) में समायोजित कर दिया गया है, जिसकी उपादेयता चिकित्सा-सिद्धि व ज्ञानवर्द्धन (Rescach works) में समान रूप से है। आचार्य द्वारा इन दशविध परीक्ष्य विषयों में आतुर रूप के देश-परीक्षा में कहा गया है कि--इस परीक्षा के द्वारा दोष, आयु व बल का ज्ञान होता है। दोषादि का प्रमाण ज्ञान इसलिए आवश्यक है कि--१. दोषादि के प्रमाण के अनुसार ही औषधि की मात्रा निर्धारित की जाती है (दोषप्रमाणानुरूपो हि भेषज प्रमाण-विकल्पो), २. सहसा ह्यतिबलमौषधमपरीक्षतप्रयुक्तमल्पबलमातुरमपि पातयेत्—अर्थात् बिना परीक्षा किये अति बलवान् औषध का सहसा प्रयोग करने से रोगी की मृत्यु भी हो सकती है। ३. अल्पबल वाले व्यक्ति तीक्ष्ण, उष्ण, क्षार, अग्निकर्म आदि का सहन नहीं कर पाते हैं। अतः बलाबल प्रमाण ज्ञान अपेक्षित होता है; क्योंकि अल्पबल वाले व्यक्ति तीक्ष्ण औषधियों के वेग को सहन नहीं कर पाते हैं। ४. अल्प-बल वाले आतुरों पर जो विषाद उत्पन्न न कर सके ऐसे मृदु, लघु, विभ्रमरहित औषधियों का प्रयोग करना चाहिए।

इस प्रकार दशविध परीक्ष्यवाद में आयुर्वेद के द्विविध प्रयोजन में से द्वितीय प्रयोजन—आतुर के रोगशमन से सम्बन्धित सभी विषयों का समावेश हो जाता है। अतः दश-विध परीक्ष्यवाद विवरण के माध्यम से आचार्य चरक ने चिकित्साकर्म के सम्पूर्ण तथ्यों का संकलन करके वैद्य समाज को एक ऐसा विशिष्ट प्रकाशपुंज प्रदान किया है कि केवल इसी एक सिद्धान्त को यथावत् रूप से जान लिया जाय तथा तदनुसार चिकित्सा-कर्म किया जाय तो वैद्यों को चिकित्सा कार्य में कभी भी असफलता नहीं

प्राप्त होगी। संक्षेप में दशविधपरीक्ष्यवाद को यदि चिकित्सा-शास्त्ररूपी समुद्र को गागर में सागर का समावेश कहा जाय तो अत्युक्ति नहीं होगी। जिस प्रकार हाथी के पाँव में सभी प्राणियों के पावों का समावेश हो जाता है, उसी प्रकार चिकित्साकर्म के सभी तथ्य दशविधपरीक्ष्यवाद में समाविष्ट हो जाते हैं, अतः 'सर्वे पदाः हस्तिपदे निमग्नाः' यह उक्ति चिकित्सा शास्त्र के यथावत् संक्षिप्त रूप दशविधपरीक्ष्यवाद को पूर्णतः चरितार्थ करता है।

अध्याय—२६

आतुरपरीक्ष्य दशभाव

दशविधपरीक्ष्यवाद के अन्तर्गत आतुर रूप कार्य देश परीक्षा प्रकरण में आतुर परीक्षा द्वारा तीन प्रकार के ज्ञान की प्राप्ति होना कहा गया है—१. दोष प्रमाण ज्ञान २. आयु प्रमाण ज्ञान तथा ३. बल प्रमाण ज्ञान। आयु प्रमाण ज्ञान के लिए कहा गया है कि—'आयुषः प्रमाणज्ञानहेतोः पुनरिन्द्रियेषु जातिसूत्रीये च लक्षणान्युपदेक्ष्यन्ते।'—च० वि० ८।१२४। अर्थात् आयु का प्रमाण जानने के लिए इन्द्रियस्थान में वर्णित विभिन्न अरिष्ट लक्षणों की एवं जाति सूत्रीयाध्याय में वर्णित सामुद्रिक व शारीरिक लक्षणों की सहायता ली जानी चाहिए। दोषपरीक्षा पञ्चनिदान व त्रिविध, अष्टविध, षड्विध आदि परीक्षाओं व दशविध परीक्षा के आधार पर की जाती है। परन्तु बलप्रमाण की परीक्षा दशविध परीक्ष्य भावों से की जाती है, जो इस शीर्षक का विवेच्य विषय है।

दशविध आतुर परीक्षा या आतुर परीक्ष्य दश भावों का उल्लेख आचार्य चरक ने निम्न प्रकार से किया है—'तस्मादातुरं परीक्षेत् प्रकृतितः, विकृतितश्च सारतश्च, संहननतश्च, प्रमाणतश्च, सात्म्यतश्च, सत्त्वतश्च, आहारशक्तितश्च, व्यायामशक्तितश्च, वयस्तश्चेति बलप्रमाणविशेषग्रहणहेतोः।'—च० वि० ८।९४। अर्थात् आतुर में बल प्रमाण जानने के लिए निम्न भावों की परीक्षा करनी चाहिए—१. प्रकृति, २. विकृति, ३. सार, ४. संहनन, ५. प्रमाण, ६. सात्म्य, ७. सत्त्व, ८. आहार-शक्ति ९. व्यायाम-शक्ति तथा १०. वय।

१. प्रकृति परीक्षा—यदि प्रकृति की निरुक्ति 'प्रकर्षेण करोति इति प्रकृतिः' इस प्रकार से किया जाता है तो यह अर्थ होता है कि—जो अपने प्रकर्ष अथवा आधिक्य से व्यक्ति में विशेष प्रकार की अभिव्यक्ति करे उसे प्रकृति कहा जाता है। यहाँ प्रकृति का तात्पर्य 'प्रकरोति इति प्रकृतिः' अर्थ में मूल-प्रकृति नहीं है बल्कि देह-प्रकृति से है। देह प्रकृति की परिभाषा में इस समय सुश्रुत द्वारा प्रतिपादित परिभाषा ही प्रचलित है—शुक्रशोणितसंयोगे यो भवेद्दोष उत्कटः। प्रकृतिर्जायते तेन······। सु० शा० ४।६३। अर्थात् शुक्रशोणित संयोग के समय वातादि दोष जो अधिक बल वाले होते हैं, उसके अनुसार प्रकृति उत्पन्न होती है। अन्यत्र प्रकृति को परिभाषित करते हुए कहा गया है कि—प्रकृतिर्नाम जन्ममरणान्तरालभाविनीगर्भावक्रान्ति काले स्वकारणोद्रेकजनिता निर्विकारकारिणी स्थितिः'—रसवैशेषिक—नरसिंह भाष्य। आचार्य चरक ने सू० ७।३९-४०। में कहा है कि—कुछ लोग एक दोषज, कुछ लोग द्विदोषज तथा कुछ लोग समप्रकृति के होते हैं। प्रकृति दोषों की उत्कटता के अनुसार होती है—

समपित्तानिलकफा: केचिद् गर्भादिमानवा: ।
दृश्यन्ते वातला: केचित्पित्तला श्लेष्मलास्तथा ॥
तेषामनातुरा: पूर्वे वातलाद्या: सदातुरा: ।
दोषानुशयिताह्येष देहप्रकृतिरुच्यते ॥

गर्भोत्पत्ति काल में शुक्रशोणित प्रकृति, कालगर्भाशय प्रकृति, मातुराहार बिहार प्रकृति, महाभूत प्रकृति का प्रभाव प्रकृति-निर्माण पर पड़ता है। ये सभी भाव किसी एक दोष-विशेष की अधिकता वाले होते हैं, उसी दोष-विशेष से गर्भ का सम्बन्ध होता है। इस प्रकार दोष-विशेष के अनुसार ही मनुष्यों की प्रकृति गर्भ के प्रारम्भ से ही निश्चित हो जाती है तथा सम्बन्धित व्यक्ति दोष-विशेष प्रकृत वाला कहा जाता है। देह-प्रकृति का विस्तृत वर्णन पुस्तक के प्रथम भाग के त्रिदोष शीर्षक के अन्तर्गत किया गया है, अत: इसके विशद ज्ञान हेतु प्रस्तुत विषय वहीं द्रष्टव्य है।

२. **विकृति परीक्षा**—प्रकृत परीक्षा के बाद आचार्य ने बल-प्रमाण के ज्ञान हेतु विकृति परीक्षा का निर्देश किया है। विकृत परीक्षा का निर्देश देते हुए आचार्य चरक कहते हैं कि —विकृति विकार को कहा जाता है। ……'तत्र विकारं हेतु-दोष-दूष्य-प्रकृति-देश-काल-बलविशेषलिङ्गश्च परीक्षेत्, न ह्यन्तरेण हेत्वादीनां बलविशेषं व्याधिबलविशेषोपलब्धि: । च० वि० ८।१०। अर्थात् विकृति परीक्षा के लिए हेतु-दोष-दूष्य-प्रकृति-देश-काल-बल इनकी लक्षणों के आधार पर परीक्षा करनी चाहिए; क्योंकि हेतु आदि के ज्ञान के बिना दोष-बल की जानकारी नहीं हो पाती तथा व्याधि के बल का ज्ञान भी नहीं होता है। इसके अतिरिक्त आचार्य का यह भी कहना है कि व्याधि-बल तीन प्रकार का होता है। प्रवर बलयुक्त व्याधि, अवर बलयुक्त व्याधि और मध्यम बलयुक्त व्याधि। १. प्रवर बलयुक्त व्याधि—'यस्य हि व्याधेर्दोष-दूष्यप्रकृति-देश-काल-बलसाम्यं भवति, महच्च हेतुलिङ्गबलं स व्याधिर्बलवान् भवति'—अर्थात् जिस व्याधि के दोष-हेतु-दूष्य-प्रकृति-देश-काल-बल आदि समान बल वाले होते हैं तथा हेतु और लक्षण दोनों अधिक बलयुक्त होते हैं, उस व्याधि का बल अधिक होता है और व्याधि बलवान् होती है।

२. अवर बलयुक्त व्याधि —'तद्विपर्ययाच्चाल्पबल:' अर्थात् प्रवर बलयुक्त व्याधि के विपरीत लक्षण वाली व्याधियाँ अर्थात् जिन व्याधियों के दोष, हेतु, दूष्य, देश, काल, बल समान न हो, हेतु व लक्षण अल्पबल वाले हों, उसे अवर बलयुक्त व्याधि कहा जाता है।

३. मध्यम बलयुक्त व्याधि—'मध्यबलस्तु दोषदूष्यादीनामन्यतमसामान्याद्धेतु-लिङ्गमध्यबलत्वाच्चोपलभ्यते ।'—च० वि० ८।१०। अर्थात् जिस व्याधि के दोष, दूष्य, प्रकृति, देश, काल इनमें कुछ समानता वाले व कुछ असमान बल वाले हों, हेतु व लक्षण मध्यम बल वाले हों तो उसे मध्यम बल वाली व्याधि माना जाता है।

दशविध आतुर परीक्षा का लक्ष्य बल-प्रमाण का ज्ञान करना है। दशविध परीक्षा का तात्पर्य यह है कि विभिन्न भावों के अनुसार शरीर व व्याधि-बल की स्थिति क्या है ? सर्वप्रथम प्रकृति के अनुसार बलप्रमाण ज्ञान प्राप्त करने का निर्देश किया गया है। कफज प्रकृति के व्यक्ति प्रवर बल वाले होते हैं, अतः उसका उल्लेख सर्वप्रथम किया गया है। पित्तज मध्यम व वातज प्रकृति के व्यक्ति अवर बल वाले होते हैं। उसी प्रकार विकृतितः परीक्षा का तात्पर्य शरीर में होने वाली विकृति या व्याधि का बल कितना है ? इसका ज्ञान व्याधि के हेतु, दोष-दूष्य, देश, काल व बल के आधार पर करना चाहिए। देश, काल, प्रकृति आदि का स्वतंत्र वर्णन किया गया; परन्तु पुनः यहाँ प्रकृति का देशादि के आधार पर व्याधि-बल जानने का निर्देश किया गया है। इसका कारण यह है कि व्याधि के बल-प्रमाण ज्ञान हेतु इनकी परीक्षा आवश्यक है। जैसे—कफज प्रकृति के व्यक्ति में बल प्रवर रूप से रहता है, जब दोष आदि अधिक बलयुक्त होते हैं तभी इन व्यक्तियों को विकार होता है। जब व्याधि अपने बल से रोगोत्पादन प्रक्रिया में होती है तो शारीरिक बल व्याध्युत्पादक बल का विरोध करता है। कफज प्रकृति के व्यक्ति के शरीर में बल प्रवर होने के कारण व्याधि उत्पादक बल का विरोध किया जाता है, जब व्याधि-बल प्रबल होता है तो प्रवर विरोध के कारण अल्प लक्षणयुक्त होता है। अतः यदि आतुर कफज प्रकृति का प्रवर बल वाला है तो उसके अन्दर उत्पन्न मध्यम या अल्प लक्षण वाली व्याधि का बल प्रवर होगा परन्तु यदि आतुर वातज प्रकृति है तो उसमें अल्पबल होने के कारण अवर या मध्यम बल वाली व्याधि भी प्रबल लक्षणों से युक्त होगी। इस प्रकार व्याधि के बल का प्रमाण जानने के लिए उपर्युक्त भावों की परीक्षा आवश्यक है।

३. सार परीक्षा—सार परीक्षा आयुर्वेद में वर्णित विशिष्ट परीक्षा है। सम्पूर्ण मनुष्य को सार की दृष्टि से परीक्षा निमित्त बल प्रमाण जानने के लिए आठ भेदों में विभाजित किया गया है। **'सारतश्चेति साराण्यष्टौ पुरुषाणां बलमानविशेषज्ञानार्थमुपदिश्यन्ते; तद्यथा—त्वग्रक्तमांसमेदोऽस्थिमज्जशुक्रसत्त्वानीति।'**—च० वि० ८।१०२। पुरुष सार की दृष्टि से निम्न आठ प्रकार के होते हैं—१. त्वक्सार, २. रक्तसार, ३. मांससार, ४. मेदसार, ५. अस्थिसार, ६. मज्जसार, ७. शुक्रसार, ८. सत्त्वसार।

१. त्वक्सार—'तत्र स्निग्ध···च त्वक् त्वक्सारा।'—च० वि० ८। अर्थात् त्वक् सार पुरुष के लक्षण विशेष रूप से त्वक् के माध्यम से प्रकट होते हैं। त्वक्सार पुरुष की त्वचा स्निग्ध, मुलायम, प्रसन्न, पतली, गहरी, सुकुमार रोमयुक्त एवं चमकदार होती है। त्वक्सार पुरुषों के सम्बन्ध में कहा गया है कि—**'सा सारता सुखसौभाग्यैश्वर्योपभोगबुद्धिविद्यारोग्यप्रहर्षणान्यायुष्यत्वं चाचष्टे।'** अर्थात् त्वक्सार पुरुष सुख, सौभाग्य, ऐश्वर्य, उपभोग, बुद्धि, विद्या, आरोग्य एवं प्रसन्नतायुक्त तथा दीर्घायु होते हैं।

२. रक्तसार—**'कर्णाक्षिमुखजिह्वानासौष्ठपाणिपादतलनखललाटमेहनं स्निग्धरक्त-**

वर्णश्रीमद्भ्राजिष्णुरक्तसाराणाम् ।' अर्थात् रक्तसार पुरुष के कर्ण, नेत्र, मुख, जिह्वा, नासिका, ओष्ठ, हाथ और पैर के तलवे, नख, ललाट और मूत्रेन्द्रिय रक्तवर्ण का, स्निग्ध व चमकदार होता है। रक्तसार व्यक्ति—'सा सारता सुखमुद्धतां मेधाविनं मनस्वित्वं सौकुमार्यमनतिबलमक्लेशसहिष्णुत्वं चाचष्टे ।'—च० वि० ८।१०४। अर्थात् सुख, उद्दण्डता, धारणा शक्ति, मनस्विता, सुकुमारता, अधिक बलवाला (यहाँ बल का तात्पर्य व्याधि-क्षमता से भी है) एवं क्लेश (विभिन्न प्रकार के कष्ट) को अधिक सहन न करने वाला तथा उष्णता का सहन नहीं करने वाला होता है।

३. **मांससार**—मांससार पुरुष के शंखप्रदेश, ललाट, कृकाटिका, नेत्र, गाल, हनु, गर्दन, स्कन्ध, उदर, कक्षा, वक्ष, हाथ, पैर व सन्धियाँ स्थिर व मांस से भरी हुई रहती हैं। मांससार पुरुष—'सा सारता क्षमा धृतिमलौल्यं वित्तं विद्यां सुखमार्जवमारोग्यं बलमायुश्च दीर्घमाचष्टे ।'—च० वि० ८।१०५। मांससार पुरुष क्षमावान्, धृतियुक्त, निर्लोभी, धनी, विद्यायुक्त, सुख, सरलता, आरोग्य, बलवान् व दीर्घायु होते हैं।

४. **मेदसार**—'वर्णस्वरनेत्रकेशलोमनखदन्तौष्ठमूत्रपुरीषेषु विशेषः स्नेहो मेदःसाराणाम् ।' अर्थात् मेदसार पुरुष के स्वर, आँख, केश, रोम, नख, दाँत, ओष्ठ, मूत्र, मल में स्नेह अधिक होता है। 'सा सारता वित्तैश्वर्यसुखोपभोगप्रदानान्यार्जवं सुकुमारोपचारतां चाचष्टे। मेदसार पुरुष धन, ऐश्वर्य, सुख, उपभोग, दानशीलता, सरलता, कोमलता और सेवाभाव रखने वाले होते हैं।

५. **अस्थिसार**—अस्थिसार व्यक्ति के एड़ी, गुल्फ, जानु, अरत्निजत्रु, चिबुक, सिर, शरीर की गाँठे, अस्थि, नख व दाँत मोटे होते हैं। 'ते महोत्साहाः क्रियावन्तः क्लेशसहाः सारस्थिरशरीरा भवन्त्यायुष्मन्तश्च ।'—च० वि० ८।१०७। अस्थिसार पुरुष अधिक उत्साहयुक्त, अधिक कार्य करने वाले, कष्ट सहने वाले, दृढ़ शरीर वाले तथा अधिक आयु वाले होते हैं।

६. **मज्जासार**—मज्जासार पुरुषों के लक्षण में कहा गया है कि, इनके अङ्ग पतले होते हैं। परन्तु वे अङ्ग बलयुक्त होते हैं। शरीर का वर्ण व स्वर स्निग्ध होता है। शरीर की सन्धियाँ बड़ी, लम्बी और गोल होती है—'मृद्वङ्गाः बलवन्तः स्निग्धवर्णस्वराः स्थूलदीर्घवृत्तसन्धयश्च मज्जसाराः। ते दीर्घायुषो बलवन्तः श्रुतवित्तविज्ञानापत्यसम्मानभाजश्च भवन्ति ।'—च० वि० ८।१०८। मज्जासार वाले व्यक्ति दीर्घायु, बलवान्, शास्त्रज्ञान-सम्पन्न, विज्ञान-सम्पन्न, धनयुक्त, सन्तानयुक्त व आदर प्राप्त करने योग्य होते हैं।

७. **शुक्रसार**—'सौम्याः सौम्यप्रेक्षिणः क्षीरपूर्णलोचना इव प्रहर्षबहुलाः स्निग्धवृत्तसारसमसंहतशिखरदशनाः प्रसन्नस्निग्धवर्णस्वरा भ्राजिष्णवो महास्फिचश्च शुक्र-

सारा:। ते स्त्रीप्रियोपभोगा: बलवन्त: सुखैश्वर्यारोग्यवित्तसम्मानापत्यभाजश्च भवन्ति।' च० वि० ८।१०९। अर्थात् शुक्रसार व्यक्ति सौम्य (सोम की प्रधानता के कारण सौम्य लक्षण होता है। सौम्य से प्राय: शीत अर्थ लगाया जाता है। यहाँ सौम्य का तात्पर्य शांतचित्त व देखने पर उनमें सरलता विद्यमान लगती है) व सौम्यदृष्टि वाले होते हैं। उनके नेत्र दूध सदृश श्वेत व दयायुक्त होते हैं। शुक्रसार व्यक्ति सदैव प्रसन्न रहते हैं। इनके दाँत सुन्दर ठोस, घने व गोलाकार होते हैं। उनके नितम्ब बड़े व शरीर चमकदार होता है। शुक्रसार व्यक्ति, स्त्रियों के अधिक प्रिय या स्त्रियों को अधिक चाहने वाले, उपभोग की वस्तुओं से प्रेम करने वाले व बलवान् होते हैं। वे सुख, ऐश्वर्य, आरोग्य, धन, आदर और अधिक सन्तान वाले होते हैं।

८. सत्त्वसार—'स्मृतिमन्तो भक्तिमन्त:.......कल्याणाभिनिवेशिनश्च सत्त्वसारा:। तेषां स्वलक्षणैरेव गुणा व्याख्याता:।'— च० वि० ८।११०। अर्थात् सत्त्वसार व्यक्ति स्मरण शक्तियुक्त, भक्तियुक्त, कृतज्ञ (किसी के द्वारा किये गये उपकार को याद रखने वाले) बुद्धिमान्, चतुर और धीरतायुक्त होते हैं। पराक्रमपूर्वक युद्ध करने वाले तथा विषादरहित होते हैं। इनकी गतियाँ स्थिर और बुद्धि व चेष्टायें गम्भीर होती हैं। ये निरन्तर कल्याण करने वाले विषयों में अपने मन और बुद्धि को लगाये रहते हैं। इसके अतिरिक्त सात्त्विक पुरुष के जो लक्षण होते हैं वे ही सत्त्वसार के भी लक्षण होते हैं।

आयुर्वेद सारपरीक्षा ज्योतिष विद्या पर आधारित है। शरीरगत भावों के आधार पर मानसिक भावों का ज्ञान, शारीरिक बल एवं मानसिक बल का ज्ञान प्राप्त किया जाता है। ज्योतिष ग्रन्थों में भी प्राय: सार-परीक्षा का उल्लेख प्राप्त होता है। ज्योतिष ग्रन्थ बृहत्संहिता के ग्रन्थकर्ता आचार्य वराहमिहिर ने सार-परीक्षा या सार के अनुसार व्यक्तियों के स्वभाव व उनकी उपलब्धियों से सम्बन्धित भावों का वर्णन किया है परन्तु उनकी वर्णनशैली सारानुसार लक्षण व फल में तथा चरकसंहिता वर्णित सार परीक्षा में आश्चर्यजनक समानता है। यहाँ आश्चर्य का विषय यह है कि दोनों स्थान पर सार-परीक्षा की समानता देखकर यह सोचने पर व्यक्ति विवश हो जाता है कि या तो आयुर्वेद में सार-परीक्षा ज्योषित शास्त्र से ग्रहण किया गया है या बृहत्संहितादि में वर्णित सार-परीक्षा उपादेयता की दृष्टि से आयुर्वेद से ग्रहण की गई है। (सार परीक्षा का ज्योतिष से सम्बन्धित तथ्यों की जानकारी के निमित्त सचित्र आयुर्वेद, अक्टूबर ८७, डा० वी० के० द्विवेदी, डा० एल० डी० द्विवेदी, डा० के० पी० शुक्ल का 'बृहत्संहितोक्त छाया एवं सार-परीक्षा का आयुर्वेदीय परिप्रेक्ष्य में अध्ययन' द्रष्टव्य है। यहाँ एक-दो उदाहरणों के द्वारा विषय के स्पष्टीकरण के लिये निर्देश मात्र किया जा रहा है) यथा—

रक्तसार पुरुष के लक्षण

लक्षण		फल	
बृहत्संहिता	चरकसंहिता	बृ० सं०	च० स०
जिसके तालु, ओष्ठ, दंत, मांस, जिह्वा, गुद, हस्त, पाद, नेत्रादि रक्तवर्ण के हों।	कर्ण, नासा, नेत्र, मुख, जिह्वा, ओष्ठ, नख हस्त पाद, दोनों के तलप्रदेश ललाट रक्तवर्ण व कांतियुक्त हों।	सुखी स्त्रीयुक्त धनयुक्त पुत्रयुक्त	सुखी बलयुक्त सुकुमार क्लेशसह मेधायुक्त

इस प्रकार सार परीक्षा ज्योतिष शास्त्र पर आधारित परीक्षा है। आचार्य सार परीक्षा के द्वारा बल प्रमाण की परीक्षा करने का निर्देश किये हैं। पुनः वे सार को तीन प्रकार से वर्गीकृत किये हैं—प्रवर, अवर व मध्यम। उनका कथन है कि प्रत्येक पुरुष का सारयुक्त होना ही आवश्यक नहीं है। जिसमें उपर्युक्त सार के लक्षण उपलब्ध होते हैं, उन्हें सारवान् या सारयुक्त कहते हैं—तत्र सर्वैः सारैरुपेताः भवन्त्यतिबलाः परमसुखयुक्ताः'—अर्थात् सर्वसारयुक्त व्यक्ति उपर्युक्त त्वक्सारादि के सभी लक्षण जिस पुरुष में विद्यमान होते हैं, वह पुरुष अतिशय बलयुक्त होता है तथा वह परमसुख प्राप्त करता है २. क्लेशसहाः—सभी प्रकार के कष्टों को सहने वाले होते हैं। ३. सर्वारम्भेष्वात्मनि जातप्रत्ययाः कल्याणाभिनिवेशिनः—सभी कार्यों के प्रारम्भ करने में अपने पर ही विश्वास करते हैं तथा सदैव कल्याणकारी कार्यों में ही संलग्न रहते हैं। ४. स्थिरसमाहितशरीराः—उनके शरीर का संगठन उत्तम होता है और स्थिरता रहती है। ५. सुसमाहितगतयः—ये चलते समय अपनी गति को अपने नियन्त्रण में रखते हैं। ६. सानुनादस्निग्धगम्भीरमहास्वराः—अर्थात् उनका स्वर प्रतिध्वनियुक्त होता है तथा स्निग्ध, गम्भीर और महान् स्वरयुक्त होते हैं। ७. सुखैश्वर्यवित्तोपभोगसम्मानभाजो—सभी सारों से युक्त व्यक्ति सुख, ऐश्वर्य, धन, उपभोग व आदर पाते हैं। ८. 'मन्दजरसो मन्दविकाराः प्रायस्तुल्यगुणविस्तीर्णापत्याश्चिरजीविनश्च'—अर्थात् सभी सारों से युक्त व्यक्ति में बुढ़ापा धीमी गति से आती है अर्थात् अधिक वय होने पर उनमें वृद्धावस्था के लक्षण उत्पन्न होने हैं तथा इनमें व्याधियाँ कम होती हैं। जब किसी व्यक्ति में दो या अधिक (तीन, चार) सारों के लक्षण पाये जाते हैं तो उसे मध्यम सार वाला कहा जाता है, इनमें मध्यम बल तथा सारयुक्त पुरुष के अन्य लक्षण भी मध्यम स्तर वाले होते हैं—'मध्यानां मध्यैः सारविशेषैर्गुणविशेषा व्याख्याता भवन्ति।'—च० वि० ८।११३। जिन व्यक्तियों में सार का कोई लक्षण प्राप्त नहीं होता है, उसे असार कहते हैं।

४. संहनन परीक्षा—'संहननतश्चेति संहननं, संहति, संयोजनमित्येकोऽर्थः।

अर्थात् शरीर के आकार आदि की परीक्षा संहनन से करनी चाहिए। संहनन, संहति तथा संयोजन इसका एक ही अर्थ होता है। इस प्रकार शरीर में विभिन्न अङ्ग-प्रत्यङ्गों का संयोजन किस रूप में हुआ है, इसको संहनन-परीक्षा कहते हैं। संहनन का तात्पर्य शारीरिक अङ्ग-प्रत्यङ्गों के संयोजन से है। संहनन को तीन वर्गों में वर्गीकृत किया गया है--उत्तम, मध्यम और अवर। प्रवर या सुसंहत के लक्षण—'तत्र समसुविभक्तास्थि, सुबद्धसन्धि, सुनिविष्टमांसशोणितं, सुसंहतं शरीरमित्युच्यते।' अर्थात् जिसके शरीर में अस्थियां यथास्थान यथावत् रूप में समभाव से स्थित हो तथा यथोचित रूप में अलग-अलग विभक्त हों, सन्धियाँ दृढ़ता से बँधी हुई हो, मांस व रक्त अपने-अपने स्थान पर उचित रूप में स्थित हो; इस प्रकार के शरीर को सुसंहननयुक्त शरीर कहा जाता है। सुसंहनन वाले व्यक्ति अधिक बलयुक्त होते हैं—'तत्र सुसंहतशरीराः पुरुषा बलवन्ताः'। जिन व्यक्तियों में कुछ लक्षण तो प्राप्त होते हैं तथा कुछ नहीं भी प्राप्त होते हैं उन्हें मध्यम संहनन वाला कहा जाता है। इनका बल मध्यम होता है। इसके विपरीत अवर या हीन संहनन वाले व्यक्ति में अल्पबल होता है। इस प्रकार संहनन के द्वारा बल-प्रमाण का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए।

५. प्रमाण परीक्षा—प्रमाण का तात्पर्य शरीर व शरीरगत भावों के मापन से है। शरीर में किन-किन भावों का प्रमाण, यानि परिमाण, लम्बाई, चौड़ाई, भार आदि कितना है, इस ज्ञान के आधार पर बल-प्रमाण की परीक्षा करनी चाहिए। चरकसंहिता, विमानस्थान अ० ८ (रोगभिषग्जितीयविमानाध्याय) के अनुसार शरीरगत भावों का निम्नोक्त सामान्य प्रमाण (Normal) माना गया है—शरीर की लम्बाई-चौड़ाई आदि का मापन अंगुली द्वारा करने का निर्देश है। जिस व्यक्ति के शरीर या शरीराङ्ग का मापन किया जाता है, उसी की अंगुली-प्रमाण द्वारा शरीर-प्रमाण जानना चाहिए। यथा—

१. समशरीर प्रमाण—दोनों हाथ खोलकर फैलाने पर जितनी लम्बाई होती है, उतनी ही लम्बाई जब शरीर की होती है तो उसे समशरीर कहते हैं। सम्पूर्ण शरीर की लम्बाई ८४ अंगुली-पर्व होती है। २. पैर—ऊँचाई ४ अंगुल, लम्बाई १४ अंगुल, चौड़ाई ६ अंगुल। ३. जंघा—लम्बाई १८ अंगुल, गोलाई १६ अंगुल। ४. जानु—लम्बाई ४ अंगुल, गोलाई १६ अंगुल। ५. ऊरु—लम्बाई-१८ अंगुल, गोलाई-३० अंगुल, ६. अण्डकोष-६ अंगुल लम्बे ८ अंगुल गोल। ७. लिङ्ग—६ अंगुल लम्बा और ५ अंगुल गोल होता है। ८. भगविस्तार—१२ अंगुल। ९. कमर—१६ अंगुल चौड़ी। १०. बस्ति शिर की चौड़ाई १० अंगुल। ११. पेट की लम्बाई—१२ अंगुल; चौड़ाई—१० अंगुल। १२. पार्श्व की चौड़ाई १० अंगुल, लम्बाई १२ अंगुल। १३. स्तन—दोनों स्तनों के बीच का भाग १२ अंगुल, स्तन का काला भाग २ अंगुल। १४. वक्ष—चौड़ाई २४ अंगुल, ऊँचाई १२ अंगुल, हृदय ३ अंगुल, १५. स्कन्ध—दोनों ८-८

अंगुल, अंस ६-६ अंगुल। १६. प्रवाहु—१६-१६ अंगुल। १७. प्रप्राणि—१५-१५ अंगुल। १८. हाथ —१२-१२ अंगुल। १९. कक्षा—८-८ अंगुल। २०. त्रिकास्थि—१२ अंगुल। २१. पृष्ठ–१६ अंगुल ऊँची। २२. गर्दन–४ अंगुल, गोलाई में २२ अंगुल। २३. मुखमण्डल—१२ अंगुल ऊँचाई, गोलाई २४ अंगुल, मुख ६ अंगुल। चिबुक, ओठ, कान, दोनों नेत्रों की बीच का स्थान, नाक, ललाट—ये सब चार-चार अंगुल होते हैं। २४. शिर-ऊँचाई १६ अंगुल, गोलाई ३२ अंगुल होता है।

इस प्रकार के प्रमाणयुक्त शरीर वाले व्यक्ति—'तत्रायुर्बलमोज: सुखमैश्वर्यं वित्तमिष्टाश्चापरे भावा भवन्त्यायत्ता: प्रमाणवति शरीरे, विपर्ययस्त्वतो हीनेऽधिके वा।'—च० वि० ८।११७। अर्थात् उपर्युक्त प्रमाण वाले व्यक्ति आयु, बल, ओज, ऐश्वर्य, धन तथा अन्य सभी प्रकार के मनोनुकूल पदार्थों से युक्त होते हैं। यदि उपर्युक्त बताये गये मान से शरीर हीन या अधिक प्रमाण का होता है तो आयु, बल, ओज आदि हीन या मध्यम होते हैं।

६. सात्म्य परीक्षा—'सात्म्यतश्चेति सात्म्यं नाम तद्यत् सातत्येनोपसेव्यमानमुपशेते।' अर्थात् का अर्थ है कि—जो निरन्तर या लगातार प्रयोग करने से व्यक्ति के अनुकूल हो जाय, उसे सात्म्य कहा जाता है। सात्म्य का पूर्व में भी वर्णन किया जा चुका है। प्रवर, अवर और मध्यम इसके तीन भेद किये गये हैं। सभी रसों का जिसे सात्म्य हो उसे प्रवर, जिसे एक रस सात्म्य हो उसे अवर तथा दो से पाँच रस जिसे सात्म्य हो उसे मध्यम सात्म्य कहा जाता है। सर्व रस सात्म्य वाले तथा घृत, दूध, तेल व मांसरस सात्म्य वाले व्यक्ति बलवान् क्लेश सहने की क्षमता से युक्त तथा दीर्घायु होते हैं—'तत्र ये घृतक्षीरतैलमांसरससात्म्या: सर्वरससात्म्याश्च ते बलवन्त: क्लेशसहाश्चिरजीविनश्च भवन्ति।'—च० वि० ८।१। जो व्यक्ति किसी एक रस को या रूक्ष वस्तुओं को सात्म्य किये हैं—वे प्राय: अल्प बल वाले, थोड़े क्लेश सहने की क्षमता वाले, अल्प साधन व अल्प आयु वाले होते हैं—'रूक्षसात्म्या: पुनरेकरससात्म्याश्च ये ते प्रायेणाऽल्पबला अल्पक्लेशसहा अल्पायुषोऽल्पसाधनाश्च भवन्ति।' जो व्यक्ति दो या तीन या मिश्रित रूप से रस को सात्म्य किये हैं, वे मध्यम बलयुक्त होते हैं।

७. सत्त्व-परीक्षा – 'सत्त्वतश्चेति सत्त्वमुच्यते मन:।' सत्त्व मन को कहा जाता है। अत: मानसिक बल प्रमाण की भी जानकारी सत्त्व-परीक्षा के द्वारा करनी चाहिए। यहाँ आचार्य ने 'तच्छरीरस्य तन्त्रकमात्मसंयोगात्' कहा है, इसका अर्थ यह होता है कि आत्मा के साथ मिलकर यह (मन) शरीर का नियन्त्रण करता है। बलप्रमाण की दृष्टि से इसके भी तीन भेद किये गये हैं। ये भेद प्रवर, मध्यम और अवर हैं। अत: इस आधार पर व्यक्तियों को प्रवर सत्त्व, मध्यम सत्त्व तथा अवर सत्त्व कहा जाता है। प्रवर सत्त्व वाले व्यक्ति के अन्दर किसी प्रकार के कष्टों को

सहने की क्षमता बहुत होती है तथा महान् कष्ट में भी ये घबड़ाते नहीं है। प्रवर सत्त्व वाले व्यक्तियों का लक्षण व उनके बल की स्थिति सत्त्वसार व्यक्तियों के सदृश होती है, जिसका उपर्युक्त अवतरण में विवरण दिया जा चुका है। मध्यम सत्त्व वाले व्यक्तियों के बारे में कहा गया है कि—'मध्यसत्त्वास्त्वपरानात्मन्युपनिधाय संस्तम्भयन्त्यात्मनाऽऽत्मानं परैर्वाऽपि संस्तभ्यन्ते'—अर्थात् मध्यम सत्त्व वाले व्यक्ति सदैव दूसरे की सहायता से अपना कार्य करते हैं अथवा किसी कार्य को प्रारम्भ करने हेतु किसी अन्य व्यक्ति की सहायता की अपेक्षा करते हैं अथवा दूसरे का अपने कार्य के प्रति आश्वासन पाकर कार्य करते हैं। मध्यम सत्त्व वाले व्यक्ति में मानसिक रूप से स्वावलम्बन नहीं होता है। उन्हें अपने द्वारा लिए गये निर्णय पर विश्वास नहीं होता है, अतः किसी कार्य के प्रारम्भ करते समय किसी अन्य की सहायता की अपेक्षा रखते हैं। यदि कोई आत्ययिक स्थिति आती है तो उनको घबड़ाहट होती है, परन्तु किसी के द्वारा आश्वासन पाकर आश्वस्त हो जाते हैं। परन्तु जिन व्यक्तियों का सत्त्व हीन बलयुक्त होता है उनका—'हीनसत्त्वास्तु नात्मना नापि परैः सत्त्वबलं प्रतिशक्यन्ते उपस्तम्भयितुं, महाशरीरा ह्यपि ते स्वल्पानामपि वेदनानामसहा दृश्यन्ते, सन्निहितभयशोकलोभमोहमाना रौद्रभैरवद्विष्टबीभत्सविकृतसंकथास्वपि च पशुपुरुषमांसशोणितानि चावेक्ष्य विषादवैवर्ण्यमूर्च्छोन्मादभ्रमप्रपतनानामन्यतममाप्नुवन्त्यथवा मरणमिति।'—च० वि० ८।११९। अर्थात् वह पुरुष न अपने को किसी उदाहरण के द्वारा आश्वस्त कर पाता है और न ही किसी अन्य व्यक्ति के समझाये जाने पर ही आश्वस्त होता है। परिणामतः वह अपने अन्दर आये हुए वेगों का धारण नहीं कर पाता है। इस प्रकार के व्यक्ति मानसिक आघात के अल्प रूप (अल्पाघात) में भी रोना चिल्लाना प्रारम्भ कर देते हैं। हीन सत्त्व वाले व्यक्ति बहुत बड़े शरीर से युक्त होने पर भी छोटी-छोटी विपत्तियों के आने पर मानसिक असमर्थता के लक्षण प्रकट करते हैं। ये व्यक्ति सदैव भय, शोक, लोभ, मोहादि से ग्रसित रहते हैं। रौद्रादि भयानक कथाओं को सुनकर, पुरुष, पशु आदि के रक्त व मांस को देखकर, विषाद, वैवर्ण्य, मूर्च्छा, पागलपन, भ्रम आदि से ग्रसित हो जाते हैं अथवा उनकी मृत्यु भी हो जाती है।

८. **आहारशक्ति**—बल-प्रमाण ज्ञान में आचार्य ने शरीर स्थित अग्निबल परीक्षा हेतु आहार शक्ति द्वारा बल-प्रमाण ज्ञान का निर्देश किया है—'आहारशक्तितश्चेति आहारशक्तिरभ्यवहरणशक्त्या जरणशक्त्या च परीक्ष्याः, बलायुषी ह्याहारायत्ते।'—च० वि० ८।१२०। यहाँ आचार्य निर्देश दिये हैं कि, मनुष्य का बल व आयु आहार के अधीन होता है। अतः बल-प्रमाण ज्ञान हेतु आहार शक्ति की परीक्षा करनी चाहिए। आहारशक्ति की परीक्षा भोजन करने की शक्ति व जरण शक्ति के आधार पर होती है। यहाँ भोजन शक्ति से आहार की मात्रा का ग्रहण करना चाहिए, कि व्यक्ति किस मात्रा में आहार ग्रहण कर रहा है, इससे उसकी आहार ग्रहण करने की

शक्ति का ज्ञान होता है। आहार मात्रा अग्निबल की अपेक्षा करती है, अतः ली गई मात्रा का यदि यथाकाल यथोचित रूप में पाचन हो जाता है तब उस मात्रा द्वारा उसकी आहार शक्ति निर्धारित की जाती है। यहाँ यथोचित का तात्पर्य यह है कि सम्यक् पाचन के लक्षण उत्पन्न हो जाय तथा यथाकाल का तात्पर्य यह है कि—प्रातः लिये गये आहार का पाचन सायं तक एवं सायंकाल में लिए गये आहार का पाचन प्रातः तक हो जाना चाहिए।

९. **व्यायामशक्ति परीक्षा**—'व्यायामशक्तितश्चेति-व्यायामशक्तिरपि कर्मशक्त्या-ह्यनुमीयते बलत्रैविध्यम्।'—च० वि० ८।१२। बल-प्रमाण के ज्ञान के लिए व्यक्ति में व्यायाम शक्ति की परीक्षा करनी चाहिए। व्यायाम-शक्ति की परीक्षा अनुमान द्वारा होती है तथा इसका अनुमान, शक्ति के कार्य करने की शक्ति के आधार पर किया जाता है। यदि मनुष्य में व्यायाम शक्ति उत्तम होती है तो उसमें उत्तम बल, जिसमे कार्य करने की शक्ति मध्यम होती है, उसमें मध्यम बल एवं जिसमें व्यायाम शक्ति अल्प होती है, वह व्यक्ति अल्प बलयुक्त होता है। यहाँ कार्य करने की शक्ति का अर्थ शारीरिक कार्य करने की शक्ति का ग्रहण करना चाहिए; क्योंकि थकावट उत्पन्न करने वाली विभिन्न शारीरिक चेष्टाओं को व्यायाम कहा गया है। इसीलिए यहाँ कहा गया है कि कार्य करने की शक्ति से व्यायाम शक्ति का ज्ञान करना चाहिए। व्यायाम की तरह, किसी तरह के शारीरिक परिश्रम करने पर जब तक श्रमजन्य लक्षण उत्पन्न नहीं होते हैं, तब तक जिस शक्ति से कार्य किया गया है, वह उसकी व्यायाम शक्ति है।

१०. **वयपरीक्षा**—'वयस्तश्चेति कालप्रमाणविशेषापेक्षिणी हि शरीरावस्था वयोऽभिधीयते। तद्वयो यथा स्थूलभेदेन त्रिविधं—बालं, मध्यं, जीर्णमिति।' अर्थात् बल-प्रमाण ज्ञान हेतु वय-परीक्षा भी करनी चाहिए। काल प्रमाण के विशेष की अपेक्षा रखने वाली शरीर की अवस्था को वय या उम्र कहा जाता है। स्थूल रूप से मानव वय को तीन अवस्थाओं में विभक्त किया गया है—बाल, मध्य व जीर्णावस्था।

१. **बाल्यावस्था**—'तत्र बालमपरिपक्वधातुमजातव्यञ्जनं सुकुमारक्लेशसहमसंपूर्ण-बलं श्लेष्मधातुप्रायमाषोडशवर्षं, विवर्धमानधातुगुणं पुनः प्रायेणानवस्थितसत्त्वमात्रिंश-द्वर्षमुपदिष्टं'—अर्थात् बाल्यावस्था का तात्पर्य जीवन के उस अवस्था से है, जिसमें शारीरिक धातुओं में पूर्ण रूप से परिपक्वता न हो, मूंछ आदि लैङ्गिक लक्षणों की उत्पत्ति न हुई हो, शरीर कोमल हो, शरीर किसी प्रकार का कष्ट सहने में असमर्थ हो, अभी सभी प्रकार से शरीर में पूर्णतः बल-वृद्धि न होकर बलवर्द्धन प्रक्रिया में हो, शरीर में कफ की अधिकता हो तथा उम्र षोडश वर्ष तक हो, अर्थात् षोडश वर्ष तक की आयु बाल्यावस्था है; इसमें धातुओं की परिपक्वता न होने से पूर्ण बल नहीं होता तथा कष्ट सहने की क्षमता भी कम होती है। इस अवस्था में शारीरिक

धातुएँ वृद्धि प्राप्त करती हैं। इस अवस्था में मन अति चञ्चल होता है, अतः इस आधार पर आचार्य तीस वर्ष पूर्ण करने के पूर्व की अवस्था को बाल्यावस्था ही कहे हैं। इस प्रकार बाल्यावस्था को पूर्व बाल्यावस्था व उत्तर बाल्यावस्था दो विभागों में विभाजित किया जा सकता है।

२. **मध्यावस्था**—'मध्यं पुनः समत्वागतबलवीर्यपौरुषपराक्रमग्रहणधारणस्मरणवचनविज्ञानसर्वधातुगुणं बलान्वितमवस्थितसत्त्वमविशीर्यमाणधातुगुणं पित्तधातुप्रायमाषष्टिवर्षमुपदिष्टम्'—मध्यावस्था तीस से साठ वर्ष तक मानी गई है। इस अवस्था में व्यक्ति में अपने सामान्य मात्रा (Normal form) में बल, वीर्य, पौरुष, पराक्रम, ग्रहण, धारण, स्मरण, वचन एवं विज्ञान शक्ति आ जाती है। सभी धातुओं एवं उनके गुणों से शरीर सम्पन्न हो जाता है। शरीर में बल की स्थिति उत्तम होती है। मन की स्थिति उत्तम स्वरूप में होती है। इस अवस्था में पित्त की प्रधानता होती है। सभी धातुएँ शरीर में स्थिर रूप में होती है।

३. **जीर्णावस्था**—'अतः परं हीयमानधात्विन्द्रियबलवीर्यपौरुषपराक्रमग्रहणधारणस्मरणवचनविज्ञानं भ्रश्यमानधातुगुणं वायुधातुप्रायं क्रमेण जीर्णमुच्यते आवर्षशतम्, वर्षशतं खल्वायुषः प्रमाणमस्मिन् काले, सन्ति च पुनरधिकोनवर्षशतजीविनोऽपि मनुष्या, तेषां विकृतिवर्ज्यैं प्रकृत्यादिबलविशेषैरायुषो लक्षणतश्च प्रमाणमुपलभ्य वयसस्त्रित्वं विभजेत्।'—च० वि० ८।१२२। अर्थात् ६० वर्ष के बाद जीर्णावस्था आ जाती है। इस अवस्था में शरीरस्थ धातु रस रक्तादि, इन्द्रियों का बल, वीर्य, पुरुषार्थ, पराक्रम, ग्रहण, धारण, स्मरण, वचन व विज्ञान शक्ति में क्षीणता प्रारम्भ हो जाती है अर्थात् सभी धातुओं का क्षय होने लगता है तथा धातुओं के गुण नष्ट होने लगते हैं। ६०-१०० वर्ष तक की अवस्था को जीर्णावस्था कहा जाता है। कतिपय मनुष्य सौ वर्ष से अधिक आयु वाले होते हैं, उनके लिए विकृति के स्थान पर (अर्थात् विकृति को छोड़कर) प्रकृति आदि बल-भेद से परीक्षा कर बल की तथा आयु प्रमाणों द्वारा आयु की जानकारी प्राप्त करके प्रवर, मध्य, अवरादि भेद करना चाहिए।

इस प्रकार वय परीक्षा के द्वारा भी बल प्रमाण का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। वयानुसार मध्यावस्था में उत्तम बल, बाल्यावस्था में मध्यम तथा वृद्धावस्था में वायु के बढ़ने के कारण शरीर अल्प बलयुक्त होता है। सौ वर्ष के ऊपर के व्यक्तियों में बल का निर्धारण प्रकृति आदि के अनुसार करना चाहिए।

आतुरपरीक्ष्य दशभाव की उपादेयता

आतुरपरीक्ष्य दशभाव आयुर्वेद की विशिष्ट देन है, जो कि सर्वतन्त्र सिद्धान्त के रूप में उपादेय है। पूर्व में कहा जा चुका है कि आयुर्वेद में आतुर परीक्षा करने के तीन उद्देश्य निर्धारित किये गये हैं—आयु ज्ञान प्राप्ति, दोष ज्ञान की प्राप्ति व बल-

प्रमाण का ज्ञान। आतुरदशविध परीक्षा का विशेष उपयोग बल-प्रमाण ज्ञान हेतु कहा गया है। आयुर्वेद में 'बल' का अर्थ लोकमान्य 'बल' के अर्थ से कुछ भिन्न व विशिष्ट अर्थ में लिया गया है। प्रायः लोकव्यवहार में बल का तात्पर्य शारीरिक शक्ति ग्रहण किया जाता है। जिस शक्ति से विभिन्न चेष्टाओं द्वारा कार्योत्पत्ति होती है उसे ही आयुर्वेद में बल कहा जाता है। यहाँ ध्यातव्य है कि 'कार्योत्पादक शक्ति या चेष्टाजनक व्यापार हेतु आवश्यक शक्ति की परीक्षा हेतु 'व्यायामशक्तितः' परीक्षा का निर्देश दिया गया है। अब यहाँ विचारणीय विषय यह हो जाता है कि, तब आयुर्वेद में बल का विशिष्ट अर्थ किस रूप में ग्रहण किया गया है। इसका स्पष्ट समाधान त्रिविध बल प्रकरण त्रिस्रैषणीयाध्याय, सूत्रस्थान चरकसंहिता में किया गया है जहाँ कहा गया है कि—'त्रिविधं बलमिति—सहजं, कालजं, युक्तिकृतं च। सहजं यच्छरीरसत्त्वयोः प्राकृतं, कालकृतमृतुविभागजं वयः कृतं च, युक्तिकृतं पुनस्तद्यदाहारचेष्टायोगजम्।'—च० सू० ११।३६। इस प्रकार यहाँ तीन प्रकार के बल का व्याधिक्षमत्व के अर्थ में ग्रहण किया गया है। क्योंकि कहा गया है—'बलं ह्यलं निग्रहणाय रोगाणाम्, अर्थात् रोग से रक्षा करने वाले को बल कहा गया है। आचार्य सुश्रुत ने व्याधिक्षमत्व के उत्तरदायी घटक—ओज का वर्णन करते हुए स्पष्ट किया है कि—ओज ही बल है—'रसादिशुक्रान्तानां धातूनां परं तेजः तत्खल्वोजः तदेव बलमुच्यते'। इस प्रकार आयुर्वेद में वर्णित बल से उस बल का ग्रहण किया जाता है जो व्याधियों से शरीर की रक्षा करता है। व्याधिक्षमत्व को परिभाषित करते हुए आचार्य चक्रपाणिदत्त ने 'व्याधिक्षमत्वं व्याधिबलविरोधित्वं, व्याध्योत्पादप्रतिबन्धकत्वमिति यावत्।' इस प्रकार व्याधिक्षमत्व का तात्पर्य व्याधि बल का विरोध शरीरगत बल द्वारा किया जाता है। आयुर्वेद ही एक ऐसा चिकित्सा विज्ञान है, जिसमें बल का प्रमाण परीक्षा सभी आतुरों में आवश्यक कहा गया है तथा शरीरगत बल को (व्याधिक्षमत्व को) प्रभावित करने वाले विभिन्न भावों का उल्लेख दस आतुरपरीक्ष्य दसभाव के अन्तर्गत किया गया है। इसकी सबसे बड़ी उपादेयता यह है कि चिकित्सा जगत का एक अनुसंधान मार्ग (Rescarch project) मिलता है कि बल (Immunity) को प्रभावित करने वाले भाव कौन-कौन से हैं तथा बल बढ़ाने के उपाय के लिए मार्ग प्रशस्त होता है। इन भावों की उपादेयता बल प्रमाण ज्ञान में किस प्रकार है, इसका संक्षिप्त विवरण निम्न अवतरणों में प्रस्तुत किया जा रहा है।

बल-प्रमाण-विशेष ज्ञान में सर्वप्रथम प्रकृति का उल्लेख किया गया है, क्योंकि बल का सीधा सम्बन्ध प्रकृति के साथ होता है। समप्रकृति (वात-पित्त-कफज) सर्वोत्तम कही गई है, परन्तु समप्रकृति वाले व्यक्ति का प्रतिशत अत्यल्प रहता है। अतः व्यावहारिक दृष्टि से सर्वप्रथम कफज प्रकृति का उल्लेख किया गया है, क्योंकि

कफ का बल से सीधा सम्बन्ध होता है, बल्कि यह कहा जा सकता है कि बल (व्याधि-क्षमत्व) का हेतु प्राकृत कफ को ही माना गया है। 'प्राकृतस्तु बलं श्लेष्मा विकृतो मल उच्यते' कहकर कफ को बल का एक घटक स्वीकार किया गया है; अतः कफज प्रकृति में उत्तम बल, पित्तज प्रकृति के व्यक्तियों में मध्यम बल और वातज प्रकृति के व्यक्तियों में अवर बल होता है। शारीरिक बल के बाद व्याधि-बल-परीक्षा का निर्देश विकृतितः परीक्षा के आधार पर करने का निर्देश दिया गया है। व्याधि बल की परीक्षा के बिना चिकित्सा सम्यक्‌रूपेण नहीं हो सकती; क्योंकि अल्प बलयुक्त व्याधि में महाबलयुक्त औषध का प्रयोग हानिकर हो सकता है तथा प्रवर बल वाली व्याधि में मृदु व मंद औषधियाँ रोग-शमन में असमर्थ होती हैं, अतः आतुर की मृत्यु भी हो सकती है। इस प्रकार प्रकृति-विकृतितः परीक्षा चिकित्सा की दृष्टि से उपादेय ही नहीं बल्कि अनिवार्य भी है।

बल को प्रभावित करने वाले तीसरे भाव के रूप में सार को स्वीकार किया गया है। सारयुक्त या सारवान् पुरुष का तात्पर्य ही यह हुआ कि उस व्यक्ति में साररूप धातुओं का निर्माण यथोचित रूप में होता है। जब सार धातुओं की उत्पत्ति यथोचित रूप से होती रहती है तो स्वभावतः शरीर में बलाधिक्य होता है। असार का तात्पर्य यह हुआ कि व्यक्तिविशेष में धातुओं का निर्माण यथोचित रूप में नहीं होता है, जिससे बल अल्प परिमाण में रहता है। इसके अतिरिक्त बल के प्रधान हेतु ओज को सभी धातुओं का सार कहा गया है तथा साररूप में यह सभी धातुओं में विद्यमान रहकर शरीरगत धातुओं की रक्षा करता है। अतः असार व्यक्ति में बल अल्प रहता है। सार-परीक्षा की उपादेयता पर प्रकाश डालते हुए आचार्य चरक कहते हैं कि—कथं नु शरीरमात्रदर्शनादेव···अयमल्पबलः कृशत्वात् महाबलोऽयं महाशरीरत्वात्··· पिपीलिकाभारहरणवत् सिद्धिः। अतश्च सारतः परीक्षेतेत्युक्तम्।'—च० वि० ८।११५। अर्थात् मात्र शरीर देखने से मोहोत्पत्ति होती है कि—अमुक व्यक्ति बृहत् शरीरयुक्त है तो बलयुक्त है, अमुक व्यक्ति कृशकाय है तो अल्प बलयुक्त है, यह छोटे शरीर वाला है तो अल्पबल वाला है आदि। इससे वैद्य को धोखा हो जाता है; क्योंकि छोटे व पतले शरीर वाले भी बलयुक्त होते हैं तथा बड़े शरीर वाले भी अल्प बलयुक्त होते हैं, जैसे—छोटी चींटी अपने भार से कई गुणा ज्यादा भार ढोने में सक्षम होती है; अतः सार परीक्षा बल जानने के लिए उपादेय ही नहीं, बल्कि आवश्यक भी है। इसी प्रकार आचार्य का कहना है कि शारीरिक अङ्ग-प्रत्यङ्गों का आपस में संयोजन अर्थात् संगठन का भी बल पर प्रभाव पड़ता है। उत्तम शरीर संहनन वाले में प्रवर बल होता है। इसी का एक दूसरा पक्ष प्रमाण है। आयुर्वेद में एक आदर्श मनुष्य के प्रमाण का उल्लेख किया गया है। आदर्श प्रमाण वाले व्यक्ति में सहज रूप से ही प्रवर बल होता है। आज भी शारीरिक बनावट की दृष्टि से बलाबल का विचार

किया जाता है। कतिपय विशिष्ट संहनन वाले विशिष्ट प्रमाण वाले व्यक्ति को विशिष्ट रोग ग्रसित करते हैं। प्रमाण परीक्षा के अन्तर्गत शारीरिक भावों का भी ग्रहण किया जाता है। यदि शरीर में शारीरिक भाव न्यूनाधिक मात्रा में रहते हैं तो व्याधि बल के लिए अनुकूल स्थिति प्राप्त हो जाती है, परन्तु यदि वे समभाव में होते हैं तो व्यक्ति के शरीर में बल उत्तम रहता है। इस प्रकार बल-विशेष के ज्ञान के लिए संहनन व प्रमाण परीक्षा अति उपादेय है। बल को प्रभावित करने वाला एक अन्य भाव सात्म्य कहा गया है। सात्म्य को दो प्रकार का माना जा सकता है। प्रथम -- तात्कालिक सुखावह; इसमें कतिपय हानिकर द्रव्यों को भी सात्म्य कर लिया जाता है तथा द्वितीय परिणामतः सुखावह, जो कि उत्तम बलदायक है। जिन व्यक्तियों में सभी रस सात्म्य होते हैं, उसमें उत्तम बल रहता है। इस प्रकार व्यक्ति से यह प्रश्न पूछकर कि उसे कितने रस सात्म्य है, उसके आन्तरिक बल का प्रमाण जाना जा सकता है। इस प्रकार बलप्रमाण ज्ञान की दृष्टि से सात्म्य परीक्षा अति उपादेय है। कतिपय स्थूल शरीर वाले व्यक्ति अल्प बल वाली व्याधियों के प्रभाव को सहन नहीं कर पाते तथा अल्प शरीर वाला व्यक्ति भी बड़ी व्याधियों को सहने की क्षमता रखता है; अतः चिकित्सक से शिकायत करता है, इस स्थिति में चिकित्सक धोखा खा जाता है; क्योंकि बल को सत्त्व भी प्रभावित करता है। प्रवर सत्त्व वाले व्यक्तियों में (सात्त्विक गुण जिसमें अधिक हों) बल अधिक होता है तथा अवर सत्त्व वाले व्यक्तियों में अल्प होता है। अतः बलप्रमाण ज्ञान हेतु सत्त्व-परीक्षा उपादेय ही नहीं; बल्कि अत्यन्त आवश्यक भी है। इसके अतिरिक्त बल को प्रभावित करने वाले अन्य भाव अग्निबल, शारीरिक शक्ति व वय है। इन तीनों के बलयुक्त होने की स्थिति में बल उत्तम होता है तथा इनके अल्प बलयुक्त होने पर शरीर में बल अल्प होता है। इसमें अग्निबल की परीक्षा हेतु आहार शक्ति की परीक्षा का विधान है; क्योंकि आहार शक्ति या आहार मात्रा अग्निबल की अपेक्षा करता है। यदि व्यक्ति की आहार शक्ति प्रवर होती है तो इसका तात्पर्य यह होता है कि इस व्यक्ति में अग्निबल प्रवर है। अग्निबल जब प्रवर होता है तो धातुओं की पुष्टि यथोचित रूप में होने के कारण शरीर में बल प्रवर होता है। अतः शरीरस्थ बल प्रमाण जानने के लिए आहार शक्ति की परीक्षा करना अति उपादेय है। इसी प्रकार बल-प्रमाण-ज्ञान हेतु व्यायाम शक्ति अर्थात् शारीरिक रूप से श्रमशक्ति की परीक्षा की जाती है, क्योंकि व्यायाम या श्रम करने की शक्ति भी बल का सूचक है। इसके अतिरिक्त वय अर्थात् उम्र का भी बल से सम्बन्ध होता है। मध्यावस्था में बल उत्तम रहता है तथा जीर्णावस्था में अवर रहता है।

इस प्रकार आतुर परीक्ष्य भाव व्याधि-प्रतिबन्धक व प्रशामक दोनों रूप में चिकित्सा के लिए अति उपादेय है। ये दस भाव बल को प्रभावित करते हैं; अतः इन

भावों का अनुसरण करने पर शरीर में बलाधान होकर व्याधि-प्रतिबन्धन कर्म होगा तथा बल-प्रमाण का ज्ञान हो जाने पर उसकी सफल चिकित्सा होती है। यहाँ आतुर परीक्ष्य दस भाव के उपादेयता का निर्देशमात्र दिया गया है। विद्वान् चिकित्सक अपने दैनिक चिकित्सा कर्म में इस सिद्धान्त को व्यवहार में लाकर चिकित्सा कार्य में सफलता प्राप्त कर सकते हैं।

अध्याय—२६

षड्धातुपुरुषवाद

षड्धातुपुरुषवाद आयुर्वेद का एक प्रमुख आधारभूत सिद्धान्त है। चरकसंहिता में एकधातुज, षड्धातुज व चतुर्विंशति पुरुष-भेद से तीन प्रकार के पुरुष का उल्लेख प्राप्त होता है। षड्धातुज पुरुष के बारे में कहा गया है—'खादयश्चेतनाषष्ठा धातवः पुरुष स्मृतः।'—च० शा० १। अर्थात् खयानि आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी तथा छठी चेतना धातु—इन छः के संयोग को षड्धातुज पुरुष कहा जाता है। पुरुषविचयवाद में भी भगवान् आत्रेय ने लोक व पुरुष को षड्धातुज ही बतलाया है—'षड्धातवः समुदिताः पुरुष इति शब्दं लभन्ते; तद्यथा—पृथिव्यप्तेजसो वायुराकाशं ब्रह्म चाव्यक्तमिति, एतएव च षड्धातवः समुदिताः 'पुरुष' इति शब्दं लभन्ते।'—च० शा० ५।४। अर्थात् छः धातुओं का संयोग लोकसँज्ञा प्राप्त करता है। इसका अभिप्राय यह है कि षड्धातुओं के समुदाय को लोक कहते हैं। यथा—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु व आकाश तथा ब्रह्म—ये ही षड्धातु जब परस्पर मिलते हैं तो उसे पुरुष कहते हैं। चरकसंहिता, सूत्रस्थान के यज्जःपुरुषीय अ० में भी षड्धातुज पुरुष का उल्लेख किया गया है—

'षड्धातुजस्तु पुरुषो रोगाः षडधातुजास्तथा।
राशिः षड्धातुजो ह्येष सांख्यैराद्यैः प्रकीर्तितः॥

(च० सू० २५।१५)

यहाँ भी पुरुष को षड्धातुज माना गया है तथा यह भी कहा गया है कि 'सांख्यैराद्यैः प्रकीर्तितः' अर्थात् आदिकाल या आदि (प्राचीन) सांख्य ने षड्धातुज पुरुषवाद को स्थापित किया था या प्राचीन सांख्य में षड्धातुज पुरुष की मान्यता थी।

आचार्य सुश्रुत ने भी षड्धातुज पुरुष का उल्लेख किया है—'पञ्चमहाभूतशरीरिसमवायः पुरुष इति उच्यते' अर्थात् पञ्चमहाभूत और शरीरि (आत्मा) इनके संयोग को पुरुष कहते हैं। इस प्रकार आयुर्वेद के दोनों सम्प्रदाय के विद्वानों ने षड्धातुज पुरुष का उल्लेख किया है। आयुर्वेद में इस षड्धातुज पुरुष को ही कर्मपुरुष, चिकित्स्य पुरुष या अधिकरण पुरुष कहा गया है—

सत्त्वमात्मा शरीरं च त्रयमेतत्-त्रिदण्डवत्।
लोकस्तिष्ठति संयोगात्तत्र सर्वं प्रतिष्ठितम्॥
स पुमांश्चेतनं तच्च तच्चाधिकरणं स्मृतम्।
वेदस्यास्य तदर्थं हि वेदोऽयं सम्प्रकाशितः॥

(च० सू० १।४५-४६)

आचार्य सुश्रुत षड्धातुज पुरुष को ही 'तस्मिन् क्रिया, सोऽधिष्ठानम्' कहकर क्रियाधिष्ठान अर्थात् कर्म योग्य पुरुष माना है। आचार्य सुश्रुत शा० अ० १ में पुन. षड्धातुज पुरुष को और भी स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि—'न चायुर्वेदशास्त्रेषूपदिश्यन्ते सर्वगताः क्षेत्रज्ञाः नित्याश्च असर्वगतेषु च क्षेत्रज्ञेषु नित्यपुरुषख्यापकान् हेतूनुदाहरन्ति। आयुर्वेदशास्त्रेष्वसर्वगताः क्षेत्रज्ञाः नित्याश्च, तिर्यग्योनिमानुषदेहेषु संचरन्ति धर्माधर्मनिमित्तम् त एतेऽनुमानग्राह्याः परमसूक्ष्माश्चेतनावन्तः शाश्वताः लोहितरेतसोः सन्निपातेष्वभिव्यज्यन्ते, यतोऽभिहितं पञ्चमहाभूतशरीरिसमवायः पुरुष इति। स एषः कर्मपुरुषश्चिकित्साधिकृतः।'—सु० शा० १।१६-१७। अर्थात् आयुर्वेद विज्ञान में क्षेत्रज्ञ सर्वगत नहीं कहा जाता है, पर यह क्षेत्रज्ञ नित्य होता है। आयुर्वेद के विद्वान् असर्वगत क्षेत्रज्ञों में ही पुरुष-नित्यता दर्शक हेतु का निर्देश देते हैं। आयुर्वेद के सिद्धान्तानुसार अणुरूप (असर्वगत) और क्षेत्रज्ञ नित्य पुरुष धर्म व अधर्म के कारण तिर्यग्योनि, देवयोनि व मनुष्य योनि में संचार करते रहते हैं। इनका प्रत्यक्ष नहीं किया जा सकता; अतः ये अनुमान के द्वारा ग्रहण किये जाने वाले, अतिसूक्ष्म अर्थात् सूक्ष्मातिसूक्ष्म, चेतन और नित्य पुरुष शुक्र-शोणित संयोग से प्रकट होते हैं। अतः यह कहा जाता है कि पंचमहाभूत और आत्मा का संयुक्त रुप पुरुष होता है। इसी पुरुष को कर्मपुरुष कहा जाता है; क्योंकि चिकित्सा का अधिकरण यही पुरुष होता है। यहाँ आचार्य ने स्पष्ट किया है कि क्षेत्र-विशेष में (शरीर में, क्योंकि शरीर को ही क्षेत्र कहा गया है) रहने वाली आत्मा, जो क्षेत्रज्ञ (क्षेत्र-विशेष या शरीर में रहने के कारण) सर्वगत नहीं होता है, परन्तु यह पुरुष नित्य होता है। उपर्युक्त गद्यांश में क्षेत्रज्ञ आत्मा के नित्यत्व की सिद्धि सर्वगत आत्मा की तरह ही की गई है। आचार्य सुश्रुत पुरुष के अनेकत्व का निर्देश देते हैं; अतः इसे असर्वगत कहते हैं। सांख्यशास्त्र में भी पुरुष को विभु, अनेक और नित्य माना गया है। आचार्य सुश्रुत भी सांख्यशास्त्र का ही अनुसरण करते हुए इसे असर्वगत, परन्तु नित्य कहते हैं। यद्यपि इस आत्मा को प्रायः सभी शास्त्र नित्य मानते हैं, परन्तु आत्मा का असर्वगतत्व (आत्मा की अनेकता) और विभु होना, यह तथ्य परस्पर विरोधी है; क्योंकि यदि पुरुष को विभु मान लिया जाता है तो फिर उसमें किसी प्रकार की गतिपरक गमनादि क्रिया किस प्रकार होगी ? अर्थात् इसमें किसी प्रकार की गतिजन्य गमनादि क्रिया नहीं हो सकती। जब पुरुष को विभु और अनेक मान लिया जाता है, इससे प्रत्येक शरीर में अनेक पुरुष होंगे तथा प्रत्येक प्राणी को सभी प्राणियों का अनुभव होने लगेगा, परन्तु इस प्रकार का ज्ञान नहीं हो पाता है। इस प्रकार अन्य कतिपय दर्शन क्षेत्रज्ञ या आत्मा के विभुत्व और अनेकता को एक साथ स्वीकार न कर विभु और एक मानते हैं। यथा—वेदान्त दर्शन में पुरुष को एक और विभु माना गया है। उनका कथन है कि—भूतात्मा एक ही है परन्तु प्राणिविशेष में सूर्य-प्रतिबिम्ब के समान व्याप्त है। यह उसी प्रकार अनेक रूपों में दिखाई पड़ता है जैसे—

एक एव हि भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः ।
एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत् ।। (पंचदशी)

चरकसंहिता में पुरुष को एक और विभु कहा गया है । आचार्य सुश्रुत ने पुरुष को असर्वगत कहा है परन्तु आचार्य चरक ने पुरुष को सर्वगत व विभु कहा है । सर्वगत का अर्थ हुआ कि आत्मा एक है —

अव्यक्तमात्मा क्षेत्रज्ञः शाश्वतो विभुरव्ययः ।
विभुत्वमतएवास्य यस्मात् सर्वगतोमहान् ।। (च० शा० १)

जब इस आत्मा का संयोग पंचमहाभूत के साथ होता है तब यह षड्धातुज पुरुष कहा जाता है । पुरुष शब्द 'पुरि शेते' से निष्पन्न है । पुरि का तात्पर्य शरीर होता है । इस प्रकार षड्धातुज पुरुष का तात्पर्य पाँचभौतिक शरीर व शरीरि (आत्मा) का संयोग है जिसे कर्मपुरुष या चिकित्स्य पुरुष कहा जाता है । आयुर्वेद में इसी को अधिकरण कहा गया है । चरकसंहिता. शा० अ० ६ में शरीर को पारिभाषित करने में 'षड्धातुपुरुषवाद' को ही आधार रूप में रखा गया है—'तत्र शरीरं नाम चेतनाधिष्ठानभूतं पञ्चमहाभूतविकारसमुदायात्मकम् ।'—च० शा० ६।४ । अर्थात् पञ्चमहाभूतों के विकार-समुदाय और चेतन आत्मा के अधिष्ठान को शरीर कहा जाता है । इस गद्यांश की टीका करते हुए चक्रपाणिदत्त ने स्पष्ट किया है कि—'चेतनाशब्देन ज्ञानकारणमात्मोच्यते, भूतशब्द उपमाने, तेन चेतनायाः आत्मसंबन्धिन्याः शरीरे स्वोपलम्भात् आत्मनः शरीरमधिष्ठानमिति भवति; परमार्थतस्तु चेतना आत्माश्रया, आत्मा न निराश्रय एव; किंवा चेतनस्यात्मनोऽधिष्ठानभूतम् इति चेतनाधिष्ठानभूतम् । पञ्चानां महाभूतानां विकारा रसादयः शरीरारम्भकाः, तेषां समुदायोः मेलकः स आत्मा स्वरूपं यस्य तत् तथा । समुदायशब्देन च समुदायारम्भका धातव एवोच्यन्ते । तेन न संयोगमात्रस्य शरीरत्वप्रसक्तिः । किं वा समुदायः संयोग एवोच्यतां तथाऽपि समुदाय आत्मा कारणं यस्य शरीरस्य द्रव्यरूपस्य तत् पञ्चमहाभूतविकारसमुदायात्मकं शरीरमेव । च० शा० ६।४ पर आयुर्वेददीपिका । यहाँ आचार्य स्पष्ट करते हैं —चेतना शब्द यहाँ ज्ञान के कारणरूप आत्मा के लिए व्यवहृत किया गया है । चेतना धातु अर्थात् आत्मा का अधिष्ठान शरीर होता है । यह शरीर पञ्चमहाभूतों के विकारों द्वारा निर्मित है; अतः इसे पञ्चविकार समुदाय कहा गया है । यहाँ प्रसंगानुसार यही तात्पर्य है कि, आयुर्वेद में अन्य भावों—शरीरादि का वर्णन भी षड्धातुपुरुषवाद के आधार पर ही किया गया है, क्योंकि आयुर्वेद शास्त्र में मान्य कर्मपुरुष षड्धातुपुरुष ही है । मानव जीवन के प्रारम्भ—गर्भोत्पत्ति काल में अथवा गर्भ-विकास काल में सुश्रुतसंहिता में इस षड्धातुपुरुषवाद की व्यावहारिक व्याख्या की गई है । चेतनाधातु के संयोग से पञ्चमहाभूतों द्वारा किस प्रकार शरीर का विकास किया जाता है, इसको स्पष्ट किया गया है—'शुक्रशोणितं गर्भाशयस्थमात्मप्रकृतिविकार-

सम्मूर्च्छितं गर्भ इत्युच्यते । तं चेतनावस्थितं वायुर्विभजति, तेज एनं पचति, आपः क्लेदयन्ति, पृथिवी संहन्ति आकाशं विवर्धयति, एवं विवर्धितः स यदा हस्तपाद······ संज्ञा लभन्ते ।'--सु० शा० ५।३ । अर्थात् शुक्र-शोणित का जब गर्भाशय में संयोग होता है तो उस समय तत्क्षण ही सूक्ष्म शरीरसहित आत्मा का प्रवेश हो जाता है । आत्मा की उपस्थिति में पञ्चमहाभूत उस गर्भ का विकास अङ्ग-प्रत्यङ्गों से युक्त शरीर के रूप में कर देते हैं । चूंकि चेतना की उपस्थिति में ही पञ्चमहाभूतों द्वारा शरीर का विकास होता है; अतः पंचमहाभूत और आत्मा--इन छः के संयोग द्वारा उत्पन्न षड्धातु पुरुष को ही चिकित्स्य पुरुष या कर्मपुरुष कहा गया है ।

जब किसी व्यक्ति की मृत्यु होती है तो षड्धातुज पुरुष ही एक शरीर से दूसरे शरीर में प्रविष्ट होता है—

'भूतैश्चतुर्भिः सहितैः सुसूक्ष्मैर्मनोजवो देहमुपैति देहात् ।
कर्मात्मकत्वान्न तु तस्य दृश्यं दिव्यं बिना दर्शनमस्ति रूपम् ।।

(च० शा० २।३१)

अर्थात् मनोजव आत्मा (मन के साथ संयोग होने पर ही गमन करने वाला आत्मा) चार महाभूतों के साथ (आकाश महाभूत को छोड़ कर शेष चार महाभूतों वायु; अग्नि, जल व पृथ्वी के साथ । आकाश विभु होता है अतः वह सर्वत्र रहता है । आकाश व्यापक होने के कारण निष्क्रिय होता है अतः वह गमन नहीं करता है, इसीलिए यहाँ आकाश महाभूत को छोड़कर शेष महाभूतों की गणना की गयी है) जब आत्मा पुराने शरीर को छोड़कर नये शरीर में जाता है तो सामान्य लोगों को उसके रूप का दर्शन नहीं होता, परन्तु योग तपस्यादि के द्वारा जिन्होंने दिव्यदृष्टि प्राप्त की है, वे इस आत्मा को निकल कर जाते हुए देख सकते हैं । इस प्रकार चरकसंहिता के अनुसार षड्धातुज पुरुष ही एक शरीर से निकल कर दूसरे शरीर में प्रवेश करता है । जब पंचमहाभूत से रचित शुक्र-शोणित का संयोग होता है, उसी समय जीव की अवक्रान्ति (शुक्र-शोणित संयोग सूक्ष्मभाव में चेतन तत्त्व का प्रवेश) भी होती है । इस षड्धातुज पुरुष या कर्मपुरुष की विकास-प्रक्रिया का वर्णन आचार्य चरक ने शरीर-स्थान के महत्तीगर्भावक्रान्ति अध्याय में विस्तृत रूप में किया है, जिसे यथावत् रूप में यहाँ उद्धृत किया जा रहा है—'तत्र पूर्वं चेतनाधातुः सत्त्वकरणो गुणग्रहणाय प्रवर्तते, स हि हेतुः कारणं निमित्तमक्षरं कर्त्तामन्ता वेदिता बोद्धा द्रष्टा धाता ब्रह्मा विश्वकर्मा विश्वरूपः पुरुषः प्रभवोऽव्ययो नित्योगुणी ग्रहणं प्रधानमव्यक्तं जीवो ज्ञः पुद्गलश्चेतनावान् विभुर्भूतात्मा चेन्द्रियात्मा चान्तरात्मा चेति । स गुणोपादानकालेऽन्तरिक्षं पूर्वतरमन्येभ्यो गुणेभ्य यथा प्रलयात्यये सिसृक्षुर्भूतान्यक्षरभूत आत्मा सत्त्वोपादानः पूर्वतरमाकाशं सृजीत, ततः क्रमेण व्यक्ततरगुणान् धातून् वाय्वादिकांश्चतुरः, तथा देहग्रहणेऽपि प्रवर्त्तमानः पूर्वतरमाकाशमेवोपादत्ते, ततः क्रमेण व्यक्ततरगुणान् धातून्

वाय्वादिकांश्चतुरः । सर्वमपि तु खल्वेतद्गुणोपादानमणुना कालेन भवति ।'—च० शा० ४।८। अर्थात् गर्भोत्पत्ति में सर्वप्रथम मन करण होता है। सत्त्वोपादान वाली चेतना धातु; गुण ग्रहण करने के लिए प्रवृत्त होती है, जो स्वयं हेतु (कारण) निमित्त है। यह आत्मा अक्षर (इसका क्षय कभी नहीं होता है), कर्त्ता (क्रिया का कारण), मन्ता, वेदिता (ज्ञान को जानने वाला) बोद्धा, द्रष्टा, (देखने वाला), धाता, ब्रह्मा, विश्वकर्मा, विश्वरूप, पुरुष, प्रभव, अव्यय, नित्य, गुणी, ग्रहण, प्रधान, अव्यक्त, जीव, ज्ञ, पुद्गल, चेतनावान्, विभु, भूतात्मा, इन्द्रियात्मा, अन्तरात्मा आदि नामों से जाना जाता है। इस प्रकार इन नामों के द्वारा जाना जाने वाला आत्मा गुण ग्रहण करते समय अर्थात् शुक्र-शोणित संयोग होने के समय (संयोग हो जाने पर) सर्वप्रथम अन्य गुणों की अपेक्षा आकाश का सृजन करता है। जिस प्रकार सृष्टि के प्रलय के बाद ब्रह्मा सर्वप्रथम सत्त्वबहुल आकाश का सृजन करते हैं तथा बाद में अन्य चार महाभूतों की रचना करते हैं। उसी प्रकार गर्भ में आत्मा (चेतना धातु) सर्वप्रथम आकाश को ग्रहण करता है तथा बाद में व्यक्ततर अन्य चार धातुओं को उत्पन्न करता है अथवा धातुओं को ग्रहण करता है। इन सभी शब्दादि गुणों से युक्त गुणवान् महाभूतों के गुणों का उपादान (ग्रहण) अत्यन्त सूक्ष्म काल में होता है। इस प्रकार यह चेतना धातु पाँच धातुओं का ग्रहण कर षड्धातुज पुरुष के रूप में सर्वगुणसम्पन्न होकर गर्भावस्था को प्राप्त होता है (स सर्वगुणवान् गर्भत्वमापन्न···। च० शा० ४।९) इस प्रकार आचार्य चरक ने आत्मा के एकत्व व विभुत्व को सिद्ध करने के लिए आत्मा के प्रचलित प्रत्येक संज्ञाओं का संग्रह किया है। षड्धातुज पुरुष भी वही पुरुष है जिसे इन विभिन्न संज्ञाओं से जाना जाता है। इस प्रकार आत्मा को एक और विभु मानते हुए इसका संयोग पाँच धातुओं द्वारा किस प्रकार होता है अथवा चेतना धातु द्वारा अन्य धातुओं का ग्रहण किस प्रकार होता है, उपर्युक्त अवतरण में इसी तथ्य को स्पष्ट किया गया है।

पं० रामरक्ष पाठक ने अपनी पुस्तक पदार्थविज्ञान में पुरुष को तीन परिमाण वाला कहकर इसको स्पष्ट करने के लिए अन्य दर्शन-वाक्यों के द्वारा अति सुन्दर ढंग से समन्वित किया है। उस आधार पर आत्मा को स्पष्ट करने के लिए यहाँ तीन परिमाणों का उल्लेख किया जा रहा है। आचार्य पाठक जी ने मध्यम, विभु व अणु परिमाण में पुरुष का उल्लेख किया है।

१. मध्यमपरिमाण—जैन दार्शनिकों की मान्यता है कि—जिस शरीर में आत्मा रहता है, उस शरीर को वह व्याप्त किये रहता है अतः आत्मा शरीर परिमाण वाला है। परन्तु इस परिमाण को नहीं माना जा सकता। क्योंकि इसमें अव्याप्ति दोष आ जाता है। हाथी के शरीर परिमाण वाली आत्मा चींटी के शरीर को ग्रहण नहीं कर सकती है। अतः जैन दार्शनिकों के इस मत को यानि मध्यम परिमाण को मानने पर

आत्मा का विभिन्न योनियों में आत्मा के गमनागमन की अवधारणा बाधित होगी। भारत में कतिपय अन्य विद्वानों का भी मत मध्यम परिमाणवादी रहा होगा, क्योंकि ब्रह्मसूत्र के 'एवं चात्माऽकात्स्न्र्यम् ।'—ब्र० सू० १।२।३४। के भाष्य में श्री शंकराचार्य उपर्युक्त उद्धरणों के साथ कहते हैं कि—'शरीराणां चानवस्थितपरिमाणत्वान्मानुष्य-जीवो मनुष्यशरीरपरिमाणो भूत्वा पुनः केनचित् कर्मविपाकेन हस्तिजन्म प्राप्नुवन्न कृत्स्नं हस्तिशरीरं व्याप्नुयात्। पुत्रिकाजन्म च प्राप्नुवन्न कृत्स्नः पुत्रिकाशरीरे संमीलयेत्। समाब एष एकस्मिन्नपि जन्मनि कौमारयौवनस्थविरेषु दोषः।' इस प्रकार शंकराचार्य ने विभिन्न उद्धरणों के द्वारा इस मत का खण्डन किया है। यतः मनुष्य, हाथी, चींटी आदि विभिन्न प्राणियों के शरीर का परिमाण भिन्न-भिन्न है, अतः यदि आत्मा शरीर परिमाण वाली होगी तो विभिन्न योनियों में परिभ्रमण इसके लिए अशक्य हो जायेगा। क्योंकि विभिन्न योनियों में गमनागमन की प्रक्रिया तो अलग-अलग है। श्री शंकराचार्य ने समान योनि में ही विभिन्न अवस्थाओं के परिमाणों के आधार पर उसमें अव्याप्ति दोष बतलाया है। यथा—एक बच्चा जब जन्म लेता है तो उसकी आत्मा शिशु के शरीर परिमाण वाली होती है, फिर उसी व्यक्ति के कुमारावस्था में आने पर या यौवनावस्था आने पर उस आत्मा का परिमाण स्थिर नहीं रह पायेगा, इस तरह यह मत दोषयुक्त है। इसीलिए मध्यम परिमाणवादियों का मत प्रचलित नहीं हो पाया।

२. **विभुपरिमाण**—भारतीय दर्शनों में आत्मा को विभु परिमाणवाला कहा गया है। आयुर्वेद में भी चरकसंहिता में इसे विभु न सर्वगत कहा गया है। विभु परिमाण पुरुष में पूर्वदेहपरित्याग, अपरदेह-गमन, परलोक-गमन इत्यादि गतिवाचक कर्म प्रयुक्त होते हैं। आयुर्वेद में, विशेष रूप में चरकसंहिता में आत्मा को विभु माना गया है तथा इस अवधारणा को भी स्थापित किया गया है कि आत्मा एक शरीर से निकल कर दूसरे शरीर में प्रवेश करती है। परन्तु आचार्य सुश्रुत ने आत्मा को असर्वगत कहा है। आचार्य शंकराचार्य ने ब्र० सू० 'उत्क्रान्तिगत्यागतीनाम्' २।३।१९। की व्याख्या में इस मत का खण्डन करते हुए कहा है कि—'उत्क्रान्तिगत्यागतिश्रवणानि तु जीवस्य परिच्छेदं प्रापयन्ति। आसां उत्क्रान्तिगत्यागतीनां श्रवणात्परिच्छिन्नास्ताव‌ज्जीव इति प्राप्नोति। न हि विभोश्चलनमवकल्प्यत इति।' इस प्रकार यहाँ श्री शंकराचार्य का कथन है कि—विभु परिमाण पुरुष में पूर्वदेह परित्याग, अपरदेह-गमन, परलोक गमन आदि गतियों का उल्लेख प्राप्त होता है। अतः गतिपरक आत्मा को विभु नहीं कहा जा सकता। आचार्य चरक ने पुरुष को विभु तथा पुनर्जन्म वाला कहा है। शंकराचार्य के इस तर्क के समाधान में यह कहा जा सकता है कि चरकसंहिता में आत्मा को विभु कहने के साथ ही इसे क्रियाहीन भी कहा गया है। अर्थात् आत्मा निष्क्रिय होती है। जब आत्मा में क्रिया ही नहीं होती तो

वह गति कैसे कर सकती है। परन्तु जब आत्मा का मन के साथ संयोग होता है तो मन जड़ होते हुए भी आत्मा के साथ संयोग होने से क्रियाशील हो जाता है—

अचेतनं क्रियावच्च मनश्चेतयिता परः।
युक्तस्य मनसा तस्य निर्दिश्यन्ते विभोः क्रियाः॥

(च० शा० १।७५)

अर्थात् मन अचेतन है परन्तु क्रियावान् है। आत्मा चेतयिता अर्थात् चेतना-प्रदाता होता है। जब आत्मा का, जो कि विभु होता है, मन के साथ संयोग होता है, तब मन क्रियाशील हो जाता है। अतः जो जीवन क्रियायें होती हैं, वह मन की क्रियाकर्तृत्व का द्योतिक है, परन्तु—

चेतनावान् यतश्चात्मा ततः कर्त्ता निरुच्यते।
अचेतनत्वाच्च मनः क्रियावदपि नोच्यते॥

(च० शा० १।७६)

अर्थात् आत्मा के चेतन होने के कारण कर्त्ता उसी को कहा जाता है तथा मन के अचेतन होने के कारण उसे कर्त्ता नहीं कहते हैं। अर्थात् गति आदि क्रियायें आत्मा की न होकर मन की क्रियायें हैं अतः आचार्य चरक ने 'विभो क्रिया' कहकर इसके विभुत्व का समर्थन किया है तथा यह स्पष्ट कर दिया है कि विभु गुण वाली या विभु परिमाण वाली आत्मा निष्क्रिय होती है। आत्मा के विभुत्व के विरोध में उत्क्रान्तित्व व अवक्रान्तित्व का जो आधार बनाया गया है, उसके सम्बन्ध में चरक-संहिता द्वारा प्रस्तुत अवधारणा स्पष्ट है। पुनर्जन्म प्रकरण में स्पष्ट कहा गया है कि—'मनोजवो देहमुपैति देहात्'। मनोजव का तात्पर्य मन के संयोग से गमन करने वाला ग्रहण किया जाता है। इस प्रकार क्रियायुक्त मन के साथ संयोगावस्था में आत्मा एक शरीर से दूसरे शरीर में जाती है। यदि मन के साथ संयोग न हो तो विभु आत्मा की निष्क्रियता के कारण गति आदि क्रियायें नहीं हो सकतीं। इस प्रकार चरकसंहिता में इसके विभु परिमाण को स्वीकार किया गया है तथा शंकराचार्य द्वारा कथित 'उत्क्रान्तिगत्यागतीनाम्' इस सूत्र की पुष्टि कर दिया गया है।

३. अणुपरिमाण—कतिपय स्थान पर आत्मा के अणु परिमाण का भी उल्लेख प्राप्त होता है। आचार्य शंकराचार्य का कथन है कि—यदि पुरुष मध्यम परिमाण वाला अथवा विभु परिमाण वाला नहीं है तो अणु परिमाण वाला होना चाहिए—'सति च परिच्छेदे शरीरपरिमाणत्वस्याहेतुपरीक्षायां निरस्तत्वादणुरात्मेति गम्यते।' शांकरभाष्य। श्वेताश्वतरोपनिषद् में अणुरूप आत्मा के स्वरूप का निम्न रूप में वर्णन किया गया है—

बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च।
भागो जीवः स विज्ञेयः स चानन्त्यया कल्पते॥

अर्थात् बाल के सौवें भाग में पुनः सौ भाग की कल्पना करनी चाहिए। जीव अर्थात् आत्मा का परिमाण वही होता है। आयुर्वेद में आचार्य चरक ने इसे सूक्ष्माति-सूक्ष्म कहा है। लिङ्ग-पुरुष प्रकरण में आचार्य ने कहा है कि अतीन्द्रिय तथा सूक्ष्माति-सूक्ष्म भूतों से यह पृथक् नहीं होता है—'अतीन्द्रियैस्तैरतिसूक्ष्मरूपैरात्मा कदाचिन्न वियुक्तरूपः।'—च० शा० २। इसका तात्पर्य है कि आत्मा के साथ संयुक्त चार भूत इतने सूक्ष्म होते हैं कि अतीन्द्रिय होते हैं तो आत्मा इनके साथ सूक्ष्मातिसूक्ष्म रूप में ही युक्त होगी। इस प्रकार आयुर्वेद में इसके विभुत्व, नित्यत्व व सूक्ष्मत्व को स्वीकार करता है—

इस प्रकार आयुर्वेद में षड्धातुपुरुषवाद में पंचमहाभूत व आत्मा की संयुक्त अवस्था को स्वीकार किया गया है। इसे ही कर्मपुरुष या चिकित्स्य पुरुष कहा गया है।

षड्धातु पुरुषवाद की उपादेयता—आयुर्वेद एक व्यावहारिक जीवन विज्ञान है। अतः इसमें उन्हीं सिद्धान्तों को विशेष रूप से आत्मसात् किया गया है जिसकी व्याव-हारिक उपादेयता दृष्टिगोचर होती है। इसी शृंखला में षड्धातु पुरुषवाद भी है। आयुर्वेद में इसके अतिरिक्त एक धातुज व राशि पुरुषवाद का भी उल्लेख किया गया है, परन्तु कर्मपुरुष या चिकित्स्य पुरुष षड्धातुज पुरुष को ही कहा गया है। आयुर्वेद में समस्त जड़-चेतन द्रव्यों को पांचभौतिक कहा गया है। चेतन द्रव्य चेतना के कारण आत्मा के साथ संयुक्त हो जाता है तो उसे षड्धातुज कहा जाता है। शरीर के प्रत्येक अवयव पञ्चमहाभूतों से सम्बन्धित होते हैं। इसी व्यावहारिकता की दृष्टि से आयुर्वेद में इन्द्रियाँ भी भौतिक मानी गई हैं; जबकि सांख्य में इन्हें आहंकारिक कहा गया है। आयुर्वेद का उद्देश्य धातु को सम रखना है। विषमता-प्राप्त धातुएँ पांचभौतिक द्रव्यों से साम्यावस्था प्राप्त करती हैं। जब शरीर, इन्द्रियाँ दोनों को भौतिक स्वीकार किया गया है, इस स्थिति में आत्मा के अतिरिक्त अन्य भाव भौतिक अर्थात् पंचमहाभूतजन्य ही हैं, अतः आयुर्वेद में कर्मपुरुष के रूप में षड्धातुपुरुषवाद का ग्रहण किया गया है। आयुर्वेद में चिकित्सा का विषय पाञ्चभौतिक शरीर व मन ही माना गया है। इस स्थिति में षड्धातुपुरुषवाद उपादेय ही नहीं, वरन् आयुर्वेदीय चिकित्सा का आधार-स्तम्भ है। आचार्य सुश्रुत ने शा० अ० १ में इस तथ्य का उल्लेख स्पष्ट रूप से किया है कि चिकित्सा का विषय पांचभौतिक शरीर व मन है—

तन्मयान्येव भूतानि तद्गुणान्येवं चादिशेत्।
तैश्च तल्लक्षणः कृत्स्नो भूतग्रामो व्यजन्यत॥
तस्योपयोगोऽभिहितश्चिकित्सां प्रति सर्वदा।
भूतेभ्यो हि परं तस्मान्नास्ति चिकित्सते॥

(सु० शा० १।३८)

सृष्टि की आदि मूलप्रकृति को त्रिगुणात्मक कहा गया है। उत्पत्ति क्रमानुसार प्रकृति से आकाशादि पञ्चमहाभूत उत्पन्न होते हैं। इनमें अवकाश, चलत्व, उष्णत्व, द्रवत्व, खरत्व आदि विशिष्ट गुण रहते हैं। सृष्टि के सभी द्रव्य पाञ्चभौतिक हैं, अतः प्रत्येक भूत के गुण द्रव्य में रहते हैं परन्तु जो गुण अधिक रहता है, उसी के अनुसार उस द्रव्य का नाम पार्थिव आदि होता है। आयुर्वेद में व्यावहारिक दृष्टि से समस्त पदार्थ पाञ्चभौतिक माने गये हैं। शरीर, इन्द्रिय और मन तथा इनके विभिन्न प्रकार के उपयोग में आने वाले उपकरण आदि के भी मूलकारण पञ्चमहाभूत ही माने गये हैं—'यतोऽभिहितं—तत्संभवद्रव्यसमूहो भूतादिरुक्तः। भौतिकानि चेन्द्रियाण्यायुर्वेदे वर्ण्यन्ते तथेन्द्रियार्थाः।'—सु० शा० १।१२। इस प्रकार रोगों की उत्पत्ति में भूतों की वृद्धि-क्षय की भूमिका होती है। द्रव्यों का प्रयोग भी पंचमहाभूतों के आधार पर ही किया जाता है। अतः चिकित्सा में षड्धातुवाद द्वारा चिकित्सा सुबोध और सुगम हो जाती है। अतः चिकित्सा की दृष्टि से षड्धातुवाद अति उपादेय है।

आयुर्वेद के त्रिदोषवाद सप्तधातुवाद ये सभी सिद्धान्त षड्धातुवाद पर ही निर्भर है। जब पंचमहाभूत का संयोग चेतनाधातु से होता है तब षड्धात्वात्मक पुरुष में त्रिदोष की उत्पत्ति भी पंचमहाभूतों से ही होती है। इसका तात्पर्य यह है कि त्रिदोष जीवित शरीर में ही होता है। जब पंचमहाभूत का आत्मा से संयोग होता है तब आकाश वायु से वात दोष, अग्नि से पित्त दोष तथा जल, पृथ्वी से कफदोष उत्पन्न होता है। सप्तधातु भी षड्धातुपुरुष में ही संभव होता है। सप्तधातुओं की उत्पत्ति भी पंचमहाभूतों से होती है, परन्तु आत्मा की उपस्थिति में ही; क्योंकि आत्मा के नहीं रहने पर पंचमहाभूत सप्तधातुओं में परिणत नहीं हो पाते हैं। अतः आयुर्वेद में षड्धातुपुरुषवाद की उपादेयता इससे सम्बन्धित सभी सिद्धान्तों की व्यावहारिकता से परिलक्षित होती है तथा चिकित्सा कर्म इसी सिद्धान्त के आधार पर किया जाता है। षड्धातु पुरुष को ही कर्मपुरुष, चिकित्सा का अधिकरण अथवा चिकित्स्य पुरुष कहा जाता है।

अध्याय—२८

चेतनाधातुपुरुषवाद

चरकसंहिता में धातुभेद से तीन प्रकार के पुरुष बतलाए गये हैं—(१) षड्धातुपुरुष, (२) चेतनाधातुज या एकधातुज तथा (३) चतुर्विंशतिधातुज या राशिपुरुष। यहाँ चेतनाधातुज या एकधातुज पुरुष को विवेच्य विषय में रखा गया है। इसके सम्बन्ध में चरकसंहिता में कहा गया है कि—'चेतनाधातुरप्येकः स्मृतः पुरुषसंज्ञकः'। अर्थात् केवल एक चेतना धातु को भी कहा जाता है। एकधातुज पुरुष या केवल चेतना धातु को पुरुष रूप में स्वीकार करने की अवधारणा केवल चरकसंहिता में ही उपलब्ध है। आचार्य सुश्रुत ने कहा है कि—'न चायुर्वेदशास्त्रसिद्धान्तेषूपदिश्यते सर्वगताः क्षेत्रज्ञा नित्याश्च, असर्वगतेषु च क्षेत्रज्ञेषु नित्यपुरुषख्यापकान् हेतूनुदाहरन्ति।'—सु० शा० १। अर्थात् सर्वगत नित्यपुरुष का आयुर्वेद में उपदेश नहीं है, परन्तु आचार्य चरक ने चेतनाधातु को भी स्वतंत्र रूप से स्वीकार किया है। चरकसंहिता में प्रायशः उपादेय विषयों को ही स्थान मिल पाया है अतः चेतनाधातु को भी पुरुष संज्ञक रूप में स्वीकार करने में निश्चित रूप में कुछ विशेष अभिप्राय है, जिसका विवेचन इसकी उपादेयता प्रकरण में किया जायेगा। यहाँ चेतना धातु पुरुष क्या है? इसके बारे में भारतीय दर्शनों में अवधारणा क्या है? आदि तथ्यों को समझने का प्रयत्न किया जायेगा। चरकसंहिता में दो प्रकार के पुरुष का या आत्मा का उल्लेख किया गया है—एक अनादि पुरुष तथा दूसरा राशिपुरुष। इसमें अनादि पुरुष अहेतुज और नित्य होता है। अव्यक्त रूप आत्मा में जिस आत्मा का उल्लेख किया गया है वही चेतन स्वरूप है। उसे ही परमात्मा ब्रह्म आदि नामों से जाना जाता है। आचार्य चरक परमात्मा को चेतना का कारण कहे हैं—

निर्विकारः परस्त्वात्मा सत्त्वभूतगुणेन्द्रियैः।
चैतन्ये कारणं नित्यो द्रष्टा पश्यति हि क्रिया॥

(च० सू० १।५५)

अर्थात् पर आत्मा अर्थात् श्रेष्ठ आत्मा निर्विकार (विकाररहित) है। जब वह सत्त्व भूत गुण तथा दस इन्द्रियों से युक्त होता है तब चैतन्य में कारण है। वह आत्मा नित्य है। वह जगत् की समस्त क्रियाओं को देखता है। अव्यक्त आत्मा, क्षेत्रज्ञ, शाश्वत, विभु और अव्यय होता है। यह अतीन्द्रिय होता है। चेतना धातुज पुरुष का वर्णन उपनिषदों में स्वीकार किया गया है। जिसे स्पष्ट रूप से चेतनों का चेतन; नित्यों का नित्य तथा एक कहा है। उसे ही समस्त सृष्टि के कारणरूप में स्वीकार

किया गया है तथा कहा गया है, वही देव समस्त बंधनों से मुक्त होता है तथा उसे सांख्य व योग के माध्यम से जाना जा सकता है—

नित्योनित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां,यो विदधाति कामान् ।
तत्कारणं सांख्ययोगाधिगम्यं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ।।
(श्वेता० ६।१६)

इस प्रकार चेतनों का चेतन कहकर एक चेतना धातुज पुरुष को स्वीकार किया गया है । इसको कठोपनिषद् में निम्नरूप में कहा गया है—

नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान् ।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां शान्तिः शाश्वती नेतरेषाम् ।।
(कठो० २।१।१३)

अर्थात् जो समस्त नित्यों का नित्य है, जो चेतनों में चेतन है, जो एक है परन्तु समस्त मनोभिलषित कर्मों का फल देने वाला है। उस सर्वशक्तिमान् परब्रह्म को राशिपुरुष अपने अन्दर निरन्तर स्थित देखते हैं, उनको सदा स्थिर रहने वाली परम-शान्ति की प्राप्ति होती है । इस प्रकार वेदान्त (उपनिषदों) में एक चेतन धातु की सत्ता ब्रह्म या परमब्रह्म के रूप में स्वीकार की गई है। इस चेतना धातु को प्रकाशरूप कहा गया है—

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमाविद्युतोभान्ति कुतोऽग्निः ।
तमेवभान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ।।
(कठो० २।२।१५)

अर्थात् उस परब्रह्म परमात्मा में सूर्य, चन्द्रमा, तारागण, विद्युत प्रकाशित नहीं होते हैं तो फिर अग्नि के प्रकाश से उसे प्रकाशित होना किस प्रकार माना जा सकता है; क्योंकि उस पर आत्मा के प्रकाश से सूर्यादि प्रकाशित होते हैं । यहाँ अभिप्राय यह है कि इस सृष्टि में जितने भी प्रकाशमान वस्तुएँ है, वे सभी उस चेतना या ब्रह्म के प्रकाश से ही प्रकाशित हो रहे हैं । इस प्रकार वह चेतनाधातु परम प्रकाशनीय है । कठोपनिषद् में पीपल वृक्ष का उदाहरण देकर इस परम चेतन तत्त्व को समझाया गया है, जिसे ऊर्ध्वमूलं कहा गया है । कहा गया है कि यह सृष्टि पीपल वृक्ष की तरह है । इसका मूल परमविशुद्ध चेतन तत्त्व है, वही परमब्रह्म है । सभी चराचर प्राणी सर्वदा उस चेतन तत्त्व के शासन में रहते हैं—

ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः ।
तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते ।।
तस्मिल्लोकाश्रिताः सर्वे तदु ।
नात्येतिकश्चना एतद्वैतत् ।।
(कठो० २।३।१)

बृह० उ० में जीवात्मा से पृथक् उस आत्मा को माना गया है तथा यह कहा गया कि उस जीवात्मा का भी नियमन पर आत्मा से होता है—'य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोऽन्तरो यमात्मा न वेद यस्यात्मा शरीरं य आत्मानमन्तरोयमयति । स त आत्मान्तर्याम्यमृतः ।'—बृह० उ० ३।७।२२। श्वेता० उ० में एकधातुज को एक बीज के रूप में स्वीकार किया गया है—'एकं बीजं बहुधा यः करोति ।'—श्वेता० उ० ६।२२। आचार्य चरक ने एकधातुज या चेतना धातुज को कहा है कि इसकी भी पुरुषसंज्ञा होती है। वेदान्त में (विभिन्न उपनिषदों में) चेतना धातु अर्थात् एकचेतना धातु को पुरुष संज्ञा से अभिहित किया गया है। इस प्रसंग पर विचार करने से पूर्व पुरुष पर विचार करना है। 'पुरि शेते इति पुरुषः' के अनुसार शरीर में रहने वाले को पुरुष कहते हैं, परन्तु एकधातुज पुरुष का तात्पर्य केवल चेतना धातु से है, जिसे पुरुष कहा गया है। नरसिंह पुराण में स्पष्ट किया गया है कि सृष्टि के मूल संचालक चैतन्यरूप ईश्वर को पुरुष की संज्ञा दी जाती है—

'सर्वलोकपतिः साक्षात्पुरुषः प्रोच्यते हरिः ।
तं बिना पुण्डरीकाक्षं कोऽन्यः पुरुषशब्दभाक् ।। (न० पु०)

इस प्रकार एकधातुज (चेतनाधातुज) पुरुष का तात्पर्य अखिल ब्रह्माण्डनायक शुद्ध चेतन स्वरूप परमब्रह्म ग्रहण किया जाता है। पद्मपुराण में पुरुष शब्द की व्याख्या निम्न रूप में की गई है—

पुंसंज्ञे तु शरीरेऽस्मिन् शयनात्पुरुषो हरिः ।
शकारस्य षकारोऽयं व्यत्येय प्रयुज्यते ।।
यद्वा पुरे शरीरेऽस्मिन्नास्ते स पुरुषो हरिः ।
यदि वा पुरवासीति पुरुषः प्रोच्यते हरिः ।।
यदि वा पूर्वमेवासमिहेति पुरुषं विदुः ।
यदि वा बहुदानाद्वै विष्णुः पुरुष उच्यते ।।
पूर्णत्वात्पुरुषो विष्णुः पुराणत्वाच्च शार्ङ्गिणः ।
पुराणभजनाच्चापि विष्णुः पुरुष ईर्यते ।।

अर्थात् पुं नाम वाले इस शरीर में सोने के कारण पुरुष संज्ञा अभिहित होता है। शकार का इस पुरुष शब्द में षकार व्यत्यय से प्रयोग किया जाता है या शरीर में रहने के कारण पुरुष संज्ञा होती है अथवा शरीर में वास करने से पुरुष कहा जाता है अथवा इस सृष्टि में पहले से ही वास करने (उपस्थित रहने) के कारण अर्थ में पुरुष शब्द का व्यवहार होता है अथवा बहुत दान देने के अर्थ में पुरुष शब्द का व्यवहार होता है अथवा पूर्णता के कारण पुरुष कहा जाता है अथवा सबसे पुराना होने के कारण पुरुष कहा जाता है अथवा पुराण के सेवन करने से पुरुष कहा जाता है। इस प्रकार पुरुष शब्द की व्याख्या विभिन्न दृष्टिकोणों से हो जाने पर यह स्पष्ट

हो जाता है कि चरकसंहिता में तीनों (एकधातुज, षड्धातुज व चतुर्विंशति धातुज) में 'पुरुषसंज्ञक' पद का व्यवहार क्यों होता है। एकधातुज या चेतना धातु को पुरुष संज्ञा का कारण उपर्युक्त समस्त व्याख्यायें हैं; क्योंकि चेतना धातुज पुरुष को एक मानकर ही (नारायण अथवा विष्णु के लिए) यह व्याख्या की गई है। पुरुषसूक्त में इस चेतनाधातुज पुरुष के बारे में समस्त वर्णन है; क्योंकि मात्र चेतना रूप में रहने के कारण उसका किसी प्रकार का कोई आकार या स्वरूप निर्धारित नहीं है। उस शुद्ध चेतन तत्त्व को हजारों नेत्र वाला हजारों शिर, पाद वाला कहा जा सकता है; क्योंकि वह समस्त ब्रह्माण्ड को चारों तरफ से घेर कर खड़ा है तथा विश्व या समस्त सृष्टि को चेतना प्रदान करता है—

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।
स भूमिं विश्वतो कृत्वा अत्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम् ॥
(श्वेता० ३ । १४)

इस शुद्ध चेतन तत्त्व के चौथाई भाग मात्र से ही सृष्टि-संचालन क्रिया होती है। शेष तीन चौथाई सदैव सुरक्षित (Reserved) होता है—

एतावानस्य महिमातोज्यायांश्च पुरुषः ।
पादोऽस्य विश्वाभूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि ॥
(ऋ० १०।९०।३)

मुण्डकोपनिषद में उस चेतन तत्त्व को दिव्य पुरुष कहा गया है तथा समस्त प्राणियों का विलय उस शुद्ध चेतन स्वरूप दिव्य पुरुष में हो जाता है—

गताः कलाः पञ्चदशप्रतिष्ठा देवाश्च सर्वे प्रतिदेवतासु ।
कर्माणि विज्ञानमयश्च आत्मा परेऽव्यये सर्व एकीभवन्ति ॥
य···तथा विद्वान्नामरूपाद् विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥
(मु० उ० ३।२।७-८)

श्वेताश्वत्तरोपनिषद में कहा गया है कि—एक अखण्ड परमात्मा जो मकड़ी सदृश प्रधान (प्रकृति) से उत्पन्न होने वाले तन्तुओं से अपने-आप को आच्छादित कर लेता है, वह हमें ब्रह्म में लय की स्थिति देवें—'यस्तन्तुनाम इव तन्तुभिः प्रधानजैः स्वभावतो देव एकः स्वमावृणोत् स नो दद्याद ब्रह्माप्ययम्।'—श्वे० ६।१०। तैत्तिरीयोपनिषद में उस चेतना धातुज पुरुष के लिए कहा गया है कि—

'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति ।
यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति । तद् विजिज्ञासस्व । तद् ब्रह्म ॥

अर्थात् जिससे ये भूत उत्पन्न होते हैं; उत्पन्न होकर जीवित रहते हैं और मरते हुए उसमें लीन हो जाते हैं, उस पुरुष के बारे में जिज्ञासा रखनी चाहिए। वह ब्रह्म है।

वेदान्त में शुद्ध चेतन तत्त्व के बारे में कहा गया है कि—'तदव्यक्तमाह।'—वे० ३।२।२३ अर्थात् वह अव्यक्त है। आयुर्वेद में भी नित्य, अव्यय व क्षेत्रज्ञ आदि संज्ञाओं से अव्यक्त को कहा गया है। इसे ज्योतिस्वरूप कहा गया है—'तच्छुभ्रं ज्योतिषां ज्योतिः।'—मुण्कोपड०। इस शुद्ध चेतना धातुज पुरुष के बारे में बृहदारण्यकोपनिषद में विस्तृत रूप से प्रकाश डाला गया है। गार्गी को सम्बोधित करते हुए ऋषि याज्ञवल्क्य ने उसके स्वरूप पर प्रकाश डाला है—'एतद्वै तदक्षरं गार्गि ब्राह्मणा अभिवदन्त्यस्थूलमनण्वमदीर्घमलोहितमस्नेहमच्छायमतमोऽवाय्वनाकाशमसंगमरसमगन्धमचक्षुष्कमश्रोत्रमवागमनोऽतेजस्कमप्राणममुखममात्रमनन्तरं बाह्यं न तदश्नाति किञ्चन न तदश्नाति कश्चन।'—बृह० ३।८।८ अर्थात् शुद्ध चेतन तत्त्व को ब्राह्मण अक्षर कहा जाता है। वह न मोटा है, न पतला। न छोटा है, न लम्बा। वह किसी प्रकार के वर्ण वाला नहीं है अर्थात् वह वर्णरहित है। वह स्नेहरहित, छायारहित (छायारहित का तात्पर्य अमूर्त्त है; क्योंकि छाया किसी मूर्त्त भाव की ही होती है), तमरहित है। वह चेतना धातुज पुरुष वायु व आकाश नहीं है। वह असङ्ग, रसरहित, गन्धरहित, है। वह न कोई इन्द्रिय है और न ही कोई परिमाण वाला है। उस पुरुष के अन्दर-बाहर कुछ भी नहीं है अर्थात् वह आकारहीन है। न वह कुछ भोग करता है और न ही कोई उसका भोग कर सकता है।

इस प्रकार चेतना धातुज पुरुष इन्द्रिय, भूत, वर्ण, विषय, आकारादि से परे है। उपर्युक्त पंक्तियों का अभिप्राय यह है कि किसी भी अन्य तत्त्वादि से उसकी समानता नहीं स्थापित की जा सकती; क्योंकि वह निराकार, इन्द्रियातीत है। चरकसंहिता में उस अव्यक्त चेतनाधातुज पुरुष को अतीन्द्रिय कहा गया है अर्थात् वह इन्द्रियों से परे हैं। इन्द्रियों द्वारा उसका ग्रहण नहीं किया जा सकता —

'यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुःश्रोत्रं तदपाणिपादम्।
नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं तदव्ययं तद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः॥

(मुण्डक० १।१।६)

अर्थात् जिसे न ही चक्षुरिन्द्रिय से देखा जा सकता है और न ही हाथ से ग्रहण किया जा सकता है। उसका कोई गोत्र नहीं है (अर्थात् वह अहेतुज है), जिसको न चक्षु है, न श्रोत्रादि कोई इन्द्रिय है। वह शुद्ध चेतनरूप नित्य, विभु, सर्वव्यापक, सूक्ष्मातिसूक्ष्म, नाशरहित तथा सभी भूतों को योनि है। केनोपनिषद् १।३ में भी उस चेतनाधातुज पुरुष के लिए ऐसा ही कहा गया है—

न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग्गच्छति नो मनो न विद्मो न विजानीमो यथैतदनुशिष्यादन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि इति शुश्रुमपूर्वेषां ये नस्तद् व्याचचक्षिरे॥' अर्थात् उस पुरुष के विषय में नेत्र आदि इन्द्रियाँ न ही ज्ञान ग्रहण कर सकती है, न ही कोई कर्मेन्द्रियाँ उस तक पहुँच पाती हैं और न ही वहाँ तक मन पहुँच

सकता है। उस शुद्ध चेतन तत्त्व के बारे में यह भी नहीं कहा जा सकता कि वह ऐसा है या वैसा है; क्योंकि शुद्ध चेतन तत्त्व का दिव्य स्वरूप होता है। उस चेतना धातु के लिए कहा गया है कि —'एष आत्मा अपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोकोविजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसङ्कल्पः'।'—छा० उ० ८।१।५। अर्थात् वह श्रेष्ठ आत्मा पाप, पुण्य, जरा, मृत्यु, शोक, भोजनेच्छा, पिपासादि से रहित है। वह सत्यकामः सत्यकल्प है। इस चेतना धातु को पुरुष क्यों कहा गया है? इस पर शतपथ ब्राह्मण में कहा गया है कि—'इमे वै लोकाः पूरयमेव पुरुषो योऽयं पवते योऽस्यां पुरि शेते तस्मात्पुरुषः'।'—शतपथ १३।६।२।१। अर्थात् लोकों में पूर्ण होने से और शयन करने से वह पुरुष कहा जाता है। इस अव्यक्त चेतना धातुज पुरुष को ही सर्वश्रेष्ठ कहा गया है —

'अव्यक्तान्तु परः पुरुषो व्यापकोऽलिङ्ग एव च।
यं ज्ञात्वा मुच्यते जन्तुरमृतत्वं च गच्छति॥
(कठो० २।३।८)

रथनिरूपित अव्यक्त आदि अन्तवाला शरीर से भिन्न सर्वव्यापक प्राकृत शरीर-रहित अकारण करुणा-वरुणालय परब्रह्म श्रेष्ठ है। उस परम ब्रह्म को सदाचार से शरणागति द्वारा जानकर यह जीवात्मा प्रकृति के बन्धन से सर्वथा मुक्त हो जाता है तथा निरुपाधिक अमृतस्वरूप परब्रह्म परमात्मा को पा लेता है। इस शुद्ध चेतन तत्त्व को चक्षु आदि इन्द्रियों से जाना नहीं जा सकता; बल्कि धृतियुक्त मन से समाहितात्मा पुरुष भक्ति के द्वारा यहीं पर शुद्ध चेतना धातुज पुरुष के दिव्य स्वरूप का झलक मात्र पा लेता है, जैसा कि कठोपनिषद् २।३।९ में कहा गया है —

'न संदृशे तिष्ठति रूपमस्य न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम्।
हृदा मनीषा मनसाभिक्लृप्तो य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति॥'

इसको महाभारत में निम्न रूप में कहा गया है—

न संदृशे तिष्ठति रूपमस्य न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम्।
भक्त्या च धृत्या च समाहितात्मा ज्ञानस्वरूपं परिपश्यतीह॥

अर्थात् चेतना धातुज पुरुष अर्थात् परमात्मा का स्वरूप सम्यक् दर्शन के विषय में नहीं ठहरता है; अतः चर्म नेत्र से नहीं देखा जा सकता है। धृति से समाहितात्मा पुरुष ज्ञानस्वरूप परमात्मा का दर्शन कर लेता है।

मुण्डकोपनिषद् में कहा गया है कि इस परम ब्रह्म से श्रेष्ठ कुछ भी नहीं है; क्योंकि सर्वव्यापी होने से यह सबसे सूक्ष्म है—'अस्मात्परं नापरमस्ति किञ्चिद्यस्मान्नाणीयो न ज्यायोऽस्ति कश्चित्। वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकस्तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम्।'—मुण्डक० १।१।७। अर्थात् जिस परमात्मा से परे दूसरा कोई नहीं है, जिस आत्मा से सूक्ष्म कोई और वस्तु नहीं है तथा उससे महान् भी कोई नहीं है। शुद्ध चेतन रूप आत्मा या परमात्मा के लिए कहा गया है कि —'अणोरणीयान्महतोमही-

यान्' । श्वेता० ३।२० । अर्थात् यह सूक्ष्म से सूक्ष्म व बृहत् से बृहत् है) वृक्ष के समान स्तब्ध अवणत स्वभाव का एकमात्र (अकेला) जगत का प्रधानभूत परम पद में स्थिर रहता है । नियमन करने के लिए भीतर प्रविष्ट उस परम पुरुष परमात्मा से यह सम्पूर्ण चर-अचर संसार व्याप्त या परिपूर्ण है । पुनः कहा गया है कि—

'यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च यथा पृथिव्यामोषधयः संभवन्ति ।
यथासतः पुरुषात्केशलोमानि तथाक्षरात्संभवतीह विश्वम् ॥
तपसा चीयते ब्रह्म ततोऽन्नमभिजायते अन्नात्प्राणोमन·· चामृतं ॥
(मुण्डको० १।१।८-९)

यः सर्वज्ञः सर्वविद्यस्य ज्ञानमयं तपः ।
तस्मादेतद् रूपमन्नं च जायते ॥ (मुण्ड० १।१।१०)

उपर्युक्त श्रुतियों का विशेषार्थ करते हुए श्री १००८ श्री विष्वक्सेनाचार्य (श्री त्रिदण्डी स्वामीजी) ने पंचोपनिषद् के गूढ़ार्थभाष्य में लिखा है—जिस प्रकार मकड़ी अपने उदर में स्थित तन्तु को बाहर निकालकर जाला बनाती है । वह किसी की अपेक्षा नहीं करती तथा फिर उसे निगल जाती है । उसी प्रकार परमब्रह्म (चेतना धातुपुरुष) सूक्ष्म रूप में स्थित जगत् को अपने उदर में से निकालकर बिना किसी की अपेक्षा किये फैला देता है तथा पुनः प्रलयकाल में उसको अपने अन्दर कर लेता है । जिस प्रकार पृथ्वी में अनेक प्रकार के अन्न तृण, औषधियाँ पृथ्वी की पूर्वावस्था के उपमर्द तथा तिरोधान के अभाव होने पर भी उत्पन्न होती है, उसी प्रकार परम-ब्रह्म के उपमर्दादि के अभाव होने पर भी परमब्रह्म से अनेक प्रकार के प्राणि उत्पन्न होते हैं । जिस प्रकार मनुष्य के जीवित शरीर से सर्वथा विलक्षण अचेतन केश-नखादि की उत्पत्ति होती है, उसी प्रकार इस सृष्टि में निमित्तान्तर-निरपेक्ष उपादेय विलक्षण निर्विकार परब्रह्म से परस्पर विलक्षण चेतनाचेतनात्मक समस्त संसार उत्पन्न होता है । इस प्रकार अक्षर परम ब्रह्म से समस्त चेतना-चेतनात्मक सृष्टि की उत्पत्ति होती है । परब्रह्म वा पर आत्मा ज्ञानमय तप से उपचय को प्राप्त होता है अर्थात् सृष्टि की ओर उन्मुख होने लगता है । उस पर आत्मा से (अन्नम्) भोग भोक्तृरूप चेतनाचेतन संघात लक्षण अव्याकृत उत्पन्न होता है और उस समष्टिरूप चिदचित् संघातात्मक अन्न शब्दवाच्य अव्याकृत से क्रमशः प्राण, अन्तःकरण भोक्तृ वर्ग लोक, समस्त लोक और कर्मों की उत्पत्ति होती है । (अन्न के सम्बन्ध में तैत्ति-रीयो० में कहा गया है कि—'अद्यतेऽत्ति च भूतानि तस्मादन्नं यदुच्यते' अर्थात् जो प्राणियों द्वारा खाया जाता है तथा जो प्राणियों को खा जाता है, उसे अन्न कहा जाता है) जो पर आत्मा सामान्य रूप से सर्वविषयक ज्ञान वाला है और विशेष रूप से तत्तद् वस्तुगत सर्वप्रकार ज्ञान वाला है । जिस परमात्मा को ज्ञानमय तप है उस सृष्टि के उन्मुख परमब्रह्म से यह भोग्यभोक्तृरूप चेतनाचेतन संघात लक्षण अव्याकृत ब्रह्म उत्पन्न होता है तथा विविधरूप व नाम को धारण करता है ।

उपर्युक्त तथ्य चरकोक्त हेतुज व अहेतुज पुरुष की अवधारणा को स्पष्ट करते हैं; क्योंकि चरकसंहिता में हेतुज पुरुष (राशिपुरुष की उत्पत्ति मोह, इच्छा, द्वेष से मानी गई है। इस अवधारणा से यह स्पष्ट है कि चेतनाधातुज पुरुष की इच्छा से अंशांशिक सत्त्व में रज व तमयुक्त होने से मोह व द्वेषयुक्त होते हैं। मुण्डकोपनिषद् में इस तथ्य को अतिवैज्ञानिक रूप में प्रस्तुत किया गया है—

तदेतत्सत्यं यथा सुदीप्तात्पावकाद्विस्फुलिङ्गाः सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः।
तथाक्षराद्विविधाः सौम्यभावाः प्रजायन्ते तत्र चैवापियन्ति ॥

दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः स बाह्याभ्यन्तरो ह्यजः।
अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रो ह्यक्षरात्परतः परः ॥
एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च।
खं वायुर्ज्योतिरापश्च पृथ्वी विश्वस्य धारिणी ॥

(मुण्डकोप० २।१।२-४)

पर आत्मा नित्य-उत्पत्ति-विनाशादि षड्भावशून्य है। जैसे किसी घर में प्रज्वलित अग्नि से अग्नि के समान हजारों चिनगारियाँ उत्पन्न होती हैं, उसी प्रकार सूक्ष्म चिदचित् शरीर के अविनाशी परम ब्रह्म से अनेकों स्थूल चिदचिद्रूप भाव अर्थात् कार्यवर्ग उत्पन्न होते हैं, एवं उसी सूक्ष्म चिदचिद्विशिष्ट ब्रह्म में निश्चित रूप से लीन हो जाते हैं। निश्चित रूप से वह दिव्य परमात्मा (यहाँ परमात्मा के लिए अमूर्त शब्द प्रयोग किया गया है। अव्यक्त के लिए चरकसंहिता में भी अमूर्त कहा गया है) हस्त-पाद आदि आकार से रहित होता है। सभी चर-अचर के भीतर-बाहर निश्चित करके प्राकृत जन्म से रहित (जिसे चरक ने अहेतुज कहा है) प्राण से रहित निश्चय करके मन रहित अत्यन्त शुद्ध निश्चय करके अव्याकृत अक्षर प्रधान से और समष्टि पुरुष जीवात्मा से श्रेष्ठ है। इस परम ब्रह्म से प्राण तथा मन उत्पन्न होता है और समस्त इन्द्रियाँ आकाश, वायु, तेज, जल तथा समस्त विश्व को धारण करने वाली पृथ्वी की उत्पत्ति होती है। नारायणोपनिषद् में भी कहा गया है कि—

'नारायणात्प्राणो जायते मनः सर्वेन्द्रियाणि च।
खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी' ॥

यदि इस पर सूक्ष्म दृष्टिपात किया जाय तो परमब्रह्म से आयु या जीवन की उत्पत्ति का उल्लेख है। क्योंकि चरकसंहिता में कहा गया है कि—'शरीरेन्द्रियसत्त्वआत्मसंयोगो धारिजीवितम्'। यदि इसको ऊर्ध्व मूलानुसार सामंजस्य किया जाय तो निम्नलिखित उत्पत्ति-क्रम स्पष्ट होता है।

१. खं वायुर्ज्योतिरापः पृथ्वी→पांचभौतिक शरीर—शरीर
+ +
२. सर्वेन्द्रियाणि च →इन्द्रियाँ —इन्द्रिय
+ +

३. मन:	→सत्त्व	—सत्त्व
	+	+
४. प्राण:	→आत्मा	—आत्मा
	आयु	आयु

चेतनाधातु पुरुषवाद की उपादेयता

चेतनाधातुज पुरुषवाद चरकसंहिता की विशिष्ट देन है। आचार्य सुश्रुत ने स्पष्ट कह दिया है कि आयुर्वेद में नित्य व सर्वगत आत्मा की उपयोगिता नहीं है, परन्तु आचार्य चरक ने इस पुरुष का वर्णन किया है। इससे यह स्पष्ट है कि इस वाद की भी उपादेयता निश्चित रूप से होगी। एकधातुज पुरुष या चेतनाधातुज पुरुष का तात्पर्य क्या है? इस विषय पर वेदान्त के आधार पर विस्तृत विवेचन किया जा चुका है। अब इसकी व्यावहारिक उपादेयता पर विचार करना है। इसकी उपादेयता आयुर्वेद में क्या है? इसे निम्न रूप में समझा जा सकता है--

१. चेतनाधातुज पुरुषवाद व दैवव्यपाश्रय चिकित्सा—एकधातुज पुरुष या चेतनाधातुज पुरुष को देव, परमात्मा, नारायण, ब्रह्म, विष्णु आदि कहा गया है। श्वेता० में इसे स्पष्टत: देव कहा गया है। आयुर्वेद में तीन प्रकार की व्याधियाँ प्रचलित रूप में मानी जाती हैं—आधिदैविक, आधिभौतिक व आध्यात्मिक। इन तीनों प्रकार की व्याधियों के लिए तीन विशिष्ट चिकित्सायें कही गई हैं। यथा-- आधिदैविक दु:ख हेतु दैवव्यपाश्रय चिकित्सा, आधिभौतिक व्याधियों के लिए युक्तिव्यपाश्रय चिकित्सा तथा आध्यात्मिक कष्टों के लिए सत्त्वावजय (नैष्ठिकी) चिकित्सा। आश्चर्य का विषय है कि आचार्य चरक ने धातुभेद से पुरुष को भी तीन भेद वाला कहा है। एकधातुज, षड्धातुज व चतुर्विंशति धातुज। इसमें षड्धातुज पुरुष को चिकित्स्य पुरुष या कर्मपुरुष कहा गया है। यह युक्तिव्यपाश्रय चिकित्सा का आधार है; क्योंकि युक्तिव्यपाश्रय चिकित्सा का आधार पाँचभौतिक शरीर है, अत: युक्तिव्यपाश्रय चिकित्सा के आधार पर षड्धातुपुरुष को कर्मपुरुष या चिकित्स्य पुरुष कहा गया है। आध्यात्मिक द्रव्य आयुर्वेद में मन एवं आत्मा कहे गये हैं। जब आध्यात्मिक दु:ख होता है तो उसके लिए मन का अहित विषयों से निग्रह किया जाता है, जिससे रज व तम में प्रवृत्ति कम होती है, इसके लिए सत्त्वावजय की उत्कृष्ट अवस्था को नैष्ठिकी चिकित्सा कहा जाता है। इस चिकित्सा का आधार राशिपुरुष है; क्योंकि राशिपुरुष व आध्यात्मिक कष्टों का कारण रज व तम ही है। इसी प्रकार आधिदैविक व्याधियों के कारणरूप में देव माने जाते हैं। मनुष्य अपने कर्मों से देवादि द्वारा कष्ट पाता है तो उसे दैवबल प्रवृत्त या आधिदैविक रोग कहा जाता है। हालांकि चरकसंहिता में कहा गया है कि मनुष्य अपने ही कर्मों

के परिणाम का भोग करता है। इस प्रकार दैवबल प्रवृत्त रोग कर्मजन्य व्याधियों को कहा जाता है; क्योंकि कर्मजन्य परिणाम को दैवन्याय मानकर आधिदैविक कहा जाता है। दैवव्यपाश्रय चिकित्सा में चेतनाधातु पुरुष की उपादेयता है। इसमें ईश्वर प्रणिधान, व्रत आदि का उल्लेख है। अभी हमलोग परब्रह्म प्रकरण में देख चुके हैं कि तप आदि से परमात्मा को सृष्टि की तरफ या स्वयं को उसकी ओर उन्मुख किया जाता है। सत्त्व गुण बढ़ने से रोग-शांति होती है। इस प्रकार तीन प्रकार की व्याधियों के लिए विशिष्ट पुरुषवाद सिद्धान्ततः उपादेय है।

१. आधिदैविक व्याधियाँ→दैवव्यपाश्रय चिकित्सा→चेतनाधातुज पुरुष

२. आधिभौतिक व्याधियाँ→युक्तिव्यपाश्रय चिकित्सा→षड्धातुज पुरुष, कर्मपुरुष या चिकित्स्य पुरुष

३. आध्यात्मिक रोग—सत्त्वावजय/नैष्ठिकी चिकित्सा→चतुर्विंशति पुरुष, राशि-पुरुष

२. **प्रवृत्ति**—चरकसंहिता में जो सृष्टिविकास-प्रक्रिया वर्णित है वह चेतनाधातुज पुरुषवाद पर ही आधारित है। चेतनाधातुज पुरुष को ज्योतिर्मय, प्रकाशमय कहा गया है। आयुर्वेद में कहा गया है कि–'रजस्तमोभ्यां युक्तस्य संयोगोऽयमनन्तवान्।'–च०शा० १। इस प्रकार रज-तम के संयोग से सृष्टि-विकास या राशिपुरुष की उत्पत्ति होती है। अब प्रश्न यह है कि पूर्व में कहा गया है कि मोह, इच्छा, द्वेष राशिपुरुष के हेतु हैं तो रज व तम से द्वेष व मोह होता है, परन्तु इच्छा किसकी है? रज व तम किससे युक्त होते हैं? चेतना पुरुष-विवेचन में हमलोग देख चुके हैं कि चेतन तत्त्व पुरुष को ही सृष्टि-विकास का कारण माना गया है। छान्दोग्य उ० में इस चेतन तत्त्व को **'सत्यकामः सत्यसंकल्पः'** कहा गया है। यहाँ सत्यकाम से शुद्ध इच्छा का ग्रहण किया जा सकता है तथा एकपक्षीय अर्थात् सृष्टि-विकास की इच्छा हो जाना या इच्छा करना संकल्प है। जब शुद्ध चेतनाधातुज पुरुष में सत्यकाम व सत्यसंकल्प होता है तो मुण्डकोपनिषद् के अनुसार उससे प्रकाश का स्फुरण होता है। यहाँ ध्यातव्य है कि—सत्त्व में प्रकाश होता है। शुद्ध चेतनाधातुज को प्रकाशवान् कहा गया है। अतः जब शुद्ध चेतनतत्त्व में सृष्टि-विकास हेतु सत्यकाम व सत्यसंकल्प होता है तो उस सत्त्व के स्फुरण-मात्र प्रक्रिया के साथ ही विद्यमान रज उसमें गति व तम आवरण कर देता है। ज्योंहि रज व तम का सत्त्व के साथ संयोग अथवा रजोजन्य द्वेष व तमोजन्य मोह का शुद्ध सात्त्विक इच्छा से संयोग होता है तो 'कर्तृकरणसंयोगात् क्रिया' के अनुसार उसमें क्रिया प्रारम्भ हो जाती है और सृष्टि-विकास प्रारम्भ हो जाता है। अतः यदि चेतनाधातुज पुरुष की अवधारणा नहीं मानी जायेगी तो राशिपुरुष की अवधारणा भी स्थापित नहीं हो सकती। यहाँ ध्यातव्य है कि राशि-पुरुष के सम्बन्ध में चरक की अवधारणा वेदान्त से मिलती-जुलती है; अतः आचार्य

चरक ने चेतनाधातुज पुरुष पर आधारित राशिपुरुषवाद को स्पष्ट करने के लिए सृष्टि के मूल हेतु चेतनाधातुज पुरुषवाद का वर्णन किया है।

३. **चेतनाधातुज पुरुषवाद व मोक्ष**—सुश्रुतसंहिता में एकधातुज या चेतनाधातुज पुरुष को अनुपयोगी कहा गया है; क्योंकि उसमें मोक्षादि का प्रकरण नहीं है। चरकसंहिता में मोक्ष का प्रकरण विस्तृत रूप में प्राप्त होता है। चरकसंहिता में योग को मोक्ष का प्रवर्त्तक कहा गया है, परन्तु मोक्ष की अवधारणा वेदान्त पर आधारित है। परमसुख के साधन—मोक्ष के लिए कहा गया है कि 'ताभ्यां निराकृताभ्यां तु सत्त्ववृद्धया निवर्तते'। अर्थात् रज व तम के हट जाने पर तथा सत्त्व के बढ़ जाने से मोक्ष हो जाता है। प्रवृत्ति में हम लोग जान चुके हैं कि सत्त्व से ही रज व तम संयुक्त होते हैं तभी प्रवृत्ति होती है और जब सत्त्व से रज व तम हट जाते हैं तो निवृत्ति हो जाती है। सत्त्व के साथ रज व तम का बन्धन ही प्रवृत्ति का कारण है तथा 'वियोग-सर्वसंयोगे अपुनर्भवरुच्यते' के अनुसार इस संयोग का विघटन ही मोक्ष है। जब सत्त्व रज व तम से पृथक् हो जाता है तो—

'अतः परं ब्रह्मभूतो भूतात्मा नोपलभ्यते।
निःसृतः सर्वभावेभ्यश्चिह्नं यस्य न विद्यते।
ज्ञानं ब्रह्मविदां चात्र नाज्ञस्तज्ज्ञातुमर्हति। (च० शा० १।१५५)

वह ब्रह्मभूत अर्थात् ब्रह्म के स्वरूप हो जाता है और भूतात्मा का कोई भी लक्षण शेष नहीं रह जाता। वह सभी भावों से रहित हो जाता है। ब्रह्म को जानने वाले लोगों को ही (वेदान्ती को ब्रह्मविदां से तात्पर्य ब्रह्म जानने वाले, वेदान्तियों के लिए प्रयुक्त होता है) को ही ब्रह्म का ज्ञान होता है। अज्ञानी को ब्रह्म तत्त्व का ज्ञान नहीं हो पाता या वे ज्ञान प्राप्त करने में समर्थ नहीं होते। इस प्रकार चरक-संहिता के अनुसार भूतात्मा का लय शुद्ध चेतनाधातुज पुरुष में होता है। अतः आचार्य ने 'ज्ञानं ब्रह्मविदां चात्र नाज्ञस्तज्ज्ञातुमर्हति' कहकर चेतनाधातुज पुरुषवाद की उपादेयता व आवश्यकता को प्रकट किया है।

४. **मनुष्य का चरम लक्ष्य चेतनाधातुज पुरुष की प्राप्ति**—सृष्टि के समस्त प्राणियों की प्रवृत्ति सुख के लिए होती है। सुख दो प्रकार का है—इहलौकिक व चरम सुख। चरमसुख मोक्ष या ब्रह्म-(चेतनाधातुज पुरुष)-प्राप्ति में होता है। पुरुषविचय-वाद में आचार्य कहते हैं कि पुरुषविचयवाद से सत्याबुद्धि की उत्पत्ति होती है। इससे—

'यया नोपैत्यहङ्कारं नोपास्ते कारणञ्च यत्।
यया नालम्बते किंचित् सर्वं संन्यस्यते यया॥
याति ब्रह्म यया······प्रज्ञां ज्ञानं च सा मता॥

(च० शा० ५।१९)

सत्याबुद्धि आ जाने पर मनुष्य किसी का आलम्बन नहीं लेता तथा समस्त भावों का त्याग कर देता है। इसके द्वारा ज्ञान, शांति तथा ब्रह्म की प्राप्ति होती है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि मनुष्य का चरम लक्ष्य ब्रह्म (चेतनाधातुज पुरुष) की प्राप्ति है। पुनः आचार्य कहते हैं कि—'पश्यतः सर्वभावान् हि······सर्वदा। ब्रह्मभूतस्य संयोगो न शुद्धस्योपपद्यते।'—अर्थात् लोक में स्वयं को व स्वयं में लोक को सर्वदा देखने पर भूतात्मा ब्रह्मसदृश हो जाता है। शुद्ध होने के कारण उसका पुनः संयोग नहीं होता। इस प्रकार चरकसंहिता में वर्णित चेतनाधातुज पुरुषवाद आध्यात्मिक सुख को प्रदान करने वाला मुख्य स्रोत है।

अध्याय—२९

राशिपुरुषवाद

बुद्धीन्द्रियमनोऽर्थानां विद्याद्योगधरं परम् ।
चतुर्विंशतिको ह्येष राशिः पुरुषसंज्ञकः ।।

(च० शा० १।३५)

अर्थात् बुद्धि, इन्द्रिय, मन, अर्थ—इनके संयोग को धारण करने वाले को 'पर' जाना जाता है या योगधर कहा जाता है । इस चतुर्विंशति तत्त्व की राशि (समूह) को राशिपुरुष कहा जाता है । इस प्रकार राशिपुरुष से चतुर्विंशति धातुपुरुष का बोध होता है । बुद्धि, दस इन्द्रियाँ, मन, विषय एवं पञ्चमहाभूत के संयोग को शरीररूप में जाना जाता है तथा इसको धारण करने वाला परमयोगधर आत्मा होता है क्योंकि आचार्य ने यहाँ आत्मा को 'योगधरं परम्' कहा है । तात्पर्य यह है कि यह शरीर को अपने संयोग द्वारा धारण करता है जो शरीर के अतिरिक्त होता है । इस प्रकार महत्तत्व, अहंकार, पञ्चसूक्ष्मभूत या पञ्चतन्मात्रा, पञ्चमहाभूत, दस इन्द्रियाँ, एक उभयेन्द्रिय मन तथा योगधर आत्मा—इन चौबीस तत्त्वों के संयोग वाले पुरुष को राशिपुरुष कहा जाता है । आचार्य चरक ने धातुभेद से पुरुष का वर्णन करते समय चतुर्विंशति धातुपुरुष का निम्न रूप में उल्लेख किया है—

पुनश्च धातुभेदेन चतुर्विंशतिकः स्मृतः ।
मनो दशेन्द्रियाण्यर्थाः प्रकृतिश्चाष्टधातुकी ।।

(च० शा० १।१७)

अर्थात् मन, दश इन्द्रियाँ, अर्थ तथा अष्टप्रकृति धातु—इनके संयोग को चतुर्विंशति धातुपुरुष कहा जाता है । मन उभयेन्द्रिय है । दश इन्द्रियों में पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और पाँच कर्मेन्द्रियाँ होती हैं, जो निम्न हैं—'तत्र चक्षुः श्रोत्रं घ्राणं रसनं स्पर्शनमिति पञ्चेन्द्रियाणि ।'—च० सू० ८।८ । अर्थात् चक्षुरिन्द्रिय, श्रोत्रेन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय तथा स्पर्शनेन्द्रिय—ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ होती हैं ।

'हस्तौ पादौ गुदोपस्थं वागिन्द्रियमथापि च ।
कर्मेन्द्रियाणि पञ्चैव पादौ गमन कर्मणि ।।
पायूपस्थं विसर्गार्थं हस्तौ ग्रहणधारणे ।
जिह्वा वागिन्द्रियं वाक् सत्याज्योतितमोऽनृता ।।'(च० शा० १।१६)

हाथ, पैर, गुदा, मूत्रेन्द्रिय और वागिन्द्रिय—ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ होती हैं । इस प्रकार ५ ज्ञानेन्द्रिय+५ पञ्चकर्मेन्द्रिय मिलकर १० इन्द्रियाँ होती हैं । यहाँ अर्थ से ज्ञानेन्द्रिय के विषयों का ग्रहण होता है । ये विषय पाँच हैं; यथा—शब्द, स्पर्श,

रूप, रस व गंध । इस प्रकार ५ ज्ञानेन्द्रिय+५ कर्मेन्द्रिय+५ विषय+१ मन—कुल १६ तत्त्व हुए, जिन्हें षोडश विकार भी कहा जाता है। इसके बाद अष्टप्रकृति का निर्देश दिया गया है, जिसमें—१. अव्यक्त, २. महान्, ३. अहंकार तथा ५ सूक्ष्म महाभूत—आकाश, वायु, अग्नि, जल व पृथ्वी आते हैं। इस प्रकार ये आठ प्रकृतियाँ व षोडश विकार मिलकर २४ तत्त्व होते हैं, जिसे चतुर्विंशति पुरुष या राशिपुरुष कहा जाता है।

अन्य दर्शन (सांख्यदर्शन) में व सुश्रुतसंहिता में पचीस तत्त्वों का उल्लेख किया गया है। इस प्रकार चरक व सुश्रुत के मत में किञ्चित् अन्तर हो जाता है। यह भेद अव्यक्त को लेकर है। सांख्य या सुश्रुतसंहिता में अव्यक्त के अन्तर्गत प्रकृति व पुरुष के रूप में दो तत्त्व माने गये हैं, जबकि आचार्य चरक ने केवल अव्यक्त का ही उल्लेख किया है तथा अव्यक्त से ही महान् की उत्पत्ति स्वीकार किया है। अतः अव्यक्त, महान्, अहंकार, पंचमहाभूत की सूक्ष्मावस्था—इनको अष्टप्रकृति कहा है। इनके अनुसार प्रकृति व पुरुष दोनों का ग्रहण अव्यक्त से ही हो जाता है। सांख्यदर्शन में २५ तत्त्वों को चार वर्गों में रखा गया है—

'मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्या प्रकृतिविकृतयः सप्त।
षोडशकस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः॥' (सा० का० ३)

अर्थात् इन पचीस तत्त्वों में—१. प्रकृति—इसकी संख्या एक होती है। इसे प्रधान या अव्यक्त कहा जाता है। यहाँ प्रकृति शब्द 'प्रकरोतीति प्रकृति' अर्थात् जो किसी को उत्पन्न करे उसे प्रकृति कहते हैं' इस अर्थ में प्रयुक्त है। इस प्रधान या अव्यक्त से ही अन्य महदादि भावों की उत्पत्ति होती है, अतः इसे प्रकृति या मूल-प्रकृति भी कहते हैं। इसे सांख्य में अचेतन परन्तु प्रसवधर्मा माना गया है। यहाँ प्रसवधर्मी होने का तात्पर्य यह है कि, इसमें किसी को पैदा करने की क्षमता होती है। २. विकृति—जो किसी के द्वारा उत्पन्न होते हैं, उन्हें विकार या विकृति कहा जाता है। विकारों की संख्या सोलह मानी गई है। दस इन्द्रियाँ, मन व पंचभूत—ये सांख्यानुसार षोडश विकार हैं; जबकि चरकसंहिता के अनुसार दस इन्द्रियाँ, मन व पाँच इन्द्रियों के विषय—ये षोडशविकार होते हैं। ३. प्रकृति-विकृति—इसके अन्तर्गत महान्, अहंकार और पाँच तन्मात्राओं का ग्रहण किया जाता है। इन्हें प्रकृति इसलिए कहा जाता है कि ये षोडश विकारों के उत्पादक भाव हैं अर्थात् षोडश विकारों को ये उत्पन्न करते हैं तथा इन्हें विकृति इसलिए कहा जाता है कि इनकी उत्पत्ति अव्यक्त या मूलप्रकृति से होती है। अतः षोडश विकारों को उत्पन्न करने से प्रकृति एवं मूलप्रकृति से उत्पन्न होने के कारण इन्हें विकृति कहा जाता है। ४. न प्रकृतिः न विकृतिः—पुरुष को न प्रकृति ही माना गया है और न ही विकृति माना गया है; क्योंकि ये किसी को उत्पन्न नहीं करते। अतः इन्हें प्रकृति नहीं कहा जा

सकता तथा यह पुरुष किसी के द्वारा उत्पन्न भी नहीं होता, अतः यह विकृति भी नहीं है।

इस प्रकार सांख्यदर्शन में २५ तत्त्वों का उल्लेख प्राप्त होता है। सांख्य का मानना है कि—प्रकृति, पुरुष दोनों ही अनादि (जिसका प्रारम्भ नहीं है), अनन्त (जिसका अन्त भी नहीं है अर्थात् अन्त से रहित है), अलिङ्ग (किसी प्रकार के लक्षण से रहित), नित्य (जो कभी भी लय को प्राप्त नहीं होते), अपर (इन दोनों से परे कोई पदार्थ नहीं है) तथा सर्वगत (सर्वव्यापी या विभु) है, परन्तु प्रकृति एक, अचेतन, त्रिगुणात्मिका (सत्त्व, रज व तम से युक्त) प्रसवधर्मिणी, अमध्यस्थधर्मिणी (सत्त्वादि गुणों के प्रभाव में आने वाली) होती है। जबकि पुरुष अनेक, चेतन, गुणरहित, अबीजधर्मी और मध्यस्थधर्मी होता है। सांख्य के इस अवधारणा को सुश्रुतसंहिता में निम्न रूप में प्रस्तुत किया गया है---'अत ऊर्ध्वं प्रकृति-पुरुषयोः साधर्म्यवैधर्म्यं व्याख्यास्यामः। तद्यथा—उभावप्यनादी उभावप्यनन्तौ उभावप्यलिङ्गौ उभावपि नित्यौ उभावप्यनपरौ उभौ च सर्वगतौ इति। एका तु प्रकृतिरचेतना त्रिगुणा बीजधर्मिणी प्रसवधर्मिणी अमध्यस्थधर्मिणी चेति। बहवस्तु पुरुषाश्चेतनावन्तोऽगुणाः अबीजधर्माणोऽप्रसवधर्माणो मध्यस्थधर्माणश्चेति।' (सु० शा० १)

इस प्रकार सांख्य के मत से प्रकृति और पुरुष का जब संयोग होता है तो सृष्टि-उत्पत्ति की प्रक्रिया प्रारम्भ होती है। उनके अनुसार प्रकृति-पुरुष का संयोग अत्यावश्यक होता है; क्योंकि प्रकृति प्रसवधर्मिणी, बीजधर्मिणी होते हुए भी अचेतन है। बिना पुरुष-संयोग के इसमें किसी प्रकार की क्रिया नहीं हो सकती। यहाँ प्रकृति के बीजधर्मिणी का तात्पर्य 'बीजस्य धर्मो बीजधर्मः, सोऽस्यास्तीति बीजधर्मिणी' अर्थात् बीज में जिस प्रकार वृक्षोत्पत्ति का धर्म होता है, उसी प्रकार प्रकृति में सर्गोत्पत्ति का धर्म होता है। प्रसवधर्मिणी से 'प्रसवोऽन्याविर्भावहेतुत्त्वं परिमाणो वा तद्रूपो धर्मो यः सोऽस्यास्तीति प्रसवधर्मिणी' अर्थात् महदादि तत्त्वों की तथा समस्त चराचर सृष्टि को जन्म देने का अर्थ ग्रहण किया जाता है। परन्तु बिना पुरुष-संयोग के उपर्युक्त क्रियायें सम्पादित नहीं होती हैं। इस प्रकार सांख्य व आयुर्वेद में आचार्य सुश्रुत ने पच्चीस तत्त्वों का निरूपण किया है।

आचार्य चरक की अवधारणा चौबीस तत्त्वों वाले राशिपुरुष की है। इनका कथन है कि—राशि पुरुष ही सबका आधार होता है—

अत्रकर्मफलं चात्र ज्ञानं चात्र प्रतिष्ठितम्।
अत्र मोहः सुखं दुःखं जीवितं मरणं स्वता॥
एवं यो वेद तत्त्वेन स वेद प्रलयोदयौ।
पारम्पर्यं चिकित्सां च ज्ञातव्यं यच्च किंचन॥
(च० शा० १।३७-३८)

अर्थात् इस राशिपुरुष में कर्म, कर्म का फल, ज्ञान, मोह, सुख, दुःख, जीवन, मरण, स्वता आदि प्रतिष्ठित हैं। इस बात को जो जानता है, वह प्रलय, उदय, जीवन-मृत्यु की परम्परा एवं चिकित्सा तथा ज्ञातव्य विषयों को जानता है। इस प्रकार जीवन-मृत्यु, सुख-दुःखादि का आधार राशिपुरुष ही कहा गया है। जब चौबीस तत्त्वों का संयोग होता है तो उसमें आत्मा के द्वारा जीवन-क्रियायें प्रारम्भ की जाती हैं। जब अव्यक्त आत्मा का संयोग राशिपुरुष रूप में तेईस तत्त्वों के साथ होता है तो जीवन के लक्षण परिलक्षित होते हैं, जिसे आत्मा का लक्षण कहा जाता है। ये लक्षण तभी परिलक्षित होंगे जब राशिपुरुष रूप में स्थिति होगी; क्योंकि बिना इन्द्रियादि से युक्त हुए ये लक्षण माध्यमाभाव में आत्मा अपना लक्षण नहीं प्रकट कर सकता। इसीलिए कर्म, कर्मफल, सुख-दुःख, जीवन-मृत्यु आदि का आधार राशिपुरुष को ही माना गया है। राशिपुरुष रूप में आत्मा के निम्न लक्षण परिलक्षित होते हैं—

'प्राणापानौ निमेषाद्या जीवनं मनसो गतिः।
इन्द्रियान्तरसंचारः प्रेरणं धारणं च यत्॥
देशान्तरगतिः स्वप्ने पंचत्वग्रहणं तथा।
दृष्टस्य दक्षिणेनाक्ष्णाः सव्येनावगमस्तथा॥
इच्छाः द्वेषः सुखं दुःखं प्रयत्नश्चेतनाधृतिः।
बुद्धिस्मृत्यहंकारो लिङ्गानि परमात्मनः॥
यस्मात् समुपलभ्यन्ते लिङ्गान्येतानि जीवतः।
न मृतस्यात्मलिङ्गानि तस्मादाहुर्महर्षयः'॥

(च० शा० १।७०-७३)

अर्थात् प्राणवायु व अपानवायु का संचरित होना निमेष (निमेषाः अक्षिपक्ष्माणोः संयोगजनकं कर्म—उप०), उन्मेष (विभागजनकं च उन्मेषः), जीवन, मन की गतियाँ, इन्द्रियान्तर संचार (एकमिन्द्रियं परित्यज्य अन्यस्मिन् संचरणं मनसः); प्रेरण (इन्द्रियों को स्वविषय ग्रहण हेतु प्रेरित करना—प्रेरणं इन्द्रियाणां विषयेषु—उप०), धारण (धारणं देहस्य उपष्टम्भः—इन्द्रियों को कार्य करने से रोकना), देशान्तरगति (स्वप्न में विभिन्न स्थानों पर मन का गमन करना या भ्रमण करना), पञ्चत्वग्रहण (शरीर में पंचमहाभूतों का शेष रह जाना), दक्षिण नेत्र से प्रत्यक्षीकृत वस्तु का वाम नेत्र से भी यह वस्तु ऐसी ही है—ऐसा ज्ञान प्राप्त करना, इच्छा-द्वेष, सुख-दुःख, प्रयत्न, चेतना, धृति, बुद्धि, स्मरणशक्ति, अहंकार का होना—ये सब आत्मा के लक्षण हैं। इस कारण से प्राणापानादि लक्षण जीवित प्राणियों में ही होते हैं, मृत प्राणियों में नहीं। अतः महर्षिगण इसे आत्मा का लक्षण मानते हैं। आचार्य ने 'तस्मादाहुर्महर्षयः' के द्वारा अन्य दर्शनादि के मतों की ओर संकेत किया है, जहाँ इन लक्षणों

को आत्मा का लक्षण माना गया है। यथा—तस्य सुखदुःखे इच्छाद्वेषौ प्रयत्नः प्राणापानावुन्मेषनिमेषौ बुद्धिर्मनःसंकल्पो विचारणास्मृतिविज्ञानमध्यवसायो विषयोपलब्धिश्च गुणाः।'—सु० शा० १। 'प्राणापाननिमेषोन्मेषजीवनमनोगतीन्द्रियान्तरविकाराः सुखदुःखेच्छाप्रयत्नाश्चात्मनो लिंगानि।'—वै० द० ३।१।४। तथा न्याय दर्शन में इसे निम्न रूप में कहा गया है—इच्छाद्वेषप्रयत्नसुखदुःखज्ञानान्यात्मनो लिंगमिति।'—न्या० द० १।१।१०। चरकसंहिता में कहा गया है कि सभी भावों का आधार राशिपुरुष ही है, अतः आत्मा के लक्षणों के वर्णन में राशिपुरुष को आधार माना गया है तथा प्रत्येक भावों के आत्मा से सम्बन्धित लक्षणों का उल्लेख किया गया है। यथा—१. अव्यक्त—आत्मा स्वयं अव्यक्त है, अतः इसका लक्षण ही अव्यक्त का लक्षण है चेतना। २. महान्—इससे सम्बन्धित बुद्धि या बुद्धि की उत्पत्ति को आत्मा का लक्षण कहा गया है। ३. अहंकार—आत्मा के लक्षण में अहंकार का होना कहा गया है। ४. मन—इच्छा-द्वेष, धृति, सुख-दुःख, मन की गति, देशान्तरगति स्वप्न में स्मृति, ज्ञान होना आदि लक्षण मन से सम्बन्धित हैं। ५. इन्द्रियाँ—निमेष, उन्मेष, इन्द्रियान्तर संचार प्रेरण, धारण आदि इन्द्रियों से सम्बन्धित लक्षण हैं। ६. पंचमहाभूत—पञ्चत्व ग्रहण, प्राण-अपान वायु का संचरण पंचमहाभूत से सम्बन्धित लक्षण हैं तथा ७. जीवन, मृत्यु, चेतना आदि स्वयं आत्मा के लक्षण हैं। इस प्रकार आचार्य ने सभी भावों का आधार राशिपुरुष को स्वीकार करते हुए उनके लक्षणों का वर्णन किया है।

जैसा कि पूर्व में कहा गया है कि चतुर्विंशति धातुपुरुष या राशिपुरुष की अवधारणा चरकसंहिता में वर्णित है, सांख्य दर्शन में पुरुष को पंचविंशति तत्त्वात्मक माना गया है। अतः राशिपुरुषवाद हमारे मत से चरक की विशिष्ट अवधारणा है। हालांकि कतिपय विद्वान इसे सांख्य की आद्य अवधारणा स्वीकार करते हैं, परन्तु इस विषय पर सूक्ष्म दृष्टिपात करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि आचार्य चरक की यह विशिष्ट अवधारणा वेदान्त के अद्वैतवाद से प्रभावित है। हालांकि सामान्य रूप से दृष्टिपात करने पर इसमें द्वैत की झलक आती है, क्योंकि ये परमात्मा व जीवात्मा को दो तत्त्व मानते हैं परन्तु परमात्मा की कतिपय अर्थों में विशिष्टता प्रदर्शित की गई है। चरकसंहिता में वर्णित अवधारणा श्री रामानुजाचार्य के विशिष्टाद्वैत मत की ओर झुकती है। आचार्य चरक का काल रामानुजाचार्य से पूर्व का है, अतः यहाँ कहा जा सकता है कि विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त के सूत्ररूप में संकेतदाता आचार्य चरक हैं।' ब्रह्मसूत्र पर एक अतिप्राचीन व्याख्या वृत्ति या कृतकोटि नाम से बोधायन ऋषि द्वारा बृहद रूप में रचित थी, जिसका गुहदेव आदि विद्वानों ने संक्षेप किया था। उसके आधार पर ही श्री रामानुजाचार्य ने अपना श्रीभाष्य लिखा, जैसा कि वे अपने वेदार्थसंग्रह में कहते हैं—भगवान् बोधायन की विस्तीर्ण वृत्ति का जो पूर्व आचार्यों ने संक्षेप किया है उनके मत के अनुसार सूत्रों का व्याख्यान किया जा रहा है।'

(उपर्युक्त वाक्य, पातञ्जलयोगप्रदीप के षड्दर्शनसमन्वय के दूसरे प्रकरण में टीकाकार—ब्र० स्वामी श्री ओमानन्द तीर्थ जी ने उद्धृत किया है। प्रकाशक–गीता प्रेस, गोरखपुर) श्री रामानुजाचार्य ने विशिष्टाद्वैत से सम्बन्धित अपने सिद्धान्त-प्रतिपादन में कहा है कि मानव चित् अर्थात् जीव और अचित् अर्थात् विषय (शरीर, इन्द्रियाँ आदि) पांचों स्थूलभूतों से बना हुआ है। भौतिक जगत्, मानव और ब्रह्म ये तीनों यद्यपि भिन्न हैं फिर भी चित् अर्थात् जीव और अचित् अर्थात् जड़—ये दोनों एक ही ब्रह्म के शरीर हैं, जैसा कि अन्तर्यामी ब्राह्मण (बृह० उप० ३।७) में कहा गया है कि सारा बाह्य जगत, शरीर इत्यादि और जीबात्मा ब्रह्म के शरीर हैं और वह इनका अन्तर्यामी आत्मा है। इसलिए चित्-अचित्—विशिष्ट ब्रह्म एक ही है। इस प्रकार से विशिष्ट रूप से ब्रह्म को अद्वैत मानने से यह सिद्धान्त विशिष्टाद्वैत कहा जाता है।

चरक संहिता में इससे कुछ मिलती-जुलती अवधारणा उपलब्ध है। हालांकि इनमें पूर्णतः साम्य नहीं है, परन्तु अधिकांशतः साम्य है। यह नहीं कहा जा सकता है कि चरकसंहिता में वर्णित राशिपुरुषवाद विशिष्टाद्वैत का द्योतक है अथवा यह कहा जा सकता है कि इसका झुकाव उस तरफ है। संभवतः जिन पूर्वाचार्यों के वचनों के आधार पर श्री रामानुजाचार्य ने विशिष्टाद्वैत मत की स्थापना ११ वीं शती में किया उसे देखते हुए ऐसा प्रतीत होता है कि इस प्रकार की अवधारणायें आचार्य चरक के काल में भी प्रचलित रही होंगी। अब हम अपने विषयवस्तु पर विचार करें। यहाँ उपर्युक्त वचनों को उद्धृत करने का उद्देश्य चरकसंहिता में वर्णित राशिपुरुषवाद का श्री रामानुजाचार्य द्वारा स्थापित विशिष्टाद्वैत मत से प्रमाणित करना नहीं, बल्कि यह प्रकट करना है कि राशिपुरुषवाद चरकसंहिता की विशिष्ट अवधारणा है, जिसे विद्वज्जन विचार कर स्पष्ट करें कि यह अवधारणा किसी दर्शन से सम्बन्धित है या इसे विशिष्ट चरकीय अवधारणा के रूप में स्वीकार किया जाय ?

चरकसंहिता में राशिपुरुष के प्रसंग में दो पुरुष या पुरुष की दो अवस्थायें स्वीकार की गई हैं—

प्रभवो न ह्यनादित्वाद्विद्यते परमात्मनः ।
पुरुषो राशिसंज्ञस्तु मोहेच्छाद्वेषकर्मजः ॥
(च० शा० १।५३)

अर्थात् अनादि परमात्मा की उत्पत्ति का कोई कारण नहीं है। परन्तु राशिपुरुष की उत्पत्ति मोह, इच्छा, द्वेष से होती है। इस प्रकार आचार्य ने यहाँ परमात्मा व जीवात्मा—इन दो पुरुषों का निर्देश किया है। इस राशिपुरुष प्रकरण में ही आचार्य ने, आरम्भक प्रक्रिया पर प्रकाश डालते हुए कहा है कि—रज व तम से संयुक्त पुरुष का बुद्धि, इन्द्रिय, मन और अर्थ का संयोग अथवा चौबीस तत्त्वों का संयोग अनन्त-

वान् होता है अर्थात् इस संयोग का कभी अन्त नहीं होता। रज व तम के हट जाने पर और सत्त्व गुण के बढ़ जाने पर मोक्ष हो जाता है—

रजस्तमोभ्यां युक्तस्य संयोगोऽयमनन्तवान्।
ताभ्यां निराकृताभ्यां तु सत्त्व बुद्धया निवर्तते॥

(च० शा० १। ३६)

चरकसंहिता में वर्णित इस अवधारणा में तीन तथ्य सामने आते हैं—१. राशिपुरुष सहेतुक है, इसकी उत्पत्ति मोह-इच्छा-द्वेष से होती है। २. रज व तम से युक्त पुरुष की संयोग परम्परा अनन्त है तथा ३. रज व तम की हानि होने पर मोक्ष हो जाता है। इन तीनों तथ्यों को समझने के लिए राशिपुरुष (चतुर्विंशति धातुपुरुष) की विकास प्रक्रिया को जानना आवश्यक है। राशिपुरुष के विकास या सृष्टि-विकास प्रक्रिया में कहा गया है कि—

जायते बुद्धिरव्यक्ताद् बुद्धयाऽहमिति मन्यते।
परं खादीन्यहङ्कारादुत्पद्यन्ते यथाक्रमम्॥
ततः सम्पूर्णसर्वाङ्गो जातोऽभ्युदित उच्यते।
पुरुषः प्रलये चेष्टैः पुनर्भावैर्वियुज्यते॥

(च० शा० १। ६६-६७)

अव्यक्ताव्यक्ततां याति व्यक्तादव्यक्ततां पुनः।
रजस्तमोभ्यामाविष्टश्चक्रवत् परिवर्तते॥
येषां द्वन्द्वे परा शक्तिरहङ्कारपराश्च ये।
उदयप्रलयौ तेषां न तेषां ये त्वतोऽन्यथा॥

(च० शा० १। ६८-६९)

अर्थात् अव्यक्त से बुद्धितत्त्व की उत्पत्ति होती है। बुद्धि तत्व से अहंकार की उत्पत्ति होती है। अहंकार से क्रमानुसार सूक्ष्म महाभूत उत्पन्न होते हैं। इसके बाद सम्पूर्ण अंङ्गों की उत्पत्ति होती है तब उसे जात कहा जाता है। वह पुरुष प्रलयकाल में पुनः अपने इष्ट भाव (चतुर्विंशति-तत्त्व) से रहित हो जाता है। इस प्रकार अव्यक्त से उत्पत्ति काल में व्यक्त होता है तथा प्रलय काल में अव्यक्त हो जाता है। इस प्रकार पुरुष के व्यक्त से अव्यक्त और अव्यक्त से व्यक्त होने की परम्परा रज व तम के संयोग के कारण निरन्तर चलती रहती है। जिन मनुष्यों की आसक्ति रज व तम में बनी रहती है या जो अहंकार में पड़े रहते हैं, उन्हीं के लिए यह उदय प्रलय है अर्थात् जो राजसिक या तामसिक या इन दोनों से सम्बन्धित प्रवृत्तियों में संलग्न रहते हैं, उन्हें ही इस व्यक्ताव्यक्त उदय-प्रलय की प्रक्रिया में रहना पड़ता है तथा जो लोग रज व तम से विमुक्त हैं तथा अहंकार से रहित हैं उनका मोक्ष हो जाता है। इस प्रकार यहाँ आचार्य ने उदय-प्रलय प्रक्रिया द्वारा राशिपुरुष के विकास

प्रक्रिया पर प्रकाश डाला है। आचार्य ने अव्यक्त, क्षेत्रज, आत्मा और व्यक्त अष्टप्रकृति और षोडश विकार का निरूपण निम्न रूप में किया है—

तदेवभावादग्राह्यं नित्यत्वान्न कुतश्चन ।
...भावाज्ज्ञेयं तदव्यक्तमचिन्त्यं व्यक्तमन्यथा ॥
अव्यक्तमात्मा क्षेत्रज्ञः शाश्वतो विभुरव्ययः ।
तस्माद् यदन्यत् तद्व्यक्तं वक्ष्यते चापरं द्वयम् ॥
व्यक्तमैन्द्रियकं चैव गृह्यते तद् यदिन्द्रियैः ।
अतोऽन्यत् पुनरव्यक्तं लिङ्गग्राह्यमतीन्द्रियम् ॥
खादीनि बुद्धिरव्यक्तमहंकारस्तथाष्टमः ।
भूतप्रकृतिरुद्दिष्टा विकाराश्चैव षोडश ॥
बुद्धीन्द्रियाणि पंचैव पंच कर्मेन्द्रियाणि च ।
समनस्काश्च पंचार्था विकार इति संज्ञिताः ॥
इति क्षेत्रं समुद्दिष्टं सर्वमव्यक्तवर्जितम् ।
अव्यक्तमस्य क्षेत्रस्य क्षेत्रज्ञ ऋषयो विदुः ॥
(च० शा० १। ५८-६४)

अर्थात् अनादि पुरुष नित्य होता है तथा हेतुज होने के कारण राशिपुरुष अनित्य होता है। हेतुज का तात्पर्य यह है कि राशिपुरुष की उत्पत्ति मोह, इच्छा व द्वेष से होती है। जो सत् अर्थात् सत्ता वाला होते हुए भी अहेतुज हो अर्थात् उसकी उत्पत्ति का कोई कारण न हो; वह नित्य कहा जाता है तथा जो हेतुज अर्थात् कारण वाला होता है वह अनित्य होता है। वह आत्मा या पुरुष जो सत् और अकारण है, नित्य होने के कारण किसी भाव (किसी के द्वारा उत्पन्न होने वाले भाव) से अग्राह्य होता है। इस नित्य पुरुष को अव्यक्त और जो अव्यक्त से भिन्न होता है उसे व्यक्त कहते हैं। जो नित्य होता है उसकी उत्पत्ति नहीं होती; अतः वह उत्पन्न होने वाले भावों से परे होता है ('नित्यानित्ययोरव्यक्तसंज्ञकमाह—तदेव-इति। तत् नित्यं। भावः उत्पत्तिकारणादभिव्यक्तिः। तस्माद् अग्राह्यं उत्पत्तिधर्मेण न ग्राह्यं अकारणत्वात्। तस्मान्नित्यम्। भावा इति छेदः। यत् पुनः हेतुजं तस्य नित्यत्वं न कुतश्चन न कथमपि स्यात्। कुतः? भावादुत्पत्तेः। कारणत्वात् तदनित्यं तस्मात् तन्नित्यं अव्यक्तं ज्ञेयं कारणादनभिव्यक्तेः। व्यक्त्या अग्रहणात् अव्यक्तम्। अचिन्त्यमिति अव्यक्तस्य विशेषणम्। अन्यथा अन्यत् यत् हेतुजं तत् व्यक्त्या ग्रहणात् व्यक्तं ज्ञेयम्। किं तत् अव्यक्तमिति? अत आह—अव्यक्तमिति। अव्यक्तं अव्यक्तशब्दवाच्यः आत्मा'—चरकोपस्कार टीका)। वह आत्मा अव्यक्त, क्षेत्रज्ञ, शाश्वत, विभु तथा अव्यय कहा जाता है। इससे जो भिन्न होता है उसे व्यक्त कहा जाता है। इसका अभिप्राय यह है कि जो किसी भाव के द्वारा जाना न जा सके तथा जो क्षेत्र को जानता है एवं जो शाश्वत, व्यापक, अक्षर व अव्यय हो वह अव्यक्त कहा जाता है।

पुनः आचार्य व्यक्त व अव्यक्त को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि जिसका ग्रहण इन्द्रियों के द्वारा होता है उसे व्यक्त या ऐन्द्रियक कहा जाता है। इससे जो भिन्न होता है उसे अव्यक्त कहा जाता है। यह अतीन्द्रिय होता है अर्थात् इसका ग्रहण इन्द्रियों के द्वारा नहीं हो सकता। इसका ज्ञान लक्षणों के आधार पर किया जाता है। (सांख्यकारिका में व्यक्त अव्यक्त को निम्नरूप में प्रकट किया गया है—

हेतुमदनित्यमव्यापि सक्रियमनेकमाश्रितं लिङ्गम्।
सावयवं परतन्त्रं व्यक्तं विपरीतमव्यक्तम्॥
त्रिगुणमविवेकिविषयः सामान्यमचेतनं प्रसवधर्मि।
व्यक्तं तथा प्रधानं तद्विपरीतस्तथा च पुमान्॥

अर्थात् हेतुवाले, अनित्य, अव्यापी, सक्रिय, अनेकों में आश्रित, लिङ्ग वाला, अवयवयुक्त और परतन्त्र पदार्थ को व्यक्त कहा जाता है। इसके विपरीत जो अहेतु, नित्य, व्यापी, निष्क्रिय, एक, अलिङ्ग, निरवयव और स्वतन्त्र होता है, उसे अव्यक्त कहा जाता है। व्यक्त त्रिगुण, अविवेकी, विषयी, सामान्य, अचेतन और प्रसवधर्मी है; इसे ही प्रकृति कहा जाता है। पुरुष इससे विपरीत अर्थात् निर्गुण, विवेकी, विषयरहित, असामान्य, चेतन और मध्यस्थधर्मी होता है)। आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी के सूक्ष्म अंश बुद्धि, अव्यक्त, अहङ्कार — ये अष्टप्रकृति कहे जाते हैं तथा इनके सोलह विकार होते हैं—पांच ज्ञानेन्द्रियाँ और पांच कर्मेन्द्रियाँ, एक उभयेन्द्रिय मन तथा पांच ज्ञानेन्द्रियों के पाँच विषय—शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध। इस प्रकार ये सोलह विकार होते हैं। अव्यक्त से रहित सभी भूत प्रकृति और विकार को क्षेत्र कहा जाता है। महर्षिगण इस क्षेत्र को जानने वाले आत्मा को क्षेत्रज्ञ कहते हैं। अव्यक्त आत्मा को ऋषि लोग अपने त्रिकाल में अव्याहत योग ज्ञान से जानते हैं। इस प्रकार चतुर्विंशति तत्त्व अथवा राशिपुरुष के घटकों को आचार्य द्वारा उपर्युक्त रूप में प्रकाशित किया गया है।

चरकसंहिता के आधार पर चतुर्विंशति तत्त्वों का विकास-क्रम निम्न रूप में प्रदर्शित किया जा सकता है—

अव्यक्त→महान्→अहङ्कार→सूक्ष्मपंचमहाभूत→१० इन्द्रियाँ, मन व विषय। अब राशिपुरुष या चतुर्विंशति धातुज पुरुष के विकास क्रम पर विचार करना है।

१. **अव्यक्त**—पूर्व में चरकोक्त अव्यक्त की अवधारणा पर प्रकाश डाला गया है कि—जो उत्पत्तिरहित, नित्य, अहेतुज, अचिन्त्य है वह अव्यक्त है; इसी को आत्मा, अव्यक्त, क्षेत्रज्ञ, विभु और अव्यय आदि कहा जाता है। पुनः कहा गया है कि अव्यक्त अतीन्द्रिय होता है अर्थात् इसे इन्द्रियों के माध्यम से ग्रहण नहीं किया जा सकता। अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि अव्यक्त से तात्पर्य आत्मा से है, जहाँ से विकास की प्रक्रिया प्रारम्भ होती है। इसी से उसको कारण भी कहा गया है। यहाँ

अव्यक्त से अनादि पुरुष का ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि अहेतुज होने से वह नित्य है। वह परम यानि श्रेष्ठ आत्मा स्वयं तो अहेतुज है परन्तु समस्त सृष्टि का हेतु है। उस अव्यक्त को ही सृष्टि का निमित्त कारण मानते हुए श्वेताश्वतरोपनिषद् में कहा गया है कि—

नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान्।
तत्कारणं सांख्ययोगाधिगम्यं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः॥

(श्वेता० ६।१६)

अर्थात् नित्यों का नित्य, चेतनों का चेतन, जो अकेला ही बहुत लोगों की कामनायें पूर्ण करता है, जो सृष्टि का निमित्त कारण है तथा जो सांख्य व योग के द्वारा जाना जाता है ऐसे देव को जानकर मनुष्य सारे बन्धनों से मुक्त हो जाता है। चरकोक्त विकास-प्रक्रिया की पुष्टि हेतु निम्न तीन आयुर्वेदेतर वचनों को उद्धृत किया जा रहा है—

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।
सभूमिं विश्वतो वृत्त्वा अत्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम्॥

(श्वेता० ३।१४)

अर्थात् वह पुरुष हजारों सिर, हजारों नेत्र और हजारों पैर वाला है। वह इस ब्रह्माण्ड को चारों ओर से घेर कर भी दस अंगुल दूर खड़ा है और दशो दिशाओं में व्याप्त है। उपर्युक्त उद्धरण में यह तथ्य ध्यातव्य है कि वह पुरुष ब्रह्माण्ड के चारों ओर व्याप्त होते हुए भी दस अंगुल अलग हटकर खड़ा है—

एतावानस्य महिमातोज्यायाँश्च पुरुषः।
पादोऽस्य विश्वाभूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि॥

(ऋ० १०।१०।३)

अर्थात् उस विराट पुरुष की इतनी बड़ी महिमा है कि उसके एक पाद (चतुर्थांश) में सम्पूर्ण विश्व है तथा इसका तीन पाद अमृतमय है और अन्तरिक्ष में व्याप्त है। इस पुरुष की संज्ञा परमब्रह्म, परमात्मा, नारायण आदि दी जाती है। यह जड़ तत्त्व की सारी उपाधियों से अलग शुद्ध ज्ञान-स्वरूप होता है। यहाँ ध्यातव्य है कि चार पादों में से एक पाद (२५ प्रतिशत) से ही सृष्टि-रचना होती है। शेष तीन पाद (७५ प्रतिशत) अमृत (सत्त्व) में रहता है। 'तदैक्षत् बहुस्यां प्रजायेयेति तत्तेजोऽसृजत। तत्तेज ऐक्षत बहुस्यां प्रजायेयेति तदपोऽसृजत। ···ता आप ऐक्षन्त बह्व्यः स्याम प्रजायेमहीति ता अन्नमसृजन्त।' (छान्द० ६।२)

अर्थात् उसकी (ब्रह्म की) इच्छा उत्पन्न हुई कि—मैं बहुत हो जाऊँ या बहुत प्रजा वाला हो जाऊँ तो उसने तेज की उत्पत्ति की। पुनः तेज की इच्छा हुई मैं बहुत होऊँ तो तेज से आप (जल) की उत्पत्ति हुई। जब आप की इच्छा हुई कि मैं बहुत होऊँ तो

अन्न की उत्पत्ति हुई। इस प्रकार छान्दग्योपनिषद् में स्पष्ट कहा गया है कि—सृष्टि के विकास का प्रारम्भ उस अव्यक्त या परब्रह्म या परमात्मा की इच्छा से हुआ। राशि-पुरुष की विकास-प्रक्रिया को समझने के लिए उपर्युक्त वचनों का यहाँ उल्लेख किया गया है, क्योंकि आचार्य चरक की अवधारणा कुछ अलग हटकर है। चरकसंहिता में अव्यक्त से महान् की उत्पत्ति मानी गई है। अतः महान् के उत्पन्न होने तक अव्यक्त में किस प्रकार की प्रक्रिया होती है, इसी का समाधान करना है। आचार्य चरक ने कहा है कि राशिपुरुष की उत्पत्ति सहेतुक है अर्थात् इसकी उत्पत्ति मोह, इच्छा और द्वेष से होती है। आचार्य ने अत्यन्त वैज्ञानिक रूप में अपनी अवधारणा को प्रस्तुत किया है। अब प्रश्न यह है कि राशिपुरुष की उत्पत्ति किसकी इच्छा से हुई? क्योंकि इसका हेतु मोहेच्छाद्वेष कहा गया है। इस प्रश्न का उत्तर छान्दो० के वचन से प्राप्त होता है कि सृष्टि-रचना परब्रह्म या परमात्मा की इच्छा से हुई। अतः परमात्मा की बहुत रूपों में होने की इच्छा हुई। उस परब्रह्म की इच्छा किस प्रकार की थी? इसका समाधान यह है कि ब्रह्म की बहुत रूप में होने की शुद्ध इच्छा होती है। यहाँ शुद्ध का तात्पर्य सात्त्विक इच्छा अथवा सत्त्व गुण के प्रकाशरूपी इच्छा होती है; क्योंकि ऋ० वे० के मन्त्र में कहा गया है कि—उस पुरुष के एक पैर से विश्व की रचना होती है तथा उसके तीन पाद अपने शुद्धस्वरूप अमृत में रहते हैं। यहाँ अमृत का तात्पर्य उसके शुद्ध सात्त्विक प्रकाशस्वरूप से है, जो सृष्टि-क्रिया-कर्तृत्व का कारण है। इस प्रकार ब्रह्माण्ड को चारों ओर से घेरे हुए पुरुष की बहुत रूप में होने की इच्छा उत्पन्न हुई तो उस विकास-प्रक्रिया के हेतु शुद्ध इच्छारूप सत्त्व से रज व तम का संयोग होता है (रजस्तमोभ्यां युक्तस्य संयोगो···) मोह, इच्छा, द्वेष (तम, सत्त्व, रज) का संयोग हो जाने के कारण पुरुष में क्रिया प्रारम्भ हो जाती है; क्योंकि आचार्य चरक की अवधारणा है कि—'तत्र संयोगापेक्षी लोकाः।'—च० शा० ५४। 'कर्तृकरणसंयोगात् क्रिया, कृतस्य कर्मणः फलं नाकृतस्य।–'च०सू० ११।३२। अर्थात् लोक संयोग की अपेक्षा करता है। जब कर्त्ता व करण का संयोग होता है तो क्रिया होती है। इस प्रकार जब शुद्ध इच्छा या शुद्ध (सत्त्व) से रज-तम का संयोग होता है तो संयोग के साथ ही क्रिया प्रारम्भ हो जाती है; क्योंकि संयोग व विभाग का कारण कर्म या क्रिया ही है। अतः रज-तम का शुद्ध के साथ या मोह-द्वेष का इच्छा से संयोग ही क्रियापरक है। अतः इस अवस्था में क्रियारम्भ होता है। अतः राशिपुरुष विकास-क्रम में प्रथम अवस्था अर्थात् अव्यक्तावस्था को हमारे मत से क्रियारम्भावस्था (Stage of Activation) कहा जा सकता है।

२. **महान्/बुद्धि**—अव्यक्त से महान् या बुद्धि की उत्पत्ति बतलाई गई है। आचार्य चरक ने महान् के लिये 'बुद्धि' शब्द का प्रयोग किया है। अव्यक्तावस्था में आत्मा का रज व तम से संयोग होना मुख्य क्रिया होती है, जिससे मोह, इच्छा व

द्वेष का संयोग होता है। ब्रह्म की प्रारंभ में जो शुद्ध इच्छा थी वह रज व तम से संयोग होने से रागात्मक या द्वेषात्मक इच्छा हो जाती है। रागात्मक या मोहात्मक इच्छा संयोग की तथा द्वेषात्मक इच्छा विभाग की हेतु होती है। इस प्रकार रज व तम से राग व द्वेष या मोह व द्वेष के कारण संयोग व विभाग होता है। संयोग व विभाग ही क्रिया है। बुद्धि ज्ञान की निश्चयात्मक अवस्था होती है। विकास-क्रम में अव्यक्त के बाद विकास की प्रथम अवस्था बुद्धि ही होती है। जब इच्छा का रज व तम के साथ संयोग होता है तब उसमें संयुक्त इकाई के रूप में विकास-प्रक्रिया हेतु निश्चयात्मक संकल्प होता है, उस अवस्था को बुद्धि या महान् कहा जाता है। इस अवस्था में सत्त्व से रज-तम का संयोग होता है। अतः बुद्धि का स्वरूप भी त्रिगुणात्मक होता है। सांख्य में भी बुद्धि या महत्तत्त्व का कार्य अध्यवसाय कहा गया है— 'अध्यवसायो बुद्धिर्धर्मो ज्ञानं विराग ऐश्वर्यम्।'—सा० कां० २३। ऐसा निर्णय करना कि यह कार्य मुझे करना चाहिए—अध्यवसाय कहा जाता है। अतः विकास-प्रक्रिया का निर्णय लेना ही बुद्धि का लक्षण है। इस अवस्था को निश्चितीकरण की अवस्था (Stage of deter-mination) कहा जा सकता है।

३. अहंकार—बुद्धि या महान् से त्रिगुणात्मक अहंकार की उत्पत्ति बतलाई गई है। सां० का० में 'अभिमानोऽहंकारः' अर्थात् अभिमान को अहंकार कहा गया है। अहंभाव को अहंकार कहा जाता है। इससे अभिमान या स्वयं की पृथकता का अभिप्राय ज्ञात होता है। जब परमात्मा की इच्छा या संकल्प होने पर उससे रज व तम का संयोग हो जाता है तथा वह यह निश्चित निर्णय कर लेता है कि उसे रज व तम से युक्त इकाई का विकास करना है तो उसे महान् कहा जाता है। जब इस मोह, इच्छा, द्वेष वाले त्रिगुणात्मक इकाई की विकास करने की अपनी स्वतंत्र सत्ता हो जाती है तो इस अवस्था को अहंकार कहा जाता है। अहंभाव का यहाँ तात्पर्य यह है कि उस इकाई की स्वतंत्र सत्ता हो जाती है। वह स्वतंत्र इकाई अपनी विकास-प्रक्रिया हेतु सक्षम हो जाती है। अहंभाव आते ही अर्थात् विकासशील इकाई की अपनी स्वतंत्र सत्ता आने के साथ ही वह इकाई अपनी विकास-प्रक्रिया तीनों गुणों की सहायता से प्रारम्भ करती है। सांख्यदर्शन में अहंकार से दो प्रकार की सर्गोत्पत्ति कही गई है। प्रथम राजस व सात्त्विक अहंकार से ११ इन्द्रियाँ तथा द्वितीय राजस व तामस अहंकार से पाँच तन्मात्राएँ। परन्तु चरकसंहिता की अवधारणा भिन्न है। इनके अनुसार अहंकार से सूक्ष्मभूतों का विकास होता है, तदुपरान्त ग्यारह इन्द्रियाँ और पाँच विषय षोडश विकार के रूप में उत्पन्न होते हैं। अहंकार से भूतादि का विकास होता है। यह विकास तीनों गुणों के एक-दूसरे की सहायता करने से सम्पन्न होता है। भग० गी० में इसको अतिसुन्दर ढंग से प्रस्तुत किया गया है—

'रजस्तमश्चाभिभूय सत्त्वं भवति भारत।
रजःसत्त्वं तमश्चैव तमः सत्त्वं रजस्तथा ।।(भग० गी० १४।१०)

सांख्य के भाष्य में इसको निम्न रूप में कहा गया है—

'रजसो मिथुनं सत्त्वं सत्त्वस्य मिथुनं रजः ।
उभयोः सत्त्वरजसोः मिथुनं तम उच्यते ।।'

इस प्रकार ये तीनों गुण आपस में एक-दूसरे से युक्त होकर विकास-प्रक्रिया को सम्पन्न करते हैं। इन गुणों में—

'प्रीत्यप्रीतिविषादात्मकाः प्रकाशप्रवृत्तिनियमार्थाः ।
अन्योन्याभिभवाश्रयजननमिथुनवृत्तयश्च गुणाः ।।
सत्त्वं लघु प्रकाशकमिष्टमुपष्टम्भकं चलञ्च रजः ।
गुरुवरणकमेव तमः प्रदीपवच्चार्थतो वृत्तिः ।।

अर्थात् सत्त्व, रज, तम—ये तीनों गुण क्रमशः प्रीत्यात्मक (सुखात्मक), अप्रीत्यात्मक (दुःखात्मक) तथा मोहात्मक होते हैं। ये क्रमशः प्रकाश, प्रवृत्ति व नियमन धर्म वाले होते हैं। ये एक दूसरे पर आश्रित होते हैं तथा एक-दूसरे को प्रभावित करने वाले एक-दूसरे के आश्रय तथा उत्पत्तिशील होते हैं। सत्त्व लघु व प्रकाशक होता है। रज उपष्टंभक अर्थात् संघर्ष या उत्तेजना उत्पन्न करने वाला तथा गति उत्पन्न करने वाला होता है। तम गुरु अर्थात् गुरुत्व उत्पन्न करने वाला एवं आवरण पैदा करने वाला होता है। जिस प्रकार प्रदीप्त दीपक तेल, बत्ती आदि से मिलकर प्रकाश करता है उसी प्रकार ये तीनों गुण आपस में मिलकर सृष्टि या राशिपुरुष का विकास करते हैं। चूंकि अहंकार की अवस्था में विकासशील इकाई में अपनी स्वतंत्र सत्ता होती है, अत इस अवस्था को स्वसत्ता की अवस्था (Stage of self Authority) कहा जा सकता है।

४. भौतिक विकास की अवस्था (Stage of material development)— अहंकार की अवस्था में जब तीनों गुणों में 'अन्योन्याभिभवाश्रयजनन भाव' आता है तब आचार्य चरक के अनुसार सूक्ष्मभूतों का विकास होता है। इनमें सर्वप्रथम सत्त्व-गुण-बहुल आकाश की, फिर रजोगुण-बहुल वायु की, फिर क्रमशः अग्नि, जल व पृथ्वी की उत्पत्ति होती है। जब भूतों का विकास होता है तो उत्तर महाभूतों में पूर्व महाभूत के गुण विद्यमान रहते हैं—

'महाभूतानि खं वायुरग्निरापः क्षितिस्तथा ।
शब्दः स्पर्शश्च रूपं च रसो गन्धश्च तद्गुणाः ।।
तेषामेकगुणः पूर्वो गुणवृद्धिः परे परे ।
पूर्वः पूर्वगुणश्चैव क्रमशो गुणिषु स्मृतः ।।
(च० शा० १।२७-२८)

अर्थात् आकाश, वायु, अग्नि, जल व पृथ्वी—ये पाँच महाभूत होते हैं तथा शब्द, स्पर्श, रूप, रस व गन्ध क्रमशः इनके गुण होते हैं। इन पञ्चमहाभूतों में सर्वप्रथम

आकाश महाभूत की उत्पत्ति होती है, जो एक गुण वाला होता है। इसके बाद वायु की उत्पत्ति होती है, जो पूर्व महाभूत आकाश के शब्द गुण व अपने स्पर्श गुण से युक्त होता है। इसके बाद अग्नि महाभूत की उत्पत्ति होती है, जो अपने गुण—रूप के साथ-साथ पूर्वोत्पन्न महाभूतों के गुण शब्द, स्पर्श वाली होती है। इसके बाद जल महाभूत की उत्पत्ति है, जो चार गुणों से युक्त होता है। इसमें अपना एक गुण—रस तथा पूर्व महाभूतों के गुण शब्द, स्पर्श व रूप विद्यमान होते हैं। जल महाभूत से पृथ्वी का विकास होता है। पृथ्वी महाभूत पाँच गुणों वाली होती है। इसमें इसके अपने गुण—गंध के साथ पूर्व महाभूतों के गुण—शब्द, स्पर्श, रूप व रस भी विद्यमान रहते हैं।

५. (अ) इन्द्रिय-विकास की अवस्था (Stage of instrumental development)—आचार्य चरक ने महाभूतों के विकास के बाद इन्द्रियों का विकास व इन्द्रियार्थों का विकास स्वीकार किया है। पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, एक उभयेन्द्रिय मन तथा पाँच इन्द्रियों के विषय—शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध; इस प्रकार सोलह तत्त्वों का विकास होता है, जिसे षोडश विकार भी कहा जाता है। इन्द्रिय व उनके विषयों का विकास भी महाभूतों की तरह क्रमानुसार होता है। अर्थात् जिस प्रकार प्रथमतः आकाश महाभूत की उत्पत्ति होती है उसी प्रकार सर्वप्रथम श्रोत्रेन्द्रिय, तत्पश्चात् स्पर्शनेन्द्रिय, तदनन्तर चक्षुरीन्द्रिय, पुनः रसनेन्द्रिय तथा अन्त में घ्राणेन्द्रिय का विकास होता है; क्योंकि इन इन्द्रियों का विकास भी उत्तर-उत्तर इन्द्रिय में पूर्व-पूर्व भूतों की विद्यमानता से ही होता है—

'एकैकाधिकयुक्तानि खादीनामिन्द्रियाणि तु।
पञ्च कर्मानुमेयानि येभ्यो बुद्धिः प्रवर्तते'॥

(च० शा० १।२४)

अर्थात् जिनके द्वारा बुद्धि प्रवृत्त होती है वे कर्म से अनुमान-योग्य पाँचों इन्द्रियाँ क्रम से एक-एक महाभूत की अधिकता से युक्त होती हैं। जैसे—श्रोत्रेन्द्रिय में आकाश महाभूत, स्पर्शनेन्द्रिय में आकाश-वायु दोनों भूत; चक्षुरिन्द्रिय में अग्नि, वायु व आकाश तीनों; रसनेन्द्रिय में जल, अग्नि, वायु और आकाश चारों तथा घ्राणेन्द्रिय में पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश—ये पाँचों महाभूत होते हैं, परन्तु जिस इन्द्रिय में जिस महाभूत की अधिकता होती है 'व्यपदेशस्तु भूयसा'—इस उक्ति के अनुसार उसी भूत से संबंधित संज्ञा जानी जाती है। यथा—आकाशीय, वायव्य, तैजस आदि।

५. (ब) ततः संपूर्णसर्वाङ्गो जातोऽभ्युदित उच्यते—महाभूतों द्वारा इन्द्रियों का विकास होने पर सभी अङ्गों का विकास किया जाता है। इस प्रकार जब मन चौबीस तत्त्वात्मक रूप प्राप्त करता है तो उसे जन्म लिया हुआ कहा जाता है।

'बुद्धीन्द्रियमनोऽर्थानां विद्याद्योगधरं परम् ।
चतुर्विंशतिको ह्येष राशिः पुरुषसंज्ञकः ॥ (च० शा० ७)

अर्थात् बुद्धि, अहंकार, पञ्चतन्मात्रा, अव्यक्त, एकादश इन्द्रियाँ व पंचभूत—इन सभी का समुदाय राशिपुरुषसंज्ञक होता है।

राशिपुरुषवाद की उपादेयता

राशिपुरुषवाद के अन्तर्गत चतुर्विंशति तत्त्वों का उल्लेख करते हुए इन तत्त्वों की विकास-प्रक्रिया का वर्णन किया गया है। इसकी सबसे प्रमुख उपादेयता यह है कि इससे सृष्टि विकास प्रक्रिया का एक वैज्ञानिक स्वरूप ज्ञात होता है, जो कि नैष्ठिकी चिकित्सा में अतिउपादेय है। इसे दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि नैष्ठिकी चिकित्सा का मूलभूत सिद्धान्त राशिपुरुषवाद ही है। पूर्व में हम विचार कर चुके हैं कि आधिभौतिक व्याधियों के लिए षड्पुरुषवाद अति-उपादेय है लेकिन आध्यात्मिक व्याधियों के लिए नैष्ठिकी चिकित्सा में राशिपुरुषवाद आधार-स्तम्भ के रूप में उपादेय है। (कतिपय स्थानों पर आध्यात्मिक दुःख को निज अर्थात् अपने कर्म द्वारा उत्पन्न शारीरिक, मानसिक व्याधियों को स्वीकार किया जाता है, परन्तु चरकसंहिता में आत्मा व मन को आध्यात्मिक द्रव्य स्वीकार किया गया है; अतः आत्मा व मन के संयोग से आत्मा के बन्धनादि का जो दुःख है, उसे आध्यात्मिक दुःख माना जायेगा और इस दुःख को दूर करने के लिए आयुर्वेद में एक विशिष्ट चिकित्सा—नैष्ठिकी चिकित्सा (मोक्षदायिनी चिकित्सा) का विकास किया गया है।) नैष्ठिकी चिकित्सा का आधार-स्तम्भ राशिपुरुषवाद ही है अथवा राशिपुरुषवाद की उपादेयता नैष्ठिकी चिकित्सा में है; इसको निम्न रूप में प्रस्तुत किया जा रहा है—

राशिपुरुष की उत्पत्ति सहेतुक होती है–'पुरुषो राशिसंज्ञस्तु मोहेच्छाद्वेषकर्मजः।' अर्थात् राशिपुरुष की उत्पत्ति मोह, इच्छा और द्वेष से होती है। मोह तम का व द्वेष रज का लक्षण है। अतः रज व तम के कारण द्वेष और मोह होने से शुद्ध इच्छा दूषित होकर मोहात्मक या द्वेषात्मक हो जाती है, जिससे संयोग व विभाग होता है। उपधा अर्थात् तृष्णा को छोड़कर जो चिकित्सा होती है वह चिकित्सा मोक्षदायिनी होती है। इसी को नैष्ठिकी चिकित्सा कहते हैं—'हन्तीत्युक्तं चिकित्सा तु नैष्ठिकी या विनोपधाम्।'—च० शा० १।९४। समस्त दुःखों का कारण उपधा (तृष्णा) ही होती है तथा शरीर की उत्पत्ति का कारण भी उपधा ही होती है। सभी प्रकार के उपधाओं का त्याग करने से सम्पूर्ण दुःखों का नाश हो जाता है—

'उपधा हि परोहेतुर्दुःखदुःखाश्रयाप्रदः।
त्यागः सर्वोपधानां च सर्वदुःखव्यपोहकः' ॥ (च० शा० १।९५)

इस उपधा का कारण राग-द्वेष से प्रेरित राशिपुरुष का संगठन ही होता है—

'नात्मेन्द्रियं मनो बुद्धि गोचरं कर्म वा विना ।
सुखदुःखं यथा यच्च बोद्धव्यं तत्तथोच्यते ॥
स्पर्शनेन्द्रियसंस्पर्शः स्पर्शो मानस एव च ।
द्विविधः सुखदुःखानां वेदनानां प्रवर्त्तकः ॥
इच्छाद्वेषात्मिका तृष्णा सुखदुःखात् प्रवर्तते ।
तृष्णा च सुखदुःखानां कारणं पुनरुच्यते ॥
उपादत्ते हि सा भावान् वेदनाश्रयसंज्ञकान् ।
स्पृश्यते नानुपादाने नास्पृष्टो वेत्ति वेदनाः ॥
(च० शा० १।१३२-१३५)

अर्थात् आत्मा, इन्द्रिय, मन, बुद्धि व कर्म (राशिपुरुष का संगठन) के बिना सुख व दुःख नहीं हो सकता है । जो सुख-दुःख जिस रूप में जाना जाता है, उसी रूप में कहा जाता है । सुख-दुःखस्वरूप वेदनाओं का प्रवर्त्तक स्पर्शनेन्द्रिय का समयोगादि स्पर्श और मानस स्पर्श—इन दोनों का समयोग सुख के कारण व अतियोगादि दुःख के कारण होते हैं । सुख-दुःख में क्रमशः इच्छा व द्वेषस्वरूप तृष्णा की प्रवृत्ति होती है जो सुख-दुःख का कारण बनती है । वही तृष्णा वेदना के आश्रयभूत शरीर व मन को दृढ़तापूर्वक पकड़ती है । स्पर्श के कारणभूत तृष्णा की अनुपस्थिति में शरीर व मन का इन्द्रियों के साथ संयोगाभाव, इनके संयोगाभाव से अर्थों का संयोगाभाव होता है तो वेदना का ज्ञान नहीं होता । मूर्ख मनुष्य विषयों के द्वारा स्वयं तृष्णा को प्राप्त करता है तथा सदैव दुःखी रहता है । जिस प्रकार कोषकार वधप्रद अंशुओं को स्वयं तैयार करता है । ज्ञानी पुरुष विषयों को अग्निसदृश समझकर उससे निवृत्त हो जाते हैं तथा रज व तम के अभाव के कारण किसी कार्य का आरम्भ नहीं करते । कार्यारम्भ के अभाव से और इससे कारण शरीर का संयोग न होने से आत्मा दुःख प्राप्त नहीं करती है—

कोषकारो यथा ह्यंशूनुपादत्ते वधप्रदान् ।
उपादत्ते तथाऽर्थेभ्यस्तृष्णामज्ञः सदाऽऽतुरः ॥
यस्त्वग्निकल्पानर्थान्ज्ञो ज्ञात्वा तेभ्यो निवर्तते ।
अनारम्भादसंयोगात्तं दुःखं नोपतिष्ठति ॥
(च० शा० १।९६-९७)

इस प्रकार राशिपुरुष के हेतु रज व तम ही दुःख के कारण हैं । इन चौबीस धातुओं का संयोग दुःखदायक है । इस प्रकार राशिपुरुषवाद नैष्ठिकी चिकित्सा का आधार-स्तम्भ है ।

राशिपुरुषवाद की उपादेयता मोक्ष-ज्ञान में है; क्योंकि इसकी प्रवृत्ति रज, तम के संयोग से तथा निवृत्ति इनके वियोग से होती है—

'रजस्तमोभ्यां युक्तस्य संयोगोऽयम् अनन्तवान् ।
ताभ्यां निराकृत्ताभ्यां तु सत्त्ववृद्धया निवर्तते' ।।
(च० शा० १।३६)

पुन: आचार्य ने कहा है कि सभी संयोगों का वियोग होना ही मोक्ष है। राशि-पुरुष का उद्भव ही रज, तम के संयोग से होता है तथा अष्ट प्रकृति व विकार के संयोग से, गुणों के आपसी संयोग से तथा महाभूतों के आपसी संयोग आदि से। इस प्रकार जब राशिपुरुषवाद से समस्त संयोगों का ज्ञान हो जाता है तो फिर इनकी वियोग प्रक्रिया सरल हो जाती है तथा इन सभी संयोगों का वियोग ही मोक्ष है—

मोक्षो रजस्तमोऽभावात् बलवत्कर्मसंक्षयात् ।
वियोग: सर्वसंयोगैरपुनर्भव उच्यते ।।
(च० शा० १।१४२)

अर्थात् रज व तम के अभाव से बलवान् कर्म का फलोपभोग से नाश होने से सभी प्रकार के संयोग से वियोग होने से अपुनर्भव या मोक्ष की प्राप्ति होती है।

उपर्युक्त तथ्यों के आलोक में विचार करने से ज्ञात होता है कि चतुर्विध पुरुषार्थों में श्रेष्ठ-मोक्ष की प्राप्ति रज-तम के अभाव व सभी प्रकार के इच्छा, द्वेष, मोह आदि मानसिक विकारों से मुक्ति पाने से ही होती है। किन्तु रज-तम का अभाव तथा मानसिक विकारों का नाश राशिपुरुष के सम्यक् ज्ञान से ही संभव है। राशिपुरुष के सम्यक् ज्ञान से व्यक्ति को आत्मा तथा अन्य प्रकृति, प्रकृति-विकृति एवं विकार का ज्ञान होता है और व्यक्ति आत्मा के अतिरिक्त शेष सभी को अनात्म तत्त्व मानता है। चूंकि आत्मा की अनुकूलता ही मनुष्य के लिये चरम अभिप्रेत है; क्योंकि विषय स्वयं में ही सुखकर नहीं होते, प्रत्युत उनमें आत्मा की अनुकूलता ही मनुष्य को विषय-विशेष के प्रति आकर्षित करती है, जैसा कि भगवान् शंकराचार्य के निम्नोक्त उद्धरण से स्पष्ट होता है—

आत्मार्थत्वेन हि प्रियो विषयो न स्वत: प्रिय: ।
स्वत एव हि सर्वेषां ह्यात्मा प्रियतमो मत: ।।

अर्थात् आत्मा के प्रयोजन के निमित्त ही विषय प्रिय होते हैं, विषय स्वयं ही प्रिय नहीं होते। अत: स्वयं आत्मा ही सबके लिए प्रियतम है। उपर्युक्त तथ्य के आलोक में विचार किया जाय तो राशिपुरुषवाद से आत्म और अनात्म तत्त्व का ज्ञान होता है और चूंकि आत्मा सभी से प्रिय है, अत: अनात्म को त्याग कर व्यक्ति आत्मतत्त्व की उपलब्धि करके मोक्ष अथवा आत्यन्तिक दु:ख से निवृत्त हो जाता है। संक्षेप में राशिपुरुषवाद की यही उपादेयता है।

अध्याय — ३०

पुरुषकारणवाद

चरकसंहिता, शारीर स्थान के कतिधापुरुषीयं शारीराध्याय में (आचार्य अग्निवेश द्वारा अपने गुरु भगवान् आत्रेय से) एक प्रश्न किया गया है कि 'पुरुष: कारणं कस्मात् ?' अर्थात् पुरुष को कारण क्यों माना जाता है ? आचार्य आत्रेय ने इस प्रश्न के समाधान में पुरुष की कारणता को स्पष्ट किया गया है, जिसके आधार पर आचार्य अग्निवेश ने पुरुषकारणवाद की स्थापना अपने तंत्र में किया है। इसी आधार पर प्रस्तुत सिद्धान्त 'पुरुषकारणवाद' का यहाँ वर्णन किया जा रहा है। अभी तक हम लोग धातुभेद से पुरुष संगठन अर्थात् चेतनाधातु पुरुषवाद, षड्धातु पुरुषवाद, राशिपुरुष-वाद में पुरुष का अर्थ व अभिप्राय समझ चुके हैं, अब पुरुष को कारण क्यों कहा जाता है, इस पर विचार करना है। पुरुषकारणवाद के सम्बन्ध में कहा गया है कि—

करणान्यान्यता दृष्टा कर्त्तुः कर्त्ता स एव तु।
कर्त्ता हि करणैर्युक्तः कारणं सर्वकर्मणाम् ।। (च० शा० १।४९)

अर्थात् कर्त्ता की कार्य करने की सामग्री भिन्न-भिन्न होती है, परन्तु कर्त्ता वही रहता है अर्थात् कर्त्ता (क्रिया या कर्म करने वाला) एक होता है तथा उसकी क्रिया करने की सामग्रियाँ (जिन साधनों के द्वारा वह क्रिया करता है) भिन्न-भिन्न होती हैं। जब आत्मा का विभिन्न करणों अर्थात् क्रिया करने की सामग्रियों से संयोग होता है तब आत्मा को सभी कर्मों का कारण माना जाता है। च० सू० ११ में युक्ति प्रकरण में कहा गया है कि 'कर्त्ताकरणसंयोगाद् क्रिया' अर्थात् जब कर्त्ता व करण का संयोग होता है तो क्रिया होती है। इसी सिद्धान्त पर यह वाद आधारित है। आत्मा को कर्त्ता होने से कारण माना जाता है। इस तथ्य को आचार्य ने विभिन्न उदाहरणों के माध्यम से समझाया है। इस वाद की स्थापना में परपक्ष का खण्डन कर स्वपक्ष की स्थापना हेतु, दृष्टान्त, उपनय, निगमन की सहायता से की गई है। पुरुषकारण-वाद को नहीं मानने वाले पक्ष का कथन निम्न है—

परपक्ष (पुरुषकारणवाद के विपरीत पक्ष)—आचार्य कहते हैं कि कुछ लोगों का कथन है कि—

न ते तत्सदृशास्त्वन्ये पारम्पर्यसमुत्थिताः।
सारुप्याद्ये त एवेति निर्दिश्यन्ते नवा नवाः।।
भावास्तेषां समुदयो निरीशः सत्त्वसंज्ञकः।
कर्त्ताभोक्ता न स पुमानिति केचिद्व्यवस्थिताः।।

(च० शा० १।४६-४७)

अर्थात् इस सृष्टि में जितने भाव-पदार्थ हैं, वे सर्वदा अपनी स्थिति में नहीं रहते, बल्कि प्रत्येक क्षण में परम्परा से उत्पन्न होकर पुनः उसी के सदृश नये-नये भाव-पदार्थ उत्पन्न होते रहते हैं। नये उत्पन्न भावपदार्थ का स्वरूप पूर्व में उत्पन्न भाव-पदार्थ के समान ही होता है, जिससे ऐसा लगता है कि यह पदार्थ पूर्व वाला ही है, जो कि अपनी पूर्वस्थिति में ही विद्यमान है। इसी परम्परा का अनुसरण करने वाले भावों के समुदाय को बिना उसके किसी स्वामी के सत्त्व (प्राणि) कहा जाता है। वह पुरुष कर्त्ता भोक्ता नहीं है। ऐसा कुछ लोगों का मत है।

यहाँ परपक्ष ने अपने पक्ष की घोषणा करते हुए कहा है कि—इस सृष्टि में जितनी वस्तुएँ हैं या भावपदार्थ हैं, उनकी एक-क्षण में उत्पत्ति होती है, उत्पन्न पदार्थ की कुछ क्षण स्थिति रहती है और फिर तीसरे क्षण में उसका विनाश हो जाता है। फिर पूर्व के भावपदार्थ के सदृश नये भावपदार्थ की उत्पत्ति होती है तथा पूर्व की तरह उसका भी विनाश हो जाता है। इस प्रकार उत्पत्ति, स्थिति व विनाश की प्रक्रिया लगातार चलती रहती है। जब उस भावपदार्थ को देखा जाता है तो वह सदैव विद्यमान रहता है; क्योंकि परम्परानुसार नष्ट भावपदार्थ की पूर्ति तत्क्षण नूतन पदार्थ से हो जाती है। प्रत्येक भावपदार्थ के सदृश ही नूतन पदार्थ की उत्पत्ति होती है। इसी प्रकार चेतन वस्तु से चेतन की, मनुष्य से मनुष्य की, गौ से गौ की उत्पत्ति होती है, यह परम्परा लगातार चलती रहती है। क्षणभंगुर पदार्थों के समुदायस्वरूप चतुर्विंशति पुरुष माना जाता है। चेतन आत्मा को कारण नहीं माना जाता; अतः अव्यक्त चेतन आत्मा कर्त्ता व भोक्ता नहीं होता, बल्कि शरीर की उत्पत्ति का कारण क्षणिक स्थायी वस्तुओं का समुदाय होता है (यहाँ क्षणिक स्थायी का तात्पर्य यह है कि क्षणशः उसकी उत्पत्ति व क्षणशः ही स्थिति रहती है। इस प्रकार क्षणतः स्थित होने के कारण इसे क्षणिक स्थायी कहा जाता है)। पूर्व शरीर में जो चेतना आदि धारक भाव थे वह उत्तर-शरीर में परम्परानुसार आ जाते हैं। यह व्यावहारिक परम्परा इसी प्रकार लगातार चलती रहती है। इस परम्परा का नाश नहीं होता। परपक्ष के अनुसार शरीर के धारक चौबीस भाव क्षणशः उत्पन्न, स्थित व विनष्ट होते रहते हैं। इस प्रकार परपक्ष के अनुसार इन चतुर्विंशति धातुगत आत्मा भी इसी परम्परानुसार अर्थात् उत्पत्ति, स्थिति व विनाश-प्रक्रियानुसार चलता रहता है।

परपक्ष का खण्डन—इस प्रकार आत्रेय ने उपर्युक्त परपक्ष क्षणभंगुरवाद के आधार पर आत्मा को कारण नहीं मानने वाले पक्ष का खण्डन किया है। आत्रेय का कथन है कि—

तेषामन्यैः कृतास्यान्ये भावा भावैर्नवाः फलम्।
भुञ्जते सदृशाः प्राप्तं यैरात्मा नोपदिश्यते॥

(च०शा० १।४८)

अर्थात् यदि परपक्ष के क्षणभंगुरवाद को स्वीकार कर आत्मा को कारण नहीं माना जाता है तो इस स्थिति में दूसरे व्यक्ति द्वारा किये हुए कर्म के फल का भोग परम्परा-ज्ञान से उसके समान धर्म वाला दूसरा व्यक्ति करने लगेगा। आयुर्वेद की अवधारणा है कि कर्म का परिणाम बन्धनयुक्त आत्मा को भोगना पड़ता है, परिणामतः एक शरीर की आयु पूर्ण हो जाने पर इस शरीर के द्वारा किये गये कर्मों का भोग करने के लिए उसे दूसरा नूतन शरीर धारण करना पड़ता है। इस संसार के लोकव्यवहार में जो भी कर्म किये जाते हैं वे अपने ही भोग के लिए हैं। प्राणियों की जो भी प्रवृत्तियाँ होती हैं, उसका लक्ष्य स्वयं द्वारा सुखोपभोग ही होता है। यदि परपक्ष का क्षणभंगुरवाद मान लिया जाता है तो कोई भी प्राणी कर्म में प्रवृत्त ही नहीं होगा; क्योंकि उसके कर्मों का परिणाम अन्य प्राप्त कर लेगा, इस स्थिति में परपक्ष के क्षणभंगुरवाद को स्वीकार नहीं किया जा सकता।

अपने पक्ष—आत्मा के कारणवाद—को स्थापित करने के पक्ष में आचार्य आत्रेय का कथन है कि—

भास्तमः सत्यमनृतं वेदाः कर्म शुभाशुभम्।
न स्युः कर्ता च बोद्धा च पुरुषो न भवेद्यदि॥
नाश्रयो न सुखं नार्तिर्न गतिर्नागतिर्न वाक्।
न विज्ञानं न शास्त्राणि न जन्म मरणं न च॥
न बन्धो न च मोक्षः स्यात् पुरुषो न भवेद्यदि।
कारणं पुरुषस्तस्मात् कारणज्ञैरुदाहृतः॥
(च० शा० १।३९-४१)

१. अर्थात् यदि पुरुष को कर्त्ता या ज्ञाता न माना जाय तो भा अर्थात् प्रतिभा, तमः अर्थात् मोह, सत्य, अनृत (असत्य, झूठ), वेद (संभवतः वेद यहाँ ज्ञान अर्थ में प्रयुक्त है), शुभ और अशुभ कार्य नहीं हो सकते हैं। यहाँ आचार्य ने स्पष्ट किया है कि यदि किसी कर्त्ता को स्वीकार नहीं किया जाता है तो फिर किसी प्रकार के कर्म में प्रवृत्ति ही नहीं होगी; क्योंकि जब करणों के साथ कर्त्ता का संयोग होता है तभी क्रिया होती है। जब चतुर्विंशति तत्त्वों में आत्मा की उपस्थिति होती है तभी क्रिया का सम्पादन होता है।

२. आचार्य अपने पक्ष में यह उक्ति देते हैं कि—यदि पुरुष या आत्मा की कारणता स्वीकार नहीं की जाती तो न आश्रय (यहाँ आश्रय का तात्पर्य शरीर से है; क्योंकि आत्मा का आश्रय शरीर ही होता है), न सुख, न दुःख, न गति, न आगति (यहाँ गति का अर्थ मृत्यु के बाद गमन करने के अर्थ में है। भारतीय दर्शन व विज्ञान में मृत्यु के बाद मोक्ष के अतिरिक्त एक स्वर्ग की अवधारणा है। यहाँ गति से मृत्यु के बाद स्वर्गगमन का अर्थ ग्रहण किया जा सकता है तथा आगति से पुनः लौटकर योनि-विशेष में आना अर्थ लगाया जा सकता है), न वाक् (बोलने की

शक्ति), न विज्ञान, न शास्त्र, न जन्म, न मृत्यु, न बन्धन, न मोक्ष आदि कुछ हो पायेगें। यहाँ आचार्य का अभिप्राय है कि उपर्युक्त कर्म एवं इनसे सम्बन्धित अवधारणाओं के आधार पर ही आत्मा की कारणता सिद्ध होती है। यदि आत्मा को कारण न माना जाय तो फिर बन्धन-मोक्ष, जन्म-मृत्यु, सुख-दु:ख, गति-आगति—इन अवधारणाओं का न तो किसी प्रकार का महत्त्व रह जायेगा और न ही किसी प्रकार के क्रिया की प्रवृत्ति ही हो सकती है; क्योंकि राशिपुरुष प्रकरण में आचार्य ने राशिपुरुष में मोह, सुख-दु:ख, जन्म-मृत्यु आदि माना है।

३. न चेत् कारणमात्मा स्याद्भादय: स्युरहेतुका:।
न चैषु संभवेज्ज्ञानं न च तै: स्यात् प्रयोजनम्॥ (च० शा० १)

अर्थात् यदि आत्मा को कारण नहीं माना जाता तो भा, तम आदि अहेतुज हो जायेंगे। अर्थात् पूर्व में आचार्य ने 'भास्तम: सत्यमनृतं' आदि जिन क्रियायों का निर्देश दिया है, वे क्रियायें अहेतुज अर्थात् बिना कारण की हो जायेंगी, जबकि आयुर्वेद या सांख्यादि भारतीय आस्तिक दर्शनों का सिद्धान्त है कि बिना कारण के किसी कार्य की उत्पत्ति ही नहीं होती। इसी तथ्य को आचार्य यहाँ प्रकाशित करते हुए कहते हैं कि यदि आत्मा को कारण नहीं माना जाता तो भा आदि अहेतुज हो जायेंगे। पुन: कहते हैं कि—यदि आत्मा को ज्ञानी न माना जाय तो भा, तम आदि जो अचेतन हैं, उनमें ज्ञान ही नहीं हो पायेगा। इस स्थिति में भा, तम, सत्य, असत्य आदि का कोई प्रयोजन ही नहीं रह जायेगा। इसीलिए आयुर्वेद में कहा गया है कि कोई भी भाव अहेतुज नहीं होते—

'न ह्येको वर्तते भावो वर्तते नाप्यहेतुक:।
शीघ्रगत्वात्स्वभावात्त्वभावो न व्यतिवर्तते'॥ (च० शा० १।५८)

अर्थात् भावपदार्थ अकेले कार्य करने में समर्थ नहीं होता। भावपदार्थ बिना हेतु यानि कारण के नहीं होते। अभाव शीघ्रग स्वभाव होने से अपने शीघ्रग स्वभाव को नहीं छोड़ता है।

आत्मा की कारणता से सम्बन्धित दृष्टान्त—पुरुषकारणवाद में आचार्य चरक ने आत्मा से सम्बन्धित दो तथ्यों का विवरण एक साथ दिया है—'कारणं पुरुषस्तस्मात् कारणज्ञैरुदाहृता।' इस प्रकार आचार्य ने आत्मा की कारणता व ज्ञातृत्व—दोनों तथ्यों का प्रकाशन किया है। हालांकि आत्मा को ज्ञाता रूप में स्वतन्त्र रूप में भी वर्णित किया गया है; परन्तु दोनों तथ्यों का आपस में सम्बन्ध होने से यहाँ एक साथ ही इनको प्रकाशित किया है। आत्मा की कारणता व ज्ञातृत्व की पुष्टि-क्रम में 'न चैषु संभवेज्ज्ञानं न च तै: स्यात् प्रयोजनम्' कहकर दोनों तथ्यों की सिद्धि एक साथ किया है। यहाँ प्रस्तुत निम्न दृष्टान्त द्वारा आचार्य ने आत्मा की कारणता को सिद्ध करने का प्रयत्न किया है—

कृतं मृद्दण्डचक्रैश्च कुम्भकाराद्दृते घटम् ।
कृतं मृत्तृणकाष्ठैश्च गृहकाराद्विना गृहम् ॥
यो वदेत् स वदेद्देहं संभूय करणैः कृतम् ।
बिना कर्त्तारमज्ञानाद्युक्त्यागमबहिष्कृतः ॥

(च० शा० १।४३-४४)

अर्थात् जो व्यक्ति बिना कुम्भकार के रहते मिट्टी, दण्ड, चक्र के संयोग से घड़ा बन जाता है—ऐसी युक्ति और शास्त्रज्ञान से शून्य है एवं अज्ञानवश कर्त्ता के बिना ही कार्य की उत्पत्ति स्वीकार करते हैं। इसी प्रकार इस तरह के अज्ञानी व्यक्ति मिट्टी, तृण, काष्ठों के समुदाय द्वारा बिना घर बनाने वाले गृह-निर्मापक के स्वयमेव गृह का निर्माण होना स्वीकार कर सकते हैं। इसी तरह के अज्ञानी मूर्ख व्यक्ति करण के समूह से (इन्द्रियादि साधनों के समूह से) शरीर स्वयं बन जाता है—इस तरह की बात भी मान लेते हैं। इन दृष्टान्तों के माध्यम से आचार्य ने स्पष्ट कर दिया है कि बिना कारण के किसी प्रकार के कार्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती।

पुनः आचार्य ने विभिन्न प्रमाणों का दृष्टान्त देकर आत्मा की कारणता को सिद्ध करते हुए कहा है कि—

'कारणं पुरुषः सर्वैः प्रमाणैरुपलभ्यते ।
येभ्यः प्रमेयं सर्वेभ्य आगमेभ्यः प्रमीयते ॥

अर्थात् जिन शास्त्रों को प्रमाणरूप में स्वीकार किया जाता है उन शास्त्र-प्रमाणों से या विभिन्न प्रमाणों के द्वारा ज्ञेय विषयों (प्रत्यक्ष, अनुमान, आप्तोपदेशादि द्वारा) को जाना जाता है, उन सभी शास्त्र-प्रमाणों से (जिन प्रमाणों को मान्य शास्त्र स्वीकार करते हैं, उसके लिए यहाँ शास्त्र-प्रमाण शब्द व्यवहृत किया गया है) अथवा ज्ञान के साधनरूप प्रत्यक्षादि प्रमाणों द्वारा आत्मा की कारणता सिद्ध होती है।

पुनः आचार्य ने खुड्डिकागर्भावक्रान्ति अध्याय में इसी (कुम्भकार के) उदाहरण को प्रस्तुत करते हुए कहा है कि—

न कर्तुरिन्द्रियाभावात् कार्यज्ञानं प्रवर्तते ।
या क्रिया वर्तते भावैः सा विना तैर्न वर्तते ॥
जानन्नपि मृदोऽभावात् कुम्भकृन्न प्रवर्तते ॥

(च० शा० ३।१९)

अर्थात् आत्मा सर्वदा ज्ञानी ही होता है परन्तु इन्द्रियों का अभाव होने से आत्मा को कार्यों का ज्ञान नहीं हो पाता। जिन साधनों की सहायता से या जिन साधनों के माध्यम से क्रिया सम्पन्न होती है उन साधनों के अभाव से भी क्रिया नहीं होती है। अतः स्पष्ट है कि कर्त्ता व करण दोनों का संयोग होने पर ही क्रिया होती है।

इन दृष्टान्तों को प्रस्तुत करने के बाद आचार्य ने परपक्ष के विपरीत स्वपक्ष-स्थापना हेतु अपनी प्रतिज्ञा को उपनय द्वारा सिद्ध कर निगमन करते हुए कहते हैं कि—

निमेषकालाद्भावानां कालः शीघ्रतरोऽत्यये ।
भग्नानां न पुनर्भावः कृतं नान्यमुपैति च ॥
मतं तत्त्वविदामेतद्यस्मात्तस्मात् स कारणम् ।
क्रियोपभोगे भूतानां नित्यः पुरुषसंज्ञकः ॥ (च० शा० १)

अर्थात् शरीर आदि के बिनाश में सूक्ष्मातिसूक्ष्म काल की आवश्यकता होती है, इसी को आचार्य कहते हैं कि शरीरादि भावों के नाश होने में निमेष काल से भी कम समय लगता है। जब शरीर या शरीर के धारक अन्य भाव नष्ट हो जाते हैं तब उन भावों की पुनः उत्पत्ति नहीं होती। इस प्रकार आचार्य ने अपने पक्ष की स्थापना करते हुए परपक्ष के क्षणभंगुरवाद का खण्डन किया है। परपक्ष में कहा गया है कि एक क्षण में भावपदार्थों की उत्पत्ति होती है, दूसरे क्षण में स्थिति एवं तीसरे क्षण में विनाश हो जाता है। इस पक्ष को खण्डित करते हुए आचार्य कहते हैं कि शारीरिक भावों के विनाश में क्षण क्या, निमेष से भी कम समय लगता है, परन्तु विनष्ट शारीरिक भावों की उत्पत्ति पुनः नहीं होती। पुनः उनका कथन है कि प्रत्यक्षतः देखने में आता है कि जो मनुष्य योगादि कर्मों को करता है, उसका परिणाम (फल) भी क्रिया करने वाले व्यक्ति को ही प्राप्त होता है। इसी तरह की अवधारणा तत्त्वविदों (वैज्ञानिकों) की भी है। अतः स्पष्ट है कि प्राणियों के कार्य करने में तथा उन कार्यों के फल भोगने में नित्य चेतना धातु ही कारण है; क्योंकि देहातिरिक्त आत्मा को कारणरूप में स्वीकार करने पर ही अहंकार, फल, कर्म, देहान्तर गति, स्मरण शक्ति आदि की चरितार्थता सिद्ध हो सकती है।

आत्मा का जब करणों से संयोग होता है तो क्रिया होती है; यदि संयोग नहीं होता, तो क्रिया भी नहीं होती। करणों में जिसके संयोग से क्रियाकारिता होती है, उसे ही कर्त्ता कहा जाता है। कर्त्ता होते हुए भी कार्योत्पत्ति हेतु आत्मा का करण से संयोग होने पर ही क्रिया होती है; क्योंकि आत्मा कर्म का कारण अवश्य है परन्तु क्रियायें करण के माध्यम से ही सम्पन्न होती हैं—

करणानि मनोबुद्धिर्बुद्धिकर्मेन्द्रियाणि च ।
कर्त्तुः संयोगजं कर्म वेदना बुद्धिरेव च ॥
नैकः प्रवर्तते कर्त्तुं भूतात्मा नाश्नुते फलम् ।
संयोगाद्वर्तते सर्वं तमृते नास्ति किञ्चन ॥

(च० शा० १। ५६-५७)

अर्थात् मन, बुद्धि, ज्ञानेन्द्रियाँ, कर्मेन्द्रियाँ—इनको करण कहा जाता है। कर्त्ता का करणों के साथ जब संयोग होता है तो कर्म, वेदना व ज्ञान की उपलब्धि होती है

(कर्त्ता व करण के संयोग से क्रिया होती है, जिसे यहाँ कर्म कहा गया है। वेदनादि का कारण आत्मा, मन, इन्द्रिय व अर्थों का संयोग होना ही कहा गया है। इस प्रकार विषयों का इन्द्रिय से, इन्द्रिय का मन से और मन का आत्मा से जब संयोग होता है तो ज्ञानोत्पत्ति होती है; अतः यहाँ कर्त्ता से करण का संयोग होने पर कर्म, वेदना व ज्ञान की उत्पत्ति होती है, ऐसा कहा गया है)। केवल अकेले जीवात्मा किसी कार्य को करने में प्रवृत्त नहीं होता और भूतात्मा अकेले फल को भी नहीं भोगता है। संयोग होने पर ही सभी कार्य सम्पन्न होते हैं, यदि संयोग न हो तो कोई कार्य नहीं होता।

पुरुषकारणवाद की उपादेयता

पुरुषकारणवाद आयुर्वेद का अति उच्चस्तरीय सिद्धान्त है। आज आधुनिक विज्ञान विभिन्न साधनों के आधार पर प्रत्यक्षीकृत विषयों को ही स्वीकार करता है। इस स्थिति में चन्द्रमा पर पहुँचने की क्षमता वाले विज्ञान ने जीवन के लक्षणों का सर्वेक्षण कर जीवन के लक्षण (Characters of life) को प्रकाशित कर दिया है, परन्तु जीवन क्या है (What is life) ? यह अभी तक जटिल प्रश्न बना हुआ है। इस प्रश्न को हल करने का प्रयास भी गंभीरता से नहीं किया जा रहा है। जब तक जीवन को पारिभाषित नहीं किया जायेगा तब तक जीवन के जटिल रहस्यों को भी नहीं समझा जा सकता। आयुर्वेद में जीवन को समझने के लिए—पारिभाषित करने के लिए यह तथ्य स्थापित करना पड़ा कि समस्त क्रियायों का कारण क्या है? जिससे जीवन के लक्षण परिलक्षित होते हैं। इसका समाधान पुरुषकारणवाद से किया गया है। पुरुष शब्द का अर्थ ही 'पुरि शेते' शरीर में सोने वाले से है। सोने का तात्पर्य यह है कि शरीर में एक ऐसा द्रव्य है जो सुषुप्तावस्था में ही सदैव रहता है अर्थात् चेतन रहते हुए भी उसमें किसी प्रकार की गति नहीं होती, परन्तु उसके संयोग से ही इस शरीर में चेतनता आती है अथवा जीवन के लक्षण उत्पन्न होते हैं। अतः उसको ही जीवन का कारण माना गया तथा इसी तथ्य को पुरुषकारणवाद में प्रस्तुत किया गया है। इस वाद की प्रथम उपादेयता यह है कि जीवन का यह धारक है। इस धारक से ही जीवन की प्रवृत्ति मानी जाती है। बिना धारक के किसी वैज्ञानिक पद्धति का विकास नहीं होता, अतः आयुर्वेद में सिद्धान्तों के विकास हेतु पुरुषकारणवाद को स्वीकार करना उपादेय ही नहीं; वरन् अत्यन्त आवश्यक भी है। जैसाकि आचार्य चरक ने प्रस्तुत प्रकरण में ही कहा है—अहंकार, फल, कर्म, देशान्तरगति आदि तथ्य पुरुष-कारणवाद से ही सिद्ध होते हैं। पुरुषकारणवाद की द्वितीय उपादेयता चिकित्सा में है, विशेषकर सत्त्वावजय चिकित्सा व दैवव्यपाश्रय चिकित्सा का आधार-स्तम्भ पुरुषकारणवाद ही है। श्वेता० उ० में कहा गया है—'यत् कारणं सांख्ययोगादिगम्यं

ज्ञात्वादेव मुच्यते सर्वपाशैः ।' इस प्रकार मनुष्य का परम लक्ष्य मोक्ष की अवधारणा पुरुषकारणवाद की मान्यता से ही सिद्ध होती है । यदि पुरुषकारणवाद को स्वीकार नहीं किया जायेगा तो बन्धन, मोक्ष का कोई महत्त्व ही नहीं रह जायेगा । जिस प्रकार शुद्ध विज्ञान गणित में एक मानक मानकर सम्पूर्ण सिद्धान्त को हल कर लिया जाता है, उसी प्रकार पुरुषकारणवाद को स्वीकार कर आयुर्वेद के सभी सिद्धान्तों को व्यावहारिक सफलता प्राप्त हो सकती है ।

अध्याय—३१

प्रज्ञापराधवाद

आयुर्वेद में सभी व्याधियों के तीन कारण माने गये हैं—असात्म्येन्द्रियार्थसंयोग, प्रज्ञापराध और परिणाम। इन तीनों में भी प्रधान कारण प्रज्ञापराध ही होता है। प्रस्तुत विषय का एक स्वतन्त्र शोधपत्र के रूप में लेखक ने विशद विवेचन 'आयुर्वेद विकास' नामक पत्रिका में भी प्रस्तुत किया है। [आयुर्वेद के प्रज्ञापराध की अवधारणा द्वारा डॉ० बी० के० द्विवेदी, डॉ० एल० डी० द्विवेदी, आयुर्वेद-विकास, अक्टूबर ८६] यदि प्रज्ञा (बुद्धि) समीचीन रूप में रहती है तो रोगोत्पत्ति के अन्य कारणों से मनुष्य सुरक्षित रहता है। अतः रोगोत्पादक भावों में प्रज्ञा का दोष मूल कारण माना जाता है। प्रज्ञा को यथावत् रूप में धारण करने वाले तीन भाव हैं—धी, धृति और स्मृति। इन तीनों को प्रज्ञोपस्तम्भ भी कहा जा सकता है (आयुर्वेदीय भूतविद्या विवेचन—डा० बी० के० द्विवेदी, सम्पादक—डा० एल० डी० द्विवेदी, पेज १२५)। प्रो० बी० के० शर्मा के अनुसार सहज (Instinctual) ज्ञान ही विचारजन्य ज्ञान (Iutellectual) में परिवर्तित हो जाता है और विचारजन्य ज्ञान प्रज्ञा (Intuitional) में परिवर्तित हो जाता है। एक ही प्रज्ञा के ये तीन परिणाम—अवस्थायें हैं। यदि हम प्रज्ञा को पराबुद्धि (Intuition) के रूप में स्वीकार करते हैं तो तीन भाव (Factors) उसको सम्यक् रूपेण धारण (Maintain) किये रहते हैं। ये तीन भाव धी (Intellect), धृति (Power of Self control or patience) तथा स्मृति (Power of Retention or Recsllection) हैं। इन तीनों के यथोचित रूप में रहने पर प्रज्ञा का निर्णय सम्बन्धित व्यक्ति के लिए हितकारी होता है, जो कि सुखद परिणाम वाला होता है। यदि इन तीनों भावों (धी, धृति, स्मृति) में विकृति आ जाती है तो प्रज्ञा का निर्णय अहितकर होने लगता है, जिससे परिणामतः दुःख की प्राप्ति होती है। आयुर्वेद में दुःख को ही रोग या व्याधि कहा गया है, अतः वास्तव में व्याधियों के कारणरूप में प्रज्ञा के द्वारा किये गये अपराध अर्थात् प्रज्ञापराध को ही स्वीकार किया गया है। प्रज्ञापराध को पारिभाषित करते हुए आचार्य चरक ने कहा है कि—

धीधृतिस्मृतिविभ्रष्टः कर्म यत् कुरुतेऽशुभम्।
प्रज्ञापराधं तं विद्यात् सर्वदोषप्रकोपणम्॥

(च० शा० १।१०२)

अर्थात् धी, धृति व स्मृति के भ्रंश हो जाने पर मनुष्य अशुभ कार्यों को करने लगता है, जिससे शरीर व मन के सभी दोष प्रकुपित हो जाते हैं। इसको प्रज्ञापराध

कहा जाता है। इस प्रकार धी, धृति व स्मृति-भ्रंशता के कारण हुए प्रज्ञापराध के रूप का वर्णन करते हुए आचार्य कहते हैं कि—

बुद्धया विषमविज्ञानं विषमं च प्रवर्तनम्।
प्रज्ञापराधं जानीयान्मनसो गोचरं हि तत्॥

(च० शा० १।१०९)

अर्थात् प्रज्ञापराध की अवस्था में—बुद्धि द्वारा उचित रूप से ज्ञान नहीं होता। कभी व्यक्ति यथार्थ ज्ञान प्राप्त कर हितकर मार्ग का अनुसरण करता है तो कभी अयथार्थ ज्ञानोत्पत्ति के कारण अहितकर मार्ग को अपनाता है। बुद्धि द्वारा इस प्रकार के विषम रूप में ज्ञान होने के कारण वह विषम रूप में ही किसी कर्म में प्रवृत्त होता है। ये विषम ज्ञान और विषम प्रवृत्ति मन के विषय हैं। बुद्धि मन की ही अवस्था-विशेष होती है; अतः प्रज्ञापराध में मन की भूमिका क्या होती है?—इस बात को स्पष्ट करने के लिए आचार्य ने कहा है कि—विषम ज्ञान व विषम प्रवृत्ति मन के विषय हैं। इस प्रकार प्रज्ञापराध से तात्पर्य यह है कि—धी, धृति तथा स्मृति-भ्रंशता के कारण जब मनुष्य विषम ज्ञान प्राप्त कर विषम रूप से इस प्रकार के कर्मों में प्रवृत्त होता है कि शारीरिक व मानसिक सभी प्रकार के दोष प्रकुपित हो जाते हैं, तो उसे प्रज्ञापराध कहते हैं।

प्रज्ञापराधवाद का दार्शनिक आधार—आयुर्वेद का एक सिद्धान्त है कि—

येषामेव हि भावानां संपत् संजनयेन्नरम्।
तेषामेव विपद्व्याधीन् विविधान् समुदीरयेत्॥

(च० सू० २५।२९)

अर्थात् जिन भावों की सम्पत्ति (प्रशस्तता) पुरुषोत्पत्ति में कारण होती है, उन्हीं भावों की विपत्ति (अप्रशस्तता) रोगोत्पादक होती है। पुरुषोत्पत्ति क्रम या सृष्टि-विकास प्रक्रिया में अव्यक्त के बाद प्रथम भाव महान् या बुद्धि तत्त्व की उत्पत्ति है। इसे दूसरे शब्दों में यदि कहना हो तो यह कहा जा सकता है कि—प्रकृति-पुरुष संयोग या रज, तमरूपी राग, द्वेष व इच्छा का जब संयोग होता है तो प्रथम क्रिया-परिणाम बुद्धि ही होती है, जिससे त्रिगुणात्मक अहंकार की उत्पत्ति होती है। इस अहंकार के बहुरूपावस्था का परिणाम ही सृष्टिगत रचनायें हैं; जिसमें कर्मपुरुष या चिकित्स्य पुरुष भी है। इस प्रकार बुद्धि की सम्पत्ति (प्रशस्तता) से चिकित्स्य पुरुष की उत्पत्ति होती है। जब त्रिगुणात्मक बुद्धि में रज, तम की हानि व सत्त्व गुण की वृद्धि हो जाती है तो इसे सत्या बुद्धि कहते हैं। इस बुद्धि के अधान से मोक्ष हो जाता है। इस प्रकार यदि त्रिगुणात्मक बुद्धि से पुरुष की उत्पत्ति यानि प्रवृत्ति होती है तो सत्या बुद्धि से निवृत्ति यानि मोक्ष हो जाता है। उपर्युक्त सिद्धान्त के अनुसार यदि बुद्धि की सम्पत्ति जब पुरुष की उत्पत्ति के कारणरूप में मान्य है तो उस स्थिति में

रोगोत्पत्ति के कारणरूप में बुद्धि की विपत्ति अवस्था (अप्रशस्तता) ही माननी चाहिए। इस प्रकार इस सिद्धान्त के अनुसार रोगोत्पत्ति के कारणरूप में बुद्धि का अपराध अर्थात् प्रज्ञापराध स्वीकार किया गया है। पुरुषोत्पत्ति में मौलिक कारण महान् है। यहाँ मौलिक कहने का तात्पर्य यह है कि पुरुषोत्पत्ति में स्वतंत्र रूप से विकासशील भाव की प्रथम अवस्था बुद्धि या महान् ही है या यह कहा जा सकता है कि पुरुषोत्पत्ति की प्राथमिक परिणामावस्था बुद्धि है, अतः व्याधियों का मौलिक कारण भी प्रज्ञापराध अर्थात् बुद्धि का अपराध ही हो सकता है।

अब प्रज्ञापराध में वर्णित धी, धृति, स्मृति-भ्रंशता पर विचार करना अपेक्षित है कि इनके द्वारा प्रज्ञापराध किस प्रकार होता है।

१. धी-भ्रंशता—धी का अर्थ यहाँ बुद्धि है। बुद्धिभ्रंशता के सम्बन्ध में आचार्य कहते हैं कि—

विषमाभिनिवेशो यो नित्यानित्ये हिताहिते।
ज्ञेयः स बुद्धिविभ्रंशः समं बुद्धिर्हि पश्यति॥
(च० शा० १।९९)

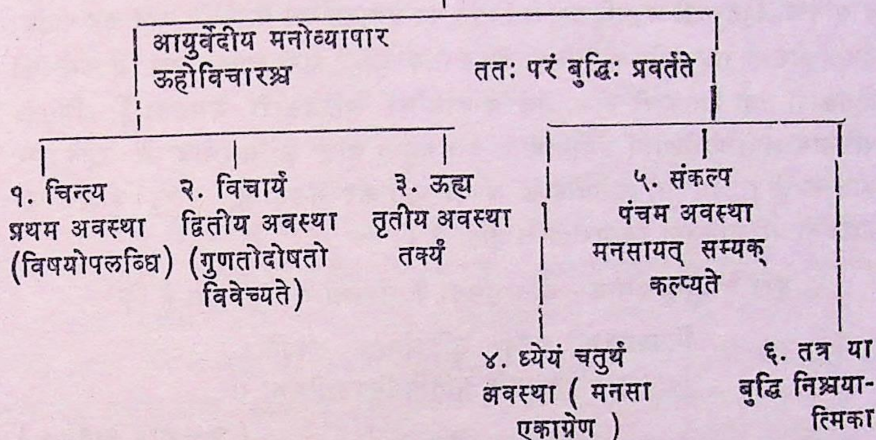
अर्थात् बुद्धि का नित्य और अनित्य, हितकारी व अहितकारी कर्म में विषम रूप से अभिनिवेश (प्रवेश) करने को बुद्धि-भ्रंशता कहते हैं। पुनः आचार्य बुद्धि के सामान्य कर्म (Normal function) के बारे में निर्देश देते हैं कि—बुद्धि सम रूप में देखने वाली होती है अर्थात् जो जैसा है, उसे उसी रूप में (यथावत्) देखती है। बुद्धि-भ्रंशता के लक्षणों पर विचार करने से पूर्व 'समं बुद्धिर्हि पश्यति'—इस वचन पर विचार करना आवश्यक प्रतीत होता है; क्योंकि इस पर विचार करने के बाद ही बुद्धिभ्रंशता की प्रक्रिया स्पष्ट हो सकती है। आचार्य ने यहाँ कहा है कि—बुद्धि यथावत् देखती है, इसका अभिप्राय यह है कि—जैसे कोई वस्तु या आहार-विशेष किसी व्यक्ति-विशेष के लिए अहितकर है। ऐसी स्थिति में यदि बुद्धि सामान्यावस्था में है तो यथावत् रूप में उस वस्तु या आहार-विशेष को देखेगी अर्थात् बुद्धि द्वारा यह ज्ञान प्राप्त होगा कि अमुक वस्तु या आहार-विशेष अहितकर है। इस अवस्था में बुद्धि का निर्णायक (निश्चयात्मक) ज्ञान यही होगा कि, यह अहितकर है, अतः इसका सेवन नहीं करना चाहिए। इस प्रकार सामान्य बुद्धि का व्यापार नित्य को नित्य रूप में अनित्य को अनित्य रूप, हितकर को हितकर व अहितकर को अहितकर रूप में देखना है। यह समभाव निर्णय बुद्धि की निर्मलता पर निर्भर है। यदि बुद्धि मलरहित होगी तभी वह अपने अध्यवसाय अथवा निश्चयात्मक ज्ञान को यथावत् रूप में ग्रहण करेगी। जैसे—किसी निर्मल दर्पण में रूप यथावत् दिखाई देता है, परन्तु यदि दर्पण मल से युक्त है तो रूप जैसा है, वैसा दिखाई न देकर अन्य रूप में दिखाई देता है,

उसी प्रकार निर्मल बुद्धि ही यथावत् देख सकती है। सांख्य में बुद्धि में द्वारा सम्पन्न क्रियाकर्तृत्व अथवा बुद्धि की क्रियाप्रणाली को स्पष्ट रूप में समझाया गया है—

एते प्रदीपकल्पाः परस्परविलक्षणा गुणविशेषाः ।
कृत्स्नं पुरुषस्यार्थं प्रकाश्य बुद्धौ प्रयच्छन्ति ॥

(सा० का० ३६)

'यथा हि ग्रामाध्यक्षः कौटुम्बिकेभ्यः करमादाय विषयाध्यक्षाय प्रयच्छति, विषयाध्यक्षश्च सर्वाध्यक्षाय, स च भूपतये, तथा बाह्येन्द्रियाण्यालोच्य मनसे समर्पयन्ति, मनश्च सङ्कल्प्याहङ्काराय, अहङ्कारश्चाभिमत्य बुद्धौ सर्वाध्यक्षभूतायां तदिदमुक्तम् पुरुषस्यार्थं प्रकाश्य बुद्धौ प्रयच्छन्ति ।'—सांख्यतत्त्वकौमुदी, वा० मि०। अर्थात् बुद्धि के द्वारा ही पुरुषों को विषय-ज्ञान होता है, क्योंकि बुद्धि अंतःकरण सहित सभी विषयों को ग्रहण करती है। अतः बुद्धि को शेष कारणरूपी द्वारों का द्वारपाल कहा गया है। मन, अहंकार, इन्द्रियाँ—ये सभी गुण-विशेष प्रदीपसदृश एक-दूसरे से भिन्न होते हैं। ये विषयों को बुद्धि तक पहुँचाते हैं तथा बुद्धि उन विषयों को पुरुष को देती है। आचार्य वाचस्पति मिश्र अपनी सांख्यतत्त्वकौमुदी में इसे और भी स्पष्ट करते हैं कि—जिस प्रकार ग्रामाध्यक्ष ग्रामीणों से कर लेकर अपने बड़े अधिकारी को देता है, पुनः वह अधिकारी अपने से बड़े अधिकारी को तथा वह सर्वाधिकारी को एवं सर्वाधिकारी राजा को सौंप देता है, उसी प्रकार ज्ञानेन्द्रियाँ विषयालोचन के बाद उस ज्ञान को मन को, मन-अहंकार को, अहंकार सर्वाध्यक्ष–बुद्धि को सौंप देता है। हालांकि आयुर्वेद का मत इससे किञ्चित् भिन्न है, इस अवधारणा को ज्ञान-प्रक्रिया समझने की दृष्टि से प्रस्तुत किया गया है। परन्तु इतना स्पष्ट है कि सभी शास्त्रकारों ने निश्चयात्मक ज्ञान की उपलब्धि बुद्धि के द्वारा ही मानी है। जब मन द्वारा किसी विषय का ग्रहण किया जाता है तो उसे चिन्त्य कहते हैं—फिर मन 'गुणतो दोषतो वा यद् विवेच्यते' अर्थात् गृहीत विषय के गुण-दोषादि पर विचार करता है, इसे विचार कहा जाता है। इसके बाद मन—'तर्क्यं' उस विषय पर तर्क (विभिन्न दृष्टिकोणों) करता है, जिसे ऊह्य कहते हैं—इसके बाद मन—'यत् एकाग्रेण मनसा भाव्यते'—अर्थात् तर्क के किसी एक पक्ष की ओर आकृष्ट होता है, जिसे 'ध्येयं' कहते। 'मनसा यत् सम्यक् कल्प्यते कर्त्तव्याकर्त्तव्यत्वेन अवधार्यंते'—अर्थात् अब मन एकाग्र होने के पश्चात् कर्त्तव्याकर्त्तव्य (अर्थात् क्या करना चाहिए व क्या नहीं करना चाहिए) इसका निर्णय कर लेता है, तो इसे 'संकल्प' कहते हैं। इसके बाद जब—'व्यवस्यति तया वक्तुं कर्तुं वा बुद्धिपूर्वकम्।' यह निर्णय निश्चयात्मक हो जाता है, जिससे व्यक्ति बोलने या कर्म में प्रवृत्त हो जाता है, तो इस निश्चयात्मक निर्णय देने वाली अवस्था को ही बुद्धि कहा जाता है। इस प्रकार चरकोक्त ज्ञानोत्पत्ति क्रम को निम्न रेखाचित्र के रूप में दर्शाया जा सकता है।



(प्रस्तुत रेखाचित्र 'आयु० भूतविद्या विवेचन' ग्रन्थ से उद्धृत किया गया है)

इस प्रकार आयुर्वेदानुसार ज्ञानोत्पत्ति (निश्चयात्मक ज्ञान की उपलब्धि-प्रक्रिया) होती है। विभिन्न प्रकार की कामनायें भी बुद्धि को प्रभावित करती हैं। जब किसी कामना-विशेष से मनुष्य आसक्त हो जाता है, तो यथावत् ज्ञान नहीं हो पाता।

अब इस पर विचार करना है कि बुद्धिभ्रंशता क्यों होती है। आचार्य चरक का कथन है कि—

सुखार्थाः सर्वभूतानां मताः सर्वा प्रवृत्तयः।
ज्ञानाज्ञानविशेषास्तु मार्गामार्गप्रवृत्तयः॥ (च० सू० २८)

अर्थात् सृष्टि के समस्त प्राणी सुख की इच्छा कर किसी प्रकार के कार्य में प्रवृत्त होते हैं, परन्तु वह प्रवृत्ति ज्ञान व अज्ञान के कारण मार्ग या अमार्ग में होती है। इसका अभिप्राय यह है कि—बुद्धि समभाव (यथावत्) देखने वाली होती है। जब बुद्धि सामान्यावस्था (Normal) हो तो यथावत् ज्ञान होता है और प्राणी उचित मार्ग का अनुसरण कर सुख की प्राप्ति करता है, परन्तु जब बुद्धि रज व तम से युक्त होती है तो अज्ञानवश अमार्ग में प्रवृत्त होता है, क्योंकि बुद्धि के मलयुक्त होने पर विषय का यथावत् ज्ञान नहीं हो पाता। इस प्रकार अमार्ग में प्रवृत्ति ही प्रज्ञापराध है। आचार्य ने बतलाया है कि—प्रायः लौकिक व्यक्ति अर्थात् जनसामान्य बुद्धि के निर्मल न होने के कारण तत्क्षण सुखदायक मार्ग का अनुसरण करते हैं, जो परिणामतः दुःखोत्पादक होता है। परन्तु समभाव बुद्धियुक्त मनुष्य उस मार्ग का अनुसरण करता है, जिसका परिणाम सुखकर होता है—

'हितमेवानुरुध्यन्ते प्रपरीक्ष्य परीक्षकाः।
रजोमोहावृत्तात्मानः प्रियमेव तु लौकिकाः'॥ (च० सू० २८।३६)

इस प्रकार यहाँ आचार्य ने स्पष्टतः प्रज्ञापराध का कारण बुद्धि का रज व तम के साथ अत्यधिक रूप में संयुक्त होना कहा है । रज और तम के कारण ही बुद्धि नित्य व अनित्य, हितकारी व अहितकारी विषय का यथावत् रूप में निर्णय नहीं कर पाती। इस प्रकार मनुष्य बुद्धि की भ्रंशता के कारण अहितकारी काल, अर्थ व कर्म को हितकारी तथा हितकारी काल, अर्थ व काम को अहितकारी समझता है; जिसका परिणाम असात्म्येन्द्रियार्थ संयोग होता है । मनुष्य बुद्धि के समभाव में रहने पर काल के हीन, मिथ्या, अतियोग से अपनी रक्षा कर सकता है, परन्तु बुद्धिभ्रंशता द्वारा ही परिणामजन्य विकारोत्पत्ति होती है ।

२. **धृति व धृति-भ्रंशता**—धृति-भ्रंशता के सम्बन्ध में कहा गया है कि—

विषयप्रवणं सत्त्वं धृतिभ्रंशान्न शक्यते ।
नित्यन्तु महितादर्थाद् धृतिर्हि नियमात्मिका ।।

(च० शा० १।१००)

अर्थात् विषयवासना की ओर प्रवृत्त मन को धृतिभ्रंशता के कारण अहित विषयों से रोका नहीं जा सकता; क्योंकि धृति ही मन को नियमित करने वाली होती है। इस प्रकार यहाँ 'धृतिर्हि नियमात्मिका' कहकर आचार्य ने धृति को मन का नियामक कहा है । आयुर्वेद में या लोकव्यवहार में धृति का सामान्य अर्थ 'धैर्य' ग्रहण किया जाता है । प्रस्तुत परिभाषा के अनुसार धृति का तात्पर्य मन के नियामक शक्ति से है । जिस व्यक्ति में जितनी ही बलवती धृति होगी उतना ही उसके मन का नियमन सुचारु रूप में होगा; परन्तु धृति-भ्रंशता की स्थिति में मन का नियमन सम्यक् रूप से नहीं हो पाता है, परिणामतः मन विषय-वासना की ओर आकर्षित होकर उनमें आसक्त हो जाता है; परिणामतः मन की विशिष्ट अवस्था—बुद्धि भी मन की विषयासक्ति के कारण भ्रष्ट हो जाती है । धृति के संदर्भ में एक बात सामने आती है; जैसाकि पूर्व में या वातदोष के कर्म में कहा गया है कि—'नियन्ता प्रणेता च मनसः' तथा पुनः 'धृतिर्हि नियमात्मिका' कहा गया है । इसका तात्पर्य क्या हो सकता है ? इसका अभिप्राय यह है कि जब मन इन्द्रिय-सापेक्ष विषयों (इन्द्रिय के साथ संयोग) का का ग्रहण करता है अथवा इन्द्रियों के माध्यम से अपनी क्रिया करता है तो इस स्थिति में उसका नियमन वायु द्वारा होता है, परन्तु मन जब इन्द्रिय-निरपेक्ष विषयों को ग्रहण करता है अथवा इन्द्रिय-निरपेक्ष क्रियायें करता है तो इस समय मन का नियमन धृति द्वारा होता है । इससे मिलता-जुलता एक और शब्द इस संदर्भ में आता है—'निग्रह' । मन अपना निग्रह स्वयं करता है । निग्रह का तात्पर्य रोकना (To control) होता है तथा नियमन (To regulate) अर्थ रखता है । जब मन इन्द्रिय-निरपेक्ष चिन्त्य आदि विषयों में आसक्त होता है तो या उन विषयों की ओर, जो अहितकर होते हैं, आकर्षित होता है तो वहाँ प्रधान रूप से धृति के द्वारा

ही मन का नियमन होता है। यदि व्यक्ति के अन्दर धृति विद्यमान रहती है तो विषयासक्त मन का नियमन होकर वह अहित विषय की आसक्ति छोड़ देता है। धृति के अभाव में मन का नियमन नहीं हो पाता, जिससे अनेक प्रकार के मानसिक व शारीरिक विकार उत्पन्न हो जाते हैं। जैसे—यदि कोई विद्यार्थी परीक्षा में असफल हो जाता है तो इस स्थिति में धृति के विद्यमान रहने पर उसके मन का नियमन हो जाता है और वह विद्यार्थी पुन: अधिक परिश्रम कर अगली परीक्षा में सफल हो जाता है। परन्तु यदि उस विद्यार्थी के अन्दर धृति नहीं होती है तो वह शोक, भय, क्रोध, ईर्ष्यादि से पीड़ित हो जाता है, परिणामत: उसमें मानसिक के साथ-साथ कतिपय शारीरिक विकार भी उत्पन्न हो जाते हैं। धृति-भ्रंशता के कारण अपने अन्दर आये मनोवेग, शोक, भय, क्रोध, ईर्ष्यादि को वह धारण नहीं कर पाता, क्योंकि उसके मन के वेगों का अपनी ओर से नियमन नहीं हो पाता। यदि कोई व्यक्ति यह सूचना प्राप्त करता है कि उसके किसी निकट-सम्बन्धी के साथ कोई दुर्घटना हुई है तथा वह चिकित्सालय या अमुक स्थान पर है तो इस स्थिति में यदि व्यक्ति के अन्दर धृति है तो शीघ्र ही उस व्यक्ति के मन का नियमन हो जाता है और वह शोक, उद्वेग आदि विकारों से ग्रस्त नहीं होता, जिससे सन्तुलित मन यह विचार कर लेता है कि मुझे क्या करना चाहिए तथा इस अवस्था में किन-किन स्थितियों का सामना करना पड़ सकता है। ऐसा विचार कर वह हर परिस्थिति हेतु तैयार होकर चिकित्सालय या उस स्थान-विशेष तक जाकर यथासम्भव अपने सम्बन्धी की प्राणरक्षा हेतु तत्पर हो जाता है। जब व्यक्ति के अन्दर धृति नहीं होती तो उस व्यक्ति के मन का नियमन नहीं हो पाता, परिणामत: वह शोकादि मनोवेगों से युक्त होकर मूच्छित हो जाता है या रोता-चिल्लाता है। मन का नियमन न होने के कारण उसकी बुद्धि भी कार्य नहीं कर पाती है। वह किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो जाता है, उसके समक्ष में नहीं आता कि क्या करना चाहिए और क्या नहीं करना चाहिए। इस प्रकार के अनेकों उदाहरण दैनिक जीवन में देखने को मिलते हैं। आज समाज में बढ़ती हुई अराजकता, हिंसा, अन्य प्रकार की अपराध प्रवृत्तियाँ धृति-भ्रंशता के उदाहरण हैं। मनुष्य की बढ़ती हुई भौतिक महत्त्वाकांक्षा धृतिभ्रंशता की स्थिति में आपराधिक प्रवृत्ति की ओर प्रेरित करती है। यदि धृति विद्यमान रहती है तो इन प्रवृत्तियों से मन का नियमन हो जाता है और वह व्यक्ति सन्मार्ग का अनुसरण करते हुए सन्तुष्टि के साथ शांतिपूर्ण जीवन-यापन करता है; परन्तु धृतिभ्रंशता की स्थिति में व्यक्ति भौतिक महत्त्वाकांक्षा द्वारा प्रेरित होकर आपराधिक प्रवृत्ति में इस तरह आसक्त हो जाता है कि बम-विस्फोट जैसे भयंकर कर्म से सामूहिक नरसंहार तक कर डालता है। इस तरह उपर्युक्त कतिपय उदाहरणों द्वारा यह स्पष्ट होता है कि, धृति विद्यमान रहने पर मन का नियमन होता है तथा धृति-भ्रंशता की स्थिति में मनुष्य द्वारा अनेक प्रकार के प्रज्ञापराध होते हैं। अब विचार-

णीय विषय यह है कि धृतिभ्रंशता कैसे होती है तथा इससे सम्बन्धित अन्य पहलुओं पर आयुर्वेद की अवधारणा क्या है ? शरीरगत तीन भावों को चञ्चल कहा गया है- प्राण, मन तथा शुक्र । गीता में कहा गया है कि 'चंचल हि मनः कृष्ण प्रमाथी बलवद्दृढम् ।' अर्थात् मन चञ्चल होता है तथा इन्द्रियों को मथने वाला होता है । शुक्र अपनी सरता, द्रुतगतिता अणुत्व गुण के कारण चञ्चल होता है, परन्तु यही शुक्र धैर्य अथवा धृति का कारण होता है—'शुक्रं धैर्यं च्यवनं प्रीतिर्देहबलम्···।'—सु० सू० १५।५ । शरीरगत कफ के कारण शरीर में धृति विद्यमान रहती है—'धृतिक्षमालोभश्च कफकर्माऽविकारजं ।' यहाँ ध्यातव्य है कि शुक्र भी कफवर्ग का है—'कफवर्गे भवेद्शुक्रं पित्तवर्गे तु शोणितम् ।' इस प्रकार कफज गुणों व धृति में गहरा सम्बन्ध है । इन्द्रिय-सापेक्ष कर्मों में मन का नियमन वायु करता है, क्योंकि वायु व मन दोनों चञ्चल हैं । वायु के आशु, सूक्ष्म गुण मन के प्रणेता होते हैं तथा अपने लघु, आशु, सूक्ष्म गुणों के साथ अपनें नैसर्गिक गुण—स्पर्श से मन का नियमन करते हैं । यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो नियमन करने में वायु के स्पर्श गुण की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है । परन्तु मन जब इन्द्रिय-निरपेक्ष विषयों में आसक्त होता है तो इस स्थिति में इसका नियमन धृति द्वारा होता है । यह धृति शरीरगत कफवर्गीय द्रव्यों की (कफ, शुक्रादि) अपेक्षा करती है, जो वायु के ठीक विपरीत गुण वाले हैं । इसका तात्पर्य यह है कि धृति के उत्पादक भाव कफ, शुक्रादि के गुरुता, स्थिरता गुण से चञ्चल मन का नियमन होता है तथा मनुष्य धारणीय वेगों का धारण कर पाता है । धृतिभ्रंशता के कारण में रज व तम को भी परोक्ष तथा प्रत्यक्ष रूप से स्वीकार किया गया है । भग० गीता में तीन प्रकार की धृतियाँ कही गई हैं, जिसमें मन के नियमन करने वाली धृति सात्त्विक होती है । यथा—

धृत्या यथा धारयते मनः प्राणेन्द्रियक्रियाः ।
योगेनाव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ सात्त्विकी ।

(भ० गीता, १८।३३)

अर्थात् ध्यान, योग तथा जिस एकाग्र धृति से मन, प्राण और इन्द्रियों द्वारा क्रियायें धारण की जाती है उसे सात्त्विक धृति कहते है । कठोपनिषद् में भी इससे मिलता-जुलता तथ्य प्राप्त होता है—

यदा पंचावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह ।
बुद्धिश्च न विचेष्टेते तामाहुः परमां गतिम् ।।

राजसिक धृति के सम्बन्ध में कहा गया है कि—

यया तु धर्मकामार्थान् धृत्या धारयतेऽर्जुन ।
प्रसंगेन फलाकांक्षी धृतिः सा पार्थ राजसी ।।

(भ० गीता, १८।३४)

अर्थात् मनुष्य फल प्राप्त करने की आकांक्षा से जिस धृति द्वारा धर्म, अर्थ तथा काम जैसे पुरुषार्थों का धारण करता है उसे राजसिक धृति कहते हैं।

'यथा स्वप्नं भयं शोकं विषादं मदमेव च।
न विमुञ्चति दुर्मेधा धृतिः सा पार्थ तामसी'॥
(भ० गीता, १८।३५)

अर्थात् जिस धृति से दुष्ट बुद्धि वाला मनुष्य निद्रासेवन, भय, शोक, विषाद एवं मद आदि का त्याग नहीं कर पाता वह तामसी धृति है। इस प्रकार रज व तम दोष की उत्कटता के कारण धृति अपना सामान्य कर्म मनोनियमन नहीं कर पाती है; जिससे मनुष्य का मन अनुचित अर्थ व काम की प्राप्ति में आसक्त तथा आलस्य, भय, विषाद व शोकादि से युक्त होकर अनेक प्रकार के प्रज्ञापराध करता है।

३. **स्मृति-भ्रंशता**—प्रज्ञापराध का तीसरा कारण स्मृति को माना गया है। स्मृतिभ्रंशता के सम्बन्ध में कहा गया है कि—

'तत्त्वज्ञाने स्मृतिर्यस्य रजोमोहावृतात्मनः।
भ्रश्यते या स्मृतिभ्रंशः स्मर्तव्यं हि स्मृतौ स्थितम्॥
(च० शा० १।१०१)

अर्थात् जो विषय स्मृति में स्थित होते हैं, उन्हें पुनः स्मरण से चिन्तनादि करना स्मृति का कार्य है। जब स्मृतिभ्रंशता होती है तो यथार्थ ज्ञान-विषयक अर्थों का स्मरण नहीं रह पाता, जिसके फलस्वरूप मनुष्य अयथार्थ ज्ञान में प्रवृत्त होता है। इस स्मृतिभ्रंशता का कारण भी मन का रज व तम दोष की उत्कटता से युक्त होना ही कहा गया है। जैसे किसी व्यक्ति को हितकारी वस्तुओं का उपदेश दिया गया; यदि उसकी स्मृति सम्यक् रूप से कार्य करती है तो वह स्मरण द्वारा मन में हितकारी विषय को ही विचार के रूप में लायेगी, परन्तु स्मृतिभ्रंशता की स्थिति में उस व्यक्ति के मन में अहितकारी विषय ही आयेंगे; जो परिणामतः दुःखकर होते हैं। यहाँ आचार्य ने 'स्मर्तव्यं हि स्मृतौ स्थितम्' कहा है अर्थात् यथार्थ स्मृति में स्मरण करने योग्य सभी विषय स्थित होते हैं। स्मृति के सम्बन्ध में योगदर्शन में कहा गया है कि—'अनुभूत-विषयस्यासम्प्रमोषः स्मृति।' अर्थात् भूतकाल में अनुभूत कोई विषय जब वर्तमानकाल में मानस पटल पर उद्घाटित होता है तो उसे स्मृति कहा जाता है। मानव का पुराना अनुभव स्मृति के रूप में संचित रहता है, जिसके आधार पर वह उन्नति करता है। ये अनुभव आत्मगुण-प्रकाशन में सहायक होते हैं। हम अपनी स्मृति का जितने अंश में लाभ उठा सकते हैं, उसी अनुपात में आत्मगुण-प्रकाशन हो सकता है। विचार, कल्पनादि स्मृति पर ही आधारित होते है। उसके अभाव में विचारादि नहीं किया जा सकता। जैसे—जब हमारा मन किसी विषय का ग्रहण करता है तो उस विषय के गुण-दोष पर पुनः-पुनः विचार करता है। यदि उस गुण-दोष का

पुर्वानुभूत ज्ञान स्मृति में संचित नहीं है तो विचार नहीं किया जा सकता। इस प्रकार जब हम किसी विषय का अनुभव करते हैं, तो वह हमारे मन में स्थिर हो जाता है, पुनः हम उस अनुभूत संस्कार को जब उद्बोधित करते हैं, तो उसे स्मृति कहा जाता है। पुर्वानुभूत विषयों के प्रकटीकरण के लिए तीन तथ्य आवश्यक होते हैं—१. अनुभव का मन में स्थिर रहना, २. उसका पुनः मानस पटल पर आना तथा ३. उसका अपने पुराने अनुभव के पहचान के रूप में आना। आचार्य चरक ने कहा है कि 'जब संसार में उत्पन्न वस्तुओं के नश्वर स्वभाव का स्मरण हो जाता है तो मनुष्य दुःखों से मुक्त हो जाता है--'स्मृत्वा स्वभावं भावानां स्मरन् दुःखात् प्रमुच्यते' (च० शा० १।१४-)। आचार्य ने स्मृति के अन्तर्गत कतिपय भावों का भी उल्लेख किया है, उन भावों को उपाय भी कहा जा सकता है—'स्मृति सद्सेवनाद्यैश्च धृत्यन्तैरुपजायते।' इसके अतिरिक्त मोक्ष के उपायों को भी स्मृतिजन्य उपाय ही कहा गया है—'तत्त्वस्मृतेरूपस्थानात् सर्वमेतत् प्रवर्तते।' इस प्रकार आयुर्वेद में स्मृति की भूमिका का उल्लेख प्राप्त होता है।

आचार्य चरक ने स्मृति के निम्न आठ कारण बतलाये हैं—

वक्ष्यन्ते कारणान्यष्टौ स्मृतिर्यैरुपजायते ।
निमित्तात् रूपग्रहणात् सादृश्यात् सविपर्ययात् ॥
सत्त्वानुबन्धादभ्यासाज्ज्ञानयोगात् पुनः श्रुतात् ।
दृष्टश्रुतानुमानानां स्मरणात् स्मृतिरुच्यते ॥

(च० शा० १।१४८-१४९)

अर्थात् स्मृति के आठ कारण होते हैं—१. निमित्त से (कारण को देखकर कार्य का स्मरण हो जाना; यथा सूत को देखकर कपड़े का स्मरण), २. सादृश्य से--समान रूप वाली वस्तु को देखकर स्मरण होना; यथा किसी समान रूप वाले व्यक्ति को देखकर मित्रादि का स्मरण, ३. रूपग्रहण से—यथा वन में गवय के रूप ग्रहण से गो का स्मरण होना, ४. विपरीत वस्तु से—विपरीत वस्तु के देखने या संयोग होने से स्मरण होता है--यथा स्वादरहित आहार-सेवन से पूर्व में खाए गये स्वादिष्ट व्यञ्जनों का स्मरण, ५. सत्त्वानुबन्ध से—मन का स्मरण-योग्य विषयों के ग्रहण करने से, ६. अभ्यास से—यदि किसी वस्तु का बार-बार प्रत्यक्ष किया जाता है तो इसके संस्कार इतने प्रवल हो जाते हैं कि उसका स्मरण शीघ्र हो जाता है। ७. ज्ञान योग से—ज्ञान योग से स्मृति में यथार्थ विषय संचित होते हैं, ८. पुनः श्रुतात्—किसी विषय को पुनः सुन लेने पर पुर्वानुभूत विषय पुनः उद्बोधित हो जाते हैं।

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि प्रज्ञापराध क्या है? इसकी प्रक्रिया क्या है? तथा इसके धारक भाव क्या हैं? उनकी भ्रंशता क्या होती है? तथा सामान्य स्थिति में ये कैसे प्रज्ञा को धारण करते हैं।

आचार्य चरक प्रज्ञापराध को पारिभाषित करने के बाद निम्नोक्त कतिपय उदाहरणों द्वारा यह स्पष्ट करते हैं कि—मनुष्य किस प्रकार के अशुभ कर्मों को धी, धृति व स्मृति-भ्रंशता के कारण करता है; यथा—

उदीरणं गतिमतामुदीर्णानां च निग्रहः ।
सेवनं साहसानां च नारीणां चातिसेवनम् ॥
कर्मकालातिपातश्च मिथ्यारम्भश्च कर्मणाम् ।
विनयाचारणोपश्च पूज्यानां चाभिघर्षणम् ॥
ज्ञातानां स्वयमर्थानामहितानां निषेवणम् ।
परमौन्मादिकानां च प्रत्ययानां निषेवणम् ॥
अकालादेशसंचारी मैत्री संक्लिष्टकर्मभिः ।
इन्द्रियोपक्रमोक्तस्य सद्वृतस्य च वर्जनम् ॥
ईर्ष्यामानभयक्रोधलोभमोहमदभ्रमाः ।
प्रज्ञापराधं तं शिष्टा ब्रुवते व्याधिकारणम् ॥
(च० शा० १।१०३-१०९)

अर्थात्—१. अधारणीय वेगों का धारण करना या बलपूर्वक उनको निकालना। २. अधिक साहसजन्य कर्मों को करना, ३. अत्यधिक मैथुन करना, ४. कार्य करने में समय की उपेक्षा करना, ५. पञ्चकर्म का अनुचित प्रयोग करना। ६. विनय व सदाचार छोड़ देना, ७. स्वयं जानते हुए भी अहित विषयों का सेवन करना, ८. उन्मादोत्पादक कारणों का सेवन करना, ९. अकाल में व निषिद्ध स्थानों पर भ्रमण करना, १०. नीच कर्म करने वालों से मित्रता करना, ११. ईर्ष्या अभिमान, भय, क्रोध, लोभ, मोह, मद तथा भ्रम का होना, १२. ईर्ष्यावश निन्दित कर्मों में प्रवृति होना, १३. अन्य कोई कार्य जो रज व तम से युक्त होकर किया जाता है—ये सभी प्रज्ञापराध हैं।

प्रज्ञापराध व्याधियों का मूल कारण—वैसे तो व्याधियों के तीन कारण—असात्म्येन्द्रियार्थ संयोग, प्रज्ञापराध व परिणाम–कहे गये हैं। उसमें भी यदि सूक्ष्म दृष्टिपात किया जाय तो यह स्पष्ट होता है कि व्याधियों का मूल कारण प्रज्ञापराध ही है, क्योंकि व्याधियों का प्रथम कारण असात्म्येन्द्रियार्थ संयोग प्रज्ञापराधजन्य ही है। यदि धी, धृति, स्मृति अपने यथोचित कर्म में तत्पर हों तो इन्द्रियों के साथ विषयों का यथोचित संयोग होगा, परन्तु यदि ये तीनों भ्रंशावस्था में होते हैं तो इन्द्रियार्थ संयोग सात्म्य न होकर असात्म्य होता है, जिसे असात्म्येन्द्रियार्थ संयोग कहा गया है। इसका संकेत भी प्रज्ञापराधजन्य लक्षणों में दिया गया है—'ज्ञातानां स्वयमर्थानामहितानां निषेवणम्।' इस प्रकार मनुष्य जब इन्द्रियों के द्वारा विषयों से हीन, मिथ्या या अतिशय रूप में सम्पर्क स्थापित करता है तो वह प्रज्ञापराधजन्य ही है। यथा—

एक व्यक्ति लगातार टी० वी०, बी० डी० ओ० देखता है, या शोर-गुल वाला संगीत सुनता है अथवा अतिशय रूप में मधुर रस का सेवन करता है या हीन रूप में मधुर रस का सेवन करता है तो इन स्थितियों को तो असात्म्येन्द्रियार्थ संयोग कहा जाता है, परन्तु इसका कारण प्रज्ञापराध ही है; क्योंकि समीचीन क्रियारत प्रज्ञा से जब भी इन्द्रियों का विषयों से सम्पर्क होगा वह सात्म्येन्द्रियार्थ ही होगा अर्थात् इन्द्रिय व विषय का सम्पर्क सात्म्य (हितकर) होगा, परन्तु तीनों को भ्रंशावस्था में बुद्धि अनुचित निर्णय लेगी, जिससे असात्म्य संयोग होता है। इसी प्रकार यदि प्रज्ञा समीचीन क्रियायुक्त रहती है तो परिणाम (काल) के अति, हीन व मिथ्यायोग की स्थिति में कालानुसार स्वास्थ्यानुवर्त्तन में सामंजस्य स्थापित कर लिया जाता है, परन्तु धी, धृति स्मृति की भ्रंशावस्था में प्रज्ञा कालानुसार व्यवहार करने का निर्णय न लेकर अयथार्थ निर्णय लेती है, जो कि व्याधियों का कारण है। यथा—यदि शीत-ऋतु में वर्षा होने लगे या उष्णता हो जाय तो अपना आहारादि कालानुसार करने से स्वास्थ्यानुवर्त्तन होता है। यदि वर्षाऋतु में शीत वातावरण होकर मिथ्यायोग की स्थिति में समीचीन क्रियारत प्रज्ञा उष्ण वस्त्र-धारण व शीत से रक्षा हेतु व्यवहार का निर्णय लेती है, परन्तु धी आदि की भ्रंशावस्था में व्यक्ति मान लेता है कि इस समय वर्षाकाल है तथा इसमें उष्ण वस्त्र धारण अपेक्षित नहीं होगा। परिणामतः वह रोगग्रस्त हो जाता है। इसी प्रकार आगन्तुज रोगों का मूल कारण भी प्रज्ञापराध ही माना गया है—

'ये भूत विषवाय्वग्निसंप्रहारादि संभवाः ।
नृरामागन्तवो रोगाः प्रज्ञातेष्वपराध्यति ॥
ईर्ष्याशोकभयक्रोधमानद्वेषादयश्च ये ।
मनोविकारास्तेऽप्युक्ताः सर्वे प्रज्ञापराधजाः' ॥

(च० सू० ७।५१-५२)

अर्थात् भूतादि, विष-भक्षण, झंझावात, अग्निदग्ध, आघातादि से होने वाली विभिन्न व्याधियाँ (आगन्तुज व्याधियाँ) तथा ईर्ष्या-शोक-भय-क्रोध, अहंकार व द्वेष आदि मनो विकार, ये सभी प्रज्ञापराधजन्य हैं, अर्थात् इनका कारण प्रज्ञापराध ही है। पुनः आचार्य आगन्तुज उन्माद प्रकरण में कहते हैं—

प्रज्ञापराधात् संभूते व्याधौ कर्मज आत्मनः ।
नाभिशंसेद् बुधो देवान्न पितृनापि राक्षसान् ॥

(च० नि० ७।२४)

अर्थात् प्रज्ञापराध के कारण अपने द्वारा किये गये बुरे कर्मों के परिणामस्वरूप उत्पन्न व्याधि को देव, पितृ, राक्षसादि द्वारा उत्पन्न नहीं कहना चाहिए, क्योंकि व्याधि का कारण देव, पितृ, राक्षसादि ग्रह नहीं; बल्कि मनुष्य स्वयं होता है—

'नैव देवा न गन्धर्वा न पिशाचा न राक्षसाः ।
न चान्ये स्वयमक्लिष्टमुपक्लिशन्ति मानवम् ॥
(च० नि० ७।१९)

जनपदोद्ध्वंस प्रकरण में जनपदोद्ध्वंस का कारण भी आचार्य मूलरूप में प्रज्ञापराध को ही स्वीकार करते हैं--

'वाय्वादीनां यद्वैगुण्यमुत्पद्यते तस्य मूलमधर्मः, तन्मूलं वाऽसत्कर्म पूर्वकृतं, तयोर्योनि प्रज्ञापराध एव ।' (च० वि० ३।२०)

अर्थात् वायु आदि का दूषण अधर्म से होता है या उसका मूल पूर्वजन्मकृत बुरे कर्म होते हैं तथा इन दोनों (अधर्म व पूर्वकृत् बुरे कर्म) का मूल कारण प्रज्ञापराध ही होता है। निज रोगों के सम्बन्ध में, जैसा कि परिणाम व असात्म्येन्द्रियार्थ संयोग-जन्य व्याधियों का मूल कारण भी प्रज्ञापराध ही है, इस सन्दर्भ के प्रारम्भ में ही कहा गया है, उसको आचार्य चरक ने निम्न रूप में कहा है—'इति त्रिविधविकल्पं त्रिविधमेव कर्म प्रज्ञापराध इति व्यवस्येत् ।'--च० सू० ११।४१ । अर्थात् इस प्रकार त्रिविध विकल्प (अतियोग, अयोग तथा मिथ्यायोग) तथा विविध कर्म (वाणी, मन व शरीर से किया गया कर्म) प्रज्ञापराध ही हैं । इस प्रकार आचार्य ने निज, आगन्तुज, कर्मज, पूर्वजन्मकृत, अधर्मजन्य, आधिदैविक—सभी व्याधियों का मूल कारण प्रज्ञापराध माना है ।

प्रज्ञापराधवाद का सिद्धान्त—आयुर्वेद में यह अवधारणा आधुनिक काल में अभी प्रचलित नहीं है कि प्रज्ञापराधवाद का सिद्धान्त क्या है, किस सिद्धान्त के आधार पर प्रज्ञापराधवाद की स्थापना हुई । इसके दार्शनिक आधार के सम्बन्ध में तो चर्चा की जा चुकी है । च० नि० अ० ७ उन्माद-निदान प्रकरण में आचार्य चरक ने कहा है कि कर्मज या आत्मज व्याधियाँ प्रज्ञापराध के कारण ही उत्पन्न होती हैं, अतः देवादि को कारण नहीं कहना चाहिए । इसी सन्दर्भ में एक श्लोक है जो प्रज्ञापराध-वाद की आधारशिला हो सकती है, अतः उसे यहाँ प्रज्ञापराधवाद के सिद्धान्त रूप में प्रस्तुत किया जा रहा है ।

आत्मानमेव मन्येत कर्त्तारं सुखदुःखयोः ।
तस्माच्छ्रेयस्करं मार्गं प्रतिपद्येत नोत्रसेत् ॥
(च० नि० ७।२२)

अर्थात् सुख व दुःख का कर्त्ता स्वयं को मानना चाहिए, अतः श्रेयस्कर कल्याण-कारी मार्ग का अनुसरण करना चाहिए ।

सिद्धान्त—मनुष्य वा अन्य प्राणि अपने सुख-दुःख का कारण स्वयं है । सुख-दुःख उसके अपने द्वारा किये गये कर्मों का ही परिणाम है । श्रेयष्कर मार्गानुसरण कल्याणदायक (सुखदायक) होता है तथा अमार्गानुसरण दुःख का कारण होता है ।

प्रज्ञापराधवाद की उपादेयता

प्रज्ञापराधवाद आयुर्वेद की विशिष्ट अवधारणा है। आयुर्वेदानुसार इस सृष्टि के समस्त प्राणियों की सभी प्रवृत्तियां सुख के लिए होती हैं, पर मार्गामार्ग का अनुसरण करते हुए मनुष्य सुख-दुःख की प्राप्ति करता है। प्रज्ञापराध की उपादेयता मनुष्य के लिए सबसे प्रमुख यह है कि मानव अपने कष्टों का कारण स्वयं है। अतः अपने कर्मों की समीक्षा कर ही कर्म में प्रवृत्त होना चाहिए। सामाजिक स्तर पर प्रज्ञापराध की उपादेयता यह है कि प्रज्ञापराध का त्याग कर समाज को पूर्णं स्वस्थ किया जा सकता है। यदि विश्व में पूर्णं स्वास्थ्य की कल्पना की जाती है तो उसका सर्वसुलभ; सरल, अर्थव्ययं हीन उपाय प्रज्ञापराध को रोकना ही है, अन्यथा स्वस्थ समाज की कल्पना नहीं की जा सकती। आज समाज में बढ़ती अराजकता, हिंसा, नरसंहार आदि प्रज्ञापराध के ही लक्षण हैं। यदि प्रज्ञापराधवाद को जनसामान्य में प्रचारित कर इसकी प्रक्रिया व परिणाम बतलाये जायं तो संभवतः कुछ अंशों में स्वास्थ्य समस्या इस धन व्ययहीन उपाय से हल हो सकती है। यदि प्रज्ञापराध को एक अपराध रूप में जनसामान्य द्वारा ग्रहण किया जाता है तो अधिकतर स्वास्थ्य समस्या का समाधान हो जायेगा। आधुनिक काल में प्रज्ञापराधजन्य भयंकर व्याधि एड्स, तपेदिक, कैंसर आदि बढ़ते जा रहे हैं, जिन्हें यदि प्रारम्भिक स्तर पर ही न रोका जायेगा तो औषधि-प्रयोग व वैक्सीन का प्रयोग भी एड्स को रोक नहीं पायेगा। यदि औषध-प्रयोग से दस रोगी स्वस्थ होंगे तो सौ नये रोगी सूचीबद्ध होंगे। इस स्थिति में प्रज्ञापराधवाद की अवधारणा ही इन रोगों के मूलोच्छेद हेतु सक्षम है।

इस अवधारणा की प्रक्रिया व परिणाम अब सामने आते जा रहे हैं। आज मनुष्य शारीरिक व्याधियों के अतिरिक्त अनेक प्रकार के मानसिक व्याधियों से ग्रसित है, जिसका कारण वह स्वयं है परन्तु इस तथ्य से वह अनभिज्ञ है, अतः यहाँ प्रज्ञापराधवाद उपादेय सिद्ध हो सकता है। जब मनुष्य यह समझ जाता है कि अमुक दुःख मेरे कर्मों का परिणाम है तो वह कर्म व कर्मफल दोनों से मुक्त हो जाता है। प्रज्ञापराध के अवधारणा की उपादेयता स्वस्थ व आतुर दोनों में समान रूप से है। प्रज्ञापराध में प्राथमिक भूमिका धृति की होती है; क्योंकि इसे मन का नियामक कहा गया है। अतः आज मानव में, इस अवधारणा (प्रज्ञापराधवाद) के अनुसार, धृतिस्थापन द्वारा अधिकतम समस्याओं का निदान किया जा सकता है। प्रज्ञापराध से धृतिभ्रंशता में वृद्धि होती है। आयुर्वेद में धृति स्थापना हेतु तथा प्रज्ञापराध रोकने के उपाय वर्णित हैं, उनके अनुसरण द्वारा प्रज्ञापराध को रोका जा सकता है। प्रज्ञापराध की उपादेयता पर स्वतंत्र ग्रन्थ-रचना हो सकती है, परन्तु इसकी उपादेयता से प्रायः सभी परिचित है। अतः यहाँ औपचारिक रूप में उसकी उपादेयता का संकेतमात्र किया गया है। विद्वान् पाठक इसकी उपादेयता से भलीभाँति परिचित है।

अध्याय—३२

लिङ्गपुरुषवाद

लिङ्गपुरुष के सम्बन्ध में सा० का० में कहा गया है कि—

पूर्वोत्पन्नमसक्तं नियतं महदादिसूक्ष्मपर्यन्तम् ।
संसरति निरुपभोगं भावैरधिवासितं लिङ्गम् ॥
चित्रं यथाश्रयमृते स्थाण्वादिभ्यो बिना यथा छाया ।
तद्वद्विना विशेषैर्न तिष्ठति निराश्रयं लिङ्गम् ॥

(सां० का० ४०।४१)

उपर्युक्त श्लोक में लिङ्गशरीर के आविर्भाव तथा लिङ्गशरीर या लिङ्गपुरुष को पारिभाषित किया गया है। लिङ्गशरीर या लिङ्गपुरुष की उत्पत्ति के सम्बन्ध में कहा गया है कि—लिङ्गपुरुष प्रारम्भ काल में प्रधान से अलग-अलग उत्पन्न किया गया है। लिङ्ग पुरुष असक्त और नियत होता है। यह महत्तत्व, अहंकार, मन, दस इन्द्रियाँ और पञ्च तन्मात्रायें—कुल अठारह तत्त्वों का समूह है। वह स्थूल शरीर के बिना नहीं रह सकता अथवा बिना स्थूल शरीर के भोग का स्थान नहीं बना सकता, अतः धर्म-अधर्म आदि आठ वासनाओं से युक्त होकर संसरण करता है। पुनः एक उदाहरण द्वारा स्थूल शरीर के आश्रय से रहने को स्पष्ट किया गया है कि, जिस प्रकार आश्रय के बिना चित्र, वृक्षादि के बिना छाया नहीं रह सकती, उसी प्रकार स्थूल-शरीर के बिना लिङ्गशरीर या लिङ्गपुरुष नहीं रह सकता है। यहाँ लिङ्गपुरुष के सम्बन्ध में यह अवधारणा प्रस्तुत की गई है कि—लिङ्गपुरुष सृष्टि के प्रारम्भ में सर्वप्रथम महान्, अहंकार, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ पाँच कर्मेन्द्रियाँ, एक उभयेन्द्रिय मन, पञ्चतन्मात्रायें—इन अठारह तत्त्वों के समुदाय रूप में प्रति पुरुष अलग-अलग उत्पन्न होता है। सांख्य सूत्र में 'सप्तदशकं लिङ्गम्' कह कर इसे सत्रह तत्त्वों का समुदाय बतलाया गया है। यहाँ अहंकार का उल्लेख लिङ्गपुरुष में नहीं किया गया है। इस प्रकार अहंकार को छोड़कर शेष सत्रह को लिङ्गपुरुष कहा गया है। इस लिङ्गपुरुष को स्थावर, जङ्गम सभी पदार्थों में अव्याहत रूप में प्रवेश करने वाला कहा गया है; परन्तु सूक्ष्म होने के कारण वह बद्ध नहीं होता है। इसे महाप्रलय तक ठहरने वाला कहा गया है। यह आठ भावों से युक्त होता है। इसके आठ भाव धर्म-अधर्म, ज्ञान-अज्ञान, वैराग्य-अवैराग्य, ऐश्वर्य-अनैश्वर्य होते हैं। इन भावों से युक्त होकर ही यह संसरण करता रहता है।

लिङ्गपुरुषवाद का सम्बन्ध पुनर्जन्म से है अथवा मृत्यु के उपरान्त शरीर से निकलने वाले सूक्ष्म भावों से है। उपर्युक्त पंक्तियों में सर्वप्रथम सांख्य की अवधारणा

का निरूपण किया गया है, ताकि आयुर्वेद में उपलब्ध अवधारणा शीघ्र बोधगम्य हो जाय। भारतीय दर्शनों एवं आयुर्वेद का मत है कि जब तक आत्मा के साथ रज व तम संयुक्त रहते हैं तब तक प्राणी को जन्म-मृत्यु के चक्र में रहना पड़ता है। मृत्यु के उपरान्त पुनः किसी योनि में जन्म लेना पड़ता है। यह क्रिया तब तक निरन्तर चलती रहती है जब तक रज व तम आत्मा से पृथक् नहीं हो जाते। प्रायः लोक-व्यवहार में कहा जाता है कि मृत्यु के बाद शरीर से आत्मा निकल जाती है तथा पुनः दूसरे शरीर को धारण करती है, परन्तु आत्मा तो निष्क्रिय है, उसमें किसी प्रकार की गति नहीं होती, फिर वह एक शरीर से दूसरे शरीर में जाती कैसे है? यदि निर्विकार आत्मा शरीर से निकलती है तो निर्विकार होने के कारण उसका मोक्ष अर्थात् अपने कारण में विलीन हो जाना चाहिए या जन्म-मृत्यु के चक्र से उसका कभी-भी छुटकारा नहीं होना चाहिए। परन्तु ऐसा होता नहीं है। इसका अभिप्राय यह है कि आत्मा निश्चित रूप में किसी अन्य रूप में या अंन्य भावों से युक्त होकर शरीर के बाहर निकलती है। इस पर सांख्य शास्त्र ने अपना विचार उपर्युक्त श्लोक के आधार पर यह रखा कि मृत्यु के बाद शरीर में मात्र स्थूल महाभूत रह जाते हैं। शेष एकादश इन्द्रियां, पञ्चतन्मात्रा और अहंकार, महान्—ये अठारह सूक्ष्म रूप में शरीर से निकल जाते हैं तथा पुनः नूतन शरीर धारण करते हैं। इस प्रकार इन अठारह तत्त्वों का जो समूह है वह स्थायी रूप से संगठित हो जाते हैं तथा जन्म-मृत्यु के चक्र में यह लिङ्गशरीर या लिङ्गपुरुष बँध जाता है अर्थात् मृत्यु होने पर पुनः नया शरीर धारण करता है। श्रीमद् भगवत गीता में भी कहा गया है कि—

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही॥

(भ० गी० २।२२)

अर्थात् जिस प्रकार मनुष्य पुराने वस्त्र को छोड़कर नवीन वस्त्र धारण करता है, उसी प्रकार जीवात्मा एक शरीर को छोड़कर दूसरे शरीर को धारण करती है इस प्रकार लिङ्गशरीर या लिङ्गपुरुष की अवधारणा सभी आस्तिक दर्शनकारों ने स्वीकार की है। योगदर्शन में भी पुनर्जन्म को स्वीकार कर अप्रत्यक्ष रूप से लिङ्ग-पुरुष की अवधारणा स्वीकार की गई है—'संस्कारसाक्षात्करणात् पूर्वजातिज्ञानम्।'—यो० द०, वि० पा० १८। अर्थात् संस्कार के द्वारा साक्षात् करने से पूर्वजन्म का ज्ञान होता है। अब लिङ्गपुरुष से सम्बन्धित आयुर्वेदीय अवधारणा पर विचार करना है। आयुर्वेद के चरकसंहिता में लिङ्गपुरुष से सम्बन्धित तथ्यों का विशद रूप में वर्णन किया गया है। चरकसंहिता, सूत्रस्थान, अ० ११ में पुनर्जन्म का वर्णन किया गया है तथा इसे चतुर्विध प्रमाणों से प्रमाणित भी किया गया है, जिसका विस्तृत विवेचन पुस्तक के प्रथम भाग में किया जा चुका है। यहाँ लिङ्गपुरुष से सम्बन्धित विषयों पर ही प्रकाश डालना है। लिङ्गपुरुष के सम्बन्ध में कहा गया है कि—

भूतैश्चतुर्भिः सहितः स सूक्ष्मैर्मनोजवो देहमुपैति देहात् ।
कर्मात्मकत्वान्न तु तस्य दृश्यं दिव्यं विना दर्शनमस्तिरूपम् ।।
(च० शा० २।३१)

अर्थात् मनोजव आत्मा (मन के साथ युक्त होकर गमन करने वाली आत्मा को मनोजव कहा जाता है । जब आत्मा चेतन होते हुए भी क्रियाहीन होती है तो इस स्थिति में वह गति नहीं कर सकती । मन जड़ होते हुए भी क्रियायुक्त होता है । जब आत्मा व मन का संयोग होता है तो आत्मा से चेतना का ग्रहण मन द्वारा होता है एवं मन क्रिया प्रारम्भ कर देता है । आत्मा मन के साथ युक्त होकर ही गति कर सकता है, अतः इसके लिए मनोजव पद का व्यवहार किया गया है) आकाश को छोड़कर चार—वायु, अग्नि, जल व पृथ्वी महाभूतों के सूक्ष्मातिसूक्ष्मरूप मन के साथ मृत शरीर को छोड़कर पुनः नूतन शरीर को धारण करते हैं । जीर्ण शरीर का त्याग कर नूतन शरीर का धारण करना यह पूर्व शरीर के द्वारा किये गये कर्मों के आधार पर होता है । पूर्व शरीर को छोड़कर नूतन शरीर को धारण करने की प्रक्रिया सामान्य जनसमूह को दिखलाई नहीं पड़ती, परन्तु जिन लोगों को तपस्या योगादि के द्वारा दिव्यदृष्टि प्राप्त है, वे लोग इस प्रक्रिया को देख भी सकते हैं । अतः जब तक दिव्य दृष्टि नहीं प्राप्त होती है, तब तक आत्मा का साक्षात्कार नहीं हो पाता है । योगियों के लिए यह कार्य संभव होता है । जैसाकि पूर्व में भी उद्धृत किया गया है तथा योगदर्शन के विभूतिपाद के १८वें सूत्र में कहा गया है कि—'संस्कार-साक्षात्करणात् पूर्वजातिज्ञानम्' । अर्थात् संस्कार द्वारा पूर्वजन्म की बातों या पूर्वजन्म का साक्षात् ज्ञान होता है ।

सांख्य में लिङ्गपुरुष को अठारह अथवा सत्रह, तत्त्वों का समुदाय कहा गया है; परन्तु यहाँ आचार्य ने चार महाभूत व मनोजव आत्मा—इन छः का ही उल्लेख किया है । चरकसंहिता के हिन्दी टीककार प्रो० गो० ना० चतुर्वेदी व डा० का० ना० शास्त्री ने चार भूतों से चार तन्मात्राओं का ग्रहण किया है, परन्तु आचार्य चरक ने सांख्योक्त तन्मात्राओं को भूतों के गुण के रूप में स्वीकार किया है—

'महाभूतानि खं वायुरग्निरापः क्षितिस्तथा ।
शब्दः स्पर्शश्च रूपं च रसो गन्धश्च तद्गुणाः ।।' (च० शा० १।२७ ।)

इस प्रकार 'भूतैश्चतुर्भिः' से चार सूक्ष्मभूतों का ही ग्रहण करना चाहिए; क्योंकि आचार्य चरक को जहाँ शब्दादि के वर्णन की आवश्यकता प्रतीत हुई है, वहाँ उन्होंने गुण पद का ही प्रयोग किया है, न कि भूत पद का । यथा—

'तेषामेकः गुणः पूर्वो गुणवृद्धिः परे परे ।
पूर्वः पूर्वगुणश्चैव क्रमशो गुणिषु स्मृतः ।।' (च० शा० १।२८)

चरकसंहिता में इन्द्रियादि की उत्पत्ति में भी सीधे भूतों की ही भूमिका स्वीकार की गई है, न कि तन्मात्राओं की या गुणों की—

'एकैकाधिकयुक्तानि खादीनामिन्द्रियाणि तु ।
पञ्चकर्मानुमेयानि येभ्यो बुद्धिः प्रवर्तते ।।'

इसके अतिरिक्त यह विशेष रूप से ध्यातव्य है कि चरकसंहिता में अष्ट प्रकृति रूप में अव्यक्त महान् अहंकार के साथ पञ्चमहाभूतों का हीउल्लेख किया गया है, न कि तन्मात्राओं का—'खादीनि बुद्धिरव्यक्तं लिङ्गग्राह्यमतीन्द्रियम् ।'—च० शा० १। इसकी उपस्कार टीका में आचार्य यो० ना० सेन ने भी अष्टप्रकृति में पञ्चमहाभूत को स्वीकार नहीं किया है, बल्कि—'खादीनि पंच सूक्ष्मभूतानि तन्मात्राख्यानि' ऐसा कहा है। तन्मात्रा का प्रयोग सांख्य के आधार पर किया जाता है। परन्तु दोनों में भिन्नता है। भूत द्रव्य है तथा तन्मात्रा गुण; अतः द्रव्य के स्थान पर गुण का पाठ नहीं हो सकता। उपर्युक्त उद्धरणों द्वारा स्पष्ट कर दिया गया है कि आचार्य जहाँ तन्मात्रा-परक गुण का प्रयोग करना चाहते थे वहाँ गुण शब्द व्यवहृत किये हैं। यदि भूत से तन्मात्रा अर्थ ग्रहण किया जायेगा तो चरक की सृष्टि-विकास से सम्बन्धित अवधारणा दूषित हो जायेगी। 'भूतैश्चतुर्भिः' से सूक्ष्म महाभूतों का ही ग्रहण किया जाना चाहिए। इसके लिए ग्रन्थकर्त्ता के अभिप्राय से सम्बन्धित उद्धरण प्रस्तुत किया गया है। यह चरक की अपनी विशिष्ट अवधारणा है; अतः हमारे मत से यहाँ यह अर्थ निकलता है कि मनोजव आत्मा के साथ सूक्ष्मरूप में चार महाभूत (परमाणु) शरीर से निकलते हैं। इनके साथ अन्य और कोई घटक होता है या नहीं; इस पर प्रकाश डालते हुए आचार्य कहते हैं कि—

स सर्वगः सर्वशरीरभृच्च स विश्वकर्मा स च विश्वरूपः ।
स चेतनाधातुरतीन्द्रियश्च स नित्ययुक् सानुशयः स एव ।।
(च० शा० २।३२)

अर्थात् लिङ्गशरीर से युक्त होकर सर्वत्र व्यापक, सभी शरीरों को धारण करने वाली, विश्वकर्मा, जगत् स्वरूप, चेतना धातु, अतीन्द्रिय वह आत्मा मन बुद्धि, इन्द्रियों से युक्त होती हुई सदा सानुशयी होती है। यहाँ आचार्य ने 'सानुशयः' कहा है, परन्तु इस शब्द को स्पष्ट नहीं किया है। च० सं० हिन्दी टीका में आत्मा का मन, बुद्धि, इन्द्रियों से सदैव युक्त रहना ही 'सानुशयः' का अर्थ ग्रहण किया गया है, जो संभवतः सांख्यवर्णित अष्टादश तत्त्वों की ओर संकेत है, परन्तु यहाँ आचार्य ने 'सानुशयः स एव' कहा है जो चार महाभूतों के लिए ही है; क्योंकि आगे के श्लोकों में यह स्पष्ट किया गया है कि 'नित्ययुक् सानुशयः स एव' का तात्पर्य चार महाभूत ही हैं। यहाँ प्रमाणरूप में मूल श्लोक ही दिया जा रहा है—

रसात्ममातापितृसंभवानि भूतानि विद्यादशषट् च देहे ।
चत्वारि तत्रात्मनि संश्रितानि स्थितस्तथाऽऽत्मा च चतुर्षु तेषु ।।
भूतानि मातापितृसंभवानि रजश्च शुक्रं च वदन्ति गर्भे ।
आप्यायते शुक्रमसृक् च भूतैर्यैस्तानि भूतानि रसोद्भवानि ।।

भूतानि चत्वारि तु कर्मजानि यान्यात्मलीनानि विशन्ति गर्भम् ।
स बीजधर्मा ह्यपरापराणि देहान्तराण्यात्मनि याति याति ॥

(च० शा० २।३३-३५)

अर्थात् ये चार महाभूत रसज, आत्मज, मातृज, पितृज भेद से सोलह होते हैं। ये चार भूत आत्मा में एवं आत्मा इन चार भूतों में आश्रित रहती है। पुनः आचार्य तीन—रसज, मातृज, पितृज भूत-प्रकार के बारे में कहते हैं कि गर्भ में मातृज, पितृज, महाभूत के प्रतिनिधि रज व शुक्र होते हैं तथा इनकी पुष्टि रस के द्वारा होती है। इस प्रकार चारों महाभूतों का उल्लेख करते हुए यह भी स्पष्ट किया गया है कि आत्मा चार भूतों से सदैव युक्त होती है जो रस, रज व शुक्रगत भूतों से पृथक् है। इस आत्मज भूत के बारे में कहते हैं कि 'भूतानि चत्वारि तु कर्मजानि' अर्थात् जो चार महाभूत आत्मा में लीन होकर गर्भ में प्रविष्ट होते हैं अर्थात् पूर्व शरीर को छोड़कर नूतन शरीर में प्रवेश करते हैं, उनको कर्मज कहा जाता है। यहाँ कर्मज का तात्पर्य यह है कि वे अपने पूर्व शरीर द्वारा किये गये शुभ-अशुभ कर्मों के द्वारा नूतन शरीर धारण करते हैं। वह बीजधर्मा सूक्ष्म कारणभूत आत्मा चेतनाधातु स्वरूप आत्मा में जाती हुई विभिन्न शरीरों में प्रविष्ट होती है।

इस प्रकार आयुर्वेद में लिङ्गपुरुष या लिङ्ग शरीर को भी षड्धातुज या छः तत्त्वों वाला कहा जा सकता है। मनोजव आत्मा का तात्पर्य मन व आत्मा है तथा महाभूत चार होते हैं; क्योंकि अतुल्यगोत्रियाध्याय के प्रारम्भ में ही जो प्रश्न किया गया है वह इस प्रकार है—माता-पिता के सदृश होने का कारण क्या है? इसमें आचार्य ने चार-चार महाभूत वाले चार कारणों में आत्मज चार महाभूत का उल्लेख किया है—च० शा० २।२६। चरक संहिता में एक और प्रश्न किया गया है कि—आत्मा किन भावों से बँधी रहती है? इसके उत्तर में कहा गया है कि—

अतीन्द्रियैस्तैरतिसूक्ष्मरूपैरात्मा कदाचिन्न वियुक्तरूपः ।
न कर्मणा नैव मनोमतिभ्यां न चाप्यहंकारविकारदोषैः ॥
रजस्तमोभ्यां हि मनोऽनुबद्धं ज्ञानं बिना तत्र हि सर्वदोषाः ।
गतिप्रवृत्योस्तु निमित्तमुक्तं मनः सदोषं बलवच्च कर्म ॥

(च० शा० २।३७-३८)

अर्थात् आत्मा कभी-भी उन कारणस्वरूप अत्यन्त सूक्ष्म अतीन्द्रिय भूतों से अलग नहीं होती है। पुनः कहा गया है कि मन, बुद्धि, अहंकार, कर्म, विकाररूप दोष से अलग नहीं हो पाती है। प्रथम पंक्ति में लिङ्गपुरुष का उल्लेख किया गया है जो चार महाभूतों से युक्त होता है तथा दूसरी पंक्ति में जन्म-मृत्यु के चक्र में बँधे राशिपुरुष का उल्लेख किया गया है; क्योंकि इसके बाद ही राशिपुरुष के मूल हेतु रज, तम का मन से युक्त होना या न होना ही प्रवृत्ति व निवृत्ति का अर्थात् बन्धन

व मोक्ष का कारण कहा गया है। कहा गया है कि—ज्ञानाभाव में ही रज और तम दोष मन से लगे रहते हैं, मन का सदोष रहना और बलवान् कर्म—ये दोनों गति व प्रवृत्ति के कारण होते हैं। यदि ये रज, तम मन से पृथक् हो जाते हैं तो मोक्ष हो जाता है।

इस प्रकार आयुर्वेदानुसार लिङ्गपुरुष मनोजव रूप में चार सूक्ष्म महाभूतों से युक्त होते हैं। आचार्य सुश्रुत ने गर्भाशय में आत्मा के प्रविष्ट होने की प्रक्रिया निम्न रूप में प्रस्तुत किया है—'क्षेत्रज्ञो, वेदयिता, स्प्रष्टा, घ्राता, द्रष्टा, श्रोता, रसयिता, पुरुषः, स्रष्टा, गन्ता, साक्षी, धाता, वक्ताः यः कोऽसावित्येवमादिभिः पर्यायवाचकैर्नामभिरभिधीयते सैवसंयोगादक्षयोऽव्ययोऽचिन्त्यो भूतात्मना सहान्वक्षं सत्त्वरजस्तमोभिर्दैवासुरैरपरैश्च भावैर्वायुनाभिप्रेर्यमाणः गर्भाशयमनुप्रविश्यावतिष्ठते।—सु० सू० ३।

च० वि० ३ में आयु प्रकरण में कर्म का लिङ्गशरीर से सम्बन्ध स्थापित करते हुए पूर्व शरीर द्वारा किये गये कर्मों के आधार पर नूतन शरीर से आयु सम्बन्ध बतलाया गया है—'दैवमात्मकृतं विद्यात् कर्म यत् पौर्वदेहिकम्'। अर्थात् पूर्वजन्म में किये गये कर्मों के परिणाम को दैव कहा जाता है।

दैवेन चेतरत् कर्म विशिष्टेनोपहन्यते।
दृष्ट्वा यदेके मन्यन्ते नियतं मानमायुषः॥
कर्म किंचित् क्वचित् काले विपाके नियतं महत्।
किंचित्त्वकालनियतं प्रत्ययैः प्रतिबोध्यते॥
(च० वि० ३।३४-३५)

अर्थात् दैव व पुरुष दोनों के उत्तम योग से दीर्घायु व हीनयोग से व्यक्ति अल्पायु होता है। आयुर्वेद का सिद्धान्त है कि—किसी प्रबल कर्म का विपाककाल निश्चित होता है और किसी का विपाककाल अनिश्चित होता है, किन्तु यह कारणों से फलोन्मुख किया जाता है।

लिङ्गपुरुषवाद की उपादेयता

पूर्व में भी कहा जा चुका है कि लिङ्गपुरुषवाद का सम्बन्ध पुनर्जन्मवाद से सम्बन्धित है। लिङ्गपुरुष से अभिप्राय क्या है? इसकी विवेचना की जा चुकी है। यह लिङ्गपुरुषवाद पूर्वकाल से ही विवेच्य विषय है। पूर्वकाल से लिङ्गपुरुष से सम्बन्धित दो विचारधारायें लोक में प्रचलित हैं। वे विचारधारायें सीधे रूप से लिङ्गपुरुषवाद के सम्बन्ध में न होकर पुनर्जन्म से सम्बन्धित है। पूर्वकाल से ही कतिपय विद्वान् पुनर्जन्म मानते थे और कुछ लोग ऐसे भी हैं जो इस अप्रत्यक्ष विषय को स्वीकार नहीं करते। इसका प्रमाण चरकसंहिता, सूत्रस्थान के त्रिस्त्रैषणीयाध्याय में उल्लिखित वाद-विवाद है, जिसमें अनेक ऋषियों के मत को उद्धृत कर उसका खण्डन और स्वपक्ष की स्थापना की गई है। जो पुनर्जन्म से सम्बन्धित शंका उत्पन्न

करते हैं, उसको आचार्य ने प्रत्यक्षवादी कहा है। (पुनर्जन्म से सम्बन्धित वाद-विवाद तथा विभिन्न प्रमाणों द्वारा इसकी सिद्धि, अवधारणा आदि का विशद वर्णन पुस्तक के प्रथम भाग में कर दिया गया है। अतः पुनर्जन्म क्यों माना जाय? इस प्रश्न के समाधान हेतु पुस्तक के प्रथम भाग में त्रिस्त्रैणीयवाद द्रष्टव्य है) आज भी समाज में पुनर्जन्म को मानने वाले व्यक्तियों का प्रतिशत बहुत ही कम है। इस स्थिति में लिङ्गपुरुष-वाद की उपादेयता को प्रदर्शित करना अतिकठिन कार्य है। परन्तु एक बात अवश्य समझ में आती है कि लिङ्गपुरुषवाद की अवधारणा समाज में अति उपादेय है। आयुर्वेद में कहा गया है कि सृष्टि के समस्त प्राणियों की सभी प्रकार की प्रवृत्तियाँ सुख के लिए होती हैं, परन्तु ज्ञान व अज्ञानवश व्यक्ति सुखकर व दुःखकर मार्गों का अनुसरण कर सुख-दुःख की प्राप्ति करता है। लिङ्गपुरुषवाद की अवधारणा का उद्देश्य यहीं से प्रारम्भ होता है, क्योंकि लिङ्गपुरुषवाद की विवेचना में हमलोग देख चुके हैं कि लिङ्गपुरुष की स्थिति का नियमन कर्म द्वारा होता है। प्राणी एक शरीर से सम्बन्धित होकर जिन क्रियायों को करता है, उन क्रियायों के परिणामानुसार प्राणी के शरीर त्याग करने के बाद लिङ्गपुरुष की स्थिति का नियमन होता है। जिस प्रकार का कर्म प्राणी करता है, मृत्यु के बाद उससे निकले लिङ्गपुरुष को तदनुसार शरीर धारण करने का अवसर प्राप्त होता है। दो प्रकार की विचारधारा वाले आस्तिक सामान्यजन हैं—एक भौतिकवादी दूसरे अध्यात्मवादी। भौतिकता को मानने वाले व्यक्ति जब लगातार सत्याचरण व यथार्थ मार्ग का अनुसरण करते हैं तो उनका लक्ष्य मृत्यु के बाद स्वर्ग की प्राप्ति होता है तथा आध्यात्मिक व्यक्ति सत्त्व-वृद्धि कर मृत्यु के उपरान्त मोक्ष का लक्ष्य रखते हैं। जनसामान्य में भी यह अव-धारणा प्रचलित है कि अच्छे कर्म करने पर उत्तर जन्म में सुख व सुःख के साधन उपलब्ध होंगे अथवा अच्छे कर्मों से लिङ्गपुरुष को (शरीर से निकलने वाली आत्मा का जो विचार जनसामान्य में प्रचलित है) शांति मिलती है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि लिङ्गपुरुषवाद की प्रत्यक्षतः उपादेयता सामाजिक मनोप्रदूषण का प्रतिबन्धक है। आज समाज में 'लिङ्गपुरुषवाद' की अवधारणा से अनभिज्ञता व उदासीनता, भारत ही नहीं, विश्वस्तर पर आपराधिक प्रवृत्ति को बढ़ावा दे रही है, जिससे समाज दिनानुदिन प्रदूषित होता जा रहा है। इस प्रवृत्ति में जो संलग्न हैं, वे लिङ्गपुरुषवाद में विश्वास नहीं करते। जो व्यक्ति लिङ्गपुरुषवाद को स्वीकार करते हैं वे तो समाज प्रदूषित करने वाले कार्य करते ही नहीं। अतः लिङ्गपुरुषवाद प्रत्यक्षतः सामाजिक प्रदूषण या सामाजिक मनोविकार रोकने में समर्थ है। लिङ्गपुरुषवाद का परिणाम पुनर्जन्म की सिद्धि करते समय आचार्य चरक ने युक्तिप्रमाण में जिन युक्तियों द्वारा लिङ्गपुरुषवाद की सिद्धि की है, वे युक्तियाँ अतिवैज्ञानिक हैं तथा उन सिद्धान्तों को प्रसारित करने से समाज में मानसिक स्वास्थ्य में वृद्धि होगी और एक स्वस्थ समाज का निर्माण किया जा सकता है। ये सिद्धान्त निम्न हैं—

कर्तृकरणसंयोगात् क्रिया—जब कर्त्ता व करण का संयोग होता है तो क्रिया होती है। जब जीवात्मा का करण (मन, बुद्धि, इन्द्रियादि) से संयोग होता है, तभी शरीर में जैविक क्रियायें होती हैं।

कृतस्य कर्मणः फलं नाकृतस्य—जब क्रिया होती है तो उसका फल होता है, जो क्रियायें नहीं की जातीं उनका फल भी नहीं होता। शुभ कार्य किये जायेगें तो उसके शुभ फल प्राप्त होंगे। यदि अशुभ कार्य नहीं किये जायेंगे जो उसके फल—दुःख की प्राप्ति भी नहीं हो सकती।

नाङ्कुरोत्पत्तिरबीजात्—बिना बीज अंकुरण नहीं होता है—अर्थात् कर्मरूपी बीज से ही फल का अंकुरण होता है। यदि कर्म नहीं किये जायेंगे तो कर्मफल का अंकुरण भी नहीं होगा अर्थात् फलागम भी नहीं होता है।

कर्मसदृशं फलं नान्यस्माद्बीजादन्यस्योत्पत्ति—जिस प्रकार की क्रिया की जाती है, उस क्रिया के अनुसार ही फल की प्राप्ति होती है, क्योंकि दूसरे बीज से दूसरे फल की उत्पत्ति नहीं होती है। इस प्रकार क्रिया-परिणाम से सम्बन्धित ये सिद्धान्त यदि जनसामान्य में प्रसारित किये जायँ तो अतिउपादेय सिद्ध होंगे। इस प्रकार यहाँ लिङ्गपुरुषवाद की उपादेयता का संकेत मात्र दिया गया है, विद्वान् पाठक स्वयं ही लिङ्गपुरुषवाद की उपादेयता या चरितार्थता का अनुमान करने में सक्षम है।

अध्याय – ३३

पुरुषविचयवाद

पुरुषविनयवाद आयुर्वेद के मौलिक सिद्धान्त (Fundamental Principles) से सम्बन्ध रखने वाला सिद्धान्त है। ऋषियों ने आयुर्वेद के सिद्धान्तों को स्थापना में दो तरह के सिद्धान्तों का उल्लेख किया है। प्रथम मूल सिद्धान्त (Fundamental Principles) तथा दूसरा मूल सिद्धान्तों को पुष्ट करने वाले सहयोगी सिद्धान्त (Accessary Basic Principles)। पुन: सिद्धान्तों के व्यावहारिक उपादेयताओं की व्यापक मान्यताओं के आधार पर सर्वतन्त्र, प्रतितन्त्र, अधिकरण व अभ्युगम सिद्धान्त भेद से चार प्रकार के सिद्धान्तों का प्रतिपादन आचार्यों ने किया है, जिसका उल्लेख पूर्व में किया जा चुका है। आधुनिक काल में आयुर्वेद में विषयानुसार कुछ नये संग्रहीत विषयों को चयनित किया गया है, जिसमें एक आयुर्वेद का मौलिक सिद्धान्त (Basic Principles of Ayurveda) भी है। वास्तव में आयुर्वेद के सिद्धान्त दो तरह के हैं। एक वैसे सिद्धान्त जिन पर आयुर्वेद वाङ्मय प्रतिष्ठापित है, ये आयुर्वेद के आधार-स्तम्भ हैं (Base or Basie Pillars) हैं, अत: उन्हें आधारभूत सिद्धान्त (Basic Principles) कहना चाहिए; यथा—पंचभूतवाद, षड्धातुवाद, त्रिदोषवाद, सप्तधातुवाद, मलवाद, त्रिविध आयतनवाद, समयोगवाद आदि; जिन्हें आज हम मौलिक सिद्धान्त कहते हैं जब कि ये वास्तव में आधारभूत सिद्धान्त कहे जाते हैं। मौलिक सिद्धान्त का तात्पर्य यह है कि जो मूल हो, जिस सिद्धान्त का कोई कारण न हो। हमारे विचार से आयुर्वेद का मूल सिद्धान्त 'सामान्यवाद' है, क्योंकि उपर्युक्त सभी सिद्धान्तों के आयुर्वेद में स्थापित होने का हेतु 'सामान्यवाद' है, अत: यहाँ सामान्यवाद को आयुर्वेद का मौलिक या मूल सिद्धान्त (Fundamental Principles) मानकर कहा गया है कि --पुरुषविचयवाद आयुर्वेद के मूल सिद्धान्त से सम्बन्धित सिद्धान्त है। सामान्यवाद के आधार पर प्रथम सिद्धान्त बना 'पुरुषोऽयं लोक सम्मित:'—लोक व पुरुष दोनों समान हैं। इस मौलिक सिद्धान्त का अनुसरण कर कतिपय और अन्य आधारभूत सिद्धान्त भी स्थापित किये गये हैं। यथा –षड्धातुवाद, त्रिदोषवाद, समयोगवाद, त्रयोपस्तम्भवाद आदि। इसको पुरुषविचय इसीलिए कहा गया है कि इसमें लोक व पुरुष में तुलना की गई है। तुलनात्मक विषय सामान्य होता है (तुल्यार्थता हि सामान्यं); अत: प्रस्तुत वाद सामान्यवाद का व्यावहारिक स्वरूप है, जिसमें 'पुरुषोऽयं लोकसंम्मित:' को स्पष्ट किया गया है कि लोक व पुरुष दोनों समान कैसे हैं। लोकगत भाव पुरुष में किस रूप में स्थित हैं तथा पुरुषगत भाव लोक में कैसे स्थित हैं—यही अवधारणा सम्पूर्ण आयुर्वेद का मूल

होने से आचार्य चरक द्वारा विशिष्ट रूप में प्रतिपादित की गई है। यथा—'पुरुषोऽयं लोकसंम्मित: इत्युवाच भगवान् पुनर्वसुरात्रेय:। यावन्तो हि लोके भावविशेषास्तावन्त: पुरुषे, यावन्त: पुरुषे तावन्तो लोके इत्येवंवादिनं भगवन्तमात्रेयमग्निवेश उवाच—नैवावता वाक्येनोक्तं वाक्यार्थमवगाहामहे, भगवता बुद्धया भूयस्तरमतोऽनुव्याख्यायमानं शुश्रूषामह इति।'—च० शा० ५।८। अर्थात् यह लोक व पुरुष दोनों समान हैं। क्योंकि लोक में जितने भी भाव होते हैं, वे सभी भाव पुरुष में होते हैं तथा पुरुष में भी जितने भाव होते हैं वे सभी भाव लोक में भी होते हैं। इस प्रकार जब भगवान आत्रेय अपने शिष्य अग्निवेश को लोक-पुरुष साम्य का उपदेश दिये तो उनके शिष्य अग्निवेश बोले कि—मात्र 'पुरुष व लोक' समान कहने से यह अवधारणा (Concept) समझ में नहीं आ रहा है; अत: इसको स्पष्ट किया जाय। तब भगवान आत्रेय इस अवधारणा को स्पष्ट करते हुए कहते हैं—'अपरिसंख्येया लोकावयवविशेषा: पुरुषावयवविशेषा: अत्प्यपरिसंख्येया:'। अर्थात् जिस प्रकार लोक के असंख्य अवयव हैं, उनकी गिनती नहीं की जा सकती है वैसे ही शरीर के अवयव भी असंख्य हैं। इसके बाद आचार्य उदाहरणस्वरूप कतिपय भावों का उल्लेख करते हैं (तेषां यथा स्थूलं कतिचिद्भावान् सामान्यमभिप्रेत्योदाहरिष्याम: तानेकमना निबोध सम्यगुपवर्ण्यमानानग्निवेश')।

१. 'षडधातव: समुदिता: पुरुष इति शब्दं लभन्ते, तद्यथा–पृथिव्यापस्तेजो वायुराकाशं ब्रह्म चाव्यक्तमिति, एत एव च षडधातव: समुदिता पुरुष इति शब्दं लभन्ते'। अर्थात् पुरुष व लोक दोनों षड्धातुज हैं। पंचमहाभूत व ब्रह्म—इन छ: के संयोग से से लोक है तथा पंचमहाभूत व आत्मा—इन छ: का संयोग पुरुष है। इसको आचार्य ने निम्न रूप में प्रस्तुत किया है—(a) 'तस्य पुरुषस्य पृथ्वी मूर्त्ति'—अर्थात् लोकगत पृथ्वी महाभूत पुरुष में मूर्ति रूप में अर्थात् आकार रूप में रहती है।

(b) आप: क्लेद:—लोकगत जल महाभूत सदृश पुरुष में जल है। वह जल पुरुष के शरीर में क्लेद अर्थात् आर्द्रता के रूप में रहता है अर्थात् शरीर के गीलेपन के रूप में रहता है।

(c) तेजोऽभिसन्ताप:—लोकगत अग्नि महाभूत पुरुष में संताप अर्थात् ताप रूप में रहता है।

(d) वायु प्राण :—लोकगत वायु महाभूत शरीर में प्राणरूप में अवस्थित रहता है।

(e) वियत् सुषिराणि—लोकगत आकाश महाभूत शरीर में विभिन्न छिद्रों के रूप में अवस्थित होता है।

(f) ब्रह्म अन्तरात्मा—जिस प्रकार लोक में लोक-संचालक ब्रह्म है, उसी प्रकार पुरुष में जीवन का हेतु अन्तरात्मा है।

इसके बाद आचार्य ने कतिपय उदाहरणों के द्वारा स्पष्ट किया है कि लोक व पुरुष समान हैं। चरकसंहिता, शारीर स्थान, अ० ५ (पुरुषविचयाध्याय) के ५ वें गद्यांश के आधार पर लोक व पुरुषगत भावों की निम्न तुलनात्मक तालिका प्रस्तुत की जा रही है—

लोकगत भाव	पुरुषगत भाव	लोकगत भाव	पुरुषगत भाव
१. पृथिवी	मूर्ति	२. आप्	क्लेद
३. तेज	अभिसन्ताप	४. वायु	प्राण
५. वियत	सुषिर	६. ब्रह्म	अन्तरात्मा
७. ब्रह्म की विभूति	अन्तरात्मा की विभूति	८. ब्रह्मविभूति प्रजापति	अन्तरात्मा विभूति मन
९. इन्द्र	अहंकार	१०. आदित्य	आदान कर्म
११. रुद्र	रोष	१२. सोम	प्रसाद भाव
१३. वसु	सुख	१४. अश्विनीकुमार	कान्ति
१५. मरुत्	उत्साह	१६. विश्वेदवा	इन्द्रियाँ व इन्द्रियार्थ
१७. तम	मोह	१८. ज्योति	ज्ञान
१९. सृष्टि	गर्भाधान	२०. कृतयुग	बाल्यावस्था
२१. त्रेता	युवावस्था	२२. द्वापर	बुढ़ापा
२३. कलियुग	रोगी होना	२४. युगान्त	मृत्यु

इस प्रकार लोक व पुरुष साम्य को कतिपय उपर्युक्त उदाहरणों के द्वारा स्पष्ट किया गया है। उपर्युक्त भावों को स्थूल यानि मोटे तौर पर ही उदाहरणार्थ प्रस्तुत किया गया है; क्योंकि लोकगत व पुरुषगत भाव असंख्य हैं, उन सबका उल्लेख करना संभव नहीं है, अतः यहाँ यथासंभव उदाहरण प्रस्तुत किया गया है, इसका तात्पर्य यह है कि जिन भावों का यहाँ उल्लेख नहीं किया गया है, परन्तु वे लोकगत हैं तो उन भावों को उनके गुण-कर्मानुसार शरीर या पुरुष में भी स्थिति समझनी चाहिए।

पुरुषविचयवाद की उपादेयता

पुरुषविचयवाद से सम्बन्धित आयुर्वेद-वर्णित तथ्यों को उपर्युक्त विवरण में यथावत् रूप में प्रस्तुत कर दिया गया है। पुरुषविचयवाद और भी स्पष्ट हो जायगा जब इसकी उपादेयता पर विचार किया जायगा। इसकी उपादेयता पर अपने विचार प्रकट करने से पूर्व हम आयुर्वेद में वर्णित उपादेयता पर प्रथमतः विचार करना

उचित समझते हैं; क्योंकि आयुर्वेदोक्त उपादेयता विचार-विमर्श से पुरुषविचयवाद की अवधारणा और भी स्पष्ट हो जाने की आशा है। जब भगवान् आत्रेय ने कतिपय उदाहरणों के द्वारा अग्निवेश को पुरुषविचयवाद की अवधारणा को स्पष्ट किया तो पुनः अग्निवेश अपनी जिज्ञासा आचार्य के समक्ष निम्न रूप में प्रकट करते हैं—'एवमेतद् सर्वमनपवादं यथोक्तं भगवता लोकपुरुषयोः सामान्यम्। किन्त्वस्य सामान्योपदेशस्य प्रयोजनमिति।'—च० शा० ५।६। भगवन् इस प्रकार लोक व पुरुष में जो समानता है, वह अनपवाद (निर्दुष्ट) है परन्तु इस लोक व पुरुष सामान्यवाद या पुरुषविचयवाद की उपादेयता अथवा प्रयोजन क्या है? इस पर महर्षि आत्रेय ने अग्निवेश से पुरुषविचयवाद की उपादेयता को स्पष्ट करते हुए कहा है कि—'सर्वलोकमात्मन्यात्मानं च सर्वलोके सममनुपश्यतः सत्याबुद्धिः समुत्पद्यते'। अर्थात् जो पुरुष अपने में लोक को तथा लोक में अपने को देखता है, उस व्यक्ति के अन्दर सत्या बुद्धि की उत्पत्ति होती है। इसके बाद यह स्पष्ट करते हैं कि सत्या बुद्धि से तात्पर्य क्या है? इसको स्पष्ट करते हुए आचार्य कहते हैं कि—अपने में समस्त लोक को देखने पर पुरुष को इस बात की जानकारी मिल जाती है कि दुःख का कारण वह स्वयं है, अन्य कोई नहीं; क्योंकि जगत के सभी प्राणी कर्म के आधीन हैं। कारणादि से युक्त सभी संसार-स्वरूप मैं ही हूँ, यह जानकर मोक्ष हेतु सर्वप्रथम ज्ञानोत्पत्ति होती है। 'लोक' शब्द संयोग की अपेक्षा करता है तथा सम्पूर्ण लोक शब्द षड्धातुसमुदायरूप ही है—

तत्र संयोगापेक्षी लोकशब्दः। षड्धातुसमुदायो हि सामान्यतः सर्वलोकः॥

(च० शा० ५।७)

पुरुषविचयवाद की प्रमुख उपादेयता यहाँ आचार्य ने सत्या बुद्धि की उत्पत्ति को बतलाया है अतः यह जानना आवश्यक प्रतीत होता है कि—सत्या बुद्धि क्या है? और इसका स्वरूप क्या है? सत्या बुद्धि के स्वरूप का निर्देश आचार्य ने निम्न रूप में प्रस्तुत किया है—

'शुद्धसत्त्वस्य या शुद्धा सत्या बुद्धिः प्रवर्तते।
यया भिनत्त्यति बलं महामोहमयं तमः॥
सर्वभावस्वभावज्ञो यया भवति निःस्पृहः।
योगं यया साधयते सांख्यः संपद्यते यया॥
यया नोपैत्यहङ्कारं नोपास्ते कारणं यया।
यया नालम्बते किंचित् सर्वं संन्यस्यते यया॥
याति ब्रह्म यया नित्यमजरं शान्तमव्ययम्।
विद्या सिद्धिर्मतिर्मेधा प्रज्ञा ज्ञानं च सा मता॥

(च० शा० ५।१६-१९)

अर्थात् शुद्ध मन वाले पुरुष में जब सत्या बुद्धि की उत्पत्ति होती है तो इस सत्या

बुद्धि से अतिबलयुक्त भयंकर मोहस्वरूप तम का भेदन करने में मनुष्य सक्षम हो जाता है। इसके परिणामस्वरूप मनुष्य सभी प्रकार के उत्पत्ति होने वाले भाव के स्वभाव को जानकर निःस्पृह हो जाता है। पुनः आचार्य सत्या बुद्धि के महत्त्व को प्रतिपादित करते हुए कहते हैं कि—इसी सत्याबुद्धि के द्वारा योग की सिद्धि होती हैं, जिसके द्वारा सांख्य का ज्ञान होता है। इस सत्या बुद्धि के उत्पन्न होने पर मनुष्य के अन्दर अहंकार का नाश हो जाता है। इसके कारण मनुष्य पुनर्जन्मादि के कारण की उपासना नहीं करता। इसके कारण मनुष्य किसी प्रवृत्ति का अवलम्बन नहीं लेता है। इसके कारण मनुष्य सभी वस्तुओं का त्याग करता है। इस सत्या बुद्धि के द्वारा नित्य, अजर, शांत, अक्षर ब्रह्मभाव को प्राप्त किया जाता है। पुनः इस सत्या बुद्धि के अन्य संज्ञाओं का परिचय देते हुए कहते हैं कि—इस सत्या बुद्धि को ही विद्या, सिद्धि, मति, मेधा, प्रज्ञा व ज्ञान कहा जाता है। इस प्रकार पुरुषविचयवाद की प्रथम उपादेयता आचार्य मोक्ष प्राप्ति हेतु सत्या बुद्धि की उत्पत्ति होना बतलाये हैं।

पुरुषविचयवाद की द्वितीय उपादेयता बतलाते हुए आचार्य कहते हैं कि—लोक में अपने को और अपने में लोक को व्याप्त देखते हुए ब्रह्म और महदादि प्रकृति को समझने वाले तत्त्वदर्शी पुरुष की ज्ञानजन्य शांति कभी नष्ट नहीं होती अर्थात् पुरुषविचयवाद का अनुसरण करने पर अबाध रूप में मनुष्य को शांति प्राप्त होती है—

'लोके विततमात्मानं लोकं चात्मनि पश्यतः।
परावरदृशः शान्तिर्ज्ञानमूला न नश्यति'॥

(च० शा० ५।२०)

पुरुषविचयवाद की तृतीय उपादेयता आचार्य निम्न रूप में प्रस्तुत किये हैं—

पश्यतः सर्वभावान् हि सर्वावस्थासु सर्वदा।
ब्रह्मभूतस्य संयोगो न शुद्धस्योपपद्यते॥ (च० शा० ५।२४)

अर्थात् सर्वदा (अर्थात् सभी अवस्थाओं में जाग्रतावस्था, स्वप्नावस्था व सुषुप्तावस्था सभी अवस्थाओं में) सभी प्रकार के लोक व पुरुषगत भावों में तुल्यरूप अर्थात् समानता देखते हुए जीवन्मुक्त शुद्धस्वरूप प्राप्त कर ब्रह्मभूत अर्थात् ब्रह्म के समान हो जाता है तथा उसका पुनः धर्म-अधर्म से संयोग नहीं होता है।

इस प्रकार आचार्य ने प्रस्तुत प्रकरण में पुरुषविचयवाद की उपादेयता को सारांशतः मोक्ष हेतु स्वीकार किया है।

एतत्तद् सौम्य ! विज्ञानं यज्ज्ञात्वा मुक्तसंशयाः।
मुनयः प्रशमं जग्मुर्वीतमोहरजः स्पृहाः॥

(च० शा० ५।२४)

पुरुषविचयवाद की मूल सिद्धान्त के रूप में उपादेयता—पूर्व में कहा जा चुका है कि पुरुषविचयवाद आयुर्वेद के मूल सिद्धान्त से सम्बन्धित है। आयुर्वेद के महत्व को प्रतिपादित करते हुए कहा गया है कि—

तस्यायुषः पुण्यतमो वेदो वेदविदां मतः।
वक्ष्यते यन्मनुष्याणां लोकयोरुभयोर्हितम् ॥

(च० सू० १।४३)

अर्थात् अन्य शास्त्र यदि पुण्यदायक है तो आयुर्वेद उनमें पुण्यतम है; क्योंकि अन्य शास्त्र एक लोक में हितकारी है, जबकि आयुर्वेद इहलोक एवं परलोक दोनों में हितकारी है। इस प्रकार आयुर्वेद शास्त्र की उपादेयता पूर्ण मोक्ष हेतु दर्शायी गई है। दोनों लोक में हितकारी होने का अर्थ दो प्रकार से ग्रहण किया जा सकता है। प्रथम अर्थ का ग्रहण इस रूप में किया जा सकता है कि—इहलोक के हित का साधन धर्म, अर्थ व काम है तथा परलोक का (मृत्यु के उपरान्त) शुद्ध स्वरूप में प्राप्त होने वाले हित का साधन मोक्ष है। इस प्रकार इहलोक का हित (धर्म, अर्थ, काम) और पारलौकिक हित (मोक्ष) दोनों ही आरोग्य की अपेक्षा करते हैं—

'धर्मार्थकाममोक्षाणामारोग्यं मूलमुत्तमम्।
रोगास्तस्यापहर्तारः श्रेयसो जीवितस्य च' ॥ (च० सू० १।१६)

आरोग्य की प्राप्ति आयुर्वेद द्वारा होती है, अतः कहा गया है कि आयुर्वेद शास्त्र पुण्यतम है तथा यह दोनों लोक हेतु कल्याणकारी उपदेश देता है, जिससे सुख की प्राप्ति होती है। अन्यत्र भी इस बात की पुष्टि होती है—

धर्मार्थकाममोक्षाणामारोग्यं साधनं यतः।
अतस्त्वारोग्यदानेन नरो भवति सर्वदा ॥

(नन्दिपुराण का वचन विद्योतिनी टीका में उद्धृत)

अब पुरुषविचयवाद/सामान्यवाद के परिप्रेक्ष्य में 'लोकयोरुभयो हितम्' को समझने का प्रयत्न किया जायेगा। आचार्य चरक ने सू० अ० २६ में कहा है कि प्रसंगानुसार ग्रन्थकर्त्ता का अभिप्राय समझना चाहिए। आचार्य ने 'लोकयोरुभयो हितम्' के बाद ही सामान्य का वर्णन प्रारम्भ किया है। इसका अभिप्राय क्या हो सकता है? सामान्य का सम्बन्ध दोनों लोकों हेतु कल्याणकारी उपदेश के साथ क्या हो सकता है? इस सम्बन्ध में हम अपना विचार निम्नरूप में प्रस्तुत कर रहे हैं जिससे यह स्पष्ट हो जायेगा कि 'लोकयोरुभयोर्हितम्' के तुरंत बाद ही 'सामान्य' वर्णन का अभिप्राय क्या हो सकता है।

हमारे विचार से आयुर्वेद शास्त्र 'सामान्यवाद' के द्वारा ही इहलोक और परलोक दोनों में सुख देने वाला है तथा आयुर्वेद शास्त्र दो प्रकार का मोक्ष (इहलौकिक सुख

हेतु व्याधि मोक्ष तथा पारलौकिक चरमसुख हेतु जीवन मृत्यु से मुक्ति) प्रदायक है। इसे निम्न रूप में प्रदर्शित किया जा रहा है।

१. आयुर्वेद का मौलिक सिद्धान्त (Fundamental principle) सामान्यवाद ही है। 'तुल्यार्थता हि सामान्यम्' के अनुसार प्रथम् सिद्धान्त स्थापित किया गया कि—'पुरुषोऽयं लोकसम्मितः' अर्थात् पुरुष एवं लोक में साम्य है। इस सिद्धान्त-विशेष से उभय लक्ष्य की सिद्धि की गई है। अग्निवेश द्वारा सामान्य कथन का प्रयोजन, सत्याबुद्धि की उत्पत्ति→ज्ञान रूपी शांति की प्राप्ति→मोक्ष कहा गया है। इस प्रकार सामान्यवाद या 'पुरुषोऽयं लोकसम्मितः' अथवा पुरुषविचयवाद ज्ञान से मोक्ष की प्राप्ति होती है, यह बात सिद्ध हो जाती है। इस तथ्य का विवेचन पूर्व में किया जा चुका है। अब इहलौकिक सुखदायक रूप में पुरुषविचयवाद या सामान्यवाद का विचार किया जायेगा।

२. इहलोक अर्थात् भौतिक जगत् में आयुर्वेद में आधारभूत सिद्धान्त द्रव्यवाद हैं, क्योंकि आयुर्वेद को पारिभाषित करते हुए कहा गया है कि —

'यतश्चायुष्याण्यनायुष्याणि च द्रव्यगुणकर्माणि वेदयत्यतोऽप्यायुर्वेदः।
तत्रायुष्याण्यनायुष्याणि च द्रव्यगुणकर्माणि केवलेनोपदेक्ष्यन्ते तन्त्रेण॥
(च० सू० ३०।२३)

अर्थात् जिस शास्त्र में या जो शास्त्र आयुष्य (आयु हितकर) अनायुष्य (आयु अहितकर) द्रव्य, गुण, कर्म का उपदेश देते हैं; उसे आयुर्वेद कहते हैं। पुनः स्पष्ट करते हैं कि, इस शास्त्र में स्थान-स्थान पर द्रव्य-गुण-कर्म का ही उपदेश किया जायेगा, जो कि आयु के लिए हितकर और अहितकर होते हैं। इस प्रकार आयुर्वेद के विषय, द्रव्य, गुण, कर्म हैं। षड्पदार्थों में से सामान्य, विशेष सभी द्रव्य से ही सम्बन्धित हैं— 'यत्राश्रिताः कर्मगुणाः समवायि यद्तद्द्रव्यम्' अर्थात् जिसमें कर्म व गुण समवाय सम्बन्ध से आश्रित हों, उसे द्रव्य कहते हैं। इस प्रकार सामान्यवाद के बाद आयुर्वेद के चार पदार्थ द्रव्य, गुण, कर्म और समवाय—ये चारों द्रव्य से सम्बन्धित हैं। अतः सामान्यवाद के बाद आश्रयभूत सिद्धान्त (Supporting principles of ayurveda) द्रव्यवाद है। इसे मौलिक न कहकर आश्रयभूत सिद्धान्त कहना अधिक उपयुक्त है; क्योंकि इस सिद्धान्त का मूल सामान्यवाद व विशेषवाद है तथा आयुर्वेद का सम्पूर्ण आश्रय स्थान द्रव्य ही है; क्योंकि स्पष्ट रूप से कहा गया है कि हिताहित द्रव्य, गुण, कर्म विज्ञान को आयुर्वेद कहते हैं।

३. इस द्रव्यवाद का मूल सामान्यवाद ही है। द्रव्य दो प्रकार के कहे गये हैं— सेन्द्रिय और निरिन्द्रिय। सेन्द्रिय द्रव्यों के हेतु या आधारभूत सिद्धान्त के रूप में षड्धातुवाद को अपनाया गया है—'षड्धातवः समुदिताः पुरुष······एत एव च षड्धातवः समुदिताः पुरुष इति शब्दं लभन्ते।'—च० शा० ५।४। इसी षड्धातु को

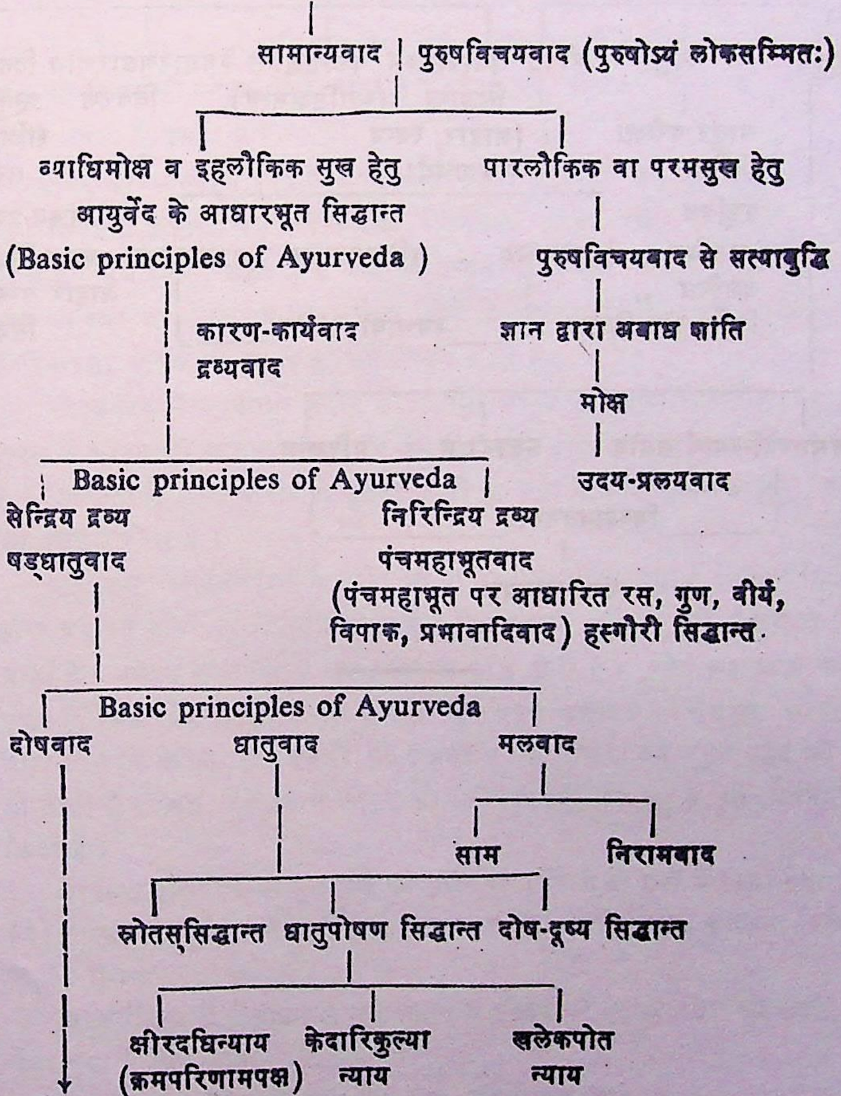
आयुर्वेद का कर्मपुरुष कहा गया है। नवकारणद्रव्यवाद, चतुर्विंशति राशिपुरुषवाद, त्रिदण्ड आदि पुरुष से सम्बन्धित सिद्धान्त इसके अन्तर्गत आ जाते हैं। जड़ द्रव्य या निरिन्द्रिय द्रव्यों के हेतु पंचमहाभूत को आधार स्वीकार किया गया है। 'सर्वं द्रव्यं पाञ्चभौतिकमस्मिन्नर्थे। तच्चेतनावदचेतनं च। तस्य गुणाः शब्दादयो गुर्वादयश्च द्रवान्ताः, कर्म पञ्चविधमुक्तं वमनादि।' अर्थात् सृष्टि के समस्त कार्यद्रव्य पाञ्चभौतिक हैं, चेतन व अचेतन। गुर्वादि २० शब्दादि ५ इनके गुण हैं तथा वमनादि पाँच कर्म हैं। चेतन द्रव्य सेन्द्रिय होने से षड्धातुवाद के अन्तर्गत तथा जड़ कार्य द्रव्य पंचभूत-वाद पर आधारित है। इनके अन्तर्गत रस, गुण, विपाक, वीर्य, प्रभाववाद का समावेश हो जाता है।

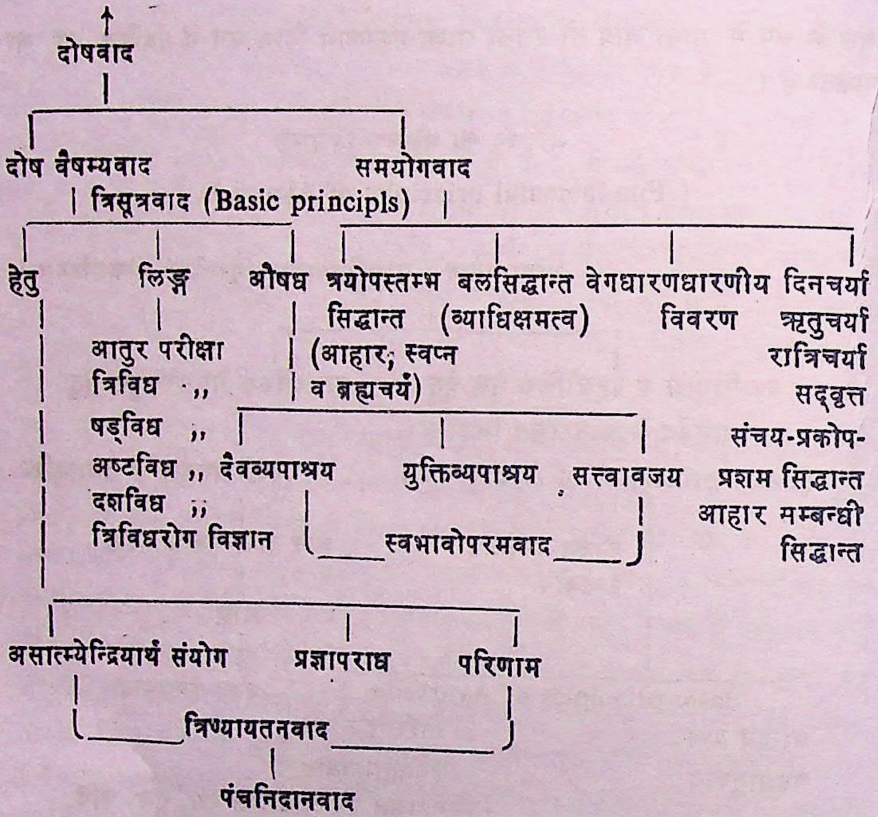
४. षड्धातुवाद के व्यावहारिक स्वरूप हेतु 'सामान्यवाद' या 'पुरुषविचयवाद' के आधार पर 'त्रिदोषवाद' की स्थापना हुई। कहा गया कि जिस प्रकार सूर्य, चन्द्रमा व वायु आदान, विसर्ग व विक्षेप क्रियायों द्वारा सृष्टि को धारण करते हैं, उसी प्रकार वात, पित्त, कफ, शरीर को धारण करते हैं। अतः इस सिद्धान्त का मूल तो पुरुषविचयवाद या सामान्यवाद है; अतः इसे मूल सिद्धान्त के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता, परन्तु इसे जीवन का स्तम्भ या आधार कहा गया है, अतः यह आयुर्वेद का आधारभूत सिद्धान्त है। इसी शृंखला में पांचभौतिक शरीर के रचनात्मक रूप से धारक तत्त्व को धातु कहकर धातुवाद व मलवाद को आधारभूत सिद्धान्त (Basic principle of Ayurveda) स्वीकार किया गया है। धातुवाद के अन्तर्गत स्रोतस्वाद, धातुपोषणवाद (क्रमपरिणाम पक्ष, खलेकपोतन्याय, केदारि-कुल्या न्याय) आदि का समावेश किया गया है। मलवाद में पुनः साम-निरामवाद आदि का क्रमशः उल्लेख किया गया है। धातुवाद व मलवाद—दोनों में साम-निरामवाद का उल्लेख किया गया है।

५. दोषवाद को पुनः दो प्रकार का कहा गया है—'विकारो धातुवैषम्यं धातु-साम्यमरोगता।' इस प्रकार दोष से सम्बन्धित दो सिद्धान्त प्रतिपादित हुए—एक विषम दोषवाद तथा दूसरा समयोगवाद। समयोग होने पर व्याधि से मुक्त हो जाता है तथा मनुष्य अपने स्वरूप में अर्थात् स्वस्थ रहता है। व्याधि से सम्बन्धित सिद्धान्त दोषवैषम्यवाद है तथा इससे सम्बन्धित त्रिसूत्रवाद की स्थापना की गई है। पुनः उनके भेदोपभेद किये गये हैं। जब विभिन्न चिकित्साओं के द्वारा दोषों को समभाव में लाया जाता है तथा व्याधियों का नाश स्वभावतः हो जाता है अतः व्याधिनाश प्रक्रिया में स्वभावोपरमवाद की स्थापना की गई है।

इस प्रकार हम पाते हैं कि आयुर्वेद का मूलभूत सिद्धान्त पुरुषविचयवाद ही है। आयुर्वेदरूपी वृक्ष का मूल पुरुषविचयवाद की उपादेयता क्या है; यह उपर्युक्त संक्षिप्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है। यदि पुरुषविचयवाद को आयुर्वेदीय सिद्धान्तों के

मूल के रूप में माना जाय तो इसकी शाखा-प्रशाखायें निम्न रूप में प्रदर्शित की जा सकती हैं ।




दोषवाद
दोष वैषम्यवाद
समयोगवाद
त्रिसूत्रवाद (Basic principls)
हेतु
लिङ्ग
औषध
त्रयोपस्तम्भ सिद्धान्त (आहार, स्वप्न व ब्रह्मचर्य)
बलसिद्धान्त (व्याधिक्षमत्व)
वेगधारणधारणीय विवरण
दिनचर्या
ऋतुचर्या
रात्रिचर्या
सद्वृत्त
संचय-प्रकोप-प्रशम सिद्धान्त
आहार सम्बन्धी सिद्धान्त
आतुर परीक्षा
त्रिविध ,,
षड्विध ,,
अष्टविध ,,
दशविध ,,
त्रिविधरोग विज्ञान
दैवव्यपाश्रय
युक्तिव्यपाश्रय
सत्त्वावजय
स्वभावोपरमवाद
असात्म्येन्द्रियार्थ संयोग
प्रज्ञापराध
परिणाम
त्रिण्यायतनवाद
पंचनिदानवाद

अध्याय—३४

स्नेहन-कर्म

निरुक्ति—स्निह् धातु में घञ् प्रत्यय लगाने पर स्नेह शब्द बनता है, जो पुल्लिंगी होता है। जिसका अर्थ तैलादि रस भेद, प्रेम आदि होता है। स्नेह-प्रयोग या स्निग्ध करने की क्रिया को स्नेहन कहा जाता है। स्नेहन पद 'स्निह्' धातु में णिच्-ल्युट् प्रत्यय लगाने से बनता है।

परिभाषा—'स्नेहनं स्नेह विष्यन्द मार्दवं क्लेद कारकम्' च० सू० २२।११ अर्थात् जिस क्रिया के द्वारा शरीर में स्निग्धता, विष्यंदन, मृदुता तथा क्लेदोत्पत्ति किया जाता है, उसे स्नेहन कहते हैं। यदि सामान्यरूपेण स्नेहन को पारिभाषित किया जाय तो कहा जा सकता है कि—जिस क्रिया के द्वारा शरीर में, दोषों, धातुओं, मलों में स्निग्धता उत्पन्न की जाती है, उसे स्नेहन कहते हैं।

स्नेहन-कर्म में मुख्यतया शरीर को स्निग्ध करना ही उद्देश्य होता है। आचार्य चरक ने स्नेहन को मार्दव, क्लेदनादि गुण निर्देश के द्वारा और भी स्पष्ट कर दिया है। स्निग्धता के द्वारा शरीर में मृदुता आती है, तथा वात दोषजन्य रूक्षता, खरता का प्रशमन होता है।

अतः इसे 'मार्दवकारकं के द्वारा भी पारिभाषित किया गया है। स्नेहन क्रिया के द्वारा प्रकुपित दोषों का विलयन होता है। विलयन की प्रक्रिया को विष्यंदन कहा जाता है। स्नेहन से शरीर में अप् तत्त्व की वृद्धि होती है। क्लेद का घटक अप् ही होता है, जिसे स्वेद धारण करता है तथा मूत्र वहन करता है। संभवतः स्वेद द्वारा धारित करने के कारण, त्वचादि की रूक्षता समाप्त होकर, अप् बहुल क्लेद की वृद्धि हो जाती है। अतः आचार्य ने स्नेहन को 'क्लेदकारकं' के रूप में भी पारिभाषित किया है।

सामान्य परिचय—स्नेहन कर्म का वर्णन आयुर्वेद में दो रूपों में किया गया है—(१) पंचकर्म के पूर्वरूप में तथा (२) लङ्घनादि षड्विध चिकित्सा में प्रधान चिकित्सा के रूप में।

चरकसंहिता में संशोधन से पूर्व स्नेहन व स्वेदन की अनिवार्यता को दर्शाते हुए कहा गया है कि—

स्नेहमग्रे प्रयुञ्जीत ततः स्वेदमनन्तरम्।
स्नेहस्वेदोपपन्नस्य संशोधनमथेतरत्॥ (च० सू० १३।९९)

अर्थात् संशोधनार्थ प्रथमतः स्नेहन क्रिया करनी चाहिए। स्नेहन के बाद स्वेदन क्रिया करनी चाहिए। स्नेहन व स्वेदनोपरान्त संशोधन चिकित्सा करनी चाहिए।

इस प्रकार आचार्य ने पञ्चकर्म अथवा संशोधन का प्रारम्भ स्नेहन से ही करने का निर्देश किया है। स्नेहन व स्वेदन का प्रथमतः निर्देश देने के सम्बन्ध में आचार्य ने सोपपत्तिक कारण प्रस्तुत किया है—

शुष्काण्यपि हि काष्ठानि स्नेहस्वेदोपपादनैः।
नमयन्ति यथान्यायं किं पुनर्जीवतो नरान् ॥

(च० सू० १४।५)

अर्थात् किसी शुष्क काष्ठ (लकड़ी) को विधिसम्मत स्नेहन क्रियोपरान्त स्वेदित किये जाने से उस काष्ठ को भी अपनी इच्छा के अनुसार घुमाया या मोड़ा जा सकता है तो जीवधारी मनुष्यों के अङ्गादि को स्नेहन और स्वेदन के द्वारा क्यों नहीं इच्छानुसार यथास्थान घुमाया या मोड़ा जा सकता। अर्थात् अवश्य ही मनुष्यों के देह को इच्छानुसार गतिशील किया जा सकता है।

स्नेहन को पूर्वकर्म के रूप में स्वीकार करते हुए आचार्य सुश्रुत ने कहा है कि—

स्नेहस्वेदावनभ्यस्य यस्तु संशोधनं पिबेत्।
दारुशुष्कमिवानामे देहस्तस्य विशीर्यते ॥
स्नेहस्वेदप्रचलिता रसैः स्निग्धैरुदीरिताः।
दोषाः कोष्ठगता जन्तोः सुखाहर्तुं विशोधनैः ॥ (सु० चि० ३३)

अर्थात् यदि बिना पूर्वकर्म यानि स्नेहन व स्वेदन के किसी व्यक्ति में संशोधन चिकित्सा की जाती है तो, वह व्यक्ति उसी प्रकार टूट जाता है या उसकी शरीरगत धातुयें नष्ट हो जाती हैं, जिस प्रकार शुष्क लकड़ी बिना स्नेहन, स्वेदन क्रिया के घुमाने या मोड़ने पर टूट जाती है। इसके अतिरिक्त आचार्य ने स्नेहन की उपादेयता दर्शाते हुए निर्देश किया है कि—स्निग्ध द्रव्यों के द्वारा प्रेरित, स्नेहन व स्वेदन क्रिया से दोष चलायमान होकर कोष्ठ में आ जाते हैं, जहाँ से उन दोषों को संशोधन कर्म के द्वारा सुखपूर्वक निकाला जा सकता है। आचार्य वाग्भट व भेल ने भी इन्हीं उदाहरणों के साथ अपना पक्ष प्रस्तुत किया है।[1]

स्नेहन कर्म का उद्देश्य प्रायशः दोषों को विचलित करना होता है। इससे दोषों में मृदुता आती है। स्नेह, रूक्ष गुण के विपरीत होता है। रूक्ष गुण वात दोष का होता है तथा सभी दोषों में वात दोष प्रधान होता है। अतः स्नेहन क्रिया को वातिक रोगों का प्राथमिक उपचार स्वीकार किया गया है। स्नेहाध्याय की टीका करते हुए आचार्य चक्रपाणिदत्त ने भी इस पक्ष को स्वीकार किया है—

१. स्नेहस्वेदावनभ्यस्य कुर्यात्संशोधनं तु यः।
दारुशुष्कमिवाऽऽनामे शरीरं तस्य दीर्यते ॥ (अ० हृ० सू० १८।५९)
दारुशुष्कमिवास्विन्नं ननम्यमानं यथा भवेत्।
तथाविरेचनं हन्यात् स्नेह स्वेदानुपस्कृते ॥ (भे० सू० १४।३)

'अत्रापि वमनादि प्रवृत्तौ स्नेहस्यैव प्रथमं विधीयमानतया दोषप्रधानस्य वातस्य प्रधानभेषजत्वाच्च तत्प्रतिपादकं एव स्नेहाध्यायोऽभिधीयते ।'—च० सू० १३।१-२ पर चक्रपाणिदत्त ।

स्नेह की योनियाँ—स्नेह की दो योनियाँ मानी गई है[1]—(१) स्थावर स्नेह, (२) जङ्गम स्नेह ।

(१) जो स्नेह विभिन्न वनस्पतियों के माध्यम से प्राप्त होता है, उन्हें स्थावर स्नेह कहते हैं । आचार्य चरक ने निम्न द्रव्यों की गणना स्थावर स्नेह में किया है ।[2]

१. तिल	२. प्रियाल (चिरौंजी)	३. अभिषुक (पिस्ता)
४. विभीतक (बहेड़ा)	५. चित्रा (एरण्डभेद)	६. एरण्ड
७. मधूक (महुआ)	८. सर्षप (सरसों)	९. कुसुम्भ (बर्रे)
१०. विल्व (बेल)	११. अरुक (आडू)	१२. मूलक
१३. अतसी (अलसी)	१४. निकोठक (अंकोठ)	१५. अक्षोड (अखरोट)
१६. करंज	१७. शिग्रु (सहिजन) आदि द्रव्य स्थावर स्नेह के आश्रय होते हैं ।	

उपर्युक्त द्रव्य उदाहरणमात्र हैं । इससे यह नहीं समझना चाहिए कि स्नेहाश्रय इतने ही होते हैं । इनके अतिरिक्त अन्य जो भी द्रव्य स्नेह या तैलयुक्त होते हैं; उन सभी का यथास्थान स्नेहन कर्म में प्रयोग हो सकता है । जैसे—बादाम, शीशम; मूंगफली, भल्लातक, स्वर्णक्षीरी, चंदन आदि । आचार्य सुश्रुत ने स्थावर स्नेहों का वर्णन कार्मुकता के आधार पर किया है, जिसकी तालिका पृथक् रूप से प्रस्तुत की जा रही है । इन उपर्युक्त स्नेहाश्रयों का प्रयोग, दोष व रोग के अनुसार किया जाता है ।

(११) **जङ्गमस्नेह की योनि**—जो स्नेह विभिन्न जन्तुओं द्वारा प्राप्त किया जाता है, उसे जङ्गमस्नेह कहते हैं । ये निम्न हैं ।[3] इस प्रकार के स्नेह, मछली, मृग अर्थात् विभिन्न चतुष्पाद पशु, पक्षी आदि के द्वारा प्राप्त किया जाता है । इनके स्नेहाश्रय हैं—दही, दूध, घृत, मांस, वसा तथा मज्जा आदि; जिनका प्रयोग होता है । आयुर्वेद में विभिन्न चतुष्पाद प्राणियों के वसा का प्रयोग-विवरण बहुतायत से प्राप्त होता है । सभी स्नेह द्रव्यों में घृत को प्रशस्त माना गया है, जो कि जङ्गम स्नेह द्रव्य है ।

---

१. स्नेहानां द्विविधा सौम्य योनिः स्थावरजङ्गमा । (च० सू० १३।५)

२. तिलः प्रियालाभिषुकौ विभीतकश्चित्राभयैरण्डमधूकसर्षपाः ।
कुसुम्भबिल्वारुकमूलकातसीनिकोचकाक्षोडकरञ्जशिग्रुकाः ॥
स्नेहाशयाः स्थावरसंज्ञिताः— (च० सू० १३।१०)

३. तथा स्युर्जङ्गमा मत्स्यमृगाः सपक्षिणः ।
तेषां दधिक्षीरघृतामिषं वसा स्नेहेषु मज्जा च तथोपदिश्यते ॥
(च० सू० १३।११)

सर्वश्रेष्ठ स्थावर स्नेह—आचार्य चरक ने स्थावर स्नेहों में तिल व एरण्ड तैल को सर्वोत्तम कहा है—

सर्वेषां तैलजातानां तिलतैलं विशिष्यते ।
बलार्थे स्नेहने चाग्र्यमैरण्डं तु विरेचने ।। (च० सू० १३।१२)

अर्थात् सभी स्थावर स्नेहों में तिल का तैल सर्वश्रेष्ठ होता है । स्नेहन हेतु तथा शरीर में बलाधान के लिए सभी तैलों में तिल का तैल श्रेष्ठ होता है तथा विरेचन के लिए एरण्ड तैल श्रेष्ठ होता है । आचार्य सुश्रुत ने तिल तैल को सभी तैलों में विशिष्ट माना है, क्योंकि उनका कथन है कि तिल शब्द से ही तैल की निष्पत्ति (तिलस्य विकारः तैलम्) हुई है—

सर्वेभ्यस्त्विह तैलेभ्यस्तिलतैलं विशिष्यते ।
निष्पत्तेस्तद्गुणत्वाच्च तैलत्वमितरेष्वपि ।। (सु० सू० ४५)

विरेचन के लिए एरण्ड तैल को श्रेष्ठ कहा गया है, क्योंकि—

कटूष्णं तैलमैरण्डं वातश्लेष्महरं गुरु ।
कषायस्वादुतिक्तैश्च योजितं पित्तहन्त्रपि ।।

(च० सू० १३।१२-१)

अर्थात् एरण्ड तैल का रस कटु, गुण उष्ण व गुरु, वीर्य उष्ण, वातकफनाशक होता है । यदि इस एरण्ड तैल को कषाय, मधुर व तिक्त रसयुक्त द्रव्यों के संयोग से प्रयोग किया जाता है, तो यह पित्तशामक भी हो जाता है । इस प्रकार अकेले व संयुक्त अवस्था में त्रिदोषनाशक होने से इसे श्रेष्ठ विरेचक स्नेह माना गया है ।

चतुर्विध स्नेह—

सर्पिस्तैलं वसा मज्जा सर्वस्नेहोत्तमा मताः ।
एषु चैवोत्तमं सर्पिः संस्कारस्यानुवर्त्तनात् ।।

(च० सू० १३।१३)

अर्थात् सभी स्नेहों में उत्तम चार स्नेह होते हैं । ये हैं—(१) घृत, (२) तैल, (३) वसा, (४) मज्जा । इन चारों स्नेहों में घृत सर्वोत्तम स्नेह होता है, क्योंकि यह संस्कारों से दूसरों के गुणों का अनुवर्त्तन करने वाला है । संस्कारानुवर्त्तन का तात्पर्य है—'संस्कारस्य अनु पश्चात् वर्त्तनमिति संस्कारानुवर्त्तनम्' अर्थात् अपने गुणों को अपने में रखते हुए संयुक्त अन्य द्रव्यों के गुणों को धारण करना, जो कि घृत के अतिरिक्त अन्य स्नेह में नहीं पाया जाता । तैलादि में भी संयुक्त द्रव्य के गुण तो आते हैं, पर तैल का अपना उष्णादि गुण समाप्त हो जाता है, जैसे—आमलकादि द्रव्यों से सिद्ध तैल शीत गुणयुक्त हो जाता है, पर घृत—

स्नेहाद्वातं शमयति शैत्यात् पित्तं नियच्छति ।
घृतं तुल्यगुणं दोषं संस्कारात्तु जयेत् कफम् ।।

नान्यः स्नेहस्तथा कश्चित् संस्कारमनुवर्त्तते ।
यथा सर्पिरतः सर्पिः सर्वस्नेहोत्तमं मतम् ॥
(च० नि० १।३९-४०)

अर्थात् घृत स्नेह होने के कारण वात का शमन करता है, शीत वीर्य होने से पित्त का शमन करता है, अपने समान गुणयुक्त कफ को संस्कार से नष्ट करता है। घृत सदृश कोई भी स्नेह संस्कार का अनुवर्त्तन नहीं करता, अतः सभी स्नेहों में घृत को सर्वोत्तम कहा गया है।

इन चतुर्विध स्नेह के गुणों पर प्रकाश डालते हुए आचार्य चरक ने सू० अ० १ के श्लोक ८७-८८ में कहा है कि—

सर्पिस्तैलं वसा मज्जा स्नेहोदिष्टश्चतुर्विधः ।
पानाभ्यंजन वस्त्यर्थं नस्यार्थं चैव योगतः ॥
स्नेहना जीवना वर्ण्या बलोपचय वर्धनाः ।
स्नेहाः ह्येते च विहिताः वातपित्तकफापहा ॥

अर्थात् घृत, तैल, वसा व मज्जा—ये चार स्नेह होते हैं। इनका प्रयोग पान (आभ्यन्तर प्रयोग), अभ्यंग, नस्य तथा बस्ति के द्वारा किया जाता है। इनके प्रयोग से शरीर में स्नेहन, जीवन, वर्णप्रसादन तथा बलवृद्धि व उपचय होता है।

इनमें दो स्नेहों को मिलाने पर यमक, तीन मिलाने पर त्रिवृत तथा चारों को मिलाने पर महा स्नेह कहते हैं। जैसे—

यमक स्नेह—१. घृत + तैल, २. घृत + वसा, ३. घृत + मज्जा, ४. तैल + वसा ५. तैल + मज्जा, ६. वसा + मज्जा।

त्रिवृत स्नेह—१. घृत + तैल + वसा, २. घृत + तैल + मज्जा, ३. तैल + वसा + मज्जा, ४. घृत + वसा + मज्जा।

महा स्नेह—घृत + तैल + वसा + मज्जा।

चतुर्विध स्नेहों के गुण व उपयोग

१. घृत के गुण व उपयोग—आयुर्वेद में जहाँ मात्र घृत का उल्लेख आता है; वहाँ उसका तात्पर्य गोघृत से होता है। इसके अतिरिक्त महिषी (भैंस), बकरी आदि पशुओं के घृत का भी प्रयोग होता है। इसका प्रयोग अच्छ या विभिन्न द्रव्यों के साथ संस्कार करके किया जाता है। घृत के गुणों के सम्बन्ध में चरकसंहिता में कहा गया है—

घृतं पित्तानिलहरं रसशुक्रौजसां हितम् ।
निर्वापणं मृदुकरं स्वरवर्णं प्रसादनम् ॥
मारुतघ्नं न च श्लेष्मवर्धनं बलवर्धनं ।
(च० सू० १३।१४)

अर्थात् घृत पित्त व वात का शमन करता है। आद्य धातु रस, अंतिम धातु शुक्र व ओज के लिए कल्याणकारी अर्थात् इनको बढ़ाने वाला होता है। यह शरीर व शरीरांगों को मृदु करता है। स्वर और वर्ण का प्रसादन करता है। यह उत्तम वातशामक होता है, पर समान गुण वाला होते हुए भी कफ को नहीं बढ़ाता, बल्कि बल को बढ़ाने वाला होता है। आचार्य वाग्भट ने इसे स्मृति, मेधा बढ़ाने वाला कहा है—'तत्र धी स्मृति मेधा कांक्षिणां शस्यते घृतम् ।'—अ० हृ० सू० ६।८।

इसका प्रयोग निम्न व्यक्तियों में स्नेहार्थ किया जाता है—

१. वातपित्तप्रकृतयो—जिस व्यक्ति की प्रकृति वातज व पित्तज हो।

२. वातपित्तविकारिणः—जिनको वात-पित्तज व्याधियां हों।

३. चक्षुष्कामा—जो नेत्र की क्षमता (दृष्टिक्षमता) बढ़ाना चाहते हों।

४. क्षताः क्षीणाः—जो क्षतक्षीण रोग से ग्रसित हों।

५. वृद्धा बालास्तथाऽबलाः—जो वृद्ध, बालक वा अत्यन्त दुर्बल हों।

६. आयुप्रकर्षकामाश्च—जो दीर्घायु की इच्छा रखते हों।

७. बलवर्णस्वरार्थिनः—जो बल, वर्ण तथा उत्तम स्वर की इच्छा रखते हों।

८. पुष्टिकामाः—जो अपने शरीर व शरीरांगों को पुष्ट रखना चाहते हों।

९. प्रजाकामाः—जो सन्तान के इच्छुक हों।

१०. सौकुमार्यार्थिनश्च च ये—जो सौकुमार्य यानि शरीर को मृदु रखना चाहते हों।

११. दीप्त्योजः—जो कांति व ओजवृद्धि के इच्छुक हों।

१२. स्मृतिमेधा—जो अपनी स्मृति व मेधा में वृद्धि करना चाहते हों।

१३. अग्निः—जो अपनी अग्नि बढ़ाना चाहते हों।

१४. बुद्धीन्द्रियबलार्थिनः—जो अपनी बुद्धि व इन्द्रियों के बल में वृद्धि चाहते हों।

१५. दाहशस्त्रविषाग्निभिः—जो व्यक्ति दाह, शस्त्र, विष तथा अग्नि से पीड़ित हों।

तैल के गुण व उपयोग—

मारुतघ्नं न च श्लेष्मवर्धनं बलवर्द्धनम् ।
त्वच्यमुष्णं स्थिरकरं तैलं योनिविशोधनम् ॥

(च० सू० १३।१५)

अर्थात् तैल वात-विकारों को शांत करता है। कफ को नहीं बढ़ाता तथा शरीर में बल वृद्धि करने वाला होता है। त्वचा के लिए हितकारी होता है। यह उष्ण होता है। यह मांस में स्थिरता लाने वाला तथा योनिमार्ग का विशोधन करने वाला होता है। आचार्य सुश्रुत ने इसे—आग्नेय, उष्ण, तीक्ष्ण, मधुर तथा मधुर विपाक वाला कहा है। इसके अन्तर्गत व्यवायि, सूक्ष्म, विशद, गुरु, सर, विकाशी

आदि गुणों का समावेश किया गया है तथा इसे बृंहण, प्रीणन, वृष्य, त्वक्प्रसादन, मेधावर्द्धक, मार्दव, मांस को स्थिर करने वाला, बलवर्द्धक, वर्णप्रसादक व चक्षुष्य गुण वाला भी स्वीकार किया गया है। (सु० सू० ४५।११२)

इसका स्नेहार्थ प्रयोग निम्न व्यक्तियों में होता है—

१. प्रवृद्धश्लेष्ममेदस्क:—जिसके शरीर में कफ व मेद की वृद्धि हुई हो।

२. चलस्थूलगलोदरा:—मेद वृद्धि के कारण चलने पर जिनके उदर हिलते हों।

३. वातव्याधिभिराविष्टा—जो वात-व्याधियों से पीड़ित हों।

४. वातप्रकृतयश्च ये—जो वातज प्रकृति का व्यक्ति हो।

५. बलं तनुत्वं लघुतां दृढ़तां कांक्षन्ति—जो शरीर में बल, पतलापन, दृढ़ता व हल्कापन लाना चाहते हों।

६. स्थिरगात्रताम्—जो शरीर को स्थिर बनाना चाहते हों।

७. स्निग्धश्लक्ष्णतनुत्वक्तां ये च कांक्षन्ति देहिनः—जो मनुष्य अपनी त्वचा को स्निग्ध, श्लक्ष्ण और पतला बनाना चाहते हों।

८. कृमिकोष्ठाः क्रूरकोष्ठा:—जिसके उदर में कृमी हों या जो क्रूरकोष्ठी हो।

९. नाडीभिरर्दिता:—जो नाड़ी व्रण से पीड़ित हों।

आचार्य वाग्भट ने भी उपर्युक्त निर्देशों का ही अनुसरण किया है।

वसा के गुण व उपयोग—आनूप व ग्राम्य प्राणियों की वसा गुरु, उष्ण, मधुर तथा वातघ्न होती है। जांगल प्राणियों की वसा शीत, लघु, कषाय, रक्तपित्तनाशक होती है।

इसका स्नेहार्थ उपयोग निम्न व्यक्तियों में होता है—

१. वातातपसहा ये—जो सदैव वायु व धूप में रहते हैं।

२. ये च रूक्षा:—जो अति रूक्ष शरीर वाले हो।

३. भाराध्वकर्षिता—जो भार ढोने के कारण तथा मार्ग चलने से दुबले हो गये हों।

४. संशुष्करेतो रुधिरा:—जिन्हें रक्त व शुक्रक्षय हो।

५. निष्पीतकफमेदस:—जिनमें कफ व मेद का क्षय हुआ हो।

६. अस्थिसंधिसिरास्नायुमर्मकोष्ठमहारुज:—जिनके अस्थि, संधि, सिरा, स्नायु, मर्म व कोष्ठ में अत्यन्त तीव्र वेदना हो।

७. बलवान् मारुतो ह्येषां खानिचावृत्य तिष्ठति—जिनमें वात की अतिवृद्धि के कारण स्रोतस् संग हो गया हो।

८. महच्चाग्नि बलं ह्येषां—जिसकी अग्नि अत्यन्त तीव्र हो गई हो।

९. वसासात्म्याश्च ये नरा:—जिन्हें वसा सात्म्य हो गया हो।

इसके अलावा अन्य स्थल पर वसा के गुणों के सम्बन्ध में निर्देश देते हुए आचार्य ने कहा है—

१०. विघ्नभग्नाहत—जो विद्ध, भग्न व चोट से पीड़ित हों।

११. भ्रष्टयोनि—जिन्हें योनि भ्रंश हो।

१२. कर्णशिरोरुजि—जिन्हें कर्ण वा शिरोवेदना हो।

१३. पौरुषोपचये व्यायामे—जो व्यायाम करते हों और पौरुष शक्ति की इच्छा रखते हों।

मज्जा के गुण व उपयोग—

बलशुक्ररसश्लेष्ममेदोमज्जविवर्धन: ।
मज्जा विशेषतोऽस्थनां च बलकृत् स्नेहने हित: ॥ (च० सू० १३।१७)

अर्थात् मज्जा के सेवन से शरीर में बल, वीर्य, रस, कफ, मेद और मज्जा की वृद्धि होती है। इसका विशेष प्रयोग अस्थियों को बल प्रदान करने तथा शरीर का स्नेहन करने में होता है।

स्नेहार्थ इसका उपयोग उपर्युक्त गुणों के आधार पर ही होता है। विशेषतया—

(१) दीप्ताग्नय:—जिनकी अग्नि तीव्र हो।

(२) क्लेशसहा—जो कष्टकर कार्यों में संलग्न रहते हैं।

(३) घस्मरा: स्नेहसेविन:—धूप में रहने वाले तथा जो स्नेहों का सेवन सदैव करते रहते हैं।

(४) वातार्ता:—जो वात रोग से पीड़ित हों।

(५) क्रूरकोष्ठाश्च—जो व्यक्ति क्रूरकोष्ठी हों।

ऋतुओं के अनुसार चतुर्विध स्नेह-पान विधि तालिका

स्नेह	मास व ऋतु	अनुपान
घृत	शरद्ऋतु (आश्विन, कार्तिक)	उष्ण जल
तैल	प्रावृट्ऋतु (ज्येष्ठ, आषाढ़)	यूष
वसा व मज्जा	माधव मास (वैशाख)	मण्ड

दोषानुसार स्नेहपान[1]—

वातपित्तज विकार व ग्रीष्मऋतु में—स्नेह रात्रि में देवें।

वात कफज विकार व शीतऋतु में— ,, दिन ,, ,, ।

विरुद्ध काल में स्नेहपान से होने वाले विकार[2]—

वातपित्तज विकारों में उष्ण स्नेह दिन में देने से—१. मूर्च्छा २. तृषा ३. उन्माद; ४. कामला आदि विकारों की उत्पत्ति संभव है।

---

१. वातपित्ताधिको रात्रौ उष्णे चापि पिबेन्नर:।
श्लेष्माधिको दिवा शीते पिबेच्चामल भास्करे॥ (च० सू० १३।१९)

२. अत्युष्णे वा दिवा पीते वातपित्ताधिकेन वा।
मूर्च्छां पिपासामुन्मादं कामलां वा समीरयेत्॥

कफ प्रधान विकारों में शीतऋतु वा शीत स्नेह रात्रि में देने से—१. आनाह, २. अरुचि, ३. शूल, ४. पाण्डू आदि विकारों की उत्पत्ति होती है।

स्नेहन का प्रकर्षकाल—'स्नेहनस्य प्रकर्षौ तु सप्तरात्रत्रिरात्रकौ।'–च०सू० १३।५१ अर्थात् स्नेहन का प्रकर्षकाल तीन रात या सप्तरात्रि है। अर्थात् स्नेहन कम से कम तीन दिन व अधिकतम सात दिनों तक करना चाहिए; क्योंकि सात दिनों के बाद स्नेह सात्म्य हो जाता है।[1] मृदुकोष्ठी (कफज विकार) में ३ दिन, मध्यकोष्ठी (पित्तज) में ५ दिन तथा क्रूरकोष्ठी (वातज) में ७ दिन स्नेहन कराना चाहिए।

स्नेह की मात्रा—आयुर्वेद में स्नेहपान का मात्रा-निर्धारण व्यक्ति-विशेष के पाचन शक्ति के आधार पर किया गया है। इस मात्रा को अग्नि के आधार पर तीन प्रकार से वर्गीकृत किया गया है—

१. ह्रस्व मात्रा, २. मध्यम मात्रा, ३. प्रधान या उत्तम मात्रा।[2] आचार्य सुश्रुत ने स्नेह मात्रा का पाँच प्रकार निर्देशित किया है। सुश्रुतोक्त पाँच मात्राओं को इन तीन प्रकारों में तर-तम आधार पर समायोजित कर देने पर स्नेह की व्यावहारिक मात्रा स्पष्ट होती है।

(१) ह्रस्व मात्रा—आचार्य चरक ने आधे दिन (छः घण्टे) में पचने वाले स्नेह को ह्रस्व मात्रा कहा है। यहाँ आचार्य ने स्नेह पाचन की छोटी यानि सबसे कम अवधि वाली दिनार्ध की अर्थात् छः घण्टे स्वीकार की है, पर आचार्य सुश्रुत ने 'या मात्रा परिजीर्येत चतुर्भागगतेऽहनि' कहकर मात्र तीन घण्टे में पच जाने वाली मात्रा की उपादेयता स्वीकार की है तथा इस मात्रा को उन्होंने अल्पतम मात्रा (minimum dose) स्वीकार किया है। इस मात्रा का उपयोग अत्यल्प कुपित दोष व अग्निवर्द्धन हेतु स्वीकार किया गया है। इस लघीयसी मात्रा का उपयोग चिकित्सा में मात्रा परीक्षण हेतु किया जा सकता है तथा दैनिक आहार में स्नेह की यही मात्रा होनी चाहिए जो कि अग्नि-वृद्धिकर गुणयुक्त हो। जहाँ व्याधियों की सबसे छोटी मात्रा का प्रश्न है, वहाँ चरकोक्त छः घण्टे में जीर्ण होने वाली मात्रा को ही स्वीकार करना उचित होगा। इस मात्रा को आचार्य सुश्रुत ने मध्यम मात्रा स्वीकार किया है।[3] इसका

शीते रात्रौ पिबेत् स्नेहं नर श्लेष्माधिकोऽपि वा।
आनाहमरुचिं शूलं पाण्डुतां वा समृच्छति॥ (च० सू० १३।२०-२१)

१. त्र्यहावरं सप्तदिनं परं तु, स्निग्धो नरः स्वेदयितव्य इष्टः।
नातः परं स्नेहनमादिशन्ति सात्म्यीभवेत् सप्तदिनात् परं हि॥ (च० सि० १)

२. अहोरात्रमहः कृत्स्नमर्धाहं च प्रतीक्षते।
प्रधाना मध्यमा ह्रस्वा स्नेहमात्रा जरां प्रति॥
इति तिस्रः समुद्दिष्टा मात्राः स्नेहस्य मानतः। (च० सू० १३।२९)

३. या मात्रा परिजीर्येत तथाऽर्द्धदिवसे गते।
सा वृष्या बृंहणीया च मध्यदोषे च पूजिता॥ (सु० चि० ३१)

उपयोग बृंहण कर्म हेतु, वृष्य कार्य हेतु तथा मध्यम बल वाले कुपित दोषों की शांति के लिए निर्देशित है। आचार्य चरक ने इसे चिकित्सकीय उपयोग हेतु सबसे छोटी मात्रा स्वीकार किया है तथा इस मात्रा का गुण सुश्रुतोक्त गुणों के सदृश ही कहा है—

परिहारे सुखा चैषा मात्रा स्नेहनबृंहणी।
वृष्या बल्या निराबाधा चिरं चाप्यनुवर्तते ॥ (च० सू० १३।४०)

इस मात्रा का प्रयोग--(१) वृद्ध व्यक्तियों के लिए, (२) बालकों के लिए, (३) सुकुमार व्यक्तियों के लिए, (४) जिनकी अग्नि मंद हो गई है, (४) जो कोष्ठ के खाली हो जाने पर कष्टानुभव करते हैं—ऐसे व्यक्तियों के लिए निर्देशित है तथा ज्वर, अतिसार, कास आदि से बहुत दिनों से ग्रसित होने पर अल्प बलयुक्त व्यक्तियों के लिए प्रशस्त कही गई है।[1] यह मात्रा व्यक्तिविशेष के लिए अलग-अलग होती है। इसका निर्धारण आतुर ये उपस्थित जीर्ण स्नेह के लक्षणों के आधार पर किया जाता है। स्नेहपान के बाद जब आतुर या स्नेहसेवी व्यक्ति के शरीर में हल्कापन हो जाय, उसके उद्‌गार शुद्ध आने लगे अर्थात् जिस स्नेह का पान किया है उसका गंध न आकर शुद्ध उद्‌गार का प्रवर्त्तन हो तथा भूख व प्यास की सामान्य अनुभूति हो, तब यह अनुमान किया जाता है कि, स्नेह पाचन पूर्ण हो गया।[2] सामान्यतया स्नेह-पीत व्यक्ति में स्वाभाविक भूख की उत्पत्ति होने पर स्नेह पाचन पूर्ण माना जाता है। उदरगत वायु अनुलोमित हो जाती है।

मध्यम मात्रा--जो स्नेह की मात्रा बारह घण्टे में जीर्ण होती है, उसे आचार्य चरक ने मध्यम मात्रा स्वीकार किया है। आचार्य ने मध्यम मात्रा का प्रयोग शोधनार्थ कहा है, क्योंकि यह मात्रा सुखपूर्वक शरीर के बल क्षय किये बिना स्नेहन कर देती है तथा इस मात्रा से आतुर में किसी प्रकार का उपद्रव होने का भय भी नहीं रहता।[3] आचार्य सुश्रुत ने स्नेहार्थ स्नेह की वह मात्रा स्वीकार किया है, जो नौ घण्टे में पच जाय। इस मात्रा का प्रयोग उन्होंने बहुदोषीय रोगियों के लिए कहा है। आचार्य सुश्रुत मध्यम मात्रा में दो विभाग किए हैं, एक छः घण्टे में जीर्ण होने वाली मात्रा तथा यदि चरकोक्त संदर्भ में देखा जाय तो नौ घण्टे में जीर्ण होने वाली

---

१. ये तु वृद्धाश्च बालाश्च सुकुमाराः सुखोचिताः।
रिक्तकोष्ठत्वमहितं येषां मन्दाग्नयश्च ये ॥
ज्वरातीसारकासाश्च येषां चिरसमुत्थिताः।
स्नेहमात्रां पिबेयुस्ते ह्रस्वा ये चावरा बले ॥
(च० सू० १३।३८-३९)

२. अनुलोमोऽनिलः स्वास्थ्यं क्षुत्तृष्णोद्‌गार शुद्धिभिः। (अ० सं० सू० २५)

३. मात्रैषा मन्दविभ्रंशा न चातिबलहारिणी।
सुखेन च स्नेहयति शोधनार्थे च युज्यते ॥ (च० सू० १३।३७)

मात्रा। नौ घण्टे में जीर्ण होने वाली मात्रा को स्पष्टतया 'स्नेहनीयत्वात्' कहा है।[1] शोधनार्थ इस मात्रा का प्रयोग उन आतुरों में प्रशस्त होता है जो (१) अधिक मात्रायुक्त आहार नहीं लेते अर्थात् जिसके आहार की मात्रा सामान्य (Normal or average quantity) हो, (२) जो मृदुकोष्ठ वाले हों[2] (३) जो मध्यम बलयुक्त हो। इस प्रकार सामान्य आहार मात्रा ग्रहण करने वाले, सामान्य बलयुक्त तथा मृदुकोष्ठ वाले व्यक्तियों में मध्यम मात्रा का प्रयोग करना चाहिए। मध्यम मात्रा का प्रयोग आचार्य चरक ने विशेषकर विभिन्न चर्म रोगों, जैसे--अरुष्क (फुन्सियां), स्फोट, पिडका (शरीर पर निकलने वाले व्रण) कण्डू, पामा आदि रोग में कहा है। इसका प्रयोग कुष्ठ में करने का निर्देश देकर आचार्य ने सम्पूर्ण त्वक् रोगों में इस मात्रा का विधान किया है। इसके अतिरिक्त प्रमेह व वातरक्त से स्नेह की मध्यम मात्रा का ही विधान किया गया है।[3]

प्रधान मात्रा—जिस स्नेह का पाचन अहोरात्र अर्थात् चौबीस घण्टे में हो उसे प्रधान या स्नेह की उत्तम मात्रा कहा गया है। आचार्य चरक की अवधारणा है कि—यदि विधिपूर्वक प्रधानमात्रा से व्यक्ति का स्नेहन किया जाता है तो—(१) विकाराञ्छमयत्येषा शीघ्रम्—जिस विकार के लिए स्नेह प्रयोग किया जाता है, वह विकार शीघ्र ही शांत हो जाता है। (२) दोषानुकर्षिणी मात्रा—अर्थात् स्नेह की उत्तम मात्रा दोषों का अनुकर्षण करने वाली होती है। (३) मात्रा सर्वमार्गानुसारिणी—प्रधान मात्रा में प्रयुक्त स्नेह रोगों के सभी मार्गों में अनुसरण करने वाला होता है, अर्थात् उर्ध्वप्रदेश, अधःप्रदेश, तिर्यक्, कोष्ठ, मर्मादि सभी स्थलों पर पहुँचने वाला होता है, जिससे तदाश्रित व्याधियों का नाश हो जाता है। (४) बल बढ़ाने वाली होती है। (५) पुनर्नवकारी शरीरेन्द्रियचेतसाम्--अर्थात् स्नेह की प्रधान मात्रा

---

१. या मात्रा परिजीर्येत्तु चतुर्भागावशेषिते।
स्नेहनीयाहित्वात् सा मात्रा पूजिता भवेत्॥ (सु० चि० ३१)

२. मृदुकोष्ठ के लक्षण में कहा गया है---

गुडमिक्षुरसं मस्तु क्षीरमुल्लोडितं दधि।
पायसं कृशरां सर्पिः काश्मर्यत्रिफलारसम्॥
द्राक्षारसं पीलुरसं जलमुष्णमथाऽपि वा।
मद्यं वा तरुणं पीत्वा मृदुकोष्ठो विरिच्यते॥
(च० सू० १३।६६-६७)

३. अरुष्क स्फोट पिडका कंडु पामाभिरर्दिताः।
कुष्ठिनश्च प्रमीढाश्च वातशोणितकाश्च ये॥
नाति बह्वाशिनश्चैव मृदुकोष्ठास्तथैव च।
पिबेयुर्मध्यमां मात्रां मध्यमाश्चापि ये बले॥ (च० सू० १३।३५-३६)

शरीर, इन्द्रिय तथा मनोगत विकारों को शांत करने के साथ उन्हें नूतनता प्रदान करती है। इस मात्रा के संदर्भ में आचार्य चरक ने 'विकाराञ्छमयत्येषा' कहकर स्पष्ट कर दिया है कि जब स्नेह का प्रयोग रोगविशेष का शमन करने के लिए करना हो तो स्नेह की प्रधान मात्रा प्रयुक्त होती है। इसका प्रयोग विशेषतया उनमें किया जाता है—जो नित्य प्रति अतिमात्रा में स्नेह-प्रयोग करने के कारण अभ्यासी हो गये हों, जिनमें भूख व प्यास को सहन करने की अत्यधिक क्षमता हो या जो भूख व प्यास को प्रायशः सहन करते हों, जिस व्यक्ति के जठराग्नि का बल उत्तम हो अर्थात् प्रबल जठराग्नि वाले तथा जिस व्यक्ति का शारीरिक बल उत्तम हो।[1] प्रधान मात्रा का प्रयोग आचार्य के निर्देशानुसार जो भी विकार स्नेहन द्वारा शोभित होने वाले हैं, उनमें तो विकार शमन हेतु किया ही जाता है पर कतिपय निम्न विशिष्ट अवस्थाओं में भी स्नेह की प्रधान मात्रा ही प्रयोग करनी चाहिए। जैसे--गुल्मरोग में, सर्पदंश की अवस्था में, विसर्प रोग में, उन्माद में, मूत्रकृच्छ्रता में तथा जब किसी व्यक्ति का मल शुष्कावस्था में निकलता हो।[2] आचार्य सुश्रुत ग्लानि, मद, मूर्च्छा में चरकोक्त मध्यम मात्रा[3] का निर्देश किये हैं तथा उत्तम या प्रधान मात्रा का उपयोग उन्होंने कुष्ठ, विष, उन्माद, ग्रह अर्थात् भूतोन्माद तथा अपस्मार में विशेषरूप से निर्दिष्ट किया है।[4] जबकि आचार्य चरक ने कुष्ठ रोग में स्नेह की मध्यम मात्रा स्वीकार किया है।

स्नेहन योग्य पुरुष—वैसे तो स्नेह मात्रा प्रकरण में स्नेह्य पुरुषों का विवेचन किया जा चुका है, पर आचार्य चरक ने स्थूलतः स्नेह्य पुरुषों के बारे में संकेत देते हुए कहा है कि[5]—(१) स्वेद्याः—जिन व्यक्तियों का स्वेदन करना हो, (२) शोधयितव्याश्च—जिस व्यक्ति का संशोधन (पंचकर्म चिकित्सा) करना हो, (३) रूक्षा–

---

१. प्रभूतस्नेहनित्या ये क्षुत्पिपासासहा नराः।
पावकश्चोत्तमबलो येषां ये चोत्तमा बले॥ (च० सू० १३।३९)

२. गुल्मिनः सर्पदष्टाश्च विसर्पोपहताश्च ये।
उन्मत्ताः कृच्छ्रमूत्राश्च गाढवर्चस एव च॥
पिबेयुरुत्तमां मात्राम्। (च० सू० १३।३२)

३. या मात्रा परिजीर्येत्तु तथा परिणतेऽहनि।
ग्लानिमूर्च्छामदान् हित्वा सा मात्रा बहुदोषे च पूजिता॥ (सु० चि० ३१)

४. अहोरात्रादसंदुष्टा या मात्रा परिजीर्यति।
सा तु कुष्ठविषोन्मादग्रहापस्मारनाशिनी॥ (सु० चि० ३१)

५. स्वेद्याः शोधयितव्याश्च रूक्षा वातविकारिणः।
व्यायाममद्यस्त्रीनित्याः स्नेह्याः स्युर्ये च चिन्तकाः॥ (च० सू० १३।५२)

जिनका शरीर रूक्ष हो गया हो, (४) वातविकारिण:—जो वात विकार से ग्रसित हों, (५) व्यायाममद्यस्त्रीनित्या:—जो नित्य प्रति व्यायाम करते हों, नित्य मदिरापान करते हो या प्रतिदिन स्त्री-सेवन (मैथुनादि कर्म) करते हों, उन्हें स्नेहन कराना चाहिए।

स्नेहन निषेध (अस्नेह्य पुरुष)—निम्न व्यक्तियों में स्नेहन कर्म नहीं करना चाहिए।[1] (१) संशोधन के बिना जिन व्यक्तियों में रूक्षण क्रिया करनी हो, (२) जिन व्यक्तियों में कफ की अधिकता हो, (३) मेदस्वी व्यक्तियों में, (४) जिन व्यक्तियों में मुख स्राव के कारण मुख में कफ भरा रहता हो, (५) मुख के सदृश ही गुद-स्राव से जिनकी गुदा भरी रहती हो, (६) जो व्यक्ति सदैव मंदाग्नि से पीड़ित रहते हों, (७) जिन व्यक्तियों में तृषाधिक्य हो, (८) जिन्हें मूर्च्छा आती हो, (९) गर्भिणी हो, (१०) जो व्यक्ति तालुशोष से पीड़ित हों। (११) जो अरुचि, वमनरोग, उदररोग, आमदोष या कृत्रिम विष से पीड़ित हों, (१२) जो दुर्बल काय वाले हों, (१३) जो क्लमयुक्त हो, (१४) स्नेहपान करने के उपरान्त जिन व्यक्तियों में ग्लानि उत्पन्न हो जाती हो, (१५) जो व्यक्ति मद रोग से पीड़ित हो तथा (१६) जिन्होंने नस्य चिकित्सा या बस्ति चिकित्सा ली हो।

उपर्युक्त व्यक्तियों में स्नेहन क्रिया का निषेध किया गया है। अतः स्नेहन के योग्य व अयोग्य व्यक्तियों का विचार करने के उपरान्त ही स्नेहन कर्म करना चाहिए अन्यथा—'स्नेहपानात् प्रजायन्ते तेषां रोगाः सुदारुणाः' अर्थात् अयोग्य व्यक्तियों को स्नेहन कर्म कराने से अर्थात् स्नेहपान कराने से विभिन्न प्रकार की दारुण (भयङ्कर) व्याधियाँ उत्पन्न हो जाती है। यदि इस पर सूक्ष्म विचार किया जाय तो यह भी संकेत प्राप्त होता है कि उपर्युक्त व्यक्तियों में स्नेहन चिकित्सा का निषेध तो है ही, उन व्यक्तियों को अपने आहार में भी स्नेह द्रव्यों का निषेध करना चाहिए।

सम्यक् स्निग्ध के लक्षण—स्नेहपानोपरान्त यह निरीक्षण करते रहना चाहिए कि व्यक्ति का सम्यक् रूपेण स्नेहन हो गया है या नहीं हुआ है। सम्यक् रूपेण स्निग्ध पुरुष में (१) वातानुलोम्यं—वायु का अनुलोमन हो जाता है। (२) दीप्तोऽग्निः—

---

१. संशोधनादृते येषां रूक्षणं संप्रवक्ष्यते।
न तेषां स्नेहनं शस्तमुत्सन्नकफमेदसाम्॥
अभिष्यण्णाननगुदा नित्यमन्दाग्नयश्च ये।
तृष्णामूर्च्छापरीताश्च गर्भिण्यस्तालुशोषिणः॥
अन्नद्विषश्छर्दयन्तो जठरामगरर्दिताः।
दुर्बलाश्च प्रतान्ताश्च स्नेहग्लानिमदातुराः॥
न स्नेह्या वर्तमानेषु न नस्तोबस्तिकर्मसु।
स्नेहपानात् प्रजायन्ते तेषां रोगाः सुदारुणाः॥ (च० सू० १३।५३-५६)

जठराग्नि तीव्र हो जाती है। (३) वर्चः स्निग्धमसंहतम्—मल चिकना व पतला हो जाता है अर्थात् गाँठदार मल का निष्क्रमण नहीं होता है। (४) मार्दवं स्निग्धता चाङ्गे—शरीर व शरीरांगों में चिकनापन एवं कोमलता आ जाती है।[1] आचार्य सुश्रुत एवं वाग्भट ने इन लक्षणों के अतिरिक्त क्लम एवं गुदमार्ग से स्नेह का निकलना ये दो लक्षण कहे हैं।[2] आचार्य वाग्भट ने स्नेहोद्वेग अर्थात् स्नेह से उद्वेग हो जाना सम्यक् स्निग्ध का लक्षण माना है।

अस्निग्ध के लक्षण—जब किसी व्यक्ति को स्नेहपान कराया जाता है तो मात्रा, काल दोनों पर सम्यक् विचार किया जाता है। इसके बाद जब रोगी में या व्यक्ति विशेष में निम्न लक्षण प्रादुर्भूत होते हैं तब समझना चाहिए कि व्यक्ति का सम्यक् स्नेहन नहीं हो पाया है। ये लक्षण निम्न हैं—(१) मल का रूक्ष व गाँठदार निकलना, (२) वायु का अनुलोमन नहीं हो पाना, (३) जठराग्नि का मंद रहना, (४) शरीर में रूक्षता व्याप्त रहना, (४) शरीर में खरता अर्थात् खुरदुरापन रहना आदि।[3] इन लक्षणों के अतिरिक्त आचार्य सुश्रुत ने असम्यक् स्निग्ध के लक्षणों में—(अ) उरोप्रदेश में दाह (जलन) का अनुभव होना, (ब) दुर्बलता का अनुभव होना, (स) शरीर के वर्ण का खराब हो जाना, (द) अन्न का पाचन कठिनाई से होना अर्थात् अन्न-पाचन में कठिनाई का अनुभव करना आदि लक्षण स्वीकार किया है।[4]

अतिस्निग्ध पुरुष के लक्षण—जब स्नेहन की क्रिया अधिक हो जाती है तो (१) व्यक्ति के शरीर में पाण्डुता हो जाती है। (२) शरीर में भारीपन, (३) शरीर में जड़ता वा जकड़ाहट हो जाती है। (४) व्यक्ति तन्द्रा, उत्क्लेश तथा अरुचि आदि लक्षणों से युक्त हो जाता है।[5] आचार्य सुश्रुत ने उपर्युक्त लक्षणों के साथ आतुर में—

---

१. वातानुलोम्यं दीप्तोऽग्निर्वर्चः स्निग्धमसंहतम्।
मार्दवं स्निग्धता चाङ्गे स्निग्धानामुपजायते॥ (च० सू० १३।५८)

२. सुस्निग्धात्वक् विट् शैशिल्य दीप्तोऽग्निर्मृदुगात्रता।
ग्लानिलाघवमंगानां अधस्ताद् स्नेहदर्शनम्॥
……स्नेहोद्वेगः क्लमः स्निग्धे सम्यक् रूक्षे विपर्ययः।
(अ० हृ० सू० १६।३०)

३. पुरीषं ग्रथितं रूक्षं वायुरप्रगुणो मृदुः।
पक्ता खरत्वं रौक्ष्यं च गात्रस्यास्निग्धलक्षणम्॥ (च० सू० १३।५७)

४. पुरीष ग्रथितं रूक्षं कृच्छादन्नं विपच्यते।
उरो विदह्यते वायुः कोष्ठावुपरि धावति॥
दुर्वर्णा दुर्बलाश्चैव रूक्षो भवति मानवः। (सु० चि० ३१।५१-५२)

५. पाण्डुता गौरवं जाड्यं पुरीषस्याविपक्वता।
तन्द्रीररूचिरुत्क्लेशः स्यादतिस्निग्धलक्षणम्॥ (च० सू० १३।५९)

(१) गुदस्राव, (२) गुददाह, (३) भक्तद्वेष, (४) प्रवाहिका तथा (५) पुरुषातिप्रवृत्ति आदि लक्षणों को भी स्वीकार किया है।[1] आचार्य वाग्भट ने अतिस्निग्ध के लक्षण में मात्र पाण्डुत्व व मुख, नासिका तथा गुदा से स्राव होना आदि लक्षणों का वर्णन किया है--

अतिस्निग्धे तु पाण्डुत्वं घ्राणवक्त्रगुदस्रवः।

(अ० हृ० सू० १६।३१)

स्नेहपान से पूर्व व पश्चात् हिताहित

स्नेहपूर्व हिताहित—

द्रवोष्णमनभिष्यन्दि भोज्यमन्नं प्रमाणतः।
नातिस्निग्धमसंकीर्णं श्वः स्नेहं पातुमिच्छता॥

(च० सू० १३।६०)

स्नेहपान करने से एक दिन पहले ऐसा आहार लेना चाहिए जो—(१) द्रवरूप में हो, (२) उष्ण हो, (३) अभिष्यन्दी नहीं हो अर्थात् स्रोतावरोध उत्पन्न कर गौरवोत्पादक न हो, (४) अतिस्निग्ध न हो अर्थात् सामान्यरूपेण स्निग्धाहार हो, कोई विशेष तैलीय या स्नेहयुक्त आहार न हो, (५) असंकीर्ण हो अर्थात् वह आहार जो स्रोतों के अनुकूल पथ्य हो।

पश्चात् हिताहितम्—स्नेहपान करने के बाद जब स्नेह जीर्ण हो जाय तब निम्न हिताहित का विचारपूर्वक पालन करना चाहिए—

१. उष्णोदकोपचारी—उष्ण जल का पान करना चाहिए।

२. स्याद्ब्रह्मचारी—ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिए।

३. क्षपाशयः—रात्रि में शयन करना चाहिए।

४. शकृन्मूत्रानिलोद्गारानुदीर्णांश्च न धारयेत्—मल, मूत्र, वायु, उद्गार(डकार) आदि के वेग आने पर उनका निष्क्रमण करना चाहिए। इन वेगों को कदापि धारण नहीं करना चाहिए।

५. व्यायाममुच्चैर्वचनं क्रोधशोकौ हिमातपौ।
वर्जयेदप्रवातं च सेवेत शयनासनम्॥ (च० सू० १३)

व्यायाम, उच्च भाषण अर्थात् उच्च स्वर में बोलना, क्रोध करना, शोक करना; धूप सेवन या धूप में रहना, शीतल वस्तुओं का सेवन वा शीत में रहना आदि का त्याग करना चाहिए तथा--

---

१. भक्तद्वेषो मुखस्रावो गुददाहः प्रवाहिका।
पुरीषातिप्रवृत्तिश्च भृशंस्निग्धस्य लक्षणम्॥ (सु० चि० ३१।५४)

६. अप्रवात स्थान अर्थात् जहाँ वायु सीधे प्रवाहित न होती हो या जो स्थान वायु से प्रभावित न हो उस स्थान पर बैठना तथा सोना चाहिए।

उपर्युक्त नियमों का पालन स्नेहपान के बाद, स्नेह जीर्ण हो जाने के बाद तथा पुनः स्नेहपान के शीघ्र बाद ही प्रारम्भ करना चाहिए, अन्यथा इन नियमों का पालन नहीं करने पर अनेक प्रकार की व्याधियाँ उत्पन्न होती हैं; जैसाकि आचार्य चरक ने संकेत दिया है—

स्नेहं पीत्वा नरः स्नेहं प्रतिभुञ्जान एव च।
स्नेहमिथ्योपचाराद्धि जायन्ते दारुणा गदाः॥
(च० सू० १३।६४)

इन नियमों का पालन स्नेहपान काल तक अर्थात् एक सप्ताह तक करना चाहिए। आचार्य वाग्भट इनके अलावा अन्य पालनीय निर्देश देते हैं; जैसे—ज्यादा पैदल नहीं चलना चाहिए, किसी सवारी पर यात्रा नहीं करनी चाहिए, ऊँचे-नीचे जगहों पर शयनासनादि नहीं करना चाहिए, अत्यधिक निद्रा-सेवन नहीं करना चाहिए, धूलि व धुयें से अपनी रक्षा करनी चाहिए आदि—

...प्रवात यानाध्वमाणात्यासन् संस्थितौः।
नीचात्युच्चोपधानाहः स्वप्नधूमरजांसि च॥
(अ० सं० सू० १६ व अ० हृ० सू० १३।२६-२७)

स्नेहव्यापद् एवं उसकी चिकित्सा

स्नेहव्यापद् से यहाँ तात्पर्य स्नेहपान के कारण उत्पन्न विकार या उपद्रव से है। सम्यक् रूपेण परीक्षणादि के उपरान्त यथायुक्ति स्नेहपान में किसी प्रकार के व्यापद् की संभावना या भय नहीं रहता, पर यदि प्रमादवश परीक्षणादि (रोग, रोगी) व उचित विधि-विधान का सम्यक् पालन नहीं किया जाता, तो अनेक प्रकार के दारुण विकार उत्पन्न हो जाते हैं। स्नेहव्यापद् के कारणों को आचार्य चरक ने निम्न रूपों में वर्गीकृत किया है—[1]

(१) अकाल में स्नेहपान करने के कारण स्नेह व्यापद् होते हैं।

(२) अस्नेह्य रोगी अर्थात् जिनमें स्नेहन नहीं कराया जा सकता है, उस व्यक्ति को स्नेहपान कराने पर।

(३) अस्नेह्य रोग अर्थात् स्नेहन हेतु निषेधित रोगों में स्नेहपान कराने पर स्नेह व्यापद् होते हैं।

(४) मात्रापूर्वक स्नेहपान नहीं करने पर।

---

१. अकाले चाहितश्चैव मात्रया न च योजितः।
स्नेहोमिथ्योपचाराच्च व्यापद्येताऽतिसेवितः॥ (च० सू० १३।७९)

(५) स्नेह-सेवन से सम्बन्धित बतलाए गये नियमों का यथावत् पालन नहीं करने पर स्नेहव्यापद् होते हैं।

स्नेहव्यापद्—स्नेहन कर्म के विभिन्न विधि-विधानों में अनेकों बार आचार्य चरक ने घोषणा की है कि—अमुक नियम पालन नहीं करने से दारुण व्याधियाँ उत्पन्न होती हैं। इसका तात्पर्य यह है कि स्नेहव्यापद् दारुण होते हैं, अतः इन व्यापदों की शीघ्र व तत्क्षण चिकित्सा की आवश्यकता होती है। इन व्याधियों को आत्ययिक व्यापद् के रूप में ग्रहण कर शीघ्रतम संभाव्य चिकित्सा करनी चाहिए। आचार्य ने निम्न स्नेहव्यापदों का उल्लेख किया है[1]—१. तन्द्रा, २. उत्क्लेश अर्थात् जी मिचलाना, ३. आनाह, ४. ज्वर, ५. स्तम्भ, ६. विसंज्ञता अर्थात् संज्ञाशून्य हो जाना, ७. कुष्ठ, ८. कण्डू, ९. पाण्डुरोग, १०. शोथ, ११. अर्श, १२. अरुचि, १३. तृष्णा, १४. उदररोग, १५. ग्रहणीदोष, १६. स्तैमित्य, १७. वाक् निग्रह अर्थात् वाणी का अवरुद्ध हो जाना, १८. उदरशूल, १९. आमदोष (अर्थात् आमदोषजन्य अलसक विसूचिका, विलम्बिकादि आत्ययिक व्याधियाँ) आदि। आचार्य सुश्रुत ने स्नेह-व्यापद् में प्रधानतः विष्टंभ का उल्लेख किया है तथा यह भी उल्लेख किया है कि विष्टंभ के कारण स्नेह का पाचन धीमी गति से होता है।[2] चरकोक्त व्यापद् में कतिपय व्यापद् ऐसे हैं, जिनकी शीघ्र चिकित्सा करने की आवश्यकता होती है तथा कतिपय कुष्ठ, कण्डू, उदरामय, ग्रहणी आदि व्यापदों में लम्बे समय तक चिकित्सा की आवश्यकता होती है। किसी भी प्रकार के स्नेहव्यापद् उत्पन्न होने पर प्रमाद का त्याग कर सावधानीपूर्वक शीघ्र ही चिकित्सा प्रदान करनी चाहिए अन्यथा व्यापद् मृत्युकारक भी हो सकता है। आचार्य चरक ने स्नेहव्यापद् की प्रासंगिकता का महत्त्व दर्शाते हुए अविधिपूर्वक स्नेहपान के उपद्रव पर उदाहरण-सहित प्रकाश डाला है। उन्होंने इसकी प्रासंगिकता समझाते हुए कहा है कि—

'उदीर्णपित्ता ग्रहणी यस्य चाग्निबलं महत्'—अर्थात् जिस व्यक्ति के ग्रहणी में पित्त प्रबल होता है यानि पित्ताधिक्यता होती है, उस व्यक्ति के अग्नि का बल पित्ता-धिक्य के कारण अतिप्रबल होता है। यदि वह व्यक्ति—

---

१. तन्द्रा सोत्क्लेश आनाहो ज्वरः स्तम्भो विसंज्ञता।
कुष्ठानि कण्डूः पाण्डुत्वं शोफार्शांस्यरुचिस्तृषा॥
जठरं ग्रहणीदोषः स्तैमित्यं वाक्यनिग्रहः।
शूलमामप्रदोषाश्च जायन्ते स्नेहविभ्रमात्॥
(च० सू० १३।७५-७६)

२. मिथ्याचारात् बहुत्वाद्वा यस्य स्नेहो न जीर्यति।
विष्टभ्य चापि जीर्यन्ति वारिणोष्णेन वामयेत्॥
(सु० चि० ३१।३१)

'स्नेह: पीतोऽग्नितेजस्'—इस अग्नि की तीव्रावस्था में स्नेह का पान व सेवन करता है तो—

'भस्मीभवति तस्याशु'—वह पान किया गया स्नेह आशु यानि शीघ्र ही भस्मीभूत अर्थात् भस्म हो जाता है। फिर—

'स जग्ध्वा स्नेहमात्रां तामोज: प्रक्षारयन् बली।
स्नेहाग्निरुत्तमां तृष्णां सोपसर्गामुदीरयेत् ॥

उस स्नेह के द्वारा शरीरस्थ तीव्र अग्नि और भी बलवान् हो जाती है। परिणामत: पान किये गये स्नेह को पचाकर ओज का क्षरण प्रारम्भ कर देती है, जिसके कारण उस व्यक्ति में उग्र व उपद्रव रूप में तृषा की उत्पत्ति हो जाती है। क्योंकि—

'नालं स्नेहसमृद्धस्य शमायान्नं सुगुर्वपि'—स्नेह के द्वारा जब अग्नि अतिप्रबल हो जाती है तब यदि गुरु अन्न का भी सेवन किया जाता है तो भी वह अति गुरु द्रव्य उस उत्पन्न तीव्राग्नि को शांत करने में असमर्थ हो जाता है। इसके फलस्वरूप—

'स चेत् सुशीतं सलिलं नासादयति दह्यते'—यदि तृषा उत्पन्न हो जाने पर उस व्यक्ति को शीतल जल नहीं मिलता तो पूरे शरीर में उग्र स्वरूप का भयंकर दाह उत्पन्न हो जाता है। इस प्रकार यह अग्नि उसी प्रकार से उस व्यक्तिविशेष के लिए मृत्युकारक हो जाती है, जिस प्रकार से—

'यथैवाशीविष: कक्षमध्यग: स्वविषाग्निना'—जैसे सूखे हुए तृणसमूह पर विषैले सर्प को जब क्रोध आता है तो उस क्रोधित सर्प के विषरूपी अग्नि से पूरा तृणसमूह जल जाता है तथा सर्प भी उसी अग्नि में जल कर मृत्यु को प्राप्त करता है।

इस प्रकार उपर्युक्त तथ्यों के द्वारा स्नेहव्यापद् व उसकी दारुणता को संकेतित करते हुए आचार्य ने वैद्यों को व स्नेहपायी को सावधान किया है। बिधिपूर्वक स्नेहपान जीवनदाता है तो अविधिपूर्वक स्नेहपान मृत्युकारक भी है।

स्नेहव्यापद् की चिकित्सा

स्नेहव्यापद् में आयुर्वेदाचार्यों ने अजीर्ण, विष्टंभादि को प्राथमिक व्यापद मानकर इसकी चिकित्सा हेतु निर्देश दिया है। ऐसी बात नहीं है कि अन्य व्यापदों की चिकित्सा वर्णित नहीं है, बल्कि अजीर्ण, विष्टंभादि प्रायश: आतुरों में हो जाते हैं, अत: इसे सामान्य (Common) व्यापद् मानकर इसकी विशिष्ट चिकित्सा बतलाई गई है। आचार्य चरक ने कहा है कि—

अजीर्णे यदि तु स्नेहे तृष्णा स्याच्छर्दयेद्भिषक्।
शीतोदकं पुन: पीत्वा भुक्त्वा रूक्षान्नमुल्लिखेत् ॥

(च० सू० १३।७३)

अर्थात् स्नेह-पानोपरान्त स्नेहाजीर्ण से यदि आतुर को तृषाधिक्य उत्पन्न हो जाय

तो प्रथमतः आतुर को वमन कराना चाहिए। फिर वमन कराने के बाद भी यदि तृष्णा शांत नहीं होती है तब पुनः वमन कराने का उपक्रम करना चाहिए। इसके लिए आतुर को शीतल जल पिलाकर तथा रूक्ष अन्न खिलाकर वमन कराना चाहिए। आचार्य सुश्रुत स्नेहव्यापद् में प्राथमिक व्यापद् विष्टम्भ को मानते हुए उष्णोदक से वमन का विधान किये हैं तथा वे भी इस विष्टम्भ का कारण अजीर्ण को ही स्वीकार करते हैं —

मिथ्याचारात् बहुत्वाद्वा यस्य स्नेहो न जीर्यति।
विष्टभ्य चापि जीर्यन्ति वारिणोष्णेन वामयेत्॥

(सु० चि० ३१।३१)

स्नेहाजीर्ण में उष्णोदक प्रयोग करने से विष्टम्भोत्पादक कफ का विलयन होता है, स्नेह का पाचन होता है, वात का अनुलोमन होता है तथा इससे उत्पन्न तृष्णा का नाश होता है[१]। सभी प्रकार के स्नेहव्यापदों की चिकित्सा का आचार्य चरक ने निम्न रूप में निर्देश दिया है[२] —

१. स्नेहजन्य सभी प्रकार के व्यापदों में प्रथमतः वमन कराना।

२. स्वेदन कराना।

३. कालानुसार प्रतीक्षा करना तथा व्यक्तिविशेष की व्याधि, बल के अनुसार विरेचन कराना।

४. तक्रारिष्ट का प्रयोग कराना चाहिए।

५. रूक्ष अन्न और पेय पदार्थों का सेवन कराना।

६. मूत्रों का प्रयोग कराना।

७. त्रिफला का सेवन कराना आदि। इन चिकित्साओं से सभी प्रकार के स्नेहव्यापद् शांत हो जाते हैं।

---

१. स पानादुष्णतोयस्य प्रागुण्यं स्नेहनादपि।
यात्यभिष्यन्दिते स्नेहे कफे च प्रविलायिते॥
श्लेष्मवातानुलोम्यार्थं तृष्णाघ्नं स्नेहपाचनम्।
स्नेहे तस्मादजीर्णेऽपि तोयमुष्णं न दुष्यति॥
(च० सू० १३।६२ पर चरकोपस्कार टीका)

२. तत्राप्युल्लेखनं शस्तं स्वेदः कालप्रतीक्षणम्।
प्रति प्रति व्याधिबलं बुद्ध्वा स्रंसनमेव च॥
तक्रारिष्टप्रयोगश्च रूक्षपानान्नसेवनम्।
मूत्राणां त्रिफलायाश्च स्नेहव्यापत्तिभेषजम्॥
(च० सू० १३।७७-७८)

स्नेह की प्रविचारणायें

स्नेहन कर्म में स्नेह-द्रव्यों का आभ्यन्तर प्रयोग दो प्रकार से किया जाता है। एक, दो या अधिक स्नेह-द्रव्यों का ही पान व्यक्ति को करा दिया जाता है। इस प्रकार से जब केवल स्नेह-द्रव्यों का पान कराया जाता है तो उसे अच्छपान कहा जाता है तथा उस स्नेह द्रव्य को अच्छ स्नेह कहा जाता है। कतिपय व्यक्तियों को मात्र स्नेहपान न कराकर, उस स्नेह द्रव्य को किसी अन्य खाद्य या पेय द्रव्यों के साथ मिलाकर प्रयोग किया जाता है। इस प्रकार जब स्नेह द्रव्यों का अन्य भोजन-कल्पों के साथ मिलाकर प्रयोग किया जाता है, तो उसे स्नेह-प्रविचारणा कहा जाता है। जैसाकि आचार्य चक्रपाणिदत्त एवं आचार्य गंगाधर जी ने प्रविचारणा शब्द की टीका करते हुए कहा है—

'प्रविचार्यतेऽवचार्यतेऽनुकल्पेनोपयुज्यतेऽनयेति प्रविचारणा ओदनादयश्च।'

(च० सू० १३।२५ पर चक्रपाणिदत्त)

'प्रविचारणा प्रकर्षेण विशेषात् चर्य्यते भक्षणपानलेहाभ्यञ्जनादिरूपेण उपसेव्यते यत्तत् प्रविचारणा।'—गंगा०।

आचार्य चरक ने स्नेहन कर्म हेतु चौबीस प्रविचारणाओं का उल्लेख किया है। अर्थात् स्नेहन हेतु स्नेह द्रव्यों का प्रयोग चौबीस कल्पों में किया जा सकता है। आचार्य ने प्रविचारणा प्रकरण में बाह्य व आभ्यन्तर दोनों प्रकार के कल्पों का उल्लेख किया है। कविराज गंगाधर व चक्रपाणिदत्त ने प्रविचारणा को और अधिक स्पष्ट करते हुए कहा है कि—'स्नेहप्रविचारणायां स्नेहयुक्ता एव बोद्धव्याः अभ्यञ्जनादयस्तु यद्यपि शुद्धस्नेहसंपाद्यास्तथाऽपि जठराग्निसंबन्धेन व्याप्रियन्त इति विचारणाशब्देनोच्यन्ते।'—चक्र०।

प्रविचारणा-योग्य पुरुष—ये स्नेह प्रविचारणायें विशेषकर उन व्यक्तियों में प्रयुक्त की जाती हैं जो कि, (१) स्नेह से द्वेष करते हों अर्थात् अच्छ स्नेह का प्रयोग नहीं करते हैं। (२) जो सदैव स्नेह द्रव्यों का प्रयोग करते हैं। (३) जिनका कोष्ठ मृदु हो। (४) जो व्यक्ति क्लेश अर्थात् कष्ट सहने में असमर्थ होते हैं; लघु व्याधियों या थोड़े कष्ट से भी अत्यधिक दुःखानुभूति करते हैं। तथा (५) जो व्यक्ति प्रतिदिन मद्यपान करते हैं।

स्नेहद्विषः स्नेहनित्याः मृदुकोष्ठश्च ये नराः।
क्लेशासहा मद्यनित्यास्तेषामिष्टा विचारणा॥

(च० सू० १३।८२)

चौबीस प्रविचारणायें—

ओदनश्च विलेपी च रसो मांसं पयो दधि।
यवागूः सूपशाको च यूषः काम्बलिकः खडः॥

सक्तवस्तिलपिष्टं च मद्यं लेहास्तथैव च।
भक्ष्यमभ्यञ्जनं बस्तिस्तथा चोत्तरबस्तयः॥
गण्डूषः कर्णतैलं च नस्तः कर्माक्षितर्पणम्।
चतुर्विंशतिरित्येताः स्नेहस्य प्रविचारणाः॥
(च० सू० १३।२३-२५)

२४ प्रविचारणायें निम्न हैं—१. ओदन, २. विलेपी, ३. रस, ४. मांस, ५. दूध, ६. दही, ७. यवागू, ८. सूप, ९. शाक, १०. यूप, ११. काम्बलिक, १२. खड, १३. सत्तू, १४. तिलकल्क, १५. मद्य, १६. लेह, १७. भक्ष्य, १८. अभ्यञ्जन, १९. बस्ति, २०. उत्तरबस्ति, २१. गण्डूष, २२. कर्णतैल, २३. नस्य और २४. अक्षितर्पण।

१. ओदन—साधारणतया चावल को पञ्चगुण जल के साथ पाचन कर जलीयांश जब निकाल लिया जाता है तो उसे ओदन कहते हैं। भारतवर्ष में प्राचीनकाल से अभी तक यह सामान्य आहार के रूप में प्रचलित है, अतः प्रथमतः प्रविचारणाओं में ओदन का उल्लेख किया गया है, कारण कि इसके लिए किसी विशिष्ट कल्प की आवश्यकता नहीं होती। ओदन में स्नेह सीधे मिलाकर लिया जा सकता है, अथवा चावलों को स्नेह-सिद्ध कर ओदन सिद्ध किया जा सकता है। स्नेह-सिद्ध चावल से ओदन-कल्पना में जल इतना ही रखना चाहिए कि ओदन सिद्ध भी हो जाय तथा जलीयांश बचा भी न रहे।

२. विलेपी—विलेपी का निर्माण भी चावल द्वारा ही होता है। जब चावल को चौगुने जल में इतना पकाया जाता है कि चावल जल जाय तथा जलीयांश अर्द्धशेष रहे, उसे विलेपी कहते हैं अर्थात् विलेपी चावल के कल्पना की विरलद्रवावस्था है।

३. रस—रस शब्द से विद्वज्जन मांसरस का ग्रहण करते हैं। मांसपाचनोपरान्त वा जल के साथ मांसपाचनोपरान्त उसके द्रवांश को रस कहा जाता है। मांसाहारी व्यक्तियों में स्नेहन कर्म हेतु यह उत्तम प्रविचारणा है।

४. मांस—विभिन्न जन्तुओं के ताजे मांस को पकाकर तैयार किया जाता है।

५. दूध—शाकाहारी व्यक्तियों के लिए यह उत्तम प्रविचारणा है। दूध स्वयं स्नेहयुक्त द्रव्य है। इसमें किंचित् उष्णकर स्नेह द्रव्य मिलाकर स्नेहन कर्म किया जाता है। बालकों के स्नेहन के लिए यह उत्तम प्रविचारणा है। दुर्बल, स्नेहद्वेषी आदि आतुरों में स्नेहन कर्म करते समय दूध को प्रविचारणा के रूप में ग्रहण करना उत्तम होता है।

६. दधि—यह भी दुग्ध-विकार ही है। इसमें स्नेह द्रव्य मिलाकर प्रयोग किया जाता है। जहाँ घृत से स्नेहन करना हो और आतुर घृतपान से द्वेष करता हो तो दधि या दधि की ऊपरी परत मलाई का सम्यक् प्रयोग कराने से स्नेहन हो जाता है। इस प्रकार अच्छ स्नेहद्वेषी (घृत) आतुर में भी सुगमता से स्नेहन हो जाता है।

इसके लिए अच्छ स्नेह की मात्रा से ३-४ गुणे ऊपरी परत (मलाई) या मलाईयुक्त दही १०-१२ गुणा मात्रा में देनी चाहिए। दही की मलाई का स्नेहन कर्म हेतु प्रयोग घृतद्वेषियों के लिए उत्तम प्रविचारणा है, क्योंकि यह दधि सदृश अभिष्यन्दी भी नहीं होता तथा घृत की मात्रा से ३-४ गुणा अर्थात् जिस आतुर में प्रतिदिन ५० ग्राम घृत की मात्रा निर्धारित की गई है, उसे १५०-२०० ग्राम दधि की मलाई से सम्यक् स्नेहन हो जाता है।

७. यवागू—यवागू का निर्माण भी चावलों द्वारा किया जाता है। इसके लिए चावल को छः गुणा जल में सिद्ध किया जाता है। सिद्ध हो जाने पर इसमें स्नेह द्रव्य मिलाकर प्रयोग किया जाता है।

८. सूप—सूप का निर्माण शिम्बी धान्यों (विभिन्न प्रकार की दालों) द्वारा होता है। सूप-निर्माण के लिए दाल को चौदह गुना जल में पकाया जाता है; जब चतुर्थांश जलीय भाग बच जाता है तथा दाल बिलकुल गलकर जलीयांश में ही संयुक्त हो जाता है तो उसे सूप कहते हैं। यह स्नेहन कर्म हेतु उत्तम प्रविचारणा है। सूप के द्वारा आतुर या व्यक्ति को स्नेह-द्वेष नहीं होता तथा आतुर आसानी से सूप के साथ स्नेहपान कर लेता है। आज भी भारतवर्ष में दैनिक स्नेहन में प्रायशः स्नेह द्रव्य सूप के साथ लिया जाता है। भारत में शिम्बी धान्य की कोई आहार-कल्पना बिना स्नेह-सिद्धि के पूर्ण नहीं मानी जाती।

९. शाक—विभिन्न प्रकार के वनस्पतियों के पत्र, पुष्प, फल आदि को जब पाचनादि कल्पनाओं द्वारा सिद्ध कर लिया जाता है तो वह शाक-कल्पना है। इसमें स्नेह द्रव्य मिलाकर प्रयोग किया जाता है, या स्नेह-सिद्ध शाकों से स्नेहन किया जाता है अथवा प्रभूत स्नेहयुक्त शाकों के द्वारा स्नेहन कर्म कराया जाता है।

१०. यूष—इसका निर्माण विभिन्न प्रकार के दालों द्वारा किया जाता है। यूष निर्माण हेतु दाल को अठारह गुना जल में पकाना चाहिए। जब आधा जलीयांश उड़ जाय तब उपयोग में लाना चाहिए। यूष में स्नेह द्रव्य मिलाकर प्रयुक्त किया जाता है।

११. काम्बलिक—'काम्बलिको मतः। दध्यम्ललवणस्नेहतिलमाषान्वितः शृतः' (यो० ना० से०) अर्थात् काम्बलिक, तिल व उड़द द्वारा तैयार कल्क में दही, खटाई, लवण व तैल के संयोग से बनता है। इसमें तिल स्वयं प्रभूत स्नेहमात्रायुक्त द्रव्य है तथा इसके कल्क में लवणादि के साथ पुनः तैल मिलाया जाता है। अतः इस प्रविचारणा के द्वारा उत्तम रूप से स्नेहन हो जाता है तथा रुचिकर होने से आतुर आसानी से उसे ग्रहण भी करता है।

१२. खड—'तक्रे कपित्थ चाङ्गेरीमरिचाजाजिचित्रकैः। सुपक्वखडयूषोऽयम्।' अर्थात् तक्र के साथ कैथ, चांगेरी, मरिच, जीरा, चित्रक आदि द्रव्यों को पकाकर तैयार किये गये कल्प को खड या खडयूष कहा जाता है।

१३. सक्तु—विभिन्न खाद्यान्नों (जौ, चावल, गेहूँ, चना, मटर आदि) को प्रथमतः भून लिया जाता है, फिर भूने हुए अन्न का महीन चूर्ण तैयार कर लिया जाता है, उसे सक्तु कहा जाता है। पूर्वी उत्तर प्रदेश व सम्पूर्ण बिहार का यह सामान्य आहार-कल्प है। इसे विभिन्न रूपों में ग्रहण किया जाता है। स्नेहन हेतु सक्तु को घोलकर उसमें स्नेह द्रव्य मिलाकर पान कराना चाहिए। सक्तु सद्यः-तर्पक द्रव्य है, अतः सक्तु के साथ स्नेहपान कराने से शीघ्र ही स्नेहन हो जाता है।

१४. तिलपिष्ट—तिल के खली को तिलपिष्ट कहा जाता है।

१५. मद्य—इसके अन्तर्गत आसव, अरिष्ट, सुरा आदि का ग्रहण होता है। यह स्नेह द्रव्य मिलाकर प्रयुक्त होता है।

१६. लेह—लेह का तात्पर्य वैसे आहार-कल्प से है जो न द्रव रूप में ही होते हैं और न ही ठोस रूप में, बल्कि अर्द्धघन रूप में। इस तरह यह कल्प तैयार किया जाता है कि इसे बिना दाँत के सहयोग लिये चाटा जा सके या निगला जा सके। लेह प्रायशः चाटने के अर्थ वाला होता है। स्नेहन हेतु विभिन्न लेहों में (लप्सी, हलुआ आदि का) स्नेहन मिलाकर चटाया जाता है। इसकी सर्वोत्तम विधि यही होती है कि लेह-कल्प सिद्ध करते समय ही प्रयोज्य स्नेह में लेह सिद्ध कर लिया जाय, जिससे स्नेह द्रव्य का पान भी हो जाता है तथा आतुर को स्नेह-द्वेष नहीं हो पाता।

१७. भक्ष्य—भक्ष्य का अर्थ वैसे आहार द्रव्य से है जिनका भक्षण किया जाय। भक्षण से तात्पर्य तोड़कर चबाये जाने वाले वा दाँतों की सहायता से अंशतः चबाकर खाये जाने वाले आहार-कल्प से है, जैसे पूड़ी, मालपूआ आदि। इसमें स्नेहन हेतु भक्ष्य द्रव्य पर स्नेह द्रव्य का लेप कर दिया जाता है। जैसे—रोटी पर घृतादि का लेप वा स्लाइस पर मक्खन का लेप आदि अथवा भक्ष्य पदार्थ को स्नेह में ही सिद्ध कर भक्षण किया जाता है, जैसे—मालपूआ आदि।

विशिष्ट प्रविचारणायें (बाह्य-स्नेहन)

आचार्य चरक-वर्णित इन्हीं २४ प्रविचारणाओं में क्रमांक एक से सत्रह तक की प्रविचारणायें प्रायः मौखिक रूप से स्नेहपान हेतु प्रयुक्त होती हैं अथवा इनका आभ्यन्तर प्रयोग द्वारा स्नेहन किया जाता है। शेष प्रविचारणाओं का प्रयोग मौखिक रूप से न करके विभिन्न बाह्यांगों द्वारा होता है तथा बस्ति के अतिरिक्त अन्य प्रविचारणायें बाह्य स्नेहन हेतु प्रयुक्त होती हैं।

स्नेहन बाह्य एवं आभ्यन्तर दोनों प्रकार से कराया जाता है। उपर्युक्त स्नेह-पानादि का विधि-विधान व प्रविचारणायें आदि अन्तःस्नेहन के लिए हैं। आचार्य चरक ने प्रविचारणाओं में अभ्यञ्जनादि का उल्लेख बाह्य स्नेहन हेतु ही किया है। आचार्य डल्हण ने बाह्याभ्यान्तर इन दो स्नेहनों को स्वीकार किया है तथा यह स्पष्ट किया है

कि अभ्यंगादि बाह्य स्नेहन कर्म हैं—'उपयोजनं उपयोगः बाह्याभ्यन्तरश्च। तत्र बाह्यो अभ्यंगादि आभ्यन्तरो पानादि।'—सु० चि० ३१।२ पर डल्हण। आचार्य सुश्रुत तथा वाग्भट ने भी बाह्य स्नेहन हेतु उन्हीं विचारणाओं को प्रस्तुत किया है जिसका उल्लेख आचार्य चरक द्वारा २४ प्रविचारणाओं में किया गया है। आचार्य सुश्रुत व वाग्भट के मूल वचन निम्न हैं—'स्नेहो हि पानानुवासनमस्तिष्कशिरोबस्त्युरबस्तिनस्यकर्ण-पूरणगात्राभ्यंगभोजनेषूपयोज्यः।'—(सु० चि० ३१।२)

युक्त्यावचारयेत्स्नेहं भक्षाद्यन्नेन बस्तिभिः।
नस्याभ्यंजनगंडूषमूर्धकर्णाक्षि तर्पणैः॥

(अ० हृ० सू० १६।१४)

१८. **अभ्यञ्जन**—शरीर में विभिन्न द्रव्यों से सिद्ध तैलादि के द्वारा मर्दन करने को अभ्यञ्जन वा अभ्यंग कहा जाता है। अभ्यंग का शाब्दिक अर्थ कुछ गति कराना होता है; क्योंकि अभ्यंग शब्द 'अंग्' धातु में 'अभि' उपसर्ग लगाने से बनता है। यहाँ 'अंग्' धातु गति अर्थ में गृहीत है, अतः इसका अर्थ अभ्यंग द्वारा शरीर पर तैलादि द्वारा गति करना है। आयुर्वेद में अभ्यंग का प्रयोग स्वास्थ्य-रक्षण व विकार-प्रशमन दोनों स्थितियों में दर्शाया गया है। दिनचर्यादि में अभ्यंग को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है, जिससे शरीर का दैनिक आवश्यक स्नेहन होता रहता है तथा आतुरों को विशिष्ट रोगों में तदनुसार विशिष्ट विधियों द्वारा अभ्यंग कराया जाता है। चूँकि अभ्यंग का मूल उद्देश्य शरीर पर गति द्वारा स्नेह द्रव्य को त्वक् मार्ग से अन्दर विक्षेपित करना तथा स्थानिक रूप से त्वचा की रूक्षता समाप्त करना होता है। अतः इसे भी स्नेह की प्रविचारणाओं में ही उल्लिखित किया गया है। दैनिक स्नेहन (स्वास्थ्य-रक्षण) हेतु अभ्यंग की आवश्यकता व इससे होने वाले लाभ को आचार्य वाग्भट ने निम्न रूप में प्रस्तुत किया है—

अभ्यंगं आचरेन्नित्यं स जरा-श्रम-वातहा।
दृष्टिः प्रसादपुष्टयायुः स्वप्न सुत्वक् दार्ढ्यकृत्॥

(अ० हृ० सु० २।७)

अर्थात् मनुष्य को तैलादि द्वारा नित्य अभ्यंग करना चाहिए; क्योंकि नित्य अभ्यंग करने से—

१. बुढ़ापा जल्दी नहीं आता।
२. थकावट एवं वृद्ध वात का नाश होता है।
३. दृष्टि अर्थात् नेत्रों की दृष्टि-शक्ति बढ़ती है।
४. सभी धातुओं की वृद्धि होने से शरीर की पुष्टि होती है।
५. आयु की वृद्धि होती है।

६. नित्य तैलाभ्यंग निद्राकर है, अर्थात् अभ्यंग मे निद्रा सम्यक् रूप से आती है।

७. त्वचा मुलायम होती है।

आचार्य चरक ने अभ्यंग द्वारा व्यायाम (विभिन्न प्रकार के शारीरिक श्रमादि वा शारीरिक चेष्टायें) व क्लेश सहने की क्षमता की उत्पत्ति होती है--ऐसा उल्लेख किया गया है---

तथा शरीरमभ्यंगात् दृढं सुत्वक् च जायते।
प्रशांतमारुताबाधं क्लेश-व्यायाम-संसहम् ॥
(च० सू० ५।८५)

आचार्य चरक ने अभ्यंग की महत्ता व आवश्यकता को वैज्ञानिक विधि से प्रकाशित किया है। स्पर्श गुण वायु का होता है, जिसका स्थान स्पर्शनेन्द्रिय है। स्पर्शनेन्द्रिय का अधिष्ठान त्वचा है। अतः अभ्यंग के द्वारा वायु कुपित नहीं हो पाता; जिसके फलस्वरूप शरीर दृढ़ होता है—

स्पर्शनेऽभ्याधिको वायुः स्पर्शनं च त्वगाश्रितं।
त्वच्यश्च परमोऽभ्यंगः तस्मात्तं शीलयेन्नरः ॥
(च० सू० ५।८७)

उन्होंने तर्क प्रस्तुत किया है कि चमड़े में जब बार-बार स्नेहन किया जाता है (मृत पशुओं के चमड़े से बना जूता, भिश्ती के मशक आदि उपकरण में) तो चमड़ा व उससे बने उपकरण दृढ़ तथा मृदु हो जाते हैं। इससे यदि मिट्टी के घड़े में स्नेह के कारण दृढ़ता आ जाती है, तो फिर मनुष्य के अंदर दृढ़ता व क्लेश-सह क्षमता क्यों नहीं हो सकती अर्थात् मनुष्य के अन्दर दृढ़ क्लेश-सह क्षमता आ जाती है—

स्नेहाभ्यंगाद्यथा कुंभश्चर्मस्नेहविमर्दनात्।
भवत्युपांगदक्षश्च दृढक्लेशसहो यथा ॥ (च० सू० ५)

नित्य तैलादि अभ्यंग करने वाला व्यक्ति कभी अभिघात से पीड़ित नहीं होता अर्थात् अभिघात द्वारा उसे विशेष कष्ट का अनुभव नहीं होता अथवा बलपूर्वक किसी कार्य के करने पर भी त्वचा में विकारोत्पत्ति नहीं होती है। पुरुष अभ्यंग से सुन्दर व प्रिय आकृति वाला होता है तथा वृद्धावस्था में भी वृद्धावस्था के लक्षण उसमें नहीं उत्पन्न होते।[1]

---

१. न चाभिघाताभिहतं गात्रमभ्यङ्गसेविनः।
विकारं भजतेऽत्यर्थं बलकर्मणि वा क्वचित् ॥
सुस्पर्शोपचिताङ्गश्च बलवान् प्रियदर्शनः।
भवत्यभ्यङ्गनित्यत्वान्नरोऽल्पजर एव च ॥
(च० सू० ५।८८-८९)

पादाभ्यंग——पुनः आचार्य ने अंगविशेष में तैलाभ्यंग की उपयोगिता दर्शायी है। विशिष्ट रूप से उन्होंने पैरों में अभ्यंग की आवश्यकता दर्शाते हुए निर्देश दिया है कि—यदि पैर में तैल का अभ्यंग किया जाता है तो पैरों में कोमलता, बल व स्थिरता आती है। यह नेत्रों के लिए भी लाभदायक होता है। पैर की खरता स्तब्धता, रूक्षता, थकावट तथा सुप्ति समाप्त हो जाती है। वात का शमन होता है तथा गृध्रसी, पादस्फुटन, सिराःसंकोच, स्नायु-संकोच आदि रोगों से व्यक्ति प्रतिबन्धित रहता है।[1] आचार्य सुश्रुत ने पादाभ्यंग को निद्राकर अर्थात् निद्रा लाने वाला एवं चक्षुष्य कहा है—

निद्राकरो देहसुखश्चक्षुष्यः श्रमसुप्तिनुत्।
पादत्वङ्मृदुकारी च पादाभ्यङ्गः सदा हितः॥

(सु० चि० अ० २४)

आचार्य वाग्भट ने भी चरकोक्त गुणों का ही उल्लेख किया है।

शिरःस्नेह (शिरः अभ्यंग)—आयुर्वेद में अभ्यंग प्रकरण में शरीराभ्यंग, पादाभ्यंग के साथ-साथ शिरःस्नेह या शिर के अभ्यंग का वर्णन भी प्राप्त होता है। आचार्य चरक ने निर्देश दिया है कि, शिर को प्रतिदिन स्नेह से आर्द्र रखना चाहिए इसमे कभी शिरःशूल होने का भय नहीं रहता—'नित्यं स्नेहार्द्रशिरसः शिरःशूलं न जायते।' इसके अतिरिक्त[2] खालित्य, पालित्य (बाल सफेद होना), केशपतन आदि रोग नहीं होते तथा शिरः कपाल में अत्यधिक बल-वृद्धि होती है। केश का मूल दृढ़ होता है, बाल लम्बे होते हैं तथा उनका वर्ण कृष्ण ही बना रहता है। अभ्यंग केश के लिए लाभदायक होने के साथ-साथ इन्द्रियों में प्रसन्नता लाने वाला होता

---

१. खरत्वं स्तब्धता रौक्ष्यं श्रमः सुप्तिश्च पादयोः।
सद्य एवोपशाम्यन्ति पादाभ्यङ्गनिषेवणात्॥
जायते सौकुमार्यं च बलं स्थैर्यं च पादयोः।
दृष्टिप्रसादं लभते मारुतश्चोपशाम्यति॥
न च स्याद्गृध्रसीवातः पादयोः स्फुटनं न च।
न सिरास्नायुसंकोचः पादाभ्यङ्गेन पादयोः॥
(च० सू० ५।८९-९१)

२. न खालित्यं न पालित्यं न केशाः प्रपतन्ति च।
बलं शिरः कपालानां विशेषेणाभिवर्धते॥
दृढमूलाश्च दीर्घाश्च कृष्णाः केशा भवन्ति च।
इन्द्रियाणि प्रसीदन्ति सुत्वग्भवति चाननम्।
निद्रालाभः सुखं च स्यान्मूर्ध्नि तैलनिषेवणात्॥
(च० सू० ५।८१-८२)

है। मुख के त्वचा की कान्ति बढ़ती है तथा मस्तक पर तैलाभ्यंग से अच्छी निद्रा आती है। आचार्य सुश्रुत ने भी शिर पर तैलाभ्यंग करने से होने वाले इन्हीं गुणों का प्राय: उल्लेख किया है[1]।

१९. **बस्ति**—पंचकर्म चिकित्सा में बस्ति एक चिकित्सा-विधि है। स्नेहन कर्म हेतु प्रयुक्त बस्ति को अनुवासन बस्ति कहा जाता है। वैसे बस्ति से तात्पर्य मूत्राशय का होता है। बस्ति चिकित्सा में पूर्व काल में पशुओं के बस्ति का प्रयोग होता था। बस्ति में औषध द्रव्य भर दिया जाता है, उससे एक नलिका लगी रहती है। उस नलिका से सम्बन्धित बस्ति नेत्र को गुदमार्ग में प्रविष्ट कर जब औषध द्रव्य पक्वाशय में विक्षेपित किया जाता है तो उसे बस्ति कहते हैं। इसी प्रकार स्नेहन कर्म हेतु बस्ति में स्नेह द्रव्य भर कर गुदमार्ग से अन्दर विक्षेपित किया जाता है। इसका विस्तृत वर्णन बस्ति प्रकरण में उपलब्ध है।

२०. **उत्तरबस्ति**—योनिमार्ग द्वारा या मूत्रमार्ग द्वारा जब औषध द्रव्य या स्नेह द्रव्य को अन्दर पहुँचाया जाता है, तो उसे उत्तर बस्ति कहा जाता है। इसका विस्तृत विवरण बस्ति प्रकरण में उपलब्ध है। इसमें स्नेहन कर्म हेतु मूत्रमार्ग या योनिमार्ग से स्नेह द्रव्य पहुँचाया जाता है।

२१. **गण्डूष**—जब औषध द्रव्य या स्नेह द्रव्य को द्रव रूप में मुख में इतना भर लिया जाता है कि मुख को इधर-उधर चलाया नहीं जा सके; तो उसे गण्डूष कहा जाता है। इसे कुछ काल तक मुख में धारण किया जाता है तथा फिर बाहर कर दिया जाता है।[2] इसमें द्रव रूप में ही स्नेह या औषध प्रयुक्त होता है।[3] गण्डूष में स्नेह वा औषध का धारण तब तक किया जाता है, जब तक गले में दोष न भर जाय[4] तथा

---

१. शिरोगतांस्तथारोगांञ्छिरोऽभ्यङ्गोपकर्षति ।
केशानां मार्दवं दैर्घ्यं बहुत्वं स्निग्धकृष्णताम् ॥
करोति शिरसस्तृप्तिं सुत्वक्कमपि चाननम् ।
सन्तर्पणं चेन्द्रियाणां शिरसः प्रतिपूरणम् ॥ (सु० चि० २४)

२. सुखं संचार्यते या तु मात्रा या कवले स्मृता ।
असंचार्या तु या मात्रा गण्डूषः परिकीर्त्तितः ॥
(सु० चि० ४०।६२)

३. तत्र द्रवेण गण्डूषः कल्केन कवलः स्मृतः । (शा० उ० १०।४)

४. कफपूर्णास्यता यावच्छेदो दोषस्य वा भवेत् ।
नेत्रघ्राणस्रुतिर्यावत्तावद्गण्डूषधारणम् ॥
(अ० हृ० सू० २।११)

तावत् धारयितव्योऽनन्यमनसोऽन्नतदेहेन यावद्दोषपरिपूर्णकपोलत्वं नासास्रोतो नयनपरिप्लवश्च भवति तदा विमोक्षव्यः, पुनश्चान्यो गृहीतव्य इति ।
(सु० चि० ४०।६३)

नेत्र एवं नासिका से जलीयांश का स्राव न होने लगे। इस क्रिया को पुनः-पुनः करनी चाहिए अर्थात् मुख से द्रव पदार्थ बाहर निकालकर मुख में द्रव भरना चाहिए। चिकित्सा की दृष्टि से आचार्य वाग्भट ने गण्डूष का चार प्रकार बतलाया है—

चतुष्प्रकारो गंडूष स्निग्धः शमनशोधनौ।
रोपणश्च त्रयस्तत्र त्रिषु योज्या चलादिषु ॥ (अ० हृ० सू० २२।१)

अर्थात् (१) स्निग्ध, (२) शमन, (३) शोधन व (४) रोपण के रूप में गण्डूष के चार प्रकार होते हैं। आचार्य वृद्धवाग्भट ने इनका दोषानुसार क्रमशः प्रयोग बतलाया है।[1] अर्थात् वातदोष हेतु स्निग्ध-गण्डूष, पित्त दोष हेतु शमन-गण्डूष, कफ दोष हेतु शोधन-गण्डूष तथा व्रण (मुख व्रण) में रोपण-गण्डूष का प्रयोग किया जाता है। इन विभिन्न गण्डूषों में स्नेह, दूध, जल, शुक्त, औषधसिद्ध क्षीर, क्वाथादि का प्रयोग किया जाता है। पर नित्यप्रति करने वाले गण्डूष में तैल को प्रशस्त कहा गया है। आचार्य चरक ने दिनचर्या प्रकरण में 'स्नेह-गण्डूष' का ही उल्लेख किया है तथा कहा है कि नित्यप्रति गण्डूष के रूप में स्नेह तैल धारण करने से—(१) हनु व स्वर में बल की वृद्धि होती है। (२) वदन पर मांस की वृद्धि होती है अर्थात् शरीरस्थ मांसपेशियाँ सुगठित होती हैं। (३) जिह्वा की शुद्धि होती है, जिससे अन्न में रुचि उत्पन्न होती है तथा सम्यक् रूप से रसों का ज्ञान होता है। (४) मुख व कण्ठप्रदेश में शुष्कता या रूक्षता नहीं हो पाती। (५) ओष्ठ फटने से रक्षा होती है। (६) दाँतों के मूल दृढ़ होते हैं, जिससे उनका पतन नहीं होता। (७) दंतशूल व दंतहर्ष से रक्षा होती है। (८) दाँतों में इतना बल आ आता है कि कठोर द्रव्यों के भक्षण से भी दाँतों में विकृति नहीं आती।[2] आचार्य वाग्भट ने दूध व घृत द्वारा धारित स्नेह-गण्डूष का उपयोग मुख में दाह, मुखपाक, आगन्तुज क्षत, मुख का विष, अग्नि-क्षार से जल जाने पर बतलाया है।[3]

---

१. चतुर्विधो भवति गंडूषः, स्नैहिकः, शमनः, शोधनो रोपणश्च। तेषामाद्यस्त्रयः क्रमेण वातपित्तकफघ्नाः। रोपणस्त्वास्य व्रणघ्नः। शमनः स्तम्भनः प्रसादनो निर्वापणं इति पर्यायाः। (अ० सं० सू० २१)

२. हन्वोर्बलं स्वरबलं वदनोपचयः परः।
स्यात् परं च रसज्ञानमन्ने च रुचिरुत्तमा ॥
न चास्य कण्ठशोषः स्यान्नौष्ठयोः स्फुटनाद्भयम्।
न च दन्ताः क्षयं यान्ति दृढमूला भवन्ति च ॥
न शूल्यन्ते न चाम्लेन हृष्यन्ते भक्षयन्ति च।
परानपि खरान् भक्ष्यांस्तैलगण्डूषधारणात् ॥ (च० सू० ५।७८-८०)

३. उषादाहान्विते पाके क्षते वाऽगन्तुसंभवे।
विषक्षाराग्निदग्धे च सर्पिर्धार्यं पयोऽथवा ॥ (अ० हृ० सू० २।६)

गण्डूष का हीनयोग—आचार्य सुश्रुत ने गण्डूष के हीन, अति व सम्यक् योग के लक्षणों का भी उल्लेख किया है[1]। हीनयोग में जाड्यता, कफोत्क्लेश, रस-ज्ञान का अभाव होता है।

अतियोग—मुखपाक, मुखशोष, तृषाधिक्य, भोजन में अरुचि, क्लमादि कवल व गण्डूष के अतियोग से उत्पन्न होते हैं।

सम्यक् योग—गण्डूष व कवल के सम्यक् रूप से धारण करने पर रोगों का ह्रास (जिस रोग के लिए धारण किया गया हो), मुख की प्रसन्नता, मुख की निर्मलता, मुख में लघुता, इन्द्रियों में निर्मलता—ये सब लक्षण उत्पन्न होते हैं।

२२. **कर्णतैलं**—आचार्य चरक ने प्रविचारणा प्रकरण में कर्णतैल वा कर्णपूरण का भी उल्लेख किया है। कर्णतैल से यहाँ तात्पर्य है—कर्णों में तैलादि डालना तथा कर्णपूरण का अर्थ होता है—तैलादि को कानों में पूर्णरूपेण भर देना। कर्णतैल पर प्रकाश डालते हुए आचार्य चरक ने कहा है—

न कर्णरोगा वातोत्था न मन्याहनुसंग्रहः।
नोच्चैः श्रुतिर्न बाधिर्यं स्यान्नित्यं कर्णतर्पणात् ॥
(च० सू० ५।८४)

अर्थात् नित्यप्रति कानों में तैल डालने से—(१) वातजन्य कर्णविकार नहीं होते हैं। (२) मन्यास्तम्भ रोग से व्यक्ति प्रतिबन्धित रहता है। (३) हनुस्तम्भ रोग होने का भय नहीं रहता है। (४) उच्चश्रुति व बाधिर्य रोग नहीं होते हैं। आचार्य सुश्रुत ने भी कर्णपूरण के द्वारा उपर्युक्त विकारों के ही शमन होने का संकेत दिया है, जिसका कर्णतैल द्वारा आचार्य चरक ने प्रतिबन्धन कहा है—'हनुमन्याशिरःकर्णशूलघ्नं कर्णपूरणम्।'

कर्णतैल वा कर्णपूरण की कालमर्यादा—कानों में तैलादि कब तक धारण करना चाहिए, इस विषय पर आचार्य वाग्भट ने प्रकाश डाला है—

धारयेत् पूरणं कर्णे कर्णमूलं विमर्दयन्।
रुजः स्यान्मार्दवं यावन्मात्रा शतमवेदनम् ॥
(अ० स० सू० ३१)

अर्थात् कर्णपूरण कर (कानों में तैल भरकर) कानों के मूल पर हाथ की अंगुलियों द्वारा मर्दन करना चाहिए तथा यह क्रिया तब तक करनी चाहिए जब तक

---

१. व्याधेरपचयस्तुष्टिर्वैशद्यं वक्त्रलाघवं।
.... ॥
हीने जाड्यं कफोत्क्लेशावरसज्ञानमेव च।
अतियोगान् मुखे पाकः शोषस्तृष्णा रुचिक्लमाः ॥
(सु० चि० ४०।६५)

वेदनोपशमन न हो जाय। यदि स्वास्थ्य रक्षण हेतु वा दिनचर्यादि क्रम में कर्णपूरण करना हो तो तैल-धारण सौ मात्रा तक करना चाहिए अर्थात् १ से १०० तक की गिनती की अवधि तक।

नस्यकर्म

स्नेह प्रविचारणा में नस्य का भी उल्लेख किया गया है। नस्य का तात्पर्य है—नासिकाओं में तैलादि डालना। वैसे तो नस्य के अनेक भेद हैं तथा औषधि स्वरस प्रधमन नस्य में औषध चूर्णादि का भी प्रयोग किया जाता है। पर स्नेह प्रविचारणा में नस्य से नासामार्ग द्वारा मात्रास्नेह प्रयोग का ही विधान है। इसको आचार्य चरक ने नासा द्वारा स्नेह-प्रयोग को नासा-तर्पण भी कहा है—'दद्यात् नासापुटे स्नेह-तर्पणं बुद्धिमान् भिषक्' (च० नि० ९।१००)। आचार्य चरक ने दिनचर्या प्रकरण में नासामार्ग में स्नेह-प्रयोग का विस्तृत वर्णन किया है। स्नेह नस्य के कालादि के सम्बन्ध में उनका मंतव्य है कि—

वर्षे वर्षेऽणुतैलं च कालेषु त्रिषु ना चरेत्।
प्रावृट्शरद्वसन्तेषु गतमेघे नभस्तले ॥
नस्यकर्म यथाकालं यो यथोक्तं निषेवते। (च० सू० ५।५७)

अर्थात् प्रतिवर्ष तीन ऋतुओं—वर्षा, शरद् और वसंत ऋतुओं में जब आकाश स्वच्छ हो अर्थात् मेघाच्छन्न न हो, तब 'अणु तैल' का नस्य लेना चाहिए। इस प्रकार समय के अनुसार विधिपूर्वक नस्य लेने से—

१. न तस्य चक्षुर्न घ्राणं न श्रोत्रमुपहन्यते—नेत्र, घ्राणेन्द्रिय (नासा) और श्रोत्रेन्द्रियाँ नष्ट नहीं हो पाती हैं अर्थात् नेत्र, नासा व कर्ण सम्यक् रूप से स्वस्थ बने रहते हैं तथा इनकी क्रियायें निर्बाध रूप से सम्पादित होती रहती हैं।

२. न स्युः श्वेता न कपिलाः केशाः श्मश्रूणि वा पुनः।
न च केशाः प्रमुच्यन्ते वर्धन्ते च विशेषतः ॥

अर्थात् विधिपूर्वक अणु तैल का नस्य लेने पर केश श्वेतवर्ण के या पिंगल वर्ण के नहीं होते और श्मश्रु (दाढ़ी व मूंछ के बाल) भी काले ही रहते हैं यानि इनका वर्ण-परिवर्त्तन नहीं होता। इतना ही नहीं; केश के मूल दृढ़ हो जाते हैं जिससे केश का गिरना बन्द हो जाता है तथा केश निरन्तर बढ़ते रहते हैं।

३. मन्यास्तम्भः शिरःशूलमर्दितं हनुसंग्रहः।
पीनसार्धावभेदौ च शिरःकम्पश्च शाम्यति ॥

अर्थात् विधिपूर्वक लिया गया नस्य मन्यास्तम्भ, शिरःशूल, अर्दित, हनुस्तम्भ, पीनस, अर्धावभेदक तथा शिरःकम्प आदि रोगों का शमन करता है।

४. सिराः शिरःकपालानां सन्धयः स्नायुकण्डराः।
नावनप्रीणिताश्चास्य लभन्तेऽभ्यधिकं बलम् ॥

अर्थात् शिर:कपाल की सिरायें, संधियाँ, स्नायु और कण्डरा अणु तैल के द्वारा तृप्त होकर और अधिक बलयुक्त हो जाती हैं।

५. मुखं प्रसन्नोपचितं स्वरः स्निग्धः स्थिरो महान्।
सर्वेन्द्रियाणां वैमल्यं बलं भवति चाधिकम्॥

अर्थात् अणु तैल के नस्य से मुख प्रसन्न और उपचित हो जाता है यानि मुख-मण्डल पर मांस भर जाता है। स्वर स्निग्ध, स्थिर तथा गंभीर हो जाता है। सभी इन्द्रियाँ स्वच्छ और अधिक बलवान् हो जाती हैं।

६. न चास्य रोगाः सहसा प्रभवन्त्यूर्ध्वजत्रुजाः।
जीर्यतश्चोत्तमाङ्गेषु जरा न लभते बलम्॥

अर्थात् अणुतैल का नस्य लेने से व्यक्ति ऊर्ध्वजत्रुगत विकारों से रक्षित रहता है। ये ऊर्ध्वजत्रुगत विकार सहसा उत्पन्न नहीं होते। इनका कालानुसार प्रतिवर्ष प्रयोग करने से वृद्धावस्था आने पर भी कंधे से ऊपर के भाग में वृद्धावस्था के लक्षण उत्पन्न नहीं होते।

२४. **अक्षितर्पण**—नेत्रों को तृप्त करने के लिए जब स्नेह का प्रयोग किया जाता है तो उसे अक्षितर्पण कहते हैं।

विधि—अक्षितर्पण के लिए व्यक्ति या आतुर को वात, धूप तथा धूलि से रहित स्थान पर उत्तान शयन करा दिया जाता है। इसके बाद उसके नेत्र के चारों ओर उड़द के आटे की पीठी बनाकर दो अंगुल ऊँचा सम, दृढ़ और छिद्ररहित गोलाकार घेरा बना दिया जाता है। फिर रोगी का नेत्र बंद करा दिया जाता है। इसके बाद एक पात्र में घृत लेकर गरम जल से भरे पात्र में रखकर घृत को पिघलाते हैं। इस पिघलाये हुए घृत से व्यक्ति के नेत्रों पर बने पिठी के घेरे को भर दिया जाता है। अब व्यक्ति को नेत्र खोलने के लिए कहा जाता है। पिठी के घेरे में घृत इतना भर दिया जाता है कि नेत्रपलक घृत में डूबा रहे। इस प्रक्रिया को ही अक्षितर्पण कहा जाता है।[1]

---

१. (क) वातातपरजो हीने वेश्मन्युत्तानशायिनः।
आधारौ माषचूर्णेन क्लिन्नेन परिमण्डलौ॥
समौ दृढावसम्बाधौ कर्त्तव्यौ नेत्रकोशयोः।
पूरयेद् घृतमण्डस्य विलीनस्य सुखोदके॥
आपक्ष्माग्रात् ततः स्थाप्यं पञ्चतद्वाक्छतानि च।
स्वस्थे कफे षट् पित्तेऽष्टौ दशवाते तदुत्तमम्॥
(सु० उ० अ० १८।६-८)

(ख) निवाते तर्पणं योज्यं शुद्धयोर्मूर्धकाययोः।
काले साधारणे प्रातःसायं चोत्तानशायिनः॥

अक्षितर्पण काल—आयुर्वेद में अक्षितर्पण काल के सम्बन्ध में निम्न निर्देश उपलब्ध है[1]—

वातज व्याधियों में—प्रतिदिन अक्षितर्पण कराना चाहिए।

पित्तज व्याधियों में—एकान्तर अर्थात् एक दिन छोड़कर तर्पण कराना चाहिए।

कफज व्याधियों में तथा स्वस्थ में—दो-दो दिनों के अन्तर से अक्षितर्पण कराना चाहिए। इसके अतिरिक्त यह भी कहा गया है कि, जब तक तृप्ति के लक्षण उत्पन्न न हो जाय तब तक तर्पण कराना चाहिए।

नेत्रगत रोगों में विभिन्न उपांगगत रोगों के आधार पर भी अक्षितर्पण की काल-मर्यादा निर्धारित की गयी है। वर्त्म, संधिगत रोग, सित, असित, दृष्टि-रोगों में अलग-अलग कालमर्यादा बतलायी गयी है। जैसे[2]—

वर्त्मगत रोगों में—	४०० मात्रापर्यन्त	संधिगत रोगों में	३०० मात्रापर्यन्त
सितरोग में	५०० मात्रा ,,	असित में	७०० मात्रा ,,
दृष्टिगत रोगों में	८०० मात्रा ,,	अधिमंथ में	१००० मात्रा ,,
वातरोगों में	१००० मात्रा ,,	पित्तज रोगों में	६०० मात्रा ,,

कफज व स्वस्थ व्यक्तियों में भी—५०० मात्रा-पर्यन्त।

३ मात्रा लगभग—४ सेकेण्ड के बराबर होता है। शास्त्रों में निमेष-उन्मेष के काल को अर्थात् स्वाभाविक रूप से पलक गिरने व उठने के काल को या चुटकी बजाने के काल को या ॐ वर्ण के उच्चारण-काल को मात्रा कहा गया है।

... . ॥
आपक्ष्माग्रात् अथोन्मेषं शनकैस्तस्य कुर्वतः ॥
(अ० हृ० सू० २४।४-६)

१. इत्थं प्रतिदिनं वायौ पित्ते त्वेकान्तरं कफम्।
स्वस्थे च द्व्यन्तरं दद्यादातृप्तेरिति योजयेत् ॥ (अ० हृ० सू० २४)

२. (क) मात्रां विगणयेत्तत्र वर्त्म संधि सितासिते।
दृष्टि च क्रमशः व्याधौ शतं त्रीणि च पंच च ॥
शतानि सप्त चाष्टौ च दश मंथे दशानिले।
पित्ते षट् स्वस्थवृत्ते च बलासे पंच धारयेत् ॥
(अ० हृ० सू० २४)

(ख) रोगस्थानविशेषेण केचित्कालं प्रचक्षते।
यथाक्रमोपदिष्टेषु त्रीण्येकं पञ्च सप्त च ॥
दश दृष्ट्यामथाष्टौ च वाक्शतानि विभावयेत्।
ततश्चापाङ्गतः स्नेहं स्रावयित्वाऽक्षि शोधयेत् ॥
(सु० उ० १८।९-१०)

व्यक्ति या आतुर में कितने बार तर्पण करना चाहिए; इस सम्बन्ध में आचार्य सुश्रुत का मत है कि—न्यून दोष में एक दिन, मध्यम दोष में तीन दिन तथा प्रबल दोष में ५ दिनों तक तर्पण करना चाहिए।[१] जबकि पूर्ववर्णित वाग्भट का मत इनसे भिन्न है।

सम्यक् तर्पित के लक्षण—(१) समय पर सुखपूर्वक निद्रा आ जाना, (२) समय पर सोकर जग जाना, (३) नेत्र का निर्मल दिखाई देना, (४) नेत्रों के वर्ण का स्वाभाविक रूप बने रहना, (५) नेत्रों द्वारा विभिन्न वर्णों का अवबोध होना, (६) नेत्रगत रोगों का नाश हो जाना, (७) निमेष-उन्मेष की क्रियायों में लाघवरूप अर्थात् पलक उठाने-गिराने में हल्कापन का अनुभव होना[२]।

अतितर्पित के लक्षण[३]—अतितर्पण में—(१) आंख में भारीपन, (२) आंखों में गँदलापन, (३) नेत्रों में अत्यधिक चिकनाई होना, (४) नेत्रों से अश्रुस्राव होना, (५) नेत्रों में कण्डू की उत्पत्ति हो जाना, (६) नेत्रों पर लेप का अनुभव होना, (७) वातादि दोषों का अत्यधिक उत्कट हो जाना।

हीनतर्पित के लक्षण—हीनतर्पण क्रिया होने पर (१) नेत्रों में रूक्षता, (२) नेत्रों में गँदलापन, (३) अत्यधिक अश्रुस्राव, (४) रूपदर्शन में असमर्थता तथा (५) जिस रोग के लिए तर्पण क्रिया की जा रही है, उस रोग का बढ़ जाना—ये लक्षण उत्पन्न होते हैं[४]।

तर्पणयोग्य रोग—निम्न अवस्थाओं में आतुर में अक्षितर्पण कराना चाहिए—[५] १. नेत्रों के आगे अंधेरा छा जाने पर, २. प्रकाश में आँखे बन्द हो जाने पर; ३. नेत्रों

---

१. एकाहं वा त्र्यहं वाऽपि पञ्चाहञ्चेष्यते परम्।
तर्पणे तृप्तिलिङ्गानि नेत्रस्येमानि लक्षयेत्॥
(सु० उ० १८।१२)

२. सुखस्वाप्नावबोधत्वं वैशद्यं वर्णपाटवम्।
निवृत्तिर्व्याधिविध्वंसः क्रियालाघवमेव च॥ (सु० उ० १८।१३)

३. गुर्वाऽऽविलमति............नेत्रमत्यर्थतर्पितम्॥
(सु० उ० १८।१४)

४. रूक्षमाविलमस्राव्यमसहं रूपदर्शने।
व्याधिवृद्धिश्च तज्ज्ञेयं हीनतर्पितमक्षि च॥
(सु० उ० १८।१५)

५. (क) गम्यत्यतिविशुष्कं यद्रूक्षं यच्चातिदारुणम्।
जीर्णपक्ष्माविलं जिह्मं रोगक्लिष्टञ्च यद्भृशम्॥
तदक्षितर्पणादेव लभेतोर्जामसंशयम्॥
(सु० उ० १८।१७)

में शुष्कता प्रतीत होने पर, ४ नेत्रों की रूक्षता में, ५. नेत्रों के अत्यन्त कठोर हो जाने पर, ६. पक्ष्म के बाल टूट कर गिरने की स्थिति में, ७. नेत्रों में गँदलापन हो जाने पर, ८. नेत्रों में कुटिलता (टेढ़े-मेढ़े हो जाने पर), ९. नेत्र के ऐसे अन्य विकार जो तर्पण-साध्य हों तथा जिनमें बल-वृद्धि की आवश्यकता हो; १०. नेत्र-स्तब्धता में, ११. नेत्राभिघात में, १२. सिरा-हर्ष-नेत्ररोग में; १३. नेत्र-शिरोत्पात में, १४. अर्जुन, १५. अभिष्यन्द, १६. अन्यतोवात में, १७. वातपर्याय में; १८. शुक्रक, १९. नेत्रस्राव न होने पर, २०. नेत्रशूल में, २१. संरम्भ यानि टकटकी वाली दृष्टि में।

अक्षितर्पणोत्तर कर्म—तर्पण के उपरान्त धूमपान कराना चाहिए। कफ के लिए कफ-विरोधी शिरोविरेचनादि कराना चाहिए[1]।

रसानुसार ६० प्रविचारणायें

आचार्य चरक ने अच्छ स्नेहसहित ६४ प्रविचारणाओं का संकेत दिया है।[2] उनके अनुसार रसों का विकल्प ६३ होता है, अतः सम्पूर्ण या अलग-अलग रसों के योग से युक्त मुख द्वारा सेवन किये जाने वाले ओदनादि सिद्ध-स्नेह ६३ प्रकार के हो जाते हैं तथा द्रव्यान्तर से रहित अर्थात् केवल स्नेह एक प्रकार का होता है। इस प्रकार रसों के संयोग से ६३ और एक अच्छ स्नेह मिलकर चौसठ हो जाते हैं। इन प्रविचारणाओं का प्रयोग ज्ञानी अर्थात् स्नेह-विशेषज्ञ वैद्य के लिए ही कहा गया है; क्योंकि इन प्रविचारणाओं का प्रयोग, शरीर-सात्म्य, ऋतु-सात्म्य, रोग और व्यक्ति की प्रकृति आदि पर विचार करने के उपरान्त ही किया जाता है।

विशिष्ट प्रविचारणायें

आचार्य चरक ने चौबीस या चौंसठ प्रविचारणाओं के अतिरिक्त कतिपय द्रव्य-विशेषानुसार विशिष्ट प्रविचारणाओं का भी उल्लेख किया है। वास्तव में ये विशिष्ट

(ख) नयने ताम्यति स्तब्धे शुष्के रूक्षेऽभिघातजे।
वातपित्तातुरे जिह्मे शीर्णपक्ष्माविलेक्षणे॥
कृच्छ्रोन्मीलशिराहर्षं शिरोत्पाततमोऽर्जुनैः।
स्यंदमंथान्यतोवात वातपर्यायशुक्रकैः॥
आतुरे शांततारागाश्रुशूलसंरंभदूषिके।
(अ० हृ० सू० २४।१-३)

१. यथास्वं धूमपानेन कफमस्य विशोधयेत्। (सु० उ० १८।११)

२. रसैश्चोपहितः स्नेहः समासव्यासयोगिभिः।
षड्भिस्त्रिषष्टिधा संख्यां प्राप्नोत्येकश्च केवलः॥
एवमेताश्चतुःषष्टिः स्नेहानां प्रविचारणाः।
ओकर्तुव्याधिपुरुषान् प्रयोज्याजानता भवेत्॥
(च० सू० १३।२७-२८)

प्रविचारणायें भी वर्णित २४ प्रविचारणाओं में से कल्पविशेष के अनुसार वर्णित हैं, जिसमें विशेष कल्प हेतु कौन-कौन से विशिष्ट द्रव्य स्नेहन-कर्म हेतु उत्तम है, इनका उल्लेख किया गया है । इनके अतिरिक्त विशिष्ट प्रविचारणा में दोषानुसार व्यक्ति-विशेष के अनुसार विशेष द्रव्य का उल्लेख प्राप्त होता है । यथा—

(१) **मांसरस प्रविचारणा**—स्नेहन कर्म हेतु मांसरस प्रविचारणा में लाव पक्षी, तीतर, मोर, हंस, सूअर, गौ, बकरी, भेड़ तथा मछली का मांस हितकर होता है[१] ।

(२) **रस प्रविचारणा**—रस प्रविचारणा में जौ, बेर, कुलथी, स्नेह, गुड़, चीनी, अनार का रस, दही, शुण्ठी, मरिच, पिप्पली के साथ स्नेह का संयोग करना चाहिए[२] ।

(३) **वातप्रधान व्यक्तियों में**—(अ) मदिरा के मण्ड के साथ तैल, वसा, मज्जा का सेवन (ब) दूध में सब मिलाकर[३] करना चाहिए ।

(४) **रूक्ष व्यक्तियों में**—मदिरा के साथ राब, सोंठ, तिल तैल का सेवन कराना चाहिए । जब गृहीत स्नेह का पाचन हो जाय तो भुने हुए मांस के साथ भोजन कराना चाहिए । इससे व्यक्ति सम्यक् रूप से स्नेहित हो जाता है ।[४]

(५) (अ) धारोष्ण दूध में स्नेह (तैल, घृत, वसा, मज्जा) व चीनी मिलाकर देने से स्नेहन हो जाता है । (ब) दही की मलाई में राब मिलाकर पीने से स्नेहन हो जाता है ।[५]

---

१. लावत्तैत्तिरमायूरहांसवाराहकौक्कुटाः ।
गव्याजौरभ्रमात्स्याश्च रसाः स्युः स्नेहने हिताः ॥
(च० सू० १३।८३)

२. यावकौलकुलत्थाश्च स्नेहाः सगुडशर्कराः ।
दाडिमं दधि सव्योषं रससंयोगसंग्रहः ॥
(च० सू० १३।८४)

३. तैलसुरायां मण्डेन वसा मज्जानमेव वा ।
पिबन् स फाणितं क्षीरं नरः स्निह्यति वातिकः ॥
(च० सू० १३।८७)

४. फाणितं शृङ्गबेरं च तैलं च सुरया सह ।
पिबेद्रूक्षो भृष्टमांसैर्जीर्णेऽश्नीयाच्च भोजनम् ॥
(च० सू० १३।८६)

५. धारोष्णं स्नेहसंयुक्तं पीत्वा सशर्करं पयः ।
नरः स्निह्यति पीत्वा वा सरं दध्नः सफाणितम् ॥
(च० सू० १३।८८)

सद्यः स्नेहन-विधि

सद्यः स्नेहन विधि तत्क्षण स्नेहन कर्म को कहा जाता है। स्नेहन-कर्म यदि विधिपूर्वक किया जाता है तो एक व्यक्ति को सम्यक् रूपेण स्निग्ध होने में सात दिनों की आवश्यकता होती है अथवा सात दिनों बाद ही व्यक्ति स्निग्ध हो पाता है, परन्तु कुछ ऐसी भी अवस्थायें होती हैं, जब व्यक्ति को तत्क्षण स्नेहन की आवश्यकता होती है। इस स्थिति में आचार्य ने कतिपय ऐसे योगों का उल्लेख किया है, जिससे व्यक्ति सद्यः स्निग्ध हो जाता है। पर शीघ्र स्नेहन में स्नेहाधिक्य हो जाना भी लाभदायक नहीं होता[1], अतः स्नेह-मात्रादि का विचार कर प्रयोग करना चाहिए। आचार्य शीघ्र स्नेहन कर्म को उत्तम नहीं मानते; क्योंकि इससे बिना स्नेहन के ही स्नेह निकल जाता है। इस सम्बन्ध में आचार्य दो उदाहरण प्रस्तुत कर विषयवस्तु को स्पष्ट करते हैं। जिस प्रकार सूखे वस्त्र को जल में भिगोया जाता है तो जितने जल में कपड़ा भींग जाता है, उतने जल को ग्रहण कर लेता है तथा अधिक जल स्रवित होकर बाहर निकल जाता है, उसी प्रकार आवश्यकतानुसार स्नेह का जठराग्नि पाचन कर लेती है तथा शेष स्नेह बाहर निकल जाता है। शीघ्र स्नेहन को उत्तम नहीं मानने के संदर्भ में उन्होने यह उदाहरण प्रस्तुत किया है कि यदि एक मिट्टी के ढ़ेले के ऊपर जब शीघ्रता से जल छोड़ा जाता है तो वह जल ढ़ेले को बिना पूर्णरूपेण गीला किये ही बाहर निकल जाता है, उसी प्रकार शीघ्रता से स्नेहन करने पर शरीर सम्यक् रूपेण स्निग्ध नहीं हो पाता तथा प्रयुक्त स्नेह का अधिक भाग बाहर निकल जाता है। फिर भी आचार्य ने आवश्यकतानुसार कतिपय सद्यः स्नेह विचारणाओं का उल्लेख किया है, जिससे आवश्यक होने पर उनका प्रयोग किया जा सके। यथा—

(क) पञ्चप्रासृतिकी पेया + दूध में सिद्ध की गई चावल व उड़द की खीर + अधिक मात्रा में घृत। इनके प्रयोग से सद्यः स्नेहन होता है।[2] पञ्चप्रासृतिकी पेया घृत, तैल, वसा, मज्जा, चावल एक-एक प्रसृत लेकर बनाया जाता है।

---

१. गृह्णात्यम्बु यथा वस्त्रं प्रस्रवत्यधिकं यथा।
यथाग्निं जीर्यति स्नेहस्तथा स्रवति चाधिकः ॥
यथा चाक्लेद्य मृत्पिण्डमासिक्तत्वरया जलम्।
स्रवति स्रंसते स्नेहस्तथा त्वरितसेवितः ॥ (च० सू० १३।९६-९७)

२. पञ्चप्रासृतिकी पेया पायसो माषमिश्रकः।
क्षीरसिद्धो बहुस्नेहः स्नेहयेदचिरान्नरम् ॥
सर्पिस्तैलवसामज्जातण्डुलप्रसृतैः शृता।
पञ्चप्रासृतिकी पेया पेया स्नेहनमिच्छता ॥ (च० सू० १३।८९-९०)

(ख) प्रचुर घृत द्वारा सिद्ध सूअर के मांस रस में घृत व नमक मिलाकर दो बार पीने से शीघ्र स्नेहन हो जाता है।[1]

(ग) त्रिकटु के कल्क, मुनक्का, आँवला—इनके यूष में खट्टी दही मिलाकर स्नेह-पाक करना चाहिए। इस स्नेह से सद्यः स्नेहन हो जाता है[2]।

(घ) यव, बेर, कुलथी के क्वाथ, मदिरा, दही, दूध व क्षार-सिद्ध घृत भी सद्यः स्नेहकर है[3]।

(ङ) तैल, घृत, वसा, मज्जा—चारों को बेर और त्रिफला के क्वाथ से सिद्ध कर स्नेह का प्रयोग योनिव्यापद् व शुक्रदोष में किया जाता है।[4]

(च) नमक के साथ स्नेह का प्रयोग करने से शीघ्र स्नेहन हो जाता है; क्योंकि नमक अभिष्यन्दि, स्निग्ध, सूक्ष्म, उष्ण व व्यवायी होता है[5]।

आयुर्वेद में स्नेहपान

आयुर्वेद में शोधन चिकित्सा के अन्तर्गत पंचकर्म चिकित्सा का विधान है, पर पंचकर्म चिकित्सा से पूर्व स्नेहन व स्वेदन चिकित्सा आवश्यक मानी गयी है। स्नेहन से तात्पर्य 'स्निग्धता उत्पादक प्रक्रिया' है। आयुर्वेद में ऐसा निर्देश दिया गया है कि प्रथमतः स्नेहन करना चाहिए। जब व्यक्ति का शरीर स्निग्ध हो जाय तब स्वेदन कराकर वमनादि कर्म कराना चाहिए। पूर्वकर्म के रूप में इसकी अनिवार्यता इसलिए स्वीकार की गई है कि बिना स्नेहन, स्वेदन के यदि कोई संशोधन प्रयुक्त किया जाता है तो शरीर की धातुएँ उसी प्रकार से विदीर्ण हो जाती हैं, जिस प्रकार शुष्क काष्ठ

---

१. शौकरो वा रसः स्निग्धः सर्पिर्लवणसंयुतः।
पीतो द्विर्वासरे यत्नात् स्नेहयेदचिरान्नरम्॥ (च० सू० १३)

२. द्राक्षामलकयूषाभ्यां दध्ना चाम्लेन साधयेत्।
व्योषगर्भं भिषक् स्नेहं पीत्वा स्निह्यति तं नरः॥
(च० सू० १३।९३)

३. यवकोलकुलत्थानां रसाः क्षारः सुरा दधि।
क्षीरं सर्पिश्च तत्सिद्धं स्नेहनीयं घृतोत्तमम्॥
(च० सू० १३।९४)

४. तैलमज्जवसासर्पि बदरत्रिफलारसैः।
योनिशुक्रप्रदोषेषु साधयित्वा प्रयोजयेत्॥
(च० सू० १३।९५)

५. लवणोपहिताः स्नेहाः स्नेहयन्त्यचिरान्नरम्।
तद्ध्यभिष्यन्द्यरूक्षं च सूक्ष्ममुष्णं व्यवायि च॥
(च० सू० १३।९८)

को बिना तैलादि लगाये नमन करने के प्रयास में लकड़ी टूट जाती है। आयुर्वेद के आचार्यों ने इसे निम्न रूप में व्यक्त किया है—

स्नेहमग्रे प्रयुञ्जीत ततः स्वेदमनन्तरम्।
स्नेहस्वेदोपपन्नस्य संशोधनमथेतरत्॥ (च० सू० १३।९९)
स्नेहस्वेदावनभ्यस्य कुर्यात्संशोधनं तु यः।
दारुशुष्कमिवाऽऽनामे शरीरं तस्य दीर्यते॥
(अ० हृ० सू० १८।५९)

इस प्रकार संशोधन चिकित्सा के पूर्वकर्म के रूप में तो इसको स्वीकार किया ही गया है, आयुर्वेद के षड्विध चिकित्सा उपक्रम में एक विधि के रूप में भी स्नेहन को स्वीकार कर इसे प्रधान चिकित्सा के रूप में मान्यता दी गई है। अतः स्नेहन पंचकर्म चिकित्सा में पूर्वकर्म के रूप में तथा षड्विध उपक्रम में प्रधान कर्म के रूप में मान्य होने से आयुर्वेदीय चिकित्सा में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है।

स्नेहवाद का आधार (Basic ground of Snehana karma)—आयुर्वेद में रोगारोग्य का कारण धातुओं का सम होना या विषम होना ही माना गया है। धातुएँ दो प्रकार की हैं। रचनात्मक रूप से शरीर को धारण करने वाली धातुएँ सात (रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा व शुक्र) होती हैं तथा क्रियात्मक रूप से धारण करने वाली धातुएँ तीन (वात, पित्त, कफ) होती हैं। ये तीन क्रियात्मक धातुएँ सात रचनात्मक धातुओं को दूषित करने में सक्षम होती हैं, अतः इन्हें दोष तथा दूषित होने वाली सप्त रचनात्मक धातुओं को दूष्य कहते हैं। रज एवं तम को मन को दूषित करने के कारण मानसिक दोष के रूप में स्वीकार किया गया है।

त्रिदोष (वात, पित्त, कफ) में सात-सात गुणों का उल्लेख प्राप्त होता है जो धातु-विशेष के आधार पर व्यवस्थित हैं। इनका वर्णन प्रथम भाग में विस्तृत रूप से किया जा चुका है। फिर भी यहाँ स्नेहवाद को समझने के लिए उन गुणों का उल्लेख किया जा रहा है। यथा—

वात के गुण—रूक्ष, शीतल, लघु, सूक्ष्म, चल, विशद व खर।
पित्त के गुण—किंचित् स्नेह, उष्ण, तीक्ष्ण, द्रव, अम्ल, सर व कटु।
कफ के गुण—गुरु, शीत, मृदु, स्निग्ध, मधुर, स्थिर, पिच्छिल।

जब ये दोष कुपित हो जाते हैं अर्थात् इनमें वृद्धि हो जाती है तो ये अपने विपरीत गुण वाले द्रव्यों से शांत होते हैं। इन तीन दोषों में पित्त व कफ क्रमशः आग्नेय व सौम्य होते हैं तथा वात दोष योगवाही होता है। पित्त के साथ मिलने पर यह उष्णतायुक्त हो जाता है एवं कफ के साथ मिलने पर शीत हो जाता है—

योगवाहः परं वायुः संयोगादुभयार्थकृत्।
दाहकृत् तेजसा शीतकृत् सोमसंश्रयात्॥ (च० चि० ३)

इन तीनों दोषों में वात दोष को प्रधान माना गया है, क्योंकि वायु ही पित्त, कफ का नियामक व उनका गति-प्रदाता होता है। यदि वात प्रकुपित होता है तो न्यूनाधिक पित्त व कफ भी इससे प्रभावित होते हैं, अतः जब संशोधन चिकित्सा का प्रश्न आता है तो प्रथमतः वात दोष को सामान्यावस्था में बनाये रखना अत्यावश्यक हो जाता है।

स्नेहन कर्म वात दोष में विशेष रूप से प्रयुक्त किया जाता है। वात के गुणों में रूक्ष गुण का संकेत प्रथमतः प्राप्त होता है, जो कि विपरीत गुण वाले द्रव्य से शमित होता है। रूक्ष का विपरीत गुण स्निग्ध होता है, अतः अग्रेस्नेहनं का विधान किया गया है। स्नेह द्रव्यों में निम्न गुण होते हैं—

द्रवं सूक्ष्म सरं स्निग्धं पिच्छिलं गुरु शीतलं।
प्रायो मंदं मृदुं च यत् द्रव्यं स्नेहनमुच्यते ॥ (च० सू० २२।१५)

अर्थात् स्नेह-द्रव्यों में—१. स्निग्ध, २. द्रव, ३. सूक्ष्म, ४. सर, ५. पिच्छिल, ६. मंद, ७. मृदु, ८. गुरु और ९. शीत—ये नौ गुण विद्यमान रहते हैं। इनमें स्निग्ध, पिच्छिल, मंद, मृदु, गुरु गुण वात दोष के गुणों से विपरीत होते हैं। इन गुणों से वात दोष की वृद्धि-प्राप्त रूक्षता, विशदता, खरता, लघुतादि शमित होते हैं। रूक्षता स्निग्धता से, लघुता गुरुता से, विशदता पिच्छिलता से, कठोरता मृदुता से व आशु गुण मंद गुण से शांत होता है।

स्नेह द्रव्यों में उपस्थित गुणों में स्निग्ध गुण के कारण स्नेह द्रव्य, स्नेहन कर्म, मार्दव कर्म अर्थात् मृदुता उत्पन्न करने का कर्म, बलवर्द्धन कर्म तथा वर्णवर्द्धन कर्म करते हैं[1]। गुरु गुण के कारण स्नेह द्रव्य साद (शरीर में ग्लानि उत्पन्न करना, शरीर की क्रियाओं को अवसादित करना) उपलेप अर्थात् मलवृद्धिकर कर्म, बलवर्द्धन, तर्पण अर्थात् शारीरिक धातुओं के आवश्यकताओं की पूर्त्ति तथा बृंहण कर्म करते हैं[2]। स्नेह द्रव्यों में शीत गुण होता है। शीत गुण से ह्लादन (उत्साह व आनन्दानुभव); स्तम्भन (स्रवित वा च्युत धात्वादि को रोकने वाला), मूर्च्छाहरण, तृषा-प्रशमन; दाह-प्रशमन (उष्णता वा जलन को कम करना) आदि कर्म सम्पादित होते हैं[3]। स्नेह द्रव्यों में मृदु गुण पाया जाता है। मृदु का सामान्य अर्थ मुलायम (Soft) होता है। मृदु गुण के कारण स्नेह द्रव्यों में शिथिलताकारक गुण का आधान होता है, जिससे वातप्रकोप शांत होता है। मृदु गुण अति चलायमान दोषों व वात कोप से प्राप्त कठोरता आदि को समाप्त कर दोषों को शिथिल व स्रोतसों को मृदु बना देता

---

१. स्नेहमार्दवकृत् स्निग्धो बलवर्णकरस्तथा। (सु० सू० ४६।५१६)
२. सादोपलेप बलकृत् गुरुस्तर्पण बृंहण। (सु० सू० ४६।५१८)
सादोऽग ग्लानि उपलेपो मलवृद्धिः। (डल्हण)
३. ह्लादनः स्तम्भनः शीतः मूर्च्छा तृट् स्वेददाहजित्। (सु० सू० ४६।५१५)

है। स्नेह द्रव्य द्रव गुण से क्लेदोत्पादन करता है तथा द्रव द्रव्य प्रसरणशीलता के कारण शीघ्रता से शरीर में व्याप्त हो जाते हैं। स्नेह में पिच्छिल गुण पाया जाता है। पिच्छिल के संदर्भ में आचार्य सुश्रुत ने कहा है कि—'पिच्छिलो जीवनो बल्यः संघातः श्लेष्मलो गुरुः।' अर्थात् पिच्छिल गुण वाले द्रव्य जीवन (आयुवर्द्धन करने वाले), बल्य (बल बढ़ाने वाले; आयुर्वेद में बल से सामान्यतः शक्ति अर्थ लगाया जाता है पर बल का विशिष्ट अर्थ व्याधिक्षमता ग्रहण किया गया है। जहाँ बल्य-कर्मादि का वर्णन है वहाँ 'व्याधिक्षमतावर्द्धक' विशिष्ट अर्थ ग्रहण करना चाहिए); संघातकर्म (अंगविशेष के अणुओं को एकत्र कर व्यवस्थित रखना), कफवर्द्धक व गुरु होते हैं। सर गुण का तात्पर्य सरकना, गतिशीलता या प्रसरणशीलता है। स्नेह द्रव्यों में सर गुण होने के कारण वात एवं मल का प्रवर्त्तन होता है अर्थात् मल प्रवृत्तिशील हो जाते हैं। स्नेह द्रव्यों में मंद गुण होता है, जिसका सामान्य अर्थ धीमापन 'धीरे-धीरे देर से कार्य करना' होता है। इससे वात-वृद्धि से प्राप्त चल गुण ह्रसित होता है तथा मंद गुण शमन की प्रवृत्ति रखने के कारण अतिप्रवृत्त दोषों को शमित करता है। सूक्ष्म गुण के कारण स्नेह-द्रव्य सम्पूर्ण शरीर में सूक्ष्म से सूक्ष्म स्रोतसों में व्याप्त हो जाता है। आयुर्वेद में सूक्ष्म को विचरणशील भी कहा गया है (हेमाद्रि)। इससे संचित दोषों का विचरणशीलता के द्वारा उनके बल को क्षीण करता है।

इस प्रकार स्नेहन से शरीर में स्निग्धता आती है। दोषों का विष्यन्दन होता है; दोषों द्वारा कृत शुष्कादि प्रदेशों में क्लेदन कर्म द्वारा आर्द्रता व्याप्त होती है तथा दोष प्रकोप से कठोरता-प्राप्त स्रोतस् मृदु हो जाते हैं एवं दोषों में भी स्रोतसों के साथ-साथ मृदुता आती है। ये कार्य परमाणु-स्तर से सम्पूर्ण शरीर में होते हैं; क्योंकि स्नेह सूक्ष्म, सर, द्रव होने से सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त होकर अपना कार्य करते हैं। स्नेहन की कार्मुकता सह उपयोग पर प्रकाश डालते हुए आचार्य दृढ़बल ने च० सि० अ० १ में कहा है कि—

'स्नेहोऽनिलं हंति मृदुकरोति देहं मलानां विनिहंतिसंगम्।'

अर्थात् स्नेह—(१) वात दोष को नष्ट करता है।

(२) शरीर व शरीरस्थ दोषों को मृदु बनाता है।

(३) मलसंघात को नष्ट कर सुखपूर्वक निष्क्रमण करता है।

यहाँ आचार्य ने स्नेह की कार्मुकता को तीन वर्गों में विभाजित किया है, यदि आचार्य दृढ़बल की उपर्युक्त उक्ति पर सूक्ष्म दृष्टिपात किया जाय तो यह स्पष्ट हो जाता है कि आचार्य ने तीन कार्मुक वर्गीकरण कर, स्नेहन कर्म के त्रिसूत्रीय (Three tier) क्रियाविधि व उपयोगिता का संकेत दिया है। जैसे—स्नेहन को षड्विध उपक्रम में प्रधान चिकित्सा के रूप में स्वीकार किया गया है, अतः 'वातं हंति' कहकर वात

दोष की प्रधान चिकित्सा का संकेत दिया गया है। स्नेहन को पंचकर्म के पूर्वकर्म के रूप में स्वीकार किया गया है, अतः पूर्वकर्म के रूप में जब स्नेहन कर्म कराया जाता है तो स्नेहन कर्म का लक्ष्य—'मृदुकरोति देहं' होता है अर्थात् पंचकर्म से पूर्व शरीर, शरीरस्थ स्रोतसों व दोषों को मृदु बनाना लक्ष्य होता है। आचार्य ने स्नेहन की तीसरी कार्मुकता 'मलानां विनिहंति' कहा है। प्रस्तुत कार्मुकता स्वास्थ्य-रक्षण हेतु होती है। दिनचर्या, ऋतुचर्या या दैनिक आहार के रूप में ग्रहण किया गया स्नेह सुखपूर्वक मलों का निष्क्रमण करता है। अतः आचार्य दृढ़बल के दिशा-निर्देश के अनुसार स्नेह की कार्मुकता व उपयोगिता को निम्नरूप में वर्गीकृत किया जा सकता है—

(१) स्वास्थ्यरक्षण में स्नेहन (मलानां विनिहंति),

(२) पञ्चकर्म हेतु पूर्वकर्म में स्नेहन (मृदुकरोति देहं),

(३) स्नेहन चिकित्सा (षड्विध उपक्रम विधि)—(वातं हंति)।

(१) आयुर्वेद में जैसाकि पूर्व में वर्णन किया जा चुका है स्वास्थ्य-रक्षण हेतु दिनचर्या प्रकरण में अनेक प्रकार से बाह्य स्नेहन (अभ्यंग, शिर पर तैलधारण, गण्डूष, नस्य, अक्षितर्पणादि) का वर्णन किया गया है, जिनके प्रयोग से स्वास्थ्य-रक्षण होता है। आहार रस-प्रधान होता है; इसलिए रसकल्पना के आधार पर नित्य आहार में स्नेहन का प्रयोग अत्यावश्यक होता है। दैनिक आहार में स्नेह की मात्रा थोड़ी होती है, क्योंकि अधिक मात्रा में नित्य स्नेह लेने से सात्म्य भी हो जाता है तथा अतिस्निग्ध के लक्षण उत्पन्न होने लगते हैं। दैनिक जीवन में स्नेह का प्रयोग प्रायशः सीधे स्नेह द्रव्यों के सेवन द्वारा (जैसे तिल, मूँगफली या अन्य स्नेह द्रव्य) तथा प्रविचारणा रूप में किया जाता है, जिसमें दो प्रकार के स्नेहों का प्रयोग होता है—(१) वनस्पति स्नेह तथा (१) जांगम स्नेह। भारत की आहार विधि में इतनी कल्पनायें इसलिए गई हैं कि दैनिक जीवन के लिए आवश्यक स्नेह किसी न किसी प्रकार शरीर में पहुँच जाय। जैसे—शाकादि को प्रायः वनस्पतियों में प्राप्त तैलों से सिद्ध किया जाता है व जांगम स्नेह में घृत का प्रयोग प्रायशः होता है। अतः यदि आहारादि में ही मात्रायुक्त स्नेह का सेवन किया जाय तो स्वास्थ्य-रक्षा होती है। आचार्य सुश्रुत ने स्नेहन द्वारा स्वास्थ्य रक्षण होने का स्पष्ट व सीधे शब्दों में संकेत दिया है—यदि दैनिक आहार में मात्रायुक्त स्नेह का सेवन किया जाता है तो—

दीप्तांतरग्निः परिशुद्धकोष्ठः प्रत्यग्रधातुर्बलवर्णयुक्तः।
दृढेन्द्रियो मंदजरः शतायुः स्नेहोपयोगीपुरुषो भवेत्तु ॥
स्नेहो हितो दुर्बलवह्निदेहः संधुक्षणे व्याधिनिपीडितस्य।
बलान्वितौ भोजनदोषजातैः प्रमर्दितौ तौ सहसा न साध्यौ ॥

(सु० चि० ३१।५६-५७)

अर्थात् नित्य स्नेह का उपयोग करने से स्नेहोपयोगी पुरुष की (१) 'दीप्तांत-

रग्नि'—अग्नियाँ दीप्त होती हैं तथा जठराग्नि बढ़ती है। (२) 'परिशुद्धकोष्ठः'—स्नेहोपयोग से कोष्ठ की शुद्धि होती है। आचार्य दृढ़बल ने दैनिक स्नेहोपयोग द्वारा 'मलं निहंति' कहा है जिसे आचार्य सुश्रुत ने 'परिशुद्धकोष्ठः' कहा है। दैनिक स्नेहन के वर्णित अन्य गुण भी 'परिशुद्धकोष्ठः' होने से शरीर में आधानित होते हैं। (३) 'प्रत्यग्र-धातुर्बलवर्णयुक्तः'—जब अग्नियाँ सम्यक् रूप से प्रदीप्त हो जाती हैं, कोष्ठशुद्धि हो जाती है तो शरीर में लगातार नये-नये धातुओं का निर्माण होता है तथा पूर्वधातुओं का बल बढ़ता है एवं सभी धातु अपने स्वाभाविक वर्ण को प्राप्त होते हैं। (४) 'दृढेन्द्रियो'—इन्द्रियाँ दृढ़ हो जाती हैं। (४) बुढ़ापा देर से आ पाता है। (४) नित्याहार में स्नेहन से मनुष्य शतायु होता है। (६) आचार्य सुश्रुत ने इसके बाद कहा है कि जो व्यक्ति मंदाग्नियुक्त है, विभिन्न व्याधियों से पीड़ित रहते हैं, दुर्बल हैं यदि वे स्नेहोपयोग करते हैं तो उनमें बल (यहाँ बल का तात्पर्य व्याधिक्षमता से है) इतना बढ़ जाता है कि सहसा अपथ्य आहार लेने पर भी रोगोत्पत्ति नहीं होती।

इस प्रकार स्नेहवाद या स्नेह-प्रयोग लाभदायक ही नहीं, वरन् अत्यावश्यक भी है। सम्यक् स्नेह प्रयोग अग्नि की वृद्धि करता है, जिससे प्रसाद व किट्ट भाग का निर्माण सम्यक् रूपेण होता है और प्रसाद भाग द्वारा नव धातुओं का निर्माण निर्बाध रूप से चलता रहता है तथा मलभाग सुखपूर्वक शरीर से बाहर निष्क्रमित होता रहता है। निर्बाध धातुपोषण से इन्द्रियाँ दृढ़ होती हैं व पुरातन धातुओं का स्नेह द्वारा नव-निर्माण होने से बुढ़ापा जल्दी नहीं आ पाती। उपर्युक्त कार्मुक तथ्यों का परिणाम यह होता है कि शरीर में व्याधिक्षमता की वृद्धि होती है तथा मन में उत्साह बढ़ता है। परिणामतः किसी रोग का प्रादुर्भाव अचानक नहीं होता तथा व्यक्ति स्वस्थ रहता है।

(२) पञ्चकर्म हेतु स्नेहन को पूर्वकर्म के रूप में स्वीकार किया गया है। आयुर्वेद के सभी आचार्यों ने पञ्चकर्म से पूर्व स्नेहन व स्वेदन को आवश्यक कहा है। उन आचार्यों का तर्क है कि—बिना स्नेहन व स्वेदन के पञ्चकर्म करने पर शरीरस्थ धातुएँ उसी तरह विदीर्ण हो जाती हैं, जिस प्रकार बिना स्नेहन व स्वेदन के लकड़ी को झुकाने पर वह टूट जाती है। यदि उसी लकड़ी को स्नेह-प्रयोग कर स्वेदित किया जाता है तो उसे आसानी से इच्छानुसार झुकाया जा सकता है। इस सन्दर्भ में यह तर्क दिया जाता है कि यदि निर्जीव वस्तु में स्नेहन-स्वेदन से इच्छानुसार नमनीयता लायी जा सकती है तो फिर जीवित शरीर में तो इसके गुण का क्या कहना, अर्थात् जीवित मनुष्य में स्नेहन, स्वेदन का प्रभाव अवश्यम्भावी है।

शुष्काण्यपि हि काष्ठानि स्नेहस्वेदोपपादनैः।
नमयन्ति यथान्यायं किं पुनर्जीवतो नरान्॥ (च० सू० ४।५)

आचार्य सुश्रुत ने भी उपर्युक्त तथ्य को स्वीकार कर स्नेहन को पूर्वकर्म के रूप मान्यता दिया है तथा उन्होंने अपना मत प्रकट किया है कि—स्नेहन-स्वेदन के द्वारा

प्रचलित दोष कोष्ठ में आ जाता है जहाँ से उनका निर्हरण आसानी से संशोधन चिकित्सा (पञ्चकर्म) द्वारा किया जा सकता है—

स्नेहस्वेदप्रचलिता रसैः स्निग्धैरुदीरिताः ।
दोषाः कोष्ठगता जन्तोः सुखाहर्तुं विशोधनैः ।। (सु० चि० ३३)

उपर्युक्त तथ्यों के आधार पर ही आचार्य दृढ़बल ने स्नेह की द्वितीय कार्मुकता 'मृदुकरोति देहं' कहा है, अर्थात् स्नेहन कर्म शरीर, शरीरस्थ धातुओं व दोषों को मृदु कर देता है। आचार्य चरक ने पूर्वकर्म के रूप में स्नेहन की कार्मुकता पर प्रकाश डालते हुए कहा है कि—

स्नेहपूर्वं प्रयुक्तेन स्वेदेनावर्जितेऽनिले ।
पुरीषमूत्ररेतांसि न सज्जन्ति कथंचन ।। (च० सू० १४।४)

अर्थात् प्रथमतः स्नेहन करने के बाद स्वेदन करने से वात दोष को दूर करने पर अर्थात् वात के शमित हो जाने पर मल, मूत्र, शुक्रादि का निष्क्रमण कभी-भी नहीं रुकता अर्थात् इनका निष्क्रमण सम्यक् रूपेण होने लगता है या हो जाता है। आचार्य दृढ़वल ने पूर्वकर्म के रूप में प्रयुक्त स्नेहनादि को मृदु करने वाला तो कहा ही है, इसके अतिरिक्त भी स्नेह की एक अन्य कार्मुकता पर प्रकाश डाला है वह कार्मुकता है—दोषोत्क्लिष्टता।

क्लिष्टं वासो यथोत्क्लेश्यमलः संशोध्यतेऽम्भसा ।
स्नेहस्वेदैस्तथोत्क्लेश्य शोध्यते शोधनैर्मलः ।।
(च० सि० ६।१२)

अर्थात् जिस प्रकार से गंदे वस्त्रादि को साफ करने के लिए स्नेह प्रयोग द्वारा प्रथमतः मल को उत्क्लिष्ट करने के बाद जल की सहायता से स्वच्छ किया जाता है; ठीक उसी प्रकार शरीरस्थ मलों को स्वच्छ करने के लिए स्नेहन कर्म के द्वारा दोषों का उत्क्लेशन करना अत्यावश्यक होता है।

३. स्नेहन षड्विध चिकित्सोक्त प्रधान कर्म के रूप में मान्य है। आचार्य दृढ़बल ने 'अनिलं हन्ति' कहकर इस तरफ दिशा-निर्देश दिया है। स्नेहन चिकित्सा विशेष रूप से वात दोष हेतु प्रशस्त है। स्नेह का भौतिक संघटन जल व पृथ्वी होता है; पर प्रधानता जल की ही होती है। अतः वात-वृद्धि में स्नेहन द्वारा वात पर नियंत्रण पाया जाता है। कारण यह है कि वात लघु गुण वाला होता है, उसमें विपरीत गुण वाली पृथ्वी और जलबहुल संघटन वाला गुरु गुण स्नेह प्रभावकारी सिद्ध होता है। जिन-जिन व्याधियों में स्नेहन कर्म का निर्देश दिया गया है, उन सभी व्याधियों की चिकित्सा में स्नेहन कर्म प्रधान चिकित्सा के रूप में प्रयुक्त होता है। प्रधान चिकित्सा के रूप में स्नेहन चिकित्सा की कार्मुकता व उपादेयता पर स्वतंत्र ग्रन्थ-रचना हो सकती है, पर संक्षिप्ततः विचार किया जाय तो पाया जाता है कि, शरीर में वात;

दोषजन्य विकार या वात-वृद्धि के जो-जो स्थान-विशेष हैं, वहाँ तक स्नेह द्रव्य पहुँचाने हेतु विशिष्ट मार्ग का अन्वेषण किया जाता है। चिकित्सा-क्रम में विशिष्ट अधिष्ठानस्थ वात चिकित्सा हेतु विशिष्ट विचारणा-विधान विहित है। जैसे—पक्वाशयस्थ वात हेतु बस्ति द्वारा स्नेहद्रव्य पक्वाशय तक पहुँचाया जाता है। स्नेहपान द्वारा सम्पूर्ण शरीर को स्निग्ध किया जाता है। शिरोगत वात चिकित्सा हेतु नस्य, शिरोबस्ति, शिरोभ्यंगादि के द्वारा स्थानिक रूप से वात-चिकित्सा की जाती है। त्वगाश्रित वात की चिकित्सा स्नेहाभ्यंग है। मुखगत वातविकार हेतु स्नेह-गण्डूष का प्रयोग किया जाता है। इस प्रकार प्रधान चिकित्सा हेतु रोग, अधिष्ठानादि के अनुसार विभिन्न विचारणाओं के साथ स्नेहन कर्म किया जाता है।

उपर्युक्त तथ्यों द्वारा स्नेहन कर्म की उपादेयता और कार्मुकता पर संक्षिप्त रूप से प्रकाश डाला गया है। आधुनिक विज्ञान भी स्नेह को शरीर का एक प्रधान घटक स्वीकार करता है। शरीर में विभिन्न रूपों में, विभिन्न अधिष्ठानों में रहकर स्नेह शरीर को धारण किये रहता है। इसकी आपूर्त्ति दैनिक आहार द्वारा नियमित रूप से होती रहती है। जब शरीरस्थ स्नेह की मात्रा कम हो जाती है तो रूक्षता, खरता आदि वातज लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं, तब चिकित्सात्मक रूप से स्नेह का प्रयोग करने पर वात के विकृत लक्षण शांत हो जाते हैं। उपर्युक्त विवेचन में तीन लक्ष्यों की पूर्त्ति हेतु स्नेहन कर्म किया जाता है, जिसमें मात्रा तथा काल का विचार अत्यावश्यक है। स्वास्थ्यरक्षण या दैनिक प्रयोग में स्नेहन की अल्प मात्रा ही निर्धारित करनी चाहिए। आधुनिक युग में दैनिक प्रयोग में आने वाले अनेक स्नेह द्रव्य हैं, उनका प्रयोग भी विचारोपरान्त ही करना चाहिए। कुछ दिनों पूर्व भारतवर्ष में हृद्-रोगियों को घृत सेवन नहीं कराया जाता था। आज भी यह परम्परा विद्यमान है। इसका आधार विभिन्न पाश्चात्य प्रतिष्ठानों द्वारा दिया गया दिशा-निर्देश है, पर भारतीय व्यक्तियों को इतना विचार अवश्य करना चाहिए कि—भारत में कोई भी आहार कल्प अनेक शोधोपरान्त स्थापित किया गया है। घृत-निर्माण में, मक्खन को अग्नि में तपाकर उसके जलीयांश को जलाकर घृत सिद्ध किया जाता है, जिससे शरीरस्थ धातुओं में आम रूप में रहने वाले द्रव्य पचित हो जाते हैं। आयुर्वेद में घृत को ओजोवर्द्धक कहा गया है, जिसके फलस्वरूप घृत को हृदय के लिए उपयोगी कहा गया है। भारत में कुछ ही दिनों पूर्व भारतीय वैज्ञानिकों ने सिद्ध कर दिया कि घृत हृदय के लिए हानिकारक न होकर लाभदायक है। पर यदि मेदस्वी वा अस्नेह्य व्यक्ति स्नेह या घृत का सेवन करते हैं तो उन्हें लाभ के स्थान पर हानि ही प्राप्त होगी। भारत में आहार-परिवर्तन के साथ-साथ कतिपय नवीन रोगों का सामना भी करना पड़ रहा है, जो पहले भारत में बहुत कम प्रतिशत में होते थे। जैसे–रक्तचाप की समस्या। आज यह एक विचारणीय प्रश्न है कि क्या रक्तचाप के रोगी को स्नेह

द्रव्य दिया जा सकता है ? क्या हृदय रोगी स्नेह ले सकते हैं ? आदि । यदि आयुर्वेद के अनुसार आतुर अस्नेह्य है तो उसे कदापि स्नेहन नहीं कराना चाहिए, पर यदि आयुर्वेदानुसार आतुर स्नेह्य है तो उसका स्नेहन विशिष्ट विचारणा के साथ कराया जा सकता है । स्नेह का दैनिक प्रयोग अपने शास्त्रानुसार किया जाय तो लाभदायक ही होता है । प्रस्तुत अध्याय में चार प्रमुख स्नेहों के लिए निर्देश दिया जा चुका है कि किन व्यक्तियों में कौन-सा स्नेह प्रयोग करना चाहिए । जैसे—एक स्थूल शरीर का व्यक्ति कफयुक्त है, जिसके गले व उदर में चलने पर गति होती है तो स्वभावतः वह व्यक्ति स्नेह द्रव्य से अधिक स्थूल होने के भय से ग्रसित होगा । आधुनिक विद्वान् या तो उस व्यक्ति को स्नेह द्रव्य लेने से मना कर देते हैं या अल्पमात्रा में शोधित स्नेह (Refined fat) लेने की सलाह देते हैं, पर ऐसी रोगी की भी चिकित्सा स्नेहन ही बतलाई गई है । इतना ही नहीं; आचार्य ने कहा है कि—स्नेहन से उस व्यक्ति में शारीरिक बलवृद्धि, पतलापन, हल्कापन, दृढ़ता आती है अर्थात् शरीर का भार भी कम हो जाता है, पर उस व्यक्ति के लिए स्नेहन घृतादि से न कराकर तिल तैल के द्वारा कराया जाता है । यदि तिल तेल को लशुन आदि से सिद्ध किया गया है और यदि उस व्यक्ति में रक्तचाप की वृद्धि हो तभी तैल स्नेह का प्रयोग सावधानी के साथ किया जा सकता है । इस प्रकार कृश व्यक्तियों का जांगम घृत, वसादि द्वारा तथा स्थूल व्यक्तियों का स्नेहन प्रायः तैल द्वारा कराना चाहिए ।

अध्याय—३५

स्वेदन

स्वेद का सामान्य अर्थ, शरीर की त्वचा से निःस्यंदन द्वारा निर्गत पसीना होता है। इस प्रकार जिस क्रिया-विशेष के द्वारा शरीर से स्वेद (पसीने) को निःस्यंदित किया जाता है, उसे स्वेदन कहा जाता है। स्वेद तथा स्वेदन पद की निरुक्ति के सम्बन्ध में वाचस्पत्यम् में निम्न तथ्य उपलब्ध होता है—

स्विद् भावे घञ् पु० पाकभेदे—गात्रादितो जलादेः निःस्यंदने। णिच्भाव अच्।

स्वेदन-स्विद्-णिच्-ल्युट्। गात्रादितो घर्मादेः निस्सारणव्यापारे।

स्वेद शब्द की निष्पत्ति 'स्विद्' में घञ् तथा भाववाचक णिच् व अच् प्रत्यय लगने से होती है, जिसका अर्थ 'पाकभेदे' अर्थात् पाचनादि कर्म तथा शरीर से निस्यंदित होने वाला जल होता है। शरीर से निष्यंदित स्वेद में णिच् ल्युट् प्रत्यय लगाया जाता है तो स्वेदन शब्द बनता है, जिसका अर्थ होता है—शरीर से स्वेद को निष्यंदित कराना।

आयुर्वेद में स्वेद की गणना मलों में की गई है जो मेदो धातु का मल होता है। स्वेद द्वारा शरीर के जलीय घटकों को समभाव में रखने का कार्य होता है। इसकी उत्पत्ति ऊष्मा से होती है; अतः इसका प्रयोग विपरीत गुणधर्मी वात-कफ वृद्धि में प्रायशः किया जाता है।

आयुर्वेदाचार्यों ने स्नेहनोपरान्त स्वेदन प्रक्रिया का उल्लेख किया है। षड्विध उपक्रम में स्वेदन को एक प्रधान चिकित्सा विधि के रूप में स्वीकार किया गया है तथा स्नेहन के सदृश पंचकर्म चिकित्सा के पूर्वकर्म के रूप में प्रयुक्त होता है। आचार्य चरक ने स्नेहनोपरान्त स्वेदन क्रिया के वर्णन के प्रारम्भ में ही प्रधान रूप से स्नेहन के चिकित्सात्मक रूप को 'वातकफात्मकाः' कहकर प्रस्तुत किया है—

अतः स्वेदा प्रवक्ष्यन्ते यैर्यथावत्प्रयोजितैः।
स्वेदसाध्याः प्रशाम्यन्ति गदाः वातकफात्मकाः॥

(च० सू० १४।३)

अर्थात् अब स्नेहन के बाद स्वेदन क्रिया का वर्णन किया जायेगा, जिसके यथावश्यक व यथावत् प्रयोग से वातज व कफज व्याधियाँ शांत होती हैं।

शोधन चिकित्सा (पञ्चकर्म चिकित्सा) के पूर्वकर्म के रूप में स्नेहन के बाद व वमनादि के पूर्व स्वेदन कराया जाता है। जो आतुर संशोध्य होते हैं अर्थात् जिन आतुरों में पाँचों संशोधन कर्म करने होते हैं, उनमें न्यूनाधिक या विशिष्ट रूप में स्नेहन के बाद स्वेदन अनिवार्य होता है (कतिपय निषेधित रोगों को छोड़कर);

परन्तु आयुर्वेद में कुछ वातज व कफज विशिष्ट व्याधियों का भी उल्लेख किया गया है, जिनमें स्वेदन कराना विशेष रूप से लाभप्रद रहता है। चाहे वह स्वेदन पूर्वकर्म के रूप में कराया जा रहा हो या स्वेदन को प्रधान चिकित्सा मानकर प्रयुक्त किया जा रहा हो--दोनों ही स्थितियों में इन विशिष्ट व्याधियों में स्वेदन लाभदायक ही रहता है। स्वेदन कर्म द्वारा चिकित्स्य विशिष्ट व्याधियाँ निम्न हैं--

स्वेद्य व्याधियाँ—१. प्रतिश्याय, २. कास, ३. हिक्का, ४. श्वास, ५. स्रोतों में कफ भर जाने पर, ६. गौरव, ७. कर्णशूल, ८. मन्याशूल, ९. शिरःशूल, १०. स्वरभेद, ११. गलग्रह, १२. अर्दित, १३. एकाङ्गवात, १४. सर्वाङ्गवात, १५. पक्षाघात; १६. विनामक, १७. आनाह (कोष्ठगत), १८. विबन्ध; १९. मूत्राघात, २०. विजृम्भक, २१. पार्श्व, पृष्ठ, कटि, कुक्षिग्रह होने पर, २२. गृध्रसी, २३. मूत्रकृच्छ्रता; २४. अण्डकोषवृद्धि, २५. अङ्गमर्द, २६. पाद, जानु, ऊरु व जंघा में शूल होने पर तथा उक्त अङ्गों में जकड़ाहट हो जाने पर, २७. शोथ, २८. खल्ली रोग, २९. आमदोष; ३०. शीतजन्य रोग; ३१. कम्पवात, ३२. वातकण्टक, ३३. संकोच; ३४. आयामवात; ३५. सर्वाङ्गशूल, ३६. अङ्गस्तम्भता, ३७. अङ्गसुप्ति[1]।

आचार्य सुश्रुत ने स्वेद्य पुरुषों के विवेचन में प्रथमतः पञ्चकर्म के पूर्वकर्म के रूप में स्वेदन को आधार मानकर उल्लेख किया है[2]। जैसे—३८. जिनको नस्य देना हो, ३९. जिनकी बस्ति चिकित्सा करनी हो, ४०. जिनका वमन और विरेचन कराना हो। इसके अतिरिक्त कतिपय अवस्थाओं में स्वेदन का पश्चात् कर्म के रूप में भी उल्लेख

---

१. प्रतिश्याये च कासे च हिक्काश्वासेष्वलाघवे।
कर्णमन्याशिरःशूले स्वरभेदे गलग्रहे॥
अर्दितैकाङ्गसर्वाङ्गपक्षाघाते विनामके।
कोष्ठानाहविबन्धेषु मूत्राघाते विजृम्भके॥
पार्श्वपृष्ठकटीकुक्षिसंग्रहे गृध्रसीषु च।
मूत्रकृच्छ्रे महत्त्वे च मुष्कयोरङ्गमर्दके॥
पादोरूजानुजङ्घार्तिसंग्रहे श्वयथावपि।
खल्लीष्वामेषु शीते च वेपथौ वातकण्टके॥
संकोचायामशूलेषु स्तम्भगौरवसुप्तिषु।
सर्वाङ्गेषु विकारेषु स्वेदनं हितमुच्यते॥
(च० सू० १४।२०-२४)

२. येषां नस्यं विधातव्यं बस्तिश्चैवहि देहिनाम्।
शोधनीयाश्च ये किंचित् पूर्वस्वेद्यास्तु ते मताः॥
(सु० चि० ३२।१७)

किया है।[1] जैसे—४१. शल्यापहृत अर्थात् जिसका शल्य निकाला गया हो, ४२. सम्यक् प्रजाता अर्थात् प्रसवोत्तर काल में। कतिपय व्याधियों में आचार्य ने पूर्व व पश्चात् कर्म दोनों स्थितियों में स्वेदन की उपयोगिता स्वीकार की है।[2] जैसे—४३. अर्श, ४४. भगन्दर। कतिपय रोगों में स्वेदन के चिकित्सात्मक संकेत प्राप्त होते हैं; जैसे—४५. अर्बुद, ४६. ग्रन्थि और ४७. आढ्यवात।

उपर्युक्त स्वेद्य व्यक्तियों के उल्लेख से यह ज्ञात होता है कि आचार्य सुश्रुत ने स्वेदन कर्म की उपादेयता पञ्चकर्म के पूर्वरूप में, कतिपय शल्यसाध्य व्याधियों, मूढ़-गर्भादि के शस्त्रकर्मादि प्रधान कर्म के बाद पश्चात् कर्म के रूप में, कतिपय शल्य-साध्य व्याधियों में शल्यकर्म के पूर्व व शल्यकर्म के पश्चात् कर्म के रूप में स्वीकार किया है। आचार्य चरक ने षड्विध उपक्रम में स्वेदन को प्रधान चिकित्सा के रूप में स्वीकार किया है। अतः यह स्पष्ट होता है कि स्वेदन-साध्य सम्पूर्ण वातज व कफज व्याधियों का इस सन्दर्भ में उल्लेख किया गया है।

स्वेदन-निषेध (स्वेदन के अयोग्य रोग व रोगी)—आयुर्वेद के ग्रन्थों में निम्न स्थितियों में स्वेदन कर्म का निषेध किया गया है[3]—१. जो व्यक्ति प्रतिदिन कषाय व मद्य का सेवन करते हैं, २. गर्भिणी, ३. रक्तपित्त से ग्रसित व्यक्ति, ४. पित्त-प्रकृति के व्यक्ति, ५. अतिसार से ग्रसित व्यक्ति, ६. रूक्ष शरीर वाले, ७. मधुमेह-पीड़ित व्यक्ति, ८. क्षार या अग्नि से विदग्ध गुदा वाले व पक्व गुदा वाले; ९. गुदभ्रंश से पीड़ित व्यक्ति, १०. विषजन्य विकार अर्थात् विष द्वारा उत्पन्न विकार; ११. मद्य-

---

१. पश्चात् स्वेद्यास्तु ते शल्ये मूढ़गर्भानुपद्रवाः।
सम्यक् प्रजाताकालेया पश्चात्स्वेद्या विजानता॥
(सु० चि० ३२।१८)

२. स्वेद्यः पूर्वश्च पश्चाच्च भगंदर्यशिनस्तथा।
अश्मर्यां चातुरो जंतुः शेषान् शास्त्रे प्रचक्ष्महे॥
(सु० चि० ३२।२०)

३. कषायमद्यनित्यानां गर्भिण्याः रक्तपित्तिनाम्।
पित्तिनां सातिसाराणां रूक्षाणां मधुमेहिनम्॥
विदग्धभ्रष्टब्रध्नानां विषमद्यविकारिणाम्।
श्रान्तानां नष्टसंज्ञानां स्थूलानां पित्तमेहिनाम्॥
तृष्यतां क्षुधितानां च क्रुद्धानां शोचतामपि।
कामल्युदरिणां चैव क्षतानामाढ्यरोगिणाम्॥
दुर्बलातिविशुष्काणामुपक्षीणौजसां तथा।
भिषक् तैमिरिकाणां च न स्वेदमवतारयेत्॥
(च० सू० १४।१६-१९)

जन्य विकार वाले व्यक्ति, १२. थके हुए व्यक्ति, १३. जिनका ज्ञान नष्ट हो गया है, १४. अतिस्थूल व्यक्ति, १५. पित्तज प्रमेह से पीड़ित व्यक्ति, १६. जिसे भूख-प्यास लगी हो, १७. क्रोधयुक्त व्यक्ति, १८. शोकयुक्त व्यक्ति, १९. कामला-पीड़ित, २०. उदररोगी, २१. उरःक्षती, २२. वातरक्त से पीड़ित व्यक्ति, २३. अत्यन्त दुर्बल, २४. अतिशुष्क, २५. अत्यन्त क्षीण ओज वाले व्यक्ति और २६. तिमिर रोग ग्रसित व्यक्ति। आचार्य सुश्रुत ने भी उपर्युक्त व्याधियों में से ही कतिपय रोगों में स्वेदन का निषेध किया है, पर जहाँ आचार्य चरक ने पित्तज प्रमेह तथा मधुमेह का विशेष रूप से नामोल्लेख किया है, वहाँ आचार्य ने मात्र प्रमेह का ही उल्लेख किया है[1]। उन्होंने यह भी स्पष्ट नहीं किया है कि किस प्रमेह-विशेष में स्वेदन नहीं करना चाहिए; अतः आचार्य सुश्रुत के मत से प्रमेह अस्वेद्य रोग है, जबकि आचार्य चरक के मत से मात्र पित्तज प्रमेह व मधुमेह में स्वेदन नहीं करना चाहिए। पर आचार्य सुश्रुत ने अन्यत्र विशेषरूप से मधुमेह में स्वेदन का निषेध किया है।

विशिष्ट अंगों का स्वेदन निषेध—

वृषणौ हृदयं दृष्टी स्वेदयेन्मृदु नैव वा।
मध्यमं वङ्क्षणौ शेषमङ्गावयवमिष्टतः॥ (च० सू० १४।९०)

अर्थात् (१) वृषणौ अर्थात् दोनों वृषण, (२) हृदय व (३) नेत्र--इन विशिष्ट अङ्गों का स्वेदन नहीं करना चाहिए। यदि इन अंगों का स्वेदन अत्यावश्यक हो तो मृदु स्वेदन करना चाहिए।

मध्य स्वेदन—वंक्षण प्रदेश में मध्य स्वेदन करना चाहिए।

प्रवर स्वेदन—शरीर के शेष अंगों में रोगानुसार व आवश्यकता के अनुसार प्रवर स्वेदन करना चाहिए।

नेत्र की विशिष्ट स्वेदन-विधि—यथासम्भव नेत्र का स्वेदन नहीं करना चाहिए, पर यदि स्वेदन आवश्यक हो तो सर्वप्रथम नेत्रों को साफ कर कपड़े, जौ या गेहूँ के आटे के बने पिण्डों से नेत्र का स्वेदन करना चाहिए अथवा नेत्र को कमल या नीलकमल पत्र से पूर्णरूपेण ढँक देना चाहिए, फिर नेत्र का सीधे स्वेदन न कर ढँके गये कमल या नीलकमल पत्र के माध्यम से मृदु स्वेदन करना चाहिए।[2]

हृदय की विशिष्ट स्वेदन-विधि—यदि हृदय व हृदयप्रदेश का स्वेदन करना आवश्यक हो तो हृदय का स्वेदन मोतियों की माला से या कांस्य-पात्रादि जो शीतल

---

१. पांडुर्मेही पित्तरक्ती क्षयार्त्तः क्षामोजीर्णो चोदरार्तो विषार्तः।
तृट्छर्द्यार्तो गर्भिणी पीतमद्यो नैते स्वेद्या यश्च मर्त्योतिसारी॥
(सु० चि० ३२।२५)

२. संशुद्धैर्नक्तकैः पिण्डया गोधूमानामथापि वा।
पद्मोत्पलपलाशैर्वा स्वेद्यः संवृत्य चक्षुषी॥ (च० सू० १४।११)

हों; उनसे या कमल को जल में भिगोकर या अपने हाथ को जल में डुबोकर बार-बार स्पर्श करते हुए करना चाहिए। अर्थात् हृदय प्रदेश में मृदु स्वेदन करना चाहिए तथा स्वेदन करते समय बार-बार मुक्तावली, भींगे कमल वा भींगे हाथ से स्पर्श करते रहना चाहिए।[1]

यदि सम्पूर्ण शरीर का स्वेदन किया जाता है, तो उस स्थिति में हृदय, नेत्र व वृषणादि की स्वेदन से रक्षा करनी चाहिए। इसके लिए उस प्रदेश पर उपर्युक्त शीतल वस्तुओं का बार-बार स्पर्श कराना चाहिए।[2]

स्वेदन के प्रकार

आयुर्वेद में स्वेदन कर्म के भेद आधारानुसार बतलाये गये हैं। जैसे—

(१) **स्निग्धरूक्ष स्वेदन**—चरकसंहिता में दो प्रकार के स्वेदन—स्निग्ध व रूक्ष बतलाये गये हैं।[3] वात-कफजन्य रोगों में पहले स्निग्ध, फिर रूक्ष स्वेदन कराना चाहिए।

वातजन्य व्याधियों में स्निग्ध तथा कफजन्य व्याधियों में रूक्ष स्वेद कराना चाहिए। तात्पर्य यह है कि रूक्ष व स्निग्ध स्वेदन में रूक्ष व स्निग्ध द्रव्यों से स्वेदन करना चाहिए, जब वातकफज व्याधियों में स्वेदन करना हो तो पहले स्निग्ध द्रव्यों से स्वेदन कराना चाहिए, फिर रूक्ष द्रव्यों से।

(२) **स्वेद्य-स्थानानुसार**—चरकसंहिता में दो प्रमुख स्वेद्य प्रदेशों के आधार पर स्निग्ध रूक्षादि स्वेदन की क्रमानुसार विधि निर्धारित की गई है। जैसे[4]—यदि आमाशय में वायु कुपित हो जाता है तो प्रथमतः रूक्ष स्वेदन कराना चाहिए, फिर रूक्ष स्वेदन कराने के बाद स्निग्ध स्वेदन कराना चाहिए। यद्यपि वातदोष का गुण रूक्ष होता है; अतः रूक्ष स्वेदन से वात-वृद्धि होना स्वाभाविक है। परन्तु वात आमाशय में कुपित है तथा आमाशय कफ का स्थान है; अतः प्रथमतः वात-दोष के आधार पर स्वेदन न कराकर स्थान-विशेष के आधार पर कफ-शमन हेतु रूक्ष स्वेदन

---

१. मुक्तावलीभिः शीताभिः शीतलैर्भाजनैरपि।
जलार्द्रैर्जलजैर्हस्तैः स्विद्यतो हृदयं स्पृशेत्॥ (च० सू० १४।१२)

२. स्नेहाभ्यक्तशरीरस्य शीतैराच्छाद्य चक्षुषी।
स्विद्यमानस्य च मुहुर्हृदयं शीतलैः स्पृशेत्॥ (सु० चि० ३२)

३. वातश्लेष्मणि वाते वा कफे वा स्वेद इष्यते।
स्निग्धरूक्षस्तथा स्निग्धो रूक्षश्चाप्युपकल्पितः॥ (च० सू० १४।८)

४. आमाशयगते वाते कफे पक्वाशयाश्रिते।
रूक्षपूर्वो हितः स्वेदः स्नेहपूर्वस्तथैव च॥ (च० सू० १४।९)
आमाशयगते वायौ कफे पक्वाशयाश्रिते।
रूक्षपूर्वं तथा स्नेहपूर्वं स्थानानुरोधतः॥ (अ० स० सू० २६)

का विधान किया जाता है। यदि वात के स्थान पक्वाशय में कफ कुपित हो जाता है तो प्रथमतः स्निग्ध स्वेदन (स्थानानुसार) कराना चाहिए, फिर कफ दोष-प्रशमन हेतु रूक्ष स्वेदन कराना चाहिए। अर्थात् स्वेदन कर्म में प्रथमतः स्वेद्य स्थान पर विचार करना चाहिए।

(३) आचार्य चरक ने स्वेदन का प्रकार निम्न रूप में प्रस्तुत किया है[१]—

स्वेदन

अग्नि स्वेदन	निरग्नि स्वेदन[२]
१. संकर स्वेद	१. व्यायाम
२. प्रस्तर स्वेद	२. उष्णसदनम्
३. नाड़ी स्वेद	३. गुरुप्रावरणम्
४. परिषेक	४. क्षुधा
५. अवगाहन स्वेद	५. बहुपान (अधिक मद्यपान)
६. जेन्ताक स्वेद	६. भय
७. अश्मघन स्वेद	७. क्रोध
८. कर्षूस्वेद	८. उपनाह
९. कुटी स्वेद	९. आहव (युद्ध में प्रवृत्त होना)
१०. भू स्वेद	१०. आतप (धूप)
११. कुम्भी स्वेद	
१२. कूप स्वेद	
१३. होलाक स्वेद	

आचार्य सुश्रुत और वाग्भट ने स्वेदन के चार भेद ही स्वीकार किये हैं, पर चरकोक्त तेरह साग्नि स्वेदन प्रकारों का सामंजस्य सुश्रुत व वाग्भटोक्त चार स्वेदन प्रकारों में हो जाता है।

---

१. सङ्करः प्रस्तरो नाडी परिषेकोऽवगाहनम्।
जेन्ताकोऽश्मघनः कर्षू-कुटी भूः कुम्भिकैव च॥
कूपो होलाक इत्येते स्वेदयन्ति त्रयोदश।
तान् यथावत् प्रवक्ष्यामि सर्वानेवानुपूर्वशः॥ (च० सू० १४।३९-४०)

२. व्यायाम उष्णसदनं गुरुप्रावरणं क्षुधा।
बहुपानं भयक्रोधावुपनाहाहवातपाः॥
स्वेदयन्ति दशैतानि नरमग्निगुणादृते। (च० सू० १४।६४)

सुश्रुतोक्त स्वेद	चरकोक्त स्वेद
१. ताप स्वेद	१. सङ्कर स्वेद
	२. प्रस्तर स्वेद
२. उष्म स्वेद	३. नाड़ी स्वेद
	४. जेन्ताक स्वेद
	५. अश्मघन स्वेद
	६. कर्षू स्वेद
	७. कुटी स्वेद
	८. भू स्वेद
	९. कुम्भी स्वेद
	१०. कूप स्वेद
	११. होलाक स्वेद
३. द्रव स्वेद	१२. परिषेक
	१३. अवगाह स्वेद
४. उपनाह स्वेद	अनग्नि स्वेदभेद

इस प्रकार चरकोक्त तेरह साग्नि स्वेदों का अन्तर्भाव सुश्रुतोक्त व वाग्भटोक्त तीन—ताप, उष्म व द्रव स्वेदों में हो जाता है, परन्तु आचार्य चरक ने उपयोग-विशेषानुसार इन स्वेदों में न्यूनाधिक परिवर्त्तन कर इनकी संख्या तेरह कहा है।

ताप-स्वेद (चरकोक्त सङ्कर व प्रस्तर स्वेद)—तापनं तापः (३) के अनुसार ताप स्वेद का तात्पर्य तपाना होता है। अर्थात् प्रत्यक्षतः अग्नि के सम्पर्क के द्वारा किये जाने वाले स्वेद को तापस्वेद कहते हैं। ताप-स्वेद के सम्बन्ध में आचार्य सुश्रुत और वाग्भट ने कहा है कि—

तत्र तापस्वेदः पाणिकांस्य कंदुककपालबालुकावस्त्रैः प्रयुज्यते, शयानस्य चांगतापो बहुशः खदिरांगारैरिति। (सु० चि० ३२।३)

तापोऽग्नितप्तवसनकपालहस्ततलादिभिः। (अ० हृ० सू० १७।१)

अर्थात् अग्नि द्वारा गरम किये हुए (संतप्त) हाथ से, कांसे से, कंदुक से (आचार्य डल्हण ने कंदुक को अपूप पाचन भांड यानि दाल पकाने वाला गोलाकार वर्त्तन कहा है, जिसका आकार देखने में कंदुक सदृश हो—'कंदुकं अपूपपाचनभांडम्' (डल्हण), कपाल से (खर्पर आदि जो खपरैल मकान के ऊपर लगाये जाते हैं); बालुका से, वस्त्र से स्वेदन को ताप-स्वेद कहा जाता है। आचार्य वाग्भट ने अग्नि से तप्त वस्त्र द्वारा, फाल द्वारा (लौह-फलकों द्वारा) तथा हाथ के तल द्वारा ताप-स्वेदन का निर्देश दिया है। आचार्य अरुणदत्त ने इस निर्देश की व्याख्या में बालुका, घटिका, कांस्यपात्रादि तापस्वेद में आने वाली वस्तुओं का भी ग्रहण किया है—

'फालेन अयोभयेनाग्नितप्तेन तथा हस्ततलेनापि आदिग्रहणात् दारूबालुकाघटिका कांस्यपात्रादयो गृह्यते।'

उपर्युक्त ताप-स्वेद के साधनों के उल्लेख से निम्न तथ्य प्रकाशित होते हैं—

(अ) ताप-स्वेद में प्रयुक्त साधन का सीधे अग्नि से सम्पर्क करके संतप्त किया जाता है, पुनः तप्त साधन के द्वारा व्यक्ति-विशेष को अग्नि-सम्पर्क कराया जाता है।

(ब) प्रयुक्त साधनों में दोनों प्रकार के साधनों का उल्लेख किया गया है—कतिपय साधन ताप के कुचालक हैं, जो मृदु वा मध्यम रूप से अग्नि से संतप्त होते हैं तथा आतुर में स्पर्श कराने के साथ ही संतप्तता कम हो जाती है या समाप्त हो जाती है; जैसे—वस्त्रादि। वस्त्र ताप का कुचालक है; अतः इसे संतप्त होते ही आतुर के शरीरांगों पर स्पर्श कराया जाता है। इससे मृदु या मध्य रूप से कम-से-कम समय तक ही अग्नि-सम्पर्क की प्राप्ति होती है। कतिपय साधन ताप के सुचालक हैं, जिन्हें संतप्त करने पर उच्च तापक्रम की अग्नि कुछ अधिक समय तक के लिए बनी रहती है, जैसे—कांस्यपात्र, लौहफलकादि। बलवान् रोग व रोगी हेतु इनका उपयोग किया जा सकता है।

(स) मृदु, मध्य, प्रवर स्वेद हेतु कुचालक व ताप-सुचालक साधनों का चयन किया जा सकता है।

(द) मृदु स्वेद हेतु हस्ततल सर्वोत्तम होता है, क्योंकि हस्ततल का अग्नि सम्पर्क में सह्यता, असह्यता का अनुमान हो जाता है; अतः आचार्य काश्यप ने बालकों में ताप-स्वेदन करने के लिए हस्तस्वेदन को ही प्राथमिकता दिया है—

जातस्य चतुरो मासान् हस्तस्वेदं प्रयोजयेत्।
अप्रमादी नितस्थो विधूमाग्न्यूष्मणा शनैः॥
निवर्तमाने बालस्य सौकुमार्ये यथाक्रमम्।
प्रवर्तमाने काठिन्यं तेषां स्वेदः प्रवर्धयेत्॥
(का० सू० २३।२७-२८)

अर्थात् चार मास के बालकों में हस्तस्वेद करना चाहिए। यह निर्धूम अग्नि सम्पर्क या हाथों को रगड़कर करना चाहिए या बालकों में वस्त्रादि से मृदु स्वेद करना चाहिए। बालक जैसे-जैसे बड़ा होता जाय, ताप-स्वेद के मध्य व प्रवर साधनों का उपयोग करना चाहिए।

चरकोक्त ताप-स्वेद—(१) सङ्कर स्वेद—संकर स्वेद का आचार्य ने प्रथम स्वेद के रूप में उल्लेख किया है। संकर का अर्थ संमिश्रण होता है। विभिन्न द्रव्यों के संमिश्रणोपरान्त उसे पिण्ड स्वरूप देकर इस स्वेद का व्यावहारिक उपयोग किया जाता है, अतः इसे पिण्ड स्वेद भी कहा जाता है। इसको पारिभाषित करते हुए आचार्य ने कहा है कि—

'तत्र वस्त्रान्तरितैरवस्त्रान्तरितैर्वा पिण्डैर्यथोक्तरूपैः स्वेदनं संकरस्वेद इति विद्यात् ।'—च० सू० १४।४१ अर्थात् द्रव्यों को विधिपूर्वक निर्माण विधि के अनुसार निर्माण कर उन्हें वस्त्र खण्ड में रखकर या बिना वस्त्र में रखे ही, जब शरीर में सीधे रूप से ताप पहुँचा कर स्वेदन किया जाता है, तो इस स्वेद को संकर स्वेद कहा जाता है।

स्वेद्य द्रव्यों को वस्त्र में बाँधकर या बिना वस्त्र में बाँधे ही पिण्डाकार करने के बाद संतप्त कर स्वेदन किया जाता है, अतः सङ्कर स्वेद को ही पिण्ड स्वेद भी कहा जाता है। प्रयोग विधि व दोषानुसार यह स्वेद प्रायशः दो भिन्न रूपों में प्रयुक्त होता है। आचार्य चरक ने दोषानुसार पिण्ड स्वेद के तीन वर्गों का निर्देश किया है—(१) वात विकारों में प्रयुक्त पिण्ड स्वेद, (२) कफ विकारों में प्रयुक्त पिण्ड स्वेद तथा (३) वात-कफजन्य विकारों में प्रयुक्त पिण्ड स्वेद। मुख्यतः पिण्ड स्वेद में—

(१) वातजन्य विकारों में स्निग्ध पिण्ड स्वेद तथा—

(२) कफजन्य विकारों में रूक्ष पिण्ड स्वेद का व्यवहार होता है।

(१) स्निग्ध पिण्ड स्वेद के द्रव्य—चरकसंहिता में वातजन्य विकारों में प्रयुक्त होने वाले कतिपय द्रव्यों का वर्णन किया गया है। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि, पिण्ड में इतने ही द्रव्य प्रयुक्त होते हैं, बल्कि इन द्रव्यों का उल्लेख उदाहरणार्थ किया गया है। अन्य स्निग्ध गुणयुक्त वा स्निग्ध द्रव्यों से स्नेहित द्रव्यों का प्रयोग पिण्ड स्वेद में किया जा सकता है। निम्न द्रव्यों का उल्लेख पिण्ड स्वेद के द्रव्य के रूप में किया गया है—

तिलमाषकुलत्थाम्लघृततैलामिषौदनैः ।
पायसैः कृशरैर्मांसैः पिण्डस्वेदं प्रयोजयेत् ।। (च० सू० १४।२५)

तिल, उड़द, कुलथी, अम्ल द्रव्य, घृत, तैल, मांस, स्विन्न चावल (भात), खीर, खिचड़ी, मांस आदि द्रव्यों से पिण्ड स्वेद करना चाहिए।

(२) रूक्ष स्वेद (रूक्ष पिण्ड स्वेद)—इसका उपयोग कफजन्य विकारों में किया जाता है। इस स्वेद में प्रायः रूक्ष द्रव्यों का प्रयोग किया जाता है। आमदोष में यह स्वेद अति उपयोगी है। चरकसंहिता में निम्न द्रव्यों की उपयोगिता रूक्ष पिण्ड स्वेद में कही गयी है—

गोखरोष्ट्रवराहाश्वशकृद्भिः सतुषैर्यवैः ।
सिकतापांशुपाषाणकरीषायसपूटकैः ।।
श्लैष्मिकान् स्वेदयेत् पूर्वैर्वातिकान् समुपाचरेत् ।
(च० सू० १४।२६)

गाय, गदहा, ऊँट, सूअर, घोड़ा आदि जानवरों की विष्ठा, भूसी सहित यव वा भूसी, बालू, मिट्टी, पत्थर, करीष, (बकरी की मिंगनी), लोहे का चूरा—इन द्रव्यों

का पिण्ड बनाकर या पिण्डाकार पोटली बनाकर अग्नि पर तप्त कर स्वेदन करना चाहिए। इन रूक्ष द्रव्यों के द्वारा श्लेष्मिक व्याधियों में स्वेदन करना चाहिए। आमवात में बालूका, भूसी दोनों को पोटली में बांधकर स्वेदन करने से शीघ्र लाभ पाया जाता है। इससे शोथ में कमी तथा शूल का ह्रास होता है। इस रूक्ष पिण्ड स्वेद का प्रयोग आमवात चिकित्सा में हम प्रायः करते हैं, तो पाते हैं कि शूल व शोथ-शमन इसके द्वारा शीघ्र होता है। यद्यपि पिण्ड का तात्पर्य उपर्युक्त द्रव्यों को पिण्ड स्वरूप में लाकर स्वेदन करना है, पर व्यवहार में लोहे का चूरा जैसे द्रव्य ताप का सुचालक होने से इतने संतप्त हो जाते हैं कि आतुर कष्टानुभव करता है। अतः रूक्ष स्वेद में जब ताप के सुचालक द्रव्यों का प्रयोग करना हो तो मोटे कपड़े को चार मोड़ बनाकर उक्त द्रव्यों की पोटली बनाकर स्वेदन करना चाहिए, इससे सम्यक् स्वेदन भी हो जाता है तथा रोगी को कष्ट या घबड़ाहट भी नहीं होती। रूक्ष स्वेद में विशेषकर वे द्रव्य अति लाभदायक होते हैं, जिनमें शोषण करने की क्षमता अधिक होती है। अश्व वा खर-लीद, भूसी, बालू--ये सर्वत्र उपलब्ध हैं तथा उत्तम रूक्ष स्वेद्य द्रव्य हैं।

स्निग्ध पिण्ड स्वेद में स्निग्ध द्रव्यों का ही पिण्ड बनाकर स्वेदन करते हैं या पिण्ड को उष्ण दुग्ध, घृत, तैलादि में डुबोकर स्वेदन किया जाता है। रूक्ष पिण्ड स्वेद के सम्बन्ध में भी आचार्य वाग्भट का कथन है कि—पांसु (धूलि), बालुका, गाय का शुष्क गोबर, धान्य वा धान्यों की भूसी, धान्यों के पुआल आदि का ऊनी कपड़े में पिण्ड बनाकर कांजी आदि अम्ल द्रव्यों में डालकर स्वेदन करना चाहिए।[1]

द्रव्य-प्रयोग के आधार पर पिण्ड स्वेद का भिन्न-भिन्न नाम प्रचलित है। जैसे— अधुना प्रचलित षष्टिकशाली पिंड स्वेद में पिण्ड रूप में षष्टि चावल का प्रयोग किया जाता है, अतः इसे षष्टिशाली पिण्ड स्वेद कहते हैं। यह स्निग्ध पिण्ड स्वेद ही है, क्योंकि इस पिण्ड स्वेद में पिण्ड को दूधमिश्रित क्वाथ में डूबोकर स्वेदन किया जाता है। इसी प्रकार जब बालुका द्वारा पिण्ड बनाकर स्वेदन किया जाता है तो उसे बालुका स्वेद कहते हैं।

(२) **प्रस्तर स्वेद**--इसका समावेश भी ताप स्वेद के अन्तर्गत ही होता है। इस स्वेदन में मनुष्य के शयन करने योग्य परिमाण के पत्थर का फलक लिया जाता है। फलक ६'×३' होना चाहिए ताकि मनुष्य आराम से उस पर शयन कर सके। फिर उस पत्थर पर शूक धान्य, शमीधान्य, पुलाक को उबाल कर या कृतान्न जैसे— खिचड़ी, वेशवार, खीर, हलुआ आदि बनाकर पत्थर पर इस तरह फैलाया जाता है

१. पांसु सिकता गवादि पुरीष धान्यबुसपुलाकपलालैर्वा अम्लोत्थतवच्छवाथितैः स्वेदयेत्। गवादि शकृतार्द्रेण पिंडकृतेन वा उपनाहद्रव्योत्कारिका कृशरा मांसपिंडैर्वा वातरोगेष्वतिपिंडस्वेदा। स एव संकराख्यः। (अ० सं० सू० २६)

कि मनुष्य के पूरे स्वेद्य भाग तक आ जाय। फिर उस गरम अन्न के ऊपर रेशमी, ऊनी वस्त्र या एरण्ड-पत्र या अर्क-पत्र बिछाकर तैलाभ्यंग किये हुए मनुष्य को सुला देते हैं तथा उपर से चादर, एरण्ड-पत्रादि से ढँक देते हैं। इससे मनुष्य का सम्यक् रूपेण स्वेदन हो जाता है।[1] इस प्रकार के स्वेदन को प्रस्तर-स्वेद कहते हैं। आचार्य वाग्भट ने इसको संस्तर स्वेद कहा है तथा अन्न-पाचन काल में कांजी व अम्ल द्रव्यों का प्रयोग करने का निर्देश दिया है, शेष स्वेदन विधि चरकानुसार ही वर्णित है।

उपयोग—इसका उपयोग विशेष रूप से शरीर के पृष्ठ भाग में उत्पन्न वात विकारों में होता है—जैसे—पृष्ठशूल, कटिशूल, श्रोणि, पार्श्वशूल, गृध्रसी, पृष्ठकशेरूकागत वात विकार आदि रोगों में यह लाभदायक है।

ऊष्म स्वेद

ऊष्म स्वेद का उल्लेख आचार्य सुश्रुत व वाग्भट ने किया है। यहाँ ऊष्म से अभिप्राय 'वाष्प' से है, इस प्रकार वाष्प स्वेद को ही ऊष्म स्वेद कहा गया है। सुश्रुत ने ऊष्म स्वेद के अन्तर्गत अनेक विधियों का वर्णन तो किया है, पर उनका नामोल्लेख नहीं किया है। चरकसंहिता में ऊष्म स्वेद के निम्न प्रकारों का उल्लेख प्राप्त होता है।

(३) नाड़ी स्वेद—आधुनिक काल में स्वेदन कर्मों में यह सर्वाधिक प्रचलित विधि है। नाड़ी का तात्पर्य नलिका (Tube) से है। इस स्वेद में आतुर के स्वेद्य भाग तक ऊष्मा (वाष्प) नलिका द्वारा ही पहुँचाया जाता है, अतः इसे नाड़ी स्वेद कहा जाता है।

नाड़ी स्वेदयंत्र[2]—नाड़ी-स्वेद के लिए एक ऐसा पात्र लिया जाता है, जिसमें

---

१. शूकशमीधान्यपुलाकानां वेशवारपायसकृशरोत्कारिकादीनां वा प्रस्तरे कौशेयाविकप्रच्छदे पंचागुंलोरुबुकार्क पत्रप्रच्छदे वा स्वभ्यक्तसर्वगात्रस्य शयनस्योपस्वेदनं प्रस्तरस्वेद इति विद्यात्। (च० सू० १४।४२)

यथार्हस्वेदद्रव्याणि पिहितमुखायाः मुखायां सम्यगुपस्वेदः। निवातशरणशयनस्थे किलिंजे प्रस्तीर्णाविककौशेयवातहरपत्रान्यतमोत्तरप्रच्छदे गौरवाजिनप्रावारादिभिः स्वच्छन्नं स्वेदयेदिति संस्तरस्वेदः। (अ० सं० सू० २६)

२. स्वेदनद्रव्याणां पुनर्मूलफलपत्रशुङ्गादीनां मृगशकुनपिशितशिरस्पदादीनामुष्णस्वभावानां वा यथार्हमम्ललवणस्नेहोपसहितानां मूत्रक्षीरादीनां वा कुम्भ्यां वाष्पमनुद्वमन्त्यमुत्क्वथितानां नाड्या शरेषीकावंशदलकरञ्जार्कपत्रान्यतमकृतया गजाग्रहस्तसंस्थानया व्यामदीर्घया वा व्यामचतुर्भागमूलाग्रपरिणाहस्त्रोतसा सर्वतो वात, हरपत्र संवृतच्छिद्रया द्विस्त्रिर्वा विनामितया वातहरसिद्धस्नेहाभ्यक्तगात्रो वाष्पमुपहरेत्, वाष्पो ह्यनृजुगामी विहतचण्डवेगस्त्वकविदहन् सुखं स्वेदयतीति नाड़ीस्वेदः।

(च० सू० १४।४३)

विभिन्न प्रकार के द्रव्यों का क्वाथ आसानी से बनाया जा सके अर्थात् पात्र इतना बड़ा होना चाहिए कि, उसमें हर प्रकार के वानस्पतिक द्रव्य (मूल, पत्र, फल, शुङ्ग आदि), जांगम द्रव्य (मृग, पक्षियों के मांस, सिर, पैर आदि), कांजी, नमक, तैल आदि आसानी से आ जाय तथा क्वाथ बनाते समय उनका भाप बाहर न निकल पाये। इस पात्र में पहले से ही अर्थात पात्र बनाते समय ही नलिका के लिए एक छिद्र कर दिया जाता है। अब इस छिद्र में एक नलिका लगा दी जाती है। नलिका सरकंडे के खोखले भाग की, बांस की, करीर पत्र की या मदार की पत्तियों से बनी होनी चाहिए। नलिका की बनावट में विशेष ध्यान देने की आवश्यकता होती है। नलिका हाथी के सूंड़ की तरह उतार चढ़ाव वाली होनी चाहिए अर्थात् नलिका का प्रारम्भ (जो भाग पात्र के छिद्र में लगाया जाता है)-चौड़ा होना चाहिए तथा अन्त (जिस भाग से आतुर का स्वेदन किया जाता है) भाग अपेक्षाकृत पतलाहोना चाहिए। नलिका दो-तीन जगहों पर मुड़ी होनी चाहिए ताकि वाष्प का वेग मोड़ की जगह रुकने से कम हो जाय। स्वेदन करते समय, वाष्प की गति रुक-रुक कर आये ताकि वाष्प के तीव्र वेग से स्वेद्य त्वचा नष्ट न होने पाये। नलिका की लम्बाई एक व्यास अर्थात् साढ़े तीन हाथ (औसत लम्बाई ५'–६'' से ७' फीट हो) होनी चाहिए। नली का मूल भाग अर्थात् जो भाग पात्र से मिलाया जाता है, उसका व्यास चौथाई (१'–१·५' फीट) तथा अंतिम भाग अष्टमांस (१½''—२'' इंच) होनी चाहिए। प्रस्तुत वर्णन से यह अनुमान होता है कि, पूर्वकाल में स्वेदन हेतु स्थायी रूप से बहुत बड़े पात्र का निर्माण कराया जाता था। इस प्रकार के यन्त्र का निर्माण, जहाँ प्रतिदिन २०-१०० आतुरों का स्वेदन करना हो वहाँ के लिए उपयुक्त है। जहाँ कम रोगियों का नाड़ी-स्वेद करना हो या आवश्यकतानुसार करना होता है, वहाँ छोटे पात्र से भी स्वेदन कार्य किया जा सकता है। आजकल हमलोग स्वयं प्रेशरकुकर द्वारा सफल नाड़ी-स्वेद कर लेते हैं। हमारे मत से यह सर्वसुलभ व कम खर्च वाला यन्त्र है। कुकर की सीटी निकालकर उसमें रबर नलिका लगा दी जाती है। चूंकि कुकर द्वारा निकलने वाला वाष्प अतिवेगवान् होता है, अतः अंतिम भाग पर स्नान हेतु उपयोगी अनेक छिद्रों वाली टोंटी (Shower) लगा दी जाती है; ताकि वाष्प अनेक छिद्रों से प्रवाहित होकर अल्प वेगयुक्त ही रह जाय। इसमें इंधन की खपत भी कम होती है। आचार्य सुश्रुत ने भी नाड़ी-स्वेद हेतु चरकोक्त प्रकार के यन्त्र का ही वर्णन किया है, पर उसका नामोल्लेख स्वतंत्र रूप से न करके ऊष्मा स्वेद के एक प्रकार के रूप में किया है।[1]

---

१. पार्श्वच्छिद्रेण वा कुम्भेनाधोमुखेन तस्या मुखमभिसन्धाय तस्मिञ्छिद्रे हस्तिशुण्डाकारां नाडीं प्रणिधाय तं स्वेदयेत्।

व्यामार्धमात्रा त्रिवक्रा हस्तिहस्तसमाकृतिः।
स्वेदनार्थे हिता नाडी कैलिञ्जी हस्तिशुण्डिका ॥(सु० चि० ३२।७)

नाड़ी स्वेद के द्रव्य—चरकसंहिता में नाड़ी-स्वेद के कतिपय द्रव्यों का उल्लेख किया गया है। वे निम्न हैं[1]—ग्राम्य, आनूप व जलीय जीवों का मांस, बकरे का शिर, सूअर का मेदा, पित्त; रक्त, दूध आदि जाँगम द्रव्य, एरण्ड (तैलयुक्त), तिल व तण्डुल—इन द्रव्यों के साथ क्वाथ बनाकर प्रयुक्त होता है।[2] वरुण, गिलोय, एरण्ड-मूल, शिग्रूत्वक्, मूली पंचाङ्ग, सरसों के पत्ते, अड़ूसापत्र, बाँस के पत्ते, करंज पत्र, अर्क पत्र, अश्मन्तक पत्र, शोभाञ्जन, रक्तशिग्रुपत्र, कटसरैया, मालती, सफेद तुलसी, काली तुलसी—इनके पत्र का क्वाथ या गंधतृण, पंचमूलद्वय, मदिरा, दही का पानी, गोमूत्र, कांजी—इन्हें गरम कर तथ भूतीकादि का क्वाथ बनाकर उसमें स्नेह मिलाकर नाडी-स्वेद में प्रयोग करना चाहिए—

भूतीकपञ्चमूलाभ्यां सुरया दधिमस्तुना।
मूत्रैरम्लैश्च सस्नेहैर्नाडीस्वेदं प्रयोजयेत्॥ (च० सू० १४।३३)

प्रयोगविधि—नाड़ी-स्वेदन हेतु द्रव्यों को पात्र में डालकर जल के साथ क्वाथ बनाने के लिए अग्नि के सम्पर्क में लाया जाता है। पात्र का ढक्कन बंद कर दिया जाता है ताकि वाष्प बाहर न निकल पाये। जब वाष्प निकलना प्रारम्भ हो जाता है तब आतुर को स्नेहाभ्यंग कराकर नलिका की सहायता से स्वेदन किया जाता है। नलिका को आतुर से इतनी दूरी पर रखा जाता है कि आतुर के स्वेद्य भाग तक वाष्प सम्यक् रूप से पहुँच जाय तथा उसके त्वचा की किसी प्रकार से हानि न हो पाये। नलिका पास में रखने से त्वक्-दग्धता का भय बना रहता है; अतः स्वेद्य भाग से नलिका कुछ दूर रखकर ही स्वेदन करना चाहिए।

(४) **जेन्ताक स्वेद**—जेन्ताक स्वेद में एक विशिष्ट प्रकार के गृह का निर्माण कर स्वेदन कर्म किया जाता है। इस स्वेदन का प्रयोग निम्न रूप में प्रस्तुत किया जा रहा है।

(अ) भूमि-परीक्षा, (ब) गृह-निर्माण, (स) स्वेदनविधि, (द) स्वेदनोत्तर निर्देश।

(अ) **भूमि-परीक्षा**—आचार्य चरक ने ऐसा निर्देश दिया है कि जेन्ताक गृह के

---

१. ग्राम्यानूपौदकं मांसं पयो वस्तशिरस्तथा।
वराहमध्यपित्तासृक् स्नेहवत्तिलतण्डुलाः॥
इत्येतानि समुत्क्वाथ्य नाडीस्वेदं प्रयोजयेत्।
देशकालविभागज्ञो युक्त्यपेक्षो भिषक्तमः॥ (च० सू० १४।२९-३०)

२. वारुणामृतकैरण्डशिग्रुमूलकसर्षपैः।
वासावंशकरञ्जार्कपत्रैरश्मन्तकस्य च॥
शोभाञ्जनकसैरेयमालतीसुरसार्जकैः।
पत्रैरुत्क्वाथ्य सलिलं नाड़ीस्वेदं प्रयोजयेत्॥
(च० सू० १४।३१-३२)

निर्माण में सर्वप्रथम भूमि का चयन करना चाहिए, जहाँ पर कूटागार का निर्माण कराया जा सके। इसके लिए ऐसी भूमि चयनित करनी चाहिए[1], जो (१) स्वेद कर्म हेतु उपयुक्त हो, (२) वासस्थान अर्थात् ग्राम या आतुर निवासस्थान वा अन्तरंग चिकित्सालय से पूर्व या उत्तर दिशा में स्थित हो, (३) भूमि गुणयुक्त अर्थात् उपजाऊ हो, (४) प्रशस्त देखने में मन को प्रसन्न करने वाली हो, (५) पृथ्वी के एक भाग की मिट्टी काली या पीले रंग की हो, (६) वह भूमि भाग किसी परीवाप (लम्बे तालाब या ताल), पुष्करिणी (कमल के फूलों से आच्छादित तालाब) अथवा अन्य मनोहर तालाब, जलाशय के पश्चिम भाग में हो, (७) तालाब में सीढ़ियाँ बनी हों तथा (८) भूमि समतल हो। ऐसी भूमि में गृह-निर्माण करना चाहिए।

(ब) गृह-निर्माण—जलाशय से ७-८ अरत्नि (हाथ) हटकर (अरत्निः मुट्ठी बंद कर एक हाथ के बराबर कहा गया है 'बद्धमुष्टिररत्निः' अधुना एक हाथ से प्रायशः १·५ फीट का परिमाण सामान्यतया ग्रहण होता है, अतः अरत्नि से यदि १५ इंच का अर्थ ग्रहण किया जाय तो ९-१० फीट हटकर हुआ) पूर्वमुख या उत्तराभिमुख गोलाकार गृह का निर्माण करना चाहिए। इस गृह का मुख्य द्वार जलाशय में बनी सीढ़ियों के तरफ होना चाहिए। इस गृह की ऊँचाई व चौड़ाई (व्यास) अधिकतम १६ अरत्नि (लगभग २० फीट) होना चाहिए। यहाँ गृह की ऊँचाई के बराबर हो गृह का व्यास रखने का संकेत हैं। इस गृह की दीवाल को मिट्टी आदि से लेपन करना चाहिए। इसमें वात के प्रवेश करने व निर्गत होने के लिए वातायन भी होना चाहिए। इस गृह के चारों तरफ से दीवारों से सटे एक अरत्नि ऊँचाई व चौड़ाई वाले (अर्थात् जितनी उसकी ऊँचाई हो उतनी ही चौड़ाई होनी चाहिए) चबूतरा बनवाना चाहिए, जो कि गृह के दरवाजे के एक तरफ से प्रारम्भ हो तथा दीवार की गोलाई से सटे सम्पूर्ण गृह में होकर दरवाजे के दूसरे तरफ समाप्त हो जाय। इस गृह के मध्यभाग यानि बीच में पुरुषाकार अर्थात् ४ हाथ लम्बा (लगभग ६ फीट) मिट्टी द्वारा अनेक छिद्रों से युक्त अङ्गारकोष्ठक (जिसके अन्दर अग्नि प्रज्वलित अङ्गार भरे रहते हैं) बनवाना चाहिए, जिसके ऊपर एक ऐसा ढक्कन हो, जिसे आवश्यकतानुसार बंद किया जा सके।[2]

---

१. अथ जेन्ताकं चिकीर्षुर्भूमिं परीक्षेत—तत्र पूर्वस्यां दिश्युत्तरस्यां वा गुणवति प्रशस्ते भूमिभागे कृष्णमधुरमृत्तिके सुवर्णमृत्तिके वा परीवापपुष्करिण्यादीनां जलाशयानामन्यतमस्य कूले दक्षिणे पश्चिमे वा सूपतीर्थे समसुविभक्तभूमिभागे, सप्ताष्टौ······ कूटागारं कारयेत्। (च० सू० १४।४६)

२. सप्ताष्टौ वाऽरत्नीरूपक्रम्योदकात् प्राङ्मुखोदङ्मुखं वाऽभिमुखतीर्थं कूटागारं कारयेत्। उत्सेधविस्तारतः परमरत्नीः षोडश, समन्तात्सुवृत्तं मृत्कर्मसंपन्नमनेकवातायनम्, अस्य कूटागारस्यान्तः समन्ततो भित्तिमरत्निविस्तारोत्सेधां पिण्डिकां कारयेदा-

(स) स्वेदन-विधि[1]—अङ्गारकोष्ठक में खदिर अश्वकर्णादि वातघ्न लकड़ियों को डालकर जला देना चाहिए। जब अग्नि जलकर बिलकुल धूमरहित हो जाय तथा उस अग्नि द्वारा अङ्गारकोष्ठक व गृह पूर्णरूपेण तप्त हो जाय तब समझ लेना चाहिए कि गृह स्वेदन योग्य हो गया है। अब आतुर को तैलाभ्यंग कराकर चादर ओढ़ा देना चाहिए; फिर आतुर को उसमें प्रवेश कराना चाहिए। आतुर को यह आदेश दिया जाता है कि—वह स्वकल्याण व आरोग्य लाभ हेतु गृह में प्रवेश कर दीवार से सटकर बने चबूतरे पर चढ़कर बारी-बारी से दोनों बगलों के सहारे शयन करे। अत्यधिक पसीना वा मूर्च्छा जैसी स्थिति में भी ऐसा निर्देश देना चाहिए कि वह चबूतरा न छोड़ें। जब आतुर का सम्यक् स्वेद निकल जाय जिससे उसके शरीर की चिपचिपाहट बिलकुल समाप्त हो जाय, जकड़ाहट दूर हो जाय तब उस चबूतरे के सहारे ही गोलाकार दीवार से सटे हुए दरवाजे तक पहुँचकर बाहर निकलना चाहिए। यदि आतुर चबूतरे से नीचे आ जाय तो तप्त अङ्गारकोष्ठक से जलकर मृत्यु तक हो सकती है। अतः आतुर को सख्त निर्देश देना चाहिए कि वह किसी भी स्थिति में चबूतरा न छोड़े तथा अत्यधिक पसीना आने पर भी गृह में तब तक रहे जब तक स्नेहित शरीर से चिपचिपाहट बिलकुल समाप्त न हो जाय।

(ब) स्वेदनोत्तर निर्देश—आतुर सम्यक् स्वेदित हो जाने के पश्चात् जेन्ताक गृह से जब बाहर आता है, तो उसे निर्देश दिया जाता है कि—(१) न च सहसा चक्षुषोः परिपालनार्थं शीतोदकमुपस्पृशेथाः—अर्थात् रोगी को निर्देश देना चाहिए कि गृह से निकलने के बाद सहसा शीतल जल से नेत्रों का प्रक्षालन नहीं करना चाहिए अन्यथा नेत्र के लिए हानिकर होगा।

कपाटात्, मध्ये चास्य कूटागारस्य चतुष्किष्कुमात्रं पुरुषप्रमाणं मृन्मयकन्दुसंस्थानं बहुसूक्ष्मच्छिद्रमङ्गारकोष्ठकस्तम्भं सपिधानं कारयेत् - (च० सू० १४।४५)

१. तं च खादिराणामाश्वकर्णादीनां काष्ठानां पूरयित्वा प्रदीपयेत्। स यदा जानीयात् साधुदग्धानि काष्ठानि विगतधूमान्यवतप्तं च केवलमग्निना तदग्निगृहं स्वेदयोग्येन चोष्मणायुक्तमिति, तत्रैनं पुरुषं वातहराभ्यक्तगात्रं वस्त्रावच्छन्नं प्रवेशयेत्, प्रवेशयंश्चैनमनुशिष्यात्—सौम्य ! प्रविश कल्याणायारोग्याय चेति, प्रविश्य चैनां पिण्डिकामधिरुह्य पार्श्वापरपार्श्वाभ्यां यथासुखं शयिथाः, न च त्वया स्वेदमूर्च्छापरीतेनापि सता पिण्डिकैषा विमोक्तव्याऽऽप्राणोच्छ्वासात्, भ्रश्यमानो ह्यतः पिण्डिकावकाशाद् द्वारमनधिगच्छन् स्वेदमूर्च्छापरीततया सद्यः प्राणान् जह्याः, तस्मात् पिण्डिकामेनां न कथंचन मुञ्चेथाः, त्वं यदा जानीयाः—विगताभिष्यन्दामात्मानं सम्यक् प्रस्रुतस्वेदपिच्छं सर्वस्रोतोविमुक्तं लघुभूतमपगतविबन्धस्तम्भसुप्तिवेदनागौरवमिति, ततस्तां पिण्डिकामनुसरन् द्वारं प्रपद्येथाः। (च० सू० १४।४५)

(२) अपगतसंतापक्लमस्तु मुहुर्तात् सुखोष्णेन वारिणा यथान्यायं परिषिक्तो—अर्थात् जब आतुर का संताप बिलकुल समाप्त हो जाय तब एक मुहूर्त्त के बाद आतुर को गरम जल से स्नान करने का निर्देश देना चाहिए।

(३) परिषिक्तोऽश्नीयाः—स्नानोपरान्त आतुर को भोजन करने का निर्देश देना चाहिए।

(५) **अश्मघन स्वेद**—जब आतुर का एक ही बार सर्वाङ्ग स्वेदन करना रहता है, तब यह स्वेद उपयोगी है। इस स्वेद में प्रथमतः एक पुरुष के लम्बाई-चौड़ाई के बराबर (६' × १·५' फीट) पत्थर की पटिया या शिलाखण्ड लिया जाता है। फिर उस पर वातनाशक द्रव्यों की लकड़ियों को जलाकर तप्त किया जाता है। जब पत्थर पूर्णतः तप्त हो जाता है तो अग्नि व राख को पत्थर पर से हटाकर गरम जल से पत्थर को स्वच्छ कर दिया जाता है। फिर उस पर ऊन या रेशम के वस्त्र को डाल दिया जाता है। आतुर को वातनाशक तैल का सम्पूर्ण शरीर में अभ्यंग कराकर पत्थर पर शयन करा दिया जाता है और ऊपर से उसको सूती वस्त्र, मृगचर्म, रेशमी वस्त्र या कम्बल से ढँक दिया जाता है; इससे आतुर का सम्यक् स्वेदन हो जाता है।[1] आचार्य सुश्रुत ने भी स्वेद के इस विधि का उल्लेख किया है, पर इसका नामोल्लेख नहीं किया है। विधि चरकानुसार ही वर्णित है। अन्तर मात्र इतना ही है कि आचार्य सुश्रुत ने पत्थर को दूध या धान्याम्ल से स्वच्छ करने का संकेत दिया है।[2]

(६) **कर्षूस्वेद**—कर्षू गढ़े को कहा जाता है। जो हांडी के आकार का बनाया जाता है। अर्थात् गढ़े के नीचे व बीच का भाग चौड़ा होता है तथा ऊपर की ओर

---

१. शयानस्य प्रमाणेन घनामश्ममयीं शिलाम्।
तापयित्वा मारुतघ्नैर्दारुभिः संप्रदीपितैः॥
व्यपोह्य सर्वानङ्गारान् प्रोक्ष्य चैवोष्णवारिणा।
तां शिलामथ कुर्वीत कौशेयाविकसंस्तराम्॥
तस्यां स्वभ्यक्तसर्वाङ्गः स्वपन् स्विद्यति ना सुखम्।
कौरवाजिनकौशेयप्रावाराद्यैः सुसंवृतः॥
इत्युक्तोऽश्मघनस्वेदः। (च० सू० १४।४८-४९)

२. पुरुषायाममात्रां च भूमिमुत्कीर्य खादिरैः।
काष्ठैर्दग्ध्वा तथाभ्युक्ष्य क्षीरधान्याम्लवारिभिः॥
पत्रभङ्गैरवच्छाद्य शयानं स्वेदयेत् ततः।
पूर्ववत् स्वेदयेद्दग्ध्वा भस्मापोह्यापि वा शिलम्॥
(सु० चि० ३२।८९)

क्रमशः कम चौड़ा होता है। इस गढ़े में धूमरहित आग के अङ्गारे भर दिये जाते हैं तथा गढ़े के ऊपर चारपाई डाल दी जाती है। उस चारपाई पर आतुर को सुलाकर चादर आदि से ढँक दिया जाता है। इस प्रकार आतुर का सुखपूर्वक सम्यक् स्वेदन हो जाता है[1]।

(७) **कुटी-स्वेद**—कुटी-स्वेद में एक विशेष प्रकार की औषधीय कुटी (Medicated cabin) का निर्माण कर स्वेदन किया जाता है।

कुटी-निर्माण—इसके लिए एक छोटा-सा गोलाकार कुटी (घर) बनाया जाता है। इस कुटी की ऊँचाई चौड़ाई अधिक नहीं होनी चाहिए अर्थात् सामान्य होनी चाहिए। इस कुटी की विशेषता यह है कि, इसमें एक भी खिड़की या वातायन नहीं होती है तथा गृह की दीवाल मोटी होनी चाहिए। कुटी के भीतरी भाग के दीवाल के ऊपर उष्णवीर्य वाली औषधियों का लेप कर दिया जाता है। इस प्रकार यह कुटी औषधीय गुणों से युक्त हो जाती है।[2]

स्वेदनविधि—कुटी के बीच में सुन्दर विछावनयुक्त खाट बिछाया जाता है, जिस पर प्रावार (रजाई आदि), अजिन (मृगछाल), कौशेय (रेशमी वस्त्र), कुथ (ऊन का कम्बल), कम्बल (भेड़ का कम्बल), गोलक (सन से बने वस्त्र) आदि रखे हों, जिसे आतुर आवश्यकता के अनुसार उपयोग कर सके। खाट के नीचे धूमरहित आग के अङ्गारों से युक्त पात्र रख दिया जाता है तथा वातघ्न तैल का अभ्यंग किये हुए आतुर को खाट पर सुला या बैठा दिया जाता है; इससे उसका सम्यक् स्वेदन हो जाता है[3]। आचार्य सुश्रुत ने भी कुटी-स्वेद का उल्लेख किया है पर उनके अनुसार कुटी में चार दरवाजे होना चाहिए जिन पर अङ्गारे रखे हों।[4] आतुर

---

१. कर्षूस्वेदः प्रवक्ष्यते। खानयेच्छयनस्याधः कर्षूस्थानविभागवित्। दीप्तैरधूमैरङ्गारैस्तां कर्षूं पूरयेत्ततः।
तस्यामुपरि शय्यायां स्वपन् स्विद्यति ना सुखम्। (च० सू० १४।५०-५१)

२. अनत्युत्सेधविस्तारां वृत्ताकारामलोचनाम्।
घनभित्तिं कुटीं कृत्वा कुष्ठाद्यैः संप्रलेपयेत्॥ (च० सू० १४।५१)

३. कुटीमध्ये भिषक् शय्यां स्वास्तीर्णामुपकल्पयेत्।
प्रावाराजिनकौशेयकुथकम्बलगोलकैः॥
हसन्तिकाभिरङ्गारपूर्णाभिस्तां च सर्वशः।
परिवार्यान्तरारोहेदभ्यक्तः स्विद्यते सुखम्॥
(च० सू० १४।५२-५३)

४. पूर्ववत् कुटीं वा चतुर्द्वारां कृत्वा तस्यामुपविष्टस्यान्तश्चतुर्द्वारेऽङ्गारानुपसंधाय तं स्वेदयेत्। (सु० चि ३२।१०)

का प्रत्येक दरवाजे पर रखे सिगड़ी (अङ्गारे युक्त) से बैठाकर या लिटाकर स्वेदन कराया जाता है। आचार्य सुश्रुत ने कुटी की दीवाल औषधीय लेपयुक्त होगी या नहीं, इसका उल्लेख नहीं किया है। चरकोक्त कुटी स्वेद अधिक व्यावहारिक और उपादेय है।

(८) भूस्वेद—अश्मघन विधि के अनुसार ही जब स्वेदन प्रक्रिया पत्थर के स्थान पर भू अर्थात् समतल भूमि पर की जाती है, तो उसे भूस्वेद कहा जाता है—

य एवाश्मघनस्वेदविधिर्भूमौ स एव तु।
प्रशस्तायां निवातायां समायामुपदिश्यते ॥ (च० सू० १४।५५)

(९) कुम्भी स्वेद—कुम्भी का अर्थ घड़ा होता है। इस स्वेद में घड़े की सहायता से स्वेदन कर्म किया जाता है, अतः इसे कुम्भी स्वेद कहा जाता है।। इसके लिए एक घड़ा लेकर उसमें वातनाशक द्रव्यों का क्वाथ भर दिया जाता है। उस घड़े का आधा या तीसरा भाग पृथ्वी के अन्दर गाड़ दिया जाता है। इसके उपर बैठने के लिए मोढ़ी (छिद्रयुक्त आसन) या शयन हेतु खाट रख दिया जाता है, जिस पर पतले स्तर का बिछावन रहता है। जिस आतुर का स्वेद्न करना रहता है, उसे खाट पर सुला दिया जाता है अथवा आसन पर बैठा दिया जाता है। अब लोहे के गोले या पत्थर के टुकड़े को तप्त कर घड़े में डाला जाता है, जिसके परिणामस्वरूप क्वाथ से वाष्प निकलने लगता है। इस वाष्प से आतुर का सम्यक् स्वेदन हो जाता है[1]। आचार्य सुश्रुत ने कुम्भी द्वारा स्वेदन करने का निर्देश दिया है, पर उनकी स्वेदन विधि चरकसंहिता से भिन्न है। उनके अनुसार वातघ्न क्वाथ घड़े में भरकर, घड़े के मुख पर कपड़ा बांध देना चाहिए तथा आतुर घड़े को हाथ में लेकर अपना स्वेदन करता है।[2] कुम्भी स्वेद की उपादेयता वहाँ सिद्ध होती है, जहाँ वाष्प स्वेदन तो करना है, पर वाष्प कम-से-कम शरीर सम्पर्क में आवे, अर्थात् मृदु स्वेदन हेतु यह विधि उपादेय है।

(१०) कूप-स्वेद—कूप का तात्पर्य कुआँ होता है। इस स्वेद में कूप सदृश गढ़े

---

१. कुम्भी वातहरक्वाथपूर्णां भूमौ निखानयेत्।
अर्धभागं त्रिभागं वा शयनं तत्र चोपरि ॥
स्थापयेदासनं वाऽपि नातिसान्द्रपरिच्छदम्।
अथ कुम्भ्यां सुसंतप्तान् प्रक्षिपेदयसो गुडान् ॥
पाषाणान् वोष्मणा तेन तत्स्थः स्विद्यति ना सुखम्।
सुसंवृताङ्गः स्वभ्यक्तः स्नेहैरनिलनाशनैः ॥
(च० सू० १४।५६-५८)

२. मांसरसपयोदधिस्नेहधान्याम्लवातहरपत्रभङ्गक्वाथपूर्णां वा कुम्भीमनुतप्तां प्रावृत्योष्माणं गृह्णीयात्। (सु० चि० ३२।५)

के द्वारा स्वेदन कर्म किया जाता है, अतः इसे कूप-स्वेद कहा जाता है। इसके लिए निवात स्थान अर्थात् जहाँ वायु का तीव्र वेग नहीं आता हो ऐसे स्थान पर समतल भूमि देखकर एक कूप बनाया जाता है। कूप की लम्बाई चौड़ाई खाट के अनुसार होती है अर्थात् कूप के उपर खाट बिछाई जा सके तथा कूप की गहराई लम्बाई-चौड़ाई से दूनी होती है। स्वेदन हेतु प्रथमतः कूप को स्वच्छ कर उसमें हाथी, घोड़े, गदहे, ऊँट, गाय आदि का शुष्क गोबर डालकर उसमें आग लगा दी जाती है। जब अग्नि की ज्वाला शांत हो जाती है एवं अग्नि धूमरहित हो जाती है तो, कूप के ऊपर मोटे विस्तर से युक्त खाट डाल दी जाती है। अब आतुर को वातनाशक तैल का सारे शरीर पर अभ्यंग कराकर खाट पर शयन करा दिया जाता है तथा चादर से ढँक दिया जाता है। इससे सुखपूर्वक सम्यक् स्वेदन हो जाता है।[१]

(११) **होलाक स्वेद**—इस स्वेद में भी आतुर को खाट पर शयन कराकर स्वेदन कराया जाता है। इसके लिए सर्वप्रथम एक धीतिका तैयार कराई जाती है। धीतिका मिट्टी, गोबर आदि की सहायता से बनाई जाती है, जिसमें अग्नि रखा जाता है। पूर्वी उत्तर-प्रदेश, बिहार में जाड़े में प्रायः इसका उपयोग किया जाता है, जिसे क्षेत्रीय भाषा में बोरसी कहा जाता है। आचार्य चक्रपाणिदत्त ने भी इसका यही अर्थ लगाया है—'शुष्कगोमयादिकृतोऽग्न्याश्रयविशेषः'। अब इस धीतिका में हाथी, घोड़ा, गाय आदि का लीद-गोबर रख कर भर दिया जाता है और खाट के नीचे पूरे भाग तक फैलाकर रख दिया जाता है। अब इसमें आग लगा दी जाती है। जब अग्नि निर्धूम हो जाती है तो आतुर को वातनाशक तैल का अभ्यंग कराकर उस खाट पर सुला दिया जाता है। उपर से किसी वस्त्र या चादर से ढँक दिया जाता है। इससे आतुर का सम्यक् स्वेदन हो जाता है। इसका नाम महर्षियों ने होलाक कहा है।[२] इस स्वेद का वर्णन चरकसंहिता में ही प्राप्त होता है तथा 'होलाक' भी आचार्य की स्वसंज्ञा है, क्योंकि अन्यत्र होलाक स्वेद का उल्लेख नहीं है।

---

१. कूपं शयनविस्तारं द्विगुणं चापि वेधतः।
देशे निवाते शस्ते च कुर्यादन्तःसुमार्जितम्॥
हस्त्यश्वगोखरोष्ट्राणां करीषैर्दग्धपूरिते।
स्ववच्छन्नः सुसंस्तीर्णेऽभ्यक्तः स्विद्यति ना सुखम्॥ (च० सू० १४।५९-६०)

२. धीतिका तु करीषाणां यथोक्तानां प्रदीपयेत्।
शयनान्तःप्रमाणेन शय्यामुपरि तत्र च॥
सुदग्धायां विधूतायां यथोक्तामुपकल्पयेत्।
स्ववच्छन्नः स्वपंस्तत्राभ्यक्तः स्विद्यति ना सुखम्॥
होलाक स्वेद इत्येष सुखः प्रोक्तो महर्षिणा।
(च० सू० १४।६१-६३)

द्रव-स्वेद

इसका उल्लेख आचार्य सुश्रुत व वाग्भट ने किया है। इस स्वेद में स्वेदन कर्म हेतु द्रव (Liquid) का प्रयोग किया जाता है, अतः इसे द्रव-स्वेद कहा जाता है। चरकसंहिता में वर्णित १३ साग्नि स्वेदों में परिषेक व अवगाह ये दोनों द्रव-स्वेद हैं।

(१२) परिषेक—परिषेक के संदर्भ में चरकसंहिता में कहा गया है कि—'वात्तिकोत्तरवातिकानां'—अर्थात् यह परिषेक वातज व्याधियों में या संसर्गज वा सान्निपातिक व्याधियों में जब वात-दोष की प्रधानता हो तब करना चाहिए अर्थात् परिषेक विशेष रूप से वात दोष हेतु उपादेय है। इसके लिए—

१. 'यथार्हसिद्धस्नेहाभ्यक्तगात्रं'—सर्वप्रथम आतुर को रोग के अनुसार सिद्ध तैल से शरीर को विधिवत् स्नेहाभ्यक्त करना चाहिए। फिर २. 'वस्त्रावच्छन्नं'—आतुर को हल्के वस्त्र या चादर से ढँक देना चाहिए। तत्पश्चात् ३. 'पुनर्मूलादीनामुक्त्वार्थैः सुखोष्णैः कुम्भीर्वर्षणिकाः प्रनाड़ीर्वा पूरयित्वा परिषेचयेदिति'—अर्थात् स्वेदन हेतु वर्णित द्रव्यों के मूलपत्र आदि का गर्म-गर्म क्वाथ बनाकर कुम्भी, वर्षणिका या प्रनाड़ी में भरकर विधिपूर्वक स्वेदन करना चाहिए। ४. 'परिषेकः'—इस विधि द्वारा किये गये स्वेदन को परिषेक कहते हैं।

कुम्भी, घड़े को कहते हैं। कुम्भी से स्वेदन करने के लिए उसमें एक छिद्र कर, क्वाथ भर दिया जाता है तथा आतुर के ऊपर से छिद्र द्वारा द्रव गिराया जाता है, जिससे उष्ण द्रव की सहायता से स्वेदन हो जाता है। प्रनाड़ी में भी क्वाथादि भरकर यही प्रक्रिया अपनाई जाती है। वर्षुणिका अनेक छिद्रों से युक्त घड़े को कहते हैं। अनेक छोटे-छोटे छिद्रों वाले घड़े में जब उष्ण क्वाथ डाला जाता है तो आतुर के शरीर पर फुहारे के रूप में उष्ण द्रव गिरता है, जिससे उसका सम्यक् स्वेदन हो जाता है। आचार्य वाग्भट ने द्रव-स्वेद के अन्तर्गत परिषेक का वर्णन निम्न रूप में किया है—

कुम्भीर्गलंतीर्नाडीर्वा पूरयित्वा रुजार्दितम्।
वाससाच्छादितं गात्रं स्निग्धं सिंचेद्यथा सुखम्॥

(अ० हृ० सू० १७।१०)

अर्थात् कुम्भी, गलंती (छिद्रयुक्त पात्र) या नाड़ी से आतुर का अभ्यंग कराकर वस्त्र से ढँककर परिषेक करना चाहिए। परिषेक में मुख्यतः उष्ण द्रव (क्वाथ, तैल आदि) की धारा आतुर के शरीर पर गिराई जाती है, जिससे उसका स्वेदन हो जाता है। आचार्य चरक ने उदाहरणार्थ कुम्भी, वर्षणिका, प्रनाड़ी, गलंती आदि का उल्लेख किया है। जिसका लक्ष्य सभी साधनों द्वारा धारा रूप में आतुर के शरीर पर उष्ण द्रव गिराकर स्वेदन करना ही है।

आधुनिक काल में केरल आदि प्रदेशों में परिषेक बहुप्रचलित विधि है, पर अपनी

सुविधा व उपादेयता के अनुसार इसे रूपान्तरित किया गया है। परिषेक की धारा कल्प व पिंझिचिल नामक स्वेद केरल में अतिप्रचलित है, जो अब अनेक आयुर्वेदज्ञों द्वारा सर्वत्र अपनाई जा रही है। धारा रूप में विशेष रूप से 'शिरोधारा' इस समय प्रचलित है। अतः उनका संक्षिप्त वर्णन किया जा रहा है।

शिरोधारा—इसके लिए लगभग २ लीटर द्रव आने योग्य मिट्टी या धातु का शराब (चौड़े मुख का पात्र) लिया जाता है, जो अन्दर से चिकना रहता है, शराब मुख की ओर ज्यादा चौड़ा तथा नीचे संकरा होता है। उसके मुख की किनारियाँ बाहर की ओर मुड़ी रहती हैं ताकि बन्धन बांधकर उसे लटकाया जा सके। इसके पेंदी के बीच में कनिष्ठिका के मध्यभाग के समान छिद्र होता है। एक छिद्रयुक्त कटोरी पेंदी में इस प्रकार औंधे मुख रखी जाती है कि कटोरी व शराब का छिद्र आमने-सामने रहे। अब कटोरी के छिद्र पर छोटी शलाका आड़े रखी रहती है, जिसके बीचोबीच धागे की वर्त्ति लगी रहती है जो छिद्र द्वारा बाहर निकली रहती है। वर्त्ति नोकदार छ अंगुल लम्बी होती है। धारा द्रव इसी वर्त्ति के सहारे नीचे स्रवित होता है। शराब के ओठों की किनारी को मजबूत डोरी से कस दिया जाता है, जिसे बन्धन बांधकर ऊपर लटका दिया जाता है। छिद्र से निकलने वाली डोरी आतुर के कपाल से दो अंगुल उपर रखी जाती है[1]।

विधि[2]—धारा हेतु आतुर को द्रोणी में वा विशिष्ट प्रकार से बने धारा टेबुल

---

१. शराबमाढकोन्मानं श्लक्ष्णं च सुदृढं तथा।
बहिर्नतोष्ठपालीकं क्रमतान-सुनिम्निकाम्॥
कनिष्ठिकामध्यमानमध्यच्छिद्रं प्रकल्पयेत्।
पक्वकेर-कपालार्द्धं मूर्द्धच्छिद्रमधोमुखम्॥
शरावमध्ये सुस्थाप्य-मासिधार-मुखं यथा।
छिद्रद्वयं चाभिमुखं स्याच्छरावकपालयोः॥
द्वयंगुलां सुशलाकां तु कपालोपरि विन्यसेत्।
शलाकामध्य संबंधा तन्तुवृन्दसुवर्त्तिका।
कपालच्छिद्रतश्चाधः शरावच्छिद्रतो बहिः।
नीता चाधः सुलंबा स्यात् सुकृताग्राषडंगुला॥
शरावमूर्द्धं बद्धं स्यात् सुबन्धेन सुलंबकम्।
उत्तानशायिनो द्रोण्यां रोगिणस्तु ललाटतः॥
द्वयंगुलोच्चं तु वर्त्यग्रं यथा स्यात् सुदृढं तथा।
नातिशीघ्रघनस्थूलमविच्छिन्नं स्रवेद द्रवम्॥　　(सेकादिक्रम १५-२२)
केरलीय पंचकर्म विज्ञान द्वारा डा० टी० एल० देवराज।

२. उत्तानशायिनं कृत्वा क्रियासौकर्ययोगतः।
रोगिणो दक्षभागेऽथ शीर्षस्थाने सुखोन्नते॥

पर उत्तान लिटा दिया जाता है। रोगी के दाहिने बगल में सिर की ओर वैद्य रहते हैं। टँगे हुए शराब को हाथ से सावधानीपूर्वक खींचकर उसके छिद्र को अंगूठे की सहायता से बंद रखा जाता है एवं जिस द्रव से स्वेदन करना होता है, उसे शराव में डाल दिया जाता है। अब अंगूठे को हटा लिया जाता है जिससे द्रव मंद वेग से वर्त्ति के सहारे स्रवित होने लगता है। कपाल पर बायीं दाईं ओर से ठीक दो अंगुल बीचो-बीच शराब को चलाया जाता है, जिससे द्रव-धारा आतुर के शिरोभाग पर अखण्ड रूप से गिरता रहे। बीच-बीच में शिर, शाखाओं का अभ्यंग किया जाता है। शराब में द्रव बार-बार डाला जाता है।

स्वेदन कालमर्यादा—स्वेदन कर्म की (परिषेक, धारा) अधिकतम कालमर्यादा डेढ़ घंटे मानी जाती है। प्रथम दिन एक घण्टा पुनः प्रतिदिन कमशः पांच-पांच मिनट बढ़ाया जाता है। सातवें दिन डेढ़ घण्टा तक स्वेदन किया जाता है। पुनः आठवें दिन से पाँच-पाँच मिनट घटाया जाता है। १४वें दिन एक घण्टा तक स्वेदन किया जाता है। यदि यह धारा स्वेदन २१ दिनों तक करना होता है तो सातवें से १५वें दिन तक डेढ़ घण्टे प्रतिदिन स्वेदन किया जाता है, फिर १६वें दिन से ५-५ मिनट क्रमशः घटाया जाता है, इस प्रकार २१वें दिन एक घण्टा तक स्वेदन किया जाता है।[1]

पीठे साधु निषण्णोऽथ वैद्यः सम्यक् शरावकम्।
आकृष्य पाणिनाच्छिद्रे स्वांगुष्ठेन सुमुद्रिते॥
सज्जं धाराद्रवं भृत्यः सावधानो विनिक्षिपेत्।
छिद्रमुद्रां ततो मन्दं विश्लथं क्रमशो भिषक्॥
वर्त्तिसूत्रेण सुवहं द्रवं साधु निषेचितम्।
ललाटे वामदक्षेण द्व्यंगुलावधिमध्यतः।
गृहीत्वा चालयेद्युक्त्या शरावं च यथास्रुतिः॥
पंचशाखापरामर्शं कुर्यान्मूर्ध्न्यन्तरान्तरा।

डा० टी० एल० देवराज—केरलीय पञ्चकर्म चिकित्सा विज्ञान

१. सेके तु परमः कालो यामार्ध इति चोच्यते।
प्रथमे दिवसे चाऽथ होराकालस्ततः क्रमात्॥
प्रत्यहं तु विवृद्धः स्याद्धोरायां द्वादशांशतः।
सार्धहोरा सप्तमे स्यात् तावदेवाष्टमे दिने॥
ह्रासयेद वृद्धिवच्चातो होराकालश्चतुर्दशे।
एकविंशत्महान्तं चेद्धारा तत्र तु सप्तमात्॥
यावद् पञ्चदशान्तं स्याद यामार्द्धं ह्रासयेत् ततः। (के० पं० चि० वि०)

उपयोग—इसका उपयोग ऊर्ध्वजत्रुगत व्याधियों में विशेष रूप से होता है, किन्तु दोष व रोगानुसार इसका उपयोग किया जाता है—

प्रायो जत्रूर्ध्वरोगेषु मूर्धसेको विधीयते ।
द्रवमत्र विकल्पं स्यात् दोषरोगानुरोधतः ।।
(के० पं० चि० वि०)

वातप्रधान व्याधियों में क्षीरबलादि तैल, दुग्ध, बलादि के योग से सिद्ध या बिना सिद्ध किये हुए स्नेह द्रव्यों का प्रयोग किया जाता है अथवा वातनाशक क्वाथ वा क्वाथ-सिद्ध स्नेह द्रव्यों का प्रयोग किया जाता है ।[1]

यदि धारा रूप में आँवले का क्वाथ तथा उसी के समान तक्र द्वारा शिरोधारा वा मूर्धसेक किया जाता है, तो कफ व पित्तजन्य व्याधियों में लाभ होता है । शिरोदाह, निद्रानाश, स्वेदाधिक्य, मूर्च्छा, उन्माद, क्लान्ति, अपस्मार, अपची, मोह, मेह आदि रोगों में यह लाभदायक है[2] ।

कायसेक (पिषिचल)—इस प्रक्रिया में लगातार उष्ण तैल की धारा सम्पूर्ण शरीर पर गिराकर स्वेदन किया जाता है, अतः इसे कायसेक कहा जाता है । कायसेक में स्नेहों का प्रयोग किया जाता है । इस सम्बन्ध में डा० टी० एल० देवराज कृत केरलीय पंचकर्म चिकित्सा विज्ञान के आधार पर तथा श्री कस्तूरे जी के पञ्चकर्म विज्ञान की सहायता से विषयवस्तु प्रस्तुत किया जा रहा है—

स्वेद में प्रयुक्त द्रव्य—

कायसेके यथायोग्यं युञ्ज्यात् स्नेहचतुष्टयम् ।
यथोक्तौषधसिद्धं तैलं च यमकं तथा ।।
त्रिवृतं वा महास्नेहं दोषरोगस्वभावतः ।
उष्णं कोष्णमनुष्णं वाऽप्यशीतं शीतमेव वा ।।
सार्धं वापि सपादं वा प्रस्थमात्रं च मानतः ।
योज्यं स्यादातुरस्येह स्थौल्यानामविभेदतः ।। (के० पं० चि० वि०)

अर्थात् कायसेक में चारों प्रकार के स्नेहों का आवश्यकतानुसार प्रयोग किया जाता है—(१) औषधसिद्ध तैल, (२) यमक स्नेह, (३) त्रिवृत् स्नेह तथा (४) महा स्नेह । तैल का ग्रहण आवश्यकतानुसार उष्ण, अनुष्ण, अशीत वा शीत रूप में

**१. वातामयेषु योज्यं स्यात् तैलं क्षीरबलादिकम् ।
सिद्धं स्नेहमसिद्धं वा स्निग्धक्षायादि युक्तितः ।। (के० पं० चि० वि०)**

**२. कफपित्तामयेष्वेवं शिरोदाहरुगादिषु ।
निद्रानाशेप्यतिस्वेदे मूर्च्छोन्मादक्लमादिषु ।।
अपस्मारापचीमोहं मेहादिषु विशेषतः ।
धात्रीक्वाथसमं तक्रं मूर्धसेकं प्रशस्यते ।। (के० पं० चि० वि०)**

किया जाता है। तैल की मात्रा आतुर की शरीर-संरचना (मोटाई) के अनुसार सात सौ, नव सौ मि० लि० या ग्यारह सौ मि० लि० ग्रहण करना चाहिए।

कालमर्यादा—कायसेक का काल भी शिरोधारा सदृश ही है अर्थात् अधिकतम डेढ़ घण्टे तक तथा कम से कम एक घण्टा तक स्वेदन करना चाहिए। कतिपय विशिष्ट व्याधियों में इसकी कालमर्यादा घटाई-बढ़ाई जा सकती है। जैसे आयाम व अपतंत्रकादि व्याधियों में कम से कम तीन घण्टे तक स्वेदन किया जाता है। रोगानुसार इसे प्रातः या सायंकाल में किया जा सकता है।[1]

स्वेदन विधि[2]—विधि के अनुसार स्वस्ति-मंगल-वाचनादि कर्म करके आतुर को शुद्ध और संस्कारित कर लिया जाता है। रोगी को इसके बाद स्वेद्य स्थल, द्रोणी आदि में पूर्वाभिमुख बैठाना चाहिए। कायसेक के लिए द्रोणी या विशिष्ट प्रकार के मेज का उपयोग किया जाता है। मेज के दोनों बगल में नलिका बनाई जाती है, जो कि ऊपर से नीचे की ओर ढलानयुक्त होती है। अंत में छिद्र होते है, जिसकी सहायता से स्रवित स्नेह पुनः एकत्र होता रहता है। इस प्रकार के मेज या द्रोणी में आतुर को बैठाकर उसके सिर पर पूर्व से निर्धारित तैल लगाया जाता है। रोगी के कपाल पर चारों ओर से कपड़े की लम्बी पट्टियाँ लपेट दी जाती हैं। पुनः आतुर को लिटाकर उसके सम्पूर्ण शरीर में तैल लगाया जाता है। रोगी को उत्तान शयन कराकर उसके हाथ व पैर फैला दिये जाते हैं। अब रोगी का परिषेक करने के लिए दोनों तरफ दो परिचारक तैनात किये जाते हैं। जिसमें एक परिचारक दक्षिण भाग में नाभि के ऊपर तथा हाथ पर सिंचन करता है तथा दूसरा बाम भाग में नाभि से नीचे के अंगों का सिंचन करता है। इस प्रकार ये दोनों बारी-बारी सम्पूर्ण काय का

---

१. प्रायेण तक्रधारोक्तः कालोऽत्रापि दिनक्रमात्।
किंचायामपतन्त्रादौ यामान्तमपि चेष्यते॥
सायं प्रातश्च युक्ता वा रोगगौरवभेदतः। (के० प० चि० वि०)

२. पूर्वोक्तविधिवत् सर्वं कृत्वा स्वस्त्ययनं विधि।
रोगिणं कृत संशुद्धि द्रोण्यां प्राङ्मुखमास्थितम्॥
कृत्वाऽस्य मूर्ध्नि दत्त्वा च तैलं वैद्योऽथ निश्चितम्।
वस्त्रखण्डसुवर्त्याऽथ ललाटे साधु वेष्टिते॥
सम्यगभ्यज्य सर्वांगं सोपधानं यथासुखम्।
उत्तानं-शायितस्यास्य हस्तपादौ प्रसार्य च॥
पार्श्वयोरुभयोश्चापि पृथग् द्वौ परिचारकौ।
सुखासीनो यथैकस्तु नाभेरुर्ध्वं च दक्षिणम्॥
बाहुं च सिंचेदन्यस्तु वामपार्श्वे तथैव च।
नाभेरधश्च शाखायामेकैकोऽपि च भागयोः॥ (वहीं)

सिंचन करते हैं। सिंचन के लिए चार अंगुल चौड़ी, दो अंगुल मोटी वस्त्रखण्ड की पर्तदार पोटली बनाई जाती है। परिचारक बाम हस्त में पोटली को स्नेहसिक्त कर अंगों पर सिंचन करता है तथा दक्षिण हस्त से उस पोटली को निचोड़ कर हाथ नीचे की ओर बारम्बार ले जाता है, ताकि स्नेह पार्श्व व पश्चिम भाग तक पहुँच जाय और स्वेदन प्रक्रिया सम्यक्रूपेण हो जाय। एक तीसरा परिचारक द्रोणी में गिरे हुए स्नेह द्रव्य को उठाकर बीच-बीच में गरम करके सिंचित करने वाले परिचारकों को देता रहता है, ताकि यह प्रक्रिया अनवरत रूप से चलती रहे। कुछ समय पश्चात् पार्श्व के सहारे लिटाकर यह प्रक्रिया करनी चाहिए, फिर अधोमुख शयन कराकर शरीर के पश्चिम भाग का सम्यक्रूपेण स्वेदन करना चाहिए। सर्वत्र समान रूप से अभ्यंगादि करना चाहिए, ताकि आतुर को सुखानुभूति हो, तभी सम्यक् स्वेदन कर्म हो पाता है।[१]

स्वेदनोत्तर कर्म व निर्देश—स्वेदन के पश्चात् यदि रोगी के लिए स्नान हितकर नहीं हो तो स्नान के बदले वस्त्रखण्ड या स्वच्छ तौलिए से रगड़ कर शरीर पोंछ देना चाहिए तथा रोगी को उचित आहार-विहार का सेवन करना चाहिए—

रोगस्वभावान्नेष्टे तु स्नाने तन्नाचरेत् तदा।
वस्त्रखण्डैश्चाभिमृश्य मूर्ध्नि कायाच्च सर्वथा॥
हिताहारविहारी स्यादातुरस्तु भिषग्वशः॥

एक दिन बाद अर्थात् दूसरे दिन व तीसरे दिन बचे हुए स्नेह में नया स्नेह द्रव्य मिलाकर स्वेदन करना चाहिए पर चौथे दिन नया स्नेह द्रव्य ही प्रयुक्त करना

१. चतुरंगुलविस्तीर्णमर्धांगुलघनं समम्।
वस्त्रखण्डपुटं सम्यग् गृहीत्वा वामपाणिना॥
स्नेहे निमज्ज्य तेनैव तत्तद्भागेऽवसिच्य च।
निष्पीड्य युगपत् स्वस्य पाणिनाऽन्येन युक्तितः॥
संवाहयेच्चानुलोमं भूयो भूयः प्रसेचनम्।
द्रोणीस्रुतं स्नेहमन्यः साधूद्धृत्यान्तरा॥
उष्णीकृतं च भूयोऽपि दद्याच्च सुकरं तथा।
उक्तकालमविच्छिन्नं कर्म साधु यथोचितम्॥
किंचित् कालात् परं चैनं दक्षपार्श्वेन शायितम्।
तद्वच्च वामपार्श्वेन शयीत च ततः परम्॥
अधोमुखं चापि तद्वत् पुनश्चोत्तानतस्तथा।
स्थानान्तराश्रयश्चैवमिष्यते परिचारकैः॥
तथैव काये सर्वत्र समस्पर्शसुमर्दनैः।
व्याप्तं स्यात् तुल्ययोगेन स्नेहं साधु-कृता-क्रियाः॥ (के० प० चि० वि०)

चाहिए। पुनः इसी प्रकार सातवें दिन नये स्नेह का प्रयोग करना चाहिए। पांचवें छठे दिन मिश्रित स्नेहन का प्रयोग किया जा सकता है। ये समस्त योजनायें वैद्य अपने विवेक से देश, काल, रोग, रोगी आदि की अवस्थानुसार कर सकता है।

(केरलीय पंचकर्म चिकित्सा विज्ञान, पेज २०)

विशिष्ट निर्देश[1]—१. स्वेदनोपरान्त स्नान के बाद शुण्ठी क्वाथ या गंधर्व हस्तादि क्वाथ देना चाहिए; क्योंकि गंधर्व हस्तादि अनुलोमक होता है, २. परिषेक काल में विवन्ध हो तो उसे दूर कर देना चाहिए और ३. भूख लगने पर लघु, पाचक औषधयुक्त आहार लेना चाहिए।

परिषेक कम-से-कम ७ दिनों तक व अधिकतम प्रायः २८ दिनों का होता है। इस काल म—१. स्त्रियों का स्मरण, दर्शन व स्पर्श न करें, २. व्यायाम, सूर्यसंताप, वेगावरोध, शीत वस्तु व धूम्रपान का सेवन न करें, ३. बहुत ऊँचा या नीचा तकिया न लें, ४. अतिनिद्रा सेवन न करें, ५. रजयुक्त वा शीत वायु में अधिक देर तक खड़ा नहीं रहना चाहिए, ६. अतिचंक्रमण, भाषण, अत्यशन न करें, ७. ब्रह्मचर्य का पालन अत्यावश्यक होता है[2]।

परिषेक का गुण व उपयोग—आचार्य चरक ने तो परिषेक को विशेषतः वातज व्याधियों में उपयोगी कहा है, पर इसके रूपान्तरित केरलीय पद्धति में इसका उपयोग स्वास्थ्य-रक्षण एवं अनेक व्याधियों में होता है। क्योंकि—सर्वांगधारा से शरीर में दृढ़ता, वृषता, अग्नि, ओज व वर्ण की वृद्धि होती है। इन्द्रियां स्थिर होती हैं व कार्य-क्षमता की वृद्धि होती है। बुढ़ापा देर से आती है। वात का शमन होता है। अस्थि भग्न दूर होता है तथा सभी दोष दूर होते हैं।[3] इसका उपयोग गुल्म, आनाह, भगन्दर, व्रण, तूनी, प्रतितूनी, शूल, अभिघात, तोद, उदावर्त्त, कोढ, मूढवात, अष्ठीला,

---

१. आयुर्वेदीय पंचकर्म विज्ञान—श्री कस्तूरे, पेज १८८ के आधार पर।

२. स्त्रीणां स्पर्शनदर्शनस्मृतिवशात् शुक्रे स्रुते संति तत्।
संपर्केण विनापि तद्भगवदास्तस्मात् त्यजेत् सर्वदा॥
व्यायामातपवेगारोधहिमधूमात्युच्चनीचोपधानाहः स्वप्नरजः प्रवातचिरकाला-सीनताः संस्थितीम्।
शोकं जागर पादयानगमनं क्रोधातिभाव्यादिकान्।
त्यक्त्वाऽथोष्ण जलोपचार्यनति भुक् स्याद् ब्रह्मचारी सदा॥

(धाराकल्प श्लोक २६-२६)

३. धातूनां दृढ़तां करोति वृषतां देहाग्नि वर्णौजसां।
स्थैर्यं पाटवमिन्द्रियस्य जरसो मांद्यं चिरंजीवितम्॥
अस्थ्नां भग्नमपाकरोति नितरां दोषान् समीरादिकान्।
सर्वस्नेहकृता सुखोष्ण सुभगा सर्वाङ्गधारा नृणाम्॥ (धारा कल्प २१)

विसर्प, प्लीहोदर, आध्मान, विद्रधि आदि रोगों में भी होता है। इन रोगों में प्रायशः एकांग अर्थात् स्थानिक रूप से स्वेदन कर्म किया जाता है—

गुल्मानाह भगंदर व्रणतूनी शूलाभिघातास्रवा-
तोदावर्तक कोठ मूढमरुष्ठीला विसर्पादिषु ॥
प्लीहाध्मानक विद्रधी प्रतितूनीष्वेकांगसेकं तथा।
कुर्याद् हस्ततलप्रपूर्णपिचुना मंदं सुखोष्णं भिषग् ॥

(धाराकल्प २७)

(१३) अवगाह स्वेद—चरकसंहिता में अवगाह स्वेद के बारे में यह कहा गया है—'वातहरोत्क्वाथ क्षीर तैल घृतपिशित रसोष्ण सलिल कोष्ठकावगाहस्तु यथोक्त एव अवगाह।'—च० सू० १४।४४। अर्थात् वातहर औषधियों के क्वाथ, औषध सिद्ध क्षीर, औषधसिद्ध तैल, घृत, मांसरस या गरम जल आदि से कोष्ठक (बड़ा पात्र जिसमें जल आदि भरकर आराम से बैठा जा सके। कोष्ठक का तद्भव कठौता शब्द भारत के कतिपय स्थानों में प्रचलित है, जो काष्ठ वा धातु निर्मित नीचे से ऊपर की ओर चौड़ा होता है) को भरकर अभ्यंगादि करके बैठाया जाता है, जिससे गले से नीचे का भाग द्रव में डूबा रहता है। इस प्रकार उष्ण द्रव में बैठकर या शयन कर स्वेदन क्रिया विधि को अवगाहन स्वेद कहा जाता है। अधुना कोष्ठक के स्थान पर टब का प्रयोग प्रशस्त है। इसे अपने आवश्यकतानुसार बनवाना चाहिए। वैसे ६ फीट लम्बा, २ फीट चौड़ा तथा १८ से २१ इंच गहरा कोष्ठक बनवाना चाहिए; ताकि आतुर सुविधा से बैठकर अवगाहन कर पाये या शयन कर अवगाहन करें। पूर्वकाल में अवगाहन दैनिक चर्या में था, क्योंकि चक्रपाणिदत्त ने कहा है—'यथोक्तेषु इति लोक प्रसिद्ध एवावगाहो अवगाह स्वेदः'। आजकल भी कतिपय घरों में पूर्व का लकड़ी का अवगाहन हेतु बना कठौता (कोष्ठक) देखने में आता है। आचार्य भेल ने भी अवगाह का उल्लेख किया है—

काष्ठावगाहामच्छिद्रां तावदेषायतां समाम्।
द्रोणीं वातहरक्वाथ कृशरा क्षीरपूरिताम् ॥
कृत्वा तस्यां सुखोष्णायामभ्यक्तं वातरोगिणाम्। (भे० सू० २३)

यहाँ आचार्य भेल काष्ठ की ही द्रोणी-निर्माण का निर्देश देते हैं तथा स्वेदागम तक अवगाह करने का उपदेश दिये हैं। कितने समय तक अवगाहन कराना चाहिए, इसका स्पष्ट संकेत न कर स्वेदागम तक कहा गया है, पर सोलहवीं शदी के आचार्य भावमिश्र ने अवगाहन की कालमर्यादा का उल्लेख कर इसे व्यावहारिक स्वरूप प्रदान किया है—

मुहूर्तकं समारभ्य यावत्स्यात् तच्चतुष्टयम्।
एकांतरो द्व्यंतरो वा युक्तः स्नेहोवगाहने ॥ (भा० प्र० पू० २९)

अर्थात् एक मुहूर्त से चार मुहूर्त तक अवगाह कराना चाहिए या स्वेदागम तक कराना चाहिए। अवगाह एकान्तर या दो दिनों के अन्तर से कराना चाहिए। अवगाह की कालमर्यादा ऋतु पर भी निर्भर करती है। शीत ऋतु में अधिकतम काल तक अवगाह कराया जा सकता है, पर यदि स्वेदन आवश्यक हो तो उष्ण ऋतु में कम-से-कम समय तक ही अवगाह कराना चाहिए। आचार्य भावमिश्र ने अवगाह में नाभि से छः अंगुल उपर तक ही द्रव में डुबोने का निर्देश दिया है तथा कंधे पर से उष्ण द्रव की धारा गिराने को कहा है। अधुना जो कोष्ठक (कठौता) प्राप्त होते हैं, उनमें भावमिश्र द्वारा निर्देशित अवगाह ही सम्यक् रूप से हो सकता है। आचार्य सुश्रुत ने द्रोणी में या कटाह में वातहर औषधियों के क्वाथ, दूध, मांसरस, यूष, तैल, धान्याम्ल, घृत, वसा, गोमूत्रादि को उष्ण कर पूरित करने के पश्चात् अवगाह करने का निर्देश दिया है—'द्रव्यस्वेदस्तु वातहरक्वाथपूर्णकोष्णकटाहे द्रोण्यां चावगाह्य स्वेदयेत् एवं पयमांसरसयूषतैलधान्याम्लघृतवसायूषेषु अवगाहयेत्'।

(सु० चि० ३२।१३)

निरग्नि स्वेद

व्यायाममुष्मसदनं गुरुप्रावरणं क्षुधा।
बहुपानं भयक्रोधावुपनाहाहवातपैः ।
स्वेदयन्ति दशैतानि नरं अग्निगुणादृते॥

(च० सू० १४।६४-६५)

अर्थात् १. व्यायाम, २. उष्ण सदन, ३. गुरु प्रावरण ४. क्षुधा, ५. बहुपान, ६. भय, ७. क्रोध, ८. उपनाह, ९. आहव तथा १०. आतप— ये दश स्वेद बिना अग्नि सम्पर्क के यानि निरग्नि होते हुए भी सम्यक् स्वेदन कर्म करने वाले होते हैं।

(१) व्यायाम—'शरीरायासजननं कर्म व्यायामसंज्ञितम्' (सु० चि० २४।३६) अर्थात् जिन कर्मों द्वारा शरीर में आयास की उत्पत्ति होती है, उसे व्यायाम कहते हैं। व्यायाम से उष्णता की उत्पत्ति होती है तथा उष्णता उत्पन्न होने से शरीर में स्वेदन होता है। इससे अवयवों के स्वेदोत्पादक स्रोतों का तथा मार्ग का विशोधन होता है। व्यायाम से शरीर-पुष्टि, मांसपेशियों में स्थिरता, अग्नि-वृद्धि, लघुता, भूख, प्यास आदि सहने की क्षमता में वृद्धि होती है। पर यहाँ व्यायाम का उद्देश्य स्वेदागम रखा गया है। ऐसे आतुर जिनमें स्वेदन करना हो तथा उपर्युक्त गुणों की प्राप्ति (स्वास्थ्य-रक्षण, मांसोपचय, कांति आदि) लक्ष्य हो, उनका स्वेदन व्यायाम के द्वारा कराना चाहिए। व्यायाम की मात्रा व व्यायाम की कालावधि का मानक स्वेदागम ही है। अर्थात् व्यायाम या शारीरिक आयासजन्य कर्म तभी तक करना विहित है, जब तक कि ललाट पर स्वेदागम न हो जाय अर्थात् स्वेदागम होने तक

व्यायाम किया जाता है। अतः आयुर्वेद में स्वास्थ्य-रक्षण हेतु व शरीर-पुष्टि हेतु व्यायाम को स्वेद के अन्तर्गत रखा गया है।

(२) उष्णसदन—उष्ण सदन का तात्पर्य उष्ण वा गर्म घर से है। कतिपय साग्नि स्वेदों में घर को उष्ण कर स्वेदन कर्म किया जाता है, पर प्रस्तुत संदर्भ का तात्पर्य वैसे घर से है जो बिना अग्नि से संतप्त किये ही गरम रहे। उष्ण सदन कुटी रूप में उत्तम रहता है। इसके लिए मोटी दीवार का घर या वृत्ताकार कुटी बनानी चाहिए, जिसमें वातायन व विशेष दरवाजे न रहें। उसे बंद करने पर वह उष्ण हो जाय। अधुना उष्ण सदन का उदाहरण वातायन व झरोखों से रहित गोदाम है। इन गोदामों में प्रवेश कर थोड़ी देर तक रहने पर स्वेदागम प्रारम्भ हो जाता है। इस प्रकार के जो भी गृह हैं वे उष्ण सदन के रूप में उपयोग में लाये जा सकते हैं। आचार्य चक्रपाणिदत्त ने च० सू० १४।६४ की टीका में मोटी दीवारों से युक्त झरोखे आदि से रहित घर को उष्ण सदन कहा है—'उष्णसदनं इत्यग्निसंतापव्यतिरेकेण निर्जालिकतया घनभित्तितया यद् गृहं स्वेदयति, तद् बोधव्यम्।' जो व्यक्ति अग्नि स्वेद लेने में अक्षम हों या उन्हें अग्नि-सम्पर्क से हानि होती है, शारीरिक रूप से कमजोर हों जिससे व्यायामादि भी न कर पाते हों, तो उनका स्वेदन उष्ण सदन के द्वारा करना चाहिए। अंगगौरव वा अङ्गमर्दादि में मात्र उष्ण सदन द्वारा स्वेदन करने से ही शीघ्र लाभ होता है। अधुना लगातार या अधिकतम समय तक गर्मी के दिनों में कूलर व वातानुकूलित घर में रहने वाले लोग अंगगौरव व अङ्गमर्द की प्रायशः शिकायत करते हैं। ऐसे व्यक्तियों को परामर्श दिया जाता है कि कुछ समय के लिए कूलर आदि बंद कर दें। घर में उष्णता होते ही व्यक्तिविशेष का सम्यक् स्वेदन हो जाता है तथा अङ्गमर्दादि का शमन हो जाता है।

(३) गुरुप्रावरण—गुरु का तात्पर्य भारी से है। गुरु ओढ़ना (कम्बल, रजाई आदि) से शरीर को ढँक लेने से भी सम्यक् स्वेदन हो जाता है। अस्थाई रूप से हुए स्वेदावरोध को दूर करने के लिए गुरुप्रावरण उपयोगी है। आज भी ज्वरादि में जब स्वेदावरोध होता है, गुरुप्रावरण द्वारा स्वेदन किया जाता है। यह सर्वसुलभ व सरल निरग्नि स्वेद है।

(४) क्षुधा—क्षुधा अर्थात् भूख लगने पर भोजन नहीं करने से भी स्वेदन कर्म होता है। इसके लिए व्यक्ति से क्षुधा वेग को धारण कराया जाता है।

(५) बहुपान—बहुपान का तात्पर्य अत्यधिक मदिरा-पान करने से है। अधिक मदिरा-पान से भी स्वेदागम होकर स्वेदन कर्म होता है। पर इसका चिकित्सा में किंचित् ही उपयोग हो सकता है।

(६) भय—भय की स्थिति में स्वेदागम प्रारम्भ हो जाता है, अतः निरग्नि स्वेद में भय का भी उल्लेख किया गया है। भय का प्रभाव स्वेद ग्रन्थियों पर पड़ता

है। भय के लक्षणों में स्वेदागम भी एक लक्षण है। भयजन्य व्याधियों में भी स्वेदागम लक्षण रूप में मिलता है, अतः स्वेद में भय का उल्लेख किया गया है।

(७) क्रोध—क्रोधावस्था में भी स्वेदागम होता है, अतः निरग्नि स्वेद में भय के साथ क्रोध का भी उल्लेख किया गया है। क्रोध से पित्त की उत्पत्ति बतलाई गई है—'क्रोधात् पित्तं'। पित्त उष्ण होता है, जिसके परिणामस्वरूप स्वेदन होता है। क्रोधावस्था में व्यक्तिविशेष उत्तेजित हो जाता है, जिसका प्रभाव अन्य अंगों के साथ-साथ स्वेद ग्रन्थियों पर भी पड़ता है। परिणामतः स्वेदागम होता है।

(८) उपनाह—आचार्य चक्रपाणिदत्त ने उपनाह दो प्रकार का कहा है—'उपनाहो द्विविधः साग्निरनग्निश्च।' अर्थात् उपनाह के दो प्रकार होते हैं—एक साग्नि तथा दूसरा अनग्नि। अनग्नि स्वेद में वर्णित उपनाह का तात्पर्य है कि—जब बिना अग्नि सम्पर्क के औषध द्रव्यों का शरीर पर लेप किया जाता है, तो उससे स्वेदागम होकर स्वेदन कर्म सम्पन्न होता है। इसके सम्बन्ध में आचार्य चक्र० ने आगे कहा है—'तंत्रतः साग्निरूपनाहः स संकर एव बोद्धव्यम् यदुक्तं 'कोलंकुलत्थाः सुरदारु रास्ना' इत्यादिनाऽऽरग्वधीये, यस्त्वनग्निबलेन शरीरोष्णावरोधं कृत्वा स्वेदयति स इह बोद्धव्यः।'

(च० सू० १४।६४ पर चक्र०)

चरकसंहिता में निम्न उपनाह द्रव्यों का उल्लेख प्राप्त होता है—

(१) गेहूँ के टुकड़े, जौ का आटा—इन दोनों को कांजी व तैलादि स्नेह द्रव्य, सुराकिण्व; नमक इन सबों को एक में पकाकर पुल्टिस बांधना चाहिए—

गोधूमशकलैश्चूर्णैर्यवानामम्लसंयुतैः ।
सस्नेहकिण्वलवणैरुपनाहः प्रशस्यते ॥ (च० सू० १४।३५)

(२) तगर आदि सुगन्ध द्रव्य, मदिरा; सुराकिट्ट, जीवन्ती; सौंफ; तीसी, कूठ, तैल—इन सबको एक में पकाकर गरम कर बांधना चाहिए—

गन्धैः सुरायाः किण्वेन जीवन्त्या शतपुष्पया ।
उमया कुष्ठतैलाभ्यां युक्तया चोपनाहयेत् ॥

(च० सू० १४।३६)

उपर्युक्त द्रव्यों के उपनाह विधि (पुल्टिस) का निर्देश देते हुए आचार्य चरक ने कहा है कि—

चर्मभिश्चोपनद्धव्यः सलोमभिरपूतिभिः ।
उष्णवीर्यैरलाभे तु कौशेयाविकशाटकैः ॥
रात्रौ बद्धं दिवा मुञ्चेन्मुञ्चेद्रात्रौ दिवाकृतम् ।
विदाहपरिहारार्थं स्यात् प्रकर्षस्तु शीतले ॥

(च० सू० १४।३७-३८)

अर्थात् उपर्युक्त द्रव्यों का पुल्टिस रखकर ऊपर से बिना सड़े-गले, अदुर्गन्धित,

लोमयुक्त उष्ण वीर्य वाला चमड़ा बांध देना चाहिए। यदि उष्ण वीर्ययुक्त चमड़ा उपलब्ध नहीं हो या मिलने में कठिनाई का अनुभव हो, ऐसी स्थिति में चमड़े के स्थान पर रेशम या ऊन के कपड़े बांध देना चाहिए। इस प्रकार चमड़े, रेशम या ऊन की सहायता से लेप लगाकर बांधने को उपनाह कहा जाता है। यदि उपनाह रात्रि में बँधा हो तो दिन में खोल देना चाहिए और यदि दिन में उपनाह बाँधा गया हो तो रात्रि में खोल देना चाहिए। इसका तात्पर्य हुआ कि उपनाह बाँधने की काल-मर्यादा सामान्यतया ८-१२ घण्टे तक मर्यादित की जा सकती है; क्योंकि इतने समय के अन्तराल में दाह उत्पन्न नहीं होता। अतः उपनाह की अधिकतम कालमर्यादा १२ घण्टे होनी चाहिए। यदि इस नियम का पालन नहीं किया जाता है अर्थात् १२ घण्टे से अधिक देर तक उपनाह आतुर के शरीर पर रहता है तो त्वचा में दाह उत्पन्न हो जाता है। यदि शीतकाल हो तो दोषानुसार (कफज व वातज) व्याधियों में अधिक समय तक भी बांधा जा सकता है। ये बंधन के सामान्य नियम हैं। देश, काल, औषधि की शक्ति, रोग-बल, आतुर-बल—इनके आधार पर उपनाह कालमर्यादा में परिवर्त्तन भी किया जा सकता है।

आचार्य चक्रपाणिदत्त ने 'यदुक्तं कोलंकुलत्थाः सुरदारुरास्नाः' इत्यादिना-ऽऽरग्वधीये' कहकर आरग्वधीयाध्याय में वर्णित कतिपय लेपों को उपनाह द्रव्य के रूप में स्वीकार किया है। जैसे—

(१) कोलं कुलत्था सुरदारुरास्नामाषातसीतैलफलानि कुष्ठम्।
वचा शताह्वा यवचूर्णमम्लमुष्णानि वातामयिनां प्रदेहः॥
(च० सू० ३।१८)

अर्थात् वातज व्याधियों में बेर, कुलथी, देवदारु, रास्ना, उड़द, अलसी और अन्य तैलयुक्त द्रव्य, कूठ, वच, सौंफ और जौ का आटा के समान भाग का चूर्ण बनाकर कांजी से पीसकर अम्ल बनाकर लेप करना चाहिए।

(२) आनूपमत्स्यामिषवेसवारैरुष्णैः प्रदेहः पवनापहः स्यात्।
स्नेहैश्चतुर्भिर्दशमूलमिश्रैर्गन्धौषधैश्चानिलहः प्रदेहः॥
(च० सू० ३।१९)

अर्थात् आनूप जीवों का मांस (पशु, पक्षी आदि का), मछली के मांस के समान भाग का वेसवार बनाकर प्रदेह करना चाहिए या गन्धवर्ग की औषधियाँ तथा दशमूल के औषधियों को पीसकर घृत, तैल, वसा व मज्जा—इन चारों स्नेहों में मिलाकर लेप करना चाहिए।

आचार्य सुश्रुत ने व वाग्भट ने भी उपनाह स्वेद का वर्णन किया है। उपनाह की निरुक्ति करते हुए आचार्य डल्हण ने कहा है कि—

'उपनाहशब्दस्तु इह 'णह्' बंधने इत्यस्येति उपनाहो बंधनम् । उपनाह्यते इत्युपनाहो बंधनमित्यर्थः ।' (सु० चि० ३२।१२ पर डल्हण)

अर्थात् 'णह्' बंधने से उपनाह शब्द बनता है, जिसका अर्थ बंधन होता है। जिस स्वेद में उपनाहन यानि बंधन कर्म किया जाये उसे उपनाह कहा जाता है। इसके अन्तर्गत आचार्य सुश्रुत ने प्रदेह, पिण्डस्वेद व बंधन का स्वेद में समावेश किया है। पर प्रस्तुत संदर्भ में लेप आदि लगाकर चर्मादि द्वारा बंधन को उपनाह कहा गया है, अतः इसके अन्तर्गत प्रदेह व बंधन को रखा जा सकता है। आचार्य सुश्रुत ने—वातहर औषधियों के मूल पत्र के कल्क को कांजी आदि के साथ पीसकर सैंधव लवण व स्नेह मिलाकर प्रदेह या लेप करने को स्वेदन कर्म कहा है अथवा वातनाशक औषधियों का लेप एक पतले कपड़े में लगाकर बंधन कर स्वेदन करने का संकेत दिया है—'उपनाहस्तु वातहरमूलकल्कैरम्लपिष्टै लवणप्रगाढैः सुस्निग्धैः प्रदिह्य स्वेदयेत् । वा तनु वस्त्रावनद्धैः स्वेदयेत् ।' (सु० चि० ३२।१२)

आचार्य वाग्भट ने भी चरकोक्त विषयवस्तु को आधार मानकर उपनाह का वर्णन किया है। जैसे—

उपनाहोवचाकिण्व शताह्वा देवदारुभिः ।
धान्यैः समस्तैः गंधैश्च रास्नैरंडजटामिषैः ।।
.... ।
स्निग्धोष्णवीर्ये मृदुभिः चर्मपट्टैरपूतिभिः ।।
अलाभे वातजित्पत्रकौशेयाविकशाटकैः ।
रात्रौ बद्धा दिवा मुंचेद् मुंचेद्रात्रौ दिवाकृतम् ।। (अ० हृ० सू० १७।२-५)

(९) आहव—चरकसंहिता में आहव को भी अनग्नि स्वेद में वर्णित किया गया है। आहव मल्लयुद्ध या मुष्टियुद्ध को कहा जाता है। इस क्रिया से भी स्वेदन होता है।

(१०) आतप—सूर्य ताप द्वारा स्वेदन करने को आतप स्वेद कहा जाता है। आतप स्वेदन का उपयोग कतिपय त्वग् विकारों में किया जाता है। रोगानुसार सिद्ध तैल का स्थानिक या सार्वदैहिक अभ्यंग कराकर आतुर को सूर्य के किरणों में बैठाकर स्वेदन कराने का निर्देश दिया जाता है। इसका उपयोग विशेषकर उन त्वक् विकारों में किया जाता है, जिनमें वर्णविकृति की प्रधानता होती है तथा स्थानिक रूप से स्वेदन करना अभीष्ट होता है। चरकसंहिता में श्वित्र-सिध्म-किलास आदि वर्ण विकृति वाले रोगों में आतप स्वेद की व्यावहारिक विधि का वर्णन किया गया है—

श्वित्रेस्रंसनमग्र्यं मलपूरस इष्यते सगुडः ।
तं पीत्वा सुस्निग्धो यथाबलं सूर्यपादसंतापम् ।।
संसेवेत विरिक्तस्त्र्यहं पिपासुः पिबेत् पेयाम् ।(च० चि० ७।१६२-१६३)

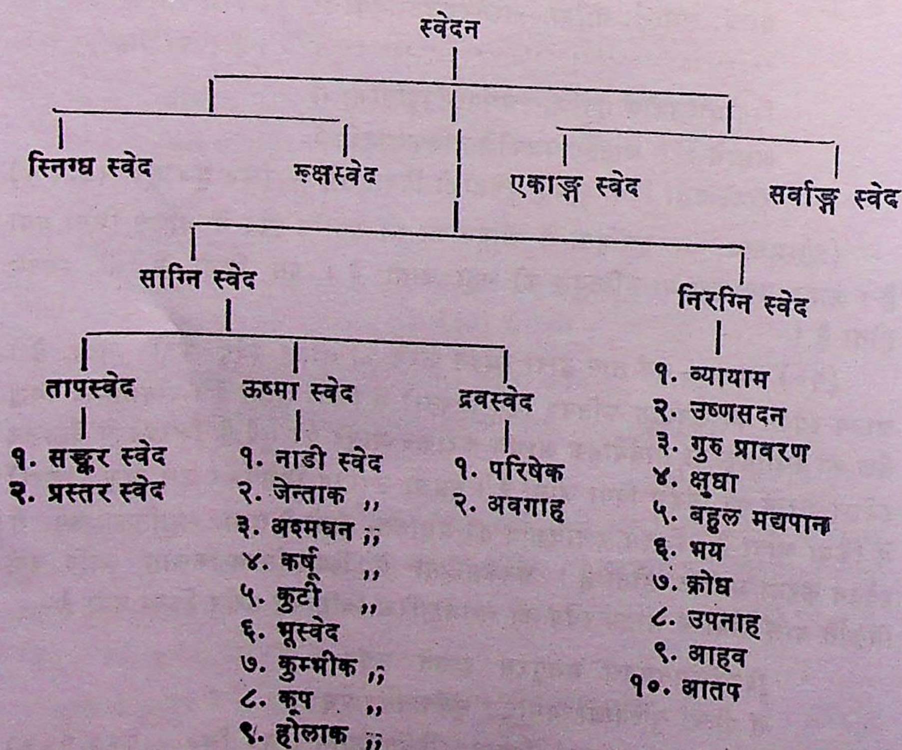
अर्थात् श्वित्र का रोगी संशोधनोपरान्त कठगुलर का रस गुड़ के साथ पान करे। जब इससे सम्यक् विरेचन हो जाय तो तीन दिनों तक आतप स्वेदन करे। यदि आतप सेवन काल में प्यास लगे तो पेया का पान कराना चाहिए।

कुष्ठं तमालपत्रं मरिचं समनःशिलं सकासीसम्।
तैलेन युक्तमुषितं सप्ताहं भाजने ताम्रे॥
तेनालिप्तं सिध्मं सप्ताहाद्व्येति तिष्ठतो घर्मे। (च० चि० ७।११७)

यहाँ सिध्म कुष्ठ की चिकित्सा कुष्ठ आदि द्रव्यों को तैल में मिलाकर सात दिनों तक ताम्र पात्र में रखने के बाद लेप लगाकर आतप स्वेदन का निर्देश दिया गया है। 'तिष्ठति घर्मे' की टीका में चक्रपाणिदत्त ने 'घर्मे' का अर्थ आतप लगाया है—'घर्मे इत्यातपे'। इस प्रकार आयुर्वेदाचार्यों ने स्वेद के तीन युग्मों का वर्णन किया है—

इत्युक्तो द्विविधः स्वेदः संयुक्तोऽग्निगुणैर्न च।
एकाङ्गसर्वाङ्गगतः स्निग्धो रूक्षतथैव च॥
इत्येतत् त्रिविधं द्वन्द्वं स्वेदमुद्दिश्य कीर्तितम्। (च० सू० १४।६६)

अर्थात् अग्नि से युक्त और बिना अग्नि—ये दो प्रकार के स्वेद होते हैं। एकाङ्ग स्वेद व सर्वाङ्ग स्वेद—यह दो प्रकार तथा स्निग्ध स्वेद व रूक्ष स्वेद—ये दो प्रकार होते हैं। इस प्रकार आत्रेय व धन्वन्तरि दोनों परम्पराओं का स्वेद संबंधी समन्वय निम्न रूप में है—



आमाशय व पक्वाशयगत दोषों में स्वेद—यदि आमाशय में वायु का प्रकोप हो तो प्रथमतः रूक्ष द्रव्यों की सहायता से स्वेदन करना चाहिए, फिर स्निग्ध द्रव्यों द्वारा स्वेदन करना चाहिए। यहाँ आचार्य ने स्थानानुसार स्वेदन करने को कहा है अर्थात् आमाशय कफ का स्थान है। यदि वहाँ वायु भी कुपित होता है तो प्रथमतः कफ का स्थान होने से कफ हेतु रूक्ष स्वेदन किया जाता है, फिर वायु के लिए स्निग्ध द्रव्यों से स्वेदन किया जाता है। इसी प्रकार यदि पक्वाशय में कफ कुपित होता है, तो पक्वाशय के वायु का स्थान होने से प्रथमतः स्निग्ध द्रव्यों से स्वेदन किया जाता है; फिर रूक्ष द्रव्यों से किया जाता है, क्योंकि—'आगन्तुं समये दोषं स्थानिनं प्रतिकृत्य च' (वाग्भट अ० हृ० सू० १३) अर्थात् प्रथमतः स्थानीय दोष की चिकित्सा की जाती है फिर आगन्तुक दोष की।

आमाशयगते वाते कफे पक्वाशयाश्रिते।
रूक्षपूर्वो हितः स्वेदः स्नेहपूर्वस्तथैव च ॥ (च० सू० १४।९)
आमाशयगते वायौ कफे पक्वाशयाश्रिते।
रूक्षपूर्वं तथा स्नेहपूर्वं स्थानानुरोधतः ॥ (अ० सं० सू० २६)

सम्यक् स्विन्न के लक्षण—स्वेदन कर्मोपरान्त आतुर में यह देखा जाता है कि, आतुर का सम्यक् रूपेण स्वेदन हो गया है अथवा नहीं हुआ है। यदि सम्यक् स्वेदन के लक्षण न मिलकर अस्विन्न के लक्षण होते हैं, तो सम्यक् स्वेदन के लक्षणोत्पत्ति हेतु पुनः प्रयास करना चाहिए। आचार्यों ने सम्यक् रूपेण स्विन्न का निम्न लक्षण बतलाया है—

(१) आतुर के शरीर में शीतोपरम अर्थात् शीत का शमन हो ज़ाता है।
(२) शूल का नाश हो जाता है।
(३) स्तम्भता समाप्त हो जाती है।
(४) शरीर का भारीपन समाप्त होकर लघुता आ जाती है।
(५) शरीर मृदु हो जाता है अर्थात् कोमलता आ जाती है।
(६) शरीर से स्वेद निकलने लगता है।[1]

इन लक्षणों के अतिरिक्त आचार्य सुश्रुत ने (७) जिस व्याधि के लिए स्वेदन कराया गया है उस व्याधि के लक्षणों में कमी या लक्षणों का शमन होना तथा (८) शीतार्थिता अर्थात् आतुर में ठंडी वस्तुओं का सेवन करने की इच्छा होना आदि लक्षणों का भी उल्लेख किया है।[2]

---

१. शीतशूलव्युपरमे स्तम्भगौरवनिग्रहे।
संजाते मार्दवे स्वेदे स्वेदनाद्विरतिर्मता ॥ (च० सू० १४।१३)

२. स्वेदस्रावो व्याधिहानिर्लघुत्वं शीतार्थित्वं मार्दवञ्चातुरस्य।
सम्यग् स्विन्ने लक्षणं प्राहुरेतत् मिथ्यास्विन्ने व्यत्ययेनैतदेव ॥
(सु० चि० ३२।३३)

अतिस्विन्न के लक्षण—यदि स्वेदन का अतियोग होता है तो निम्न लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं—(१) पित्तदोष प्रकुपित हो जाता है। (२) आतुर को मूर्च्छा आती है। (३) शरीरावसाद हो जाता है अर्थात् शरीर व शरीर के विभिन्न अंगों में अवसाद हो जाता है। (४) अधिक प्यास लगने लगती है। (५) पूरे शरीर में दाह अर्थात् जलन होने लगती है। (६) स्वेद अधिक मात्रा में निकलने लगता है। (७) स्वर में दुर्बलता हो जाती है। (८) शरीर दुर्बल हो जाता है।[1] इन लक्षणों के अतिरिक्त आचार्य सुश्रुत ने—(१) संधियों में पीड़ा का उत्पन्न होना, (२) शरीर पर स्फोटों का उत्पन्न होना, (३) रक्तदुष्टि, (४) भ्रान्ति, (५) थकावट आदि लक्षणों का उल्लेख किया है।[2] आचार्य वाग्भट ने स्वेदन के अतियोगजन्य लक्षणों में उपर्युक्त लक्षणों के अतिरिक्त ज्वर एवं रक्तमंडलोत्पत्ति भी कहा है।[3]

स्वेदन के अतियोग की चिकित्सा—आचार्य सुश्रुत ने स्वेदन के अतियोग में शीत चिकित्सा का निर्देश दिया है तथा आचार्य वाग्भट ने छर्दि आदि होने पर स्तम्भन औषधियों का सेवन करने को कहा है। आचार्य चरक ने निर्देश दिया है कि—ग्रीष्म ऋतुचर्या के अन्तर्गत जो मधुर, स्निग्ध व शीतल आहार-विहारादि का विधान किया गया है, उसका विधिपूर्वक सेवन करना चाहिए।[4] आचार्य चरक ने भी स्तम्भन की उपयोगिता बतलाते हुए स्वेदन के अतियोग में स्तम्भन चिकित्सा का निर्देश दिया है।[5] स्वेदन के अतियोग में चीनी के साथ शीतलमन्थ, जाङ्गल पशु-पक्षियों के मांसरस, घी-दुग्ध, चावल आदि का सेवन कराना चाहिए (च० सू० ६।२८)। आतुर को दिन में शीतल कमरे में तथा रात्रि में चांदनी से शीतयुक्त छत पर या खुले आकाश में शरीर पर चंदन का लेप लगाकर सुलाना चाहिए। मोती

---

१. पित्तप्रकोपो मूर्च्छा च शरीरसदनं तृषा।
दाहः स्वेदाङ्गदौर्बल्यमतिस्विन्नस्य लक्षणम्॥ (च० सू० १४।१४)

२. स्विन्नेऽत्यर्थं संधिपीडा विदाहः स्फोटोत्पत्ति पित्तरक्तप्रकोपः।
मूर्च्छा भ्रांतिदाहतृष्णाक्लमश्च कुर्यात्तूर्णं तत्र शीतं विधानम्॥
(सु० चि० ३२।२४)

३. पितास्रकोप तृण्मूर्च्छा स्वरांगसदन भ्रमाः।
संधिपीडा ज्वर श्यावरक्तमंडल दर्शनम्॥
स्वेदातियोगात् च्छर्दिश्च तत्र स्तम्भनमौषधम्।
(अ० हृ० सू० १७।१६-१७)

४. उक्तस्तस्याशितीये यो ग्रैष्मिकः सर्वशो विधिः।
सोऽतिस्विन्नस्य कर्तव्यो मधुरः स्निग्धशीतलः॥ (च० सू० १४।१५)

५. पित्तक्षाराग्निदग्धा ये वम्यातीसारपीडिताः।
विषस्वेदातियोगार्ताः स्तम्भनीया निदर्शिताः॥ (च० सू० २२।३३)

मणि आदि का अलंकार धारण कर, जल से भींगे पंखों द्वारा हवा लेनी चाहिए तथा कोमल हाथों का स्पर्श करते हुए आसन पर बैठना चाहिए और शीतल स्थान, शीतल जल तथा शीतल पुष्पों का सेवन करना चाहिए। (च० सू० ३०।३३)

स्वेद कल्पना—विवेचन व उपादेयता

स्वेद द्वारा भी शरीर मलिन होता है, अतः स्वेद को मल कहा गया है। ये मल शरीर को मलिन करने के साथ-साथ शरीर के कतिपय मौलिक घटकों के नियत परिमाण को बनाये रखते हैं। स्वेद शरीरस्थ आप्य घटकों को नियत परिमाण में बनाये रखता है; क्योंकि स्वेद क्लेद को धारण करता है, जो कि आप्य घटक होता है। मूत्र क्लेद को बाहर निकालता है। क्लेद के साथ-साथ स्वेद केश व रोम का भी धारण करता है (स्वेदस्य कचरोमधारणमपि–अरुणदत्त)। ऊष्मा द्वारा स्वेदोत्पत्ति होती है तथा त्वचा के माध्यम से यह बाहर निकलता रहता है। जब स्वेद निकलना कम हो जाय या बंद हो जाय अथवा अधिक मात्रा में स्वेद निकल जाय—ये दोनों स्थितियाँ विकारोत्पादक होती हैं।

स्वेद मेदोधातु का मल होता है (मलः स्वेदस्तु मेदसः— च० चि० १५।१८) तथा स्वेदवाही स्रोतों का मूल मेद व रोमकूप होते हैं—'स्वेदवहानां स्रोतसां मेदो मूलं लोमकूपाश्च।'—च० वि० ५।८। 'स्वेदः क्लेदत्वक्सौकुमार्यकृत्।' सु० सू० १५। अर्थात् स्वेद का कार्य त्वचा को स्निग्ध, मुलायम तथा सुकुमार बनाये रखना है। यदि इसकी यथोचित प्रवृत्ति नहीं होती है तो सङ्ग, अप्रवृत्ति, अतिप्रवृत्ति आदि होकर स्रोतोदुष्टि होती है—'त्वग्दोषाः सङ्गोऽतिप्रवृत्ति यथाप्रवृत्तिर्वा मलायतनदोषाः' (सु० सू० २४।९)। परिणामतः अनेक प्रकार की व्याधियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। यदि शरीर में स्वेद का क्षय हो जाता है तो—'स्वेदक्षयेस्तब्धरोमकूपतात्वक्शोषः; स्पर्शवैगुण्यं स्वेदनाशश्च' (सु० सू० १५।११); 'स्वेदे रोमच्युतिः स्तब्धरोमता स्फुटनं त्वचः।' (अ० हृ० सू० ११।२२)। अर्थात् रोमकूपों का अवरोध, त्वचा की रूक्षता, त्वचा का स्फुटन अर्थात् त्वक् का फटना, सम्यक् रूपेण स्पर्शज्ञान का न होना तथा रोम-प्रपतन (रोमों का गिरना) आदि विकार होते हैं। यदि शरीर में मलरूप स्वेद की उत्पत्ति अधिक होकर वृद्धि हो जाती है तो—'स्वेदः (अतिवृद्धः) त्वचो दौर्गन्ध्यं कण्डूं च (आपादयति)।' सु० सू० १५।१५। अर्थात् त्वचा में दुर्गन्ध तथा कण्डू की उत्पत्ति होती है। जब स्वेदवह स्रोतोदुष्टि होती है तो—'प्रदुष्टानां तु खल्वेषामिदं विशेषविज्ञानं भवति–तद्यथा—अस्वेदनमतिस्वेदनं पारुष्यमतिश्लक्ष्णतामङ्गस्य परिदाहं लोमहर्षं च दृष्ट्वा स्वेदवहान्यस्य प्रदुष्टानीति विद्यात्।'–च० वि० ५।८। इस प्रकार उपर्युक्त तथ्यों द्वारा स्वेद का मलरूप में विवेचन कर संक्षिप्ततः परिचय दिया गया। अब अपने मूल विषय स्वेदकल्पना वा स्वेदन के विषय में विचार करना है। स्वेद-

कल्पना या स्वेदनकर्म का तात्पर्य है कि विभिन्न प्रक्रियायों के द्वारा शरीर से स्वेद का बाहर निकालना। उपर्युक्त विवेचन में हम लोग पाते हैं कि स्वेद के क्षय या वृद्धि का विशेष सम्बन्ध त्वचा से है, पर स्वेदन कर्म अनेक सर्वाङ्गसंश्रित व्याधियों में विशेषकर वात व कफजन्य व्याधियों में किया जाता है।

आयुर्वेद में स्वेदन कर्म के तीन क्षेत्र निर्धारित किये गये हैं--

(Scope of Swedana Karma according to Ayurveda)

(अ) स्वास्थ्य रक्षण हेतु स्वेदन।

(ब) पञ्चकर्म (शोधन चिकित्सा) के पूर्वकर्म के रूप में स्वेदन।

(स) स्वेदन (वातकफज व्याधियों की) प्रधान चिकित्सा के रूप में।

इन तीनों क्षेत्रों में स्वेदन की उपादेयता पर विचार करने से पूर्व स्वेदन कर्मों में प्रयुक्त द्रव्यों पर विचार करना आवश्यक है, क्योंकि इससे स्वेदन की कार्मुकता व प्रत्येक क्षेत्र में विशिष्ट उपादेयता स्पष्ट हो जायेगी। स्वेदन कर्म करने वाले या स्वेद लाने वाले द्रव्यों के बारे में कहा गया है कि—

उष्णं तीक्ष्णं सरं स्निग्धं रूक्षं सूक्ष्मं द्रवं स्थिरम्।
द्रव्यं गुरु च यद् प्रायस्तद्धि स्वेदनमुच्यते॥

(च० सू० २२।१६)

अर्थात् स्वेदन कर्म करने वाले द्रव्यों में—१. उष्ण, २. तीक्ष्ण, ३. सर, ४. स्निग्ध, ५. रूक्ष, ६. सूक्ष्म, ७. द्रव, ८. स्थिर तथा ९. गुरु द्रव्य होते हैं। स्वेद द्रव्यों में प्रथमतः उष्ण गुण का उल्लेख किया गया है; क्योंकि यह गुण स्वेद द्रव्यों में सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। उष्ण गुण शीत के विपरीत होता है। शीत स्तम्भन करता है तो उष्ण गुण प्रवृत्तिकारक होता है तथा विशेष रूप से पाचन कर्म करने वाला होता है। हेमाद्रि ने स्पष्टतः कहा है—'स्वेदने उष्णः' अर्थात् उष्ण गुण स्वेदन कर्म करने वाला होता है। आमजन्य व्याधियों में जहाँ स्वेद द्रव्य प्रयोग से एक तरफ पाचन कर्म होता है, वहीं दूसरी तरफ स्वेदन कर्म भी होता है। इस उष्ण गुण के कारण स्वेदन वातज व कफज व्याधियों हेतु प्रशस्त है। वात में शीत गुण होता है, जिससे स्तम्भनादि होता है। उष्ण गुण वाले स्वेद द्रव्य वायु के शैत्य का नाश करते हैं तथा इससे स्तम्भनादि भी समाप्त होकर 'आप्य' घटक का निष्क्रमण स्वेदरूप में प्रारम्भ हो जाता है। आमपाचन के द्वारा कफज व्याधियों में लाभ पहुँचाया जाता है। स्वेद द्रव्यों में दूसरा गुण तीक्ष्ण कहा गया है। तीक्ष्ण भी आग्नेय गुण है। तीक्ष्ण गुण दाहपाक करने वाला तथा स्रावण कराने वाला होता है—'दाहपाककरस्तीक्ष्णः स्रावणो मृदुरन्यथा।'—सु० सू० ४६।५१८। हेमाद्रि ने तीक्ष्ण गुण को शोधन कर्म करने वाला कहा है—'शोधने तीक्ष्णः' तथा आचार्य भावमिश्र ने—'तीक्ष्णं पित्तकरं प्रायो लेखनं कफवातहृत्' कहकर इसे लेखन कर्म करने वाला तथा कफ एवं वात कोप

का नाश करने वाला कहा है। यदि उपर्युक्त तीनों आचार्यों के वचनों में समन्वय स्थापित किया जाय तो तीक्ष्ण गुण दाहपाक-कारक, स्रवण कराने वाला, शोधन कर्म करने वाला, लेखन कारक तथा कफ-वात का हरण करने वाला है। तीक्ष्ण गुण स्थानिक रूप से उत्तेजक व तीव्रता से कर्म करने वाला होता है। स्वेद द्रव्यों के तीक्ष्ण गुण दाहोत्पादक होने से शीतता को नष्ट करता है तथा स्रोतोगत आमभावों का पाक करके उन्हें तीव्रता से स्रवित कर देता है। जब आम वा अन्य भाव जो स्रोतों वा अवयवों से पाक को प्राप्त होकर स्रवित हो जाते हैं तो अवयवविशेष वा स्रोतस् का शोधन हो जाता है, जिसके परिणामस्वरूप उस अवयवविशेष या सम्पूर्ण देह के स्रोतस् में लेखन हो जाता है। इस प्रकार स्रवित आप्यघटक रोमकूपों के माध्यम से स्वेद रूप में निर्गत हो जाता है। इस प्रक्रिया द्वारा मार्गशोधन होने पर वायु मार्गानुसार संचरण करने लगता है तथा स्तम्भनादि समाप्त होने से वात व्याधियों का नाश होता है। आमरूप कफ का पाक होने से क्लेदादि के 'आप्य' घटक बाहर निर्गत हो जाते हैं, जिससे कफ-प्रकोप शांत हो जाता है। तीक्ष्णता के कारण सूक्ष्मावयव का मार्ग विशोधन व सूक्ष्म-से सूक्ष्म स्रोतों का विशोधन हो जाता है। स्वेद द्रव्यों का तीसरा गुण सर होता है। सर का अर्थ होता है—गतिशीलता। हेमाद्रि ने कहा है—'यस्य प्रेरणे शक्ति स सरः' अर्थात् जिसमें प्रेरक शक्ति रहती है, उसे सर कहते हैं। सर गुण शरीर में वायु व मलों को प्रेरणा देने वाला होता है! स्वेद भी मल है, अतः सर गुण के कारण यह निष्क्रमित होने के लिए प्रेरित होता है। आचार्य सुश्रुत ने सर को अनुलोमक तथा श्री भावमिश्र ने इसे प्रवर्त्तक कहा है—'सरस्तेषां प्रवर्त्तकः।' प्रवर्त्तक होने से यह मलों का प्रवर्त्तक होता है, जिसके परिणामस्वरूप द्रवीभूत मलों को स्वेद के साथ बाहर निकालता है। अनुलोमक होने से यह मलभूत वायु को बाहर निकालने वाला होता है, जिससे स्वेदन द्वारा वातज व्याधियों में लाभ होता है। स्वेद द्रव्यों में स्निग्ध गुण मृदुता उत्पन्न करता है। जहाँ पञ्चकर्म हेतु स्वेदन किया जाता है, वहाँ दोषों व अवयवों में मृदुता लाना भी उद्देश्य होता है। मृदुता आने से कठोरता समाप्त होती है, जिससे वायु का शमन होता है। स्निग्धता वायु की रूक्षता को समाप्त करती है। स्निग्ध गुण वाले स्वेद द्रव्यों का प्रयोग विशेष रूप से वात व्याधियों में प्रशस्त होता है। आचार्य ने जहाँ स्वेद द्रव्यों में स्निग्ध गुण का होना बतलाया है; वहीं इसमें रूक्ष गुण की उपस्थिति का भी उल्लेख किया है। इसका समाधान है कि जब कफ दोष या कफज व्याधियों में रूक्ष स्वेदन करना हो तो रूक्ष गुण वाले स्वेद द्रव्य का प्रयोग करना चाहिए तथा वात दोष या वातज व्याधियों में स्निग्ध स्वेदन करना हो तो स्निग्ध गुण वाले द्रव्य का प्रयोग करना चाहिए। रूक्ष गुण कफ की मृदुता को समाप्त करता है तथा कफ के जलीय अंश का शोषण कर लेता है, क्योंकि हेमाद्रि ने शोषण क्रिया करने वाले गुण को रूक्ष कहा है—'यस्य शोषणे शक्तिः स

रूक्षः।' कफजन्य व्याधियों में उष्ण, तीक्ष्णादि गुण द्वारा एक तरफ तो पाकादि के उपरान्त आप्यरूप मल स्वेद रूप में निकलते हैं तथा द्रवीभूत मलों की दूसरी तरफ रूक्ष गुण द्वारा शोषण क्रिया होती है। आचार्य सुश्रुत ने रूक्ष के बारे में कहा है—'रूक्षस्तद्विपरीतः स्यात् विशेषात् स्तंभनः खरः।'—सु० सू० ४६।५६। अर्थात् रूक्ष खरता उत्पन्न करने वाला तथा स्तम्भन कर्म करने वाला होता है। कफजन्य व्याधियों में जब अतिशय मृदुता व शिथिलता व्याप्त रहती है तो मार्ग विशोधन हेतु रूक्ष गुण उपादेय होता है। स्वेद द्रव्यों में सूक्ष्म गुण होता है। विलेय व प्रसारी युक्त गुण को सूक्ष्म कहा जाता है। हेमाद्रि ने विवरण शक्ति वाले गुण को सूक्ष्म कहा है—'यस्य विवरणे शक्तिः स सूक्ष्मः'। सूक्ष्म गुण सूक्ष्मातिसूक्ष्म स्रोतों व अवयवावकाशों, मार्गों को विवरित करता है। अपनी विलेयता व प्रसारी शक्ति से मलों को आप्य घटक में विलीन कर देता है तथा उन्हें मार्ग से प्रसारित करता है, जिसे तीक्ष्णादि गुण स्वेद रूप में निष्क्रमित कर देते हैं, जिससे स्रोतस् विवरित हो जाते हैं। स्वेद द्रव्यों में द्रव गुण होता है। सभी जगह व्याप्त हो जाने वाले गुण को द्रव कहा जाता है। इसे प्रवाह व संग्रह का कारण कहा गया है। प्रशस्तपाद भाष्य में भी स्यन्दन (प्रवहन) का कारण द्रव को ही कहा गया है—'द्रवत्वं स्यन्दनकर्मकारणम्'। संग्रह शक्ति के कारण द्रव सूक्ष्मातिसूक्ष्म मलों का संग्रह कर 'आप्य' घटक के रूप में स्यन्दित अर्थात् प्रवाहित करता है क्योंकि यह मलरूप दोषों को विलोडन कर अपने में विलीन कर लेता है। परिणामतः मल द्रवीभूत होकर 'आप्य' रूप में आ जाते हैं। हेमाद्रि ने स्पष्ट कहा है—'यस्य विलोडने शक्तिः स द्रवः।' द्रव के प्रक्लेदन शक्ति ('द्रवः प्रक्लेदनः'—सु०) से स्वेद मल का परिमाण बढ़ जाता है, जिसके कारण उसका उत्सर्ग होकर स्वेदन कर्म सम्यक् रूपेण सम्पन्न होता है। स्वेद द्रव्यों में स्थिर गुण होता है। सर के विपरीत स्थिर होता है। स्वेद द्रव्यों में सर व स्थिर दोनों गुणों का उल्लेख किया गया है। स्थिर अवरोधक अर्थात् अग्र प्रवृत्ति को रोकने वाला होता है। अर्थात् स्थिर गुण गतिहीन होता है। यद्यपि स्थिर गुण मलों का स्तम्भन करता है, पर वात दोष व वातजन्य व्याधियों में जब चल व आशु गुण बढ़े होते हैं तब मलभूत वायु का अनुलोमन नहीं हो पाता। तब स्थिर गुण वाले द्रव्य के द्वारा वायु को गतिहीन कर निष्क्रमित किया जाता है अथवा उसके वृद्धि से उत्पन्न चल गुण को स्थिर कर उसकी अतिक्रियाशीलता का ह्रास किया जाता है। गुरु गुण मलों की वृद्धि करता है। इससे स्वेद की वृद्धि होकर मल (स्वेद) का निष्क्रमण होता है। वात दोष में यह उपादेय होता है। स्वेदन कर्म में स्वेदन विधियों का साङ्गोपाङ्ग वर्णन किया गया, पर स्वेदन में कतिपय सामान्य तथ्यों पर भी विचार करना आवश्यक है जिससे कि स्वेदन सम्यक् रूपेण सम्पन्न हो तथा किसी प्रकार के उपद्रवादि की संभावना न रहे। स्वेदन के विधि-विधान तो वर्णित हैं, पर उसे व्यवहार में

लाना चिकित्सक का दायित्व होता है। अतः स्वेदन कर्म में रोग, रोगी, देश, काल, वय आदि का विचार करके ही प्रवृत्त होना चाहिए, अन्यथा लाभ के स्थान पर हानि की संभावना हो जाती है। स्वेदसाध्य व्याधियों का उल्लेख किया गया है, पर शास्त्रों में विभिन्न स्वेदन विधियों में कौन-सी बिधि, किस व्याधिविशेष में अपनानी है ? या कितने काल तक स्वेदन करना है ? या स्वेदन के किन साधनों का प्रयोग रोगविशेष या रोगी-विशेष में करना है ? आदि। प्रश्नों का समाधान चिकित्सक को स्वविवेक से करना होता है। अतः चिकित्सक को रोगानुसार स्वेदन विधि निर्धारित करते समय शास्त्रनिर्देश व स्वविवेक दोनों के सामंजस्य से कार्य करना चाहिए। कतिपय आधुनिक सभ्यताजन्य रोग के आतुर भी उपचारार्थ आते हैं, उनमें दोषानुसार स्वेदन विधि का निर्णय करना चाहिए। आयुर्वेद में वर्णित कतिपय व्याधियों में स्पष्ट निर्देश प्राप्त होता है कि—अमुक रोग में अमुक स्वेदन करें; पर कतिपय व्याधियों में मात्र स्वेदन का निर्देश प्राप्त होता है। जैसे—रक्तगत ज्वर में प्रदेह (च० चि० ३।३१६) अर्श में कुलत्थ-पुलाकादि का पिण्ड स्वेद (च० चि० १४।३९) अर्श में अवगाह-स्वेद (च. चि. १४।४५) शोथ में प्रदेह व परिषेक (च. चि. १२।५४) राजयक्ष्मा में नाड़ी स्वेद (च० चि० ८।७४) सिध्म में प्रलेप, प्रतिश्याय कास में संकरादि स्वेद, हिक्का श्वास की सामान्य चिकित्सा में नाड़ी, प्रस्तर, संकर (च. चि. १७।७०) आदि में स्पष्ट निर्देश है कि इन अवस्था-विशेषों में कौन से स्वेदन उपादेय हैं, पर पक्षाघात, योनिव्यापद्, वात-व्याधियों, उन्माद, अतत्त्वाभिनिवेश और गुल्म आदि में शास्त्राधार तथा स्वविवेक दोनों के सामंजस्य से स्वेदन का निर्धारण करना पड़ता है। इसी प्रकार आतुर पर भी विचार कर स्वेदन करने का विधान विहित है। एक ही व्याधि से पीड़ित विभिन्न व्यक्तियों में स्वेदन-कालमर्यादा एवं विधि भिन्न होती है। यदि आतुर बलयुक्त है तो उत्तम (प्रवर स्वेद), मध्य में मध्य व बलहीन आतुर में अवर कोटि का कम-से-कम समय तक स्वेदन करना लाभकारी होता है। आचार्य चरक ने चिकित्सकों का ध्यानाकर्षण इस ओर किया है—

व्याधौ शीते शरीरे च महान् स्वेदो महाबले।
दुर्बले दुर्बलः स्वेदो मध्यमे मध्यमो हितः॥ (च० सू० १४।८)

आचार्य काश्यप ने उच्चवर्ग धनी, मध्यवर्ग धनी एवं निम्नवर्ग धनी—इस प्रकार आर्थिक आधार पर भी स्वेदन का निर्देश दिया है। इस सन्दर्भ में उनका तात्पर्य व्यक्तिविशेष के पालन-पोषण होने वाले वातावरण के स्तर से संभवतः है। क्योंकि आज भी एक व्यक्ति वातानुकूलित वातावरण में रहता है तो दूसरी तरफ खुले आकाश के नीचे रहने वाले भी आतुर होते हैं, पर दोनों की चिकित्सा में इन बातों की उपेक्षा नहीं की जा सकती। आचार्य काश्यप भी संभवतः इन्हीं तथ्यों के आधार पर कहे हैं—

मध्यमो मध्यमानां च दरिद्राणां च दुःखिनाम् ।
निषेकदेशसात्म्ये च तान् विद्यात् पंडितो भिषग् ।।

(का० सू० २५।३१)

इसके अतिरिक्त कालानुसार भी स्वेदन किया जाता है। जैसे—शीत ऋतु में प्रवर स्वेदन की आवश्यकता होती है तथा ग्रीष्म ऋतु में मृदु स्वेद भी कम-से-कम समय तक देना चाहिए। इसी प्रकार वय को भी ध्यान में रखकर ही स्वेदन विधि अपनानी चाहिए। बालक में मृदु स्वेद से ही रोग शमित करने का प्रयास करना चाहिए। काश्यप ने 'बालकों का स्वेदन हाथ से ही करना चाहिए'—ऐसा निर्देश किया है।

स्वेदन की उपादेयता

स्वेदन को आयुर्वेद में बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है। चरकसंहिता में इसका विस्तृत विवेचन प्राप्त होता है। स्वेदन कर्म की उपादेयता निम्न क्षेत्रों में है—

(अ) स्वास्थ्य-रक्षण में स्वेदन—आयुर्वेद के दो प्रमुख प्रयोजनों में प्रथम प्रयोजन स्वस्थ व्यक्तियों के स्वास्थ्य की रक्षा करना है। इसके लिए पथ्यापथ्य, दिनचर्या, ऋतुचर्या, रात्रिचर्या, सद्वृत्त आदि का विस्तृत वर्णन किया गया है। स्वास्थ्यरक्षण में स्वेदन दो रूपों में उपादेय है। एक; क्रमानुसार पञ्चकर्म चिकित्सा के पूर्वकर्म के रूप में, जिसका विवेचन स्वतंत्र शीर्षक में किया जायेगा तथा दूसरा; दिनचर्या आदि में स्वेदन के द्वारा स्वास्थ्य-रक्षण किया जाता है। दैनिक जीवन में स्वेदन से स्तम्भ, गौरव आदि का नाश होता है तथा गतिशीलता आदि से प्रवृद्ध वायु का शमन होता है। आहारविशेष से उत्पन्न गौरव का नाश होता है। शीतऋतु में दैनिक चर्या में स्वेदन अतिआवश्यक होता है। दैनिक जीवन में या स्वास्थ्य-रक्षण हेतु निरग्नि स्वेद उपादेय है; क्योंकि प्रतिदिन साग्नि स्वेद करना संभव भी नहीं होता तथा उसमें चिकित्सक की उपस्थिति की भी अपेक्षा रहती है। इसलिए स्वास्थ्य-रक्षण हेतु दैनिक जीवन में सर्वाधिक प्रचलित निरग्नि स्वेद व्यायाम ही है। व्यायाम तब तक किया जाता है जब तक ललाट पर स्वेदागम न हो जाय। ऋतु के अनुसार व्यायाम की मात्रा इसी आधार पर निर्धारित की जाती है। दैनिक जीवन में व्यायाम-स्वेद सेवन करने से निम्न रूप से स्वास्थ्य-रक्षण होता है—

शरीरोपचयः कांतिर्गात्राणां सुविभक्तता ।
दीप्ताग्नित्वमनालस्यं स्थिरत्वं लाघवं मृजा ।।
श्रमक्लम पिपासोष्णशीतादीनां सहिष्णुता ।
आरोग्यं चाऽपि परमं व्यायामादुपजायते ।।
न चास्ति सदृशं तेन किंचित् स्थौल्यापकर्षणम् ।

(सु० चि० २४।३७-३८)

(१) व्यायाम से आरोग्य (स्वास्थ्य) की प्राप्ति होती है। (२) शरीर का उपचय होता है। (३) शरीर व मुखमण्डल पर कांति आती है। (४) जठराग्नि प्रदीप्त होती है। (५) दैनिक जीवन में आलस्य का नाश होता है। (५) शरीर में स्थिरता व लघुता (हल्कापन) आती है। (७) थकावट, (८) क्लम (बिना श्रम के थकावट होना) आदि का नाश होता है। (९) शीतादि को सहने की क्षमता आती है तथा (१०) शरीर के स्थूलता का नाश होता है।

शीतऋतु में शीत, स्तब्धतादि को दूर करने के लिए साग्नि (ताप आदि) तथा निरग्नि (उष्णसदन, गुरुप्रावरण, व्यायाम) समान रूप से उपादेय हैं। दैनिक जीवन में स्वेदन से मल, मूत्रादि का निष्क्रमण निर्बाध रूप से होता रहता है ('पुरीष-मूत्ररेतांसि न सज्जंति कथञ्चन।'–च० सू० १४।४); जिससे आरोग्य बना रहता है। स्वास्थ्यरक्षण में स्वेदन की भूमिका अन्य ऋतुओं में भी है। ग्रीष्मऋतु में विशेषकर धनी व्यक्तियों के लिए, जो वातानुकूलित कमरे या शीत गृह में अपना समय व्यतीत करते हैं, उनके स्वास्थ्यरक्षण के लिए स्वेदन उपादेय ही नहीं; आवश्यक भी है; क्योंकि ऐसे व्यक्ति प्रायः अंगों में स्तब्धता व गौरव की शिकायत करते हैं। यदि कोई व्यक्ति लगातार पंखे (विद्युत् चालित) का सेवन करता है तो वह भी अङ्गमर्द, गौरव व स्तब्धता से ग्रसित हो जाता है। इन अवस्थाओं में व्यक्तिविशेष यदि औषध भी सेवन करता है तो भी विशिष्ट लाभ होते नहीं देखा जाता। ऐसे व्यक्तियों को काफी विचार-विमर्श के बाद परामर्श दिया गया कि प्रतिदिन कुछ समय के लिए उष्णसदन, चंक्रमण आदि द्वारा या शीतगृह का त्याग या पंखे का त्याग करे। इससे स्वेदागम होता है तथा व्यक्ति बिना औषध अपने को स्वस्थ अनुभव करता है। इससे हमलोग इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि स्वास्थ्यरक्षण हेतु मलरूप स्वेद का निष्क्रमण अतिआवश्यक है। अतः दैनिक जीवन में ऋतु, देश, वय, बल आदि का विचार कर स्वास्थ्यरक्षण हेतु सम्यक् रूपेण (ऋतु आदि के अनुसार मात्रापूर्वक जिससे अतिस्वेदनजन्य लक्षण न हो) स्वेदन हेतु प्रयत्न करना चाहिए।

(ब) शोधन चिकित्सा के पूर्वकर्म के रूप में स्वेदन—पञ्चकर्म चिकित्सा (शोधन चिकित्सा) के पूर्व स्नेहन व स्वेदन को आवश्यक कर्म कहा गया है। आचार्य चरक ने कहा है कि—

शुष्काण्यपि हि काष्ठानि स्नेहस्वेदोपपादनैः।
नमयंति यथान्यायं किं पुनर्जीवितो नरान्॥ (च० सू० १४।५)

स्नेहन के उपरान्त स्वेदन कर्म के द्वारा यदि शुष्क काष्ठ अर्थात् सूखी हुई लकड़ी को अपनी इच्छानुसार नमन यानि झुकाया जा सकता है जो कि जीवरहित होती है, तो फिर स्नेहन स्वेदन के द्वारा जीवित शरीर को भी यदि इच्छानुसार नमन किया जाता है तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं है। स्नेहन-स्वेदन के द्वारा शरीर में मृदुता आ

जाती है, जिससे उसमें नमन शक्ति आ जाती है। बिना स्नेहन-स्वेदन के यदि शोधन चिकित्सा अर्थात् वमन-विरेचनादि का प्रयोग किया जाता है तो जैसे—शुष्क काष्ठ बिना स्नेहन-स्वेदन के मोड़ने से टूट जाता है उसी प्रकार तीक्ष्ण व क्षोभक औषधियों के प्रयोग से आतुर के धातुओं के नष्ट हो जाने का भय रहता है; पर स्नेहन-स्वेदन के द्वारा धातुओं में मृदुता आ जाती है, जिससे तीक्ष्णादि औषधियों के प्रयोग द्वारा वमन-विरेचनादि कराने पर भी धातुओं के नष्ट होने का भय समाप्त हो जाता है। पंचकर्म से पूर्व स्नेहन-स्वेदन की आवश्यकता पर प्रकाश डालते हुए कहा गया है—

स्नेहपूर्वं प्रयुक्तेन स्वेदेनावजितेऽनिले।
पुरीषमूत्ररेतांसि न सज्जंति कथंचन॥ (च० सू० १४।४)

अर्थात् स्नेहन करने के बाद स्वेदन करने से वायु शांत होती है तथा पुरीष, मूत्रादि का निष्क्रमण सम्यक् रूपेण होने लगता है। शोधनकर्म के लिए किसी भी कर्म में वमन, विरेचन करना होता है तो सर्वप्रथम वायु को नियमित करना अत्यावश्यक होता है। जब तक वायु का नियमन नहीं हो पायेगा तब तक कफ को (वमन द्वारा) या पित्त को (विरेचन द्वारा) सम्यक् रूपेण निष्क्रमित नहीं किया जा सकता है। क्योंकि—

पित्तं पङ्गु कफः पङ्गु पङ्गवो मलधातवः।
वायुना यत्र नीयन्ते तत्र वर्षन्ति मेघवत्॥

(शा० पू० ५।१५)

अर्थात् पित्त व कफ दोनों पंगु होते हैं। इन्हें गति वायु द्वारा ही प्राप्त होती है अर्थात् दोनों दोषों को एक स्थान से दूसरे स्थान तक ले जाने का कार्य वायु ही करता है। अतः जब प्रथमतः वायु को शांत कर दिया जाता है तो अन्य दोषों को स्वस्थान पर करने का कार्य वायु सम्यक् रूपेण करता है, जिससे वमन-विरेचनादि के द्वारा कफ और सम्यक् रूपेण निष्क्रमित हो जाते हैं तथा पुरीष, मूत्रादि का भी निष्क्रमण सम्यक् रूपेण हो जाता है। इसके अतिरिक्त वायु को योगवाही भी कहा गया है। जब यह वायु पित्त के साथ संयुक्त होती है तो यह उष्णता को प्राप्त करती हैं तथा यदि यही वायु कफ के साथ संयुक्त होती है तो शीत हो जाती है। अतः पञ्चकर्म करने से पूर्व वायु को शांत कर लिया जाता है, ताकि अन्य दोषों का निर्मोचन सम्यक् रूपेण हो जाय—

योगवाहः परं वायुः संयोगादुभयार्थकृत्।
दाहकृत् तेजसा मुक्तः शीतकृत् सोमसंश्रयात्॥

(च० चि० ३।३८)

इस प्रकार तीनों दोषों में गतिप्रदाता प्रधान दोष वायु है, अतः शोधन-चिकित्सा करने से पूर्व वायु को सामान्यावस्था में लाने के लिए स्नेहन व स्वेदन किया जाता

है। इसीलिए आचार्य चरक ने कहा है कि—यदि संशोधन क्रिया (पञ्चकर्म) करनी आवश्यक हो तो सर्वप्रथम स्नेह का प्रयोग करना चाहिए, जब स्नेहन क्रिया सम्यक् रूपेण हो जाय तो स्वेदन कर्म करना चाहिए। स्नेहन-स्वेदन सम्यक्-रुपेण होने के बाद ही संशोधन कर्म (पञ्चकर्म) या शमन चिकित्सा करनी चाहिए—

स्नेहमग्रे प्रयुञ्जीत ततः स्वेदमन्तरम्।
स्नेहस्वेदोपपन्नस्य संशोधनमथेतरत्॥
(च० सू० १३।९९)

स्नेहन-स्वेदन से दोषों में मृदुता आ जाती है तथा स्नेहन व स्वेदन करने से दोष स्वस्थान अर्थात् कोष्ठ में आ जाते हैं और वहाँ से आसानी से वमन, विरेचनादि के द्वारा उनको निष्क्रमित कर लिया जाता है। आचार्य सुश्रुत के विचार इस तथ्य को और भी प्रकाशित करते हैं—

स्नेहस्वेदावनभ्यस्य यस्तु संशोधनं पिबेत्।
दारुशुष्कमिवानामे देहस्तस्य विशीर्यते॥
स्नेहस्वेदप्रचलिताः रसैः स्निग्धैरुदीरिताः।
दोषाः कोष्ठगताः जन्तोः सुखाहर्त्तुं विशोधनैः॥ (सु० चि० ३३)

अर्थात् बिना स्नेहन-स्वेदन कराये ही यदि व्यक्ति वमन, विरेचनादि हेतु औषध-पान करता है, तो शुष्क काष्ठ की तरह उसका शरीर भी टूट जाता है अर्थात् उसके शरीर की धातुएँ नष्ट हो जाती हैं। स्निग्ध रसों द्वारा प्रेरित स्नेह-स्वेद के द्वारा प्रचलित दोष जब कोष्ठ में आ जाते हैं, तो संशोधन चिकित्सा द्वारा सुगमता से बाहर निकल जाते हैं। पुनः आचार्य ने कहा है कि—प्रथमतः जब व्यक्ति या आतुर का स्नेहन कराया जाता है या स्नेहपान कराया जाता है, तो स्नेह के द्वारा दोषों का क्लेदन हो जाता है। फिर जब स्वेदन कराया जाता है, तो क्लेदित दोष द्रवित होकर कोष्ठ में आ जाते हैं, जहाँ से वमनादि संशोधन कर्म के द्वारा उनको बाहर निकाल दिया जाता है—

स्नेहक्लिन्ना धातुसंस्थाश्च दोषाः,
स्वस्थानस्था ये च मार्गेषु लीनाः।
सम्यक् स्वेदैर्योजितैस्ते द्रवत्वम्,
प्राप्ताः कोष्ठं शोधनैर्यान्तिमशेषम्॥ (सु० चि० ३२।२२)

इस प्रकार पञ्चकर्म से पूर्व स्नेहन-स्वेदन उपादेय ही नहीं; बल्कि आवश्यक कर्म है। अर्थात् बिना स्नेहन स्वेदन के शोधन चिकित्सा लाभदायक न होकर हानिकारक सिद्ध हो सकती है। अतः दोषों में मृदुता लाने के लिए नमन गुण हेतु, क्लेदित दोष को द्रवीभूत कर कोष्ठ में लाने के लिए तथा गतिप्रदाता दोष वायु को शांत करने के लिए पूर्वकर्म के रूप में स्वेदन एक आवश्यक कर्म है।

(स) प्रधान चिकित्सा के रूप में स्वेदन की उपादेयता—चरकसंहिता, सू० अध्याय २२ में छः प्रकार की चिकित्सा का उल्लेख किया गया है, जिसमें स्वेदन को भी एक चिकित्सा-प्रकार के रूप में स्वीकार किया गया है—

तपः स्वाध्यायनिरतानात्रेयः शिष्यसत्तमान् ।
षडग्निवेशप्रमुखानुक्तवान् परिचोदयन् ।।
लङ्घनं बृंहणं काले रूक्षणं स्नेहनं तथा ।
स्वेदनं स्तम्भनं चैव जानीते यः स वै भिषक ।।

(च० सू० २२।४)

आचार्य वाग्भट ने भी सूत्रस्थान अध्याय १४ में उपर्युक्त तथ्यों का उल्लेख किया है—

स्नेहनं रूक्षणं कर्म स्वेदनं स्तम्भन च यत् ।
भूतानां तदपि द्वैविध्याद् द्वितयं नातिवर्तते ।।

आचार्य चरक ने कहा है कि मेरे द्वारा स्नेह स्वेदाध्याय में वर्णित रोगों में स्नेह व स्वेदन चिकित्सा करनी चाहिए—

स्नेहाः स्नेहयितव्याश्च स्वेदाः स्वेद्याश्च ये नराः ।
स्नेहाध्याये मयोक्तास्ते स्वेदाख्ये च सविस्तरम् ।।

(च० सू० २२।३१)

अर्थात् प्रतिश्याय, कास, श्वास, कम्पवात, वातकण्टक, सुप्ति, स्तम्भ आदि व्याधियों की चिकित्सा स्वेदन है। अर्थात् ये व्याधियाँ स्वेद-साध्य हैं। आचार्य ने स्वेदाध्याय प्रारम्भ करते हुए ही वातज एवं कफज व्याधियों को स्वेद-साध्य कहकर उनकी चिकित्सा स्वेदन कहा है—

अतः स्वेदाः प्रवक्ष्यन्ते यैर्यथावत्प्रयोजितैः ।
स्वेदसाध्याः प्रशाम्यन्ति गदा वातकफात्मकाः ।।

(च० सू० १४।३)

वातज व्याधियों में स्निग्ध स्वेदन व कफज व्याधियों में रूक्ष स्वेदन उपादेय हैं। वात दोष में सूक्ष्मगुण होता है, अतः स्वेदन सूक्ष्म-से-सूक्ष्म स्रोतों में स्थित वात का शमन करता है। इसी प्रकार कफज व्याधियों में भी सूक्ष्म स्रोतों का स्वेदन द्वारा शोधन हो जाता है तथा कफ द्रवीभूत होकर शरीर से बाहर निकल जाता है। आचार्य सुश्रुत के अनुसार स्वेदन से अग्नि प्रदीप्त होती है। व्याधियों की उत्पत्ति का मूल मन्दाग्नि को कहा गया है। जब अग्नि प्रदीप्त हो जाती है तो व्याध्युत्पत्ति के मूल का नाश हो जाता है। स्वेदन से आम पाचन होता है, जिससे आमजन्य व्याधियों में लाभ होता है। स्वेदन से त्वचा में मृदुता होती है, अतः त्वक् रौक्ष्य व पारुष्य की चिकित्सा स्वेदन से की जा सकती है। निद्रा-तन्द्रा की चिकित्सा स्वेदन है। यहाँ निद्रा से तात्पर्य अतिनिद्रा से है। स्वेदन से कफ, मेद, गुरुता आदि का नाश होता

है, जिससे अतिनिद्रा में स्वेदन लाभदायक होता है। स्वेदन द्वारा स्तब्धता नष्ट हो जाती है, जिससे संधियों में चेष्टा (गतिशीलता) उत्पन्न हो जाती है। संधिस्थानों में आम, कफ या वात द्वारा उत्पन्न स्तब्धता स्वेदन करने से समाप्त हो जाती है। इतना ही नहीं; स्वेदन से धात्वग्नि की वृद्धि होती है. अतः संधिगत व्याधियों की चिकित्सा में स्वेदन का उल्लेख किया गया है—

अग्नेर्दीप्तिं मार्दवं त्वक् प्रसादं, भक्तश्रद्धां स्रोतसां निर्मलत्वम् ।
कुर्यात्स्वेदो हंति निद्रां च तंद्रां संधीन् स्तब्धांश्चेष्टयेदाशु युक्तः ।।

(सु० चि० ३२।२१)

कुछ समय पूर्व तक संधिगत व्याधियों एवं शूलप्रधान व्याधियों की चिकित्सा में प्रधान रूप से स्वेदन प्रचलित थी, जो आज भी ग्रामीण क्षेत्रों में परम्परागत रूप से वर्तमान है। ग्रामीण क्षेत्रों में संधिशूल, शोथशूल प्रधान व्याधियों की प्राथमिक चिकित्सा के रूप में स्नेहन-स्वेदन परम्परागत रूप में विद्यमान है तथा इस चिकित्सा से प्रत्यक्षतः लाभ होते देखा गया है। यद्यपि आयुर्वेदीय चिकित्सा में आतुरों का स्वेदन किया जाता है, पर यह या तो पञ्चकर्म के पूर्वकर्म के रूप में प्रयुक्त होता है या अन्य औषधीय चिकित्सा के साथ स्वेदन की व्यवस्था की जाती है। पर जो आतुर परम्परागत रूप से प्राथमिक चिकित्सा के रूप में स्वेदन चिकित्सा लेते हैं, वे अन्य चिकित्सा या औषधि का सेवन नहीं करते। उपर्युक्त व्याधियों में स्वेदन से लाभ भी होता है, विशेषकर शीतकाल में उत्पन्न होने वाले संधिशूल, कटिशूल, पृष्ठ-शूल आदि में मात्र स्वेदन चिकित्सा द्वारा भी लाभ होते देखा गया है। अतः प्राथमिक स्तर पर यह विचारणीय है कि स्वेदन को प्रधान चिकित्सा के रूप में स्वीकार किया जाय। परम्परागत रूप में सर्वाधिक पिण्डस्वेद का प्रयोग (बालुका स्वेद, स्निग्ध स्वेद, पत्रपिण्ड स्वेद) पाया जाता है। जराजन्य संधिगत विकारों में उपनाह का प्रयोग किया जाता है। यदि इन तथ्यों को प्राथमिक आधार मानकर शास्त्रवर्णित अन्य स्वेदों का प्रयोग स्वेदसाध्य व्याधियों में प्रधान चिकित्सा के रूप में किया जाय तो इससे लाभ होने की आशा होती है तथा कम खर्च वाली निरापद चिकित्सा का विकास भी संभव है। ग्रन्थों में स्वेदसाध्य प्रायः सभी व्याधियों में स्वेद विधि के साथ स्वेदन का निर्देश दिया गया है, मात्र इसका प्रयोग कर इसे पुनर्मूल्यांकित करने की आवश्यकता है। सामान्य स्वेद का निर्देश उन्माद, अतत्वाभिनिवेश, उदररोगादि में पूर्वकर्म के रूप में वर्णित है। ज्वर, गुल्म, हिक्का, कास, उदावर्त्त, कफज पीनस, कफज शिरोरोग, कठिन विसर्प, वातव्याधि आदि में स्वेदन का निर्देश सामान्य चिकित्सा के रूप में किया गया है। नाड़ी स्वेद की उपादेयता हिक्का, वातव्याधि, वातज योनिव्यापद, कुष्ठ (स्थिर कठिन कुष्ठ) आदि में दर्शायी गई है। जीर्ण-ज्वर, रक्तगत ज्वर, कुष्ठ, राजयक्ष्मा, शोथ, विसर्प, मूत्रकृच्छ्रता आदि व्याधियों की

चिकित्सा में प्रदेह को उपयोगी कहा गया है। संकर व प्रस्तर स्वेद द्वारा वातज योनिव्यापद्, वात व्याधि, शीतज्वर आदि में चिकित्सा करने का संकेत प्राप्त होता है। उपनाह का प्रयोग राजयक्ष्मा, मूत्रकृच्छ्र, वातज शिरोरोग, वात व्याधि, वातरक्त आदि रोगों में प्रशस्त कहा गया है। अवगाह स्वेद की उपयोगिता व परिषेक की उपादेयता शोथ, अर्श, मूत्रकृच्छ्रता, वातव्याधि आदि में स्वीकार की गई है। योनिव्यापद् में अश्मघन, कुम्भी स्वेद का प्रयोग प्रशस्त माना गया है। कुटी स्वेद की प्रशस्ति ज्वर चिकित्सा में उल्लिखित है। उपर्युक्त तथ्य चरकसंहिता के आधार पर कतिपय उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया गया है। आयुर्वेद के विभिन्न चिकित्सा ग्रन्थों में स्वेदन का चिकित्सा रूप में विस्तृत वर्णन प्राप्त होता है। किन्तु ग्रन्थ के विस्तारभय को निराकृत करते हुए इस विषय पर अपेक्षित एवं उपादेय विवरण को ही प्रस्तुत किया गया है।

शब्दानुक्रमणिका

रसायनसार

'रसायनशास्त्री' पं० श्यामसुन्दराचार्य द्वारा विरचित रस-शास्त्र का क्रियात्मक सच्चा ज्ञान कराने वाला यह सर्वोच्च ग्रन्थ अनुभूत पारद-बुभुक्षा-विधि; चन्द्रोदयादि हजारों रसों के निर्माण, सब धातु-उपधातुओं के शोधन-मारण की सुगम विधि, बड़े-बड़े वैद्यों का पारद-बुभुक्षादि विषयों पर शास्त्रार्थ, गन्धक-हरितालादि तैल तथा परीक्षित चिकित्सा-काण्ड आदि अनेक विषयों से विभूषित, स्पष्ट तथा सविस्तार हिन्दी-भाषा टीका से समलंकृत एवं रसायनोपयोगी अनेक चित्रों से सज्जित है।

१—२ भाग २००-००

श्रीमद्भगवानगोविन्दपादाचार्यविरचित

रसहृदयतंत्रम्

अर्थबोधिनी-हिन्दी-टीकासम्वलितम्

टीकाकार—रसमर्मज्ञ पं० रामेश्वरदयाल वाजपेयी

इसकी शब्दार्थबोधिनी आर्यभाषा हिन्दी टीका गत साठ वर्षों में क्रियात्मक अध्ययन एवं शास्त्र के कतिपय ग्रन्थों आनन्दकन्द, रसार्णवमहातंत्रम्, रसरत्नाकर, रसेन्द्रचूड़ामणी, रसाध्याय, रसायन-सार, रसप्रकाशसुधाकर, रसकामधेनु आदि को देखकर सवैज्ञानिक प्रौद्योगिकी एवं प्रत्यक्षीकृत देह की नीरोगता, शरीर की स्थिरता, मन की एकाग्रता तथा आत्म-विकास द्वारा पूर्णत्व की प्राप्ति एवं जीवनमुक्त नामक परम स्वतन्त्रता के आनन्द की उपलब्धि हेतु प्रणाली का विशद विवेचन किया गया है।

'रसहृदय' में पारद के अठारह संस्कार, अभ्रक सत्त्व की उपयोगिता, उसका निर्माण, स्वर्ण, चाँदी, ताम्र आदि के बीज, धातुओं का द्रुतिकरण, पारदगर्भ में उनका विलयन इत्यादि की अति उच्चतम तकनीकी से निर्मित परमाणु शक्ति सम्पन्न जीवन ऊर्जा का निर्माण, उसकी शृंखला के आठ परीक्षणों द्वारा राष्ट्रीय स्वर्ण मुद्रा भण्डार तथा दरिद्रताविहीन भारत के निर्माण हेतु रसविद्ध स्वर्ण का कृत्रिम उत्पादन आवश्यकतानुसार प्रस्तुत किया गया है।

इसी 'रसहृदय' में अमर सुन्दरी गुटिका, जिसके सेवन से दश हाथियों के बराबर मनुष्य को बल की प्राप्ति होती है तथा शरीर अभेद्य बन जाता है। मृत-संजीवनी, जिसको जल में घोकर पीने तथा आँखों में अंजने मात्र से मुमूर्षु पुरुष भी चेतना को प्राप्त होता है। वज्रिणी-खेचरी आदि गुटिकाओं की दिव्य निर्माण

प्रक्रिया को स्पष्ट करते हुए मनुष्य को दिव्य देवताओं जैसा शरीर और गुणों तथा दिव्य शक्तियों को प्राप्त करने का सवैज्ञानिक मार्ग प्रशस्त किया गया है।

आशा है कि भारतवर्ष की स्वतंत्रता की स्वर्ण जयन्ती के पुनीत अवसर पर भारत के जिज्ञासु विद्यार्थी, बुद्धिजीवि, वैज्ञानिक, चिकित्सक एवं शिक्षाविद् भारतीय मनीषियों के सर्वोत्कृष्ट मस्तिष्क की उपज, भारतीय उपादानों से निर्मित भारतीय गौरव-स्वरूप परम्परा की प्रौद्योगिकी का विकास कर भारत को रोग, वृद्धता, अकालमृत्यु एवं दरिद्रताविहीन बनाने की इक्कीसवीं सदी में उन्मुक्त घोषणा करेंगे।

८५-००

उत्तराखण्ड की वनौषधियाँ

डा० ज्ञानेन्द्र पाण्डेय

विषयवस्तु

उत्तराखण्ड हिमालय तथा उसके निकटवर्ती-समीपस्थ क्षेत्रों (उत्तर प्रदेश के पर्वतीय, तराई-भावर, शिवालिक तथा अन्य सम्बद्ध भागों) के प्राकृतिक पादप जगत, विशेषतः वन्य स्रोत की वनस्पतियों (नैसर्गिक या स्वयंजात पेड़-पौधों या जंगली जड़ी-बूटियों) की औषधीय गुणवत्ता के दृष्टिकोण से अध्ययन, निरीक्षण एवं अंकन करके, जनसाधारण को सहज रूप में सरलभाषा में परिचित कराने के प्रयास को प्रारम्भिक स्तर का मूर्तरूप भारतीय चिकित्सा विज्ञान, आयुर्वेद तथा अन्य स्वदेशी चिकित्सा प्रणालियों (एवं आधुनिक चिकित्सा तथा विज्ञान की विविध शाखाओं में उपयोगिता) एवं पारम्परिक-ग्रामीण उपचार पद्धतियों में पादपीय स्रोतों से प्राप्त औषधियों, जड़ी-बूटियों के ज्ञान एवं संसाधनों की पुनरसमीक्षा, पुनर्नवीनीकरण तथा व्यावहारिक दिग्दर्शन।

उद्देश्य-महत्व

पर्वतीय क्षेत्रों तथा उनके निकटवर्ती भागों की वनौषधियों का परिचय, उपयोग, संस्कृति-परम्परा, स्वास्थ्य-सम्वर्धन, जीवन-रक्षा, रोगोपचार, खाद्य-आहार में प्रयोग, वन्य संरक्षण, कृषिकरण, जनोपयोग, वैज्ञानिक अनुसंधान, पर्यावरण संरक्षण, औषधी पादप सम्पदा विकास, औद्योगिक-औषध-कुटीर उद्योग विकास, क्षेत्रीय आर्थिक उन्नयन एवं राष्ट्रीय सम्पदा के सर्वांगीण विकास में योगदान। सामान्य जनता, शोधकर्ता, चिकित्सकों, अध्ययनार्थी, सर्वेक्षणकर्ता, वनकर्मी, अध्यापकों, औषध-निर्माताओं, औषध उद्योग-व्यवसायी, विद्वान्, बुद्धिजीवि, प्रशासकों तथा पर्वतीय-हिमालय एवं वनौषधियों में अभिरुचि वाले समस्त वर्ग के लिए अत्युपयोगी पथ-प्रदर्शिका।

सम्पूर्ण सामग्री, वार्ता, भाषण आदि सहित—आकाशवाणी अल्मोड़ा तथा

रायपुर एवं विविध संस्थाओं–संगठनों के सौजन्य से) तथा संकलित जानकारी का व्यवस्थित, सुबोध रूप तथा जैसे सरल प्रारूप में प्रस्तुतीकरण–स्थानीय नाम (जैसे कुमाऊँनी, गढ़वाली तथा विभिन्न जन सामान्य में प्रयुक्त) संस्कृत (आयुर्वेदीय नाम), वैज्ञानिक नाम (वानस्पतिक नाम–बोटेनिकल नेम्स), पादप स्वरूप (वानस्पतिक परिचय), उत्पत्ति स्थान (प्राकृतिक वास–प्राप्तिस्थान), उपयोगिता–औषधीय गुण एवं प्रयोग (आहार–खाद्य उपयोग सहित) तथा प्रयोज्यांग–उपदियांग औषधीय प्रयोगार्थ ग्रहणीय अंग) अन्य आवश्यक जानकारी ।

पुस्तक में लगभग ५०० औषधीय महत्त्व तथा अन्य उपयोगिता की प्रमुख प्रजातियों का समावेश (मूलत: ४०० वनौषधियां लगभग) विषय सूची के अतिरिक्त स्थानीय–क्षेत्रीय–हिन्दी, प्रचलित संस्कृत नामों की तालिका तथा वानस्पतिक नामों (बोटेनिकल नेम्स) की तालिका ।

१२५–००

आयुर्वेद का प्रामाणिक इतिहास

डा० भागवतराम गुप्त

विद्वान् लेखक ने भारतीय केन्द्रीय चिकित्सा परिषद के नूतन पाठ्यक्रम को लक्ष्य बनाकर प्रस्तुत ग्रन्थ की रचना किया है। कुछ सामग्री का निरूपण इससे पूर्वतन के लेखकों द्वारा नहीं हो पाया था। जैसे बौद्ध साहित्य, जैन साहित्य, व्याकरण, पुराण तथा अन्य साहित्य के आयुर्वेद सामग्री का संकलन कर इस ग्रन्थ में प्रकाशित किया गया है। यह ग्रन्थ आयुर्वेद की अद्यावधिक गतिविधियों तक का विशद परिचय देता है। काश्यप संहिता की भूमिका में राजगुरु हेमराज शर्मा एवं रसयोग सागर की भूमिका में पं० हरिप्रपन्न जी द्वारा लिखित आयुर्वेद इतिहास सामग्री को भी लेखक द्वारा उचित स्थान दिया गया है।

भारत सरकार द्वारा स्थापित केन्द्रीय आयुर्वेद एवं सिद्ध अनुसंधान परिषद, केन्द्रीय भारतीय चिकित्सा परिषद तथा राष्ट्रीय आयुर्वेद विद्यापीठ की गतिविधियों पर भी यह ग्रन्थ प्रकाश डालता है। आयुर्वेद के इतिहास को विषयानुसार, कालक्रमानुसार तथा विभिन्न चिकित्सा पद्धतियों को दृष्टिकोण में भी रखकर लिखा गया है।

आयुर्वेद इतिहास में जो अभी तक जटिलता एवं क्रमाभाव था, उसे सुलझाने का प्रयास लेखक द्वारा किया गया है। यह ग्रन्थ स्नातक, स्नातकोत्तर एवं शोध छात्रों के अध्ययन की सुगमता हेतु सरल, सुलभ एवं सुबोध भाषा में लिखने का प्रयास किया गया है। इस ग्रन्थ के परिशिष्ट में अप्राप्त जतुकर्ण संहिता के मौलिक वचनों का संग्रह, हारीत के मौलिक वचन एवं उपलब्ध हारीत संहिता की विभिन्नता,

केन्द्रीय आयुर्वेद एवं सिद्ध अनुसंधान परिषद, केन्द्रीय भारतीय चिकित्सा परिषद, राष्ट्रीय आयुर्वेद विद्यापीठ, इतिहास के पाठक्रम—का भी उल्लेख किया गया है।

विद्वान लेखक ने अन्त में अपने तर्क द्वारा प्राचीन भारतीय ज्ञान का अन्वेषणात्मक आधार दर्शाने का भी यथा संभव प्रयास किया है। अतः यह ग्रन्थ पूर्णरूप से ज्ञान जिज्ञासुओं के पिपासा को पूर्ण करने में सफल सिद्ध होगा।

मूल्य अजिल्द २५०–०० सजिल्द ३००–००

सिद्धभेषजमणिमाला

जयपुर राजवंश के राजवैद्य महाकवि श्री श्रीकृष्णरामजी भट्ट द्वारा रचित सिद्धभेषजमणिमाला में प्रायः सभी रोगों के अनुभवसिद्ध योगों का सुव्यवस्थित संग्रह है। संस्कृतवाङ्मय में सम्पादित इस भेषज प्रयोग-संग्रह ग्रन्थ के रहस्यमय प्रयोगों का विशेष अर्थ अच्छे संस्कृत के विद्वानों के लिए भी दुरूह माना जाता रहा है। श्री श्रीकृष्णरामजी के प्रधान शिष्य आयुर्वेदमार्तण्ड राजवैद्य स्व० स्वामी श्री लक्ष्मीरामजी द्वारा सम्पादित सरल संस्कृत टिप्पणी द्वारा रहस्यमय अर्थ का स्पष्टीकरण किया गया है। फिर भी प्रामाणिक हिन्दी अनुवाद के अभाव में इस ग्रंथ की अनेक रहस्यमयी सिद्ध–चिकित्सा के लाभ से जनता वंचित रहती थी। परम प्रसन्नता का विषय है कि स्वर्गीय राजवैद्य श्री श्रीकृष्णरामजी भट्ट के ही पौत्र राजवैद्य श्री आर. कलाधर भट्ट द्वारा सम्पादित 'वैश्वानर' नामक हिन्दी अनुवाद द्वारा रहस्यमय गूढ़ अर्थों का स्पष्टीकरण किया गया है। विद्वान् अनुवादक ने अपने वंश-परम्परागत चिकित्सा के गूढ़ रहस्यमय तथ्यों का भी बड़ी सरलता के साथ सरल भाषा में विशद विवेचन किया है, साथ ही, अंजन निदान की व्याख्या कर, प्रयोगों में आये हुए अनेक द्रव्यों के गुणविश्लेषण में भी शास्त्रीय विवेचन करने के साथ, स्वकीय पंचाशत् महाकषायों का पद्य में निरूपण कर, इस ग्रंथ की और भी अधिक उपयोगिता प्रमाणित कर दी है। श्री आर. कलाधर भट्ट, जनकल्याणार्थ किये गये इस प्रयास के लिए धन्यवादार्ह हैं। २००–००

आयुर्वेदमहामहोपाध्याय, भिषगाचार्य–
वैद्य प्रेमशंकर शर्मा, आयुर्वेद–बृहस्पति
निदेशक, आयुर्वेदिक विभाग, अजमेर,

शिरादाब : एक्यूप्रेशर चिकित्सा

लेखक—श्री कमलेश पुण्यार्क

एक्यूप्रेशर एक स्वउपचार पद्धति है, जो पूर्णतः सनातन भारतीय योग सिद्धांत पर आधारित है। वस्तुतः यह विद्वान लेखक की सशक्त लेखनी से अवतरित शोध प्रबन्ध है; जिसे हजारों–हजार रोगियों पर आजमाने के बाद प्रस्तुत किया गया है।

यह पुस्तक विषयवस्तु को समग्रता से स्पष्ट करने में सक्षम है, साथ ही रोगों के कारण, लक्षण, निदान और चिकित्सा के लिए अपने आप में पूर्ण-सा है। अन्य चिकित्सा पद्धति के जिज्ञासु भी इससे लाभ उठा सकते हैं। पुस्तक की उपादेयता जिज्ञासुओं, विद्यार्थियों, अध्येताओं और रोगियों के लिए समान रूप से है। इस पुस्तक का अध्ययन कर कोई भी व्यक्ति अपनी चिकित्सा कर सकता है; क्योंकि यह निरापद और प्रतिप्रभाव रहित पद्धति है। ४० चित्रों से सुसज्जित चित्रावली खंड सहित पुस्तक की कीमत २०० रु. मात्र है।

पदार्थ-विज्ञान

लेखक-डा० बृज कुमार द्विवेदी। सम्पादक-डा० लक्ष्मीधर द्विवेदी

इस ग्रंथ की रचना भारतीय चिकित्सा केन्द्रीय परिषद द्वारा निर्धारित पाठ्यक्रम के आधार पर की गई है, जो कि पाठ्यक्रम को शतप्रतिशत पूर्ण करती है। यह पुस्तक स्नातक व स्नातकोत्तर दोनों पाठ्यक्रमों हेतु समान रूप से उपयोगी है; क्योंकि इसमें विवेच्य विषयों का वर्णन विस्तृत रूप से किया गया है। दार्शनिक विषयों को सरलतम भाषा व आयुर्वेदीय स्वरूप में प्रस्तुतीकरण इस पुस्तक की विशेषता है तथा इसकी भाषा व्याख्यान की रखी गयी है, जिससे विद्यार्थी इसे पढ़कर विषय को आसानी से समझ सकते हैं। पदार्थ-विज्ञान की अबतक सर्वाधिक विस्तृत ग्रंथ रचना कर इसे पाठ्य पुस्तक का आकार दिया गया है तथा गूढ़ विषयों को रेखा-चित्रों के द्वारा समझाया गया है। विभिन्न विषयों को सम्बन्धित अनेक तालिकाओं द्वारा प्रस्तुत किया गया है ताकि स्नातकोत्तर अध्येताओं को शोधकार्य में सहायक हो। प्रत्येक दार्शनिक विषयों का आयुर्वेद में उपयोग व व्यवहार को स्पष्ट किया गया है। स्नातक पाठ्यक्रमानुसार पुस्तक में दोनों खण्डों को क्रमिक रूप में प्रस्तुत किया गया है। विषयों का वर्णन आयुर्वेदीय स्वरूप में करते हुए कतिपय दार्शनिक नवीन तथ्यों का उद्घाटन सरलतम भाषा में किया गया है। लेखक द्वारा 'पदार्थविज्ञान' अध्यापन में आने वाली कठिनाइयों को दूर करते हुए, अपने अध्यापन अनुभव का लाभ उठाते हुए विषयों की अवधारणा स्पष्ट की गई है। २००-००

अर्शरोग-चिकित्सा

लेखक ब्रह्मदत्तशर्मा

अनेक आयुर्वेदीय ग्रन्थों के लेखक स्वर्गीय विद्वद्वरेण्य ब्रह्मदत्तजी शर्मा द्वारा लिखित अर्शरोग की चिकित्सा नामक पुस्तक सामान्यतया चिकित्सा विज्ञान के विद्यार्थियों तथा प्रधानतया अर्शरोग से पीड़ित जनता-जनार्दन के लिए अत्यन्त उपादेय कृति है। विद्वान् लेखक ने आयुर्वेदोक्त अर्शोपचार के अतिरिक्त होमियोपैथिक तथा एलोपैथिक चिकित्सा पद्धतियों के अनुसार भी अर्शरोग में लाभप्रद औषधियों

के प्रयोग का विवरण प्रस्तुत किया है। लोक-व्यवहार में प्रयुक्त कुछ अनुभूत रोगों का भी लेखक ने अर्श के उपचार में वर्णन करके इस पुस्तक को सर्वजनोपयोगी तथा सार्वभैमिक स्वरूप प्रदान किया है। लेखक ने पुस्तक में अपने अनुभवों तथा चिकित्सा शास्त्रगत ज्ञान के आधार पर अर्श के उपचारक्रमों का स्पष्ट वर्णन करके अर्श रोग तथा इसके उपद्रवों से पीड़ित आतुरों के निमित्त अनेकविध विकल्पों से युक्त अर्शरोग से परित्राण का एक सरल तथा सुलभ उपाय प्रस्तुत किया है।

मूल्य ५०-००

योगरत्नाकरः

'वैद्यप्रभा' हिन्दीव्याख्योपेतः

व्याख्याकार—डा० इन्द्रदेव त्रिपाठी एवं डा० दयाशंकर त्रिपाठी

आयुर्वेद के प्राचीन ग्रंथों में 'योगरत्नाकर' का महत्वपूर्ण स्थान है। इसमें अष्टांग आयुर्वेद के आठों अङ्गों का वर्णन मिलता है। इसमें काय—चिकित्सा, शल्य, शालाक्य, प्रसूतितन्त्र, बालरोग, रसायन; बाजीकरण एवं विष विज्ञान के निरूपण के साथ रोगी—पादचतुष्य (भिषक, भोज्य, परिचायक तथा रोगी) का लक्षण एवं स्वरूप विधिवत निरूपित किया गया है। इसमें चिकित्सोपयोगी विविध परीक्षाओं का वर्णन है। इसमें नाड़ी–परीक्षा, मूत्र–परीक्षा, स्पर्श–परीक्षा, रूप, रस, नेत्र, मुख, जिह्वा एवं देश–परीक्षा का वर्णन है। वात, पित्त, कफ के आधार पर यहाँ स्पष्ट विचार किया गया है कि वात–पित्तादि दोषों की साम्यता ही आरोग्यता है तथा विषमता रोग का कारण है।

इस ग्रंथ में दिनचर्या, रात्रिचर्या, ऋतुचर्या का विस्तृत वर्णन है। साथ ही धान्य, फल, शाक आदि का एवं द्रव्य-गुणों का संक्षिप्त वर्णन है। विविध प्रकार के मांस, सिद्धान्न, जल, दूध; दही, मट्ठा, घी आदि तथा दैनिक उपयोगी विविध आहार घटकों का वर्णन है। इसके अतिरिक्त त्रिफला, त्रिकटु, चातुर्जात, पञ्चकोल आदि का भी उल्लेख है। इसमें धातु, उपधातु आदि का शोधन, सत्त्वपातन आदि रसायन विषयों का भी विस्तार से वर्णन है। विभिन्न प्रकार के रोगों का क्रमबद्ध निदान तथा उनकी चिकित्सा के उत्तमोत्तम योगों का संग्रह है। यही इस ग्रंथ की एकमात्र विशेषता है। इसमें उपकारी एवं व्यावहारिक योगों का संग्रह है। इसी एकमात्र ग्रंथ का अध्ययन करने वाला कोई भी व्यक्ति एक यशस्वी चिकित्सक हो सकता है, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं।

इस ग्रंथ का हिन्दी अनुवाद बहुत कम हुआ है और जो उपलब्ध हैं वे इतने पुराने हैं कि इनके अन्दर वर्णित औषधियों के माप–तौल पुराने माप—तौलों में ही निर्दिष्ट है; जो अधिक उपयोगी नहीं हैं। अतः विद्वान् टीकाकार ने नवीन माप-तौल के साथ उनका अच्छी तरह समन्वयात्मक विवेचन किया है, जिससे यह चिकित्सकों के लिए सुगम हो गया है। यह ग्रंथ सामान्यजन के लिए भी संग्रहणीय है।

४००-००

चरक संहिता

श्रीचक्रपाणिदत्तविरचित 'आयुर्वेददीपिका' व्याख्या एवं 'आयुर्वेददीपिका' की 'तत्त्वप्रकाशिनी' हिन्दी व्याख्या तथा यत्र-तत्र श्रीगङ्गाधरकविरत्नकृत 'जल्पकल्पतरु' की हिन्दी व्याख्या एवं श्लोकानुक्रमणिका सहित

तत्त्वप्रकाशिनी व्याख्याकार—**डॉ. लक्ष्मीधर द्विवेदी**

सह व्याख्याकार—**डॉ. बी. के. द्विवेदी, डॉ. पी. के. गोस्वामी**

चरक संहिता आयुर्वेद का सर्वमान्य आकर ग्रन्थ है। आचार्य अग्निवेश कृत तन्त्र का प्रतिसंस्कार कर आचार्य चरक ने इसे चरक संहिता का रूप दिया जो अधुना आयुर्वेद जगत में सर्वाधिक लोकप्रिय ग्रन्थ है। चरक संहिता की अनेक टीकायें की गई जिनमें आचार्य चक्रपाणिदत्त विरचित 'आयुर्वेददीपिका' अति लोकप्रिय टीका है। परन्तु टीका की भाषा संस्कृत में होने के कारण कतिपय आयुर्वेद के शिक्षक, विद्यार्थी इसके पूर्णभाव को समझ नहीं पाते थे, अतः आयुर्वेददीपिका की हिन्दी व्याख्या की आवश्यकता बनी रही। इस कार्य को संस्कृत व आयुर्वेद दोनों के मर्मज्ञ व्यक्ति ही करने में सक्षम हो सकते हैं। इस दुरुह कार्य को डॉ. लक्ष्मीधर जी द्विवेदी, अवकाश प्राप्त विभागाध्यक्ष संहिता विभाग, आयुर्वेद संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय ने विद्वतापूर्वक पूर्ण किया है। प्रस्तुत ग्रन्थ में चक्रपाणिदत्त विरचित 'आयुर्वेददीपिका' की तत्त्वप्रकाशिनी हिन्दी व्याख्या विशद रूप में की गई है तथा यत्र तत्र कविराज गंगाधरकृत ''जल्पकल्पतरु'' टीका की भी हिन्दी व्याख्या की गई है जिससे इस ग्रन्थ की उपयोगिता बढ़ जाती है। इस ग्रन्थ की तत्त्वप्रकाशिनी व्याख्या की भाषा सरल व सुगम है।

इस ग्रन्थ में—

1. चरक संहिता का मूल पाठ व उसकी हिन्दी व्याख्या।
2. चक्रपाणि विरचित आयुर्वेददीपिका का मूल पाठ व उसकी तत्त्वप्रकाशिनी हिन्दी व्याख्या की गई है।
3. चरक संहिता का श्लोकानुक्रमणिका दिया गया है जो इस ग्रन्थ को अति उपयोगी बना दिया है।

यह ग्रन्थ आयुर्वेद के स्नातक, स्नातकोत्तर विद्यार्थी, शोधार्थी, शिक्षक, अन्वेषक आदि सबके लिए समान रूप से उपयोगी है।

प्रथम भाग (सूत्र स्थान) ४००.००

द्वितीय भाग (निदान, विमान, शारीर एवं इन्द्रिय स्थान) ४७५.००

अन्य स्थान शीघ्र

Also can be had from : **Chowkhamba Sanskrit Series Office, Varanasi.**

ISBN : 978-81-218-0044-7 (Vol. II), 978-81-218-0045-5 (Set)